पं. श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय

सूक्ष्मीकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का अवतरण

सम्पादक
ब्रह्मवर्चस

प्रकाशक
अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा

भूमिका

एक बन्द कमरे में बैठा उच्चस्तरीय चिन्तन करने वाला महापुरुष अपने विचारों की ऊर्जा से सारी दुनिया को हिला सकता है, सूक्ष्म जगत को प्रचण्ड झंझावातों से आंदोलित कर सकता है तथा दुर्भावनाओं को सद्भावना भरे वातावरण में परिणत करने की क्षमता रखता है, यह तथ्य नितान्त सत्य है। योगिराज श्री अरविन्द ने एकान्त में तप-साधना कर भारत की स्वतंत्रता के लिए यह सूक्ष्म वातावरण विनिर्मित किया, जो प्रत्यक्ष रूप में लाखों व्यक्तियों की आजादी की लड़ाई के लिए लड़ने के आवेश के रूप में सामने आया। प्रत्यक्षत: क्रांतिकारी रहे अरविंद घोष जब श्री अरविंद के रूप में पाण्डिचेरी बस गए, तब किसी ने उनकी इस भूमिका की कल्पना भी नहीं की होगी, किन्तु यह सूक्ष्मीकरण की सामर्थ्य है, जो चमत्कारी परिणाम सामने ला दिखाती है।

महर्षि रमण, मैडम ब्लावट्स्की तथा लेडबीटर आदि के प्रयास भी इसी स्तर के थे। परमपूज्य गुरुदेव ने १९८४ की वसंत पंचमी से सूक्ष्मीकरण में प्रवेश किया। उनने अपनी लेखनी से सतत लिखना जारी रखा कि "बीसवीं सदी के अंतिम बीस वर्ष और इक्कीसवीं सदी के प्रारंभिक पाँच वर्ष युग-संधि की बेला के हैं। इस अवधि में विनाश को रोकने और विकास को आगे बढ़ाने की गति को तेज करना होगा। यह आपत्ति काल है, अत: इसमें हर किसी को अपनी भूमिका निभानी होगी। हमारी जिम्मेदारी जो है, उसे हम गीध-गिलहरी की तरह सतत निबाहते रहेंगे।"

अपनी सूक्ष्मीकरण साधना को पूज्यवर ने वाङ्मय के इस खण्ड में उज्ज्वल भविष्य का आधार बताते हुए इस योगाभ्यास तपश्चर्या के विभिन्न पहलुओं को स्पष्ट किया है। चैत्र नवरात्रि १९८४ से आरंभ हुई उनकी यह साधना वसंत पर्व १९८६ पर समाप्त हुई। इस अवधि में वे नितान्त एकाकी रहे। उनके साथ परम वंदनीया माताजी व दो उनके निजी सहायक यदाकदा उपस्थित रहते थे, किन्तु वे इनके अतिरिक्त पूज्यवर न तो किसी से मिले और न कक्ष से बाहर आकर किसी को सशरीर दर्शन दिए। इस अवधि में लेखनी की उनकी साधना निरन्तर चलती रही। इस अवधि में आहार भी उनका सूक्ष्मतम रहा। इस दौरान किये गये तप को उनने प्राचीन काल के गुफा सेवन, समाधि, छाया-पुरुष की सिद्धि की साधना नाम दिया। अदृश्य स्तर की सत्ताएँ इस अवधि में किस तरह तप-साधना में सहायता देती है व उच्चस्तरीय प्रयोजन के लिए, प्रतिभाओं के जागरण व उनके परिष्कार के लिए किये जा रहे प्रयासों को किस तरह सफल बनाती हैं, इसे इस खण्ड में विस्तार से पढ़कर समझा जा सकता है।

परमपूज्य गुरुदेव ने पंच वीरभद्रों के जागरण की बात इस सूक्ष्मीकरण सावित्री साधना के प्रसंग में स्थान-स्थान पर की है। अपनी काया में विद्यमान पाँच कोषों अन्नमय, मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय, आनन्दमय कोषों को पाँच वीरभद्रों के रूप में कैसे विकसित किया जा सकता है, यह साधना-विधि समझाते हुए स्वयं पर दैवी सत्ताओं द्वारा संपन्न हुए प्रयोगों को उनने बताया है। युग-परिवर्तन के लिए इन दिनों ऐसी प्रतिभाओं की नितान्त आवश्यकता है जो लोकमंगल केलिए अपनी प्रतिमा और पुरुषार्थ लगा सकें। अत: विद्वान, कलाकार, धनवान, राजनीतिज्ञ जैसी संवेदनशील प्रतिमाओं का आह्वान किया गया है। इस कार्य को अगले पाँच वर्षों

में स्थूल शरीर से तथा शेष पन्द्रह-वर्षों में उनकी सूक्ष्मसत्ता संपन्न करती रहेगी, यह आश्वासन देते हुए पूज्यवर ने युग-संधि महापुरुश्चरण के रूप में चौबीस सौ करोड़ के गायत्री महामंत्र जप रूपी ब्रह्मास्त्र अनुष्ठान को १९८९ के वसंत पर्व से आरंभ करने की घोषणा की, जिसकी प्रथम पूर्णाहुति नवम्बर १९९५ में तथा द्वितीय पूर्णाहुति सन् २००१ में सम्पन्न होनी है। संसार में दुष्प्रवृत्तियाँ मिटें, सद्भाव का वातावरण बने, विभीषिकाएँ निरस्त हों, उसके लिए स्थूल प्रयास पर्याप्त नहीं, सूक्ष्म स्तर पर प्रचण्ड पुरुषार्थ करना होगा, यह उनने स्पष्ट करते हुए स्वयं की तप-साधना व औरों की इसमें भागीदारी का वर्णन किया है।

अपनी सूक्ष्मीकरण साधना के दिनों में ही अपनी ''वसीयत और विरासत'' पुस्तक में उनने लिखा है कि ''इन दिनों हमारी सावित्री-साधना चल रही है, उसके माध्यम से जो अदृश्य महाबली उत्पन्न किये जा रहे हैं, वे चुपके-चुपके असंख्य अंतःकरणों में जा घुसेंगे, उनकी अनीति को छुड़ाकर मानेंगे और ऐसे मणि-माणिक्य छोड़कर आवेंगे, जिससे वे स्वयं धन्य बन सकें और युग परिवर्तन, जो अभी कठिन दीखता है, को कल सरल बना सकें।''

समाज का नवनिर्माण सदा विचार-क्रांति से हुआ है एवं शांतिकुंज-प्रज्ञाअभियान एवं एक मनीषी के रूप में उनकी क्या भूमिका इसमें रही है, कैसे कौन इसमें आगे आकर सहायक भूमिका निभाएँगे, यह वाङ्मय के इस महत्त्वपूर्ण खण्ड से आत्मसात् किया जा सकता है।

युग-संधि महापुरश्चरण, शब्दशक्ति की प्रचण्ड प्राण-ऊर्जा का एक ऐसा सूक्ष्मस्तरीय प्रयोग है, जिसके परिणाम आने वाले दिनों में उज्ज्वल भविष्य के प्रकटीकरण के रूप में सामने आएँगे। सारी वसुन्धरा पर एक साथ एक स्वर में, एक ही भाव-प्रवाह के साथ की गई उज्ज्वल भविष्य की प्रार्थना कैसे प्रभावी परिणाम प्रस्तुत करती व नवयुग के लिए उपयुक्त वातावरण बनाती है, युग मनीषी की भाव-चेतना से, इस वाङ्मय के माध्यम से अनुप्राणित हो, स्वयं उसमें सम्मिलित हो लाभान्वित होकर यह जाना जा सकता है।

—ब्रह्मवर्चस

विषय सूची



अनौचित्य का प्रतिकार

कभी-कभी ऐसा समय आता है कि छूत की बीमारी की तरह अनाचार भी गति पकड़ लेता है और अपने आप अमरबेल की तरह बढ़ने लगता है। अपनी निज की जड़ न होने पर भी यह बेल विस्तार पकड़ती जाती है और देखते-देखते किसी भी वृक्ष पर पूरी तरह छा जाती है। वनस्पतियों पर चिपकने वाले कीड़े भी बिना किसी दूसरे की सहायता के अपनी वंश-वृद्धि करते रहते है और उन्हें नष्ट कर डालते है।

दुष्ट-चिन्तन और भ्रष्ट-आचरण इन दिनों एक प्रकार से प्रचलन जैसा बन गया है. पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति हर वस्तु को नीचे की ओर ही खींचती है। पानी भी बिना किसी प्रयत्न के नीचे की ओर ही गति पकड़ता है। दुष्टता की प्रवृत्ति भी ऐसी ही है। वह पतन और पराभव की दिशा ही पकड़ती है, जबकि किसी को ऊँचा उठाने के लिए असाधारण कष्ट-साध्य परिश्रम करना पड़ता है।

उदाहरण के लिए रावण जन्मा तो अकेला ही था। उसके बेटे-पोतों ने ही नहीं, वंशजों और प्रजाजनों ने भी वही रीति-नीति अपना ली थी। सर्वत्र अनाचार ही फैल गया था। कंस, जरासंध, वृत्तासुर, महिषासुर आदि ने भी अपने-अपने समय में ऐसे ही विस्तार क्रम अपनाये थे और अनाचार की सब ओर भरमार दीख पड़ने लगी थी। ऐसे अशुभ समय संसार के इतिहास में अनेक बार आते रहे है; पर स्रष्टा की नियति यह है कि अनौचित्य की सीमा से बाहर नहीं बढ़ने देती। छोटे बच्चे जब तक सीमित गलती करते है - तब तक अभिभावक उन्हें छूट देते रहते है, पर जब वे मर्यादाओं का उल्लंघन करके अवांछनीयता तक अपनाने लगते है, तब उनके गाल पर चपत लगाने और कान उमेठे जाने का प्रतिकार भी किया जाने लगता है। यदि ऐसा न होता, तो उद्दण्डता बढ़ती ही जाती और सृष्टि का सारा व्यवस्था क्रम ही गड़बड़ा जाता।

पिछले दो हजार वर्ष ऐसे बीते है, जिसमें अनीति ने. अनाचार ने अपनी सभी मर्यादाओं का उल्लंघन किया है, समर्थों ने असमर्थों को त्रास देने में कोई कसर नहीं छोड़ी। सामन्तवादी युग के नाम से इसी को अन्धकार काल कहा जाता रहा है। समर्थ लोगों ने गिरोहबद्ध होकर अपनी संयुक्त शक्ति का दुरुपयोग करने में कहीं कोई कसर नहीं रहने दी। इस अवधि में पीड़ितों ने भी मानवीय मर्यादा के अनुरूप कोई प्रतिरोध नहीं किया। कष्ट सहना ही है, तो दूसरों का न सही, अपना खून तो बहा ही सकते हैं ! संकटों से जूझने की मनुष्य की यह शाश्वत सामर्थ्य ही उसकी विशिष्टता रही है। मनुष्य वस्तुतः ऐसी मिट्टी से बना है कि वह अनीति से जीत भले ही न सके, पर उससे टक्कर तो ले ही सकता है। अनीति को निर्बाध चलने देने या उसे सहते रहने के स्थान पर उससे टकराते हुए मानवीय गरिमा को बचाना भी तो जरूरी है।

जब अनाचारी अपनी दुष्टता से बाज नहीं आते और सताये जाने वाले कायरता-भीरुता अपनाकर टकराने की नीति नहीं अपनाते, तो उसे भी बुरा लगता है-जिसने इस सृष्टि का सृजन किया है। स्रष्टा का आक्रोश तब उभरता है, जब अनाचारी अपनी गतिविधियाँ छोड़ते नहीं और पीड़ित व्यक्ति उसे रोकने के लिए कटिबद्ध नहीं होते। संसार में अनाचार का अस्तित्व तो है, पर उसके साथ ही यह विधान भी है कि सताये जाने वाले बिना हार-जीत का विचार किये, प्रतिकार के लिए, प्रतिरोध के लिए तो तैयार रहें ही। दया, क्षमा आदि के नाम पर अनीति को बढ़ावा देते चलना सदा से अवांछनीय समझा जाता रहा है। अनीति के प्रतिकार को मानवी गरिमा के साथ जोड़ा जाता रहा है।

जब गलतियाँ दोनों ओर से होती है, तो अपनी व्यवस्था को लड़खड़ाते देख कर स्रष्टा को भी क्रोध आता है और जो मनुष्य नहीं कर पाता, उसे करने के लिए तैयार होता है। अवतार परम्परा तो इसी को कहते है। जब भी ऐसे समय आये है, स्रष्टा ने अपने हाथ में बागडोर सँभाली है और असंतुलन को संतुलन में बदलने का प्रयत्न किया है। 'यदा-यदा हि धर्मस्य' वाली प्रतिज्ञा का निर्वाह करने के लिए वह वचनबद्ध है। उसने समय-समय पर अपने आश्वासन का निर्वाह भी किया है।

अपने समय को "प्रगति का युग" कहा जाता है। इन दिनों ज्ञान और विज्ञान का असाधारण विकास-विस्तार हुआ है। इसके साथ ही सुविधा-साधनों की भी अतिशय वृद्धि हुई है। प्राचीन काल में इतने साधन नहीं थे, फिर भी सर्व साधारण को चैन के साथ हँसते-हँसाते दिन काटने का अवसर मिल जाता था। पर अब

सुविधाओं का कहीं अधिक बाहुल्य होते हुए भी, हर व्यक्ति को खिन्न, उद्विग्न और विपन्न देखा जाता है। इसका कारण वस्तुओं की कमी नहीं, वरन् यह है कि जो कुछ उपलब्ध है, उसका सदुपयोग बन नहीं पड़ रहा है। बुद्धिमत्ता का वास्तविक स्वरूप यही है कि जो कुछ हस्तगत है, उसका श्रेष्ठतम सदुपयोग बन पड़े। मनुष्य की आवश्यकताएँ सीमित हैं, साथ ही उसकी उत्पादन शक्ति असाधारण है। इतना सब कुछ होते हुए भी इसे आश्चर्य ही कहना चाहिए कि लोगों में से अधिकांश खिन्न, विपन्न और उद्विग्न पाये जाते हैं। यही अपने समय की सबसे बड़ी गुत्थी है। समाधान इसी का किया जाना चाहिए, अन्यथा समृद्धि के साथ लोगों की विपत्ति भी बढ़ती ही जायेगी।

ज्ञान और विज्ञान का सदुपयोग इसमें है कि उसे नीतिमत्ता के साथ नियोजित किया जाय। सदुपयोग से हर वस्तु सुखद और श्रेयस्कर बन पड़ती है। पर यदि दुर्बुद्धि अपनाकर वस्तुओं का दुरुपयोग किया जाने लगे, तो फिर समझना चाहिए कि उसका दुष्परिणाम ही भुगतना पड़ेगा और मनुष्य पुरुषार्थ करते हुए भी असंतुष्ट, अभावग्रस्त और दीन-हीन स्थिति में बना रहेगा। इन दिनों यही हो भी रहा है। वस्तुओं का अभाव नहीं, उनका दुरुपयोग ही जन-जन को हर दृष्टि से हैरान किये हुए है। यदि मूल कारण को न घटाया-हटाया जा सका, तो इन समस्याओं का हल न हो सकेगा, जो हम सब को निरन्तर हैरान किये हुए हैं।

मनुष्य को उसकी सामान्य आवश्यकता से इतनी अधिक सामर्थ्य मिली है कि वह अपनी निजी आवश्यकताओं के अतिरिक्त अपने परिवार, परिकर और सम्पर्क क्षेत्र की आवश्यकताएँ भी पूरी कर सके; फिर भी होता ठीक उलटा ही देखा गया है। लोग दुःख पाते और दुःख देते पाये जाते है। इसका कारण एक ही है—उपलब्धियों का दुरुपयोग होना। हर किसी को समय, श्रम, मनोयोग, कौशल आदि के सहारे बहुत कुछ करने की सामर्थ्य प्राप्त है। फिर भी आश्चर्य यह है कि दूसरो की सहायता तो दूर, अपनी निज की आवश्यकताएँ भी पूरी नहीं हो पातीं।

भगवान की नीति जहाँ सौजन्य के प्रति अनुकम्पा का प्रदर्शन है, वहाँ दूसरी ओर उद्दण्डता के प्रति प्रताड़नापूर्वक व्यवहार भी है। पिछले दो हजार वर्षो से हर क्षेत्र में उद्दण्डता ही बरती गयी है। शक्ति की अनावश्यक मात्रा हाथ लगने पर लोग अनाचार की नीति अपनाने लगे है। मर्यादाओ को भुला दिया गया और वह करने पर उतारू हो गये, जो नहीं करना चाहिए। ऐसी दशा मे जब भर्त्सना से काम नहीं चला, तो स्रष्टा ने प्रताड़ना की नीति अपनायी और वह किया, जो उद्दण्डों के लिए किया जाना चाहिए।

दंड भी और प्यार भी

शक्ति का सदुपयोग सज्जनों से ही बन पड़ता है। दुर्जन उसका दुरुपयोग करते ही देखे गये हैं। पिछले दिनों ज्ञान और विज्ञान के जो सूत्र हाथ लगे, उनका अनर्थकारी उपयोग ही किया गया। विज्ञान के द्वारा युद्धोन्माद को पूरा करने के साधन जुटाये गये। औद्योगीकरण से यह सोचा गया कि जितना जल्दी जितना अधिक धन बटोरा जा सके, बटोर लिया जाय। बुद्धि को छल-छद्म में नियोजित किया गया। शक्ति को दुर्बलों के शोषण हेतु नियोजित किया गया। संक्षेप में यही है, इन दिनों की उपलब्धियों का उपयोग, जिसे सरल और स्वाभाविक मानकर बिना किसी हिचक के प्रयुक्त किया गया।

विज्ञान के द्वारा उपलब्ध होती हुई सामर्थ्य का भी इसी प्रकार प्रयोग होता चला गया। प्रतिफल जो होना था, हुआ। सर्वत्र प्रदूषण ने डेरा डाल दिया। शक्तिशाली निर्भय होकर अनाचार बरतने लगे। औचित्य की मर्यादाओं को एक प्रकार से भुला ही दिया गया। यही है अपने समय की उपलब्धियाँ, जिन्हें चतुरता का नाम दिया जाता है। जिस रीति-नीति को बहुत जन अपनाते हैं, वह एक प्रकार से प्रथा बन जाती है और प्रचलन का रूप धारण कर लेती है। इन दिनों का प्रचलन यही है। छद्म और अनाचार का उन्मुक्त प्रयोग हो रहा है। नियामक सत्ता के आक्रोश के भय का अंकुश ही उठ गया है।

यह अनाचार सृष्टि-व्यवस्था से सर्वथा प्रतिकूल है। क्रिया की प्रतिक्रिया न हो, तो संसार में अंधेर ही मच जाय। न्याय का अस्तित्व ही न रहे। पाप से कोई डरे ही नहीं; अनीतिपूर्वक लूट-मार करने के लिए हर कोई आतुर होने लगे। पर ऐसा होता नहीं। जिसने यह सृष्टि बनाई है, उसने क्रिया की प्रतिक्रिया का नियम भी बनाया है। फलतः अनाचार पर उतारू मनुष्य को औचित्य की प्रताड़ना भी सहनी पड़ी है। पिछली शताब्दी मे दो विश्वयुद्ध और लगभग २०० क्षेत्रीय युद्ध हुए है, जिनमें ऐसे घातक अस्त्र-शस्त्रो का उपयोग किया गया कि लोगों को अपार धन-जन की हानि उठानी पड़ी। हवा और जल में इतना विष घुल गया कि लोग मुश्किल से ही जीवन यापन कर रहे है। अपराधो की बाढ़ सी आई हुई है। शारीरिक और

मानसिक स्वास्थ्य गड़बड़ा गया है । हर कोई आशंकित और आतंकित दिखाई देता है । इन परिस्थितियों में कोई भी चैन से नहीं रह रहा है । अगले दिनों परिस्थितियाँ और भी अधिक बिगड़ने की चेतावनी सभी विज्ञजन दे रहे हैं ।

मनुष्य को सौंपा तो बहुत कुछ गया है, पर इतना नहीं कि वह सृष्टि की व्यवस्था को ही गड़बड़ा कर फेंक दे । उसे संरक्षक, माली और अभिवृद्धि करने वालों की जिम्मेदारियों के साथ भेजा गया है । इसलिए नहीं कि वह इस सुरम्य उद्यान के चलते हुए क्रम को ही उलट कर रख दे ।

जब तक सही चाल, सही गति और सही रीति-नीति को अपनाये रहा गया, तब तक सब कुछ ठीक-ठाक चलता रहा । प्रकृति का संतुलन ठीक बना रहा । परिस्थितियाँ सब ओर से ठीक बनी रहीं । ऐसे ही संतुलित अवसर को "सतयुग" नाम दिया जाता है । मनुष्यों में पारस्परिक स्नेह और सहयोग बने रहने से सभी को पारस्परिक सद्भाव का लाभ मिलता रहा । प्रकृति की अनुकूलता बनी रही । किसी को ऐसे अनिष्ट न सहने पड़े, जो प्रकृति की प्रतिकूलता के कारण उत्पन्न होती हों । सुख-शान्ति का वातावरण बनाये रहना यहाँ की परम्परा है । जब तक मनुष्य ने अपनी मर्यादाएं बनाये रखी, तब तक सब कुछ सुखद और सुरम्य ही बना रहा ।

इस सृष्टि में जहाँ सदाशयता के उपहार मिलते रहते है, वहाँ यह व्यवस्था भी है कि यदि उद्दण्डता भरे अनाचार बरते जाने लगें, तो तुरन्त न सही कुछ ही विलम्ब से उनका कड़ुवा प्रतिफल अवश्य मिलने लगे । लड़के जब *अनुशासन बिगाड़ते और स्कूल में अवांछनीय धमा-चौकड़ी* मचाते हैं, तो शिक्षक को कड़े अनुशासन का प्रयोग कर भय दिखाना पड़ता है । इन दिनों ऐसा ही हो रहा है । व्यक्ति और समाज को खिन्नता और विपन्नता का त्रास भी सहना पड़ रहा है । आपा-धापी की छीना-झपटी में कलह के कारण, मनुष्य को जिस सुख-शान्ति की आवश्यकता है, उसमें भारी कमी पड़ रही है । उद्विग्नता से परेशान लोग नशेबाज़ी, विलासिता आदि का आश्रय लेकर ही किसी प्रकार अपना गम-गलत करते देखे जाते हैं । पर उतने से भी चैन कहाँ पड़ने वाला है ? संसार व्यवस्था में कुछ आगा-पीछा हो सकता है; किन्तु प्रकृति तो अपना हण्टर सदा सँभाले ही रहती है, अन्यथा इतने बड़े विश्व का सुनियोजन हो ही कैसे सके ?

जिसने यह संसार बनाया है, उसने यह अंकुश भी हाथ में रखा है कि जब मर्यादा का उल्लंघन चरम सीमा तक पहुँच जाय और लोग विवेक खोकर अनाचार अपनाने पर ही उतारू हो जायें, तो उनकी खोज-खबर ली जाय; काबू में लाने के लिए कठोरता भी अपनायी जाय । उल्टी चाल-चलने वाले को कड़ाई अपना कर सीधा चलने के लिए बाधित किया जाय । इन दिनों ऐसा ही हो रहा है । प्रस्तुत विपत्तियों को देखते हुए लोगों को यह समझने के लिए बाधित किया जा रहा है कि सही रीति का परित्याग करने पर उन्हें कितनी विपरीतताओं का सामना करना पड़ सकता है । ६०० करोड़ व्यक्तियों के लिए जहाँ स्रष्टा ने समुचित साधन जुटाने की दया दिखाई है, वहाँ उन्हें यह भी करना पड़ा है कि उनके किये के लिए समुचित दण्ड-व्यवस्था का भी विधान हो । सर्वविदित है कि ऐसा कृत्य निर्दयतापूर्ण ही कहा जाएगा, पर व्यवस्था तो व्यवस्था ठहरी । इन दिनों बारीकी से देखने पर यह भली-भाँति समझा जा सकता है कि पिछले दिनों जो अनाचार अपनाया जाता रहा है, उसकी प्रतिक्रिया कितनी कटु और भयंकर हुई है उससे मानवी आस्था और समाज-व्यवस्था को कितनी हानि उठानी पड़ी है ।

परिवर्तन के महान क्षण

कभी भाव संवेदनाएँ इतनी समर्थता प्रकट करती थीं कि मिट्टी के द्रोणाचार्य एकलव्य को धनुष्य विद्या में प्रवीण-पारंगत कर दिया करते थे । मीरा के कृष्ण उसके बुलाते ही साथ नृत्य करने के लिए आ पहुँचते थे । गान्धारी ने पतिव्रत भावना से प्रेरित होकर आँखों में पट्टी बाँध ली थी और आँखों में इतना प्रभाव भर लिया था कि दृष्टिपात करते ही दुर्योधन का शरीर अष्ट-धातु का हो गया था । तब शाप-वरदान भी शस्त्र प्रहारों और बहुमूल्य उपहारों जैसा काम करते थे । वह भाव संवेदनाओं का चमत्कार था । उसे एक सच्चाई के रूप में देखा और हर कसौटी पर सही पाया जाता था ।

अब भौतिक जगत ही सब कुछ रह गया है । आत्मा तिरोहित हो गई । शरीर और विलास वैभव ही सब कुछ बन कर रह गये है । यह प्रत्यक्षवाद है । जो बाजीगरों की तरह हाथो हाथ देखा और दिखाया जा सके वही सच और जिसके लिए गहराई में उतरना पड़े, परिणाम के लिए प्रतीक्षा करनी पड़े, वह झूठ । आत्मा दिखाई नहीं देती । परमात्मा को भी अमुक शरीर धारण किये, अमुक स्थान

पर बैठा हुआ और अमुक हलचलें करते नहीं देखा जाता इसलिए उन दोनों की ही मान्यता समाप्त कर दी गई ।

भौतिक विज्ञान चूँकि प्रत्यक्ष पर अवलम्बित है। उतने को ही सच मानता है जो प्रत्यक्ष देखा जाता है। चेतना और श्रद्धा मे कभी शक्ति की मान्यता रही होगी, पर वह अब इसलिए अविश्वस्त हो गई कि उन्हें बटन दबाते ही बिजली जल जाने या पंखा चलने लगने की तरह प्रत्यक्ष नहीं देखा जा सकता । जो प्रत्यक्ष नहीं वह अमान्य, भौतिक विज्ञान और दर्शन की यही कसौटी है। इस आधार पर परिवर्तन का लाभ तो यह हुआ कि अन्ध विश्वास जैसी मूढ़—मान्यताओं के लिए गुंजायश नहीं रही और हानि यह हुई कि नीतिमत्ता, आदर्शवादिता, धर्म धारणाओं को भी अस्वीकार कर दिया गया । इसलिए मानवी गरिमा के अनुरूप अनुशासन भी लगभग समाप्त होने जा रहा है ।

नई मान्यता के अनुसार मनुष्य एक चलता फिरता पौधा मान लिया गया । अधिक से अधिक उसे वार्तालाप कर सकने की विशेषता वाला पशु माना जाने लगा । प्राणीवध में जिस निर्दयता और निष्ठुरता का आरोपण कर लोग अनुचित और अधार्मिक माना करते थे, वह अब असमंजस का विषय नहीं रह सकेगा, ऐसा दीखता है । कद्दू-बैंगन की तरह किसी भी पशुपक्षी को मांसाहार के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है । दूसरे की पीड़ा जब उसे स्वयं को अनुभव नहीं होती और सामिष आहार मे अधिक प्रोटीन होने और अपने शरीर को लाभ मिलने की बात प्रत्यक्षवादी कहने लगे तो कोई प्राणीवध को इसलिए क्यों अस्वीकार करे कि उसके कारण नीति का अनुशासन बिगड़ता है तथा भावनाएँ विचलित होती है । ठीक यही बात अन्य मानवी मर्यादाओ के सम्बन्ध मे भी है । अपराधों के लिए द्वार इसीलिए खुला कि उसमें मात्र-दूसरो की हानि होती है । अपने को तो तत्काल लाभ उठाने का अवसर मिल जाता है, अन्य आचारों में भी पशु प्रवृत्तियों को अपनाये जाने के सम्बन्ध में जो तर्क दिये गये और प्रतिपादन प्रस्तुत किये गये है, उन्हे देखते हुए यौन सदाचार के लिए भी किसी पर कोई दबाव नही पड़ता । जब इस सम्बन्ध में पशु सर्वथा स्वतंत्र है तो मनुष्य के लिए ही क्यो इस सन्दर्भ में प्रतिबंध होना चाहिए । जीव जगत में जब धर्म, कर्तव्य, दायित्व जैसी कोई मान्यता नहीं तो फिर मनुष्य ही उन जंजालों में अपने को क्यों बाधें ? जब बड़ी मछली छोटी मछली को खाती है, जब बड़ी चिड़िया को छोटी चिड़ियों पर आक्रमण करने में कोई झिझक नहीं होती, जब चीते हिरन स्तर के कमजोरों को दबोच लेते है तो फिर समर्थ मनुष्य ही अपने असमर्थ जनों का शोषण करने में क्यों चूके ?

प्रत्यक्षवाद ने, भौतिक विज्ञान ने सुविधा सम्वर्धन के लिए कितने ही नये-नये आधार दिये हैं, तो उसकी उपयोगिता और यथार्थता पर क्या किसी को संदेह करना चाहिए । यदि आत्मा, परमात्मा, कर्म, कर्तव्य, पुण्य, परमार्थ जैसी मान्यताओं के आधार पर कोई लाभ हाथो-हाथ नहीं मिलता तो फिर व्यर्थ ही उन बंधनों को क्यों माना जाय, जिनके कारण अपने को तो तात्कालिक घाटे में ही रहना पड़ता है । समर्थो को इसके कारण संत्रस्त और शोषण का शिकार बनना पड़ता है ।

विज्ञान और प्रत्यक्षवाद ने क्या सचमुच हमें सुखी बनाया है ?

समय का बदलाव, वैज्ञानिक उपलब्धियों तक तर्क के आधार पर प्रदर्शन करने के रूप में जब लाभदायक प्रतीत होता है तो उसके स्थान पर तप, संयम, परमार्थ जैसी उन मान्यताओं को क्यों स्वीकार कर लिया जाय, जो आस्तिकता, आध्यात्मिकता एवं धार्मिकता की दृष्टि से कितनी ही सराही क्यो न जाती हों पर तात्कालिक लाभ की कसौटी पर उनके कारण घाटे में ही रहना पड़ता है।

नये समय के नये तर्क अपराधियों स्वेच्छाचारियों से लेकर हवा के साथ बहने वाले मनीषियों तक को समान रूप में अनुकूल पड़ते हैं और मान्यता के रूप में अंगीकार करने में भी सुविधाजनक प्रतीत होते है तो हर कोई उसी को स्वीकार क्यों न करे ? उसी दिशा में क्यो न चले ? मनीषी नीत्से ने दृढ़तापूर्वक घोषणा की है कि "तर्क के इस युग मे पुरानी मान्यताओ पर आधारित ईश्वर मर चुका। अब उसे इतना गहरा दफना दिया गया है कि भविष्य में कभी उसके जीवित होने की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए"। धर्म के सम्बन्ध मे भी प्रत्यक्षवादी बौद्धिक बहुमत ने यही कहा है कि वह अफीम की गोली भर है, जो पिछड़ो को त्रास सहते रहने और विपन्नता के विरुद्ध मुँह न खोलने के

लिए बाधित करता है, साथ ही वह अनाचारियों को निर्भय बनाता है ताकि लोक में अपनी चतुरता और समर्थता के बल पर वे उन कार्यों को करते रहें जिन्हें अन्याय कहा जाता है। परलोक का प्रश्न यदि आड़े आता हो तो वहाँ से बच निकलना और भी सरल है। किसी देवी-देवता की पूजा-पत्री कर देने या धार्मिक कर्मकाण्ड का सस्ता सा आडम्बर बना देने भर से पाप कर्मो के दण्ड से सहज छुटकारा मिल जाता है। जब इतने सस्ते में तथाकथित पापों की प्रतिक्रिया से बचा जा सकता है तो रास्ता बिल्कुल साफ है। मौज से मनमानी करते रहा जा सकता है। और उससे कोई कठोर प्रतिफल की आशंका हो तो पूजा-पाठ के सस्ते से खेल खिलवाड़ करने से वह आशंका भी निरस्त हो सकती है।

समय का प्रवाह वैज्ञानिक प्रगति के साथ प्रत्यक्षवाद का समर्थक होता जा रहा है। सच तो यह है कि जो लोग धर्म और अध्यात्म को चर्चा प्रसंगों में मान्यता देते हैं, वे भी निजी जीवन में प्रायः वैसे ही आचरण करते देखे जाते हैं जैसे कि अधर्मी और नास्तिक करते देखे जाते हैं। धर्मोपदेशकों से लेकर धर्मध्वजियों के निजी जीवन का निरीक्षण-परीक्षण करने पर प्रतीत होता है कि अधिकांश लोग उस स्वार्थपरता को ही अपनाये रहते हैं जो अधार्मिकता की परिधि में आती है। आडम्बर, पाखण्ड और प्रपंच एक प्रकार से प्रच्छन्न नास्तिकता ही है, अन्यथा जो आस्तिकता और धार्मिकता की महत्ता भी बखानते हैं, उन्हें स्वयं तो भीतर और बाहर से एक रस होना ही चाहिए था। जब उनकी स्थिति आडम्बर भरी होती दीखती है तो प्रतीत होता है कि प्रत्यक्षवादी नास्तिकता ही नहीं, प्रच्छन्न धर्माडम्बर भी लगभग उसी मान्यता को अपनाये हुए हैं। लोगों की आँखो में धूल झोंकने या उनसे अनुचित लाभ उठाने के लिए ही धर्म का ढकोसला गले से बांधा जा रहा है। ईश्वर को भी वे न्यायकारी-सर्वव्यापी नहीं मानते यदि ऐसा होता तो धार्मिकता की वकालत करने वालो में से कोई भी परोक्ष रूप से अवांछनीयता अपनाये रहने के लिए तैयार नहीं होता। तथाकथित धार्मिक और खुलकर इन्कार करने वाले नास्तिक लगभग एक ही स्तर के बन जाते हैं।

यह स्थिति भयानक है। वस्तुओ की जिस कमी को विज्ञान ने पूरा किया है यदि वह हस्तगत न हुई होती तो पिछली पीढ़ियों की तरह सादा जीवन अपनाकर भी निर्वाह हँसी-खुशी के साथ चलता रह सकता था। ऋषियों, तपस्वियों, महामानवों, लोक सेवियों में से अधिकांश ने कठिनाईयों और अभाव वाला भौतिक जीवन जिया है, फिर भी उनकी भौतिक या आध्यात्मिक स्थिति खिन्न, विपन्न नहीं रही। सच तो यह है कि वे आज के तथाकथित सुखी, समृद्ध लोगों की तुलना में कहीं अधिक सुख-शांति भरा प्रगतिशील जीवन जीते थे और हँसता हँसाता ऐसा वातावरण बनाये रहते थे, जिसे सतयुग के रूप में जाना जाता था और जिसको पुनः प्राप्त करने के लिए हम सब तरसते है।

भौतिक विज्ञान के सुविधा साधन बढ़ाने वाले पक्ष ने समर्थ जनो के लिए लाभ उठाने के अनेकों आधार उत्पन्न एवं उपस्थित किये है। इसमें तनिक भी संदेह नहीं। बहिरंग की इसी स्तर की चमक दमक को देखकर अनुमान लगाता है कि विज्ञान ने अपने समय को बहुत सुविधा सम्पन्न बनाया है। परन्तु दूसरी ओर तनिक सी दृष्टि मोड़ते ही पर्दा उलट जाता है और दृश्य ठीक विपरीत दीखने लगता है। सुसम्पन्न, समर्थ, चतुर लोग संख्या में बहुत कम हैं। मुश्किल से दस हजार के पीछे दस। विज्ञान द्वारा उत्पादित सुविधा सामग्री मे से अधिकांश उन्हीं के हाथो में सीमित होकर रह गयी है। उनने जो बटोरा है वह भी कहीं आसमान से नहीं टपका वरन् दुर्बल दीख पड़ने वाले-भोले भावुकों को पिछड़े हुए समझकर उन्हीं के अधिकारों का अपहरण करके वह सम्पन्नता थोड़े लोगों के हाथों एकत्रित हुई है। जिसे विज्ञान की देन, युग का प्रभाव, प्रगति का युग आदि नामों से श्रेय दिया जाता है। इस एक पक्ष की बढ़ोत्तरी ने अधिकांश लोगो का बड़ी मात्रा मे दोहन किस प्रकार किया है इसे देखते हुए विवेकवानो को उस असमंजस में डूबना पड़ता है कि दृष्टिगोचर होने वाली प्रगति क्या वास्तविक प्रगति है। इसके पीछे अधिकांश को पीड़ित, शोषित, अभावग्रस्त रखने वाला कुचक्र तो काम नहीं कर रहा है।

नीतिरहित भौतिकवाद से उपजी दुर्गति

ऊँचा महल खड़ा करने के लिए किसी दूसरी जगह गड्ढे बनाने पड़ते हैं। मिट्टी, पत्थर, ईंट, चूना आदि जमीन को खोदकर ही निकाला जाता है। एक जगह टीला बनता है तो दूसरी जगह खाई बनती है। संसार में दरिद्रों, अशिक्षितों, दुखियों, रोगियों, पिछड़ों की विपुल संख्या देखते हुए विचार उठता है कि उत्पादित सम्पदा यदि सभी में बँट गई होती तो सभी लोग लगभग एक ही तरह का समान स्तर का जीवन जी रहे होते। अभाव कृत्रिम है। यह मात्र एक ही कारण उत्पन्न हुआ है कि कुछ लोगों ने अधिक बटोरने की विज्ञान एवं प्रत्यक्षवाद की विनिर्मित मान्यता के अनुरूप यह उचित समझा है कि नीति, धर्म, कर्तव्य, सदाशयता, शालीनता, समता, परमार्थ परायणता जैसे उन अनुबंधों को मानने से इन्कार कर दिया जाए जो पिछली पीढ़ियों में आस्तिकता और धार्मिकता के आधार पर आवश्यक माने जाते थे। अब उन्हें प्रत्यक्षवाद ने अमान्य ठहरा दिया, तो सामर्थ्यवानों को कोई किस आधार पर मर्यादा में रहने के लिए समझाये किस तर्क के आधार पर शालीनता और समता की नीति अपनाने के लिए बाधित करे। पशुओं को जब नीतिवान परोपकारी बनाने के लिए बाधित नहीं किया जा सका, तो बन्दर की औलाद बताये गये मनुष्य को यह किस आधार पर समझाया जा सके कि उसे उपार्जन तो करना चाहिए पर उसको उपभोग में ही समाप्त नहीं कर देना चाहिए। सदुपयोग की उन परम्पराओं को भी अपनाना चाहिए जो न्याय, औचित्य, सद्भाव एवं बाँटकर खाने की नीति अपनाने की बात कहती है। यदि वह अध्यात्मवादी प्रचलन जीवित रहा होता तो प्रस्तुत भौतिकवादी प्रगति के आधार पर बढ़ते हुए साधनों का लाभ सभी को मिला होता। सभी सुखी एवं समुन्नत पाये जाते। न कोई अनीति बरतता और न किसी को उसे सहने के लिए विवश होना पड़ता।

विज्ञान ने जहाँ एक से एक अद्भुत चमत्कारी साधन उत्पन्न किये। वहाँ दूसरे हाथ से उन्हें छीन भी लिया। कुछ समर्थ लोग जन्नत का मजा लूटते और शेष सभी दोषारोपण की सड़न में सड़ते हुए न पाये जाते विज्ञान के साथ सद्ज्ञान का समावेश ही यदि रह सका होता तो भौतिक और आत्मिक सिद्धान्तों पर आधारित प्रगति सामने होती और उसका लाभ हर किसी को समान रूप से मिल सका होता। पर किया क्या जाय भौतिक विज्ञान जहाँ शक्ति और सुविधा प्रदान करता है वहीं प्रत्यक्षवादी मान्यताएं नीति, धर्म, संयम, स्नेह, कर्तव्य आदि को झुठला भी देता है। ऐसी दशा में उद्दण्डता अपनाये हुए समर्थ का दैत्य-दानव बन जाना स्वाभाविक है। उनका बढ़ता वर्चस्व उन दुर्बलों का शोषण करेगा ही जिन्हें प्रगति ने बहुलता से पैदा करके समर्थों को उदार बनने एवं ऊँचा उठाने का श्रेय देने के लिए पैदा किया है। तथाकथित प्रगति ने इसी नीतिमत्ता का बोलबाला होते देखने की स्थिति पैदा कर दी है।

उदाहरण के लिए प्रगति के नाम पर हस्तगत हुई उपलब्धियों की चकाचौंध में नहीं उनकी वस्तुस्थिति में खुली आँखों से देखा जा सकता है। औद्योगीकरण के नाम पर बने कारखानों ने संसार भर में वायु प्रदूषण और जल प्रदूषण भर दिया है। अणु शक्ति की बढ़ोत्तरी ने विकिरण से वातावरण को इस कदर भर दिया है कि तीसरा युद्ध न हो तो भी भावी पीढ़ियों को अपंग स्तर की पैदा होना पड़ेगा। ऊर्जा के अत्यधिक उपयोग ने संसार का तापमान इतना बढ़ा दिया है कि हिम प्रदेश पिघल जाने पर समुद्रों में बाढ़ आने और ओजोन नाम से जानी जाने वाली पृथ्वी की कवच फट जाने पर ब्रह्माण्डीय किरणें धरती की समृद्धि को भून कर रख सकती हैं। रासायनिक खाद और कीटनाशक मिल कर पृथ्वी की उर्वरता को विषाक्तता में बदल कर रखे दे रहे हैं। खनिजों का उत्खनन जिस तेजी से हो रहा है, उसे देखते हुए लगता है कि कुछ ही दशाब्दियों में धातुओं का, खनिज तेलों का भण्डार समाप्त हो जायेगा। बढ़ते हुए कोलाहल से तो व्यक्ति और पगलाने लगेंगे। शिक्षा का उद्देश्य उदरपूर्ति भर रहेगा, उसका शालीनता के तत्वदर्शन से कोई वास्ता न रहेगा। आहार में समाविष्ट होती हुई स्वादिष्टता प्रकारान्तर से रोग विषाणुओं की तरह धराशायी बनाकर रहेगी। कामुक उत्तेजनाओं को जिस तेजी से बढ़ाया जा रहा है, उसके फलस्वरूप न मनुष्य में जीवनी शक्ति का भण्डार बचेगा, न बौद्धिक प्रखरता और शील-सदाचार का कोई निशान बाकी रहेगा। पशु-पक्षियों और पेड़ों का जिस दर से कत्लेआम हो रहा है, उसे देखते हुए यह प्रकृति छूँछ होकर रहेगी। नीरसता, निष्ठुरता, नृशंसता, निकृष्टता के अतिरिक्त और कुछ पारस्परिक व्यवहार में कोई ऊँचाई शायद ही दीख पड़े। मूर्धन्यों का यह निष्कर्ष गलत नहीं है कि मनुष्य सामूहिक आत्म हत्या की दिशा मे तेजी से बढ़ रहा है। नशेबाजी जैसी दुष्प्रवृत्तियों की बढ़ोत्तरी देखते हुए कथन

कुछ असंभव भी नहीं लगता स्नेह सौजन्य और सहयोग के अभाव में मनुष्य पागल कुत्तों की तरह एक-दूसरे पर आक्रमण करने के अतिरिक्त और कुछ कदाचित ही कर सके।

मनुष्य जाति आज जिस दिशा में चल पड़ी है, उससे उसकी महत्ता ही नहीं, सत्ता का भी समापन होते दीखता है। संचित बारूद के ढेर में यदि कोई पागल एक माचिस की तीली फेंक दे, तो समझना चाहिए कि यह अपना स्वर्गोपम धरालोक धूलि बन कर आकाश में न छितरा जाय। विज्ञान की बढ़ोत्तरी और ज्ञान की घटोत्तरी ऐसी ही विषम परिस्थितियाँ उत्पन्न करने में बहुत विलम्ब भी नहीं लगने देंगी, ऐसा दीखता है।

भौतिकवाद की उलटबाँसियां

जब विष को अमृत की मान्यता मिल जाय और उसे प्राप्त करने के लिए हर किसी को लालायित पाया जाय, तब परिवर्तन अति कठिन पड़ता है। हानि को लाभ समझा जाने लगे और लाभ को गहराई तक समझने में कठिनाई पड़े, उसे हानि समझा जाने लगे तो उल्टी समझ को सीधी करना बहुत कठिन पड़ता है। प्राचीनकाल में कम से कम मान्यताएँ तो सही थीं। उठते कदम राजमार्ग को अपनाते थे पर अब तो स्थिति ही कुछ दूसरी बन गई है। भटका हुआ अपने आप को सही मानता और सबको अपने साथ ले चलने का आग्रह करता है। तात्कालिक लाभ सब कुछ बन गया है। उसका परिणाम कल या परसों क्या हो सकता है, यह सोचने की किसी को फुरसत नहीं। कुकर्म करने में भी समय, श्रम, साहस और पुरुषार्थ नियोजित करना पड़ता है। बिना हिम्मत के तो चोरी-डकैती करते भी नहीं बन पड़ता। खतरा तो व्यभिचार, अनाचार के लिए उद्यत होने वालों के सामने भी रहता है। उस अनाचार में लगे हुए व्यक्ति भी कम जोखिम नहीं उठाते फिर भी न जाने क्यों मान्यता यह बन गई है कि सच्चाई का, अच्छाई का रास्ता अपनाने वाले घाटे में रहते हैं। फायदा सिर्फ अनाचारियों को होता है। इस मान्यता के पक्ष में उन्हें अपने इर्द-गिर्द ही ऐसे लोग मिल जाते हैं जो कुकर्म करके हाथों-हाथ नफा कमा लेते हैं। इतने दूर तक सोचने की उन्हें आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती कि अनुचित रीति से उठाया हुआ लाभ किस प्रकार दुर्व्यसनों में फंसता, अपयश का भारी वजन लादता और अन्त में ऐसे दुष्परिणाम उत्पन्न करता है जिससे न केवल अपनों को वरन् साथियों समेत समूचे समुदाय को पतन एवं पराभव के गर्त में गिरना पड़ता है। लगता है कि मृगतृष्णा मे भटकने वाले, कस्तूरी की तलाश में दौड़ लगाते रहने वाले हिरन खीज थकान, निराशा और असमंजस के कारण बेमौत मर रहे हैं। अवांछनीयता अपनाकर कमाई हुई सफलता तत्काल न सही थोड़ी ही देर में थोड़ा ही आगे बढ़कर ऐसे संकट सामने ला खड़े करती है जिनसे उबरना कठिन हो जाता है। पर उनके लिए क्या कहा और क्या किया जाय जिनकी मंद दृष्टि मात्र कुछ ही इंच-फुट तक का देख सकने में साथ देती है। आगे चलकर कितने बड़े खाई खन्दक हैं। जिनमें एक बार गिर पड़ने पर कोई सहायता के लिए भी आगे नहीं आता है और जिस-तिस को कोसते हुए भयावह अन्त का सामना करना पड़ता है। इन दिनों ऐसी ही कुछ गजब की गाज गिरी है। विज्ञान के आधार पर मिली, नीति मत्ता से सर्वथा विलग सफलताओं ने कुछ ऐसा व्यामोह उत्पन्न कर दिया है कि लोग कुमार्ग पर चलते और दुर्गति के भाजन बनते देखे जाते हैं। प्रचलन यही बना रहा तो उसका दुष्परिणाम व्यक्ति और समाज के सम्मुख इस स्तर की विभीषिका बनकर सामने आयेगा, जिससे बाद में उबर सकना शायद संभव ही न रहेगा। तथाकथित प्रगति अवगति से भी अधिक मंहगी पड़ेगी।

इन दिनों हर क्षेत्र में प्रवेश किये हुई समस्याओं, अवांछनीयताओं, विडम्बनाओं के लिए दोष किसे दिया जाये? और उसका समाधान कहाँ ढूँढ़ा जाय? इस सन्दर्भ में मोटे तौर से एक ही बात कही जा सकती है कि प्रत्यक्षवाद की पृष्ठभूमि पर जन्मे भौतिकवाद ने लगभग सभी नैतिक मूल्यों की उपयोगिता आवश्यकता मानने से इन्कार कर दिया है। उसकी प्रत्यक्षवादिता को प्रामाणिकता का एक स्वरूप मानने वाले जन-समुदाय ने हर प्रसंग में यही नीति अपना ली है कि प्रत्यक्ष एवं तात्कालिक लाभ को ही सब कुछ माना जाय। जिसमें हाथों हाथ भौतिक लाभ मिलने की बात बनती हो, उसी को स्वीकारा जाय इस कसौटी पर नीति, सदाचार, उदारता, संयम जैसे उच्च आदर्शों के लिए कोई जगह नहीं रह जाती है। इस प्रत्यक्षवादी तत्वदर्शन ने ही मनुष्य को स्वेच्छाचारी बनने के लिए प्रोत्साहित किया है। उन परम्पराओं को छिन्न-भिन्न करके रख दिया है जो मानवी गरिमा के अनुरूप मर्यादाओं के परिपालन एवं वर्जनाओं का परित्याग करने के लिए दबाव डालती और सहायता करती थीं।

सुविधाएँ सुहावनी लग सकती हैं । उनकी समय-समय पर आवश्यकता भी हो सकती है । पर यह तथ्य भी ध्यान में रखने, गाँठ में बाँध लेने योग्य है कि पारस्परिक श्रद्धा, सद्‌भावना, सहकारिता, नीति-निष्ठा अपनाये बिना पारस्परिक सद्‌भाव एवं स्नेह संवेदना नहीं उभर सकती और इसके बिना उस आचरण को पनपने की कोई संभावना नहीं बनती, जिसमें मनुष्य अपना ही नहीं दूसरों का भी हित सोचता है । न्याय को प्रश्रय देता है और अनीति के आधार पर उद्‌भूत सुविधाओं को स्वीकारने से इन्कार कर देता है। सर्वजनीन सुख-शान्ति के लिए इससे कम में काम चलता नहीं और इससे अधिक की कुछ और आवश्यकता नहीं।

पिछले सौ वर्षों के इतिहास के अध्ययन से यही ज्ञात होता है कि विगत की उस प्रगति की पृष्ठभूमि में यही सब कुछ पकता-पनपता रहा । यों सुविधा-साधनों की दृष्टि से वह अपनी सार्थकता सिद्ध करने में तो सफल रहा; पर आत्मिक क्षेत्र में निरन्तर गिरावट ही आती गई । कहने को तो इस बीच अगणित क्षेत्रों में असंख्यों क्रान्तियाँ और अनेकानेक परिवर्तन हुए, पर उस बदलाव की आखिरी परिणति भी कोई बहुत सुखकर हुई, ऐसा नहीं कहा जा सकता । इसे विगत के घटनाक्रमों से जाना जा सकता है।

महान परिवर्तनों की एक शताब्दी

अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध से लेकर उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध की इस लम्बी अवधि में नई व्यवस्थाएँ बनीं और नई रीति-नीति अपनायी गई । पुरातन राजतंत्र पद्धति को उखाड़ फेंकने और उसके स्थान पर प्रजातंत्र प्रणाली को प्रतिष्ठित करने में इन्हीं दिनों सफलता मिली ।

औद्योगीकरण और शहरीकरण को भी इन्हीं दिनों हवा मिली और विकासक्रम गाँवों से सिमट कर शहरों में केन्द्रित होता गया । इससे छोटे-छोटे कस्बे विशालकाय नगरों के रूप में परिणत हुए, और भव्य भवनों, भीमकाय कारखानों से सम्पन्न होते चले गए । उनकी शोभा, सम्पन्न अलकापुरी को चुनौती देने लगी। यह क्रम छोटे-बड़े सभी देशों में अपनी-अपनी स्थिति के अनुरूप गतिशील होता रहा ।

साथ ही नया श्रमिक संगठन और आन्दोलन का भी ऐसा प्रारम्भ चला, जो इससे पूर्व कभी भी दृष्टिगोचर नहीं हुआ था । नौकरों और मालिकों की हैसियत और स्थिति में जमीन आसमान जैसा अन्तर था । सेवकों को स्वामियों की मर्जी पर चलकर ही आजीविका उपार्जित करने का अवसर मिलता था, पर इन संगठनों के दबाव में स्थिति बदली, और मालिकों को श्रमिकों को न केवल कतिपय सुविधाएँ, वरन् लाभांश में भागदारी देने के लिए भी विवश होना पड़ा ।

संसार भर के हर औद्योगिक क्षेत्र में श्रमिक संगठनों का निर्माण हुआ है । अनेक लेबर यूनियनें बनी हैं उनके राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय संगठन भी हैं । उनकी आवाज में वजन है । हड़ताल जैसे शस्त्र अपनाकर वे उत्पादकों को ही नहीं सरकारों को भी न्यायोचित निर्णय हेतु बाध्य करने की सामर्थ्य अर्जित कर चुकी है । सरकारों ने अपनी ओर से श्रम-कल्याण विभाग बनाये हैं, और ऐसा प्रबन्ध किया है कि झंझट खड़े होने की स्थिति ही न आने पाये और कहीं गुत्थी उलझती दीखे तो बिना वितंडा खड़ा हुए आरंभ में ही पारस्परिक विनिमय के आधार पर सुलझ जाये ।

विचार क्षेत्र में एक नई समस्या का सामना करने का प्रसंग इसी अवधि में सामने आया, वह था—जनसंख्या वृद्धि के कारण उत्पन्न होने वाली समस्याओं पर गंभीरतापूर्वक चिन्तन । माल्थस जैसे विचारकों ने ऐसे चौंकाने वाले तथ्य प्रस्तुत किये, जिनके अनुसार बढ़ती आबादी की दर के अनुरूप निर्वाह सामग्री न बढ़ पाने की कठिनाई सामने आयी। विचारशीलों ने जनसंख्या वृद्धि की रोकथाम करने के संबंध में गहराई के साथ विचार किया और जो जहाँ बन पड़ा, वहाँ उसके लिए प्रयत्न भी किया गया ।

बढ़ती हुई औद्योगिक गतिविधियों के कारण पूँजी का केन्द्रीकरण होने लगा । सम्पन्न अधिक सम्पन्न बनने लगे और गरीबों की गरीबी एवं कठिनाई भी इस कारण बढ़ती गई । चतुर लोगों के हाथ में असीम पूँजी पहुँच जाने से वे न केवल धन कुबेर बने वरन् अधिक शोषण कर सकने के लिए उपनिवेशवाद जैसे नए-नए तौर-तरीके अपनाने लगे । प्रतिक्रिया इसकी भी हुई और एकाधिकार समाप्त करने—सम्पदा पर सर्वजनीन अधिकार होने का एक नया आधार खड़ा हुआ, जिसे साम्यवाद नाम मिला कुछ दिन तक तो वह एक दर्शन ही समझा जाता रहा किन्तु बाद में इतना प्रचण्ड और जन समर्थित बना, कि रूस-चीन जैसे विशालकाय देश अपने-अपने गुटों के साथ उसी प्रकार की शासन-व्यवस्था बनाकर चलने लगे । अर्थशास्त्र के क्षेत्र में इसे एक भूकम्प जैसा उथल-पुथल माना जाता है ।

राजनैतिक क्षेत्र में जनवादी शासन व्यवस्थाओं की स्थापना के लिए अट्ठारहवीं उन्नीसवीं सदियां अद्भुत परिवर्तन प्रस्तुत करती रही हैं। परिवर्तनों में कहीं बहुत अधिक मारकाट मची, कहीं साधारण दगावत से ही काम चल गया। कहीं परिस्थिति हाथ से निकलने से पूर्व ही सत्ताधारियों ने बुद्धिमता से काम लिया और शासन का समग्र या आंशिक हस्तान्तरण जनता के हाथों कर दिया। इस संदर्भ में कितने ही घटनाक्रम ऐसे हैं, जो भुलाये नहीं भूलते। ब्रिटिश साम्राज्य का बिखर जाना, इस संदर्भ में सबसे बड़ी घटना है। एशिया, अफ्रीका, अमेरिका, योरोप महाद्वीपों के एक बड़े भाग पर उसका आधिपत्य था। न्यूजीलैंड, आस्ट्रेलिया आदि पर उसी का कब्जा था, पर बिखराव और हस्तान्तरण इतनी तेजी से हुआ कि उसे झाग बैठ जाने की उपमा दी जाती है। अब ब्रिटेन एक छोटा टापू है। यों कहने को तो अभी उसका परिवार है, जिसे युनाइटेड किंगडम कहते हैं, पर वास्तविक सत्ता की दृष्टि से इंग्लैंड भी अन्य देशों की तरह ही एक छोटा क्षेत्र रह गया है।

इस अवधि में कितने ही देशों में शासन का तख्ता पलटा। चीन और भारत जैसे विशाल भूखण्डों की स्वतंत्रता ने सत्ता संतुलन को इधर से उधर करने में बहुत बड़ी भूमिका निभायी।

रूस में जारशाही के विरुद्ध १९०५ में जनआन्दोलन भड़का। मजूरों की हड़ताल से सुलगने वाली चिनगारी दावानल के रूप में प्रकट हुई। शासकों ने नृशंसतापूर्वक उसे दबाया। लाखों को जेल में डाला गया और ७५ हजार के करीब विद्रोही मौत के घाट उतार दिये गए। इतने पर भी वह बुझी नहीं, वरन् मार्च १९१७ में निरंकुशता को जड़मूल से उखाड़कर, साम्यवादी शासन स्थापित करने में सफल होकर रही, लेकिन उस जन-नेतृत्व का इतिहास जिनने बारीकी से पढ़ा है, वे जानते हैं कि लोकमत को अभीष्ट-उद्देश्य के लिए प्रशिक्षित और संगठित करना उनका प्रधान प्रयास रहा। सत्ता-संघर्ष की पृष्ठभूमि तो तब बनी जब विद्रोह की जड़े गहराई तक जम गई और उसके असंख्य पक्षधर मर मिटने के लिए कटिबद्ध हो गये।

पिछले दिनों फ्रांस में समस्त कृषि भूमि पर सामन्तों पुरोहितों तथा व्यापारियों का आधिपत्य था। किसान देहातों में बिखरे हुए थे। वे जो कुछ कमाते थे, उसका अधिकांश भाग लगान तथा अन्यान्य मनमाने टैक्सों के रूप में मालिक वसूल कर लेते थे।

इन परिस्थितियों में सुलगती हुई आग जनक्रान्ति के रूप में भड़की। दमन के सभी शस्त्र निरर्थक सिद्ध हुए सन् १७९२ की सफल कृषक क्रांति ने पिछली सारी परिस्थितियाँ उलट दीं, और किसान पूर्ण रूपेण भूस्वामी बन गये। उसकी आर्थिक दशा सुधरी और कुछ ही वर्षों में कुछ से कुछ बन गए। क्रांति को कृषक क्रांति कहा जाता है पर उसके औचित्य से प्रभावित होकर विद्यार्थी, मजूर तथा अन्य मध्यवर्ती लोग भी बड़ी संख्या में सम्मिलित हुए थे।

क्यूबा जैसे एक छोटे द्वीप का समर्थ साम्यवादी राष्ट्र के रूप में विकसित होना संसार में अपने ढंग का एक अनोखा आश्चर्य है। उस क्षेत्र पर अमेरिका की कठपुतली सरकार काम करती थी। सामन्ती अनाचारों के अन्तर्गत प्रजाजनों की पूरी-पूरी दुर्दशा हुई। सुधार-परिवर्तन की बात कहने वालों को कुचलने के लिए उपनिवेशवाद स्थानीय शासकों की पीठ पर था।

ऐसे विपन्न वातावरण में एक युवक फिडेल कैस्ट्रो ने अपने देश की दशा सुधारने और राजकीय परिवर्तन लाने का निश्चय किया उसके प्रयास को भारी जनसमर्थन मिला विद्रोह उभरा और भयानक दमन के बावजूद क्यूबा अपना स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध कर सकने में समर्थ बना।

१८१५ ई. में जर्मनी आस्ट्रीया द्वारा शासित था। परन्तु इस समय तक जर्मनी के मध्यवर्ती समाज में संगठित राष्ट्र की कल्पना उभरने लगी थी। नेपोलियन ने १८१५ ई. में ही छोटे-छोटे राजनीतिक संगठनों को समन्वित करने का प्रयास किया तथा ३८ राज्यों का एक जर्मन संगठन तैयार करने में सफल हुआ। इसके पश्चात अत्यंत प्रभावशाली परिणामदायक कार्य ऑटोवोन बिस्मार्क द्वारा सम्पन्न किया गया। इनके तत्वावधान में जर्मनी एक अत्यंत शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में उभर कर सामने आया। उसने बातें नहीं 'लहू और लोहा' का नारा बुलन्द किया, जिससे सारे देश में एक नई चेतना जाग उठी, तथा १८६६ ई. में आस्ट्रीया को जर्मनी के हाथों हार खानी पड़ी।

१८१५ ई. में इटली भी आस्ट्रीया के अधीनस्थ था, तथा निरंतर उनके दमन का सामना कर रहा था। इस दमन के विरोध मे इटली में एक गुप्त संगठन 'कैरबोनारी' का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने आस्ट्रीया के प्रभुत्व को मिटा देने

का हर सम्भव प्रयास आरम्भ किया। बाद में चलकर वहां की राष्ट्रीय एकता के प्रतीक लेखक जॉसेफ मेजनी ने एक संगठित समाज—'यंग इटली' की स्थापना की तथा राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ बनाने व आस्ट्रीया से मुक्ति प्राप्त करने का प्रयास किया। १८४८ में देश व्यापी संघर्ष व विरोध के कारण आस्ट्रीया परेशान हो गया तथा कुछ ही दिनों पश्चात उसे इटली छोड़कर भागना पड़ा।

उपरोक्त सभी क्रान्तियाँ न्यूनाधिक खूनी थीं। इनमें कमोबेश रक्तपात हुआ था, पर अबकी बार जो क्रान्ति होने जा रही है, वह विशुद्धतः रक्तहीन क्रान्ति-विचार क्रान्ति होगी। इसमें न रक्त बहेगा, न समर-युद्ध होगे। विना कुछ हुए परिवर्तन होता चला जायेगा और लोग बदलते चलेगे। इस आध्यात्मिक क्रान्ति की शुरूआत हो चुकी है। विश्व पटल पर यदि हम दृष्टिपात करें, तो इसका स्पष्ट संकेत मिलने लगता है। बर्लिन की दीवार का टूटना, दोनों जर्मनी का एकीकरण नारी अभ्युदय की दिशा में विश्व भर में उभरता उत्साह, साम्यवाद का अन्त, सूडान और लीबिया के एकीकरण की दिशा में पहल। दोनों कोरिया को मिलकर एक होने की तैयारी, नेपाल, बंगला देश में जनशक्ति की विजय, इसे विचार-क्रान्ति ही तो कहा जायगा, अन्यथा वर्ष भर पूर्व लोगों ने जिसकी कल्पना तक नहीं की थी, वह अनायास सम्पन्न कैसे हो सकता था? नाम चाहे जो दे लें, पर यह परिवर्तन विचार क्रान्ति का ही एक रूप है।

इस प्रक्रिया का शुभारंभ संभवतः उसी दिन हो गया था, जब बर्लिन की दीवार टूटी और दोनो जर्मनियो का एकीकरण हुआ था। तब से अद्यावधि कोई बहुत समय नहीं बीता और एकीकरण के दूसरी बड़ी घटना विश्व मानचित्र पर उभरती दिखाई पड़ने लगी। अभी पिछले दिनो ९-१० दिसम्बर १९९१ को यूरोपीय आर्थिक समुदाय के १२ सदस्य देशों- हालैण्ड, आयरलैण्ड, ब्रिटेन, बेल्जियम, लक्जमवर्ग, पुर्तगाल, स्पेन. फ्रान्स, डेनमार्क, जर्मनी, इटली और ग्रीस का मास्ट्रिख्ट (नीदरलैण्ड) में एक शिखर सम्मेलन हुआ, जिसमें संयुक्त यूरोप के संदर्भ में गंभीरतापूर्वक विचार किया गया। बल इस बात पर दिया गया कि इस शताब्दी के अन्त तक इसे क्रियान्वित कर एक ऐसे संघ की स्थापना की जाय, जिसमें सम्मिलित देशों को राज्य स्तर का दर्जा मिले और सब एक शासन तंत्र के अन्तर्गत मिल कर रहें। यदि ऐसा हो सका, तो इसका संघीय ढाँचा संयुक्त राज्य अमेरिका की तरह संयुक्त राज्य यूरोप के नाम से जाना जायेगा।

सम्मेलन में अनेक विषयों पर चर्चा की गई। मुद्रा के संबंध मे नीति यह निर्धारित की गई कि सभी देशों की अपनी-अपनी पृथक मुद्राओं के स्थान पर एक संयुक्त मुद्रा का प्रचलन आरंभ किया जायेगा। सभी की संयुक्त विदेश नीति होगी। सब अपनी स्वतंत्र विदेश नीति त्यागकर इसे मानने के लिए बाध्य होंगे। संघ का एक प्रतिरक्षा तंत्र होगा। इसमें शामिल देशों की सुरक्षा इस तंत्र की जिम्मेदारी होगी। शासन-व्यवस्था के लिए एक संसद बनायी जायगी, जिससे संघ के नियम-कानून बनाने का पूर्ण अधिकार होगा।

इस सारी व्यवस्था के सन् १९९२ के अन्त तक अस्तित्व मे आने की योजना है, जो भगवान की प्रतिबद्धता को प्रदर्शित करने वाली एक युगान्तरकारी दृश्य होगी। इसमे देर-सबेर भी हो, तो भी हमें कोई संदेह नहीं करना चाहिए, क्योंकि भगवान के संकल्प कभी अधूरे नहीं रहे।

इन दिनों सम्पूर्ण विश्व पर एक विहंगम दृष्टि डाले, तो सर्वत्र शान्ति और एकता के प्रयास ही चलते दिखाई पड़ेंगे। युद्धों का लगभग अन्त हो चुका है। कुछ एक देशो में गृहयुद्धों का वातावरण अवश्य बना हुआ है पर वे भी इस युगान्तरव्यापी वेला में अधिक दिनों तक टिक सकेंगे, ऐसी आशा ही नहीं करनी चाहिए। सोवियत संघ के विघटन के उपरान्त संसार शक्ति के संदर्भ में एक ध्रुवीय बन गया है। ऐसी स्थिति मे अमेरिका के "सुपर पावर" होने का कोई अर्थ रह नहीं जाता अस्तु आगामो समय में यदि वह भी अपने सम्पूर्ण अस्त्र भण्डार को समाप्त कर दे, तो कोई बड़ी बात नहीं।

इक्कीसवी सदी को महाकाल ने "नारी सदी" कह कर घोषित किया है। अब तक दुनिया में पुरुष प्रधान समाज था। उसकी व्यवस्था परमसत्ता ने देख ली। अब दायित्व नारियों को सौंपने का मन है। इसी कारण से पिछले कुछ वर्षों में नारी जाति उन क्षेत्रों में भी बड़ी तेजी से आगे बढ़ी है, जहाँ पुरुषों का एकाधिकार था। इस संदर्भ मे पूर्वी जर्मनी में एक बड़ी ही अद्भुत घटना घटते देखी जा रही है। अब तक की शोषित, उत्पीड़ित और सर्वथा अयोग्य समझी जाने वाली नारी जाति के समर्थन में पुरुष अपना वर्चस्व त्यागने लगे, तो इसे क्या कहा जाय? अचम्भा? ईश्वरेच्छा? या अदृश्य का प्रवाह? कुछ भी

चाह लें, पर यही वहाँ इन दिनों हो रहा है। जो पद, पुरुष संबोधन से पुकारे जाते थे, उन्हें अब स्त्री संबोधन मिलने लगा है, भले ही उस पर कोई पुरुष ही सुशोभित क्यों न हो, बदले प्रचलन के आधार पर उसके ओहदे को स्त्रीलिंग में पुकारने का प्रावधान है। यथा 'मेयर' पद 'मेयरेस' नाम से अभिहित किया जाता है और चेयरमैन, न्यूजमैन, स्पोर्टस्मैन क्रमशः चेयरवुमन, न्यूजवुमन, स्पोर्टस्वुमन बन गये हैं अर्थात्- पुरुष, महिला संबोधन में अधिक गर्व गौरव अनुभव करने लगे हैं। मजे की बात तो यह है कि इसके लिए महिलाओं की ओर से कोई आन्दोलन नहीं छेड़ा गया, वरन् यह सब पुरुष-आन्दोलन की ही परिणति है। महिलाओं की ओर से तो मुहिम को हतोत्साहित ही किया गया। उनका मानना था कि यह तो एक चरम से दूसरे चरम की दिशा में जाना हुआ और संभवतः इससे अनुदारवादी पुरुषों का उन्हें और त्रास झेलना पड़े, किन्तु उनके इस तर्क से आन्दोलन कमजोर नहीं पड़ा, वरन् आग की तरह विस्तार ही पकड़ता जा रहा है। भला इसमें पुरुषों की स्वयं की इच्छा काम कर रही हो तब न रुके। वह तो कठपुतले की भाँति मात्र अंग-संचालन कर रहे है। सूत्रधार की भूमिका निभाने वाला संचालक तो कोई ओर है। इच्छा उसी की काम कर रही है। परिवर्तनकारी सत्ता वही है। इस प्रकार इन दिनो की विचार क्रान्ति महाक्रान्ति का स्वरूप ग्रहण करती जा रही है।

अपने युग की असाधारण महाक्रान्ति

पौराणिक-काल का समुद्र-मंथन, वृत्रासुर वध, *गंगावतरण, हिरण्याक्ष के बन्धनों से पृथ्वी का विमोचन,* परशुराम द्वारा कुपथगामियों से सत्ता छीनना आदि ऐसी महान घटनाओं को प्रमुख माना जाता है, जिनने कालचक्र के परिवर्तन की भूमिका निभाई। अन्य देशों व संस्कृतियों यथा ग्रीस, रोम, मेसोपोटामिया आदि की लोक कथाओं में भी ऐसे ही मिलते-जुलते अलंकारिक वर्णन हैं। यदि वे सब सही हैं तो मानना होगा कि महाक्रांतियों का सिलसिला चिरपुरातन है।

इतिहास काल में भी कुछ बड़े शक्तिशाली परिवर्तन हुए हैं, जिनमें रामायण प्रसंग, महाभारत आयोजन और बुद्ध के धर्मचक्र प्रवर्तन प्रमुख हैं। लंका काण्ड के उपरान्त रामराज्य के साथ सतयुग की वापसी संभव हुई। महाभारत काल के उपरान्त भारत का विशाल भारत-महान भारत बनाने का लक्ष्य पूरा हुआ। बुद्ध के धर्मचक्र प्रवर्तन से तत्कालीन वह विचारक्रांति सम्पन्न हुई, जिसकी चिनगारियों ने अगणित क्षेत्रों के अगणित प्रसंगों को ऊर्जा और आभा से भर दिया, वह दावानल अनेक मंचों, धर्म सम्प्रदायों, सन्तो, समाज सुधारकों और शहीदों के रूप मे पिछली शताब्दी तक अपनी परम्परा को विभिन्न रूपों में कायम रखे रहा। प्रजातन्त्र और साम्यवाद की सशक्त नयी विचारणा इस प्रकार उभरी, जिसने लगभग समूची विश्ववसुधा को आंदोलित करके रख दिया। पिछली क्रांतियों के संदर्भ में इतने ही संकेत पर्याप्त होने चाहिए जिनसे सिद्ध होता है कि मनीषा जब भी आदर्शवादी ऊर्जा से अनुप्राणित होती है तो अनेकों सहचरों को खींच बुलाती है और वह कार्य कर दिखाती है जिसे आमतौर से मानवी कहना गले न उतरने पर 'दैवी अनुग्रह' की संज्ञा दी जाती है। पुरातन-कालों के ऐसे झंझावातों को अवतार की संज्ञा देकर संतोष कर लिया जाता है। असंभव को संभव कर दिखाने वाले महापराक्रमो को मनीषा की प्रखरता भी जनसहयोग के सहारे सम्पन्न कर सकती है, इसे सामान्य स्तर का जन समुदाय स्वीकार भी तो नहीं करता।

पिछले महान परिवर्तनों को युगान्तरीय या युग परिवर्तनकारी भी कहा जाता रहा है। इन दिनों ऐसे ही प्रचण्ड प्रवाह के अवतरण का समय है, जिसे पिछले समस्त परिवर्तनों की संयुक्त शक्ति का एकात्म समीकरण कहा जा सकता है। पिछले परिवर्तनों में कितना समय लगता रहा है ? इसके संबंध में सही विवरण तो उपलब्ध नहीं, पर वर्तमान महाक्रांति का स्वरूप समग्र रूप से *परिलक्षित होने में प्रायः सौ वर्ष का समय महत्त्वपूर्ण होगा।* यों उसका तारतम्य अब से काफी पहले से भी चल रहा है और पूरी तरह चरितार्थ होने के बाद भी कुछ समय चलता रहेगा।

अपने समय का महापरिवर्तन "युगान्तर" के नाम से जाना जा सकता है। युग परिवर्तन की प्रस्तुत प्रक्रिया का एक ज्वलन्त पक्ष तब देखने में आया जब प्रायः दो हजार वर्षों से चले आ रहे आक्रमणों-अनाचारो से छुटकारा मिला। शक, हूण, कोल, किरात, यवन लगातार इस देश पर आक्रमण करते रहे हैं। यहाँ का वैभव बुरी तरह लुटता रहा है। विपन्नता ने इतना पराक्रम भी शेष नही रहने दिया था कि आक्रांताओं को उल्टे पैरों लौटाया जा सके, फिर भी महाक्रांति ने अपना स्वरूप प्रकट किया। दो विश्व युद्धों

ने अहंकारियो की कमर तोड़ दी और दिखा दिया कि विनाश पर उतारू होने वाली कोई भी शक्ति नफे मे नहीं रह सकती । भारत में लम्बे समय से चली आ रही राजनैतिक पराधीनता का जुआ देखते-देखते उतार फेका गया । दावानल इतने तक ही रुका नहीं, अफ्रीका महाद्वीप के अधिकांश देश-उपनिवेश साधारण से प्रयत्नों के सहारे स्वतंत्र हो गये । इसके अतिरिक्त छोटे-छोटे द्वीपो तक ने राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली, इस प्रकार उपनिवेशवाद समाप्त हो गया ।

इसी बीच सामाजिक क्रांति किसी क्षेत्र विशेष तक सीमित नहीं रही वरन् उसने समस्त विश्व को प्रभावित किया । दास-दासियों की लूट-खसोट और खरीद-फरोख्त वहाँ बन्द हुई, इतने पुराने प्रचलन को इतनी तेजी से उखाड़ना संभव हुआ मानों किसी बड़े तूफान ने सब कुछ उलट-पलट कर रख दिया हो । राजतन्त्र का संसार भर मे बोलबाला था, सामन्तों की सर्वत्र तूती बोलती थी, अमीर, उमराव और जमींदार ही छत्रप बने हुए थे । वे न जाने किस हवा के झोंके के साथ टूटी पतंग की तरह उड़ गये । स्त्री और शूद्र के रूप में तीन चौथाई जनता किसी प्रकार अपने मालिकों के अनुग्रह पर निर्भर रहकर जीवनयापन भर के साधन बिना सम्मान के स्वीकार कर लेने पर भी कामचलाऊ मात्रा मे उपलब्ध कर पाती थी । वह स्थिति अब नहीं रही, "नर और नारी एक समान," "जाति-वंश सब एक समान" का निर्धारण प्रायः विश्व के अधिकांश भागों मे सिद्धांततः स्वीकार कर लिया गया है । व्यवहार में उतरने में कुछ समय तो लग रहा है, कठिनाई भी पड़ रही है पर देर-सबेर में यह समस्या भी सुलझ जायेगी, यह सभी परिवर्तन इसी बीसवीं सदी में हुए हैं जबकि इन्हें जड़ जमाने मे हजारों वर्ष लग गये थे ।

बुझता हुआ दीपक पूरी लौ उठाता है । रात्रि के अन्तिम चरण में अंधेरा सबसे अधिक गहरा होता है । हारता जुआरी दूना दुस्साहस दिखाता है । 'मरता क्या न करता' वाली उक्ति ऐसे ही समय पर चरितार्थ होती है । वैसा ही इन दिनों भी हो रहा है । नीति और अनीति के बीच इन दिनो घमासान युद्ध हो रहा है । कुहराम और धकापेल का ऐसा माहौल है, जिसमें सूझ नहीं पड़ता कि आखिर हो क्या रहा है ? इस आंख मिचौनी में धूप-छाँह में किसे पता चल रहा है कि हो क्या रहा है ? कौन जीता और हार कौन रहा है ? इतने पर भी जो अदृश्य को देख सकते है, वे सुनिश्चित आधारों के सहारे विश्वास करते हैं कि सृजन ही जीतेगा । विजय सत्य की ही होनी है । उज्ज्वल भविष्य का दिनमान उदय होकर ही रहना है । और आँखों को धोखे मे डालने वाला तम सुनिश्चित रूप से मिटना है ।

महाक्रान्ति के वर्तमान दौर में क्या हो रहा है ? क्या होने जा रहा है ? क्या बन रहा है ? क्या बिगड़ रहा है ? इसका ठीक तरह सही स्वरूप देख पाना सर्वसाधारण के लिए सम्भव नहीं । दो पहलवान जब अखाड़े में लड़ते हैं, तो दर्शकों को ठीक तरह पता नहीं चल पाता कि कौन हार रहा है और कौन जीतने जा रहा है, पर यह असमंजस अधिक समय नहीं रहता । वास्तविकता सामने आकर ही रहती है । वर्तमान में बिगाड़ होता अधिक दीखता है और सुधार की गति धीमी प्रतीत होती है, फिर भी प्रवाह की गति को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि हम पीछे नहीं हट रहे, आगे ही बढ़ रहे हैं । अनौचित्य का समापन और औचित्य का अभिवर्धन ही निष्कर्ष का सार संक्षेप है ।

भविष्य का एकदम सुनिश्चित निर्धारण तो नहीं हो सकता क्योंकि मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता आप है । वह उसे बना भी सकता है बिगाड़ भी । बदलती हुई परिस्थितियाँ भी पासा पलट सकती हैं । इतने पर भी अनुमान और आकलन यदि सही हो तो सम्भावना की पूर्व जानकारी का अधिकतर पता चल जाता है । इसी आधार पर संसार की अनेक योजनायें बनती और गतिविधियाँ चलती है । यदि भावी अनुमान के सम्बन्ध में स्थिति सर्वथा अनिश्चित रहे, तो किसी महत्वपूर्ण विषय पर कुछ सोच सकना सम्भव न हो सकेगा ।

यह महाक्रान्ति की बेला है, युग परिवर्तन की भी । अशुभ की दिशा से शुभ की ओर प्रयाण चल रहा है, प्रवाह बह रहा है । तूफान की दिशा और गति को देखते हुए अनुमान लगाया जा सकता है कि वस्तुओं को किस दिशा में धकेला और बढ़ाया जाता है । नदी के प्रवाह मे गिरे हुए झंझाड़ बहाव की दिशा में ही दौड़ते चले जाते हैं । तूफानों की जो दिशा होती है उसी मे तिनके पत्ते और धूलिकण उड़ते चले जाते है । महाक्रान्ति सदा सृजन और संतुलन के निमित्त उभरती है । पतन और पराभव की विडम्बनायें तो कुसंस्कारी वातावरण आये दिन रचता रहता है । पेड़ पर लगा हुआ फल नीचे की ओर गिरता है । पानी भी ढलान की ओर बहकर निचाई की ओर चलता जाता है । किन्तु असंतुलन को संतुलन में बदलने के लिए जब महाक्रान्तियाँ उभरती है तो उसका प्रभाव परिणाम ऊर्ध्वगमन, उत्कर्ष,

अभ्युदय के रूप में ही होता है। इसलिए उसे ईश्वरेच्छा या भगवान का अवतार भी कहा जाता है। उस उभार को देखते हुए, यह विश्वास किया जा सकता है कि भविष्य उज्ज्वल है। हम सब शान्ति और प्रगति के लक्ष्य की दिशा में चल रहे हैं और उसे प्राप्त करके भी रहेंगे।

परिवर्तन आकस्मिक नहीं

क्रांतियाँ अनायास होती दिखाई पड़ती अवश्य हैं, किन्तु गंभीरतापूर्वक तथ्यों का अवलोकन करने पर एक ही निष्कर्ष निकलता है कि इस परिवर्तन के पीछे न जाने कब से परिस्थितियाँ बन रहीं थीं एवं संभावनाओं का जाल जंजाल अनायास फूट पड़ने के लिए ताने-बाने बुन रहा था। हाँ, स्थूल दृष्टि को ये सारे परिवर्तन चमत्कारिक ढंग से घटते हुए प्रतीत होते अवश्य हैं पर लगता नहीं कि यह उथल-पुथल लंबे समय से निर्मित परिस्थितियों का प्रतिफल है, किन्तु सच यही है कि परिवर्तन प्रक्रिया बहुत लम्बे काल से चली आ रही है। यह बात और है कि उसकी आरंभिक मन्दगति को द्रुतगामी बनने का अवसर इन्हीं दिनों मिला है। प्रकृति जब रुग्ण शरीर से विषाक्तता को निकाल बाहर करने के लिए अधिक तत्परता बरतती है तो कई प्रकार के उपद्रव उठ खड़े होते हैं। उल्टी, दस्त, ज्वर आदि में रोगी को कष्ट तो अवश्य होता है पर संचित मलो की सफाई इससे कम में हो भी नहीं सकती। रक्त में भरी विषाक्तता फोड़ा फुन्सी बनकर बाहर आती और मवाद बनकर विदा होती है। देखने में यह अरुचिकर लगता है पर चिकित्सक यही कहते है घबराने की कोई बात नहीं। प्रकृति को अपना काम करने देना चाहिए। जो सफाई चिकित्सक मुद्दतों में नहीं कर सकते थे वह उस उभार में कुछ ही दिनों में सम्पन्न हो जाती है। विषमता के निष्क्रमण में ऐसा होता भी है। सेना भागते भागते अपने क्षेत्र को नष्ट कर जाती है ताकि शत्रु के हाथ में कोई सुविधाजनक परिस्थिति न लगे। लगता है सफाई के दिनो में ऐसी ही रणनीति चल रही है। लगता है नाली साफ करते समय उड़ने वाली बदबू की तरह इन दिनों जो असुखद घटित हो रहा है उसके पीछे सुखद सम्भावनाएँ ही झाँक रही हैं। महापुरुष, महामानव, देवमानव अवतार संत, सुधारक, शहीद उन परिस्थितियों को पहले से परख कर सुखद संभावनाओं को लाने के लिए प्रबल-पुरुषार्थ में जुट पड़ते हैं और विपरीत परिस्थितियों के प्रति सचेत हो जाते हैं। मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त एवं पृथ्वी के महत्वपूर्ण उथल पुथल से लेकर ब्रह्माण्डीय विस्फोटों तक यही एक तथ्य उभर कर सामने आता है कि परिवर्तन लंबे काल से चल रही प्रक्रिया का परिणाम है। किसी आकस्मिक प्रतिक्रिया की परिणति नहीं।

माँ के गर्भ में प्रसव काल के समय उठने वाली पीड़ा एवं नवसृजन के परिवर्तनों को देखकर छोटे बच्चे एवं बुद्धि के लोग यही सोचते हैं कि कल तक तो माँ स्वस्थ थीं, आज अचानक क्या हो गया। यह परिवर्तन उन्हें अजीब सा लगता है और उनके लिए मात्र कौतुक-कौतूहल से भरा हुआ जान पड़ता है, किंतु संबंधित व्यक्ति एवं चिकित्सक जानते हैं कि यह परिवर्तन तो उस समग्र व सहज प्रक्रिया का ही एक अंग है, जिसकी संभावना नौ माह पूर्व बन चुकी थी और उस भ्रूण कलल का बीजारोपण हो चुका था जो चेतन बिन्दु को खींचकर ले आये।

आधि-व्याधियों के बारे में चरक, सुश्रुत, धन्वन्तरि प्रभृति मनीषियों ने एक ही बात स्पष्ट की है कि जो बीमारियाँ अनायास होती दिखाई पड़ती हैं, जिसके दबाने के लिए ही एलोपैथिक चिकित्सक लाल, पीली गोलियाँ एवं कैप्स्यूल देते और बदले में रोगों को निकलते हुए देखते हैं। सामान्य जन इन रोगो के बारे में सोचते हैं कि यह गड़बड़ी तो कल ही हुई, किन्तु उपरोक्त शोधकर्ताओं ने बताया है कि स्थूल आकार धारण करने वाला रोगों का जखीरा लंबे समय से चले आ रहे असंयम का ही दुष्परिणाम है, इसे ठीक करने के लिए चिकित्सा व्यवस्था से लेकर लंबे समय तक संयमशीलता अपनाने की भी सलाह उन्होंने दी और कहा है कि तभी रोगों से मुक्ति संभव है। मनुष्य इन्हीं रीति-नीति को अपनाकर अपना स्वास्थ्य को अक्षुण्ण रख भी सकता है।

दाँत सड़ने की घटना अचानक एक दिन में ही प्रकाश में आती है, किन्तु इसके लिए चिकित्सकों ने लंबे समय से चली आ रही चटोरेपन एव शक्कर से बने पदार्थों का बाल्यावस्था से प्रयोग और इन्द्रिय लोलुपता अपनाकर जीवनीशक्ति का क्षरण ही मुख्य कारण बताया है। वर्षा, आँधी, चक्रवात, ज्वालामुखी, भूकंप जैसी अचानक घटने वाली घटनाओं के बारे में संबंधित वैज्ञानिकों ने एक ही तथ्य स्पष्ट किया है कि घटनायें भले ही क्षणों में घट जाती हैं पर इसका अर्थ यह नहीं कि यह सब सामयिक परिस्थितियो का परिणाम है, बल्कि प्रकृति मे यह क्रम बहुत पहले चल चुका होता हैं। वर्षा के पहले ग्रीष्म ऋतु में तपन का क्रम बन चुकता है, जिससे मानसून की हवायें

प्यास बुझाने के लिए चल पड़ती है और घनघोर वर्षा करती है। आँधी एवं चक्रवात के समय क्षण में ही तिनकों पत्तों एवं धूल कणों को आकाश में उड़ते हुए देखते हैं। इस प्राकृतिक असंतुलन के पीछे कारण उस क्षेत्र में कम दबाव का बन जाना होता है, जिसे पूरा करने के लिए सभी दिशाओं से तीव्र हवाएं उस ओर चलने लगते हैं। ज्वालामुखी एवं भूकंप के लिए पृथ्वी के नीचे गैसों के बवंडर वर्षों से उमड़ते घुमड़ते रहते हैं एवं चमत्कार दिखाने धरती को हिलाने और छेद कर बाहर निकलने के लिए आतुर रहते हैं। ये घटनाएँ कुछ ही क्षणों की होती हैं। इसमें करोड़ों रुपए की सम्पत्ति मिनटों में ही नष्ट हो जाती है पर ऐसी परिस्थितियाँ कई वर्षों से निर्मित हो रही होती हैं।

वैज्ञानिकों, विद्वानों, विद्यार्थियों एवं मनीषियों के बारे में भी तथ्य ऐसा ही कुछ है। न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण सिद्धांत की खोज, जेम्सवाट द्वारा स्टीम इंजन बनाया जाना, जगदीशचन्द्र बसु द्वारा पेड़ पौधों में जीवन होने का संकेत, ग्राहमबेल द्वारा टेलीफोन का आविष्कार, फैराडे द्वारा विद्युत् शक्ति का उत्पादन, आर्कमिडिज द्वारा प्रतिपादित उत्प्लावन सिद्धांत, कोपरनिकस के पृथ्वी के घूमने एवं सूर्य के स्थिर रहने की बात, ये सभी महत्वपूर्ण खोजें एक दिन ही घटित हुई, किन्तु इन वैज्ञानिकों के जीवन को देखने पर स्पष्ट पता चलता है कि इसके लिए उन्हें जीवन भर तत्परता एवं तन्मयतापूर्वक एक दिशा में जुटे रहना पड़ा। तब ये महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हस्तगत हो पाईं। गोताखोरों की तरह मणि, मुक्तक प्राप्त करने के लिए नित निरंतर डुबकी लगाते रहे। किसी निश्चित दिन सफलता मिलने पर यह तो नहीं कह सकते कि यह उपलब्धि उन्हें एक दिन में मिली। वह तो उनके लंबे समय से चलने वाले प्रबल पुरुषार्थ, अदम्य साहस एवं जीवट का प्रतिफल था।

विद्यार्थी को अंकसूची एक दिन में मिल जाती है, किन्तु उसके लिए उसे एक वर्ष तक अपने समस्त लालसाओं की ओर से ध्यान हटाकर एकाग्रता पूर्वक जुटे रहना पड़ता है। रामायण, महाभारत, उपनिषद्, जैसे आर्ष साहित्य एवं कैयट द्वारा लिखित भामती, चरक संहिता जैसे ग्रंथ प्रकाश में तो एक दिन में आये, लेकिन इसके लिए रचनाकारों को पहले से न जाने कितना परिश्रम करना पड़ा था। कार्लमार्क्स द्वारा 'दास केपिटल' उनके जीवन भर के अध्ययन का सार था। 'टाम काका की कुटिया' लिखने वाली हैरियट स्टो के मन मस्तिष्क में बाल्यावस्था से ही दास प्रथा को बन्द करने वाले क्रांतिकारी विचार उमड़ रहे थे। ये घटनाएँ बताती हैं कि परिवर्तन तो क्षण में दिखाई पड़ते हैं, किन्तु उसके पीछे मानवी पुरुषार्थ प्रकृतिगत व्यवस्था एवं सामाजिक परिस्थितियाँ न जाने कब से काम करती रहती हैं, तभी अचानक यह परिवर्तन एक दिन संभव हो पाता है जिसे आमतौर से चमत्कार की संज्ञा दी जाती है।

बीसवीं सदी में इस प्रकार के चमत्कार अनेकानेक हुए। सुविधाएँ बढ़ीं, साधन बढ़े और ऐसे-ऐसे यंत्र-उपकरण बना लिये गये जिससे स्वर्ग सुख की उपलब्धि की जा सके, पर इसके साथ ही विपत्तियाँ और समस्याएं भी कोई कम पैदा नहीं हुईं। मानवी बुद्धि ने इसके तरह तरह के समाधान ढूँढे पर वह हल भी कठिनाई पैदा करने वाले ही साबित हुए। फलतः परिणाम वही हुआ, जो नहीं होना चाहिए। परिस्थितियाँ इतनी विकट हुईं कि सर्वोच्च कमाण्डर को कमान अपने हाथ में लेना पड़ा और ऐसी रीति-नीति अपनानी पड़ी, जो इन्हीं दिनों दृश्यमान हो रहे हैं।

आसन्न विभीषिका बनाम दिव्य अवतरण की पुण्य वेला

मनुष्य सीमित है और भगवान असीम। सीमित स्तर की समस्याएं हल करने और साधन जुटाने में ही मनुष्य सफल हो सकता है। उसकी शक्ति, सूझ-बूझ, साधन-सामग्री और पहुँच स्वल्प है, इसलिए वह अपनी सामर्थ्य के अनुरूप ही कर्म कर सकता है। भगवान व्यापक है इसलिए ऐसी समस्याएं जो समस्त भू-मण्डल के समस्त मनुष्यों और उससे संबन्ध सम्बद्ध प्राणियों और पदार्थों को प्रभावित करती है, समाधान के लिए भगवान पर ही निर्भर करती है। परिस्थिति अनुकूल हो तो ही मनुष्य कुछ कहने लायक सफलताएं प्राप्त कर सकता है अन्यथा सुयोग्य व्यक्तियों का समर्थ पुरुषार्थ भी एक कोने पर रखा रह जाता है और प्रकृति सब कुछ उलट पुलट देती है और सारे मनोरथ भी एक कोने पर रखे जाते हैं। परिस्थितियों को अनुकूल बनाना मनुष्य के अपने हाथ में नहीं है। उसका सुयोग अदृश्य शक्ति ने अपने हाथ में रखा है। अतएव युग समस्याओं के समाधान जैसे महान कार्यों के लिए उस परम सत्ता की ही प्रधान भूमिका रहती है।

इतिहास साक्षी है कि व्यापक असंतुलन को सृष्टा ने स्वयं ही संभाला है। अवतार लेकर उसी ने समस्याएँ

सुलझाई हैं। चौबीस अवतारों की कथा-गाथायें एक ही तथ्य का निरूपण करती है कि अनौचित्य के तूफान को रोकने के लिए-औचित्य की नये सिरे से प्राण प्रतिष्ठापना करने के लिए, समय-समय पर दिव्य लोक से कोई प्रवाह उतरा है और उसने वातावरण में ऐसी प्रखरता उत्पन्न की है कि अधर्म का नाश और धर्म का संस्थापन जो इन विकट परिस्थितियों में नितान्त कठिन दीखता है, जादुई अनुकूलता बदलने और प्रवाह पलटने में सहज ही सम्भव हो गया।

सृष्टि के आदि से लेकर अब तक के लम्बे इतिहास पर दृष्टि डालने से प्रतीत होता है कि जिन परिस्थितियों में भगवान को अवतार लेने पड़े हैं उन सभी संकट वेलाओं की तुलना में आज की परिस्थितियाँ सबसे अधिक विकट हैं। अन्य अवसरों पर समस्याएँ क्षेत्रीय थीं। कुछ ही मनुष्य सिर दर्द बने हुए थे। कुछ क्षेत्रों में ही विभूतियाँ भरी थीं, पर आज की स्थिति भिन्न है। दुनियां सिकुड़ कर बहुत छोटी हो गई हैं। फलतः अवाँछनीयताओं का क्षेत्र भी बढ़ा है और सङ्कट भी। इन दिनों भी विश्व सङ्कट सामने है। खतरा समस्त मानव जाति को और युगों युगों की संचित संकृति को है। एक ही विस्फोट सब कुछ तहस नहस करके रख सकता है। विस्फोट वैज्ञानिक आयुओं का ही नहीं है मानवी चिन्तन और चरित्र पर छाई हुई असुरता, उच्छृंखलता का है जो किसी को भी चैन से नहीं रहने दे रही है। हर किसी के लिए त्रास उत्पन्न कर रही है। सुलझाने वाले दो गज जोड़ते हैं तो चार गज टूटती है। मूर्धन्य भी हतप्रभ और किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे हैं। अत्र सङ्कट का हल निकल सकता है किन्तु विपत्तियों के मूल आस्था सङ्कट की व्यापकता और भयानकता को देखते हुए उस वृत्रासुर से जूझने का साहस कौन करे?

इन परिस्थितियो में सृष्टा का वह आश्वासन ही आशा का केन्द्र बिन्दु हो सकता है, जिसमें उसने विषम बेला में स्वयं उत्तरदायित्व संभालने का सुनिश्चित वचन दिया था। आज मानवी मस्तिष्क विनाश के कगार पर खड़ा है—आज परिवर्तन और सन्तुलन की विकट प्यास है उसे कौन पूरा करे ? निश्चित रूप से इतना बड़ा काम उसी के द्वारा हो सकेगा जिसने इस विराट ब्रह्माण्ड की रचना की है और उसके गतिशील रहने की सुनियोजित व्यवस्था बनाई है। द्रोपदी और गज की पुकार सुनकर बिना अवसर गंवाये जिस सृजेता ने सङ्कट को उबारा था उसे आज की सङ्कटापन्न स्थिति का भी ज्ञान है और वह विभीषिकाओं से जूझने अपने आयुओं को सम्भालने और चल पड़ने की तैयारी पूरी कर रहा है।

ऐसे अवसर पर भगवान लोक मानस को संतुलित रखने के लिये-जन साधारण को नीति और धर्म की मर्यादा ही में रहने वाले मार्ग-दर्शक देवदूत भेजते हैं- जब तक उनके प्रयासों से काम बनता रहता है, तब तक कठोरता नहीं बरतते। पर जब स्थिति बेकाबू हो जाती है, लोग धर्म और सदाचार को ताक पर उठा कर रख देते हैं और दल-बल की नीति अपनाकर, अनैतिक उद्धतता पर उद्दण्डतापूर्वक उतारू हो जाते हैं तो फिर उन्हें उचित शिक्षा देने के लिये ऐसे उपाय काम में लाने पड़ते हैं, जिन्हें भयानक, लोमहर्षक, निर्दय, निर्मम कहा जाता है। मंगलमय-शिव जब अनीति से क्षुब्ध होकर रौद्र रूप धारण करते हैं, तब दशों दिशाओं में हा-हाकर मच जाता है। उनके गले में पड़े हुए मृदल सर्प विष भरी फुसकारें हुँकारते हैं, त्रिशूल अगणितों के उदर विदीर्ण करता है, डमरू-नाद से दिशायें काँपती हैं, नर मुण्डों से उनकी शृंगार सज्जा सज जाती है। औघड़ दानी के खप्पर में रक्त भरा होता है। ताण्डव की हर थिरकन पर ज्वालायें उठती हैं और उस गगनचुम्बी दावानल से विश्व का कण-कण संतप्त हो उठता है। उस ज्वाला में मल आवरण के, दोष दुर्विकार के जलने-गलने का विधान बनता है और इस जाज्वल्यमान ज्वाल-माल में वह सब कुछ जल-जल कर नष्ट हो जाता है, जो अवांछनीय है, अनुपयुक्त है, अनर्गल है, अशुभ है।

कई बार इस विद्रूप विप्लव में गेहूँ के साथ घुन भी पिसते हैं। जो निर्दोष दीखते हैं, वे भी चपेट में आ जाते हैं, पर वस्तुतः वे निर्दोष दीखते हैं- होते नहीं। अपराध करना एक पाप है, पर उसे रोकने के लिये प्रयत्न न करना, निरपेक्ष भाव से पड़े रहना भी निरपराध होने का चिन्ह नहीं है। अपने काम से काम, अपने मतलब से मतलब रखने की नीति यों भोली-भाली मालूम पड़ती है, पर वस्तुतः बड़ी ही संकीर्ण, ओछी और असामाजिक है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, उसकी प्रगति शान्ति और सुरक्षा सामाजिक सुव्यवस्था पर निर्भर है। अस्तु उसे वैयक्तिक स्वार्थो और मानवतावादी आदर्शो की रक्षा के लिये, सामाजिक सुव्यवस्था के लिये समुचित योगदान करना चाहिये। अनीति अव्यवस्था को रोकना चाहिये। चारों ओर फैले हुए पिछड़ेपन को हटाने के लिये पूरा-पूरा प्रयत्न करना चाहिये। यह उसका सामाजिक कर्तव्य है जो वैयक्तिक कर्तव्यों की तरह ही आवश्यक है। कोई

विचारशील व्यक्ति यदि अपने पिछड़े और बिगड़े समाज को सुधारने के लिये प्रयत्न नहीं करता तो उसकी उपेक्षा भी एक दण्डनीय अपराध ही मानी जायगी। भगवान की दण्ड संहिता में असामाजिक प्रवृति भी एक पाप है और जो उदासीन बन कर अपने आप मे ही सीमित रहता है वह अपनी क्षुद्रता, संकीर्णता और स्वार्थपरता का दण्ड अन्य प्रकार के अपराधियों की तरह ही भोगता है।

अपने मुहल्ले को आग लग रही हो और उसे बुझाने के लिये प्रयत्न न करके कोई व्यक्ति उसका चुपचाप खड़ा तमाशा देखे, एक व्यक्ति हत्या कर रहा हो और पास खड़ा व्यक्ति उसे रोकने-समझाने का प्रयास न करे- पड़ौस में चोरी-डकैती हो रही हो और यह सब देखते हुए भी सावधान न करे, तो उसकी भर्त्सना की जायगी और यह कानूनी न सही, नैतिक दृष्टि से ही सही, आखिर अपराध ही है। किसी के पास बन्दूक हो वह अपने मुहल्ले में होने वाली डकैती को रोकने के लिये फायर न करे, तो उस कायरता के उपलक्ष्य मे उसकी बन्दूक जब्त की जा सकती है। स्वराज्य आन्दोलन में जिन गाँवो के आस-पास रेल की पटरी उखाड़ने, तार काटने, बीज गोदाम लूटने आदि की घटनाएँ होती थीं, उन गाँवो के ऊपर सामूहिक जुर्माना करके सरकारी हानि का मुआवजा वसूल किया जाता था। सरकारी दलील यह थी कि हर नागरिक का कर्तव्य है कि वह सरकारी सम्पत्ति की सुरक्षा का पूरा-पूरा ध्यान रखे और कोई अनुपयुक्त बात होने की सम्भावना हो, तो उसे रोके, अपराधियों को पकड़वाये। जहाँ के लोग ऐसा नहीं करते उन्हे दण्डनीय ही माना जायगा, भले ही व्यक्तिगत रूप से इन्होने वह अपराध न किया हो।

यही दलील भगवान की है। उन्होने सामूहिक सुख-शान्ति और सुव्यवस्था की जिम्मेदारी हर मनुष्य के कन्धो पर सोंपी है। स्वयं अपराध करना ही काफी नही, दूसरो को अपराध करने से रोकना भी कर्तव्य है। स्वयं उन्नति करना, सदाचारी होना ही काफी नहीं, दूसरों को भी ऐसी ही सुविधा मिले इसके लिये प्रयत्नशील रहना भी आवश्यक है। जो इस ओर से उदासीन हैं, वे वस्तुत: अपराधी न दीखते हुए भी अपराधी है। चोरी की तरह ही लापरवाही भी दण्डनीय है। गेहूँ के साथ घुन पिसने की कहावत ऐसे ही लोगो पर लागू होती है।

अगले दिनो महाकाल का वह क्रिया-कलाप सामने आने वाला है जिसमे अगणित लोगो को अनेक प्रकार के कष्ट सहने पड़ेंगे। अनेक प्रकार के क्लेश, संघर्ष, उद्वेग, अवरोध सामने आने वाले हैं। इनसे हर व्यक्ति को ऐसे झटके लगेंगे कि उसे विवशता अथवा स्वेच्छा से अपनी वर्तमान रीति-नीति बदलने के लिये विवश एवं बाध्य होना पड़ेगा। सफलता और उन्नति के नशे में मनुष्य झूमता रहता है, हर्षोल्लास और वैभव सुविधा के वातावरण में मनुष्य का केवल अहंकार ही बढ़ता है, अहंकारी को आत्म-निरीक्षण की फुर्सत कहाँ ? उसे सुधारने-समझाने का साहस कौन करे ? इस विपन्नता को महाकाल की रुद्रता ही दूर करती है। यह दु:ख दुर्भाव का, शोक संताप का ऐसा डण्डा घुमाती है कि उसको करारी चोटें खा-खाकर मनुष्य कराहता है। इस कराह के साथ-साथ ही उसे अपनी भूलो को खोजने तथा सुधारने की याद आती है। भूलों के रास्ते पर लाने का यह तरीका है तो निर्मम, पर साथ ही उसकी अमोघता भी स्वीकार करनी पड़ेगी। आग से तपाने पर सोने का मैल जल जाता है और उसका खरापन निखर आता है। लगता है महाकाल अगले दिनों सब करने जा रहे हैं। दृष्टि पसार कर निरीक्षण करने पर आज की परिस्थिति उसी का आभास देती है।

सरकारों के माध्यम से लड़े जाने वाले भयानक महायुद्ध की सम्भावना अभी भी पूरी तरह निरस्त नहीं हुई है। इस युग के वैज्ञानिक युद्ध बड़े रोमाचकारी और व्यापक क्षेत्र को प्रभावित करने वाले होते हैं। चिरकाल के सतत् प्रयत्नो से जिस तथाकथित सभ्यता और समृद्धि का निर्माण किया गया है, उसको ऐसी परिस्थितियों में भारी क्षति पहुँचती है। आज के युद्ध थोड़े मनुष्यों को मारकाट कर समाप्त नहीं हो जाते वरन् उनके साथ अगणित प्रकार की नई उलझनें, नई समस्यायें एवं नई विकृतियाँ उत्पन्न करते हैं। तीसरे महायुद्ध के समय और उसके पश्चात् ऐसी अनेक पेचीदगियाँ पैदा हो सकती हैं, जो मनुष्य जाति की वर्तमान विचार शैली और क्रिया पद्धति को संभवत: उलट कर रख दें।

साथ ही हमें यह भी जानना चाहिये कि महाकाल का युग निर्माण प्रत्यावर्तन केवल सरकारी और सेनाओं के माध्यम से लड़ी जाने वाली लड़ाई तक ही सीमित नहीं है वरन् उसका क्षेत्र बहुत व्यापक है। वर्ग-संघर्ष और गृह-युद्ध की परिस्थितियाँ उग्र से उग्रतर होती चली जा रही हे। हड़तालें, घिराव, धरना, कलम-बन्द आन्दोलन के पीछे केवल आर्थिक कारण ही नही, मनोभूमि का विक्षोभ भी है। इन आन्दोलनों का संचालन पे कर रहे हे जो करोड़ों देशवासियों की अपेक्षा कहीं अधिक सुविधाजनक

परिस्थितियों में हैं। भाषा, सम्प्रदाय, प्रान्त और छोटे-छोटे कारणों को लेकर अप्रत्यक्ष रूप से गृह-युद्ध जैसी, शीत-युद्ध जैसी स्थिति पैदा हो रही है । यह तो भारत की आन्तरिक स्थिति की बात हुई, वस्तुतः समस्त विश्व में यही वातावरण व्याप्त है । गरम युद्ध की दावानल रुकी तो शीत-युद्ध की आग हर जगह सुलगती दिखाई दे रही है । यह शीत युद्ध भी लोक-मानस को भयावह झटके देने के माध्यम हैं । उनसे परेशान हुआ लोक-मानस कोई शान्ति का मार्ग खोजने के लिये विवश होता है।

प्रकृति के प्रकोप इन दिनों अप्रत्याशित नहीं है। मनुष्य की प्रकृति एवं वृत्ति इस अन्तरिक्ष-आकाश को सूक्ष्म प्रकृति को प्रभावित करती है । सतयुग में सज्जनोचित प्रवृत्तियाँ जब अपनी प्रतिक्रिया आकाश में प्रवाहित करती हैं, तब उसका परिणाम विपुल वर्षा, प्रचुर धन-धान्य, परिपुष्ट जलवायु, अनुकूल उपलब्धियों, सुखद परिस्थितियों आदि घटनाओं के रूप में सामने आता है । सतयुग में इस पृथ्वी पर सर्वत्र स्वर्णिम परिस्थितियाँ थीं । प्रकृति मानवीय सुख-साधना के अनुकूल चलती थीं । ऋतुयें अपना ठीक काम करती थीं और धरती-आकाश सभी मंगलमय उपलब्धियाँ उत्पन्न करते थे । मनुष्य की चेतन प्रकृति का सृष्टि की जड़ प्रकृति के साथ अद्‌भुत सामंजस्य एवं घनिष्ठ सम्बन्ध है । जब सज्जनता का बाहुल्य होगा तो सुख-समृद्धि की परिस्थितियाँ भी उत्पन्न होंगी । किन्तु यदि दुष्टता, दुर्बुद्धि और दुष्कर्मो का पलड़ा भारी रहा तो बाह्य प्रकृति पर भी उसकी बुरी प्रतिक्रिया होगी । अकाल, भूकम्प, बाढ़, अतिवृष्टि, अनावृष्टि ईति-भीति का दौर बार-बार होता रहेगा, जिससे मनुष्य विविध-विधि त्रास पाते रहेंगे ।

लोगों के मनोविकार, मानसिक रोग आकाश में ऐसा रेडियो विकिरण फैलाते हैं, जिससे मन्द और तीव्र शारीरिक रोगों एवं आधि-व्याधि की अप्रत्याशित रूप से उत्पत्ति और वृद्धि होती है, जिनके कारण जनसाधारण को हर घड़ी असह्य कष्ट सहने पड़ते है । कभी-कभी तो वे रोग महामारी और सामूहिक विक्षोभ के रूप में व्यापक बन कर फूट पड़ते है और भारी विनाश उत्पन्न करते हैं ।

अपराधों की अभिवृद्धि भी एक भयानक विपत्ति है । उनके बढ़ने से समाज में एक प्रकार से गृह-युद्ध नहीं तो व्यक्ति-युद्ध की परिस्थिति अवश्य पैदा हो जाती है। सहयोग और सद्‌भाव के अभाव में न तो व्यक्तियों की उन्नति होती है न समाज ऊँचे उठते हैं । वरन् असहयोग और दुर्भाव की प्रतिक्रिया सभी की प्रगति में बाधा उत्पन्न [illegible] पनपती है तो सारे [illegible]

इस प्रकार विभिन्न दिशाओं से पीड़ा और परेशानी मनुष्य को चोंथती है, तो उसे एक सर्वतोमुखी कष्ट प्रक्रिया का व्यथा भरा अनुभव होता है । परिवार में सभी प्रतिकूल, बच्चे अवज्ञाकारी, वयोवृद्ध दुराग्रही होने से घर नरक बन जाता है, शरीर में अंग-प्रत्यंगों में छुपे हुए रोग अहिर्निश उत्पीड़ित करते हैं, जिनके साथ अगणित अहसान किये थे, वे ही मर्मान्तक चोट पहुँचाते हैं । बढ़ी हुई तृष्णा एवं विलासिता के अनुरूप आर्थिक साधन नहीं जुटते, मित्रों के रूप में विश्वासघाती भेड़िये ही चारों ओर घूमते नजर आते हैं, परिस्थितियाँ, चिन्ता, भय, शोक, निराशा, क्षोभ उद्वेग का वातावरण बनाये रहती हैं, तो मनुष्य का शरीर और मन एक प्रकार की आग में जलता रहता है और उस जलन से इतनी मर्मान्तक पीड़ा होती है कि मनुष्य अधपगलों की तरह ज्यों-त्यों करके अथवा आत्महत्या करके उस व्यथा-वेदना से पिण्ड छुड़ाते देखे जाते हैं । व्यक्तिगत और सामूहिक दुष्टता के दावानल मे ऐसी जलन में तो तिल-तिल करके झुलसना पड़ता है । नरक इसे नहीं कहें तो और किसे कहें ?

युद्ध, विनाश, प्राकृतिक प्रकोपों की बात इससे अलग है, वे ही मनुष्य का सब कुछ उलट-पुलट कर रख देते हैं । रूस, चीन, यूगोस्लेविया, हंगरी, चैकोस्लेविया, पोलेण्ड, अलबानिया आदि देशों में जो साम्यवादी क्रांति हुई उसने करोड़ों व्यक्तियों को खून के आंसू बहाने के लिये और एक अप्रत्याशित परिस्थिति में जीवन-यापन करने के लिये, अनभ्यस्त ढाँचे में ढलने के लिये विवश कर दिया । यह परिवर्तन प्रकृति प्रकोपों से भी अधिक निर्मम थे । महाकाल का चक्र चला एवं देखते-देखते साम्यवाद से जुड़े अधिनायकवाद के खिलाफ क्रांति की एक लहर चली एवं हंगरी, पोलैण्ड, चैकोस्लेविया, रूमानिया जैसे राष्ट्रों में सभी को स्वतंत्र बोलने, रहने का अधिकार मिल गया है। यह संधि वेला की एक महत्त्वपूर्ण घटना है ।

झाड़ियाँ काटकर उद्यान लगाने और टीलों को विस्मार करके खेत बनाने में समय भी लगता तो 'अटपटा है पर उसके नियोजन कर्ता विश्वास पूर्वक यही कहते है कि यह सब कुछ सुखद संभावनाओं को ध्यान में रखकर किया जा रहा है । भले ही तत्काल उसे तोड़-फोड़ की सजा दी जाए और कर्ता को विध्वंसक ठहराया जाए ।'

दूरदर्शिता, क्रिया और सम्भावना का सहज अनुमान लगा लेती है कि अगले दिनों जिसका परिणाम कष्टकर होना है, उस मार्ग पर कदम न बढ़ने या लौटाने का काम समझदारी अपने आप करती रहती है। फलत: उसे भर्त्सना एवं प्रताड़ना सहने की आवश्यकता नहीं पड़ती यह सज्जनोचित गतिविधियाँ हुई जो सुखद भी रहती हैं और सराही भी जाती है। इसके विपरीत एक दूसरा वर्ग है, अदूरदर्शी समुदाय का। इसे नर पशु कहा जाता है। पशुओं में तात्कालिक लाभ भर की समझ होती है वे परिणामों का अनुमान नहीं लगा पाते। नम्रता बरतने और समझाने से भी उन पर कोई असर नहीं पड़ता। वे प्रताड़ना की भाषा समझते हैं। फलत: ग्वाले को अपने झुण्ड से जो कहना होता है, वह लाठी के इशारे से ही कहता है। घुड़सवार को एड लगाम और चाबुक के सहारे ही अपना मन्तव्य घोड़े को समझाना पड़ता है। अनुरोध की भाषा वह समझ सका होता और दूरगामी हित अनहित का, औचित्य अनौचित्य का अनुमान लगा सका होता तो शायद घुड़सवार को उन उपकरणो का उपयोग न करना पड़ता जो देखने और बरतने में अशोभनीय लगते हैं।

मानवीय काया में भी पशु प्रवृत्तियों का अस्तित्व ही नहीं बाहुल्य भी रहता है। उस पर न परामर्श का प्रभाव पड़ता है और न अनुरोध आग्रह का। रास्ते पर लाने के लिये प्रताड़ना ही एक मात्र नीति रह जाती है। इसके बिना न पालतू पशुओं से काम लिया जा सकता है और न अन्य पशुओं की विनाश लीला से बचाव संभव हो सकता है। अंकुशों और आँसुओं की आवश्यकता इसी वर्ग को मर्यादा में रखने के लिये पड़ी होगी। प्रताड़ना और दण्ड व्यवस्था का सारा उपक्रम बड़ा कटु कर्कश लगता है पर किया क्या जाए? दुर्बुद्धि और दुष्टता से कैसे निपटा जाय? दयार्द्र न्यायाधीशो तक को फांसी की सजा सुनाने और प्रशासकों को जल्लाद बुलाने का प्रबन्ध करना पड़ता है। इसमें जहाँ आत्यन्तिक अनुपयोगी की स्थिति बदल देने का भाव है वहां एक दूसरा प्रयोजन यह भी है कि दूसरों को शिक्षा मिले।

मनुष्य और पशु की काय संरचना का अन्तर स्पष्ट है। इतने पर भी यह देखकर आश्चर्य होता है कि मनुष्य प्राणियों में से अधिकांश का अन्तरंग पशु प्रवृत्तियों के ढांचे में ढला होता है। तात्कालिक लाभ और व्यक्तिगत स्वार्थ ही उन्हें रुचता है। लिप्सा की पूर्ति में वे आचरण करते हैं। यह स्वेच्छा चार चलने दिया जाए तो अराजकता फैलेगी और लाठी का आतंक राज्य व्यवस्था और संस्कृति का सर्वनाश करके रख देगा। अतएव पशु प्रवृत्तियों का नियमन आवश्यक है। धर्म की प्रकृति सद्भाव संवर्धन की है और शासन की नीति में नियंत्रण प्रधान है। पुलिस, कचहरी, जेल एवं अस्त्र-शस्त्रों पर जो असाधारण व्यय करना पड़ता है और अनेकों को जो प्रताड़ना देनी होती है उसका और कोई विकल्प नहीं। पशु प्रवृत्तियों को सदाशयता का महत्व समझाने के लिये दण्ड व्यवस्था का आश्रय लिये बिना और कोई उपाय नहीं।

प्राचीन काल में रिवाज था कि फांसी, अंग भंग आदि का दण्ड क्रियान्वित किये जाते समय उस वीभत्स दृश्य को देखने के लिए जन समुदाय को ढिंढोरा पीट कर आमंत्रित किया जाता था। देखने को भारी भीड़ जमा हो, इसका प्रयत्न और प्रबन्ध होता था। उस दण्ड कृत्य को देखकर दर्शक आतंकित होते थे। चर्चा फैलती थी और अनेकों को यह अनुमान लगाने का अवसर मिलता था कि कुकृत्यों का दुष्परिणाम कितना भयानक होता है। मनुष्यों के कानूनों में इस प्रकार का खुला प्रदर्शन घट रहा है किन्तु प्रकृति व्यवस्था यथावत् बनी हुई है। व्यापक विनाश के दृश्य लोगों का दिल दहलाने और यह अनुमान लगाने के लिए विवश करते हैं कि यहां मनमानी नहीं चल सकती। किसी अदृश्य सत्ता का शासन मौजूद है और उसमें पुरस्कार ही नहीं दण्ड व्यवस्था का भी पूरा-पूरा प्रावधान है। प्रकृति प्रकोपों से लेकर मानवी विग्रहों द्वारा उत्पन्न होने वाली विभीषिकाओं के पीछे एक बड़ा कारण यह भी है कि जन साधारण को नियंता के रोष का ध्यान बना रहे।

प्रस्तुत युग परिवर्तन की बेला में होने वाले ध्वंस को मरे को मारे शाह मदार वाली उक्ति के अनुसार दैवी अव्यवस्था, निष्ठुरता, प्रतिशोध आदि समझा जा सकता है पर वस्तुत: वैसा है नहीं। नव सृजन ही परमेश्वर को अभीष्ट है सन्तुलन बनाना ही उसको प्रिय है। चूँकि मनुष्य जाति अभी भी अनीति का मार्ग न छोड़ने के अपने दुराग्रह पर अड़ी हुई है इसलिये प्रत्यक्ष दीखता है कि हमें अगले ही दिनों पुन: महाकाल के कोप-भयानक विपत्तियों में होकर गुजरना पडेगा। सम्भव है यह दण्ड विधान हमें दुर्जनता का पथ छोड़कर समानता अपनाने के लिये प्रेरित करे। ऐसा हो सका तो इन भावी विभीषिकाओं को भी नवयुग निर्माण की प्रसव-पीड़ा मान कर मंगलमय ही कहा जायेगा।

महाकाल और उनका रौद्र रूप

सृजन के देवता-ब्रह्मा, पोषण के अधिष्ठाता-विष्णु और संहार के व्यवस्थापक भगवान शंकर हैं। त्रिदेवों की एक पूरक व्यवस्था के अन्तर्गत ही इस विश्व ब्रह्माण्ड का क्रिया-कलाप गतिशील हो रहा है। उत्पादन की प्रक्रिया प्राण धारियों तथा पदार्थों सहित चलते रहने से संसार की बढ़ोत्तरी होती है। जो उत्पन्न हुआ है उसका पोषण, अभिवर्धन होते रहने से प्रौढ़ता और परिपक्वता आती है जो उपजा है, बढ़ा है, पुष्ट हुआ है वह अन्ततः जराजीर्ण होने पर अनुपयोगी बन जाने के कारण कूड़ा-करकट मात्र रह जाता है, तब उसकी अन्त्येष्टि भी अभीष्ट होती है। विनाश उत्पादन का आधार है। पुरानी फसल कटने के बाद ही नई फसल के बोने लगाने का क्रम बनता है। प्राणी की मृत्यु न हो तो उसे नया जन्म धारण करने का अवसर कैसे मिले? सृष्टि का चक्र उत्पादन, अभिवर्धन और अवसान की क्रम-व्यवस्था पर घूम रहा है। अवसान न हो तो फिर उत्पादन के लिये नया पदार्थ कहाँ से आये ? विधाता ने सृष्टि के आदि में जितना पदार्थ सृजा था उसी की उलट-पुलट होती रहती है और उसी की हेराफेरी से इस संसार में हलचल दीखती रहती है। अस्तु उत्पादन जितना क्रान्तिमय है उतना ही अवसान भी। अवसान को अभिनव सृजन का शुभारम्भ कहा जाय तो यह सर्वथा उचित ही होगा।

भगवान शंकर का निवास स्थान श्मशान है। वे गले में मुण्डमाला धारण करते हैं। मृत्यु के काल-पाश-महासर्प उनके कण्ठ में, यज्ञोपवीत में लिपटे हुए हैं। तीक्ष्ण त्रिशूल उनका शस्त्र है। जब वे तीसरा नेत्र खोलते हैं, तब चारों ओर आग बरसती है। कुपित होकर वे तीसरे नेत्र से जिसे भी देखते हैं, वह जल कर भस्म हो जाता है। कामदेव की मृग मरीचिका को एक बार उनने पलक मारते-मारते जला कर भस्म कर दिया था। उनके वीरभद्र, भैरव एवं नन्दीगण कितने विकराल हैं, इसकी कल्पना करने मात्र से रोमांच हो उठते हैं। जब प्रलय की आवश्यकता अनिवार्य हो जाती है तब वे ताण्डव नृत्य करने खड़े होते हैं। उनके चरणों की थिरकन जैसे-जैसे गतिशील होती चलती है वैसे ही जराजीर्ण कूड़ा-करकट प्रभूत दावानल में जल-जल कर अन्तरिक्ष में विलय होता चला जाता है। पाप-पुरुष उनके चरणों में आ गिरता है। शिव-ताण्डव-नृत्य के चित्रों में एक उकडू उल्टे मुँह पड़ा हुआ भयभीत जीव दिखाई पड़ता है। उसी की पीठ पर नटराज के चरणों की थिरकन गतिशील होती है। यह पाप पुरुष मानव अन्तःकरण में निवास करने वाले पशु ही हैं, इसी को समय-समय पर असुर शब्द से भर्त्सना की जाती रहती है। ताण्डव नृत्य का प्रयोजन इस पाप पुरुष को परास्त करना उसकी माया मरीचिका को निरस्त करना ही है।

पाप-पुरुष असुरत्व मानवीय अन्तःचेतना में अनेक छद्म रूप धारण कर प्रवेश करता रहता है और उसे संकीर्ण स्वार्थपरता के, वासना और तृष्णा के जाल-जंजाल में फँसाने के लिये विविध प्रलोभन एवं आकर्षण दिखाता रहता है। अविवेकी जीव इसी प्रलोभन में फँसता चला जाता है और अपनी ललक-लिप्साओं की पूर्ति के लिये एक से एक अनोखे प्रपंच रचता रहता है। पाप-पुरुष की प्रवंचना से जकड़ा हुआ प्राणी केवल वासना एवं तृष्णा की पूर्ति में ही रस लेता है, जीवनोद्देश्य एवं कर्तव्य धर्म की ओर तो आँख उठाकर देखने की भी इच्छा नहीं होती। इच्छा नहीं तो आवश्यकता कहाँ ? सुविधा कहाँ ? कामनाओं का इतना बड़ा पर्वत उनके सामने खड़ा होता है जिस पर चढ़ते-चढ़ते उसकी सारी शक्ति चुक जाती है, अभाव ही अभाव उसे चारों ओर दीखते है, जो उपलब्ध है वह अति न्यून दिखाई पड़ता है। ऐसी दशा में तुर्त-फुर्त बहुत कुछ समेट लेने, बहुत कुछ बर्तने, बहुत कुछ भोग लेने के लिये अनीति का मार्ग ही एक मात्र अवलम्बन शेष रह जाता है। पाप पुरुष के जाल-जंजाल में जकड़ा हुआ जीव अनीति ही सोचता है। अनीति ही बर्तता है। मर्यादाओं का पालन करने में उसे दरिद्रता पल्ले बँधती दीखती है। संचय रूखा और नीरस लगता है। अतएव उसे संचय और उपभोग की दिशा में दौड़ने में ही बुद्धिमानी प्रतीत होती है। इस घुड़ दौड़ में कर्तव्य और आदर्श पिछड़ जाते हैं, अनीति ही एक मात्र सहचरी बन जाती है।

इस दयनीय दुर्दशा में पड़े हुए जीवधारी का उद्बोधन-प्रबोधन करने समय-समय पर देवदूत, ऋषि-मनीषी, महापुरुष और अवतारी आते रहते हैं। उनके द्वारा समय-समय पर सामयिक मरहम पट्टी भी होती रहती है। मरम्मत से कुछ काम चल जाता है। प्रभावशाली धर्मोपदेष्टा अपने समय में एक सामयिक परिवर्तन भी उत्पन्न कर देते है। उनके प्रयास कुछ सफल भी होते हैं, पर अन्ततः एक अवस्था ऐसी आ जाती है जब उस जराजीर्ण स्थिति को तोड़-फोड़ कर पुनः निर्माण का एक अभिनव सूत्रपात नये सिरे से करना पड़ता है। क्योंकि पाप पुरुष के चंगुल में

फँसा हुआ व्यक्ति जब उद्‌बोधनों का भी कोई प्रभाव ग्रहण नहीं करता मनोभूमि चिकने घड़े की तरह हो जाती है, एक-दूसरे को उपदेश देने की विडम्बना रचते हैं और धर्माडम्बर का ढोंग रचने की कला में इतनी प्रवीणता बढ़ जाती है कि सुधारवाद के सारे प्रयत्न उस दम्भ-प्रवाह में तिनके की तरह उड़ते चले जाते हैं । धर्म-ध्वजी दीखने वाले व्यक्ति ही जब धर्म-द्रोह पर उतारू हों तब समझना चाहिये कि अब सुधार प्रयत्नों का अवसर चला गया, अब मरहमपट्टी की स्थिति भी नहीं रही । इस विष-व्रण के लिये अब 'मेजर आपरेशन' की, भयानक चीर-फाड़ की अनिवार्य आवश्यकता उत्पन्न हो गयी है ।

बाह्य दृष्टि से आज का संसार प्राचीनकाल की अपेक्षा अधिक समृद्ध, अधिक साधन सम्पन्न और अधिक समर्थ है । लगता है हम प्रगति के पथ पर तेजी से बढ़ते चले जा रहे हैं । यह भौतिक मूल्यांकन सही भी हो सकता है, पर आत्मिक क्षेत्र में स्थिति बिल्कुल उल्टी है । भावनाओं में से उत्कृष्टता और आदर्शवादिता उठती-सी चली जा रही है । आदर्श चरित्र के व्यक्ति जिनका भीतरी और बाहरी स्वरूप एक हो, ढूँढे नहीं मिलते । परस्पर आत्मीयता, सहयोग, सेवा और उदारता की रीति-नीति बरतने वाले लोग दिखाई नहीं पड़ते । आन्तरिक दरिद्रता इतनी व्यापक हो चली है कि किसी भी भयानक दुर्भिक्ष से उसकी विभीषिका लाखों गुनी अधिक है । यही मानव जाति का, संसार का, सबसे बड़ा दुर्भाग्य है । इसी कमी के कारण साधन सामग्री की दृष्टि से यह समुन्नत समय आज नरक की आग में जल रहा है, जबकि इतनी साधन सम्पन्नता मिलने पर सर्वत्र स्वर्गीय वातावरण परिलक्षित होना चाहिये था ।

इस अभाव की पूर्ति पुनर्निर्माण से ही सम्भव है। पीतल के बर्तन टूट-फूट जाते हैं, तब उन्हें गला कर दुबारा नया ढाला जाता है । प्रेस के टाइप जब घिस जाते हैं तब उन्हें फाउण्ड्री में गलने और नये सिरे से ढलने के लिये भेज दिया जाता है । मनुष्यों के अन्तःकरण भी अब टूटे बर्तनों और घिसे टाइपों की तरह दम्भी होने के कारण बेकार हो गये हैं । अब उन्हें नये सिरे से गलना और ढलना पड़ेगा । गलाने और ढालने की फैक्टरियों में तेजी से आग की भट्टी जलती रहती है । उन रद्दी धातुओं का प्रथम संस्कार उन्हीं से होता है । उनकी कठोरता को कोमलता में बदलने के लिये सबसे प्रथम अग्नि संस्कार का ही आयोजन होता है । धातुओं के ढालने की छोटी भट्टियाँ मनुष्यों द्वारा बनाई जा सकती हैं, पर करोड़ो अरबों हृदयहीन घिसे-टूटे मनुष्यों को उनके वास्तविक और उपयोगी स्वरूप में परिवर्तित करने के लिये जो भट्टी जलाई जायेगी उसके लिये बहुत बड़ी, बहुत व्यापक व्यवस्था होगी । महाकाल इसी की विधि व्यवस्था में इन दिनों लगा हुआ है ।

महाप्रलय का अन्तिम ताण्डव नृत्य तब होता है, जब पंचतत्वों से बनी प्रकृति जराजीर्ण हो जाती है । तत्व बूढ़े होने के कारण अपना काम ठीक तरह समयानुसार नहीं कर पाते । ऋतुयें समय पर नहीं आतीं और उत्पादन, पोषण, विनाश की क्रम व्यवस्था में व्यवधान उत्पन्न हो जाता है । धरती की उत्पादन और धारणा की शक्ति बीत जाती और यह ग्रह-नक्षत्र अपना काम नियत समय में पूरा करने में असमर्थता प्रकट करते हैं । ऐसी स्थिति में महाकाल का अन्तिम ताण्डव नृत्य इस ब्रह्माण्ड को चूर्ण-विचूर्ण कर छितरा-बिखरा देने वाली महाज्वालायें प्रचण्ड करता है और नयी सृष्टि के सृजन की भूमिका सम्पादित करने के लिये महाकाली फिर अपने प्रसव प्रजनन की तैयारी में लग जाती है । कालरात्रि की उस महानिशा का-महारात्रि का बड़ा शृंगार पूर्ण वर्णन पुराणों में मिलता है । महानिशा समाप्त होने पर फिर सृष्टि नये सिरे से उत्पन्न होती है ।

यह महाप्रलय करोड़ों वर्ष बाद होती है । पर युग परिवर्तन के अवसर पर खण्ड प्रलय जैसा एक भयानक विस्फोट प्रायः होता रहता है । यह महाकाल के खण्ड नर्तन हैं, यों कहा इन्हें भी ताण्डव नृत्य ही जाता है । जब मानवीय मनोभूमि अत्यधिक दूषित होकर उस स्तर पर पहुँच जाती है कि सुधारक के सामान्य क्रिया-कलाप निरर्थक सिद्ध होने लगें तो महाकाल को अपने तीव्र अस्त्रों का ही प्रयोग करना पड़ता है । प्रायः ऐसी ही परिस्थितियों में जन-समाज को कड़े दण्ड देने के लिये लोमहर्षक प्रक्रिया अपनानी पड़ती है । इस भयानक क्रूर कर्म को करने के लिये अवसान के देवता-शंकर-जब रौद्र रूप धारण करते हैं और उथल-पुथल की रक्त-रंजित क्रिया-पद्धति अपनाते हैं तब उन्हें रुद्र कहते हैं । इस कल्प के आरम्भ से लेकर अब तक महाकाल को ग्यारह बार रुद्र रूप धारण करना पड़ा है । पुराणों में एकादश रुद्रों के नाम और उनके चरित्रों का विस्तृत वर्णन है ।

त्रिपुरारी महाकाल द्वारा तीन महादैत्यों का उन्मूलन

महाकाल शंकर का एक नाम त्रिपुरारी भी है। प्राचीनकाल में तीन दुर्दान्त दैत्य जन्मे थे, तीनों सगे भाई थे। नाम तो उनके अलग-अलग थे, पर उनने माया नगरों जैसे जादू भरे तीन नगर बसाये थे। इन तीन पुरों में ही उनने सारी दुनियाँ के लोगों को समेट कर बसा लिया था। माया नगरी का हर निवासी उन दैत्यों के प्रभाव में था। वे जैसा कहते वैसा ही वे सोचते और उन्हीं के निर्देशों पर कार्य करते। इससे संसार के समस्त निवासी आसुरी माया से भ्रमित हो गये, धर्म का लोप हो गया और अधर्म की विजय दुन्दुभी बजने लगी। असुरता का वैभव चमका और तीनों पुरियाँ बड़ी समृद्धिशाली दीखने लगीं पर भीतर ही भीतर सब कुछ खोखला हो गया। उन नगरों के निवासी नाना प्रकार की आधि-व्याधियों से, शोक-सन्तापों से ग्रसित होकर नारकीय जीवन व्यतीत करने लगे। सर्वत्र हाहाकार मच गया।

धर्म ने प्रजापति से गुहार की, प्रजापति ने महाकाल को इसके लिये नियोजित किया क्योंकि वे ही परिवर्तनों के अधिष्ठाता देवता हैं। धर्म की पूरी बात भगवान् शंकर ने सुनी और स्थिति को समझा। तीन पुर बसाने वाले वे तीन दैत्य यद्यपि अलग-अलग हैं, पर वस्तुतः वे परस्पर पूर्णतया घुले-मिले है। उनके तीन पुर भी अलग-अलग दिखाई पड़ते हैं, पर वस्तुतः वे परस्पर एक-दूसरे का पोषण अभिवर्धन करते हैं। यह तीनों दैत्य साधारण रीति से नहीं मर सकते। उन्हें अभय वरदान यह मिला हुआ है कि जब वे मरेंगे तब एक साथ ही मरेंगे और एक ही अस्त्र से मरेंगे। वे दैत्य बड़े चतुर थे इसलिये उन्होने ऐसा वरदान माँगा था। वे जानते थे कि हममे से एक को भी परास्त करना सहज नहीं, फिर तीनों को एक साथ चुनौती देने का तो साहस ही कौन करेगा। इस पर भी कोई लड़ने आये तो फिर उसके पास ऐसा शस्त्र नहीं हो सकता जो तीनों को एक साथ, एक ही बार में एक ही क्षण मारे। यह असम्भव जैसा कार्य नहीं कर सकेगा, इसलिये दैत्य होने के कारण अमर न हो सकने पर भी एक प्रकार से अमर ही बने रहेगे।

भगवान शिव ने स्थिति पर विचार किया और उनने इन दैत्यों से समस्त मानवता का उद्धार करने का उपाय खोज निकाला। उन्होंने जो त्रिशूल बनाया था तो एक ही शस्त्र पर उसके तीन मुख होने के कारण या तीन दैत्यों का एक साथ संहार कर सकता था। महाकाल ने पूरे वेग से त्रिशूल का प्रहार किया और त्रिपुर नामक तीनों दैत्यों की शक्ति को विदीर्ण कर डाला। धर्म की जीत हुई, अधर्म हारा। त्रिपुरों की तीनों माया नगरियों के मोहान्ध निवासियों को मुक्ति मिली। वे विवेक पूर्वक स्वतंत्र बुद्धि से सोचने और जो श्रेयस्कर दीखे उसे करने में लग गये। इस प्रकार मानवता पर आया हुआ एक महान् संकट टरा गया। भगवान् महाकाल की इस विजय का सर्वत्र अभिवादन हुआ और इस महती विजय के उपलक्ष्य में उन्हें त्रिपुरारी कहा जाने लगा।

त्रिपुरों की तीन पुरी ये हैं—(१) लोभ, (२) मोह, (३) अहं। यह तीनों आपस में जुड़े हुए हैं। धन को लक्ष्य बनाकर सोचने, करने और जीवित रहने वाला व्यक्ति नीति-अनीति का विचार किये बिना, जीवन के महान् उद्देश्यों को भुलाकर केवल मात्र आपाधापी मे आवश्यक-अनावश्यक उपार्जन-संग्रह में लगा रहता है। यह जानते हुए भी कि शरीर निर्वाह के लिये जितना आवश्यक है, उसके अतिरिक्त यह बचा हुआ सारा संग्रह तथाकथित बेटे-पोतों या सम्बन्धी कुटुम्बियों द्वारा लूट लिया जाता है, मनुष्य समझता नहीं, बदलता नहीं। लोभ की माया-मरीचिका उसके विवेक का अपहरण कर लेती है और जाल में फँसे हुए पक्षी की तरह उसी दिशा में घिसटता जाता है, जिसमें कि वधिक उसे खींचना चाहता है। लोभ की तृष्णा आज भी अधिकांश लोगों पर छाई हुई है। भले ही परिस्थितियाँ अमीर न बनने दें, पर सोचते सब वही है, करते सब वही है। कैसी खेदजनक विडम्बना है कि मनुष्य मानव जीवन की महत्ता, उसके उद्देश्य और उपयोग को पूर्णतया भूल जाता है उसकी ओर से विमुख बना रहता है और अनावश्यक अर्थ तृष्णा की ललक में मूल्यवान जीवन समाप्त कर देता है। जाते समय केवल पाप की गठरी ही सिर पर होती है। यह एक आसुरी सम्मोहन ही है जिसके जाल में विवेकशील समझा जाने वाला मानव प्राणी इस बुरी तरह जकड़ा हुआ है कि जो करना चाहिये था, वह कर नहीं पाता, जो नहीं करना चाहिये था उसे करने में लगा रहता है। त्रिपुर असुरों की जिस माया ने प्राचीन काल में मनुष्यों को सम्मोहित कर अपनी नगरी में बसा रखा था, आज भी लगभग वैसी ही स्थिति है।

त्रिपुर दैत्यों का दूसरा पुर है-व्यामोह। इन्द्रियाँ जो जीवन को सुसंचालित करने में रथ चक्र मात्र है, आज विलासिता एवं उपभोग का आधार बन गयी हैं। जिह्वा का

चटोरपन और कामेन्द्रिय की लोलुपता हमारे शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को चौपट करके रखे दे रही है। जिह्वा का चटोरपन, व्यक्ति और परिवार का जितना नाश करता है, कामलोलुपता उससे हजारों लाखों गुनी क्षति पहुँचाती है। गृहस्थ जीवन की शान्ति, सन्तान की शुचिता, संस्कृति और सामाजिक सुव्यवस्था सभी पर इस दुष्प्रवृत्ति का घातक प्रभाव पड़ता है। मानसिक व्यभिचार तो शारीरिक विलासिता से भी अधिक व्यापक और भयावह बन चला है, उसने भावनात्मक आदर्शवादिता और उत्कृष्टता को एक प्रकार से चौपट करके ही रख दिया है। विलासिता का यह व्यामोह जितना घातक है, उतना ही हमें प्राणप्रिय लगा करता है, उसे त्रिपुर असुरों की माया-मरीचिका कहें तो इसमें कुछ अत्युक्ति न होगी।

व्यामोह का दूसरा रूप है छोटे से घर में रहने वाले या जिनसे रक्त सम्बन्ध है, उन थोड़े से व्यक्तियों को ही अपना मानना और उन्हीं के लिये आजीवन मरते-खपते रहना। लोग यह भूल ही गये हैं कि संसार भी हमारा कुटुम्ब है और संसार के पिछड़े और असमर्थ लोगों को उठाना भी हमारा एक कर्तव्य है। देश, धर्म, समाज, संस्कृति की सेवा के लिये मनुष्य जीवन मिला है, उसका किसी को ध्यान नहीं। जो सोचता है अपने बेटे-पोतों की ही बात सोचता है। भले ही वे समर्थ और स्वावलम्बी हों पर कमाई उन्हीं के लिये की जाती है। जोड़-समेट कर दिया, उन्हीं को जाता है। जिनकी सन्तानें नहीं हैं वे प्यासे से फिरते हैं और अपना नहीं तो पराया गोद धरते हैं। इस व्यामोह ने मूल्यवान व्यक्तियों का सत्यानाश करके रख दिया, वे बेटे-पोतों से ऊपर उठकर, देश-धर्म की कुछ बात सोचते, तो न जाने क्या-क्या कर सकते थे? पर संकीर्णता का व्यामोह उनके गले में फाँसी के फेरे की तरह काल नाग बनकर लिपट रहा है। बेटे-पोतों को कमाई खिलाकर उद्धत बनाने के निमित्त ही वे बने रहे, जो करना था उसके लिये उनमें उदारता जग ही न सकी। संकीर्णता के बन्धन तोड़कर वे एक कदम आगे न सोच सके, न बढ़ सके। त्रिपुर दैत्यों की माया मरीचिका से सम्मोहित बिचारे निरीह प्राणी आखिर करें भी क्या? त्रिपुरों ने उनकी स्वतंत्रता चेतना तो नष्ट कर दी है, अब वे वही सोचते, वही करते हैं, जो वे दुर्दान्त दैत्य उन्हें सोचने करने को विवश करते हैं। आज नजर पसार कर देखते हैं, तो स्थिति वही प्रतीत होती है, जब धर्म हा-हाकार करने लगा था और अपनी प्राण रक्षा के लिये प्रजापति से जा पुकारा था।

त्रिपुरों का तीसरा पुर है-अहंकार। मिट्टी से पैदा हुआ, मिट्टी में मिलने वाला-मल, मूत्र और हाड़-मांस का ढेर-कीड़े-मकोड़े जैसा तुच्छ मानव प्राणी जब अपनी भौतिक उपलब्धियों पर इतराता है, तब हँसी रोके नहीं रुकती। रूप-लावण्य की, वेश-विन्यास की, शृंगार-प्रसाधनों की उसे ऐसी धुन सवार है कि न जाने क्या बनना चाहता है, न जाने क्या देखना या दिखाना चाहता है। हर घड़ी यह अभागा नर-कंकाल इसी उधेड़ बुन में लगा रहता है कि अपनी वस्तुस्थिति को छिपाकर दूसरों की आँखों को धोखे में डालकर कैसे से कैसा दीखने लगूँ। शरीर रक्षा पर जितना समय और धन खर्च किया जाता है उससे दूना-चौगुना यह दुनियाँ शृंगार-सज्जा पर व्यय कर रही है, फिर भी जैसी कुरूप थी वैसी की वैसी बनी हुई है।

व्यवहार, बोल-चाल, शान-शौकत, ठाट-बाट, सज-धज के स्वाँग और अमीरी के चोचले देखकर लगता है नाचीज-सा आदमी कहीं पागल तो नहीं हो गया है। जीवन की आवश्यकतायें थोड़ी-सी हैं, जो बड़ी आसानी से पूरी की जा सकती हैं, पर ठाठ तो सुरसा के मुँह की तरह है, जिसकी भूख कभी बुझती ही नहीं। जो भी कमाई है वह कम पड़ जाती है और विलासिता के साधन जुटाने में हर समय आर्थिक तंगी बनी रहती है। ब्याह-शादियों में अमीरों जैसा भौंड़ा स्वांग गरीब लोग ही बनाते हैं, उसे देखकर हँसी रोके नहीं रुकती। अपनी छोटी-सी हस्ती की सफलता और उपलब्धियों का लोग ऐसा ओछा और भौंड़ा विज्ञापन करते हैं कि कई बार यह शक होने लगता है कि आदमी अभी जंगली युग से आगे बढ़ पाया है या नहीं? सभ्य बनने की उसकी डींग कहीं आत्म प्रवंचना ही तो नहीं है? एक-दूसरे के साथ इतराकर बड़प्पन का रौब गाँठते हुए उद्धत, उच्छृंखल, अवज्ञा और तिरस्कारपूर्ण व्यवहार करते हैं। उच्छृंखलता, उद्दण्डता, गुण्डागर्दी बरतते हैं, शोषण, उत्पीड़न, छल, द्वेष और अनाचार की रीति-नीति अपनाते हैं, तब यही कहा जा सकता है कि अभी भी हम नर-पशु एवं नर-पिशाच ही बने हुए हैं। अहंकार मनुष्य का निकृष्टतम कमीनापन है। जो जितना उद्धत और अशिष्ट है, उच्छृंखल और अनियंत्रित है, ढोंगी और शेखीखोर है, उसे उतना ही छोटा, हेय और नीच समझना चाहिये। दुर्भाग्य से यह अहंकार आज मानव जाति पर इस बुरी तरह आच्छादित है कि उसकी मूल सत्ता एवं आत्मा का स्वरूप ही उलट गया प्रतीत होता है। तथाकथित 'स्वाभिमान' के नाम पर लोग कितने अशिष्ट, कृतघ्न और

ओछे बनते जा रहे हैं उसे देखकर यही कहा जा सकता है कि यह युग अहंकार की दानवी छाया-माया से पूरी तरह आच्छादित हो चला है ।

त्रिपुर दैत्यों ने अपनी माया नगरी में लोभ, व्यामोह और अहंकार की सत्ता स्थापित की और उनमें बसे हुए सभी लोगों को सम्मोहित कर कठपुतली की तरह अपने इशारों पर नचाया था । लगता है कि वर्तमान समय में भी वही स्थिति चल रही है । अशिक्षित असभ्य लोगों से लेकर सुशिक्षित तथाकथित नेता, धर्मोपदेशक, कलाकार, विद्वान्, ज्ञानी, गुणी सभी एक ही दिशा में चल रहे हैं । त्रिदोष जनित सन्निपात से हर कोई बहकी-बहकी बातें कर रहा है और उद्धत आचरण की कुचेष्टा बरत रहा है । दुष्परिणाम सामने है । व्यक्तिगत, शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक हर क्षेत्र में घोर अव्यवस्था फैल रही है । जिधर भी दृष्टि पसारी जाय उधर अनुपयुक्त, अनावश्यक एवं अवांछनीय के अतिरिक्त और कुछ दीखता ही नहीं । ऐसी विकृत एवं विपन्न अवस्था में विद्रोह, विस्फोट, विक्षोभ, अशान्ति, उद्वेग, अव्यवस्था, असन्तोष एवं शोक-संताप एवं दुःख-दारिद्र की परिस्थितियाँ ही विनिर्मित हो सकती है । आज यही सब कुछ प्रस्तुत है । व्यक्ति की आत्मा मरणासन्न स्थिति में आ पहुँची है और समाज सर्वनाश के कगार पर खड़ा थर-थर काँप रहा है ।

धर्म फिर हा-हाकार कर उठा है । मानवता फिर चीत्कार करने लगी है । धरती पर फिर पाप का बोझ असह्य हो उठा है । सबने मिलकर प्रजापति से पुकार की है कि हे विधाता ! इस दुर्विचार को सुधारो । प्रजापति महाकाल को निर्देश कर चुके हैं । वे स्थिति को देख-समझ रहे हैं, और इसी निश्चय-निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि लाखों वर्ष पूर्व अतीत काल में त्रिपुरों ने जो उपद्रव मचाया था, वे अब पिछला पाठ भूलकर उसी की पुनरावृत्ति कर रहे हैं । उन्होंने अपनी माया-मरीचिका में फिर से इस संसार को जकड़ लिया है और पूर्व काल की तरह इस स्वर्ग सुन्दर वसुन्धरा को शोक-सन्ताप में निमग्न कर दिया है । पृथ्वी को उबारने के लिये वे अपने त्रिशूल पर फिर से धार धर रहे हैं । भौतिक संहार तो होते ही हैं साथ ही उनके पीछे मूल प्रयोजन भावनात्मक, वैयक्तिक, मानसिक तथा व्यावहारिक दृष्टि से मानवीय प्रवृत्तियों को उस दिशा में मोड़ देना है, जिससे लोक-मानस के लिये सत् का, शिव का, आनन्द का अमृतोपम रसास्वादन कर सकना सम्भव हो सके ।

त्रिपुरारि महाकाल ने अतीत में भी विविध माया-मरीचिका को अपने (१) शिक्षण (२) संहार (३) निर्माण के त्रिशूल से तोड़-फोड़कर विदीर्ण किया था, अब वे फिर उसी की पुनरावृत्ति करने वाले हैं । धर्म जीतने वाला है, अधर्म हारने वाला है । लोभ, व्यामोह और अहंकार के काल पाशों से मानवता को पुनः मुक्ति मिलने वाली है । संहार की आग में तपा हुआ मनुष्य अगले ही दिनों पश्चात्ताप, संयम और नम्रता का पाठ पढ़कर सज्जनोचित प्रवृत्तियाँ अपनाने वाला है । वह शुभ दिन शीघ्र लाने वाले त्रिपुरारी-महाकाल आपकी जय हो ! विजय हो !!

शिव का तृतीय नेत्रोन्मीलन और काम-कौतुक की समाप्ति

एक बार उद्धत 'काम' देवता को ऊत सूझी । लोग शान्ति से दिन गुजार रहे थे । परिश्रम से कमाते, स्नेह-सहयोग से रहते, हँसी-खुशी के साथ सन्तोष का जीवन बिताते थे । काम देवता से यह सहन न हो सका उसने लोगों को परेशान करने की ठानी और अपनी माया चारों ओर फैला दी ।

काम देवता लोगों के मनों में घुस गया और हर एक के मन में असीम कामनायें भड़का दीं । लोग अपनी थोड़ी-सी आवश्यकतायें, थोड़े से श्रम से पूरा कर लिया करते थे और शेष समय लोक-मंगल में लगाते थे, इससे सभी को प्रसन्नता थी और सभी को शान्ति । पर जब कामनायें भड़कीं तो लोग उद्विग्न हो उठे । किसी को धन संग्रह की, तो किसी को वासनाओं की, किसी को पदवी पाने की इच्छा भड़की । पहले यह ललक धीमी थी, पर जब सभी की प्रवृत्तियाँ उस ओर बह निकलीं तो एक-दूसरे में प्रतिद्वन्द्विता ठन गयी। सभी अपने साथियों से आगे बढ़ जाने को आतुर हो उठे । कौन ज्यादा धन जमा करे, कौन ज्यादा विलासिता का आनन्द लूटे, कौन कितना अपनी अहंता का आतंक दूसरों पर प्रदर्शित करे, इस प्रतिस्पर्द्धा में ऐसी भगदड़ मची कि लोगों ने औचित्य का रास्ता छोड़ दिया और जैसे बने वैसे अधिकार, सफलता प्राप्त करने के लिये आतुर हो उठे ।

इस प्रतिद्वन्द्विता में परस्पर संघर्ष छिड़ा मन उत्तेजित हुआ, ईर्ष्या भड़की, द्वेष बढ़ा । उत्पीड़न और शोषण की घटनायें बढ़ीं, तो प्रतिरोध सामने आया और फिर प्रतिशोध की आग धधकने लगी । इससे विश्वासी-अविश्वासी, मित्र-अमित्र और सज्जन-दम्भी बन गये । बुद्धिमानों की

बुद्धि कबूतर फँसाने के जाल बुनने मे लग गयी। पीड़ितों के क्रन्दन और उत्पीड़कों के अट्टहास से दिशायें गूँजने लगीं, उनकी प्रतिध्वनि ने आतंक फैला दिया। हर कोई भयभीत हो उठा, हर कोई सशंकित। मानवीय सम्मिलित सहयोग से जो आनन्द उल्लास मिलता था, प्रगति का जो पथ प्रशस्त होता था, उसके सारे द्वार अवरुद्ध हो गये। हर कोई अपनी चाल चलने और अपनी गोट हरी करने की शतरंज में इतना निमग्न हुआ कि और सब आवश्यक बातें उपेक्षा एवं विस्मृति के गर्त में गिरकर विलीन हो गयीं। जीवन निरापद ही नहीं भार-भूत भी हो गया।

काम देवता को इतने से ही सन्तोष न हुआ। उसने इसी दुर्दशा में पड़े रहने और उससे मुक्त होने के लिये आतुर न हो सकने की भी माया रच दी। विलासिता के एक से बढ़ कर एक साधन-प्रसाधन उत्पन्न कर दिये। इन्द्रिय-भोगों को भड़काने वाली इतनी सामग्री रच दी कि क्या मस्तिष्क और क्या शरीर सर्वत्र उसी की माँग और पुकार बढ़ने लगी। बुद्धि ने विलासिता को जीवन का सर्वोपरि आनन्द माना और शरीर ने उसी के प्रसाधन जुटाने में संलग्न रहने की अनुमति देदी। सजावट, शोभा, शृंगार, शान, वासना, विलास, क्रीड़ा-कौतुक का आकर्षण इतना बढ़ा कि कामना पीड़ित बुभुक्षितों की तरह टूट पड़े। लगने लगा अब विलासिता और कामनाओ की पूर्ति ही मानव जीवन का लक्ष्य रह गयी है। वासना और तृष्णा की पूर्ति के अतिरिक्त और कोई दिशा ही मनुष्य के पास शेष न रही।

कामनाओं और वासनाओं द्वारा विविध बन्धनों में बँधते हुए प्राणी की आत्मा इस दुर्दशा में पड़ी छटपटाने लगी। भगवान की पुनीत कृति विश्व वसुधा अपने गर्व-गौरव से पद-दलित होकर जिस निकृष्ट और निर्लज्ज स्थिति पर पहुँचा दी गयी, उससे उसका मस्तक लज्जा से नत हो गया। मनुष्यता ने एक लम्बी उसाँस भर कर कहा- हाय! क्या इसी दयनीय स्थिति में पहुँचाने के लिये विधाता ने बनाया था।

काम देवता अपने इस कौतुक पर बड़ा प्रसन्न हो रहा था। उसने सभी को अपने बन्धन में बाँध लिया। सबको जीत लिया। अब किसे जीता जाय? सोचा कि इस दुनियाँ का एक नियंत्रक भी है, अब उसी पर चढ़ाई करनी चाहिये। सो वही उसने किया भी। भगवान का स्वरूप न्याय और व्यवस्था की स्थिति बनाये रखने के लिये संयम और तपश्चर्या की प्रेरणा करने वाला अनादि काल से चला आता था। काम देवता ने उसी को बदलने की माया रच दी।

भगवान का स्वरूप बदला, भक्तों ने उनकी भी दुर्दशा कर डाली जैसी संसार के लोगों की थी। उन्हें वासना और विलास का प्रतीक प्रतिनिधि बना दिया। शृंगार, रास, हास, विलास, भोग, उपभोग के माध्यम ही भगवान की पूजा कहलाने लगे। तप और त्याग, संयम और सेवा जो ईश्वर भक्तों के प्रमुख पूजा विधान थे, वे न जाने कहाँ तिरोहित हो गये और भगवान के चरित्र की चर्चा ऐसी होने लगी मानो वे भी काम पीड़ित एक साधारण विलासी, धन-वैभव में प्रतिष्ठा अनुभव करने वाले और प्रशंसा का पुल बाँधने वालों से प्रसन्न रहने वाले हैं। जो उनकी दुर्बलताओं का समर्थन करे उसकी पाप-दण्ड से छूट और कुपात्र होते हुए भी सत्पात्रों को मिलने वाले लाभ देने वाले अन्यायी के रूप चित्रित किया जाने लगा। भक्ति का यही स्वरूप प्रचलित हो गया तो भगवान की आत्मा कराह उठी। हाय मुझ भगवान की इस दुष्ट काम देवता ने क्या दुर्गति कर दी।

कराह दोनों ही रहे थे, आत्मा भी, परमात्मा भी मानव भी और विश्व-मानव भी। काम देवता का माया भरा जाल-जंजाल जितना आकर्षक था उतना ही दारुण भी। उसे न पकड़े रहते बनता था और न छोड़ते। स्थिति असह्य हो उठी तो धरती आसमान की आत्मायें मिलकर भगवान् शिव के पास पहुँची और उनसे विनय करते हुए बोलीं- महाकाल! विश्व की यह दयनीय दुर्दशा अब असह्य है। धरती पर विलासिता ही जीवित रहे और सभी उसकी विशेषतायें, सभी सुन्दरतायें समाप्त हो जायें यह उचित नहीं। सृष्टि का मुकटमणि-परमेश्वर का उत्तराधिकारी मनुष्य केवल तृष्णाओं की पूर्ति के लिये अपने पुण्य अवतरण को कलंकित करता रहे यह अवांछनीय है। इस असह्य स्थिति को आप ही बदल सकते हैं, सो आप ही बदलें।

भगवान् शंकर ने ध्यान मग्न होकर देखा तो स्थिति को वैसा ही पाया जैसा कि बताया जा रहा है। उन्होंने परिवर्तन की आवश्यकता को अनुभव किया और ऐसी ही परिस्थिति में बार-बार दुहराई जाने वाली अपनी प्रत्यावर्तन पद्धति को पुनः क्रियान्वित करने का निश्चय किया।

मनुष्य और भगवान् दोनों को ही कलंकित करने वाले काम देवता के दुष्ट कौतुक पर भगवान् शंकर बहुत कुपित हो उठे, उसे उचित दण्ड देने तथा इस माया मरीचिका को निरस्त करने के लिये त्रिशूल उठाया। भगवान् शिव ने अपना तीसरा नेत्र खोला। उसके खुलते ही एक भयंकर दावानल प्रकट हुई, जिससे वह सारा माया कलेवर देखते-

देखते घास-फूँस की तरह जल-बल कर भस्म हो गया, साथ ही काम देवता का कलेवर भी नष्ट हो गया। संसार को शान्ति मिली और मनुष्य अपने और भगवान अपने वास्तविक स्वरूप में आ गये। जब धरती माता और महिमामयी मानवता का चिर गौरव पुनः प्रतिष्ठापित हो गया तो देवता दुन्दुभी बजाने लगे और दशों दिशाओं मे महाकाल का जय-जयकार होने लगा।

अतीत काल का यह कथानक आज फिर अपनी पुनरावृत्ति कर रहा है। काम देवता ने मानवीय चेतना में असंख्य प्रकार की कामनायें भड़का दी है। विलासिता के इतने अधिक आकर्षण विनिर्मित्त हो गये हैं कि उनका आकर्षण छोड़ते नहीं बनता। स्वार्थ बढ़ रहा है, पाप प्रचण्ड हो रहा है और नरक की ज्वालायें हर क्षेत्र में धधकती चली आ रही हैं। स्थिति फिर असह्य हो उठी, हम सर्वनाश के कगार पर खड़े हैं। धरती और आकाश की आत्मायें सुरक्षा के लिये प्रार्थना करने में संलग्न है। सो लगता है कि महाकाल अब तीसरा नेत्र खोलने ही वाले हैं। मस्तिष्क के महाबिन्दु में अवस्थित यह तीसरा नेत्र और कुछ नहीं व्यापक विवेक ही है। उसी के उन्मीलन से अज्ञान का अवसान होता है और तभी असंख्य समस्याओं के समाधान का मार्ग निकलता है। वर्तमान 'विचारक्रान्ति' महाकाल का तीसरा नेत्र ही है जो प्रचण्ड दावानल का रूप धारण कर अज्ञान युग की सारी विडम्बनाओं को भस्मसात कर स्वस्थ और स्वच्छ दृष्टिकोण प्रदान करेगी। इन उपलब्धियों के बाद विश्व शान्ति के मार्ग में कोई कठिनाई शेष न रह जायेगी।

दशम अवतार और इतिहास की पुनरावृत्ति

इतिहास कई बार अपनी पुनरावृत्तियाँ किया करता है। ऋतुयें अपने चक्र पर घूम कर एक वर्ष बाद जहाँ की तहाँ आ जाती हैं। सूर्य जहाँ आज उदय हुआ था, २४ घण्टे बाद फिर वहीं आ उदय होता है। जीव जन्म लेता है, बढ़ता है और मर जाता है, फिर इसके बाद उसी जन्मने, बढ़ने, मरने के क्रम को दुहराता है। पृथ्वी अपने धुरी पर एक दिन में एक परिभ्रमण करती है और वर्ष मे एक बार सूर्य की परिक्रमा करती है। यही क्रम वह अनादिकाल से असंख्यों बार दुहराती चली आयी है। युग, मन्वन्तर, कल्प आदि अपने क्रम को दुहराते रहते है। ग्रह-नक्षत्र अपनी धुरी और परिधि पर बार-बार निर्धारित क्रम से भ्रमण करते हैं। सृष्टि और प्रलय का चक्र भी यथावत् चलता रहता है। समुद्र से वर्षा, वर्षा का जल समुद्र में इसके बाद वही क्रम बीज से बीज। तात्पर्य यह कि इस संसार में सभी कुछ अपनी नियत क्रम व्यवस्था के अनुसार परिभ्रमण करते हुए बार-बार उसी केन्द्र-बिन्दु पर आ पहुँचता है, जहाँ से कि वह आरम्भ हुआ था। इतिहास का भी यही क्रम है। व्यक्तियों और घटनाओं में हेर-फेर होता रहता है, पर वस्तुतः वही सब होता रहता है जो अनादिकाल में कभी हुआ है। इसी तथ्य को प्रकट करने के लिये किसी पश्चिमी विद्वान ने कहा था कि 'देयर इज नथिंग न्यू अण्डर दी सन' सूर्य के नीचे (विश्व में) कभी कोई नवीन बात नहीं होती।

जरा-जीर्ण समाज व्यवस्था में बार-बार सुधार और परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव होती है। कपड़ा मैला हो जाता है उसे फिर धोना पड़ता है। बर्तनों की हर दिन सफाई होती है। घर में रोज बुहारी लगती है। दाँत रोज माँजने पड़ते है। कारण यह है कि एक बार सफाई कर देने के बाद फिर मैल जमना आरम्भ हो जाता है और कुछ ही समय में मलीनता इतनी बढ़ जाती है कि दुबारा उसकी सफाई अनिवार्य हो जाती है। दिवाली पर हर साल मकान की लिपाई, पुताई रंगाई न की जाय, तो उसकी सुन्दरता और मजबूती दोनों को ही खतरा पैदा हो जाएगा। इमारतें, नहरें, सड़कें, मशीनें, मोटरें सभी अपनी सामायिक मरम्मत माँगती हैं। यदि उनकी उपेक्षा की जाय तो वे बहुमूल्य वस्तुयें समय से बहुत पहले ही निकम्मी और बर्बाद हो जाती हैं। अतएव बुद्धिमान लोग जब भी आवश्यकता प्रतीत हुई कि तुरन्त सुधार की प्रक्रिया सम्पन्न करते हैं। यह एक निर्धारित क्रम है, उसकी पुनरावृत्ति होती ही रहती है, होनी भी चाहिये। जराजीर्ण समाज व्यवस्था की भी समयानुसार मरम्मत होती है। सुधारकों का आवागमन बना रहता है। धर्मोपदेशक, समाज सुधारक, मार्ग-दर्शक देवदूत, सन्त, ऋषि-मुनि समय-समय पर आते हैं और अपने काल की तात्कालिक आवश्यकताओं को देखकर उनके सम्भालने सुधारने का अपने-अपने ढंग से प्रयत्न करते है। अब तक हर देश में, हर काल में, वहीं की भाषा और संस्कृति के आधार पर सुधार कार्य सम्पन्न करने वाली ऐसी अगणित आत्मायें अवतरित हो चुकी हैं, आगे भी होंगी।

परिस्थिति जब अधिक विषम हो जाती है, तो उसके लिये महाकाल को अपने शस्त्र सम्भालने पड़ते हैं। छोटे-मोटे मकान, पुल मामूली इन्जीनियर बना लेते हैं, पर यदि कोई बहुत बड़ा बाँध बनाना हो तो उसके लिये बड़े इन्जीनियरों की आवश्यकता होती है। कोई भारी बाँध टूट जाय और उसमें पानी भरे हुए पानी से सैकड़ों मील प्रदेश

डूब जाने का खतरा उत्पन्न हो जाय तो उस संकट का निवारण फिर मामूली इन्जीनियरों के बस का काम नहीं रहता। फिर उस समस्या का हल विशेषज्ञों द्वारा ही खोजा जाता है। समाज में मामूली गड़बड़ियाँ तो बार-बार होती, उठती रहती हैं और उनका सुधार कार्य सामान्य सुधारकों द्वारा सम्पन्न हो जाता है, पर जब पाप अपनी सीमा का उल्लंघन कर जाता है, मर्यादायें टूट जाती हैं, जन-मानस चिकने घड़े की तरह किसी शुभ प्रेरणा और सत् प्रभाव से प्रभावित होने की क्षमता खो बैठता है, तब महासुधारक की आवश्यकता पड़ती है। इस कार्य को महाकाल स्वयं करते हैं, क्योंकि अन्ततः बिगड़ी, बेकाबू परिस्थितियों को संतुलन में लाने की जिम्मेदारी उन्हीं की है। अस्पतालों में छोटे आपरेशन ही सहायक डाक्टर करते रहते है, पर जब जान जोखिम का 'मेजर आपरेशन' करना हो तो उसमें सिविल सर्जन की उपस्थिति अनिवार्य हो जाती है। इन दिनों जन-जीवन किस अनैतिक स्तर पर पहुँच गया है, उसमें अब छोटे सुधार से, छोटे सुधारकों से काम चलता नहीं दीखता। अब उसके लिये बहुत बड़ी उलट-पुलट की, उथल-पुथल की आवश्यकता अनिवार्य हो गयी है। इस प्रयोजन की पूर्ति भगवान् का प्रत्यावर्तन तत्व-महाकाल करते रहे हैं। अब भी वे ही करने जा रहे हैं। प्राचीनकाल में भी ऐसा ही होता रहा है। अब उसी की पुनरावृत्ति पुनः होने जा रही है।

आगामी कुछ ही वर्षों में संसार में एक भयानक उथल-पुथल होने जा रही है। इस उथल-पुथल में भौतिक दृष्टि से कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न होने की सम्भावना है, जिनमें मनुष्य जाति के कष्टों में अभिवृद्धि हो और उस प्रताड़ना से प्रभावित मनुष्य यह विचारने को विवश हो कि उस राह पर नहीं चला गया, जिस पर चलना चाहिये था। अनीति अन्ततः हानिकारक होती है, इतनी छोटी-सी शिक्षा यदि लोग स्मरण रख सके और अपना सके होते तो प्रकृति को कुपित होकर अपना रुद्र रूप धारण न करना पड़ता और असंख्यों को जो अगणित कष्ट भोगने के लिये बाध्य होना होता है उसकी आवश्यकता न पड़ती।

भगवान् का किसी से द्वेष नहीं। वे तो परम कारुणिक और परम मंगलमय हैं। इसी से तो उन्हें शिवशंकर कहते है। भोला भी उन्ही का नाम है।

भोला का अर्थ है-सरल, सौम्य, सज्जन। जो इस प्रकार की प्रवृत्ति का है, वह भला दूसरों का कष्ट देने में मोद मनाने की नृशंसता क्यों करेगा? विवशता ही इसके लिये उन्हें बाध्य कर देती है। मनुष्य जब अत्यधिक दुराग्रही, अहंकारी और ढीठ हो जाता है, सज्जनता की रीति-नीति को बेतरह तोड़ता है और दुष्टता पर उद्धततापूर्वक उतारू हो जाता है तभी उन्हें ऐसा कुछ करना पड़ता है, जो कष्टकर और भयंकर दीखे। यद्यपि सड़ा फोड़ा चीरने के लिये माता द्वारा अस्पताल ले पहुँचना और डाक्टर द्वारा वहाँ चीड़-फाड़ करना दोनों के ही काम निर्ममतापूर्ण दीखते हैं, पर उससे रोगी का हित ही लक्ष्य में रहता है। दोनों ही यह चाहते हैं कि कष्ट पीड़ित का कष्ट मिटे और वह रोज-रोज की व्यथा वेदना से मुक्ति पाकर सुख-शान्ति का जीवन बिताये, भले ही कुछ क्षण इसके लिये उसे कष्ट उठाना पड़े। आज का मानव समाज भी विष व्रण से ग्रस्त रोगी की तरह है। उसके कल्याण का इन परिस्थितियों में यही मार्ग दीखता है कि फोड़ा चीर दिया जाय, ताकि सड़ा मवाद जो हर समय वेदना उत्पन्न करता है, निकल कर दूर हो जाय।

अवतारों का यही प्रयोजन सदा से रहा है। वे इस प्रकार की हलचल पैदा करते आ रहे हैं, जिससे अशान्ति का अन्त होकर शान्ति की स्थापना हो। महाकाल समय पर इस प्रयोजन के लिये एक भावनात्मक प्रवाह उत्पन्न करते हैं। इस प्रवाह में जन-मानस उद्वेलित होता है और उसमें से कितने ही ऐसे योद्धा निकल पड़ते हैं, जो इस दैवी पुण्य-प्रयोजन की पूर्ति के लिये असाधारण पुरुषार्थ कर दिखायें, अभीष्ट प्रयोजन को एक व्यक्ति नहीं वरन् अनेक मिलकर सम्पन्न करते हैं। भले ही उस अभियान के नेताओं में से किसी एक को विशेष ख्याति मिल जाय, पर वस्तुतः होता वह भावनात्मक प्रवाह ही है, जो सहज ही अनेक साथी सहयोगी बनाकर खड़े कर देता है और कष्ट-साध्य दीखने वाली परिवर्तन प्रक्रिया देखते-देखते सरल हो जाती है। आश्चर्य चकित लोग सूक्ष्म जगत् की प्रभु प्रेरित विधि व्यवस्था को तो देख नहीं पाते, बाहर जो सबसे प्रमुख व्यक्ति दीखता है, उसी के सिर श्रेय का सेहरा बाँध देते हैं। अवतारी या विजेता कोई एक घोषित किया जाता है- यह मनुष्य की स्थूल दृष्टि की भूल भरी परख है। तत्वदर्शी जानते है कि एक व्यक्ति कितना ही बड़ा या समर्थ क्यों न हो? वह अगणित मनुष्यों के सहयोग बिना कुछ नहीं कर सकता और यह सामूहिक संघर्ष, असहयोग की प्रवृत्ति समय-समय पर महाकाल भड़काते हैं। वे निराकार हैं इसलिये उनका कार्य क्षेत्र भी सूक्ष्म जगत् ही होता है। वे भाव-स्वरूप चेतना हैं। इसलिये विश्व व्यापी चेतन तत्व में उनकी आकांक्षा सक्रिय होती है। उसकी स्फुरणा से प्रबुद्ध व्यक्ति बड़े-बड़े काम करने लगते हैं। उन्हें सहयोग,

श्रेय और साफल्य उपलब्ध होता है। इसलिये लोग उन्हीं को प्रयोजनपूर्ण कर्त्ता, विजयी, उद्धारक अवतार मानते हैं। वस्तुतः होता कुछ और ही है। इन कठपुतलियों को नचाने वाला सूत्रधार पर्दे के पीछे छिपा बैठा रहता है, उसे चमड़े की आँखें देख कहाँ पाती हैं ?

युग परिवर्तन की आशा पूर्ण करने के लिये अतीतकाल में अनेक अवतार हुए हैं। कहीं दस का, कहीं चौबीस का वर्णन मिलता है। इन सबकी सामयिक परिस्थितियाँ अलग थीं, अस्तु उन्हें कार्यक्रम, स्वरूप एवं साधन भी अपने ढंग से अलग जुटाने पड़े, पर उद्देश्य सभी का एक था-

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

इसी को रामायण में इन शब्दों में कहा गया है-

जब जब होहि धरम की हानी।
बाढ़हिं अधम असुर अभिमानी॥
तब तब प्रभु धरि मनुज शरीरा।
हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥

अनीति और अवाञ्छनीयता को हटाकर उसके स्थान पर औचित्य एवं विवेक को प्रतिष्ठापित करने का दैवी प्रयोजन समय-समय पर अनेक हस्तियाँ सम्पन्न करती और यशस्वी होती रही हैं। महत्वपूर्ण अवसरों पर यह अवतरण प्रक्रिया अनादिकाल से उपस्थित होती रही है। ठीक वैसी ही परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाने पर उसी प्रकरण की पुनरावृत्ति फिर हो रही है।

प्राचीन काल में उत्पादन और वैभव ठप्प हो गया था, सभी देव असुर आलस और नैराश्य में ग्रसित मानस बैठे थे। तब महाकाल ने समुद्र मंथन के लिये प्रेरणा उत्पन्न की। देवता और असुरों का सम्मिलित सहयोग सम्भव हो गया। समुद्र में से ऐसे १४ रत्न निकले, जिन्हें पाकर विश्व वसुधा की समृद्धि असंख्य गुनी बढ़ गयी। समुद्र मंथन के आधार की आवश्यकता पड़ी, मन्दराचल पर्वत की रई तो बन गयी, पर इतना भारी पर्वत कहाँ जाय ? उसका भार कौन सम्हाले ? तब कच्छप अवतार आगे आया। उसने आधार बनना स्वीकार किया। उसी की पीठ पर समुद्र मंथन हुआ। कच्छप अवतार की जय बोली गयी। क्योंकि उसने एक बड़ा उत्तरदायित्व वहन किया था। फिर भी वे समुद्र मन्थन की सारी प्रक्रिया को सम्पन्न करने वाले नहीं कहे जा सकते। जिस समय सर्प की रस्सी बनायी गयी थी, जैसे जिन देवताओं और असुरों ने लम्बी अवधि तक श्रम किया था, जिस समुद्र ने अपने गर्भ से निकाल कर वे रत्न दिये, उन सभी का सहयोग असामान्य था। वस्तुतः सभी की सम्मिलित विजय थी। तात्विक दृष्टि से देखा जाय तो इस उपलब्धि का श्रेय उस भावनात्मक प्रवाह को है जिसने लोक-मानस में एक विशेष प्रकार की हलचल उत्पन्न की और जिसने अप्रत्यक्ष रूप से उसके साधन-उपकरण जुटाने का असम्भव कार्य सम्भव बना दिया। तो भी इतिहासकार उस उपलब्धि का श्रेय कच्छप अवतार को देते हैं। इसमें कोई बड़ा दोष भी नहीं है। पूरी न सही, एक महत्वपूर्ण भूमिका तो आखिर उनकी भी थी ही।

हर अवतार में उसी तथ्य की पुनरावृत्ति होती रही है। मत्स्य, कूर्म, बराह, नृसिंह, वामन, परशुराम कृष्ण, राम, बुद्ध के चरित्रों पर व्यापक दृष्टि डालने से यही तथ्य उभर कर ऊपर आ जाता है। अवतारी युग पुरुष बड़े-बड़े अद्भुत काम कर दिखाते हैं, वे आश्चर्यजनक होते हैं और अनुपम भी, पर दो बातें हर अवतार में एक-सी रहती हैं- एक यह कि अवतार का उद्देश्य तत्कालीन अवांछनीय परिस्थितियों को बदलना रहता है और दूसरा यह कि इस प्रयोजन में जन-सहयोग की आवश्यक मात्रा सम्मिलित रहती है। भगवान कृष्ण ने गोव[illegible] पर्वत उठाया था तो उसमें अनेक ग्वाल-बाल भारी पह[illegible]दबकर मरने का भय छोड़कर लाठी का सहारा लगाये [illegible]ड़े थे। महारास रचाया तो अनेक गोपियाँ अपने विषम बन्धनों को तोड़कर उसमें सम्मिलित हो गयीं। महाभारत रचाया तो साधन विहीन पाण्डवों के साथ एक बड़ी सेना आ खड़ी हुई। रचनात्मक हो या ध्वंसात्मक उनके हर काम में जन सहयोग विद्यमान था। भगवान राम के प्रयोजन में रीछ, वानर, गिद्ध, गिलहरी जैसे असंख्य सहयोगी सम्मिलित थे बुद्ध के लक्ष-लक्ष अनुयायी देश-विदेशों में भ्रमण कर सत्य, अहिसा का पाठ पढ़ाते थे। अशोक जैसे सम्पन्न, आनन्द जैसे प्रबुद्ध एवं अम्बपाली जैसे आकर्षक व्यक्तित्व उनके साथ थे। इन अवतारी नर-पुरुषों ने अपने समय के जमाने को पलट देने में सफलता पायी। बुद्ध और गाँधी ने तो एक नया प्रयोग करके दिखाया कि बिना खून खराबी और उत्पीड़न के भी जमाने को पलटा जा सकता है और अवतरण का उद्देश्य पूरा किया जा सकता है।

अब दसवाँ 'निष्कलंक' अवतार इन दिनों हो रहा है- हो चुका है। यह एक भावना-प्रवाह है जिसका उद्देश्य है पिछले हजारों वर्षों की कलंक कालिमा को धोकर मानवता का मुख उज्ज्वल करना, कलंक को धो डालना। दशवें निष्कलंक अवतार के नाम पर अन्ततः उस अभियान

की सफलता का सेहरा किसके सिर पर बाँधा जायेगा, इसमें साधारण लोगों को भले ही दिलचस्पी हो, तत्वदर्शियों की दृष्टि में इसका रत्ती भर भी महत्व नहीं। वे जानते है कि इतने बड़े प्रयोजन की पूर्ति कोई एक व्यक्ति नहीं कर सकता। भगवान् अपने विशेष प्रतिनिधि इस संसार में जरूर भेजते हैं, पर पूर्ण भगवान् कभी जन्म नहीं ले सकता। यदि पूरा भगवान् एक जगह जन्मे तो फिर तो शेष संसार की सारी व्यवस्था कौन सम्भाले? सदा अंश अवतार ही होते हैं, अवतरण की वेला में एक नहीं अनेक प्रबुद्ध आत्मायें एक साथ अवतरित होती हैं और वे मिल-जुलकर दैवी प्रयोजनों की पूर्ति सम्भव करती हैं।

इस तथ्य को जानने वाले व्यक्तियों को नहीं प्रवाह स्रोत को पहचानने का प्रयत्न करते हैं। इन दिनों युग परिवर्तन का जो सुव्यवस्थित विश्व-व्यापी भावना प्रवाह उद्वेलित हो रहा है, उसके पीछे एक ही लक्ष्य है-मानवता के अतीत कालीन उज्ज्वल गौरव की पुनः प्रतिष्ठापना। लम्बी अवधि तक विदेशी शासन के अन्तर्गत रहने और आवश्यक संघर्ष में कमी रहने देने की भीरुता का कलंक हमारे मस्तक पर एक कालिमा की तरह लगा हुआ है। हम अवांछनीय को इसलिये सहन करते हैं कि हमें संघर्ष में पड़ने से कष्ट उठाने पड़ेंगे, त्याग करने पड़ेंगे। यह कलंक साहसी शूरवीर और आत्मा को अमर मानने वाली जाति के लिये निस्संदेह बहुत ही घृणित है। जन-मानस में उद्वेलित वर्तमान भावना प्रवाह अब इसी दिशा में उमड़ चला है कि हम स्वाभिमानी, साहसी, सत्यनिष्ठ, विवेकवान मनुष्यों की तरह जियें और हमारे व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन पर पिछली शताब्दियों में जो कलंक लग गये हैं उन्हें परिपूर्ण प्रायश्चित के साथ धोवेंगे और उन परिस्थितियों को उत्पन्न करेंगे जो किसी गौरवशाली समाज के लिये उचित है। यह भावना प्रवाह निष्कलंक अवतार ही तो होगा।

प्राचीनकाल में विवेक की पूजा होती थी, मूढ़ता एवं रूढ़िवादिता की नहीं। आज सब कुछ उल्टा है। ढर्रे की पूजा होती है, विवेक को पद-दलित कर दिया गया है। मनुष्य-मनुष्य के बीच पाई जाने वाली वंश जाति के नाम पर ऊँच-नीच की भावना तथा नर-नारी के बीच पाई जाने वाली ऊँच-नीच की वृत्ति सर्वथा अनैतिक एवं अवांछनीय हैं। यह कलंक हम सभ्यताभिमानियों पर बुरी तरह लगा हुआ है कि हर बात तो न्याय की, नीति की, समता की, सत्य की करते हैं, पर बरताव बिल्कुल उल्टा करते हैं। विवाह-शादियों में होने वाला अन्धाधुन्ध खर्च तथा अगणित अन्ध-विश्वासों के कारण जन-जीवन को जो असीम क्षति उठानी पड़ रही है उसका विरोध करने में हीनता दिखाना हमारी विवेकशीलता को कलंकित करता है। व्यक्तिगत जीवन में हम जिस आलस, विलासिता, असंयम, स्वार्थ, अहंकार का असभ्य प्रदर्शन करते हैं, उसने विश्व के सभ्य-समाज में हमारा स्थान कहाँ रहने दिया है? पारस्परिक सहयोग की जितनी उपेक्षा अब हम करते हैं उतनी प्राचीन काल में कभी नहीं की गयी। क्या यह सब बातें हमें कलंकित नहीं करतीं। इस विपन्नता को दूर करने के लिये आज की दैवी प्रेरणा इसी दिशा में प्रवाहित हो रही है कि हम अपने व्यक्तित्व को, परिवार को, समाज को, सभ्य एवं सुसंस्कृत बनाने के लिये वे प्रयत्न करें जिससे इन दिनों जो लांछन अपने ऊपर लगाये जा रहे हैं उनका पूरी तरह परिशोधन, परिमार्जन एवं प्रायश्चित हो सके। हम संसार के सामने सभ्य, सज्जन बनकर उपस्थित हों, अपने अद्यावधि सभी कलंकों को धो डालें और निष्कलंक समुज्ज्वल जीवन नये सिरे से जीना प्रारम्भ करें।

दशम अवतार हो चुका है- वह पढ़, बढ़ और परिपुष्ट हो रहा है। पौराणिक भाषा में उसका नाम है, निष्कलंक क्योंकि वह हमारी वर्तमान तथा पिछली पीढ़ियों की दुष्प्रवृत्तियो, कलंकों को धोने आ रहा है। उसके द्वारा ऐसा भावात्मक प्रवाह उत्पन्न किया जा रहा है जिससे लोग अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं तथा समस्याओं में उलझे होने की संकीर्णतापूर्ण बहानेबाजी को छोड़कर खुशी-खुशी लोक-मंगल के लिये भावनापूर्ण कटिबद्ध होंगे। इसके लिये बड़े-बड़े तप, त्याग करने में भी संकोच न करेंगे। निष्कलंक अवतार की यह प्रत्यक्ष प्रवाह प्रेरणा हम अपने चारों ओर प्रवाहित होते हुए आसानी से देख समझ तथा अनुभव कर सकते है।

निष्कलंक अवतार के साथ किस व्यक्ति का नाम जोड़ा जायेगा, यह बहुत पीछे की और बहुत ही महत्वहीन बात है। इसका निर्णय तीस वर्ष का घटनाक्रम तथा इतिहास करेगा। अभी उसकी ढूँढ-तलाश तथा पहचान अनावश्यक भी है और निरर्थक भी। निष्कलंक अवतार द्वारा प्रादुर्भूत नव-निर्माण के लिये समुद्यत भावना प्रवाह को हम श्याम-घटा ही की तरह आकाश में घुमड़ते हुए भली प्रकार देख

सकते हैं और निष्कलंक अवतार की उपस्थिति के सम्बन्ध में विश्वस्त हो सकते हैं ।

पर इस संक्रान्तिकाल में कुछ ऐसे व्यक्ति भी निकल पड़ते हैं, जो 'अवतार' होने का दावा करके संसार को भीषण परिस्थितियों से मुक्ति दिलाने का वायदा करते हैं। इससे अनेक सीधे-साधे व्यक्ति भ्रम में पड़कर मार्ग च्युत हो जाते हैं और अवतार सम्बन्धी कार्यक्रम में सहयोग देने के बजाय उल्टी-सीधी बातें करने लगते हैं, जिससे इस महान् उद्देश्य को क्षति पहुँचती है । ऐसे तथाकथित 'अवतार' उन स्वार्थी और घुसपैठ करने वाले व्यक्तियों की तरह है जो जहाँ लाभकारी स्थिति देखते हैं वहीं वैसा ही रूप बनाकर उपस्थित हो जाते हैं । जैसे शासनाधिकार को पा जाने पर हजारों चलते पुर्जा व्यक्ति शुद्ध खद्दर की पोशाक पहनकर गाँधी जी के अनुयायी बन बैठे और अन्त में काँग्रेस की नैया को डुबाने के निमित्त सिद्ध हुए । इसी प्रकार ये 'अवतार' नामधारी भी महाकाल द्वारा जगत की दुरवस्था का सुधार करने के कार्यक्रम में इस प्रकार के ढोंग और स्वार्थपूर्ति की कार्यवाहियों द्वारा बाधा स्वरूप ही सिद्ध होते हैं ।

इतिहास की पुनरावृत्ति होती रही है । अब फिर हो रही है । अवांछनीय अन्याय और अविवेक का उन्मूलन करके सद्भावनाओं एवं सत्प्रवृत्तियों का अभिवर्धन करने के लिये पिछले अन्य नौ अवतारों की तरह दशवाँ अवतार फिर हो रहा है । आँख वाले उसका दर्शन कर सकते हैं और बुद्धि वाले ईश्वरीय व्यापार में साझीदार होकर वह सौभाग्य प्राप्त कर सकते हैं जिसके लिये उनका यश शरीर अनन्त काल तक उज्ज्वल नक्षत्रों की तरह चमकता रह सके ।

सहस्र शीर्षा पुरुषः ....

पुरुष सूक्त में भगवान् के स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हुए उसे "सहस्र शीर्षा: पुरुष: सहस्राक्ष-सहस्र पात्" हजार सिर वाला, हजार हाथ वाला बताया गया है । यों ब्रह्म एक है पर विशेष अवसरों पर वह अपने विशेष साधनों, उपकरणों द्वारा अभीष्ट प्रयोजन की पूर्ति करता है । सृष्टि के संचालन में हजारों देव शक्तियाँ उसकी सहचरी बनकर विश्व-व्यवस्था की महान प्रक्रिया सम्पन्न करती हैं । युग परिवर्तन जैसे विशिष्ट अवसरों पर हजारों जीवन मुक्त उच्च-स्तरीय आत्मायें उसकी सहचर बनकर महाकाल का प्रयोजन पूरा करती है।

सृष्टि के सृजनकर्त्ता ब्रह्माजी की उत्पत्ति कमल पुष्प में से है । यह कमल पुष्प 'सहस्रार दल कमल' कहलाता है, जो मस्तिष्क के मध्य बिन्दु-ब्रह्मरंध्र में अवस्थित है । मूलाधार में अवस्थित कुण्डलिनी शक्ति को इस मानव पिण्ड का दक्षिण ध्रुव और मस्तिष्क स्थित सहस्रार कमल को उत्तर ध्रुव माना गया है । देहधारी की समस्त भौतिक और आध्यात्मिक शक्तियाँ इन्हीं ध्रुवों में केन्द्रित रहती हैं । प्रमुखता आत्मबल की है । सहस्रार कमल में केन्द्रित रहने के कारण ईश्वर की उत्पत्ति एवं स्थिति का केन्द्र बिन्दु उसे ही माना गया है ।

क्षीर सागर में शेष शैया पर सोये हुए विष्णु का अलंकार इसी रहस्य का उद्घाटन करता है । शेष सर्प कुण्डलिनी शक्ति का प्रतीक है, उसके हजारों फनों में सहस्रार कमल का संकेत है । यह सहस्र शिर, सहस्र आँखें, सहस्र हाथ-पैर, सहस्रार कमल का वर्णन यह बताता है कि भगवान् के महत्वपूर्ण क्रिया-कलाप सहस्रों शक्तियों की सम्मिलित प्रक्रिया द्वारा सम्पन्न होते हैं । शतपथ ब्राह्मण में इन्द्र को सहस्र अप्सराओं के साथ नृत्य करता हुआ बताया गया है और आगे चलकर उसी का रहस्योद्घाटन सूर्य का सहस्र किरणों के साथ अपनी क्रिया पद्धति गतिशील रखने के रूप में किया गया है । भगवान् एक अवश्य हैं, पर वे कुछ विशेष प्रयोजन पूर्ण करते हैं, तब एकाकी नहीं रहते वरन् सहस्र रश्मियों वाले अंशुमाली की तरह प्रकट होते हैं । युग परिवर्तन जैसे प्रयोजनों में तो उनका 'सहस्र शीर्षा:' रूप निश्चय ही विकीर्ण हो उठता है।

कृष्णावतार की लीलाओं में इस तथ्य को अलंकारिक रूप में और भी अधिक स्पष्ट किया गया है । कृष्ण लीला में 'महारास' की चर्चा सर्वोपरि रहती है। निविड़ निशा में सोती हुई गोपियों को वंशी बजाकर जगाना, घरों से बाहर एकान्त में उन्हें बुलाना और उनके साथ नृत्य करना, हर गोपी को पूर्ण कृष्ण के साथ नृत्य का अनुभव कराना, यह घटनाक्रम सामाजिक दृष्टि से अनुचित और अवांछनीय प्रतीत होता है, पर जब हम इस आध्यात्मिक पहेली को बूझते हैं और इस अलंकार के पीछे छिपे मर्म को ढूँढ निकालते है, तब हमें इस महत्त्वपूर्ण तथ्य का पता चल जाता है । अज्ञान व्यामोह की निविड़ निशा में सोती हुई प्रबुद्ध आत्माओं का ईश्वरीय वाणी-आत्म पुकार की वंशी द्वारा उद्बोधन किया जाना, उनका एक सीमित परिवार की उपेक्षा कर विश्व-परिवार के लिये गौतम बुद्ध की तरह

आगे बढ़ चलने-ईश्वरीय प्रयोजन में सबका एक साथ तन्मयता पूर्वक जुट जाना यही सब तो महारास है। महाकाल को विशेष अवसरों पर ऐसा महारास रचना पड़ता है जिसमें उत्कृष्ट आदर्श के लिये सहस्रों महामानव कार्यरत दिखाई पड़ें। गोपियाँ प्रबुद्ध आत्मायें हैं, वंशी-आत्मा की पुकार, महारास-ईश्वरीय विशेष प्रयोजन, निशा-व्यामोह, परिजनों की उपेक्षा-स्वार्थ और संकीर्णता की परिधि का साहसपूर्वक उल्लंघन। इस महारास में जो सहस्रों गोपियाँ-प्रबुद्ध आत्मायें भाग ले सकीं वे ब्रह्मानन्द का आनन्द लेती हुई अपने को बड़भागी अनुभव कर सकीं। जो सोती रह गईं उन्हें पछताना पड़ा।

भगवान् कृष्ण की सोलह हजार रानियाँ बताई जाती है। यों लौकिक दृष्टि से यह बात समझ से बाहर की है। महाभारत में उनकी एक-दो पत्नियों का ही वर्णन है। रुक्मिणी, सत्यभामा आदि ही उनकी धर्म-पत्नी है। सामाजिक मर्यादा की दृष्टि से यह उचित भी था। फिर यह हजारों रानियाँ क्या हैं, इस पहेली का हल भी उपरोक्त प्रकार का ही है। ईश्वरीय प्रयोजन में जो आत्मायें प्राणपण से जुट जाती हैं, उसी में अपना आत्म-समर्पण कर देती हैं। वे आत्मा-परमात्मा की प्राण-प्रिय पत्नियाँ ही कहलायेंगी। पत्नी सम्बन्ध के साथ अश्लील काम-क्रीड़ा और गोपनीयता का सम्बन्ध जुड़ जाने से सामाजिक क्षेत्र में वह रिश्ता अड़चन भरा और अचकचा-सा लगता है, पर अध्यात्म चर्चा में इस प्रकार की कोई अड़चन नहीं है। आत्म-समर्पण और अभिन्न एकता की जो भावनात्मक स्थिति है उसकी तुलना लौकिक रिश्ते में पति-पत्नी भाव से ही मिलती-जुलती है। अन्य रिश्ते कुछ दूर पड़ जाते हैं। इसलिये सन्तों सूफियों ने आत्मा और परमात्मा की एकता को प्रणय सूचक शब्दों में अनेक गीतों में गाया है। कबीर का सुरतियोग, मीरा का प्रणय-योग एक उच्च आध्यात्मिक भूमिका है। उसमें जिस पति-पत्नी भाव की चर्चा की है वह सामान्य गृहस्थ पद्धति से असंख्य गुनी ऊँची वस्तु है। श्रीकृष्ण भगवान् की सोलह हजार रानियाँ उस अवतार की सहयोगिनी सोलह हजार प्रबुद्ध आत्मायें ही हैं। इस अलौकिक दाम्पत्य जीवन ने हर रानी को आठ-आठ सन्तानें दीं। अर्थात् इन लोगों ने आठ-आठ

इस प्रकार के विवाह में नर-नारी लिंग भेद अपेक्षित नहीं। सखी-सम्प्रदाय में पुरुष भी अपनी मनोभूमि को नारी जैसी मानकर पति रूप में ईश्वर की उपासना करते हैं। भक्ति-योग में ऐसे अनेक साधन-क्रम विद्यमान हैं। कृष्ण उपासना का क्रिया-कलाप तो बहुत करके इसी स्तर का है। नर भी उन्हीं गीतों को गाकर भाव-विभोर होते हैं जिन्हें नारियाँ अपने पति के संदर्भ में गा सकती हैं। गोपी-कृष्ण का प्रेम-प्रसंग प्रस्तुत नर-नारी भेद से असंख्य गुना ऊँचा है उसे विशुद्ध रूप से आत्मा-परमात्मा का मिलन बिन्दु ही कहा जा सकता है। कृष्णावतार के समय सहस्रों प्रबुद्ध आत्माओं ने परमात्मा के अभीष्ट प्रयोजन में आत्म-समर्पण करके जो महारास रचाया उसी से अवतार का उद्देश्य पूर्ण हो सका। साथी-सहचरों के बिना अकेले कृष्ण आखिर कर भी क्या सकते थे ?

शरीर से हृदय का बहुत महत्व है। जीवन का श्रेय उसी को है, पर सहस्रों नाड़ियों द्वारा उसे रक्त अर्पण करने का जो प्रेम-योग साधा जाता है उसी आधार पर शरीर जीवित है। समुद्र इसीलिये नहीं सूखता कि सहस्रों नदियाँ इनमें अपना योगदान अर्पित करती हैं। चक्रवर्ती शासक वही कहलाता है, जिसमें सहस्रों राजा एक महाछत्र के नीचे प्रकाशित होते हैं। इसी एकीकरण के लिये प्राचीन काल में अश्वमेध यज्ञ का आयोजन होता था। उन्हें राजनैतिक महारास कहना चाहिये।

इन दिनों यही सब हो रहा है। अनेक जन्मों से जिनके पास आध्यात्मिक पूँजी संग्रहीत है, उन प्रबुद्ध आत्माओं को युग निर्माण योजना के कार्यक्रमों द्वारा अपने अवतरण उद्देश्य से परिचित और अभ्यस्त कराया जा रहा है। यह स्थूल प्रक्रिया हुई। सूक्ष्म स्तर पर वे परस्पर अभिन्न-योग का अभ्यास कर रहे हैं। सब मिलकर एक केन्द्र बिन्दु का निर्माण कर रहे हैं। संग्रहीत ऋषि रक्त से सीता उपजी थी और संग्रहीत देव शक्ति से दुर्गा। यह संग्रह नदियों द्वारा समुद्र को किये गये योगदान की तरह एक केन्द्र बिन्दु को परिपुष्ट करेगा। सौर मण्डल के ग्रह उपग्रहों का सम्मिलित संगठित सौर परिवार जिस प्रकार विश्व ब्रह्माण्ड की स्थिति पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाल रहा है उसी प्रकार दशम् निष्कलंक अवतार-नव-निर्माण का प्रचार अभियान भी एक अत्यन्त सामयिक भूमिका प्रस्तुत करेगा।

ध्वंस के देवता और सृजन की देवी

संसार की जराजीर्ण और अवांछनीय परिस्थितियों के सामान्य सुधार प्रयत्न सफल न होते देख जब महाकाल ने ताण्डव नृत्य किया तो अनुपयुक्त कूड़ा-करकट जल-बलकर भस्म होने लगा। यह ध्वंसकाल स्वरूप समय की स्थिति है। बड़े-बड़े महल कुछ ही समय में गिराये जा सकते हैं, पर उनका बनाना कठिन होता है और समय साध्य भी। ध्वंस से निर्माण का महत्व अधिक है। जब ध्वंस हो चुका तो महाकाल का कार्य समाप्त हो गया और सृजन की देवी महाकाली आगे आयी। उसने महाकाल से उसका ताण्डव बन्द कराया। उन्हें भूमि पर लिटा दिया और स्वयं आगे बढ़कर सृजनात्मक क्रिया-कलाप में संलग्न हो गयीं।

महाकाली को पुराणों मे इस प्रकार चित्रित किया गया है कि महाकाल भूमि पर लेटे हुए है और वे उनकी छाती पर खड़ी अट्टहास कर रही है। यों पति की छाती पर पत्नी का खड़ा होना अटपटा-सा लगता है, पर पहेलियों में यह अटपटापन जहाँ कौतूहल वर्धक एवं मनोरंजक होता है, वहाँ ज्ञान वर्धक भी। कबीर की 'उल्टावांसी' और खुसरो की 'मुकरनी' पहेलियों के रूप में सामने आती हैं और अपना रहस्य जानने के लिये बुद्धिमत्ता को चुनौती देती है। भूमि पर लेटे हुए शिव की छाती पर काली का खड़े होकर अट्टहास करना, घटना के रूप में घटित हुआ था या नहीं इस झंझट में पड़ने की अपेक्षा हमें उसमें सन्निहित धर्म और तथ्य को समझने का प्रयत्न करना चाहिये।

ध्वंस एक आपत्ति धर्म है- सृजन सनातन प्रक्रिया। इसलिये ध्वंस को रुकना पड़ता है, थक कर लेट जाना और सो जाना पड़ता है। तब सृजन को दुहरा काम करना पड़ता है। एक तो स्वाभाविक सृष्टि संचालन की रचनात्मक प्रक्रिया का संचालन-दूसरे ध्वंस के कारण हुई विशेष क्षति की विशेष पूर्ति का आयोजन। इस दुहरी उपयोगिता के कारण ध्वंस के देवता महाकाल की अपेक्षा संभवत: सृजन की देवी महाकाली का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ जाता है। शिव जब पड़े होते हैं तब शक्ति खड़ी होती हैं। शिव पीछे पड़ जाते हैं शक्ति आगे आती है। शिव सोये होते हैं और शक्ति जागृत रहती है। शिव का महत्व घट जाता है और शक्ति की गतिशीलता पूजी जाती है। महाकाल की छाती पर खड़े होकर महाकाली का अट्टहास करना इसी तथ्य का अलंकारिक चित्रण है।

शिव के हाथों में त्रिशूल अवश्य है, वे उसका अनिवार्य परिस्थितियों में प्रयोग भी करते है, पर हृदय में उनके सृजन की असीम करुणा ही भरी रहती है। सृजन की देवी काली उनकी हृदयेश्वरी है। उसे वे सदा अपने हृदय में स्थान दिये रहते हैं। आवश्यकतानुसार वह मूर्तिमान गतिशील और प्रखर हो उठती है। ध्वंस के अवसर पर तो उसकी आवश्यकता और भी अधिक हो उठती है। आपरेशन के समय डाक्टर को चाकू, कैंची, आरी, सुई आदि तीक्ष्ण धार वाले शस्त्रों की भी जरूरत पड़ती है, पर उससे भी अधिक सामग्री मरहम पट्टी की जुटानी पड़ती है। आपरेशन के समय किये गये घाव को भरा कैसे जाये ? इसकी आवश्यकता भी डाक्टर समझते हैं, अतएव वे रुई, गौज, मरहम पट्टी, दवायें आदि भी बड़ी मात्रा में पास रख लेते हैं। ध्वंस प्रक्रिया आपरेशन है तो निर्माण मरहम-पट्टी। भगवान को ध्वंस करना पड़ता है पर मूल में अभिनव सृजन की आकांक्षा ही रहती है। क्रूर कर्म में भी अनन्त करुणा ही छिपी रहती है। महाकाल की आंतरिक इच्छा सृजनात्मक ही है, यही उनकी हृदयगत आकांक्षा है। अस्तु शक्ति को शिव के हृदय के स्थान पर इस प्रकार अवस्थित दिखाया गया है मानो वह हृदय में से ही निकल कर मूर्तिमान हो रही हो।

इस चित्रण का एक और भी उद्देश्य है कि विनाश के उपरान्त होने वाले पुनर्निर्माण में मातृ शक्ति का ही प्रमुख हाथ रहता है। बाप द्वारा प्रताड़ना दिये जाने पर बच्चा माँ के पास ही दौड़ता है और तब वही उसे अपने अंचल में छिपाती, छाती से लगाती, पुचकारती और दुलारती है। मातृ-शक्ति करुणा की स्रोत है। अस्पतालों में नर्स का काम महिलायें जैसी अच्छी तरह कर सकती हैं उतनी पुरुष द्वारा नहीं, छोटे बालकों को शिक्षा देने वाले बाल-मंदिर, शिशु सदनों में महिलाओं द्वारा जैसी अच्छी तरह प्रशिक्षण दिया जा सकता है, उतना पुरुषों द्वारा नहीं। कारण कि उनके अन्दर स्वभावत: जिस करुणा, दया, ममता, सेवा, सौजन्य एवं सहृदयता का बाहुल्य रहता है, उतना पुरुष में नहीं पाया जाता। पुरुष प्रकृतित: कठोर है और नारी कोमल दोनों का सम्मिश्रण सम्मिलित होने से एक संतुलित स्थिति बनती है अन्यथा एकाकी रहने वाले पुरुष सेना जैसे कठोर कार्यों के लिये ही उपयुक्त हो सकते है।

यदि वर्तमान अवांछनीय परिस्थितियों की जिम्मेदारी नर-नारी में से किसकी कितनी है इसका विश्लेषण किया जाय तो यही निष्कर्ष निकलेगा कि ९० प्रतिशत उद्धतता

पुरुषों द्वारा बरती गयी है, क्रूर कर्मों और दुर्भावनाओं के अभिवर्धन में उन्हीं का प्रमुख हाथ है । अपराधी, दुष्ट, दुरात्मा और दण्डभोक्ता व्यक्तियों में पुरुषों की ही संख्या ९० प्रतिशत होती है। वर्तमान उद्धतता की जिम्मेदारी प्रधानतया पुरुषों की होने के कारण दण्ड भाग भी उन्हीं के हिस्से में आयेगा । भावी विनाश में प्रताड़ना उन्हीं के हिस्से में अधिक आने वाली है । नारी क्रूर कर्मों से बची रहती है, उसमें उसका योगदान नगण्य होता है इसलिये वह अपनी आध्यात्मिक गरिमा के कारण पुरुष की अपेक्षा कहीं अधिक पवित्र, उज्ज्वल, सौम्य रहने के कारण दुर्दैव की कोपभाजन नहीं बनती । शिव की छाती पर शक्ति के खड़े होने का एक तात्पर्य यह भी है कि आत्मिक श्रेष्ठता की कसौटी पर कसे जाने पर नारी की गरिमा ही अधिक भारी बैठती है । वही ऊपर रहती है । पुरुष इस दृष्टि से जब कि गिरा हुआ सिद्ध होता है तब नारी अपनी श्रेष्ठता को प्रमाणित करती हुई गर्वोन्नत प्रसन्न वदन खड़ी होती है ।

भावी नव-निर्माण में इमारतों, सड़कों, कल-कारखानों, सेना अथवा शस्त्रों का अभिवर्धन प्रधान नहीं, वरन् भावनात्मक निर्माण की प्रधानता रहेगी । इस क्षेत्र में नारी का ज्ञान, अनुभव तथा अधिकार असंदिग्ध है । इसलिये स्वभावत: जो जिसका अधिकारी है वही इस उत्तरदायित्व को वहन करेगा । भावी पुनरुत्थान में प्रधान भूमिका नर की नहीं नारी की होगी । विनाश की भूमिका का सरंजाम जुटाने में पुरुष आगे रहेगा, क्रूर कर्मों में उसी की बुद्धि आगे चलती है । सामान्य जीवन आनन्द की हत्या उसी ने की है । विश्व शान्ति पर आक्रमण उसी ने किया है । अब अपनी दुष्टता की पूर्णाहुति में भी अपनी कला के दो-दो हाथ वही दिखावे तो उसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं । लेकिन भावनात्मक नवनिर्माण को, इसके तुरन्त बाद ही जिस पुनरुत्थान की आवश्यकता पड़ेगी उसे पूरा न कर सकेगा। यह कार्य नारी को करना है । इसी तथ्य को प्रतिपादित करती हुई महाकाल के थक जाने पर उसकी छाती पर महाकाली का हासविलास होता चित्रित किया गया है ।

पुरुष में अन्य विशेषतायें कितनी ही क्यों न हो, भावनात्मक क्षेत्र में, आध्यात्मिक क्षेत्र में-नारी से वह बहुत पीछे है । यही कारण है कि साधना क्षेत्र में नारी ने जब भी प्रवेश किया है वह पुरुष की तुलना में सौ-गुनी तीव्र गति से आगे बढ़ी है । उसे इस दिशा में अधिक शीघ्र और अधिक महत्वपूर्ण सफलतायें मिलती हैं । माता को कन्यायें अधिक प्रिय होती हैं, उन्हें वे दुलार भी अधिक करती हैं और अनुग्रह भी । अध्यात्म की अधिष्ठात्री महाशक्ति का अवतरण अनुग्रह यदि नारी साधकों पर अधिक सरलता से अधिक मात्रा में होता है, तो यह उचित ही है । भावी नवनिर्माण में जिस स्तर की क्षमता, योग्यता, पूँजी एवं तत्परता की आवश्यकता होगी, वह स्वभावत: नारी में ही प्रचुरतापूर्वक मिलेगी । इसलिये मर्माहत पुरुष को कसक कराह के साथ विश्राम करने देकर नारी ही आगे बढ़ेगी और वही पुनरुत्थान की परिस्थितियों का सृजन करेगी । समय-समय पर ऐसा होता भी आया है । पुरुष आध्यात्मवादियों की सफलताओं के पीछे प्रधान भूमिका नारी की ही रही है । वह सहयोग ख्याति भले ही न प्राप्त कर सकी हो, पर तथ्य की दृष्टि से यही सुनिश्चित है कि आत्म-बल के उपार्जन में किसी भी पुरुष को अद्‌भुत सफलता में असाधारण सहयोग किन्हीं नारियों का ही रहा है।

राम की महिमा का श्रेय सीता और कौशिल्या को कम नहीं है । कौशिल्या के प्रशिक्षण तथा सीता के सहयोग को यदि हटा दिया जाय तो राम का वर्चस्व फिर कहाँ रह जायेगा ? सीता के बिना राम का चरित्र ही क्या रह जाता है ? उनकी सारी गतिविधियों के पीछे सीता ही आच्छादित है । कृष्ण की बाँसुरी में राधा ही रहती थी । देवकी और यशोदा का वात्सल्य कुन्ती का प्रोत्साहन और आशीर्वाद, द्रौपदी की श्रद्धा, गोपियों का स्नेह इन सब तत्वों ने मिलकर कृष्ण के कृष्णत्व की पूर्ति की थी । इन उपलब्धियों के अभाव में बेचारे कुछ कर पाते या नहीं इसमें संदेह ही रहता।

बुद्ध का आध्यात्मिक प्रशिक्षण उनकी मौसी द्वारा सम्पन्न हुआ था । तपस्या के बाद लौटे तो उनकी पत्नी यशोधरा भी अनुगामिनी होकर आयी । अम्बपाली के आत्मसमर्पण के उपरान्त तो भगवान् का प्रयोजन हजार गुनी गति से तीव्र हुआ । प्रतिभाशाली व्यक्तित्व जहाँ आते है वहाँ किसी भी दिशा में अभिवृद्धि होती है । पाण्डवों की महान् भूमिका में द्रौपदी का 'रोल' अत्यन्त प्रभावी है। एक नारी के द्वारा पाँच नर-रत्नों को प्रचुर बल प्रदान किया गया, यह नारी शक्ति भाण्डागार का चिन्ह है । मदालसा ने अपने सभी पुत्रों को अभीष्ट दिशा मे सुसम्पन्न किया था । एक नारी असंख्य मानव प्राणियों को नर से नारायण बनाने में समर्थ हो सकती है । उसकी भावनात्मक सृष्टि इतनी परिपूर्ण है कि कृष्ण का सामयिक अस्तित्व न

होने पर भी मीरा ने उन्हें पति रूप में साथ रहने और नाचने के लिये मूर्तिमान कर लिया था ।

प्राचीन काल के तपस्वी, तत्वदर्शी एवं महामनीषी ऋषियों में प्रत्येक सपत्नीक था । ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि सभी देवताओं की पत्नियाँ, सरस्वती, लक्ष्मी, काली आदि उनके वर्चस्व को स्थिर रखने में आधार स्तम्भ की तरह हैं । नारी के रमणी रूप की ही भर्त्सना की गयी है अन्यथा उसकी समग्र सत्ता गंगा की तरह पवित्र, और अग्नि की तरह प्रखर है । पिछले दिनों भारतीय राजनैतिक क्रान्ति का नेतृत्व करने में एनी बेसेन्ट की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। लक्ष्मीबाई, सरोजिनी नायडू आदि कितनी ही महिलायें इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण काम कर चुकी हैं । इस क्रान्ति युग की परिस्थितियाँ उत्पन्न करने में जिन महामानवों ने गुप्त किन्तु अद्भुत पुरुषार्थ किया है उनमें रामकृष्ण परमहंस और योगी अरविन्द मूर्धन्य हैं । दोनों को नारी का शक्ति सान्निध्य प्राप्त था । परमहंस के साथ महायोगिनी-भैरवी तथा पत्नी शारदामणि और अरविन्द के साथ माताजी का जो अनुपम सहयोग हुआ उसी के बलबूते पर वे लोग अपनी महान् भूमिका सम्पादित कर सके । ऐसे असंख्य उदाहरण भारत तथा विदेशों में विद्यमान हैं जिनसे स्पष्ट है कि आध्यात्मिक क्षेत्र में, भावनात्मक उपलब्धियों में, नारी का वर्चस्व प्रधान है और इसी के सहयोग से नर को इस दिशा में महान सफलता मिली है। शिव की छाती पर शक्ति का खड़े होना इसी तथ्य का उद्घाटन करता है कि अन्य क्षेत्रों में न सही कम से कम आत्मबल की दृष्टि से तो नारी की गरिमा असंदिग्ध है ही ।

भावी नव-निर्माण निकट है । उसकी भूमिका में नारी का योगदान प्रधान रहेगा अगले ही दिनों कितनी ही तेजवान् नारियाँ अपनी महान् महिमा के साथ वर्तमान केंचुल को उतार कर सार्वजनिक क्षेत्र में प्रवेश करेंगी और उनके द्वारा नव-निर्माण अभियान का सफल संचालन सम्भव होगा । भावी संसार में, नये युग में हर क्षेत्र का नेतृत्व नारी करेगी । पुरुष ने सहस्राब्दियों तक विश्व नेतृत्व अपने हाथ में रखकर अपनी अयोग्यता प्रमाणित कर दी । उसकी क्षमता विकासोन्मुख नहीं विनाशोन्मुख ही सिद्ध हुई । अब वह नेतृत्व उसके हाथ से छिन कर नारी के हाथ जा रहा है । हमें उसमें बाधक नहीं सहायक बनना चाहिये । खिन्न नहीं प्रसन्न होना चाहिये । विरोध नहीं स्वागत करना चाहिये । भावी परिस्थितियों के अनुकूल हमें ढलना चाहिये । इसी का संकेत उस चित्रण में सन्निहित है, जिसमें महाकाल की छाती पर महाकाली की प्रतिष्ठापना प्रदर्शित की गयी है ।

उग्रता और सौम्यता के प्रतीक-प्रतिनिधि-महाकाल और महाकाली

भगवान् की अनेक शक्तियाँ हैं । उनके प्रयोजन, विधान, स्वरूप एवं प्रकरण भी अनेक हैं । जड़-चेतन जगत् के विविध क्रिया-कलापों को चलाने, एवं बनाने बिगाड़ने के संदर्भ में अनेक तथ्य समुपस्थित होते हैं उनको कैसे सुव्यवस्थित रखा जाय, इस समस्या को हल करने में भगवान् अपनी शक्ति को अनेक भागों में विभक्त करके उन्हें विभिन्न कार्यों में लगा देता है। यही अवतारों का रहस्य है । समय-समय पर भगवान् की अनेक शक्तियाँ अनेकों प्रकार की अव्यवस्थाओं एवं आवश्यकताओं को हल करने के लिये अवतरित होती रहती हैं ।

कालान्तर में उपयोगी वस्तुयें भी अनुपयोगी हो जाती हैं । समय जिस तीव्रता से आगे बढ़ता है, वस्तुयें, परिस्थितियाँ एवं मान्यतायें उस गति से बढ़ या बदल नहीं पातीं फलतः वे जीर्ण हो जाती हैं और अपनी उपयोगिता खो बैठती हैं । आज का बनाया हुआ उत्तम भोजन एक दो दिन बाद ही बासी हुआ, दुर्गन्धित एवं हानिकारक हो जाता है । बहुत दिन रखे रहने पर कपड़े जीर्ण हो जाते हैं । मजबूत इमारतें गिर पड़ती हैं, शरीर बूढ़े हो जाते है । उसी प्रकार प्रथायें, परम्परायें, मान्यतायें भी अपनी उपयोगिता खो बैठती हैं । समाज भी बिना बुहारे घर की तरह अवांछनीय कूड़े करकट से घिर जाता है । ऐसी दशा में जीर्ण-शीर्ण अनुपयुक्त को हटा कर उसके स्थान पर अभिनव सृजन की आवश्यकता पड़ती है । इस उलट-पुलट के लिये भगवान् की विशेष शक्ति समय-समय पर विशेष रूप से अवतरित होती है । वैसे साधारण कार्य तो उसका निरन्तर सदा ही चलता रहता है ।

काल के परिवर्तन का प्रयोजन पूरा करने वाली शक्ति "महाकाल" है । युग का परिवर्तन एवं प्रवर्तन इसी सत्ता द्वारा होता है । रुद्र नाम इसी का है । परिवर्तन सदा ही रौद्र—भयानक कष्टकारक होता है । इसलिये रुद्र की गतिविधियों को भी वैसा ही माना गया है । वह ताण्डव नृत्य करके प्रलय उपस्थित करता है । अपने तीसरे नेत्र से काम-भाव को जला कर भस्म कर देता है । उसके अंग-प्रत्यङ्ग से फुसकारते हुए भयङ्कर विषधर लिपटे रहते हैं,

भयानक भूत, प्रेत, भैरव, वैताल उसकी सेना है। त्रिशूल की विदारिणी शक्ति को क्या कहा जाय ? जब उसका डमरू बजता है तब दशों दिशा में तूफान उठ खड़ा होता है। ऐसा है वह भयानक रुद्र देवता युग परिवर्तन का अधिनायक महादेव महाकाल। इस रुद्रता के भीतर भी लोक-मंगल का महान प्रयोजन सन्निहित रहता है। इसलिये उसके शीश पर अमृतमय गंगा विराजमान है। शान्ति और शीतलता का प्रतीक चन्द्रमा विराजता है। सौजन्य, श्रद्धा और सद्भावना का प्रतीक वृषभ उसका वाहन है। विष को वह न धरती पर जलाने के लिये बिखरा छोड़ता है और न उसे स्वयं ही पीता है। वरन् गले में अन्दर उल्टा लटका कर स्वयं नीलकण्ठ बनता है। ऐसा है यह महारुद्र—महाकाल।

इस महाकाल की अधिष्ठात्री शक्ति का नाम है- महाकाली। महाकाल एक तथ्य है- महाकाली उसका सक्रियता-क्षमता। सूर्य करोड़ों मील दूर आकाश में विद्यमान है, उसका लोक-लोकांतरकारी प्रभाव एवं प्रकाश का कार्य किरणें करती है। महाकाल को सूर्य कहा जाय तो महाकाली को किरण कह सकते हैं। तथ्य जो भी हो उसकी अनुभूति ही हमारे लिये प्रधान है। महाकाल के अस्तित्व की अनुभूति हम महाकाली द्वारा ही करते है। इसलिये उसे मां कह कर पुकारते हैं। महाकाल पिता अवश्य है पर उसके साथ हमारा सम्पर्क माता महाकाली द्वारा ही होता है। युग परिवर्तन में महाकाल की इच्छा एवं प्रेरणा अवश्य रहती है पर उसका प्रयोजन पूर्ण करने का वास्तविक श्रेय उस महान सक्रियता-काली को ही है। व्यक्ति समाज एवं विश्व का परिवर्तन करने के लिये जिस महाशक्ति का समय-समय पर महारास, अट्टहास, प्रलय-नर्तन होता है, उस विश्व मंगल की अभिनेत्री को महाकाली कहा जा सकता है।

पौराणिक गाथाओं में महाकाली की रोमांचकारी लीलाओं का वर्णन मिलता है। जब असुरता का बाहुल्य हुआ, पाप बढ़ा, दुष्टता पनपी और सृष्टि का समाज का संतुलन बिगड़ कर अभाव-अशान्ति एवं अविवेक का नारकीय विक्षोभ व्यापक हुआ तो महाकाली ने अवतार लेकर दुष्टता को ललकारा, युद्ध किया और धूल में मिला दिया। शान्ति की स्थापना के लिये जो अशान्ति उत्पन्न होती है वस्तुतः वह वही महा शान्ति है। इसीलिये दुर्ग अर्थात् काठिन्य को सरल करने का उत्तरदायित्व संवारण करने के कारण महाकाली को दुर्गा के नाम से भी पुकारा जाता है। शिव-अर्थात् कल्याण की यह दुर्गा-शक्ति अर्धाङ्गिनी है। यों नर-नारी के युग्म में आमतौर से नर को प्रधान और नारी को गौण माना जाता रहा है। पर यहाँ वैसा नहीं। शिव-शक्ति में शक्ति की प्रधानता है। शिव शब्द में प्रारम्भिक 'इ' की मात्रा को शक्ति माना गया है। यदि वह न रहे तो 'शिव' शब्द शव अर्थात् लाश मात्र होकर रह जाय। महाकाली के चित्र में शिव को भूमि पर पड़ा हुआ और उसकी छाती पर शक्ति को नृत्य करते हुए देखा जाता है। तात्पर्य यह है कि शिव को हृदय से समुचित उत्साह, उल्लास, शक्ति का नर्तन भाता है। यदि यह उपलब्धि उसे न मिले तो बेचारा साक्षी, दृष्टा, निर्विकार बन कर रह जाय।

महाकाल समय-समय पर अवतार लेता रहा है। युग परिवर्तन का प्रयोजन पूरा करने के लिये उसने समय-समय पर अनेक रूप धारण किये हैं तथा अनेक लीलायें की हैं। उनके बाह्य सब रूपों में भिन्नता रही है पर आन्तरिक उद्देश्य एक ही रहा है "परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्-धर्म संस्थापनार्थाय—संभवामि युगे-युगे।"

महाकाल की उग्रता का शमन करने, उसके अन्तस्तल को उल्लासपूर्ण करने, क्षमता को घटने न देने प्रक्रिया में व्यवधान न आने देने का कार्य महाकाली करती है। दोनों की मिली-जुली प्रक्रिया से यह महान् उद्देश्य पूर्ण होता है जिसके लिये-अवतरण हुआ था। विद्युत धारा में एक तार एक गरम-एक 'पौजेटिव' एक 'नेगेटिव' रहता है। यह सन्तुलन न रहे तो तारों में आग लग जाय और शक्तिशाली बिजलीघर भी अपना प्रयोजन पूर्ण न कर सके। महाकाल को अत्यधिक उग्र-रुद्र प्रयोजन पूरा करना पड़ता है। महाकाली उस प्रक्रिया को सुव्यवस्थित, संतुलित, शांत सौम्य एवं गतिशील बनाये रहती है। यदि ऐसा न हो तो वह अवतरण अति उष्ण होकर 'विस्फोट' का रूप धारण करले। शिवजी की प्रथम पत्नी दक्षा-सती जब तिरोधान हो गई तो उस अभाव की पूर्ति किये बिना काम न चला। उमा के रूप में उसकी पुनः प्रतिष्ठा करनी पड़ी।

महाकाली को-बोलचाल की भाषा मे महाक्रान्ति भी कह सकते हैं। यह विवेकशील प्रबुद्ध देव आत्माओं के सहयोग से संभव होती है। निराश बैठे देवताओं के शरीर में से थोड़ी-थोड़ी शक्ति निकाल कर उसके एकत्रीकरण से प्रजापति ने दुर्गा का निर्माण किया है। उसी ने (१) मधु-कैटभ, (२) महिषासुर एवं (३) शुंभ निशुंभ का वध किया। मधुकैटभ-अर्थात् मानसिक, दुर्बलता, दुष्टता,

भावनात्मक अव्यवस्था। महिषासुर- अर्थात् राजनैतिक उच्छृङ्खलता, नेतृत्व की दुष्ट दिशा, सत्ता का दुरुपयोग। शुंभ निशुंभ—अर्थात् सामाजिक और आर्थिक अव्यवस्था। संसार के यही तीन असंतुलन हैं। इन्हीं की गड़बड़ी से संसार में विविध विधि यातनायें सहनी पड़ती है। इस बिगाड़ को सुधार के रूप में परिणत करने के लिये (१) विचार क्रान्ति (२) राजनैतिक क्रान्ति (३) सामाजिक एवं आर्थिक क्रान्ति की आवश्यकता पड़ती है। महाकाली के इस अभिनव नर्तन एवं सृजन संहार के द्वारा ही अवतरण का अभीष्ट प्रयोजन पूरा होता है। महाकाल की इच्छा इसी प्रक्रिया से पूरी होती है।

यह अत्यन्त स्पष्ट है कि श्रेय महाकाल को भले ही मिले, उसकी मर्मस्थली महाकाली के ही हाथ रहती है। त्रेता में जब रावण कालीन दुष्टता का शमन अनिवार्य हो गया तो भगवान् राम के रूप में महाकाल का अवतरण हुआ। राम ने महत्त्वपूर्ण भूमिकायें सम्पादित कीं अनेक लीलायें कीं और अधर्म के स्थान पर धर्म की स्थापना में सफलता पाई। पर मर्म को समझने वाले जानते हैं कि उस महा अभियान की सफलता का सूत्र संचालन कौन कर रहा था ? दुहरा नेतृत्व पीछे था। कौशिल्या ने उनमें अपना अन्तःकरण निचोड़ कर उत्कृष्टता भरदी। कैकेयी ने वह परिस्थिति उत्पन्न की। उनका कार्य यद्यपि अप्रिय अरुचिकर और अनुपयुक्त लगता है तो भी उन्होंने साहस पूर्वक वह कार्य किया, जिससे अवतार अपना प्रयोजन पूरा कर सका। अन्यथा राम जैसे सुकुमार राजकुमार को वनवास में जाने, रीछ वानरों का सङ्गठन करने एवं लङ्का जैसे सुन्दर प्रदेश में पहुँचकर असुरता के केन्द्र को नष्ट-भ्रष्ट कर सकना कैसे सम्भव होता ? महाकाली ने कैकेयी के रूप में ही नहीं, सीता का रूप धारण करके भी अभीष्ट प्रयोजन साधा। वनवास में साथ रह कर उन्होंने राम के अन्तःकरण को उल्लासित करने और वियोग की हलचल देकर क्रान्ति का अन्तिम अध्याय पूर्ण करने की व्यवस्था बनाई। सीता का जन्म ऋषियों के बूँद-बूँद रक्त एकत्रित घड़े में हुआ था। उनकी लङ्का से वापसी का श्रेयादि वानरों को मिला। इससे स्पष्ट है कि क्रान्ति किसी एकाकी व्यक्ति के द्वारा नहीं वरन् जनसमूह के प्रबल सहयोग में ही सम्भव होती है। राम का यश वर्चस्व एवं प्रयोजन पूर्ण करने में सीता का कितना महान योगदान रहा इसका विश्लेषण मोटी दृष्टि से नहीं, सूक्ष्म तत्व विवेचन की क्षमता से ही सम्भव हो सकता है।

महाकाल ने जब द्वापर में कृष्ण अवतार लिया तो देवकी यशोदा का वात्सल्य, कुन्ती का प्रोत्साहन आदि आशीर्वाद, द्रौपदी की श्रद्धा और राधा के स्नेह सौजन्य ने मिलकर उस केन्द्र बिन्दु को हर दिशा से सींचा। राधा कृष्ण की सर्वत्र सम्मिलित पूजा होती है। दोनों में अनन्य आत्मीयता थी, एक दूसरे में विलीन थे। शिव और शक्ति का सन्तुलन इसी रीति-नीति से सम्भव था। फिर भी यह प्रणय पवित्र था। पति-पत्नी के रूप में दृष्टिगोचर होते हुए भी वे वासनात्मक दम्पत्ति से अत्यधिक ऊपर उठे हुए थे। रायण घोष कृष्ण जी के मामा थे। राधा विवाहित पत्नी थी। कथा है कि राधा का जब विवाह हो रहा था तब उनके पति रायण घोष ने नन्हें से बालक कृष्ण को दुलार वश गोदी में उठा लिया था। अग्नि परिक्रमा के समय भी उन्हें गोदी में लिये रहे। इससे स्पष्ट है कि राधा जी कृष्ण से काफी बड़ी थीं।

छोटे बालक का वासनात्मक प्रणय सम्भव नहीं। फिर कृष्ण ने मथुरा वृन्दावन छोड़ा है और सदा राधा वहीं बनी रही हैं, तब कृष्ण कुल १६ वर्ष के थे। आगे चलकर उनके कई विवाह भी हुए हैं। रुक्मणि, सत्यभामा, जाम्बवती आदि उनकी पटरानियाँ और कितनी ही रानियाँ थीं। यह सामान्य गृहस्थ जीवन हुआ। महाकाली राधा के रूप में अवतरित हुईं। उसने कृष्ण को इतना अधिक बल दिया कि तत्व दर्शियों ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि से राधा को ही कृष्ण की सहधर्मिणी माना और वे ही सर्वत्र कृष्ण के साथ सपूंजित है। पति-पत्नी का भाव आत्म-समर्पण एवं एक दूसरे को बल देने की दृष्टि में सर्वोपरि प्रेरणाप्रद है। इसके लिये वासनात्मक जीवन तनिक भी आवश्यक नहीं। राधा कृष्ण के जीवन में वैसी गंध कहीं भी नहीं है। गोपियों वाला महारास भी आध्यात्मिकता की गंभीर दृष्टि से देखा जाय तो उसमें उस उल्लास के विकास का ही प्रयोजन है जो किसी भी आत्मा को अत्यधिक प्रखर बना सकता है। नर-नारी के बीच जो अनावश्यक दीवार खड़ी कर दी गई है उसे महारास तोड़ता है। काम-चेष्टा रोकी जानी चाहिए पर नर-नारी के बीच पवित्र मिलन पर प्रतिबन्ध क्यों हो ? इसी समस्या का हल भगवान् कृष्ण ने रास रचा कर किया है। महारास इस प्रकार का एक महा-भाव था जिसके माध्यम से अवतरण अत्यधिक प्रखर एवं समर्थ बन सका।

मीरा ने पति के रूप में कृष्ण को वरण किया और उनके शरीर का कोई अस्तित्व न होने पर भी वहीं आनन्द

पाया जो प्रगाढ़ प्रेम के परे-पूरे दाम्पत्य जीवन में सम्भव है। इस प्रकार का प्रेम-प्रणय शरीर की समीपता की कोई अपेक्षा नहीं करता।

महाकाल ने बुद्ध के रूप में अवतार लिया। उनकी स्थानापन्न माता ने उन्हें मदालसा की भाँति बहुत कुछ सिखाया था। राजा गोपीचन्द की माता की तरह उनने भी बुद्ध के मर्मस्थल को स्नेह सम्मिश्रित वात्सल्य के साथ सींचा था। तपश्चर्या के लिये कुछ समय बुद्ध को अपनी धर्मपत्नी यशोधरा तथा बालक राहुल को छोड़ कर आत्म साक्षात्कार के लिये एकाकी जाना पड़ा। पर यह स्थिति अधिक दिन न रही। यशोधरा उनकी अनुगामिनी सहचरी होकर महाकाली की आवश्यकता पूर्ण करती रही। उनने महिलाओ में बुद्धत्व के जागरण का महान् उत्तरदायित्व अपने कन्धे पर उठाया और उसे आश्चर्यजनक सफलता के साथ निवाहा। बुद्ध को उससे भारी बल मिला, जो कमी थी वह चण्डी ने दूसरा रूप धारण करके पूरी कर दी। अम्बपाली विश्व विख्यात नर्तकी थी, पर उसकी मूर्छित आत्मा जब जागी तो उसने अपना गन्दा कलेवर उतार फेंका। अपना शरीर, मन-जीवन सब कुछ बुद्ध को समर्पण कर दिया और कुबेर जितनी विपुल सम्पत्ति उन्हीं के चरणों में अर्पित कर दी। इस अनुदान से तथागत को इतना अधिक बल मिला, जिसका वारापार नहीं। अवतरण का प्रयोजन-पूर्ण करने में अम्बपाली की आत्माहुति को कितना श्रेय दिया जाय, इसका मूल्यांकन करने की क्षमता साधारण व्यक्ति में नहीं हो सकती।

पिछले कुछ दिनों से ऐसी भ्रांति रही है कि नारी दोषों की खान है। उससे जो जितनी घृणा करता है, जितना दूर रहता है वह उतना ही बड़ा त्यागी या महात्मा है। यह मान्यता भारतीय दर्शन के सर्वथा विपरीत है। भारतीय धर्म वर्णाश्रम धर्म है। यहाँ ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास चार आश्रम हैं। चारों से घिरा हुआ जीवन नारी के सानिध्य से परिपूर्ण रहता है। शैशव में माता तथा उसी स्तर की मातृ-तुल्यायें अमृत बरसाती हैं। बहिनें सहचरी होती है। गृहस्थ में पति-पत्नी आत्म समर्पण करके द्वैत को अद्वैत में बदलते हैं। वान-प्रस्थ और संन्यास में भी पत्नियाँ साथ रहती हैं। प्राचीन काल के अधिकांश ऋषि, मुनि सपत्नीक जीवनयापन करते हुए अरण्य को विश्वमङ्गल के वरदान मे परिणत करते थे। ब्रह्मा, विष्णु, महेश से लेकर छोटा-बड़ा प्रत्येक देवता सपत्नीक है। नारी-त्याग का आध्यात्म के साथ सम्बन्ध जोड़ना परले सिरे की भ्रांति है। हाँ, उसका वासनापरक रमणी रूप हेय है। इस दोष-दृष्टि को आत्मबल सम्पन्न व्यक्ति आसानी से छोड़ सकते हैं। अभी-अभी हमारे देखते महात्मा गांधी ने भरे यौवन में ३३ वर्ष की आयु में अपनी स्त्री को वासनारहित देखना आरम्भ किया, कस्तूरबा को अपनी पुण्य सहचरी माना और वे दोनों इसी पवित्र सम्बन्ध को आजीवन निवाहते रहे। महाकाल और महाकाली का सहचरत्व वासनापरक निम्न-स्तरीय नहीं होता। इसलिये अवतरण के प्रयोजन में रथ के दो पहियों को साथ-साथ चलता हुआ यदि देखा जाता है तो उसमें आश्चर्य जैसी कोई बात तनिक भी नहीं है, वरन् यह स्वाभाविक ही नहीं आवश्यक भी रहता है।

पिछले सौ वर्षों के अन्दर भी महाकाल के कई छोटे भूमिका अवतरण हुए हैं। उनने युग परिवर्तन की महत्वपूर्ण भूमिका सम्पादित की है। समकालीन जनता समकालीन नर नारायणों का ठीक तरह मूल्यांकन नहीं कर पाती। वस्तुस्थिति का पता तो बहुत दिन बाद चलता है। ईसा को निरन्तर सताया और दुत्कारा जाता रहा, जिन्दगी भर में उनके केवल १३ अनुयायी बने जिनमें से एक तो उनकी जान का गाहक ही बन गया। अब २ हजार वर्ष बाद लोगों ने उनका मूल्य समझा है और संसार की ३ अरब जनसंख्या में से एक तिहाई-एक अरब-ईसा धर्म के अनुयायी बन गये हैं। प्रायः सभी देव-दूतो को उनके समय में निन्दा, विरोध, अपमान, उपेक्षा, उपहास एवं उत्पीड़न का भागी बनना पड़ा है। इसलिये इस शताब्दी में हुए महाकाल के अवतरणों का लोग ठीक तरह मूल्य और महत्त्व समझ नहीं पा रहे हैं। फिर भी वस्तुस्थिति यही है कि कई असाधारण आत्मबल सम्पन्न देवदूत पिछले दिनों अवतरित हुए हैं और उनने युग परिवर्तन की भूमिका का आश्चर्यजनक रीति से शिलान्यास किया है। महाकाल के इन खण्ड अवतारों के साथ महाकाली अपनी छाप बराबर बनाये रही है और सदा की भाँति धर्म स्थापना में अपना योगदान पूरी तरह देती रही है।

इन दिनों युग परिवर्तन की भूमिका सम्पादन के लिये जो चार खण्ड अवतार हुए हैं उनमें श्री रामकृष्ण परमहंस और योगी अरविन्द प्रमुख है। इन दोनों ने एक दूसरे से भिन्न प्रकार के कार्य किये है पर वे दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं। इन दोनों ने ही अपने ढङ्ग से तप किये है और सूक्ष्म आकाश को इतना प्रभावी प्रखर एवं उष्ण बनाया है जिससे इन्हीं दिनों कितने ही युगनिर्माता महापुरुष उत्पन्न हो सके। इतिहास के पन्ने पलटने पर प्रतीत होता है कि

भारत भूमि ने जितने उत्कृष्ट स्तर के एक साथ अनेक जन नेता इन पिछले सौ वर्षों में उत्पन्न किये हैं उतने चिरकाल से उत्पन्न नहीं हुए थे। भगवान बुद्ध के बाद पिछले २००० वर्षों में महापुरुषों का उत्पादन प्रायः रुक सा गया था।

इस अवरोध को दूर करने के लिये आध्यात्मिक प्रचंड शक्ति की सक्रियता आवश्यक थी, जो देव दूतों के द्वारा बहुत हद तक सम्पन्न की गई।

श्री रामकृष्ण परमहंस ने ज्ञानयोग की और अरविंद ने भक्तियोग की भूमिका सम्पन्न की। दोनों के प्रकाश से सूक्ष्म जगत में अत्यन्त हलचल उत्पन्न हुई और उसी के प्रभाव से जन मानस एक दिव्य आभा से आलोकित हो उठा। फलस्वरूप विपन्न परिस्थितियों में भी हमारे लिए राजनैतिक स्वाधीनता प्राप्त कर सकना असम्भव जैसा दीखने वाला कर्म भी सम्भव हो गया। उन्होंने अपने-अपने ढंग से तपश्चर्या करके वह वातावरण उत्पन्न किया जिससे कितने ही प्रखर जन नेताओं का उद्‌भव सम्भव हो सका।

परमहंस की तपश्चर्या ने अपने समय में बंकिमचन्द्र, महात्मा मालवीय, लोकमान्य तिलक, गोपाल कृष्ण गोखले, जस्टिस रानाडे, दादाभाई नौरोजी, केशव चन्द्र सेन जैसी अनेकों ज्ञात-अविज्ञात विभूतियों का सृजन किया। सन् १८५७ का गदर के नाम से विख्यात स्वातन्त्र्य युद्ध उन्हीं दिनों लड़ा गया। उस समय तात्याटोपे सहित नाना साहब और रानी लक्ष्मीबाई ने जो कुशल नेतृत्व किया उसकी सफलता इस अर्थ में है कि उस अभियान ने पराधीन मनोवृत्ति को उलट कर स्वातन्त्र्य आकांक्षी बना दिया। कितनी ही सुधारवादी धार्मिक एवं सामाजिक संस्थायें उन्हीं दिनों जन्मीं।

स्वामी विवेकानन्द रामकृष्ण परमहंस की ही प्रतिच्छाया थे। नास्तिक नरेन्द्र को उन्होंने अपनी शक्ति का बहुत बड़ा भाग दान देकर विवेकानन्द बनाया था। आर्थिक संकट में ग्रस्त असहाय युवक नरेन्द्र एक दिन दीन-हीन बना हुआ अन्य अनेक याचकों की तरह परमहंस से आशीर्वाद वरदान अपनी कठिनाइयों को हल करने के लिए माँगने आया था। उन्होंने इसे काली के पास भेज दिया कि जो माँगना हो उन्हीं से माँग लें। नरेन्द्र अर्थ याचना करने गया था पर माँ के सामने जाते ही उसकी भावना बदल गई और कहा—माँ मुझे ज्ञान दे, भक्ति दे, शक्ति दे और शांति दे। इनके अतिरिक्त मुझे और कुछ नहीं चाहिए। माँ ने उसे वही दिया और बालक आगे चलकर स्वामी विवेकानन्द बन गया। परमहंस ने एक दिन उसके ऊपर लात रख दी तो समाधि लग गई। अन्त समय उन्होंने अपना बहुत बड़ा आत्म-बल अपने इस उत्तराधिकारी को दे दिया। उसी क्षमता के बल-बूते वे देश-विदेश में भारतीय संस्कृति को प्रकाशवान, श्रद्धास्पद एवं पुनर्जीवित करने में समर्थ हुये। रामकृष्ण परमहंस के सम्पर्क में आने वाले लोगों को जो ज्ञान मिला है—उसका संग्रह पुस्तकों में है। उसे पढ़ने से पता चलता है कि वे व्यक्ति और समाज को उत्कृष्ट स्तर की ओर अग्रसर करने के लिए कितना महत्वपूर्ण अमृत बरसाते रहते थे। जिह्वा से निकलने वाली बैखरी वाणी से ही नहीं, उन्होंने मध्यमा, परा, पश्यन्ती वाणियों से भी वातावरण को ज्ञान आभा से दीप्तिमान किया। विवेकानन्द उन्हीं के उद्‌घोषक थे, जिन्होंने भारतीय जनता के मस्तिष्क को समुद्र मंथन की तरह विक्षुब्ध कर दिया।

परमहंस की शक्ति जिन उद्‌गमों, स्रोतों से मिलती रही है वे महाकाली की दो प्रतिमाऐं हैं। योगिनी भैरवी ने उन्हें अनेक गुह्य विद्याऐं छै वर्ष तक सिखाईं। अद्‌भुत तपश्चर्याऐं कराईं और वह क्षमता उत्पन्न कर दी, जिससे वे महाकाल का प्रयोजन अपनी सीमा मर्यादा के अनुकूल ठीक प्रकार पूरा कर सकें। दूसरी प्रतिमा उनकी धर्म पत्नी शारदा है, जिसने अपनी आत्मा की समस्त सरसता निचोड़ कर भावोन्मादी समझे जाने वाले रामकृष्ण की आत्मा को अमृत की तरह सींचा और वे सच्चे अर्थों में परमहंस हो गये। दोनों एक दूसरे को पूर्वजन्मों से जानते थे। चार वर्ष की बालिका शारदा जब परमहंस का कीर्तन देख रही थी तब उसने अपनी माँ से कहा था—यही महात्मा मेरा पति होगा। तब किसी ने उसकी बात पर ध्यान नहीं किया। रामकृष्ण युवा हो गये। उनके विवाह की चर्चा चली तो उनने घर वालों से कहा—व्यर्थ इधर-उधर समय नष्ट न करो मेरी सहचरी जयराम वाटी गाँव में है। जाओ वहाँ रामचन्द मुकर्जी के यहाँ उपयुक्त पात्री मौजूद है। ६ वर्ष की अबोध बालिका का विवाह २५ वर्ष के युवक के साथ होना लोकाचार की दृष्टि से अनुपयुक्त अवांछनीय है, पर व्यवस्था सहज ही बन गई और विवाह हो गया। संतानोत्पादक व्यवस्था के लिये आयु की समानता आवश्यक है पर जिन्हें इन कार्यों के लिए नहीं, आत्मोत्थान की अपूर्णता पूर्ण करने के लिए आत्माहुति देनी ठहरी और विवाह को घनिष्टता का प्रकटीकरण मात्र बनाना ठहरा उनके लिए आयु का कोई प्रश्न नहीं। आयु में २० वर्ष का अन्तर होते हुए भी वे दोनों आजीवन अनन्य आत्मीय होकर रहे। युवती शारदा और प्रौढ़ रामकृष्ण बहुत समय

तक एक ही कुटी में रहे। आत्मिक मिलन का उच्चस्तरीय आनन्द इतना उल्लासपूर्ण था कि वासनात्मक क्षुद्रता की ओर उनने आँख उठा कर भी नहीं देखा। प्राणतत्व का उद्वेग सूक्ष्म जगत में संव्याप्त 'रयि' तत्व मे शान्त होता है। शारदा शान्ति की देवी की तरह आई और उस महाप्राण महाकाल पर स्नेह सुधा की अनवरत वर्षा करके उनकी क्षमता अनुपम बनाये रही। कहने वाले कहते रहे—उपहास करते रहे कि बाबा जी ने ब्याह कर लिया और सपत्नीक रहता है। पर परमहंस ने किसी के कथन पर नहीं वस्तु स्थित पर ही ध्यान रखा। वे कहा करते थे—"यह शारदा है, सरस्वती है। ज्ञान देने आई है। यह मेरी शक्ति है।"

विवेकानन्द सांँस्कृतिक दिग्विजय के लिये जब अमेरिका पहुँचे तब श्रीमती जार्ज, डबल्यू हैल ने और इंग्लैड में कुमारी नोबुल ने उनको धर्म प्रचार कार्य में भारी सहायता की। अन्त में वह विवेकानन्द की शिष्या हो गई, उन्होंने हिन्दू धर्म ग्रहण किया, और भगिनी विवेदिता के नाम से प्रख्यात हुई। उन्होंने अपना जीवन ही विवेकानन्द के मिशन के लिए समर्पित कर दिया और भारत आकर एक साध्वी की तरह अनेक वर्षो तक भारतीय संस्कृति की महती सेवा करती रहीं और विवेकानन्द की उपयुक्त देखभाल करने में संलग्न रहीं।

महाकाल का दूसरा खण्ड अवतरण योगी अरविन्द के रूप में सामने आया। भारत के सांँस्कृतिक पुनरुत्थान के लिए उन्होंने आरम्भ में हिंसक क्रान्ति की योजना बनाई, पर जल्दी ही वे समझ गये कि इस महान प्रयोजन को शस्त्र बल नहीं आत्मबल सम्पन्न करेगा। वे न केवल अपने में वरन् समस्त समाज में आत्मबल उत्पन्न करने के लिए पाण्डुचेरी में एकाकी रहकर प्रचंड तप करने लगे। इस तप का अभीष्ट प्रभाव हुआ। गर्मी के दिनों में जिस प्रकार हवा गरम हो जाने से धूलि के बवंडर (वात-चक्र) घुमड़ते हुए फिरते हैं और जमीन पर पड़े हुए तिनके पत्तों को उड़ा कर आकाश में उठा ले जाते है इसी प्रकार उस तप की ऊष्मा ने सूक्ष्म वातावरण को गरम किया और साधारण स्तर के दीखने वाले कितने ही व्यक्ति देखते-देखते राष्ट्र का अद्‌भुत नेतृत्व करने लगे। सामान्य जनता में भी त्याग बलिदान की प्रचण्ड भावना जगी और उसने त्याग बलिदान का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किया।

अरविन्द युग मे कितने ही युग निर्माता पैदा हुए जिनमें महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, चितरंजनदास, लाजपतराय, सरदार पटेल, राजेन्द्र बाबू अनेक मुख्य हैं। ऐनी बीसेन्ट आयरश महिला थीं पर उन्होंने भारतीय स्वतंत्रता की ज्वाला जलाने में ऐतिहासिक भूमिका प्रस्तुत की। उन्होंने अपना सारा जीवन भारतीय पुनरुत्थान के लिए समर्पित कर दिया। सरोजिनी नायडू प्रभृति जन जागरण का बिगुल बजाने वाली महिलाओं की संख्या भी कम नहीं हैं। अहिंसक आन्दोलन की तरह भारत की हिंसक क्रान्ति भी अपने स्थान पर बड़ी शानदार रही है। वीरेन्द्रकुमार, रासबिहारी बोस, शचीन्द्र नाथ सान्याल, चन्द्रशेखर आजाद, भगतसिंह आदि के नाम बच्चे-बच्चे की जबान पर है। श्री दुर्गादेवी ने भारत के क्रान्तिकारी आन्दोलन को अपने स्नेहासिक्त एवं समर्थ व्यक्तित्व द्वारा जिस ढंग से सींचा उसकी तुलना करते नहीं बनती।

तपस्वी अरविन्द के महान उद्देश्य और प्रचंड तप का स्वरूप समझने के लिए फ्रान्स के महान दार्शनिक पालरिचार्ड पाण्डुचेरी गये थे। उन्होंने अभियान की महत्ता को समझा और अपनी धर्मपत्नी को उस एकाकी संत के लिए आवश्यक सुविधा प्रस्तुत करने के लिए आग्रहपूर्वक छोड़ दिया। पालरिचार्ड का वह अनुपम त्याग था। पतिभक्ता देवी ने पति साथ रह कर शरीर प्रयोजन पूरा करने की अपेक्षा विश्व मानव की सेवा में सतत उस ऋषि की सेवा का आदेश शिरोधार्य किया और वे पाण्डुचेरी में ही स्थायी रूप से बस गई। 'माता जी' के नाम से विख्यात परम श्रद्धास्पद यही महान महिला अरविन्द की शारीरिक मानसिक व्यवस्था बनाती रही और उनका उग्र तप निर्बाध गति से चलता रहे उसकी अभीष्ट सुविधा उत्पन्न करती रहीं। इतना ही नहीं, उन्होंने अरविन्द आश्रम के संचालन एवं इनके महान मिशन को सशक्त बनाने के लिये अपने को होम दिया। महाकाल के साथ महाकाली के अस्तित्व की इसे एक दिव्य झाँकी ही समझा जाना चाहिए।

महाकाल और महाकाली का श्रद्धा-विश्वास का रूप भावना क्षेत्र का एक युग्म कहा जा सकता है। संघर्ष और क्रान्ति के रूप में उनकी उग्रता देखी जा सकती है। त्याग और सेवा के रूप में यही युग्म व्यक्ति की उत्कृष्टता प्रकट करता है। प्रबुद्धों में उसे विवेक एवं निष्ठा के रूप में देखा जा सकता है। चरित्र और प्रीति के रूप में सभ्यता प्रतीक बनता है। शौर्य और कर्मयता के रूप में यही मानवता का प्रतिनिधित्व करता है। अनाचार के स्थान पर सदाचार की स्थापना, असंतुलन को बदल कर संतुलन की प्रतिष्ठापना करना इस युग्म का प्रधान प्रयोजन है। समय-समय पर

इस प्रयोजन की पूर्ति के लिए इस महायुग्म को विविध रूपों में विविध क्रिया कलाप सम्पन्न करते हुए अवतरित होना पड़ता है। सामयिक परिस्थितियाँ उसे तात्कालिक विधि व्यवस्था जुटाने के लिए प्रेरित करती हैं। इसलिए उनके क्रिया कलापों का उद्देश्य "परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्" एक होते हुए कार्य पद्धति सदा ही बदलती रहती है।

कोई व्यक्ति जन्मजात रूप से देवदूत नहीं होता। महाकाल और महाकाली उसे किसी विशेष अवसर पर अपना वाहन बनाते हैं और देह धारी के माध्यम से वे सूक्ष्म सत्ताएँ अपना काम करती हैं। अदृश्य शक्ति का क्रिया-कलाप किसी दृश्य माध्यम से ही चरितार्थ हो सकता है। इसलिए वह जिसे उपयुक्त पात्र समझती है, समयानुसार वरण कर लेती है। बाल्मीकि, अंगुलिमाल, अम्बपाली, सूरदास आदि का आरम्भिक जीवन निम्न स्तर का था। पर जब उस महाशक्ति ने उनमें प्रवेश किया तो उनको पूर्व भूमिका बदलते देर न लगी। आमतौर से ऐसा ही होता है। सामान्य स्तर के दीखने वाले व्यक्ति कई बार उपयुक्त अवसर पर अपनी पुरानी मान्यताओं, आकांक्षाओं और गति विधियों को सांप की केंचुली की तरह उतार फेंकते है और समीपवर्ती लोगों के उपहास एवं विरोध की परवा न करते हुए उत्कृष्ट युग परिवर्तन की भूमिका सम्पन्न करने के प्रयोजन के लिए, असीम साहस के साथ करवट बदलने लगते हैं तब समझना चाहिए कि इन नर-नारियों पर महाकाल महाकाली की दिव्य धारा अवतरित हो रही है। स्वर्ग से पृथ्वी पर उतरते समय भगवती सुरसुरी ने शिव जी की जटाओं को वाहन चुना था। समय समय पर कितने ही नर-नारी इन जटाओं का प्रयोजन पूर्ण करते है।

अगले दिनों सप्तऋषियों, उनकी सातों पत्नियों, शिवि, दधीच, हरिश्चन्द्र, प्रहलाद, ध्रुव, अंगद, हनुमान, भरत, लक्ष्मण, भीष्म, द्रौणाचार्य, अर्जुन, भीम, कर्ण, बुद्ध, महावीर, गाँधी, दयानन्द, जैसी आत्माऐं अवतरित होंगी। गार्गी, मैत्रेयी, भारती, कुन्ती, द्रोपदी, सावित्री, अनुसूया, मीरा, लक्ष्मीबाई, जैसी देवियाँ अवतरित होंगी। और उनके सहकार से महाकाल एवं महाकाली का महान उद्देश्य पूरा होगा।

अगले दस वर्ष अत्यधिक क्षोभ और संकट के हैं। इनमें अगणित प्रकार के त्रास मानव जाति को सहने पड़ेंगे ताकि सर्व साधारण की समझ में यह कड़ुआ पाठ भली प्रकार आ जाय कि स्वार्थ, छल, विलासिता एवं दुष्टता से भरा हुआ निष्ठुर जीवन लाभकर नहीं हानिकर है। यह तथ्य, उपदेशों से ही नहीं कटु अनुभवों से भी सीखा जाता है। अतएव दुष्टता पर उतारू मानव प्राणी के लिये इस प्रकार के कटु प्रशिक्षण एवं कठोर दंड विधान की भी प्रकृति व्यवस्था करती है। वैसी ही दंड नीति हमें अगले दस वर्षों में भोगनी पड़ेगी। साथ-साथ वह लोकशिक्षण एवं सृजनात्मक अभियान भी चलता रहेगा जिसके आधार पर उपयुक्त समय आने पर आवश्यक परिवर्तन सहज ही सम्भव हो सके।

वर्तमान काल में भी महाकाल का क्रिया-कलाप सुव्यवस्थित रीति से चल रहा है। पिछले दिनों अवतरित रामकृष्ण परमहंस योगी अरविन्द जैसी सत्तायें नहीं रहीं। पर उनका सम्मिलित तप तेज दूसरे शरीर में प्रवेश करके अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति की व्यवस्थाएँ जमा रहा है। महाकाली अपनी सहचरी नव दुर्गाओं को अवतरित कर रही हैं। पर उन्हें पहचान सकना समकालीन लोगों के लिए सम्भव नहीं। आज तो उन्हें सामान्य मनुष्य जैसा ही देखा-जाना जायेगा और अन्य देव-दूतों की तरह सताया चिढ़ाया जायगा। युग परिवर्तन की पृष्ठभूमि भीतर ही भीतर सुदृढ़ रूप से बन रही है। महाकाल की इच्छा अपूर्ण नहीं रह सकती। महाकाली अपना सृजनात्मक और संघर्षात्मक प्रक्रिया को प्रचंड करने में संलग्न है। अनेक प्रबुद्ध आत्माओं के भीतर प्रबल हलचल मच रही है और तुच्छ स्वार्थों का घेरा तोड़ कर साहसपूर्वक अनेक नर-नारी महाकाल और महाकाली की इच्छा पूर्ण करने के लिए उनके प्रकाश को आत्मसात् कर रहे हैं। वे आगे बढ़ेंगे ही, नवनिर्माण की ऐतिहासिक भूमिका सम्पादन करेंगे ही।

उद्धत दक्ष की मूर्खता और सती की आत्महत्या

राजा दक्ष चतुर बहुत थे, उनकी चतुरता इतनी प्रसिद्ध हो गयी थी कि लोग उनके इस गुण के कारण ही असली नाम भूलकर 'दक्ष' अर्थात् 'चतुर' नाम से पुकारने लगे। तप, त्याग के बलबूते नहीं, वे चतुरता के द्वारा ही ऊँचे पद पर पहुँचे थे। चतुरता परमार्थ प्रयोजन में लगे तो ही श्रेयस्कर है अन्यथा वह अनुपयुक्त दिशा में लगने पर संसार के लिये एक झंझट बन जाती है। इससे कुकर्मी चतुरों की तुलना में भले-भोले मूर्खों को मुक्त कण्ठ से सराहा जाता

है । जड़-भरत व्यवहार में बुद्धू थे, फिर भी उनका अन्तःकरण निर्मल था, उद्देश्य ऊँचा था अतएव उन्हें महान ऋषियों की गणना में गिना जाता है । दक्ष को प्रजापति का-शासक का उत्तरदायित्व मिल गया था, पर वे उस योग्य थे नहीं ।

दक्ष ने एक यज्ञानुष्ठान किया उसमें उनकी पुत्री सती बिना बुलाये भी आयी और उनने पिता को वह करने के लिये-उस मार्ग पर चलने के लिये कहा, जो उनके लिये शोभनीय था । दक्ष न माने अपने ही रास्ते चलते रहे । सती को मार्मिक आघात लगा और उसने आत्महत्या कर ली।

मनुष्य में चातुर्य बहुत है । इसी से तो वह सृष्टि का मुकुटमणि बना हुआ है । इस चातुर्य का उपयोग जब यह संकीर्ण एवं घृणित स्वार्थों की पूर्ति में निरंकुश होकर करता है, तो उसका निज का भी और समस्त समाज का भी घोर अहित होने लगता है । आत्मा उसे रोकती है, मनुष्यता की सीमा में रहने की पुकार करती है, पर जब अहंकारी जीव नहीं मानता अपनी दक्षता की धुन में किसी की नहीं सुनता, तो उद्धत आचरण से क्षुब्ध आत्मा एक प्रकार से नैतिक आत्महत्या कर बैठती है । सामाजिक दृष्टि से ऐसा उद्धत आचरण मनुष्यता को आत्म-हत्या करने के लिये विवश करता है। दक्ष के उद्धत आचरण से क्षुब्ध उसकी पुत्री सती ने आत्म-हत्या कर ली । पुराणों में ऐसा वर्णन मिलता है ।

सती, दक्ष की पुत्री थी पर विवाही भगवान शंकर को थी । सती अर्थात् सत् प्रवृत्ति, अर्थात्-नैतिकता, प्रबुद्धता, विवेकशीलता मनुष्यता । कल्याणकर्त्ता भगवान् शंकर उसे प्राणप्रिय रखते थे । उसी के साथ उनका आनन्द जुड़ा हुआ था । सती शिव की अर्द्धांगिनी बनी हुई थीं । अर्ध नारी नटेश्वर-शिव के शरीर का आधा भाग नारी और आधा नर जैसा चित्रित किया जाता है। इसका अर्थ है कि 'सती' (सत्वृत्ति) उनके अस्तित्व में इतनी अधिक घुली हुई है कि दोनों की सत्ता और महत्ता एक ही मानी समझी जा सकती है । सत् है वही शिव है । जो सत्प्रवृत्ति है वही भगवती है । सत्य ही नारायण है । मनुष्यता को भगवान् का प्रिय प्रत्यक्ष रूप कहा जाय तो यह उचित ही है । सती और शिव का जोड़ा ऐसा ही था ।

भगवान् शिव को जब यह पता चला कि दक्ष की उद्धतता इस सीमा तक बढ़ गयी है कि उनकी प्राणप्रिया सती को आत्महत्या करनी पड़ी है तो उनके क्षोभ का पारापार न रहा । वे सती के बिना रह नहीं सकते थे । सत्प्रवृत्ति को, मनुष्यता को, जिस चतुरता-दक्षता के कारण आत्महत्या करने को विवश होना पड़े उसके प्रति समर्थ शंकर को कुपित होना ही चाहिये । शिवजी ने अपने प्रतिनिधि स्वरूप वीरभद्र को काली, भैरव, नन्दी आदि गणों के साथ दक्ष की माया नगरी विध्वंस करने का आदेश दिया । वहाँ पहुँचते-पहुँचते उन गणों ने दक्ष और उसके स्वार्थी, पक्षपातियों का कचूमर निकाल कर महाविनाश का दृश्य उपस्थित कर दिया । दक्ष की नगरी वीरभद्र ने तोड़-फोड़ कर रख दी । भैरव ने प्रजापति के समर्थक सहयोगियों की बड़ी मिट्टी खराब की । नन्दी ने शासन शृंखला के सूत्रों को तोड़-फोड़ कर फेंक दिया । दक्ष की चतुरता धूल में मिल गयी । उसकी चिरसंचित कमाई देखते-देखते चूर्ण-विचूर्ण हो गयी । शंकर ने दक्ष को उसकी कुमार्गगामिता का उपदेश हटाकर वस्तुस्थिति का प्रकटीकरण करने की दृष्टि से इतना दण्ड देना आवश्यक समझा कि उसका मानवीय सिर काट कर बकरे का चिपका दिया । दक्ष का, चतुरता का वास्तविक स्वरूप यही था । वह हर घड़ी मैं-मैं बखानता था और वाचालता से प्रभावित कर लोगों को भुलावे में डालता था । यही दोनों गुण बकरे में होते हैं । वह हर घड़ी मैं-मैं की रट लगाता है, और अनर्गल शब्दोच्चारण की आदत से अपनी ओर दूसरों का ध्यान आकर्षित करता है ।

आज भी 'दक्षों' ने यही कर रखा है । वे तथाकथित चतुर लोग-समाज के मूर्धन्य बने बैठे व्यक्ति चतुरता तिकड़म को ही अपना आधार बनाये हुए हैं दूसरों के सहारे वे छल-बल से आगे बढ़े-ऊँचे उठे हैं । तप और त्याग का नाम भी नहीं, ऐसे मूर्धन्य लोगों का बाहुल्य व्यक्ति और समाज की आत्मा को कुचल-मसल रहा है । इससे मनुष्यता आत्म-हत्या जैसी स्थिति में जा पहुँचती है । यह स्थिति महाकाल को असह्य है । सदाचरण में ही भगवान् के संसार की शोभा है । वे हरी-भरी फली-मानवता में ही मोद मनाते हैं । यह सती ही उसकी सहचरी है। इसे जो आघात पहुँचाता है वही भगवान का बड़ा शत्रु है । स्थिति जब असह्य हो जाती है, तब महाकाल को अपना ध्वंस शस्त्र प्रयुक्त करना पड़ता है । दक्ष की सारी शासन सत्ता विधि व्यवस्था नन्दी गणों ने देखते-देखते विध्वंस के गर्त में फेंक दी थी । आज का मानवीय चातुर्य-जो सुविधा साधनों की अभिवृद्धि के अहंकार में-अपनी वास्तविक

राह छोड़ बैठा है, उसी दुर्गति का अधिकारी बनेगा जैसा कि दक्ष का सारा परिवार बना था।

मृत सती की लाश को कंधों पर रख कर रुद्र उन्मत्तों की तरह विचरण करने लगे। उनके शोक का बारापार न था। ऐसा विकराल और रुद्र रूप देख दशो दिशायें काँपने लगीं। सती के-सत्प्रवृत्ति के न रहने की स्थिति उन्हें असह्य थी। आपे से बाहर होकर वे हुँकारें भरने लगे। उनके श्वांस-प्रश्वांस से अग्नि की भयानक लपटें निकलने लगीं। उनचासों पवन, आँधी, तूफान बनकर स्थिति को प्रलय में बदलने का आयोजन करने लगे।

देवता काँपे। स्थिति विषम हो गयी। विचार हुआ। सृष्टि के पालक और पोषक विष्णु आगे आये। उन्होंने चक्र सुदर्शन से सती के मृतक शरीर को ग्यारह हिस्सों में काट दिया। वे टुकड़े दूर-दूर फेंके गये। सती मर तो सकती नहीं, वे अमर हैं। आत्म-हत्या की थी पर उनकी सत्ता नष्ट कैसे होती। यह ग्यारह टुकड़े जहाँ भी गिरे वहाँ एक एक शक्ति-पीठ की स्थापना हुई। संसार में ग्यारह शक्तिपीठ प्रसिद्ध हैं। हर जगह एक नयी सती उत्पन्न हुई। शिव अपनी सहधर्मिणी को, ग्यारह गुनी विकसित पाकर सन्तुष्ट हो गये और ग्यारह रुद्रों के रूप में पुनः आनन्द पूर्वक अपने नियत नियमित कार्य में लग गये। १ और १ के अंक समीप आ जाने से ११ बन जाते हैं। शिव और सती का-परमात्मा और सत्प्रवृत्ति का सुयोग जब कभी भी-जहाँ कहीं भी-होगा वहीं एक और एक मिलकर ग्यारह होने की उक्ति चिरतार्थ होती है। शिव सती का सौम्य समन्वय एकादश शक्ति पीठ और एकादश रुद्रों का आनन्द उत्पन्न करता हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?

पौराणिक गाथा की पुनरावृत्ति उसी घटना-क्रम के साथ फिर सामने आ रही है। दक्षों ने हर क्षेत्र के नेतृत्व पर अपना आधिपत्य किया हुआ है। समाज के मूर्धन्य बने व्यक्ति न अपना व्यक्तित्व उत्कृष्ट बना रहे हैं और न आदर्शवादिता की प्रवृत्ति बढ़ने दे रहे हैं। जन-साधारण बड़ों की देखा-देखी हेय स्तर पर अधःपतित होता चला जा रहा है। मनुष्यता मर रही है। सत्प्रवृत्तियाँ मूर्छित पड़ी है। लगता है सती ने आत्म-दाह कर लिया है। यह स्थिति महाकाल को असह्य है, उनकी सारी प्रसन्नता सती के साथ-सत्प्रवृत्ति के साथ जुड़ी हुई है। इस आत्महत्या के लिये जो भी दोषी होंगे उन्हें रास्ते पर लाने के लिये कड़ा पाठ पढ़ाने की आवश्यकता पड़ती है तो रुद्र उसकी व्यवस्था करना भी जानते हैं। उनके भैरव वीरभद्र और नान्दीगण उथल-पुथल और तोड़-फोड़ कला में प्रवीण हैं। सम्भवतः अशान्ति से शान्ति उत्पन्न करने का प्रकरण फिर दुहराया जाय। महायुद्ध-गृहयुद्ध, प्रकृति प्रकोप जैसे वीरभद्र सम्भवतः मनुष्य को कुमार्ग पर जा रही दक्षता को पुनः पीछे लौटने और रास्ते पर लगने के लिये विवश करें। सम्भव है आज जिस अनैतिक चतुरता को सर्वत्र सराहा जाता है कल उसी को बकरे के मुँह वाली बकवासी, अहंकारी बताकर तिरस्कृत और बहिष्कृत किया जाय।

आज अनैतिक चतुरता ने समस्त समाज को अस्त-व्यस्त और त्रस्त कर दिया है, जो हरकतें न्याय-नीति की दृष्टि से स्पष्टतः घृणित और निन्दनीय हैं, वे ही खुले आम दुहराई जा रही हैं और जनता तथा सरकार दोनों उसका निराकरण करने में अपने को असमर्थ पा रहे हैं। मालूम होता है कि इस उच्छृंखलता को मिटाने के लिये दैवी शक्ति को ही कोई योजना करनी पड़ेगी।

महाकाल का विक्षोभ एक ही तरह शान्त हुआ था-एक ही तरह शान्त हो सकता है, उनकी प्राणप्रिय सती को पुनः पुनर्जीवित किया जाय। सती के शव से एकादश सतियाँ प्रादुर्भूत हुई थीं, ग्यारह शक्ति पीठ बने थे। हम मानवता के उन्नायक अगणित शक्ति केन्द्र ऐसे स्थापित करें जो भगवान् शिव के संसार को सुरम्य, सुविकसित और सुसंस्कृत बनाये रखने में समर्थ हो सकें। रुद्र कोप से बचने का यदि कोई समाधान होगा तो वह उसी स्तर का होगा जैसा कि उपरोक्त पौराणिक उपाख्यान के अनुसार अतीत काल में होकर चुका है।

रावण का असीम आतंक अन्ततः यों समाप्त हुआ

एक नगरी थी लंका। जिसका राजा था अहंकार, प्रपंच, स्वार्थ और वासना का प्रतिनिधि-रावण। रावण की नीति थी-अपने असीम स्वार्थों की असीम पूर्ति और उसके लिये हर किसी का उत्पीड़न। उदारता उसके पास नाम को भी न थी। अपने सारे शरीर-बल, बुद्धि-बल और परिवार-बल का उपयोग वह दूसरों को आतंकित करने और मनमानी बरतने में करता था। इस प्रकार की अनीति का मार्ग अवलम्बन करने वाले आरम्भ मे फूलते-फलते भी देखे गये है। रावण भी खूब फूला-फला था। उसका कुटुम्ब परिवार बढ़ा। कहते है कि एक लाख पूत और सवा लाख नाती उसके थे। यह तो उसका निजी परिवार था। एक से एक बड़े मायावी साथी उसके थे।

त्रिजटा जो अनेक रूप बना सकती थी, मारीच जो अनेक वेष बदल सकता था, कुम्भकरण जिसके योजनों लम्बे नाक-कान थे, दूर की बातों को सूँघ, सुन सकता था, मेघनाद, खरदूषण, सुबाहु आदि अगणित पराक्रमी उसके साथ थे। आतंकवादी के साथी कितने ही हो भी जाते हैं। इस सहयोग, साझेदारी में ही दुष्ट दुरात्माओं को लाभ दिखाई पड़ता है। सो रावण का परिवार बढ़ा और देखते-देखते लंका सोने की बन गयी। लंका में वरुण पानी भरते थे, पवन बुहारी लगाते थे, अग्निदेव भोजन पकाते थे। निदान सभी देवता बन्धन में बँधे विवश उसकी नगरी की सेवा सुश्रुषा में जुटे रहने लगे। संसार में सर्वत्र रावण और उसकी नगरी की ख्याति फैल गयी। सर्वत्र अन्धकार छा गया। लोग इस आतंक से दुःखी तो बहुत थ पर उपाय सूझ न पड़ता था। निराशा छाई हुई थी। दुर्दैव को कोसने के अतिरिक्त किसी से कुछ बन न पड़ रहा था।

अविवेक को उद्धत आचरण करने का अवसर मिलता है और वह सफल होता चलता है तो उसका आतंक फैलना स्वाभाविक है। आतंक के आगे दुर्बल नतमस्तक होने में अपनी खैर मनाते हैं और दुष्ट उसमें सम्मिलित रह कर साझेदारी का अधिक लाभ पाने की नीति अपनाते हैं। व्यक्ति हो चाहे तथ्य, चलते इसी मार्ग पर हैं। फलतः अनाचार का रावण जब भी अवसर मिलता है अपना साम्राज्य व्यापक बना लेता है। मायावी साथियों की इसे कमी नहीं रहती। सोना खिंच-खिंच कर उन दुरात्माओं की नगरी-केन्द्र भूमि में ही इकट्ठा होने लगता है। पूँजीवाद की बढोत्तरी साधारण जनता को जर्जर करके रख देती है। यही रावण-राज्य का स्वरूप है। वह ऐतिहासिक भी हो सकता है और तथ्यात्मक भी। त्रेता युग के रूप में वह आज भी जीवित है। अविवेकजन्य अनाचार की तूती आज भी बोल रही है। व्यक्ति और समाज सभी उसके आतंक राज्य में नतमस्तक खड़े हैं।

बुद्धिवादी और समर्थ लोगों ने इसका विरोध करके अपने को झंझट में डालने की अपेक्षा साझेदारी का रास्ता अपना लिया है। एक-से एक बड़े मायावी मारीच और खरदूषण इस आतंक राज्य में सम्मिलित हो गये है। प्राचीन काल में रावण राज एक शासन तंत्र में केन्द्रीभूत था। आज उसने बौद्धिक विकृति का रूप धारण कर जन-मानस को सम्मोहित और आतंकित किया है। लोगों के सोचने और करने की दिशा उसी ओर बह रही है-जिस ओर वह उद्धत अविवेक अपनी सफलताओं का दर्प दिखाता हुआ-बहने और चलने के लिये विवश करता है। स्वतंत्र विवेक को लोग खो बैठे हैं, अनुपयुक्त ढर्रे की लकीर पर अपना जीवन रथ चला रहे हैं फिर वह चाहे दुर्गति के गर्त में गिरने ही क्यों न जा रहा हो? आज की भावनात्मक नैतिक और सामाजिक परिस्थितियों के मूल में लगता है अमूर्त रावण का ही आतंक राज्य प्रतिष्ठापित हो रहा है। सोने की नगरी-लंका हर किसी का लक्ष्य बनी हुई थी। धन के वैभव के अतिरिक्त और किसी की कुछ चाह है ही नहीं। प्रकाश का उपहास करने वाले-अन्धकार में सुख-सन्तोष मनाने वाले निशाचरों की सेना वर्षा के उद्‌भिजों की तरह दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती चली जा रही है। इन परिस्थितियों में मानवता को संत्रस्त होना ही पड़ेगा, दुःख दारिद्र्य और शोक संताप ही तो रावण राज्य की उपलब्धियाँ हैं।

मनुष्य मूर्ख तो है, पर विचारशून्य नहीं। लोगो में से डरपोक तो बहुत हैं पर साहस और शौर्य का सर्वथा अन्त कभी नहीं होता। स्वार्थियों और संकीर्ण स्तर वालों का बाहुल्य सदा रहा है, पर लोक-मंगल को जीवन का लक्ष्य बनाने वाले सत्पुरुषों से धरती माता की गोदी सर्वथा सूनी नहीं होती। व्यक्ति और समाज की दुर्दशा से क्षुब्ध होने वाले और उन विकृतियों का सुधारात्मक उन्मूलन करने के लिये ऐसी अन्धेरी परिस्थितियों में ज्योति किरण की तरह सब कुछ आत्मायें जन्मती हैं और उस विपन्नता से जूझ पड़ती हैं। साधन स्वल्प होते हुए भी वे सदुद्देश्य का समर्थन करने के कारण दैवी शक्ति का अनुग्रह प्राप्त करती हैं और अन्ततः लोग साधनहीन विवेक को विजयी और साधन सम्पन्न अविवेक को परास्त हुआ देखते हैं।

ऐसा ही रावण काल में भी हुआ। लोक-मंगल में अभिरुचि रखने वाले बुद्धिजीवी, ऋषि मुनि-एकत्रित हुए और उनने विचार किया कि विश्व वसुधा को शोक संताप में डुबा देने वाली इस विपन्न परिस्थिति का अन्त कैसे हो?

सब ने एक मत से स्वीकार किया कि सत्पुरुषों की सम्मिलित शक्ति, महाकाली ने ही आदि काल में असुरता से लोहा लिया था और वही अब रावण युग का अन्त करने में समर्थ होगी। उन्हे पता था कि एक समय जब असुरता से परास्त देवताओं के पास आत्म-रक्षा का कोई उपाय शेष न रहा, तो वे प्रजापति की शरण मे गये थे। प्रजापति ने सब देवताओं की थोड़ी-थोड़ी शक्ति को लेकर इकट्ठा किया; उस सामूहिक शक्ति-पिण्ड मे प्राण फूँका तो भगवती दुर्गा-महाकाली प्रकट हुई थी। उसने अपनी

हुँकार से दशों दिशाओं को कँपा दिया और असुरों को लड़ने के लिये ललकारा।' असुर लड़ने आये तो महिषासुर (अहंकार) मधु कैटभ (लोभ) और शुम्भ-निशुम्भ (व्यामोह) तीनों ही दुर्दान्त दैत्यों को उस महाशक्ति के हाथों प्राण गँवाने पड़े थे। एकत्रित ऋषियों ने कहा अब भी वही स्थिति है और वही उपाय व्यापक असुरता से एक-एक करके लोहा नहीं लिया जा सकता। उसे हटाना मिटाना हो तो सम्मिलित संगठित शक्ति का आयोजन करना होगा।

मत निश्चित हुआ। हर प्रबुद्ध व्यक्ति ने अपना-अपना रक्त, अपना-अपना योगदान दिया और उस अगणित रक्त बिन्दुओं से भरे घड़े को जमीन में गाढ़ दिया गया। घड़ा पकता रहा, जब उसमें सजीव महाशक्ति महाकाली-परिपूर्ण रूप में बनकर तैयार हो गयी, तो प्रश्न आया इसे सम्भाले कौन, इसका उद्घाटन कौन करे ? उपयुक्त व्यक्ति की तलाश की गयी, तो वह निकले राजा जनक। कर्मयोगी-ब्रह्मज्ञानी जनक राजा तो थे, पर रोटी अपना पसीना बहाकर, खेती करके कमाते थे। प्रजा की सेवा तो करते थे पर उससे पारिश्रमिक नहीं लेते थे। सम्पत्ति तो क्या देह को भी अपना न मानते थे और जो कुछ उनके पास था उसे जनता की सम्पत्ति मान कर चलते थे इसीलिये लोग उन्हें विदेह भी कहते थे। ऐसे ही नर-रत्न महाक्रान्ति के सफल संचालक, पोषक एवं पिता, प्रणेता बनने के अधिकारी हो सकते हैं। कथा है कि जनक जब कृषि कर्म में निरत थे तो हल की नोंक से वह घड़ा टकराया और उसमें से बैठी कन्या बाहर निकली। जनक ने उसे उठाया और छाती से लगा लिया। उसका नाम रखा सीता हल की नोंक से हलवाहे और श्रमिक ने जिसे उगाया-उपजाया हो उस युग प्रवृत्ति का सीता के नाम से सर्वसाधारण ने परिचय पाया।

सीता जनक के घर में पली, खेली और बड़ी हुई। अब वह विवाह योग्य हो चली थी। जनक इस विचार में मग्न थे कि इसका विवाह किस वर्ग के, किस प्रकृति के, किस योग्यता के, किस स्तर के व्यक्ति से किया जाय ? इतने में सीता ने इशारे में अपने पिता के सम्मुख वह हल उपस्थित कर दिया। जनक के घर महाकाल शिव का एक पुराना धनुष सुरक्षित रखा था। सीता ने उसे एक घर के कोने से उठाकर दूसरे कोने में रख दिया। मानों पिता को संकेत किया हो कि अब धनुष के प्रयोग का, सार्वजनिक संघर्ष का समय आ गया। कोई ऐसा धनुर्धर ढूँढा जाय जिसका स्तर, साहस और आत्म-बल महाकाल के इस महाविनाशक अस्त्र को धारण कर सकने योग्य हो। उस युग की यही तो सबसे बड़ी आवश्यकता थी। उसे जो पूरा कर सके वही तो महाशक्ति को धारण एवं वरण कर सकता है। वह अनादि काल में ही अपनी पसन्दगी घोषित कर चुकी है-

यो मां जयति संग्रामे, यो मे दर्पो व्यमोहति।
यो मे विजयते लोके, स मे भर्ता भविष्यति ॥

अर्थात् जो मुझे संग्राम में जीते जो मेरा दर्प सम्भाले, जो विजयी करने की क्षमता रखे, वही मेरा पति होगा। महाशक्ति सीता को जो धारण कर सके और शिव पिनाक को उठाकर असुरता के विरुद्ध उस पर शर सम्भाल सके ऐसा वर ढूँढा जाय। निदान स्वयंवर रचाया गया। राम इस कसौटी पर खरे उतरे। दूसरे विवाहेच्छुक वैभवशाली तो बहुत थे पर उनमें राम जैसा आत्म-बल न था, अतएव इतना बड़ा उत्तरदायित्व उठाने में समर्थ न हो सके। राम ने शिव धनुष उठा लिया। सीता की विजय माला उन्हीं के गले में पड़ी। शक्ति और शिव का द्वैत मिटकर जब अद्वैत हो गया तब इस काल धारा का प्रवाह फूटा जो युग परिवर्तन के लिये अभीष्ट था।

राम सीता का विवाह गृहस्थोपयोग के लिये नहीं, किसी प्रयोजन के लिये एक अपूर्णता को पूर्णता में परिवर्तित कर समय की महती आवश्यकता सम्पन्न करने के लिये हुआ था। सो कुछ ही दिन बाद परिस्थितियों ने मोड़ ले लिया। वनवास की तैयारियाँ हुई और सीता समेत राम-लक्ष्मण वनवास के लिये चल दिये। सीता हरी गयीं और वे लंका पहुँचीं। उनका पदार्पण लंका की काया पलट करने के लिये था। वहाँ आतंक का उद्गम बदलकर ज्ञान और भक्ति के प्रतीक विभीषण को प्रतिष्ठापित किया जाना था। भगवती ने इसी के लिये अभीष्ट परिस्थितियाँ विनिर्मित कीं। सिया हरण न होता तो शायद लंका का कायाकल्प भी न हो पाता। राम ने संस्कृति-सीता के अपहरण को असह्य माना और वे दुर्दान्त रावण को परास्त करने के लिये कटिबद्ध हो गये।

राम के पास कोई सेना नहीं थी। परदेश में मामूली-सा धनुष बाण लिये दोनों भाई वनवासी की तरह घूम रहे थे। आतंक के विरुद्ध न लड़ने के लिये साधन थे, न सुविधा, न परिस्थिति थी, न व्यवस्था। पर उन्होंने हिम्मत नहीं हारी और अकेले अपने मार्ग पर बढ़ चले। सचाई और न्याय का लोग समर्थन तो करना चाहते हैं, पर तब, जब किसी पर्वत जैसे ऊँचे, भारी और सुदृष्ट व्यक्तित्व का नेतृत्व

मिले। राम इन्हीं विशेषताओं के प्रतीक थे। उन्होंने समर्थ लोगों में अपने महान अभियान का संदेश पहुँचाया और सहयोग की याचना की, पर न तो एक भी भूपाल काम आया और न धनपति। वे तो विजयी के साथ होते है क्योंकि उन्हीं की सहायता से उन्हें लाभ रहता है। दुर्बल दीखने वाले को सहायता देने में उन्हें अपना भौतिक लाभ तो दीखता नहीं, ऐसी दशा में घाटे का सौदा करें भी क्यों? अमीरी अपना बचाव पहले देखती है। सत्य और न्याय से उसे सहानुभूति भले ही हो पर सहायता तो सफल और समर्थ की ही करना लाभदायक होता है। इस प्रत्यक्ष तथ्य की वह उपेक्षा कैसे करें ? सो राम की पुकार व्यर्थ चली गयी। एक भी समर्थ जन को उनका साथ देने का साहस नहीं हुआ।

राम ने गरीबों का द्वार खटखटाया और उन्हें बताया कि थोड़ी-सी सुविधायें भोगते हुए आराम की निर्जीव जिंदगी काटने की अपेक्षा अधर्म से लड़ने और धर्म को प्रतिष्ठापित करने के ईश्वरीय प्रयोजन में सहयोग देते हुए मर जाना श्रेयस्कर है। मजेदार जिन्दगी की तुलना में शानदार जीवन उत्तम है। सो यह बात रीछ-वानरों की समझ में आ गयी। भले और भोले लोग चतुर और समर्थ लोगों की अपेक्षा ईश्वर के अधिक निकट होते है, सो ईश्वरीय सन्देश उन्हीं को प्रभावित करता है। रीछ-वानरों ने घर, शरीर और सुविधाओं का मोह छोड़ा और वे सच्चे सूरमाओं की तरह निहत्थे होते हुए भी युग दानव के विरुद्ध संघर्ष में कूद पड़े। दीखता यही था कि शायद इतना बड़ा आतंक पराजित न हो सके, शायद हम साधन विहीन लोग ही इस संघर्ष में खेत रह जायें, पर उनकी आत्मा ने कहा- न्याय और औचित्य के लिये लड़ने का प्रयत्न अपने आप में एक बहुत बड़ी विजय है, इस संघर्ष का हर कदम धर्म सैनिक की सफलता है। भौतिक विजय या पराजय के झंझट में क्यो पड़ा जाय ?

राम-रावण का ऐतिहासिक युद्ध होने की तैयारी हो गयी। बाधाओं का सेतु बाँधना था। नल-नील ने रीछ, वानरों की सहायता से पत्थर के टुकड़े जुटाये और जल पर तैरने वाला पुल बनाने की तैयारी की। भगवान् राम ने कहा-भौतिक साधन तो जुटाने ही चाहिये पर परिवर्तन के देवता महाकाल को भी साथ ले लेना चाहिये। क्योंकि सूक्ष्म रूप में उन्हीं की शक्ति बड़े प्रयोजन को सम्पन्न करती है। सच तो यह है कि हम सब उन्हीं की प्रेरणा से इतना दुस्साहस कर सके है और आगे उन्हीं के संकेतों पर चलते हुए अभीष्ट उद्देश्य की प्राप्ति में सफलता प्राप्त करेंगे। सेतुबन्ध के स्थान पर भगवान राम ने अपने ईश्वर मार्ग-दर्शक रामेश्वर-महेश्वर-महाकाल की प्रतिष्ठापना की और आराधना अर्चा के साथ आत्म-समर्पण करते हुए कहा- "हे महान् ! आपकी इच्छा पूर्ण हो, हम सब आपकी भृकुटि संकेतों पर बलिदान होने के लिये खड़े हैं" महेश्वर ने उन्हें आशीर्वाद दिया और कहा- "मेरा प्रयोजन पूर्ण करने में संलग्न बालकों ! तुम्हें श्रेय मिलेगा, यशस्वी होगे और उज्ज्वल नक्षत्रों की तरह अनन्त काल तक चमकोगे। मेरी विजय, तुम्हारी विजय गिनी जायगी।" महाकाल के आशीर्वाद ने राम दल का साहस सैकड़ों गुना बढ़ा दिया।

बूढ़ा जटायु जानता था कि मेरी शक्ति स्वल्प है, रावण से जूझने का क्या परिणाम हो सकता है, वह भी उसे विदित था, फिर भी उसने सोचा जीवन की इससे बड़ी सार्थकता और सफलता दूसरी नहीं हो सकती कि उसका उपयोग न्याय-धर्म की रक्षा करने और लोकमंगल के अभिवर्धन में हो सके। इस अनुपम अवसर को वह दूरदर्शी चूकने वाला न था, सो रावण से लड़ पड़ा और मारा गया। हो सकता है किसी कायर पर इसका बुरा असर पड़ा हो और कुछ उमंग उठ रही हो तो इस प्रकार की हानि उठाने से बचने के लिये डर कर अपना हौसला खो बैठा हो। पर दुनियाँ में सभी तो डरपोक नहीं है, कुछ ऐसे भी है जिनका शौर्य अवसर आने पर ही उभरता है। जटायु जैसी यशस्वी मौत पाने के लिये अनेकों दिल वालों के दिल छाती की ठठरी में छिपे रहने की अपेक्षा बाहर निकल कर दो-दो हाथ दिखाने और कुछ कर गुजरने के लिये मचलने लगे।

इन्हीं दिल वालों में से थी-एक गिलहरी। उसने सोचा मैं बहुत छोटी जरूर हूँ-साधन विहीन भी, पर इससे क्या आखिर मैं कुछ तो हूँ ही और जो कुछ वह है उसे लेकर लोक मंगल के लिये, आत्म बलिदान करने के लिये मातृ मन्दिर में जा पहुँचने का अधिकार हर किसी को है-सो मै ही क्यों सकुचाऊँ। जितना ईश्वर ने दिया है उसी को लेकर उसके आगे आत्म-समर्पण क्यों न करूँ ? गिलहरी को एक सूझ आई। वह अपने बालों में धूलि के थोड़े से कण भर ले जाती और समुद्र में छिड़क आती। उसका यह अनवरत श्रम देखकर-देखने वालों ने हैरत में भरकर उससे पूछा- "आखिर यह सब क्यों कर रही हो, इसका क्या परिणाम होने की आशा है।"

गिलहरी ने कहा-"राम समुद्र पार जाकर रावण से लड़ने खड़े हैं । नल, नील समुद्र पर पुल बनाने में जुटे हैं, हनुमान समुद्र को छलाँग चुके, फिर क्या इस बाधा के सागर को पाटने में मेरा कोई योगदान न होना चाहिये ? छोटी हूँ तो क्या, बालों में थोड़ी बालू भरकर समुद्र में डालती रहूँगी तो आखिर इस बाधाओं के सागर को कुछ तो पाटा ही जा सकेगा । इस छोटे से प्रयत्न से कितने समय में क्या परिणाम होगा, यह सोचना मेरा काम नहीं । सचाई के समर्थक एक ही बात जानते हैं-जो अपने पास है उसे लेकर आगे बढ़ना और निष्ठापूर्वक सतत् संघर्ष में अपनी अन्तिम बूँद समर्पित कर देना । सो ही तो मैं कर रही हूँ।"

बहस आगे नहीं बढ़ी । पूछने वाले को उसी के एक साथी ने यों कहकर चुप कर दिया कि-'उस टिटहरी की कथा याद करो, जिसने अपने अण्डे बहा ले जाने के अपराधी समुद्र से लोहा लिया था और चोंच में बालू भरकर उसे पाटने का दुस्साहस किया था । जानते नहीं ऐसे दुस्साहसी भगवान का सिंहासन हिला देते हैं और उनकी सहायता में उन्हें नंगे पैरों आना पड़ता है । टिटहरी के समर्थन में अगस्त ऋषि आये थे और उनने तीन चुल्लू में सारा जल पीकर अभिमानी समुद्र को इस बात के लिये विवश किया था कि अपने अनीति भरे कदम वापस ले ले। जीत जब टिटहरी की ही रही, तो यह गिलहरी अपने लक्ष्य तक क्यों न पहुँच सकेगी ।' पूछने वाला निरुत्तर था, निदान बहस बन्द हो गयी और गिलहरी का अभिनन्दन करने राम उसके पास पहुँचे और अपने श्यामल हाथों की उँगलियाँ उसकी पीठ पर फेर कर एक ऐसा स्मृति पदक प्रदान किया जो हर छोटे समझे जाने वाले, साधन हीन की हिम्मत अनन्त काल तक बढ़ाता रहेगा । कहते हैं कि तभी राम द्वारा फेरी हुई उँगलियों की रेखायें अभी भी उस गिलहरी के वंशजों की पीठ पर एक शानदार पदक की तरह अंकित हैं ।

जो हो राम, रावण युद्ध होकर रहा । एक से बढ़कर एक आतंकवादी असुर उस संग्राम में भूमिशायी हो गये। सोने की लंका जल-बल कर खाक हो गयी। रामराज्य की स्थापना हुई और उसका विजयोत्सव-विजया-दशमी बड़े ठाट-बाट से मनाई गयी । सभी क्षेत्रों ने आश्चर्य किया-भला इतना साधन-सम्पन्न रावण सपरिवार इतनी आसानी से कैसे मारा गया ? समाधानकर्ता ने बताया इसमें तनिक भी अचम्भे की बात नहीं। पाप तो अपनी मौत मरता है। उसकी चमक बादल में चमकने और कड़कने वाली बिजली की तरह होती है जो कुछ ही समय में अपनी उछल कूद दिखाती और फिर अपनी इस मूर्खता पर पछताती सकुचाती हुई मुँह छिपाकर बैठ जाती है । आश्चर्य की बात तो यह कही जा सकती है कि साधनहीन रामदल ने इतनी बड़ी विजय का श्रेय प्राप्त कैसे कर लिया ? सो हे समीक्षक, पूरी बात समझो, अन्ततः सत्य ही जीतता है, अन्ततः धर्म ही जीतता है, अन्ततः विवेक ही जीतता है । अनीति का अन्त करने के लिये जब महाकाल की थिरकन गतिशील होती है तो असम्भव दीखने वाली बातें सम्भव होने में देर नहीं लगती ।

रावण का आतंक आखिर समाप्त हुआ ही, स्वार्थ और अविवेक का वर्तमान आतंक जिसने आज जनमानस को बुरी तरह सम्मोहित कर लिया है और दशों दिशाओं में हाहाकार भरा नारकीय वातावरण प्रस्तुत कर दिया है आखिर यह भी तो समाप्त होना ही है । सो लगता है वह समय आ पहुँचा है । रीछों, वानरों, जटायुओं और गिलहरियों की वर्तमान हलचलें और नाटकीय ढंग में बदलती हुई विश्व रंगमंच की परिस्थितियाँ यही बताती हैं कि महाकाल का नवनिर्माण प्रत्यावर्तन, प्रचण्ड प्रकाश की तरह अगणित अन्तःकरणों में प्रवेश करके कुछ कर गुजरने की प्रेरणा भर रहा है। इसे आतंक युग की समाप्ति का स्पष्ट प्रमाण नहीं तो और क्या कहा जाय ? इसे नवयुग के रामराज्य के आगमन का शुभ संकेत नहीं तो और क्या माना जाय ?

भगवान् परशुराम द्वारा कोटि-कोटि अनाचारियों का शिरच्छेद

अति प्राचीन काल में सहस्रबाहु नामक एक मदान्ध राजा हुआ है । कहते हैं उसकी हजार भुजायें थीं, इसी से उसका नाम सहस्रबाहु पड़ा । हो सकता है भुजायें उसकी दो ही हों पर पाँच सौ सहयोगी राजा उसके ऐसे रहे हों जो हर बात में उसका समर्थन करते हों, उनका बल-पराक्रम अधिनायक के साथ पूरी तरह जुड़ा हुआ हो और वह उनकी शक्ति को अपनी शक्ति, उनकी भुजाओं को अपनी भुजा मानता हो । अलंकारिक भाषा की यह उपमा इसी प्रकार ठीक प्रतीत होती है। सहस्रबाहु चक्रवर्ती राजा था । उसके सहयोगी एवं अधीन राजाओं का विशाल भूखण्ड पर शासन था ।

सहस्रबाहु की निरंकुशता और स्वेच्छाचारिता का महर्षि जमदग्नि विरोध करते थे, वे उसे अनीति न करने के लिये और प्रजाजनों को अनीति न सहने के लिये समझाते थे। इस पर राजा बहुत क्रुद्ध हुआ, उसने महर्षि जमदग्नि का अपमान ही नहीं किया वरन् उन्हें इतनी शारीरिक पीड़ा भी दी, जिससे उनका देहावसान हो गया। जमदग्नि के पुत्र परशुराम जी को यह समाचार मिला तो वे बड़े दुःखी हुए। क्रोध उन्हें बहुत आया। जिस देश के राजा इतने उद्धत हो जायँ कि साधु, ब्राह्मणों का, लोकसेवी बुद्धिजीवियों का सहयोग तो दूर सम्मान भी न कर सकें, तो उनसे प्रजा का हित सम्पादन कैसे होगा? इतना ही नहीं जिस निरंकुश शासन में ऋषियों का निर्मम उत्पीड़न हो, उसका तो ईश्वर ही रक्षक है। राजा की निरंकुशता से भी अधिक परशुराम जी को दुःख इस बात का हुआ कि प्रजाजन इस अन्याय को चुप बैठे देखते-सुनते रहे अनीति के प्रतिरोध का भी साहस उनमें न रहा। जहाँ के नागरिक अनीति के विरुद्ध आवाज न उठा सकें, प्रतिशोध न सही, प्रतिरोध की भावना जिनमें न रहे, उन्हें मृतप्रायः ही कहना चाहिये।

पिता की मृत्यु का युवक परशुराम को दुःख अवश्य था, पर इससे भी अधिक दुःख उन्हें इसका था कि शासन इतना उद्धत हो उठा कि औचित्य का प्रतिपादन करने वाले बुद्धिजीवी तत्व को सहन कर सकना उसके लिये सम्भव न हो सका। इसके अतिरिक्त उनके लिये यह भी कम कष्ट की बात न थी कि प्रजाजनों की प्रतिरोध शक्ति कुण्ठित हो गयी। अनीति को सहन करना प्रतिरोध के लिये कुछ न करना कायरता और भीरुता का चिन्ह है, जिस समाज में ऐसे लोगों का बाहुल्य हो जाय उसका भविष्य स्पष्टतः अन्धकारपूर्ण है। अपने पिता के अपमान और अवसान को वे व्यक्तिगत हानि मान चुप होने के लिये मन को समझाते तो भी उनकी आत्मा शासन की दुष्टता और प्रजाजनों की भीरुता को सहने के लिये तैयार न हुई। उनके अन्तर में एक आग जलने लगी, जो कहती थी कि संसार को प्रगतिशील और शान्ति युक्त रहना हो तो अनीति का उन्मूलन होना ही चाहिये। अपनी शक्ति नगण्य हो तो भी जितना सम्भव हो उतना तो करना ही चाहिये।

असहनीय अवांछनीय दुष्काल को उलट-पुलट डालने वाले महाकाल के पास परशुराम जी गये और अनीति उन्मूलन की शक्ति उपलब्ध करने के लिये भगवान् शंकर की कठोर तपश्चर्यापूर्वक आराधना करने लगे। अस्थिर मति, भावावेश ग्रस्त, उतावले, अधीर और तनिक-सी कठिनाई आने पर लक्ष्य छोड़ बैठने वाले ओछे मनुष्यों की देवता कोई सहायता नहीं करते। वे जानते हैं कि साहसी, दृढ़ प्रतिज्ञ, उदार और आत्म-विश्वासी लोग ही कोई बड़ा काम कर सकते हैं। जिनमें यह गुण न हो उन्हें वरदान आशीर्वाद या सहायता देना व्यर्थ है। वे बड़ी बातें सोच तो सकते हैं, पर बड़े काम कर नहीं सकते, ऐसे लोगों को कोई वरदान देना अपने आशीर्वाद को भी उपहासास्पद बनाना है। इसलिये शंकर जी उनकी तपश्चर्या और दृढ़ता को बहुत दिन तक परखते रहे। जब उन्हें विश्वास हो गया कि आदमी जीवट का है तो परशुराम जी को बुलाया, अपना स्वरूप दिखाया और कहा "हे लोकमंगल की आकांक्षा करने वाले, दृढ़व्रती उठ, मेरा सहयोग तेरे साथ है। निस्वार्थ भाव से परमार्थ प्रयोजन में संलग्न हर निष्ठावान की मनोकामना पूरी करता आया हूँ, तेरी भी पूरी करूँगा।"

परशुराम ने महाकाल के चरणों में मस्तक झुका दिया और विनयपूर्वक कहा- "प्रभो! यदि मैं व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये रत्ती जितनी याचना भी आपसे करूँ तो मुझे घृणित कुत्ते की तरह आप दुत्कार दें, पर मैं तो लोकमंगल के लिये आपसे कुछ माँगने आया हूँ सो आप प्रसन्न हैं तो मुझे वह दें जिससे उन मस्तिष्कों का उच्छेदन कर सकूँ, जो पाप और अन्याय से, अविवेक और अज्ञान से ग्रसित होकर अपना और संसार का विनाश कर रहे हैं।"

महाकाल ने प्रसन्नता व्यक्त की और एक प्रचण्ड परशु उस युवक के हाथ में थमा दिया। वह अजेय था, अमोघ भी। इसे पाकर परशुराम बड़े प्रसन्न हुए। अब उन्होंने उन दुर्दान्त दैत्यों को चुनौती देना आरम्भ कर दिया जिन्होंने कि उस समय की सज्जनता, प्रखरता और सुख-शान्ति को कुचल कर रख दिया था। जगह-जगह संघर्ष आरम्भ हुए। संघर्ष छोटे भी थे और बड़े भी। एक ओर सशस्त्र साधन सम्पन्न सेनायें थीं, दूसरी ओर परशुराम का परशु। संघर्ष हर स्तर पर हुए पर पुराणकारों के अनुसार विजयी अन्ततः परशुराम का परशु ही हुआ। अनाचारियों के इतने सिर कट-कट कर जमीन पर गिरे कि एक बार समस्त संसार में से अनाचारियों का पूरी तरह सफाया ही हो गया। कहते हैं कि छिपे दुष्टों की भी खोज चलती रही और वे छद्म वेश में जहाँ भी पाये गये उनके सिर काटे गये। कथा है कि इक्कीस बार

ऐसे प्रयत्न हुए और उस समय की दुर्बुद्धि का पूर्णतया सफाया हो गया।

कथा में से तथ्य निकाला जाय तो स्पष्टतः यही है कि व्यापक अनाचार का निवास है मानवीय मस्तिष्क। रावण के दश सिरों में एक गधे का भी था। गधा अर्थात्- मूर्ख। वह समझदार तो था पर मूर्खता भी कम न थी। इसी तथ्य को अलंकारिक रूप में कहने के उद्देश्य से उसका एक सिर गधे जैसा दिखा कर प्रतिपादित किया गया है। सभी अनाचारियों के सिर परशुराम जी न काट डालें, इसका अलंकार यह है कि उनके सिरों का, दिमागों का आमूल-चूल परिवर्तन कर दिया। जो अनाचारी थे उन्हें सदाचारी बना दिया गया। यह अभियान २१ बार चलाया गया, ताकि विष वेलि का कोई अंकुर कहीं छिपा न रह जाये। भावनात्मक एवं बौद्धिक दुर्बुद्धि मनुष्य में गुप्त रूप से छिपी रहती है तो उसके बरसाती घास की तरह फिर उग आने और फैलने-फूलने लगने की आशंका बनी रहती है। इसलिये उसका २१ बार-बार उन्मूलन करना ही उचित है। परशुराम जी ने वही किया भी।

परशु का अर्थ है-प्रबल प्रचार। समर्थ ज्ञान यज्ञ। प्रभावी लोक-शिक्षण, जन-मानस परिवर्तन के लिये सुनियोजित अभियान आवश्यक था। परशुराम जी ने इसी शस्त्र का उपयोग किया और महाकाल भगवान सदाशिव ने उन्हें दिया भी वही था, यह शस्त्र धातुओं का बना भले ही न हो पर उसकी सामर्थ्य बज्र से बढ़कर थी। इन्द्र का लौह वज्र राज दण्ड जब कुण्ठित हो गया था, तब तपस्वी दधीचि की अस्थियों का मानवीय 'अणुबम' प्रयोग किया गया था। वृत्रासुर जैसा अपराजेय असुर उसी से मरा था। पिछले दिनों इस शस्त्र का कितने ही लोग सफल प्रयोग करते रहे हैं। ईसाइयों के मजहब को जन्मे दो हजार वर्ष भी नहीं हुए कि उन्होंने अपने प्रभावी प्रचार के बलबूते संसार की एक-तिहाई जनता को, एक अरब मनुष्यों को अपने धर्म में दीक्षित कर लिया। साम्यवाद का जन्म हुए एक शताब्दी भी पूरी नहीं हुई कि उसने डेढ अरब लोगों के मस्तिष्कों पर कब्जा कर लिया। इसी का नाम सच्चे अर्थों में सिर काटना है।

तलवार से या फरसे से किसी का सिर काटने मात्र से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इससे घृणा, द्वेष, रोष, असन्तोष और प्रतिशोध पनपता है। क्रिया की प्रतिक्रिया, प्रतिक्रिया की प्रतिक्रिया का कुचक्र शान्ति का नहीं अशान्ति का सृजन करता है। सिर काटने का सही तरीका किसी के विचार बदल देना ही है। बाल्मीकि, अँगुलिमाल, अजामिल, बिल्वमंगल जैसे दुराचारी संत बन जाँय, तो इस मस्तिष्क परिवर्तन को सिर काटना ही कहा जायगा। शिरफिरों के सिर सही करने के लिये कभी-कभी तलवार और फरसों की भी आवश्यकता पड़ सकती है, पर बेहतर तरीका विचारों के बदलने का ही है। परशुराम जी ने यही अभियान चलाया था, महाकाल ने उन्हें सफलता का आशीर्वाद वरदान दिया और सहयोग का प्रतीक प्रचण्ड परशु भी। उनकी रचनात्मक और संघर्षात्मक शक्तियाँ निर्धारित दिशा में लगीं तो लोक-मानस पर उसका प्रभाव पड़ा ही। तेजस्वी और निखरे हुए व्यक्तित्व, निस्वार्थ भाव से जिस लोक-कल्याण कार्य को हाथ में लेते हैं तो उसमें ईश्वर की सहायता भी मिलती है और सफलता का पथ प्रशस्त होने में भी देर नहीं लगती।

वर्णन है कि दैत्य सहस्रबाहु की हजार भुजाओं में से परशुराम जी ने अपने कुल्हाड़े के प्रहारों से ९९८ भुजायें काट दीं। बेचारे की कुल दो बाँहें ही शेष रह गयीं। अनीति के समर्थक तभी तक साथी बने रहते हैं, जब तक इस साझेदारी में निर्बाध रीति से लाभ ही लाभ दीखता है। जब उन्हें लगता है कि प्रतिरोध प्रचण्ड हो रहा है और अपने को लांछित एवं लज्जित होने के साथ-साथ परास्त भी होना पड़ेगा तो उन्हें अनीति का साथ छोड़ते देर नहीं लगती। सहस्रबाहु अन्ततः अकेला दो भुजा वाला ही बचा।

आज भी इतिहास उस प्राचीन कथा-गाथा की पुनरावृत्ति कर रहा है। पाप के सहस्रबाहु के अनेक साथी सहचर मिल रहे हैं और अपना योगदान देकर उसे समर्थ बना रहे हैं। अन्याय को, अविवेक को जब सफलता मिलती है, तो वह मदान्ध ही जाता है। प्रबुद्धता उसे रोकती-टोकती है तो उसे तिरस्कृत ही नहीं करता, प्राणघातक चोट भी पहुँचाता है। सहस्रबाहु ने जमदग्नि के साथ जो दुर्व्यवहार किया उसकी तुलनात्मक घटनायें पग-पग पर, पल-पल पर देखी जा सकती है। सहस्रबाहु को अजेय होने का अभिमान था, आज की भौतिक सभ्यता भी कुछ ऐसा ही अहंकार साधे बैठी है।

पाप का प्रतिरोध मानवता की पुकार है, वह पुकार किसी न किसी परशुराम के सिर पर चढ़ कर बोलती और अपना काम करती है। भगवान् का आशीर्वाद सहयोग और साधन परशु उसे मिलता है। फलतः तेजस्वी ईश्वरीय प्रतिनिधि वह काम कर सकने में समर्थ होते हैं जो दीखने में कठिन ही नहीं असम्भव जैसे प्रतीत होते हैं। समस्त [illegible]

पर यदि अज्ञान के विरुद्ध समर्थ संगठित सुनियोजित एक ऐसा सद्ज्ञान अभियान आरम्भ किया जाय जो जन-मानस को समुद्र मन्थन की तरह मथ डाले तो उससे सूर्य जैसा तेज, चन्द्रमा जैसा आरोग्य, कल्पवृक्ष जैसी विपुलता, कामधेनु जैसी तृप्ति और अमृत जैसी पूर्णता उपलब्ध हो सकती है । लगता है इन दिनों यही सब कुछ हो रहा है । युग निर्माण के लिये प्रतिष्ठापित किया हुआ ज्ञान-यज्ञ लगता है अज्ञान और अनाचार से सम्बद्ध इस विश्व वसुन्धरा पर अमृतमयी शान्ति की घटायें बरसाने में सफल होगा और कोई परशुराम अपने महाकाल प्रदत्त परशु के द्वारा अनाचार से उद्विग्न कोटि-कोटि सिरों को काटकर उनके स्थान पर गणेश जैसे पूज्य सिरों को प्रतिष्ठापित करेगा ।

इतिहास तेरी पुनरावृत्ति सफलतापूर्वक सम्पन्न हो ।

दो में से एक का चुनाव

युग परिवर्तन की घड़ियाँ निकट आती चली जा रही हैं । यह एक सुनिश्चित तथ्य और ध्रुव सत्य है कि जिस घुटन भरे युग में हमें आज दिन गुजारने पड़ रहे हैं वह अधिक समय टिका नहीं रह सकता, यदि टिका रहे तो संसार को मानव-समाज को आज दिन कष्ट-कठिनाइयों से भरे नर्क में समय काटना पड़ रहा है, उससे भी हजारों गुनी लोमहर्षक विभीषिकायें उपस्थित होंगी और उस रौरवीय दावानल में मानव जाति के हर सदस्य को तिल-तिल करके जल मरना होगा । भगवान् अपनी परम प्रिय रचना इस भूलोक को और अपने परमप्रिय मनुष्य को इस सीमा तक दुर्दशाग्रस्त नहीं होने देना चाहते, वे इसका सर्वनाश नहीं देखना चाहते इसलिये वे समय रहते ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करने जा रहे हैं, जिससे यह सम्भावना भयावह सर्वग्राही रूप धारण करने से पूर्व ही सरल हो जाय।

पिछले दिनों जिस कुमार्ग पर मनुष्य जाति चलती रही है उसके दुष्परिणाम क्रमशः अधिक परिपक्व होते चले आये हैं और अब वह स्थिति उत्पन्न हो गयी है जिसे आगे भी देर तक चलने दिया जा सकना असम्भव हो गया है। इस स्थिति का आमूल-चूल परिवर्तन हुए बिना और कोई रास्ता अब रहा नहीं। दो ही विकल्प हैं- एक सर्वनाश, दूसरा परिवर्तन । परिवर्तन के लिये यदि हम तत्पर नहीं होते, तो फिर सर्वनाश के लिये तैयार होना पड़ेगा।सर्वनाश से बचना है तो परिवर्तन का स्वागत करना होगा। बीच का कोई रास्ता नहीं ।

अगले दिनों दुनियाँ दो भागों में बँट जायेगी, जिनमें एक उदार होगा दूसरा अनुदार । एक विवेकवान् वर्ग होगा दूसरा मूढ़ताग्रस्त । एक को देव कहा जायगा, दूसरे को दानव । मूढ़ताग्रस्त लोगों ने अपनी बुरी आदतों, दुष्प्रवृत्तियों और संकीर्णताओं से ग्रस्त होने के कारण सारे संसार को नरक तथा देवोपम मानव जाति को नर-पिशाचों के रूप में परिणत कर दिया है । उसमें वे कुछ भी बुराई अनुभव न करेंगे और न उसे बदलना चाहेंगे । पुराने ढर्रे पर चलते रहने का उनका आग्रह होगा । समय के अनुरूप बदलना उन्हें रुचेगा नहीं । इतना ही नहीं वे परिवर्तन का विरोध करेंगे और मरते समय पंख उगने वाले चींटे की तरह प्रतिरोध की उछल-कूद भी तीव्र कर देंगे । इस समुदाय को उसी वर्ग में गिना जा सकता है, जिसके बारे में गीता के ११ वें अध्याय में अर्जुन ने कहा था-

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्रा करालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु ।
सदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमांगैः ॥

"भगवान् ! आपके विकराल डाढ़ों वाले भयानक मुख में वे लोग प्रवेश करते है और कितने ही चूर्ण-विचूर्ण हुए सिरों सहित आपके दाँतों में उलझे हैं।"

यथा प्रदीप्तम् ज्वलनम् पतंगा
विशन्ति नाशाय समृद्ध वेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका
स्तवापि वक्त्राणि समृद्ध वेगाः ॥

"जैसे मोह ग्रसित पतंगे नष्ट होने के लिये प्रज्ज्वलित अग्नि में वेगपूर्वक प्रवेश करते हैं, वैसे ही यह लोग भी अपने सर्वनाश के लिये आपके मुख में दौड़ते हुए जाते हैं।"

जिन्हें मूढ़ता इस सीमा तक घेरे रहती है, उनकी संख्या इस संसार में कम नहीं । मरने के दिन अति निकट आ जाने और परिवार द्वारा पग-पग पर तिरस्कृत किये जाने पर भी अधिकांश वृद्धजन मोह-माया के दल-दल में अधिक गहरे फँसने के लिये कदम बढ़ाते रहते है । भविष्य को नहीं देखते, दुष्प्रवृत्तियों के परिणाम को नहीं सोचते वरन् आदतों से मजबूर पाप की गठरी ही सिर पर बोझिल बनाते चलते हैं । ऐसे लोग इस दुनियाँ में भरे पड़े हैं, उन पर न ज्ञान का असर होता है और न विवेक का प्रकाश पड़ता है । मदोन्मत्तों की तरह वे अपनी बेढंगी चाल चलते रहते है । इनका सुधारना कठिन देखकर महाकाल उनको गतिरोध का रोड़ा बनने देने से रोकने के लिये अपनी लात

से कुचलकर रख देने को विवश होते हैं। खेत जोतते समय जो कड़े ढेले रह जाते हैं, किसी प्रकार उन्हें तोड़ने की किसान को व्यवस्था बनानी पड़ती है। युग-परिवर्तन के समय मूढ़ताग्रस्त वर्ग को अव्यवस्था से व्यवस्थित करने के लिये यही दैवी प्रकोप-चक्र गतिशील रहता है। अगले दिनों संसार में मानवीय और दैवी स्तर पर जो उत्पीड़न होने वाले हैं उनका आधार यही है। दुष्टता से निपटने का यही सनातन मार्ग है। जहाँ ज्ञान को, विवेक को, तर्क को, औचित्य को सफलता नहीं मिलती वहाँ दण्ड-प्रहार की करारी चोटें थोड़े ही समय में सब कुछ ठीक कर देती है। मनुष्य की चिर-संचित दुर्बुद्धि और हठवादिता बदली जानी आवश्यक है। इसी प्रयोजन के लिये ताण्डव नृत्य का सरंजाम जुटाना पड़ रहा है। दुष्टता के समर्थन में दुराग्रह करने वाले इन मोहान्ध लोगों की कुचेष्टा ही वह विभीषिका है जिसके लिये दैवी और मानवी विग्रह विभिन्न रूपों में उत्पन्न होकर इस पुण्य धरित्री को रक्त-रंजित करेंगे।

इसी प्रतिपादन का एक दूसरा निष्कर्ष यह है कि इस सन्धि वेला में मानव जाति का सद्भावना सम्पन्न वर्ग विशेष रूप से सजग होगा और महत्वपूर्ण अवसर पर अपने विशिष्ट उत्तरदायित्वों को तन्मयता के साथ वहन करेगा। आपत्तिकाल में विवेकवान् व्यक्ति आपत्ति धर्म का पालन करते हैं। सामान्य स्थिति की साधारण गतिविधियों को वे कुछ काल के लिये रोक देते है और इस आपत्ति धर्म की पूर्ति के लिये विशिष्ट पुरुषार्थ करते हैं। उनकी यह दूरदर्शिता न केवल उनके यश, गौरव, आत्मसन्तोष, पुण्य एवं श्रेय-साधन का निमित्त बनती है वरन् उसके सत्प्रयोजनों से संसार की महती सेवा भी होती है। महाकाल को अपने पुण्य प्रयोजन में उपयुक्त सहायता भी इन्हीं पार्षदों से मिलती है।

जब गाँव के छप्परों में आग लग रही हो तो बुद्धिमान् लोग अपनी सुरक्षा की दृष्टि से भी और परमार्थ की दृष्टि से भी उस आग को बुझाने के लिये निजी सब काम छोड़कर जुट पड़ते हैं। पुराने युग के पलटने और नये युग के प्रवेश करने का मध्यान्तर एक ऐसी ही सन्धि वेला है जैसी कि रात्रि के विदा होने और प्रभात के आगमन के अवसर पर होती है। इन घड़ियों में लोग साधारण काम-काज करने की अपेक्षा दैवी सम्बन्ध स्थापित करने की, पूजा-उपासना करने की, व्यवस्था करते हैं। उपयुक्त अवसर पर उपयुक्त कार्य का विशेष महत्व होता है। बीज ठीक समय पर बोया जाय तो अच्छी फसल उगने की सम्भावना अधिक स्पष्ट रहती है प्रबुद्ध आत्मायें इतनी अन्तःचेतना अपने भीतर धारण किये रहती हैं, इतना प्रकाश उनके अन्दर बना रहता है कि उपयुक्त अवसर को पहिचानें और विशेष आयोजन के लिये विशेष अवसर पर प्रस्तुत की गयी ईश्वरीय पुकार को सुनें और इस दैवी निर्देश के अनुरूप अपनी गतिविधियाँ मोड़ दें।

ऐसी अन्तःप्रेरणा जिन्हें मिलती है वे अपने कर्तव्य और उत्तरदायित्व की उपेक्षा नहीं कर सकते। जीवन-यापन के सामान्य क्रम में व्यवधान सहकर भी आपत्ति कालीन युगधर्म को निबाहने के लिये तत्पर होते हैं। देश की सीमा सुरक्षा के लिये समय पर अगणित बलिदानी वीर सैनिक मोरचों पर जा पहुँचते हैं। जिनके भीतर ईश्वरीय प्रकाश की किरणें विद्यमान हैं वे युग परिवर्तन जैसे महत्त्वपूर्ण अवसर पर संकीर्ण स्वार्थों में हानि पड़ने की बात सोचकर, अपना बचाव कर करने के लिये बहाने नहीं ढूँढ़ते। बिगुल बजने पर सैनिक कमर कसने के अतिरिक्त और कुछ सोचता ही नहीं, संकटकाल में अवकाश प्राप्त सैनिक ड्यूटी पर लौट आते है। ऐसे विशिष्ट अवसर जैसा कि ऐतिहासिक सन्ध्याकाल इन दिनों उपस्थित हैं, सजग व्यक्तियों के लिये अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करने की चुनौती उपस्थित करते हैं और वे बिना अनुनय के सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं।

मूढ़तावादी मोहग्रस्त असुर-वर्ग और लोकमंगल की भूमिका सम्पादित करने में संलग्न देव वर्ग इन दोनो को ही अगले दिनों अपनी रीति-नीति की श्रेष्ठता-निकृष्टता प्रस्तुत करने का अवसर मिलेगा। दोनों की गतिविधियों के सत्परिणाम और दुष्परिणाम उपस्थित होंगे और उनको देख-समझकर भावी पीढ़ी को यह निश्चय करने का अवसर मिलेगा कि उपरोक्त दोनों पद्धतियों में से कौन उपयुक्त और कौन अनुपयुक्त है। इनमें से किसे ग्रहण किया जाय और किसे त्यागा जाय?

अगले दिनों हमें इनमें से किसी एक वर्ग में सम्मिलित होना होगा, बीच में नहीं रहा जा सकता। महाकाल के विधान में प्रतिरोध प्रस्तुत करने वाले मूढ़तावादी लोगों में सम्मिलित रहना हो तो खुशी-खुशी वैसा करें और कराल-दण्ड के प्रहार सहने को तैयार रहें। यदि यह अभीष्ट न हो तो ईश्वरीय प्रयोजन की पूर्ति में सहायक बनकर चलना ही उचित है। तब हमें अपनी गतिविधियाँ अभी से बदलनी होंगी और उस पुण्य प्रक्रिया को अपनाना होगा जिसमें आत्म-कल्याण और विश्व-कल्याण दोनों का ही समान रूप से समन्वय हो।

भावी देवासुर संग्राम और उसकी भूमिका

प्राकृत रूप से मनुष्य एक दुर्बल किस्म का पशु है। जिस प्रकार अन्य पशु पेट पालते, प्रजनन करते और परिस्थितियों का भला-बुरा प्रभाव भोगते हुए जीवन यापन करते हैं वैसे ही मनुष्य भी पैदा होता, अपनी जिन्दगी के दिन गुजारता, बढ़ता और मरता है। इस स्तर के हर व्यक्ति को नर [illegible]
न आदर्श [illegible]
भर की [illegible]
जुता हुए अन्य असंख्य मरणधर्मा प्राणियों की तरह मौत के मुख में चला जाता है। जनसंख्या में लगभग आधे इसी स्तर के पाये जाते हैं।

नर-पशुओं के जीवन में जो थोड़ा-बहुत आकर्षण है वह उनके निजी स्वार्थ का है। वे अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति, आकांक्षाओं की तुष्टि, अभावों की निवृत्ति के लिये यत्किंचित पुरुषार्थ करते है। जिनके सामने यह आकर्षण भी नहीं होता वे भूख, अभाव, दण्ड, असहयोग, तिरस्कार आदि प्रताड़ना का भय मानकर ही थोड़ा बहुत पुरुषार्थ करते हैं अन्यथा यदि इस प्रकार की बाधायें न हों तो उन्हें जड़ जीवन बिताने में तनिक भी संकोच न हो। जिसने इस स्तर का जीवन बिताया उन्होंने अपने प्रति एक भारी अत्याचार किया, यही मानना होगा।

यह स्वार्थपरता जब उद्धत, उच्छृंखल, दुष्ट एवं आक्रमणकारी हो जाती है और मनुष्य किसी को भी, किसी भी प्रकार सताकर अपना लाभ उठाने एवं अहंकार पूरा करने के लिये निर्लज्जतापूर्वक कटिबद्ध हो जाता है तब उसे नर-पिशाच कहते हैं। यों मोटे तौर से हत्यारे, कसाई, आततायी, झगड़ालू, गुण्डे, निर्दय, क्रूरकर्मा आदि लोगों के लिये नर-पिशाच शब्द का प्रयोग किया जाता है, पर अब इसका परिष्कृत संस्करण तैयार हो गया है। उसमे ऐसी प्रत्यक्ष दुष्टता करने, कानून की पकड़ में आने और निन्दा का पात्र बनने की जरूरत नहीं पड़ती। लोग बाहर से सज्जनता का लबादा ओढ़े रहते है और भीतर ही भीतर ऐसी छुरी चलाते रहते है जिससे असंख्यों का सर्वनाश होता है। उदाहरण के लिये मादक द्रव्यों के उत्पादन, प्रसार एवं व्यवसाय में लगे मनुष्य बाहर से सीधे-साधे से लगते हैं पर उनका मस्तिष्क, धन तथा पुरुषार्थ कितने लोगों का, किस बुरी तरह आर्थिक, नैतिक, शारीरिक नाश करता है, इसका कोई लेखा-जोखा तैयार किया जाय तो प्रतीत होगा कि उन्होंने लाखों मनुष्यों के जीवन में दुष्प्रवृत्तियों का बीज बोकर पतन के लिये जो व्यापक पथ प्रशस्त किया उस हानि का विवरण कितना रोमांचकारी है। ऐसे-ऐसे उदाहरण संगठित एवं व्यक्तिगत प्रयासों के भरे पड़े है जिनसे प्रतीत होता है कि स्वार्थपरता यदि अनियंत्रित हो तो वह कितनी भयंकर हो सकती है। चोरी, जेबकटी के पुराने, फूहड़-गन्दे तरीके अब गँवारों के हिस्से में चले गये हैं। शिक्षित लोगों ने ऐसी तरकीबें खोज निकाली हैं जिससे होता वही सब कुछ है पर पता किसी को नहीं चलता। रिश्वतें अब एक दस्तूर बन गयी है। असली में नकली की मिलावट अब हेय नहीं मानी जाती वरन् उसे "व्यापार चातुर्य" कहा जाता है। व्यक्तिगत जीवन में लोग कितने नीरस, कितने स्वार्थी, कितने विश्वासघाती और कितने निर्लज्ज है इसका परिचय बाहर से तो नहीं मिलता, पर उनके दाम्पत्य जीवन की, पारिवारिक सौहार्द्र की अथवा सम्बन्धित व्यक्तियों की अनुभूतियों का पता लगाया जाय तो इन तथाकथित सफेदपोशों की काली कालिमा सामने आती है। इन्हे नर-पिशाच नहीं तो और क्या कहा जा सकता है ?

जन-साधारण में असुर और देव के बारे में बड़ी भ्रान्त धारणायें जड़ जमाये बैठी हैं। असुरों के बारे में माना जाता है कि उनका मुँह काला होता है, दाँत बड़े होते हैं, पशुओं की तरह सींग उगे होते हैं। देवताओं के बारे में मान्यता है कि वे गौरवर्ण, आनन्दधाम, स्वर्ग के निवासी, भक्त की सहायता के दौड़ आने वाले होते है। यह वर्णन अलंकारिक है। किसी अन्तरिक्ष लोक में इस प्रकार के प्राणी पाये जाने की सम्भावना नहीं। न इस पृथ्वी पर ही ऐसे जीवों का अस्तित्व देखा जाता है, न प्राचीनकाल में था। मनुष्य की आन्तरिक व्यवस्थाओं के आधार पर ही यह देवदानव चित्रण अलंकारिक रूप से किया गया है। मुँह काला अर्थात् कलंक कालिमा, अपयश, निन्दा से आच्छादित घृणित जीवन। बड़े दाँत अर्थात् अधिक खाने, अधिक भोगने की दुष्प्रवृत्ति। सींग अर्थात् दूसरे के साथ दुष्टता का बरताव करने की, सताने, टोंचने, मर्माहत करने की आदत। यह दुर्गुण जिस भी मनुष्य में हों, उसे असुर कहना चाहिये, भले ही वह रंग का गौरवर्ण, रूपवान् ही क्यों न हो। इसी प्रकार जिनमें उदारता, संयम, परमार्थ, सेवा जैसी सत्प्रवृत्ति बढ़ी-चढ़ी हो उन्हें देव कहना चाहिये। देव सदा पूजे जाते हैं उनका यश गाया जाता है, उनके सेवापूर्ण कर्तव्य से असंख्य प्राणियों के शोक-संताप

में कमी होती है। यह विभाजन आज भी आत्म-निरीक्षण करने वाले को यह बता सकता है कि वह असुर है या देव। उनका समय, श्रम, धन, चिन्तन कितना स्वार्थ संजोने में लगता है, कितना परमार्थ प्रयोजन में ? इसका लेखा-जोखा हम स्वयं ही तैयार कर सकते हैं, क्योंकि बाहर वालों को असलियत मालूम नहीं होती। हमारी अन्तरंग स्थिति ही हमें देव अथवा असुर वर्ग की पंक्ति में बैठा सकती है और इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि परिवर्तन की भावी घड़ियों में हमें महाकाल की ऐड़ी से कुचले जाने का दण्ड भोगना है अथवा ईश्वरीय प्रयोजन की पूर्ति में संलग्न पार्षदों की पंक्ति में खड़े होकर विजय का वरण करना होगा।

नर-पशुओं और नर-पिशाचों का बाहुल्य जब कभी भी संसार में होगा तो विपत्तियाँ आयेंगी और अगणित प्रकार की विभीषिकायें उत्पन्न होंगी। यह अभिवृद्धि जब चिन्ताजनक स्तर तक पहुँच जाती है तो ईश्वर की इस परमप्रिय सृष्टि के लिये सर्वनाश का खतरा उत्पन्न हो जाता है। इसी को बचाने के लिये उन्हें हस्तक्षेप करना पड़ता है, अवतार लेना पड़ता है। गीता में इस तथ्य का भगवान् ने स्पष्टीकरण किया है- "जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की अभिवृद्धि होती है तब साधुता का संरक्षण और दुष्टता का उन्मूलन करने के लिये मैं आत्मा का सृजन करता हूँ।"

अनैतिकता की दुरभिसन्धि का उन्मूलन करने के लिये एक व्यक्ति नहीं वरन् एक वर्ग ही समर्थ हो सकता है। इसलिये इन विषम परिस्थितियों में सदा ही एक ऐसे वर्ग को सतेज होना पड़ता है, जिसे अध्यात्म-भाषा में देव अथवा नर-नारायण और बोलचाल की भाषा में परमार्थ-परायण, सज्जन, महापुरुष, नर-रत्न कहते हैं। यों इस वर्ग का अस्तित्व सदा बना रहता है। पृथ्वी धर्मात्माओं, सज्जनों, परमार्थियों और ईश्वर भक्तों से कभी रहित नहीं होती, पर देखा यह जाता है कि असुरता की बाढ़ में यह दैवत्व शिथिल पड़ जाता है। ग्रीष्म के आतप से जैसे दूब घास जल जाती है उसी प्रकार प्रोत्साहन न मिलने के कारण देवत्व की प्रवृत्ति भी सूख जाती है किन्तु जब भी सन्तुलन को स्थापित करने के लिये महाकाल का अभियान आरम्भ होता है तो यह विशृंखलित, मूर्च्छित एवं उपेक्षित देव-श्रद्धा वर्षा के जल से हरी हुई दूब की तरह पुनः सजीव होकर अपना अस्तित्व सिद्ध करने लगती है।

असुरता के अभिवर्धन को नियंत्रित करने के लिये समय-समय पर देवत्व को सक्रिय एवं संघर्षरत होना पड़ा है। पौराणिक उपाख्यानों में इस तथ्य का पन्ने-पन्ने पर प्रतिपादन है। १८ पुराणों और १८ उपपुराणों में देवासुर संग्राम की सहस्रों कथायें विद्यमान हैं। छल-बल में असुर तगड़े पड़ते हैं, फिर भी ईश्वरीय सहायता देव-वर्ग को मिलती है और अन्ततः वही जीतता है। असुरता को हर इतिहास में पराजय का ही मुँह देखना पड़ा है। दुष्टता के पास छल-बल से एकत्रित साधन बहुत होते हैं इसलिये कुछ उसका आतंक ऐसा छाया रहता है कि सर्वसाधारण को प्रतिरोध का साहस नहीं होता। किन्तु यह स्थिति देर तक नहीं रहती, सृष्टि का संतुलन न बिगड़ने देने में सतर्क भगवान् यथासमय देव-वर्ग को सजग करते हैं, उसमें प्राण फूंकते हैं और देखते-देखते सामान्य प्रतीत होने वाले मनुष्य असामान्य उत्कृष्टता की भूमिका प्रस्तुत करने लगते हैं। निराशा, आशा में बदल जाती है। इन दिनों भी यही सब कुछ होने जा रहा है। पौराणिक देवासुर संग्राम की महती शृंखला में एक कड़ी अब और भी जुड़ने वाली है। अगले ही दिनों एक ऐसा बवण्डर सामने आने वाला है, जिससे असुरता का उन्मूलन और देवत्व का अभिवर्धन जो आज असम्भव लगता है कल की बदली हुई परिस्थितियों में पूर्ण सम्भव दीखने लगेगा।

नर-पशुओं को भी यों असुरों में ही गिना जाता है क्योंकि वे उपद्रव की शक्ति न रखते हुए चलते अशिष्टता की राह पर है। मनुष्य जीवन के कुछ कर्तव्य हैं और कुछ उत्तरदायित्व। उन्हें पूरा न करके जानवरों की तरह पेट पालने और प्रजनन करने वाली नीति को अपनाये रहना मनुष्यता को कलंकित करता है। नियन्त्रण के अभाव में पशुता के जितने कदम आगे बढ़ते हैं वे कुमार्ग की ओर ही होते हैं। इसलिये इस वर्ग की गणना भी धरती के बोझ वर्ग में ही की जाती है।

नर-पिशाच और नर-पशु दोनों मिलकर एक असुर-वर्ग बनता है और यही संसार में सब प्रकार के संकट उत्पन्न करने के लिये जिम्मेदार है। जिस प्रकार नगर भर की गंदगी को स्वच्छ करने का पवित्र उत्तरदायित्व हरिजन वर्ग उठाता है उसी प्रकार असुरता के द्वारा उत्पन्न की गयी समस्त विकृतियों और विपत्तियों के निवारण करने का भार देव-वर्ग पर रहता है। इस कार्य को यों वे सदा ही करते रहते है, न करें तो पाप के पहाड़ जमा हो जायें और दस-बीस वर्ष में ही यह दुनियाँ रहने के लायक

न रहे। पर इस सफाई की भारी आवश्यकता तब युद्ध स्तर पर करनी पड़ती है, जब नगर में हैजा, प्लेग, चेचक, मलेरिया जैसे संक्रामक रोग फैलने का खतरा सामने प्रस्तुत होता है, उन दिनों तो चौगुने-सौगुने उत्साह से यह सफाई का कार्य पूरा किया जाता है। सेना के प्रहरी यों सदा ही सतर्क रहते हैं, पर जब कभी शत्रु के आक्रमण का खतरा सम्मुख होता है, तब सीमा रक्षक सैनिकों को चौगुनी सतर्कता एवं जिम्मेदारी का परिचय देना पड़ता है। इन दिनों हैजा फैलने और शत्रु के आक्रमण से भी भयंकर खतरा मानव समाज के सम्मुख उपस्थित है। असुरता के उपदेश की प्रतिक्रिया संसार के कोने-कोने में कुहराम उत्पन्न किये हुए है। इस अवांछनीय स्थिति का निराकरण करने की जिम्मेदारी देव-वर्ग की है, उन्हें ही उठानी होगी। अनादि काल से यही होता चला आया है। असुरता के उपद्रवो का समाधान करने के लिये देवता सजधज के साथ मैदान में आते रहे। इसी के फल से देवासुर संग्राम हुए हैं और फलतः ईश्वरीय संरक्षण में देवताओं को विजय के साथ "परित्राणाय साधूना विनाशाय च दुष्कृताम्" का प्रयोजन पूर्ण ही हुआ है। यही अब फिर से होने जा रहा है।

असुरता तब बढ़ती है जब उसकी प्रतिरोधी दैवी प्रकृति शिथिल पड़ जाती है। रात्रि तब आती है जब सूर्य अस्त हो जाता है। जहाँ प्रकाश होगा वहाँ अन्धकार कहाँ टिक सकेगा। इसी प्रकार आदर्शवादी उत्कृष्ट भावनाये जब मनुष्य के भीतर तीव्र लहरें उठाती रहती हैं, तब असुरता को पैर टिकाने का अवसर नहीं मिलता। पशुता के लिये कोई अवसर नहीं रहता। देवत्व को प्रबल परिपुष्ट बनाने से वह वातावरण स्वतः तैयार होता है जो असुरता का उन्मूलन करके रख दे। इसमें संघर्ष के अवसर भी आते हैं। चीटी के पंख मरते समय ही उगते हैं, तब वह दीपक को बुझाने के लिये उस पर आक्रमण करती है और इस दुष्प्रयत्न में स्वयं ही जल मरती है। देवत्व के प्रबल परिपुष्ट होने पर आसुरी तत्व भी ऐसे ही आक्रामक बनते है अन्ततः अपनी कुचेष्टाओं के फलस्वरूप विनाश के गर्त मे गिर कर नष्ट हो जाते है।

देवत्व का जागरण एवं पोषण करने की तैयारी ही वह प्रयत्न है जिसके फलस्वरूप वर्तमान असुर-अन्धकार का निराकरण होगा। परिपुष्ट देवत्व से वह व्यापक प्रभाव उत्पन्न होगा, जिससे प्रभावित होकर लोग पशुता और पिशाच वृत्ति का दुष्परिणाम समझ सकने योग्य विवेक एवं उन दुष्प्रवृत्तियों को त्याग सकने योग्य साहस कर सकें। देवत्व की बढ़ी हुई प्रखरता मानवीय मन पर आच्छादित समस्त कषाय कल्मषों को धोकर रख देगी और यही आज नरक बनी हुई धरती कल स्वर्गीय सुख-शान्ति से सुसज्जित होगी।

अगले दिनों देवासुर संग्राम होने वाला है उसमे मनुष्य और मनुष्य आपस में नहीं लड़ेंगे वरन् आसुरी और दैवी प्रवृत्तियों में जम कर अपने-अपने अस्तित्व के लिये संघर्ष होगा। असुरता अपने पैर जमाये रहने के लिये, देवत्व अपनी स्वर्ग सम्भावनायें चरितार्थ करने के लिये भरसक चेष्टा करेंगे। इस विचार संघर्ष में देवत्व के विजयी हो जाने पर वे परिस्थितियाँ उत्पन्न होगी, जिनमें हर व्यक्ति को उचित न्याय, स्वातन्त्र्य, उल्लास, साधन और सन्तोष मिल सके।

असुरता इन दिनों अपने पूर्ण विकास पर है। देवत्व, सुषुप्त और विशृंखलित पड़ा है। आवश्यकता इस बात की है कि देवत्व जगे, संगठित हो तो इस युग की आवश्यकता एवं ईश्वरीय आकांक्षा की पूर्ति के लिये कटिबद्ध हो। जिन आत्माओं में दैवी प्रकाश का आवश्यक अंश विद्यमान है उनकी अन्तरात्मा में युग की पुकार सुनने और अपने पुनीत कर्तव्य की दिशा में अग्रसर होने की अन्तः पुकार उठ रही है, पर अभी वह इतनी धीमी है कि प्रोत्साहन की आवश्यकता अनुभव की जा रही है। युग निर्माण योजना के अन्तर्गत यही प्रयोजन पूरा किया जा रहा है।

आशा करनी चाहिये कि वह दिन हम लोग अपनी इन्हीं आँखों से इसी जीवन में देखेंगे जबकि अगणित देव प्रवृत्ति के व्यक्ति अपने-अपने स्वार्थों को तिलांजलि देकर विश्व के नव-निर्माण में ऐतिहासिक महापुरुषों की तरह प्रवृत्त होंगे और इन दिनों जिस पशुता एवं पैशाचिक प्रवृत्ति ने लोक-मानस पर अपनी काली चादर बिछा रखी है उसे तिरोहित करेंगे। अनाचार का अन्त होगा और हर व्यक्ति अपने चारों ओर प्रेम, सौजन्य, सद्भाव सहयोग, न्याय, उल्लास, सुविधा एवं सज्जनता से भरा सुख शान्तिपूर्ण वातावरण अनुभव करेगा।

उस शुभ दिन को लाने का उत्तरदायित्व देव वर्ग का है। उसी को जगना है, उसी को संगठित होना है, उसी को अविवेक के विरुद्ध संघर्ष में तत्पर होना है। वे जितने कम समय में अपना उत्तरदायित्व वहन करने को तत्पर हो सकें, उतना ही शीघ्र नवयुग का स्वर्णिम प्रभात उदय होते हुए हम देखेंगे और धन्य होंगे।

आज की सबसे बड़ी बुद्धिमत्ता और लोक-सेवा

आँधी, तूफान के समय जो पेड़ अकड़े खड़े रहते हैं, वे अक्सर उखड़ जाते हैं, किन्तु जो नम जाते हैं- झुक जाते हैं, वे आसानी से बच जाते हैं। बेंत जैसे पौधे और गिलोय जैसी बेलें किसी भी आँधी-तूफान में अपना अस्तित्व इसलिये बचाये रखने में समर्थ होते हैं कि वे समय की गति को समझ कर अपनी रीति-नीति बदल देते हैं। आँधी का प्रवाह जिधर झुकने के लिये उन्हें विवश करता है उधर झुक जाते हैं ?

बेशक आदर्शों को छोड़ने के सम्बन्ध में कोई समझौता नहीं हो सकता। पाप के साथ पटरी नहीं बिठायी जा सकती, पर इतना तो हो ही सकता है कि जहाँ अपनी भूल हो वहाँ दुराग्रह छोड़ दिया जाय। इतनी समझदारी तो बरतनी ही चाहिये कि जब तक दण्ड शिर पर आ गरजे तब तक पैर रोककर चलने और हाथ रोककर करने की बात स्वीकारी जाय। चोर भी जब पकड़ा जाता है और अदालत के सामने लाया जाता है, तो सज्जनता और दीनता का इजहार करता है ताकि कठोर दण्ड से थोड़ा-बहुत बचाव संभव हो सके। महाकाल का कठोर दण्ड जब कि सिर पर आ पहुँचा है, हमें चाहिये कि अपनी गतिविधियाँ बदल दें। उस दिशा में झुक जायें जिधर अगले ही दिन झुकने के लिये सर्वसाधारण को विवश होना पड़ेगा। समय से पूर्व सम्भल जाना बुद्धिमानी है। जो सूर्योदय से पूर्व उठ बैठते हैं वे नफे में रहते हैं।

अब तक जो हो चुका सो हो चुका पर अब अविलम्ब हमें सुधारना और बदलना चाहिये, यह निष्कर्ष इस उद्बोधन का है जो भविष्य की सम्भावनाओं की चर्चाओं के साथ प्रस्तुत किया गया है। महाकाल समय पलट देने के लिये समुद्यत है। यह गन्दा और फूहड़ जमाना निकम्मा और नाकारा सिद्ध हो चुका है। जिस दिशा में हम चल रहे है वह दिन-दिन अधिकाधिक संकट उत्पन्न करती चली आई है और अब सर्वनाश की सम्भावना सामने आ खड़ी हुई है। ऐसी दशा में वापिस लौटने और दिशा बदलने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं। दुराग्रह पूर्वक यह रीति-नीति जारी रखी गयी तो मानवीय अस्तित्व को सुरक्षित रख सकना भी सम्भव न रह जायगा।

गर्मी आने पर भी जो जाड़े के गरम कपड़े धारण किये रहने का आग्रह करता है उसे नासमझ ही कहा जायेगा। जब तक पोल चल सकती थी चल गयी पर अब जब कि मनुष्य जाति के भावनात्मक पुनर्निर्माण का सारा सरंजाम तैयार खड़ा है, तब पुराने ढर्रे पर अड़े रहने से कोई लाभ नहीं। नये युग में संकीर्ण स्वार्थपरता का लक्ष्य लेकर जीना और तृष्णा, वासना के गोरख-धन्धों में उलझे रहना शायद ही किसी अत्यन्त घृणित व्यक्ति के लिये सम्भव हो। आज तो यही लोक रीति है और सब इसी चाल-ढाल में मदमस्त हैं, पर कल तो यह सब आमूल-चूल बदलने वाला है। दौलत समेटने, अहंकार को पोसने और विलासिता के ठाठ-बाट जमाने की आज की लोक-नीति अगले कल एक अजायब घर की चीज बनने जा रही है। तब कोई इस ढर्रे पर न जियेगा। हर व्यक्ति अपने अन्तरंग जीवन में उत्कृष्टता और बाह्य जीवन में आदर्शवादिता का प्रश्रय देगा। इस प्रतिस्पर्द्धा में जो जितना आगे बढ़ सकेगा उसे उतना ही बड़ा आदमी-महामानव, श्रद्धास्पद एवं सम्मानास्पद माना जायेगा। संकीर्ण स्वार्थों की गन्दगी में लिपटे हुए लोग तो अस्पर्शों जैसे घृणित बने खड़े होंगे। तब राई-रत्ती दान-पुण्य या कुछ कर्मकाण्ड पूरे करके कोई स्वर्ग मुक्ति के सपने न देखेगा वरन् जीवन को सांगोपांग रूप से उत्कृष्ट बनाने की जीवन साधना द्वारा ही आत्म-कल्याण की मंजिल पार किया करेंगे।

उस नवयुग के आगमन की संभावना स्पष्ट है। आगामी विश्वव्यापी उथल-पुथल, समग्र क्रान्ति, उसी की पूर्व सूचना, प्रसव पीड़ा है। अच्छा हो ईश्वर की इच्छा में अपनी इच्छा मिलाकर हम चलें। आँधी-तूफानों से टकराने की अपेक्षा समय रहते अपने को झुका लें। जो अवश्यम्भावी है, जो उचित है उसके अनुकूल चलना ही ठीक है। गायत्री परिवार में यही रीति-नीति अपनाने का अभ्यास डालने के लिये शत सूत्री युग निर्माण योजना का आविर्भाव हुआ है। उस आचार संहिता को अपना कर अपने भावनास्तर और क्रिया-कलाप को उस प्रकार का मोड़ दिया जा सकता है, जो नवयुग में हर किसी को शिरोधार्य स्वीकार करना पड़ेगा। परमार्थ में रुचि बढ़े, लोक-मंगल में कुछ श्रम, समय लगे तो धीरे-धीरे उस प्रकार का अभ्यास हो जायेगा, जो नवयुग के अनुरूप, अनुकूल है। एकबारगी बदलना कठिन पड़ेगा इसलिये शुभारम्भ आज से ही करना उपयुक्त है।

स्वयं तो हम बदलें ही, दूसरे उन सबको भी बदलने की प्रेरणा दें, जिनको वस्तुतः प्यार करते है और हित चाहते हैं। स्त्री, पुत्र, भाई, भतीजे, कुटुम्बी, सम्बन्धी, मित्र परिजन

सभी को इस प्रकार की प्रेरणा करें कि सभी अपनी रीति-नीति सुधारें । यह कर्तव्य हमें इन दिनो अधिक तत्परता पूर्वक पालन करना चाहिये । क्योंकि महाकाल की भावी दण्ड व्यवस्था अन्धाधुन्ध नहीं सप्रयोजन है । यदि लोग बदल जाते हैं, सुधर जाते हैं, तो उस क्रूर कर्म की विशेष आवश्यकता न रह जायगी । हमारा परिवर्तन भावी आपत्तियो को टाल सकने में समर्थ हो सकता है । विश्व-मानव की आज सबसे बड़ी सेवा यही हो सकती है कि हम जन-साधारण को दुर्बुद्धि त्यागने और सन्मार्ग पर चलने के लिये रजामन्द करने का प्रयत्न करें । युग निर्माण योजना एक ऐसा ही व्यापक कार्यक्रम है । महाकाल की इच्छा भी पूरी हो जाय और हम काल दण्ड के प्रहारो से बच भी जाँय इसका यदि कोई उपाय हो सकता है तो वह युग निर्माण योजना के क्रियाकलापों के माध्यम से जन-मानस में अभीष्ट परिवर्तन प्रस्तुत कर देना ही होगा । वही आज का सबसे बड़ा परमार्थ है ।

महाकाल की संकल्पित सम्भावनायें

मनुष्य की अपनी विचारणा, क्षमता, लगन, हिम्मत, उमग और पुरुषार्थ परायणता की महत्ता भी कम नही । इन मानसिक विभूतियो के जुड़ जाने पर उसकी सामान्य दीखने वाली क्रिया-प्रक्रिया भी असामान्य स्तर की बन जाती है और दैवी विभूतियो की समानता करने लगती है। फिर भी उनकी सीमा एवं समय निर्धारित है और सफलता का भी एक मापदण्ड है । किन्तु यदि अदृश्य प्रगति प्रवाह की इच्छा शक्ति उसके साथ जुड़ जाय, तो परिवर्तन इतनी तेजी से होते है कि आश्चर्य चकित रह जाना पड़ता है । सहस्राब्दियों में बन पड़ने वाला काम दशाब्दियों में, वर्षो-महीनो में सम्पन्न होने लगते है । यह अदृश्य उपक्रम अनायास ही नही, किसी विशेष योजना एवं प्रेरणा के अन्तर्गत होता है । उसके पीछे अव्यवस्था को हटाकर व्यवस्था बनाने का लक्ष्य सन्निहित रहता है ।

आँधी-तूफान आते हैं, तो उड़ती हुई धूल के साथ मुद्दतों का जमा कचरा कही से कहीं पहुँच जाता है । खंदक भर जाते है और भूमि समतल बनने में इतनी फुर्ती दीखती है, मानो जो करना है उसे कुछ ही क्षणो में कर गुजरे । रेगिस्तानी टीले-पर्वत आज यहाँ तो कल वहाँ उड़कर पहुँचते प्रतीत होते हैं । घटाटोप बरसते है तो सुविस्तृत थल क्षेत्र जल ही जल से आपूरित दीख पडता है । अस्त-व्यस्त झोपड़ो का पता भी नहीं चलता और बूढ़े वृक्ष तेजी से धराशायी होते चले जाते हैं । ऐसे ही न जाने क्या अजूबे सामने आ खड़े होते हैं जिनकी कुछ समय पहले तक कल्पना भी न थी ।

पिछले दिनों पर दृष्टिपात करें, तो प्रतीत होता है कि सदियो पुरानी परम्पराओं में आमूल-चूल परिवर्तन होने जैसे घटनाक्रम विनिर्मित हुए हैं । भारत ने हजारों वर्ष पुरानी गुलामी का जुआ कुछ ही समय में हलके-फुलके आन्दोलन के सहारे उतार फेंका । भूपति कहे जाने वालो का अधिकार छिन गया और प्रजाजन कहे जाने वाले निरीह, भूमिधर बन बैठे । दास-दासियों का क्रय-विक्रय और लूट अपहरण एक वैध व्यवसाय की तरह सुप्रचलित था पर अब उसका कही अता-पता भी नहीं दीखता । पतियों के शव, जीवित पत्नियो, रखैलों के साथ जलाये या गाड़े जाते थे पर अब तो उस प्रथा को महिमा मंडित करना तक निषिद्ध है । अस्पृश्यता का पुराना स्वरूप कहीं भी दीख नहीं पड़ता।

विज्ञान की उमंग उभरी तो दो-तीन शताब्दियों मे ही रेल, मोटर, जलयान, वायुयान, बिजली आदि ने धरती के कोने-कोने में अपनी प्रभुता का परिचय देना आरम्भ कर दिया । अन्तरिक्ष मे उपग्रह चक्कर काटने लगे । रेडियो, टेलीविजन एक अच्छा खासा अजूबा है। राकेटों ने इतनी गति पकड़ ली है कि वे धरती के एक कोने से दूसरे पर जा पहुँचते हे । रोबोटों ने मानवी श्रम का स्थानापन्न होने की घोषणा की है और कम्प्यूटर मानव मस्तिष्क की उपयोगिता को मुँह बिचकाकर चिढ़ाने लगे है । अणु आयुधों तक का कहना है कि लाखों-करोड़ों वर्ष पहले बनी इस समृद्ध और सुन्दर धरती को वे चाहें तो क्षण भर में धूलि बनाकर अन्तरिक्ष में अदृश्य कर सकते है । प्रगति की इस द्रुतगामिता पर हैरत से हतप्रभ होकर ही रह जाना पड़ता है ।

यह भूतकाल की विवेचना हुई । अब वर्तमान पर नजर डालें तो प्रतीत होता है कि इक्कीसवीं सदी की शुभ सम्भावनायें हरी दूब की तरह, अपनी उगती पत्तियों के दीख पडने के स्तर तक पहुँच रही हैं । प्रतिभा परिष्कार की सामयिक आवश्यकता लोगों द्वारा स्वेच्छापूर्वक अपनाये जाने मे आनाकानी करने पर भी वसन्त ऋतु के पुष्प-पल्लवों की तरह, अनायास ही वह अपने वैभव का परिचय देती दीखती है । नस-नस में भरी हुई कृपणता और लोभ लिप्सा पर न जाने कौन ऐसा अंकुश लगा रहा है, जैसे कि उन्मत्त हाथी पर कुशल महावतों द्वारा काबू

है । भागीरथ की सप्तऋषियों की, बुद्ध, शंकर, दयानन्द, विवेकानन्द, गांधी, विनोवा की कथायें, अब प्रत्यक्ष बनकर सामने आ सकेंगी या नहीं, इस शंका-आशंका से आज जबकि हर कहीं निराशा बलवती होती दीख पड़ती है, इतने पर भी नियति की परिवर्तन-प्रत्यावर्तन की क्षमता का समापन हो जाने जैसा विश्वास नहीं किया जा सकता। महाकाल की हुँकारें जो दसों दिशाओं को प्रतिध्वनित कर रही हैं, उन्हें अनसुना कैसे किया जाय? युग चेतना के प्रभात पर्व पर, उदीयमान सविता के आलोक को किस प्रकार भुलाया जाए ? युग अवतरण की सम्भावना गंगावतरण की तरह अद्‌भुत तो है ही, पर साथ ही इस तथ्य से भी इन्कार कैसे किया जाय कि जो कभी चरितार्थ हो चुका है, वह फिर अपनी पुनरावृत्ति करने में असमर्थ ही रह जायगा ? युग संधि की वर्तमान वेला ऐसी ही उथल-पुथलों से भरी हुई है ।

अभी मई ८९ में, ग्राम पंचायतों को विशेष अधिकार देने की बात अचानक बन गई । ग्रामीण स्वराज्य गाँधी जी के आरम्भिक दिनों का सपना था । उस पर चर्चायें होती रहीं, परियोजनायें भी बनती रहीं पर यह किसी को भी भरोसा न था कि ८९ में कुछ माह में ही इस संदर्भ में क्रान्तिकारी परिवर्तन इतनी सरलता से हो गुजरेंगे । राज्य परिवर्तन, खून-खराबी के बिना, आक्रोश-विद्रोह उभरे बिना कहाँ होते हैं ? पर समर्थ हाथों से छिन कर सत्ता निर्धनों के पिछड़ों के हाथों इतनी आसानी से चली जायेगी ? यह बात मानव गले के नीचे उतरती नहीं । फिर भी वह यदि संभव हो जाता है, तो उसमें इन्कार कैसे किया जा सकता है ?

पिछड़ों का संकल्प के स्तर तक पहुँचना असाधारण रूप से समय साध्य और कष्ट साध्य माना जाता है । फिर भी पिछड़ों को, अशिक्षितों को, दलित महिलाओं को इतना आरक्षण मिलना कि उन्हीं का बहुमत बन पड़े, इस तथ्य के सही होते हुए भी, समझ यह स्वीकार नहीं करती कि सब इतनी जल्दी और इतनी सरलता के साथ सम्पन्न हो जायगा । इसे मानवी अन्तराल का उफान या महाकाल का विधान कुछ भी कहा जाय, जो असम्भव होते हुए भी सम्भव होने जा रहा है ।

इस एक उफान के बाद परिवर्तन की घुड़दौड़ समाप्त हो जायगी ? ऐसा कुछ किसी को भी नहीं सोचना चाहिए। दूरदर्शी आँखें देख सकती हैं कि इसके बाद ही नई घटा की तरह सहकारी आन्दोलन पनपेगा और भ्रष्टाचार की ठेकेदारी अपना रास्ता नापती दीखेगी ।

कहा जाता रहा है कि विचौलिये ९४ प्रतिशत डकार जाते हैं और उपभोक्ता के पल्ले मात्र ६ प्रतिशत पड़ पाता है । इतने बड़े व्यवधान से निपटना किस बलबूते पर सम्भव हो ? जिनकी दाढ़ में खून का चस्का लगा है, उन्हें किस प्रकार विरत होने के लिए सहमत किया जा सकेगा ? इसका उत्तर एक ही है- घोड़े के मुँह में लगाई जाने वाली लगाम, ऊँट की नाक में डाली जाने वाली नकेल, हाथी को सीधी राह चलाने वाले अंकुश की तरह जब सहकारिता के आधार पर अर्थ व्यवस्था चलेगी, तो वह अँधेरगर्दी कहाँ पैर टिकाये रह सकेगी, जो प्रगति योजनाओं को निगल-निगल कर मगर की तरह मोटी होती चली जाती है ।

राज्य क्रान्ति में पंचायत राज्य के दूरगामी परिणाम को देखते हुए उसे अभूतपूर्व कहा जा सकता है । इसके पीछे-पीछे सट कर चली आ रही सहकारिता क्रान्ति है, जिसके सही रूप में चरितार्थ होते ही धन को मध्यस्थों द्वारा हड़प लिए जाने की संभावना लुंज-पुंज होकर रह जायेगी, भले ही उसका अस्तित्व पूरी तरह समाप्त होने में कुछ देर लगे ।

शिक्षा के क्षेत्र में प्रौढ़ शिक्षा गले की हड्डी की तरह अटकी हुई है । जिनके हाथों में इन दिनों समाज की बागडोर है वे अशिक्षित रहकर अनगढ़ बने रहें--यह कितने बड़े दुःख की बात है । सरकारी धन से इतनी बड़ी व्यवस्था की उम्मीद भी नहीं की जा सकती, विशेषतया तब जबकि पढ़ने वालों में विद्या अर्जन के लिए अभिरुचि ही न हो--इस समस्या का हल अगले दिनों इस प्रकार निकलेगा कि शिक्षितों को अपने समीप के अशिक्षितों में से एक-दो को साक्षर बनाने के लिए बाधित होना पड़ेगा ।

हराम की कमाई खाने वालों को जब अपराधी माना जायेगा और तिरस्कृत किया जायेगा तथा दूसरी ओर श्रमशीलों को पुण्यात्मा मानकर उन्हें मान-महत्व दिया जायेगा तो उस माहौल में उन अपराधियों का पत्ता साफ हो जायेगा जो जिस-तिस बहाने समय तो काटते है, पर उपार्जन में- अभिवर्धन में योगदान तनिक भी नहीं देते। पाखण्डी, अनाचारी, निठल्ले प्रायः इन्हीं लबादों को ओढ़े अपनी चमड़ी बचाते रहते हैं ।

परिश्रम की कमाई को ही ग्राह्य समझा जायेगा तो फिर दहेज प्रथा, प्रदर्शन, अपव्यय, अहंकार जैसी अनेकों अव्यवस्थाओं की जड़ें कट जायेगी । कुर्सी में शान

ढूँढने वाले तब हथौड़ा-फावड़ा चला रहे होंगे, बूढ़े भी अपने ढंग से इतना कुछ करने लगेंगे जिससे उन्हे अपमान न सहना पड़े वरन् किसी न किसी उपयोगी उत्पादन मे अपने को खपाकर अधिक स्वस्थ, अधिक प्रसन्न और अधिक सम्मानित अनुभव कर सकेंगे, चोरों में कामचोर तब सबसे बुरी श्रेणी में गिने जाने लगेंगे।

यह क्राँतियाँ रेलगाड़ी के डिब्बों की तरह एक के पीछे एक दौड़ती चली आ रही हैं। उनका द्रुतगति से पटरी पर दौड़ना हर आँख वाले को दृष्टिगोचर होगा। अवांछनीय लालच से छुटकारा पाकर औसत नागरिक स्तर का निर्वाह स्वीकार करने वालों के पास इतना श्रम-समय मानस और वैभव बचा रहेगा, जिसे नव-सृजन के लिए नियोजित करने पर इक्कीसवीं सदी के साथ जुड़ी हुई सुखद संभावनाओं को फलित होते इन्हीं दिनों, इन्हीं आँखों से प्रत्यक्ष देखा जा सकेगा। नियति की अभिलाषा है कि मनुष्यों में से अधिकांश प्रतिभावान उभरें। अपने चरित्र और कर्तृत्व से अनेकों को अनुकरण की प्रबल प्रेरणायें प्रदान करें।

यह कुछ ही संकेत है जो युग संधि के इन बारह वर्षों में अंकुर से बढ़कर छायादार वृक्ष की तरह शोभायमान दीख सकेंगे, यह आरम्भिक और अनिवार्य संभावनाओ के संकेत है। इनके सहारे उन समस्याओं का भार अगले ही दिनों हल्का हो जायेगा, जो विनाशकारी विभीषिकाओं की तरह गर्जन-तर्जन करती दीख पड़ती है। इतना बन पड़ने से भी उस उद्यान को पल्लवित होने का अवसर मिल जायेगा, जिस पर अगले दिनो ब्रह्मकमल जैसे पुष्प खिलने और अमरफल जैसे वरदान उभरने वाले हैं।

हममें से प्रत्येक को गिरह बाँध रखनी चाहिए कि नवयुग का भवन बन रहा है, वह बनकर रहेगा। स्मरण रखा जाना चाहिए कि अगला समय उज्ज्वल भविष्य के साथ जुड़ा हुआ है, जो इसमे अवरोध बनकर अड़ेंगे वे मात्र दुर्गति ही सहन करेंगे।

विश्वात्मा ने, परमात्मा ने नवसृजन के संकल्प कर लिए हैं, इनके पूर्ण होकर रहने में संदेह नहीं ही किया जाना चाहिए।'' इक्कीसवीं सदी बनाम उज्ज्वल भविष्य'' का उद्घोष मात्र नारा नही है- इसके पीछे महाकाल का प्रचंड संकल्प सन्निहित है। उसको चरितार्थ होते हुए अगले ही दिनो देखा जा सकेगा।

युग संधि में दिव्य शक्ति की भूमिका

ससार में लोकमंगल प्रयोजनों के लिए अनेकों प्रत्यक्ष प्रयत्न चल रहे हैं। राष्ट्र संघ, विश्व बैंक, शान्ति परिषद, नैतिक पुनरुत्थान, विभिन्न देशों की सरकारें, उद्योग संगठन, स्वेच्छा सेवी संस्थाएँ अपने-अपने ढंग से इस निमित्त अनेकानेक गतिविधियाँ क्रियान्वित कर रही हैं। सभी का उद्देश्य किन्हीं कठिनाइयों से निपटना और सुख शान्ति का पथ प्रशस्त करना है। धर्म सम्प्रदाय एवं राजनैतिक दल भी इसी लक्ष्य को अपनाए हुए हैं। इनके क्रिया-कलापों में कहीं भूल हो रही है, इसका निरीक्षण परीक्षण इन पंक्तियों मे अभीष्ट नहीं है। देखा यही जाना चाहिए कि इन सभी का उद्देश्य एवं गन्तव्य उच्च भावनाओ से प्रेरित हो। असंख्यों के एकाकी प्रयास भी इसी दिशा में बढ़ रहे हों। भावनाशीलों को इनमें से जो समीप पड़ता हो, जिनसे सम्पर्क बनता हो, उनके साथ जुड़कर अथवा एकाकी प्रयत्नों से उन प्रयोजनों में सहयोग करना चाहिए जिनके साथ सद्भावनापूर्ण लोकमंगल जुड़ा हुआ है। ऐसे प्रयत्नों की सराहना की जानी चाहिए और प्रोत्साहित भी किया जाना चाहिए।

प्रज्ञा परिवार ने अपने जिम्मे एक छोटा किन्तु अति महत्वपूर्ण कार्य लिया है, जिसे 'विचार क्रान्ति अभियान' कहा जाता है। प्रकारान्तर से वही धर्मतन्त्र के माध्यम से लोकमानस का परिष्कार भी कहा जा सकता है। सत्प्रवृत्तियों का संवर्धन भी इसी से जुड़ता है और निषेधात्मक भाषा मे इसी को दुष्प्रवृत्ति उन्मूलन के नाम से भी जाना जा सकता है। भौतिक क्षेत्र की प्रगति का महत्व तो है, पर बिना जनमानस में उत्कृष्टता का समावेश किए बात बनती नहीं। इस उपेक्षित और कम महत्व के समझे जाने वाले कार्य को प्रज्ञा परिजन कर दिखायें तो उसमे एक टूटी या छूटी कड़ी को जोड़ने में सहायता ही मिलेगी।

सामान्यतया दृश्य वस्तुएं, परिस्थितियाँ-आवश्यकताएँ ध्यान में रहती है, क्योंकि इन्द्रियाँ उन्ही की जानकारी देती हैं। इसलिए महत्व भी उनको ही मिलता है। इतने पर भी बहुत कुछ ऐसा रह जाता है जो अदृश्य होते हुए भी अति महत्वपूर्ण है। उदाहरण के लिए शरीर को ही लें, उसी का नाम, रूप एवं क्रियाकलाप आम जानकारी मे रहते है। इसी के लिए बहुत कुछ किया भी जाता रहता है पर यह एक प्रकार से विस्मृत भी रहता है कि काय कलेवर के पीछे असली शक्ति प्राण की ही

सन्निहित रहती है । उसके निकल जाने पर फिर काया का अस्तित्व ही मिट जाता है । इस प्राणात्मा की सुसंस्कारिता और प्रगति पर ध्यान दिया जा सका होता, तो नर कलेवर में नारायण के दर्शन होते । क्षुद्र को महान में बदलते देर न लगती, पर चर्म चक्षुओं को कौन समझाये कि जो दीख पड़ता है उसी को सब कुछ न माना जाय । अन्तर्दृष्टि ऐसी भी जगनी चाहिए कि जो अदृश्य को देख सके । उसे भी मान्यता दे सके और कुछ कर सके, जिससे दृश्य का सूत्र संचालन करने वाला अदृश्य भी सही एवं समुन्नत स्थिति में रह सके । वायु अदृश्य है, पर यदि उसमें भरे हुए जीवन तत्व मिलने रुक जायँ तो कुछ ही समय में प्राणियों की सत्ता इस धरती से समाप्त हो जायेगी । पदार्थों के मौलिक घटक परमाणु हैं । उनके भी अति छोटे सम्बन्धी सहचर हैं। यह सब आँखों से तो क्या उपकरणों से भी नहीं दीखते, फिर भी इतने शक्तिशाली हैं कि उनमें से एक के फट जाने पर भी कहर बरसता है । पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति दीखती कहाँ है ? फिर भी उसी के कारण वस्तुएँ यथा स्थान रहती है, अन्यथा वे लुढ़कते अन्तरिक्ष में तैरती दिखाई पड़ने लगें । गुणसूत्र, वंशानुक्रम सिद्धान्त के अनुसार अनेक पीढ़ियों की परम्पराएं अपने में संजोये बैठे रहते हैं, पर वे दीखते कहाँ हैं ? क्या अदृश्य होने के कारण इनकी सत्ता को अस्वीकार कर दिया जाय ?

पदार्थ की तरह ही विश्व का दूसरा पक्ष है- चेतना। जड़-चेतन के सम्मिश्रण से वह समूचा परिकर बना है, जिससे छवि और क्रिया का सूत्र संचालन होता है । प्राणियों और वनस्पतियों की तरह अन्य पदार्थों का भी एक चेतन पक्ष है जिसे समझने के लिए तत्वज्ञान की-अध्यात्म की संरचना हुई है । इस चेतना के चमत्कार विज्ञानियों ने तो दूरदर्शन, दूरश्रवण, अपरोक्षानुभूति, परकाया प्रवेश, पूर्वाभास आदि के रूप में अगणित प्रमाणों के आधार पर जाने है और माना है कि चेतना की स्वतंत्र सत्ता भी कम महत्वपूर्ण और सशक्त नहीं है । 'इकालॉजी' सिद्धान्त के अनुसार वही जागतिक गतिविधियों का सूत्र संचालन करती है । उत्पादन में ही नहीं, परिवर्तन और परिवर्धन की व्यापक हलचलों में भी यही विश्व-व्यवस्था अपने विस्मयकारी अस्तित्व का परिचय देती है ।

चेतन सत्ता के क्षेत्र में ऋषि कल्प तत्वज्ञानी अपनी काय प्रयोगशाला में चेतना को अधिक सशक्त बनाने और उनके आधार पर ऋद्धि-सिद्धियों जैसी उपलब्धियाँ हस्तगत करने में समर्थ रहे हैं । योग के द्वारा मानसिक और तप के माध्यम से कायिक दिव्य चेतना को प्रखर-प्रचण्ड बनाने में सफलताएँ प्राप्त की जाती रही हैं । इनके माध्यम से विश्वव्यापी महत चेतना के साथ सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है और उसके साथ आदान-प्रदान का उपक्रम चल सकना सम्भव होता है। दिव्य शक्तियों की आराधना उपासना करके उनके साथ घनिष्टता एवं मित्रता प्राप्त की जा सकती है । यह मित्रता उपयोगी परिणाम भी प्रस्तुत कर सकती है । इसी तथ्य की ओर इंगित करते हुए गीताकार ने कहा है कि 'तुम देवताओं से भाव सम्बन्ध जोड़ो, वे तुम्हारे साथ ठीक वैसा ही व्यवहार करेंगे ।'

प्रस्तुत विवेचन आज की परिस्थितियों के विषय में किया जा रहा है । इनसे निपटने के लिए क्या आध्यात्मिक शक्ति का भी उपयोग किया जा सकता है ? इसका उत्तर हाँ में विश्वासपूर्वक दिया जा सकता है, ऐसा प्राचीन काल में भी होता रहा है । अनादिकाल से देवासुर संग्राम होते रहे हैं । असुरता आक्रामक और अनाचारी होने के कारण आरम्भिक सफलता प्राप्त करती रही है । देवता सद्भाव पर विश्वास करने के कारण पिछड़ते और हारते रहे हैं । उपाय एक ही शेष बचा कि प्रजापति की शरण में जाया जाय और उनके द्वारा सदैव संगठित होने का परामर्श दिया जाता रहा है। इस शर्त को पूरा करने पर भगवान की सहायता मिलती रही है और देवत्व को अपना खोया वर्चस्व पुनः प्राप्त करने का अवसर मिलता रहा है । इस प्रक्रिया की कितनी ही बार पुनरावृत्ति होती रही है । अवतारों की लीला और गाथा इसी रूप में समय-समय पर घटित हुई है । इस बार भी वही होना है । सज्जनों का सघन संगठन प्राथमिक आवश्यकता है और यदि अपने समय में अपने लोग इसे पूरा कर सके तो दैवी सहायता वर्तमान संकटों के निराकरण हेतु भी मिल सकती है। सतयुग की वापसी का उज्ज्वल भविष्य फिर हस्तगत हो सकता है ।

इन्द्र को वज्र सृष्टा के अदृश्य सहयोग से ही मिला था । दधीचि जैसा साहसी उसी आधार पर मिला था । अदम्य वृत्तासुर के वध का उपक्रम इसी आधार पर बना। दुर्भिक्ष पीड़ित और बूँद-बूँद पानी के लिए तरसती जनता को त्राण दिलाने के लिए स्वर्ग से धरती पर गंगा का अवतरण आवश्यक माना गया । भागीरथ ने तप किया। शिव का सहयोग मिला और संकट का समापन हो गया। दुर्गा अवतरण के पीछे भी यह उपक्रम काम करता देखा जा सकता है । असुरता का वध और देवताओं का विजय

श्री वरण कर सकना उस सहयोग से ही सम्भव हुआ। स्वयंभू मनु और शतरूपा रानी की अनवरत तपश्चर्या भी ऐसे ही लोक कल्याण के निमित्त हुई थी। भगवान कार्तिकेय इसी निमित्त जन्मे थे।

ऋषियों की तपश्चर्याएँ मात्र निजी स्वर्ग-मोक्ष के लिए नहीं हुई थीं। वे दिव्य शक्ति का अवतरण और वितरण करने के निमित्त ही इस कष्ट साध्य मार्ग को अपनाते रहे हैं, उनके मार्गदर्शन और वरदान अनुग्रह से ऐसे पुण्य प्रयोजन पूरे हुए हैं, जिससे अवांछनीयता का समापन और औचित्य का उद्भव सम्भव हो सका।

ईसा, बुद्ध, गाँधी आदि विभूतियों के क्रिया कलापों में दिव्य शक्ति का जुड़ा होना माना जाता है। भारत के स्वतंत्रता के दिनों अरविन्द और रमण जैसे महायोगी उपयुक्त वातावरण बनाने और अगणित प्रतिभाएँ उगाने वाली तप साधना में संलग्न रहे। समुद्र मंथन जैसे महान कार्यों में अदृश्य सत्ता की दृश्य योजना काम करती रही है।

ऋषियों का समग्र जीवन देवत्व को उद्भूत और आमन्त्रित करने में नियोजित रहा है। उनके असाधारण शाप-वरदानों के पीछे मात्र मानवी स्तर का ही नहीं दैवी शक्ति का भी समावेश रहा है। विश्वकर्मा का सृजन कौशल भी ऐसा नहीं था जिसे साधारण मानवी क्षमता के सहारे सम्पन्न किया जा सका होता। हनुमान का एक नाम पवन पुत्र भी है, उन्हें रुद्र का अवतार भी माना गया है। देवता स्वर्ग में निवास करते हैं अर्थात् जहाँ भी स्वर्गीय विभूतियों की बहुलता होती है वहाँ प्रकारान्तर से देवत्व की संरचना को काम करते समझा जा सकता है।

यहाँ मनुष्य के पुरुषार्थ का कम मूल्यांकन नहीं किया जा रहा है, पर यह बताया जा रहा है कि मनुष्य की विशिष्टता देवताओं की शक्ति के समन्वय से ही उभरती है, भले ही वह सुयोग के रूप में उपलब्ध हुई हो या अन्तरिक्ष से अवतरित हुई हो। सृष्टा निराकार है, पर उसका मनुष्य को देवता के रूप में विकसित करने में जो अदृश्य अनुदान कार्य करता है उसकी गरिमा भी कम नहीं आँकी जा सकती।

धर्म के अभ्युदय और अधर्म के विनाश की प्रतिज्ञा करने वालों ने युग-युग से अपनी सम्भावना का विश्वास दिलाया है। ऐसे अवतरण व्यक्ति के रूप में नहीं, शक्ति प्रवाह बनकर कार्यरत होते है। अन्धड़ आते है तो जहाँ-तहाँ फैली गन्दगी को तो समाप्त करते ही हैं, साथ ही अपने दमखम पर साधारण तिनके, पत्ते एवं धूलि कणों को भी उछालकर आकाश तक पहुँचाते रहते हैं। वर्षा के दिनों में बूँदे बरसती है और अपने समन्वय में बड़े-बड़े सरोवरों को लबालब भर देती हैं। ऐसी ही विस्मयकारी उथल-पुथल युग प्रवाह के उमंगने पर होती है। लोगों के मन किसी दिशा विशेष में अनायास ही बहने लगते हैं। भारी वर्षा के दिनों में सारे क्षेत्र की गन्दगी बह जाती है।

युग चेतना का जो प्रवाह इन दिनों चल रहा है उसे भी इसी स्तर का मानना चाहिए। पीछे की हवा का सहारा मिल जाने पर साइकिल सवार बिना पैर चलाए ही अभीष्ट दिशा में अपना वाहन दौड़ाता चला जाता है। ठीक यही बात इन दिनों के समय में भी समझनी चाहिए। दिव्य शक्तियाँ प्रस्तुत अवांछनीयता को उलटना चाहती हैं, फिर उनका सहयोग माँगने वाले उदार चेताओं का आमन्त्रण और सहयोग भी उसमें जुड़ जाय तो उसे सोने और सुगन्ध का सम्मिश्रण ही कहना चाहिए। युग सन्धि की महान परिवर्तन बेला में मानवी प्रयत्न ही सब कुछ नहीं बने रहेंगे उन्हें अदृश्य सत्ता का अभीष्ट सहयोग भी प्राप्त होकर रहेगा।

विनाश उलटेगा, सृजन पनपेगा

सृष्टा का सर्वोपरि उपहार मनुष्य जीवन है। उसमें ऐसी विभूतियों के अगणित भाण्डागार भरे पड़े हैं, जिन्हें सर्वसाधारण द्वारा ऋद्धि-सिद्धि के नाम से जाना जाता है। जीवन शक्तिशाली है। उसकी विभूतियों की कोई नापतौल नहीं। प्रश्न मात्र सदुपयोग दुरुपयोग का है। जिनने जिस परिमाण में उनका सत्प्रयोग कर लिया उनके लिए समृद्धियों की, सम्पदाओं की कोई कमी नहीं साथ ही यह तथ्य भी इसी संदर्भ में जुड़ा हुआ है कि दुरुपयोग करने पर यही जीवन दो ऐसे दुष्परिणाम भी उत्पन्न कर सकता है, जिन्हें असुरता, पैशाचिकता आदि नामों से जाना जाता है, जिनके कारण समूचा वातावरण विषाक्तता एवं नारकीय यंत्रणाओं से भर जाता है।

मनुष्य गलतियाँ करने में पूरा उत्साही है। आवेश में उसे कुमार्ग पर चलने और कुकर्म करने में भी देर नहीं लगती। इतने पर भी उस समझदारी का सर्वत्र अन्त नहीं हो जाता जो दुष्परिणामों को देखकर पैर पीछे हटाने और गलती सुधारने में भी तत्परता बरतती है। पिछली दो शताब्दियों में उसके हाथों ज्ञान-विज्ञान के असाधारण उपलब्धियाँ हस्तगत हुई है। असाधारण सफलतायें अनेक बार उन्माद जैसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर देती हैं। ऐसा

ही कुछ पिछले दिनों भी हुआ। रस्सी के धोखे में कई बार बच्चे सर्प जैसे कालपाश को भी पकड़ लेते हैं। आकर्षक चमक देखकर कई बार जलती आग में भी हाथ डाल देते हैं। जिन विकल्पों का सदुपयोग करके सुख-शान्ति के असीम भाण्डागार हस्तगत किये जा सकते हैं, उन्हीं का दुरुपयोग कर लेने पर ऐसे परिणाम भी सामने आते हैं, जिनके लिए पश्चात्ताप करने, भर्त्सना का भाजन बनने और त्रास सहने के अतिरिक्त और कुछ हाथ नहीं लगता है। इन दिनों ऐसा ही हुआ है। बढ़ी हुई बुद्धिमत्ता और उसके सहारे संग्रह हुई सम्पदा का दुर्भाग्यवश दुरुपयोग ही होते बन पड़ा है और उसकी ऐसी अवांछनीय प्रतिक्रियाएँ सामने आई हैं, कि हम चारो ओर त्रास सहते और त्रास देते हुए देखते हैं।

जीवन के बदले कुछ भी खरीदा जा सकता है। उसका थोड़ा अंश भी जिस प्रयोजन के लिए लग जाता है उसी अनुपात में उसके परिणाम भी सामने आते हैं। भवितव्यता अब महाकाल के माध्यम से समझदारों को यह सिखाने आ रही है कि जीवन का, समय का जितना अधिक बन पड़े सदुपयोग ही करना चाहिए। इसी में अपने लिए और दूसरों के लिए लाभ है।

महाकाल ने इस परिवर्तित संभावना से हर बुद्धिमान को समझाया है कि जब शरीर निर्वाह के लिए आसानी से कुछ घण्टे के श्रम से काम चल सकता है तो शेष बची विभूतियों को सत्प्रयोजनो में क्यों न लगाया जाय ? समझदारों ने इस सत्परामर्श को स्वीकार भी कर लिया है। इसलिए नवयुग के आगमन के प्रथम चरण में जन साधारण की यह मान्यता बनने लगी है कि बचे हुए बहुमूल्य समय का एक बड़ा भाग सत्प्रयोजनों में क्यों न लगाया जाय ? यह मान्यता क्रिया रूप में चल भी पड़ी है। परिवर्तन का तारतम्य बिठाने वाले महाकाल ने ऐसा प्रचलन आरंभ किया है जिससे मानवी शक्ति का विश्वकर्मा के क्रिया-कौशल की तरह सृजन प्रयोजनों के निमित्त उपयोग होने लगे ? इस प्रश्न का उत्तर भी रचनात्मक ही मिल रहा है। युग सृजेताओं की एक ऐसी बड़ी मण्डली कार्यक्षेत्र में उतर रही है जैसी कि पिछले लम्बे समय से पुरुषार्थरत होते कभी देखी नहीं गई।

महाकाल की इस योजना मे प्राथमिकता यही दी गई है कि सृजन शिल्पियों की एक बड़ी टोली जिसमें न्यूनतम एक करोड़ सदस्य हो, कार्यक्षेत्र में उतरें और फैली हुई अवांछनीयता को झाड़-बुहार कर दूर करने के साथ-साथ वह सब भी उतने ही उत्साह के साथ करें जिसके आधार पर उज्ज्वल भविष्य का सर्वतोमुखी सृजन होने जा रहा है।

पिछले ८० वर्षों के प्रयत्न से पच्चीस लाख के करीब ऐसे व्यक्तियों का सृजन हुआ है जिन्हें बिना किसी असमंजस के देवमानवों की संज्ञा दी जा सके। यह फल अब पक चुके हैं और इस स्थिति में पहुँच चुके हैं कि अपने परिपक्व बीजों द्वारा नई पौध का सृजन कर सकें और यह अभिनव उत्पादन एक करोड़ से कम न रहे। इतना बड़ा उत्पादन ऐसे अभिनव उद्यान के रूप में दृष्टिगोचर होगा जिसे धरती पर नन्दनवन की, चन्दनवन की, कल्पवृक्ष परिकर की उपमा दी जा सके।

युग सन्धि के अगले दस वर्षों में एक करोड़ सृजन शिल्पी कार्यक्षेत्र में उतरने जा रहे है। भले ही वे समय की माँग को पूरा करने में समूचा समय न लगा रहे हों पर शरीर की माँग के लिए २० घण्टे लगाते रहने के उपरान्त चार घण्टे तो नव सृजन के लिए लगाते ही रह सकेंगे। औसत दो घण्टे की भी लगाई जाय तो २ करोड़ घण्टे इतने में भी बन जाते हैं और करीब ५ लाख पूरे समय काम करने वालों जितने बनते हैं। इतने शिल्पी जिस निर्माण में अनवरत रूप से संलग्न हों उसका स्तर और परिणाम इतना तो हो ही सकता है जिसके सहारे सत्प्रवृत्तियों के समुदाय को समूचे संसार में विस्तृत होते देखा जा सके।

इन दिनों समूचे संसार में प्रायः ६०० करोड़ मनुष्य हैं। इनमें से बाल, वृद्ध, रोगी, अपंग, अविकसितों की आधी संख्या छोड़ दी जाय तो समर्थ व्यक्ति ३०० करोड़ ही रह जाते हैं। उनको सँभालने-सँवारने के लिए यदि पचास लाख व्यक्तियो का पूरा समय नियोजित हो सके तो उसे कम नहीं आंका जाना चाहिए। अस्पतालों में रोगियों की तुलना में डाक्टर कम होते हैं। दो बैलों के कृषि श्रम से कितने परिवारों का उदर पोषण होता रहता है। प्रतिभा सम्पन्नों की नई पीढ़ी जो इन दिनो सक्रिय दिखाई दे रही है, उसे न्यून नहीं माना जाना चाहिए। प्रतिभायें विकास के क्षेत्र मे जब संलग्न होती है उसमे आशाजनक सफलता प्रस्तुत कर दिखाती है।

रेल, वायुयान, जलयान, कारखाने आदि विशालकाय, संयंत्रो को चलाने वाले कुछ ही ड्राइवरो से काम चल जाता है। पिछले दिनों दुनिया में बिगाड़ उपस्थित करने वाली जनसंख्या थोड़ी ही रही है। उनकी सीमित बुद्धि, सीमित कौशल और सीमित साधनो के सहारे ही इतना अनर्थ खड़ा हो गया है, जिसके कारण सर्वत्र शोकसंताप ही बिखर

पड़े हैं, फिर कोई कारण नहीं कि सृजन प्रयोजन में जुटने वाले समर्थ साधकों की शक्ति का सुनियोजन उत्साहवर्धक सत्परिणाम उत्पन्न न कर सके। एक गड़रिया भेड़ो के झुण्ड को किसी भी दिशा में हाँक ले जाता है। जिनमें नेतृत्व की क्षमता है वे अनौचित्य पर उतारू होने पर भयंकर अहित खड़े कर सकते हैं, तो ऐसा क्यों नहीं हो सकता कि प्रतिभावानों की नई पीढ़ी अपने नये उत्साह और नये पराक्रम के सहारे नव-सृजन का प्रयोजन बढ़-चढ़कर पूरा न कर सके।

देव समुदाय की ऊपर की पंक्तियों मे चर्चा हुई है। इसके साथ ही सुदृढ़ देव संगठन भी चाहिए। उसके लिए एक सरल माध्यम चुना गया है- एक लाख दीप यज्ञों के आयोजनों की समारोह शृंखला। पुराने ढंग के आयोजनो में तो इसके लिए करोड़ों रुपये और हजारों श्रम साधकों को जुट ही जाना चाहिए पर दीपयज्ञों की अभिनव शृंखला तो सरलता और सस्तेपन की दृष्टि से इतनी सर्व सुलभ रखी गई है कि हर आयोजन के पीछे मुट्ठी भर पैसों से ही काम चल जाता है। इतने अधिक श्रम शिल्पी जिस भी काम में जुटें उसे ग्वाल-बालों द्वारा गोवर्धन उठाये जाने और रीछ-वानरों द्वारा समुद्र मे सेतु बनाये जाने जैसे नये उदाहरण देखते-देखते प्रस्तुत कर सकते हैं।

एक करोड़ भागीदारो और एक लाख संगठनो द्वारा नवयुग के नवसृजन का अभूतपूर्व प्रयोजन अपने समय पर अपने उद्देश्य की पूर्ति कर ही सकता है। भले ही वह मोटी दृष्टि से कितना ही भारी, कितना ही कष्ट साध्य और कितना ही असंभव स्तर का क्यों न दीख पड़ता हो?

यह समूचा तंत्र कितने प्रकार के, कितने स्तर के कितने महत्त्वपूर्ण कार्य कितने कम समय में सम्पन्न कर सकेगा? इसकी आज तो कल्पना ही की जा सकती है। पर कल यह भी दीख पड़ेगा कि जो असंभव दीख पड़ता था वह कितनी सरलतापूर्वक कितनी स्वल्प अवधि में संभव हो गया।

मनुष्य समुदाय के, प्राणी जगत के बहुउद्देशीय प्रयोजन इतने अधिक हैं जिनकी साधारणतया गणना नहीं हो सकती और जिन्हें संभव बनने में बुद्धि चकराती है। फिर भी उस महाशक्ति के लिए असंभव क्या हो सकता है? जिसने इतना विशालकाय ब्रह्माण्ड विनिर्मित कर दिखाया और उसके नियंत्रण में उस सब का सृजन, अभिवर्धन और परिवर्तन का क्रम निरन्तर चलता रहता है। सूर्य, चाँद बनाने वाला क्या नहीं बना सकता है? समुद्र की गहराई और पर्वतो की ऊँचाई जिनकी गरिमा की नाप-तौल करने में सर्वथा असमर्थ है।

समझा जाना चाहिए कि युग परिवर्तन जैसी विशालकाय योजना किसी व्यक्ति विशेष की नहीं है। इसके पीछे महाकाल की वैसी समर्थ योजना काम करती है जिसे विश्वकर्मा की सृजन कुशलता से कहीं अधिक बढ़-चढ़ कर माना जा सकता है। उस अरुणोदय की प्रथम झाँकी प्रस्तुत संकल्प के रूप में अपनी प्रथम झलक झाँकी का दर्शन करा रही है, जिसका प्रभाव पूर्व के अरुणोदय से मिलता-जुलता समझा जा सकता है।

मनुष्य की प्रमुख समस्याओं में से प्रत्येक का कलेवर असाधारण विस्तृत है। विश्व राजनीति पर दृष्टिपात किया जाय तो प्रतीत होगा कि यह मकड़ी का जाल कितना विस्तृत है। जिसमें अपने को लगभग सारे अन्तरिक्षीय ताने-बाने के अन्तर्गत जकड़-सा लिया है। फिर सामाजिक समस्याओं की बारी आती है। छोटे-छोटे समुदायों में भाषा, सम्प्रदाय, संस्कृति, प्रथा-प्रचलन आदि के नाम पर इतना बड़ा विभाजन है कि एक मनुष्य जाति को असंख्यों प्रकार में बँटा कहा जा सकता है। मानसिक विचारणायें इतनी अधिक और इतनी चित्र-विचित्र है कि हर मनुष्य अपने आप में एक स्वतंत्र संसार समझा जा सकता है। बाहर से देखने में मानवी शरीर संरचना प्रायः एक जैसी मिलती-जुलती मालूम पड़ती है, पर उसके भीतर विद्यमान अणु-परमाणु, जीवाणु-विषाणु इतने अधिक आकार-प्रकार के है कि उन्हें एक-दूसरे से भिन्न प्रकार की संरचना कह सकते हैं। मान्यताएँ, भावनाएँ, आकांक्षा, अभिरुचियाँ, क्रिया-प्रतिक्रिया भी ऐसी विचित्र है कि एक दीखने वाला मनुष्य अपने आप में एक स्वतंत्र विश्व ब्रह्माण्ड समेटे हुए है।

पदार्थ जगत और भी अधिक विचित्र है। वनस्पतियो, रसायनों, धरातलों, समुद्रों, अन्तरिक्ष की भिन्नताओ को यदि गिना-समझा जाय तो मनुष्य को हतप्रभ होकर रहना पड़ता है। इस समूचे विस्तार का प्रत्येक कण अपनी असंख्य विशेषताओं से भरा-पूरा है। उनमें से प्रत्येक के साथ जुड़ी हुई अगणित भिन्नताओं और समस्याओं का कोई ठिकाना नहीं। इसमे से औचित्य और अनौचित्य का, उपयोगिता, अनुपयोगिता का इतना बड़ा ताना-बाना बुना हुआ है कि उस सबकी कल्पना तक कर सकना असंभव हो जाता है। इस सबको लगभग पूरी तरह उल्टे मे सीधा करना कल्पनातीत कार्य है। इसके लिए एक करोड मनुष्य

और एक लाख संगठनों की जो योजना बनी है उसे नगण्य स्तर का ही कहा जा सकता है। फिर भी एक झलक-झाँकी तो मिलती ही है कि नियन्ता नई सृष्टि की कितनी नई विशेषताओं और विभूतियों को सँजोये हुए कितने बड़े परिवर्तनों का सरंजाम जुटा रहा है। वस्तुस्थिति को देखते हुए एक शब्द में इतना ही कहा जा सकता है कि मनुष्यों के एक छोटे से वर्ग ने महापरिवर्तन के क्षेत्र में अपने हिस्से का जो प्रयास कंधे पर लिया है वह नगण्य है। लगभग वैसा ही जैसा कि किसी हाथी जैसे विशालकाय प्राणी का परिचय दूनी आकृति का मिट्टी का खिलौना दिखाकर बच्चे को सामान्य ज्ञान से अवगत कराया जा रहा हो। क्योंकि व्यक्ति विशेष या संगठन विशेष का, प्रयत्न विशेष का नगण्य सा आभास पाकर हम मात्र इतना ही अनुमान लगा सकते हैं कि स्रष्टा को समय की समस्याओं को सुलझाने के लिए ऐसी चित्र-विचित्र सूझें सूझ रही हैं।

देश, काल, पात्र के अनुरूप कार्यों के विभाजन किये जाते और दायित्व सौंपे जाते हैं। ऐसा ही कुछ इन दिनों भी हो रहा है। सर्वप्रथम प्रतिमायें उभारी जा रही हैं। उनके अन्तराल में समय के अनुरूप उमंगों के ज्वार-भाटे उठाये जा रहे है। कुछ महत्वपूर्ण कर सकने जैसी क्षमताओं के अनुदान दिये जा रहे हैं और जो कुछ उनके द्वारा विलक्षण किया जा रहा है उसके नक्शे बनाये और मॉडल ढाले जा रहे हैं। इन्हीं दिनों इसी स्तर का ऐसा ही कुछ हो रहा है। हम सब इसी कौतुक-कौतूहल को आश्चर्य भरी नजर से देख रहे हैं। अपनी नन्हीं-सी समझ के अनुरूप कुछ को सम्भव, कुछ को विश्वस्त और कुछ को अविश्वस्त मान रहे है। यह अपनी-अपनी मर्जी है किन्तु जो नियति का निर्धारण है वह एक प्रकार से सुनिश्चित है कि अन्धकार का समापन हो चला-ऊषाकाल का अरुणोदय अपने अस्तित्व का परिचय दे रहा है। परिवर्तन को सुनिश्चित दिखा रहा है।

ध्वंस की अपनी शक्ति है। उसकी विनाश लीला से सभी परिचित हैं। चिनगारी किस प्रकार दावानल बनती है और विशाल वन क्षेत्र को किस प्रकार भस्मसात कर देती है इसे सभी जानते है, किन्तु साथ ही जानना यह भी चाहिए कि क्षमता सृजन की भी कमी नहीं है। वर्षा में उगने वाली हरीतिमा का विस्तार सर्वत्र सहज देखा जा सकता है। बादलों की घटाएँ जब बरसती हैं तो जल-थल एक करके रख देती है। यह दृश्य भी अविज्ञात नहीं है। वासन्ती बहार से कौन परिचित नहीं है। उद्भिजों की सृष्टि में किस प्रकार अनगिनत विस्तार होते हैं। यह तथ्य भी अविज्ञात नहीं है।

ध्वंस के उपरान्त बना हुआ सृजन ही हम अपनी आँखों के सामने विद्यमान देखते हैं उसकी बहुलता भी कम नहीं है। अब तक हम ध्वंस के विनाशकारी परिणामों का ही परिचय प्राप्त करते रहे हैं। अब समय आ गया है कि सृजन की पारी को देखें। मरघट की वीभत्सता सर्वविदित है। अब नर्सरी में उगते हुए कौतूहल भी देखना चाहिए। प्रसूति गृह में नित्य कितने बच्चे जन्मते है, इस पर भी दृष्टि डाली जाय तो विदित होगा कि मृत्यु की तुलना में जीवन कहीं अधिक समर्थ है। ध्वंश की तुलना में सृजन की समर्थता अनेक गुनी बढ़ी-चढ़ी है। यदि ऐसा न होता तो सृष्टि में जो विस्तार, गौरव और सौन्दर्य का माहौल बना हुआ है उसका पता भी न चलता।

सृजन की अपनी परम्परा है। वह जब कभी प्रकट होती है, सब कुछ हरा-भरा बनाकर रख देती है। बढ़ोत्तरी की क्षमता किसी प्रकार कमजोर नहीं रहने पाती। समर्थता ही प्रबल है। उसी ने ध्वंश को अनेक बार बर्दाश्त किया है और उसी की समय-समय पर विजय दुंदुभी बजती रही है। अगले दिन ऐसा ही शुभ संदेश लेकर आ रहे है। इक्कीसवीं सदी उज्ज्वल भविष्य की-घाटे की पूर्ति की घोषणा कर रही है। असुरता की विजय पताका जिन दिनों दशों दिशाओं में फहरा रही थी, उन दिनों देवताओं से पलायन के अतिरिक्त और कुछ बन नहीं पड़ रहा था। लगता था कि सृष्टि का क्रम ही उलट जायगा, पर वैसा हुआ नहीं। महाकाली अपने विशाल रूप में प्रकट हुई थी और जो हो रहा था, होने जा रहा था उस सब को अपने प्रबल पराक्रम से उलट कर रख दिया। इस बार भी विनाश के उलट जाने का ही उपक्रम बन रहा है। बन चुका है।

क्षतिपूर्ति की सुनिश्चित गतिशीलता

ग्रह नक्षत्रों के परिभ्रमण की अपनी-अपनी परिधि होती है। वे अपनी-अपनी कक्षाओं में ही परिभ्रमण करते है। समुद्रों की भी अपनी-अपनी सीमा मर्यादा है। अणु-परमाणुओं के अपने-अपने मध्यवर्ती नाभिक होते है। उन्हीं के नियंत्रण में अपने-अपने क्रिया-कलाप गतिशील रहते हैं। सेना के कप्तान अपनी-अपनी कम्पनियों और टुकड़ियों का सूत्र-संचालन करते हैं। सब कुछ एकत्र होते हुए भी वे विभाजन नियंत्रण की दृष्टि से अपनी-अपनी उपयोगिता और आवश्यकता प्रमाणित करते हैं। यों समूचा शरीर एक है, पर उसकी गतिशीलता अंग-प्रत्यगों के समन्वय और सहकार पर निर्भर है।

विश्व व्यवस्था का उल्लेख यों एक शब्द में भी किया जा सकता है, फिर भी अनेक भाग-उपभागों के अपने-अपने दायित्व और क्रिया-कलाप बँटे हुए हैं। सभी मिल-जुलकर काम करते और एक इकाई के रूप में दृष्टिगोचर होते है। नव युग की परिवर्तन प्रक्रिया यो स्पष्ट है पर उसको भी अपनी-अपनी परिधि में वर्गीकृत किया जा सकता है।

राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, निर्माणात्मक और नियंत्रणात्मक उसकी अनेकों व्यवस्थायें हैं। गन्तव्य का लक्ष्य एक होते हुए भी उस तक पहुँचने के लिए अनेकों उपमार्गो की व्यवस्था बनी होती है। पथिक उनमें से किसी भी रेखा को अपनाते हुए चल सकता है और जिधर-तिधर चलते-घूमते उसी लक्ष्य तक पहुँचता है, जहाँ सभी रेखायें एक केन्द्र पर जा मिलती हैं। नव सृजन के लिए भी कितने ही विभाग और विभाजन गिने जा सकते हैं, पर वे सब एक ही उद्देश्य की पूर्ति के लिए गतिशील रहते है। इतने पर भी उनकी नियामक सतायें अपने-अपने विभाग-विभाजन को ही संभालती हुई एकता और एक प्रयोजन को पूरा करने में संलग्न रहती हैं।

नियन्ता इन दिनों महान परिवर्तन की प्रक्रिया मे संलग्न है। सहयोग तो छोटे-छोटे घटकों का भी होता है, पर बड़े दायित्व बड़ी प्रतिभाओं की नियंत्रण रेखा में ही आते हैं। निराकार भगवान अपने प्रयोजन साकार व्यक्तियो द्वारा ही सम्पन्न कराता है। इन प्रयोजनों के लिए विशेष रूप से चुने गये लोगों को प्रतिभावान, प्राणवान, वरिष्ठ, विशिष्ट, नेता, अधिकारी आदि नाम से जाना जाता है। यही प्रक्रिया इन दिनों भी अपने ढंग से सम्पन्न हो रही है। एक ही बड़े निर्धारण में सामान्य श्रेणी के अनेकों श्रमिक, कारीगर संलग्न होते और उसे मिल-जुलकर पूरा करते हैं।

अनेकों प्रतिभायें इन दिनों भी सफाई और चुनाई के दुहरे कार्य करने में संलग्न है। निर्माण जब तक नहीं हो जाता उसका प्रथम चरण सफाई के रूप में देखा जाता है। पेट जब मल-मूत्र से खाली हो जाता है, उसके उपरान्त ही पौष्टिक आहार ग्रहण करने और पचाने का सिलसिला चलता है। रक्त, मांस, अस्थि आदि बनने के लिए एक के बाद दूसरे का उपक्रम अपनाते हुए ही आगे बढ़ता है। मुद्दतों से संचित गंदगी अनाचार, दुराचार के रूप में जहाँ-तहाँ भरी देखी जा सकती है। उसकी सड़न भी अपने ढंग से अवांछनीयता का परिचय देती और जगह घेरे रहती है, पर इस सबको सर्वप्रथम हटाना-मिटाना ही पड़ता है। इसके उपरान्त ही स्वच्छता का सोपान और अभिनव निर्माण का क्रियाकलाप आगे बढ़ता है। सफाई तोड़-फोड़ जैसी लगती है और चुनाई-ढलाई को सृजन कहा जाता है। दोनों के आकार-प्रकार भिन्न होते हुए भी समग्र रूप से एक ही अभिनव स्वरूप में विनिर्मित करता है।

मनुष्य कृत क्रान्तियाँ छोटे-छोटे दायरे और सीमित आकार प्रकार में सम्पन्न होती रहती हैं, पर नियन्ता के क्रिया-कलाप एक साथ चलते और भिन्नता को एकता में बदलते हैं। नव निर्माण की समग्र रूपरेखा उन प्रयोजनों की पूर्ति में संलग्न है, जो शासन व्यवस्था के साथ जुड़े हुए बहुमुखी प्रयोजनों की पूर्ति करते हैं। अर्थतंत्र की अपनी दिशाधारा है। उसमें गड़बड़ी आ जाने पर ही विषमता के खाई-खड्ड दीख पड़ते और कहीं गरीबी कहीं अमीरी के रूप मे उसकी कुरूपता दीख पड़ती है। समतल बनाने वाली प्रक्रिया भी इन्हीं दिनों चल रही है। शिक्षा और सभ्यता के अभाव में हर दिशा में अनगढ़पन दीख पड़ता है। इस कारण उत्पन्न होने वाली अनगढ़ता भी समतल बनाने के प्रयोजन के साथ ही सम्पन्न होती है। इसलिए भी भविष्य में कमी की प्रतीक्षा नहीं की जा सकती। नशेबाजी से लेकर चटोरेपन जैसे दुर्व्यसन भी प्रायः एक ही समय में पनपते हैं। इनको भी एक ही साथ में हटाना बटोरना पड़ता है। वही हो भी रहा है। बिखरी हुई जिन्दगी अपनी कुरूपता का परिचय एक ही साथ मिल-जुल कर देती है। इसे भी सुव्यवस्था में बदलने के लिए एक ही समय में अनेकों तरह के क्रिया-कलाप सम्पन्न करने पड़ते है। वही हो भी रहे हैं।

बहुमुखी प्रयोजनों को उनके कर्त्ता एक ही साथ पूरे नहीं कर लेते। उसके लिए शिल्पी अपने-अपने प्रयोजनो को अपने-अपने ढंग मे पूरे करते हैं। मशीन के छोटे-बड़े कलपुर्जे अलग-अलग ढलते है। बाद में उन सबको मिलाकर एक समग्रता विनिर्मित हो जाती है। इन दिनों उभरते प्रयास भी इसी प्रकार अपने-अपने हिस्से की क्रिया-प्रक्रिया सम्पन्न करने में जागरूकतापूर्वक संलग्न है।

राजनेताओं को ऐसी संरचना में संलग्न देखा जा सकता है। जिसमें अव्यवस्था और अराजकता जैसी विषमता मिट सके। अर्थशास्त्रियों में वह सूझबूझ उठ रही है, जिससे एक जगह अनावश्यक संग्रह और दूसरी जगह गहरी खाई जैसी दरिद्रता, असंतोष और विग्रह खड़े न करें।

धार्मिक क्षेत्र में ऐसी सदाशयता उभर रही है, जिनसे एकता और समता की शालीनता उभरे और स्नेह सद्भाव का वातावरण बने। धर्म के नाम पर मरने और मारने की परिपाटी का अब एक प्रकार से अन्त ही होने जा रहा है। धनाध्यक्षों की पूँजी अपने उस स्थान से विरत हो रही है, जिससे अवांछनीय प्रयत्न और अनाचार के प्रचलन द्वारा किन्हीं का सुसम्पन्न बनने का सहज अवसर मिल जाया करता और कुछ को भूखे-नंगे रहकर किसी प्रकार दिन काटने पड़ते हैं।

औसत आदमी को संकीर्ण स्वार्थपरता ही सूझती है। उस पर अनावश्यक संग्रह की लिप्सा ही छाई रहती है। अपव्यय से ही अहंकार की पूर्ति होती रहती है। अब उस प्रचलन का अन्त ही समझना चाहिए। कारण कि चिन्तन की दिशा धारा उलट रही है। स्वकेन्द्रित रहने वालों के मन इस प्रकार मचल रहे हैं कि उनके द्वारा पुण्य-परमार्थ की ऐसी प्रक्रिया बन पड़े, जो सन्तोष और समाधान के आधार खड़े करे। वासना और तृष्णा की हविश घट जाने पर हर किसी के पास इतना समय और इतना साधन बच जाता है जिसके सहारे अपनी ही नहीं, दूसरों की भी आवश्यकतायें पूरी हो सकें। अपने को उठाने और दूसरों को उठाने की परिस्थितियाँ विनिर्मित करने में कहीं किसी को कमी न पड़े। वस्तुओं की पहले भी कमी नहीं थी। उनका उपयोग करने के स्थान पर जब लोग अवांछनीय दुरुपयोग करने लगते हैं तो औचित्य के स्थान पर अनौचित्य का नगाड़ा बजने लगता है। इन दिनों भी ऐसा ही हो रहा है, पर आवश्यक नहीं कि अवांछनीयता जहाँ की तहाँ बनी रहे। उसे बदल देने वाली शक्तियाँ अपना काम न करें।

संतुलन ही सृष्टि का शाश्वत नियम है। वह यदाकदा ही गड़बड़ाता है। इतने पर भी वह गड़बड़ी देर तक टिकी नहीं रहती। सुव्यवस्था अपना स्थान दुबारा ग्रहण कर लेती है। यह परिवर्तन उपक्रम भी शाश्वत है। गंदगी तो फैलती ही है, पर उसकी सफाई करने वाले भी प्रमाद नहीं बरतते। टूट-फूट होती रहती है, पर मरम्मत करने वालों की भी कमी नहीं रहती। रुग्णता उठती रहती है, पर औषधि और चिकित्सकों का भी अभाव नहीं रहता। मरने वाले मरते हैं, पर उनके बिना धरती जनसंख्या से रहित नहीं हो जाती। सृष्टा नई सृष्टि संरचना और धरती पर चलने वाली गतिविधियों को विधिवत् बनाये रहता है। पिछले दिनों की क्षति द्रुतगामी तो अधिक रही है, पर उसकी पूर्ति का समय भी तो आ पहुँचा। अगले ही दिनों हम नव-सृजन में संलग्न शक्तियों को पूरी तरह सफल होते हुए देखेंगे।

अगले दिनों सौम्य समता की प्रतिष्ठापना होनी ही है

एकता की शक्ति अपार है। तिनके मिलकर जब रस्सा बनता है तो उससे मदोन्मत्त हाथी भी कसे जा सकते हैं। बूँद-बूँद मिलकर समुद्र बनने की उक्ति प्रसिद्ध है। एकाकी तुच्छ इकाइयों का मूल्य नगण्य है पर जब वे मिलकर एकात्म हो जाती है तो उनका स्वरूप और प्रभाव देखते ही बनता है। बिखरी पड़ी ईंटों का कोई महत्त्व नहीं, पर जब वे एकत्रित होकर विशाल भवन का रूप धारण करती है तो उनका महत्त्व और उपयोगिता कुछ और ही होती है। एक सैनिक की शक्ति नगण्य है पर उनका समूह विशाल सेना का रूप धारण करके कुछ और ही चमत्कार दिखाता है। एकता की शक्ति अविदित नहीं है पर खेद इसी बात का है कि मानव-जाति ने छुट-पुट संगठन बनाने के अस्त-व्यस्त प्रयत्न तो किये पर जन समाज की एकात्मकता एवं संघबद्धता पर ध्यान नहीं दिया। आधार और स्वार्थ अलग-अलग होने से वे वर्ग, वर्ण, भाषा, देश, सम्प्रदाय आदि के आधार पर बने छुट-पुट संगठन परस्पर टकराते रहे और विभीषिकायें उत्पन्न करते रहे। सच्चा और स्थिर लाभ तो तभी हो सकता था जब वे समग्र रूप से एक आधार पर संगठित होते। समय आ गया है कि अब उस भूल का परिमार्जन परिष्कार किया जाय।

युग-निर्माण योजना के अन्तर्गत प्रबल प्रयास यह किया जा रहा है कि समस्त मानव-जाति को प्रेम, सौजन्य, सद्भाव, आत्मीयता, समता, ममता आदि उच्च अध्यात्म आदर्शों की आधार शिला पर एकत्रित और संघबद्ध किया जाय। सारा विश्व एक कुटुम्ब बने। मनुष्य मात्र में आत्मीयता और उदारता की प्रवृत्ति जगे और लोग एक दूसरे को सुख-सम्पन्न बनाने के लिये अपने स्वार्थों, सुविधाओ एवं अधिकारों का परित्याग करते हुए प्रसन्नता, सन्तोष एवं गर्व अनुभव करें। इस प्रकार की एकता से ही विश्व में सच्ची शांति स्थापित होगी। आज जो श्रम, चिन्तन, साधन, धन, पुरुषार्थ एवं उत्साह जैसे साधन एक दूसरे को नीचा दिखाने मे, आक्रमणों से सुरक्षा रखने में खर्च होते हैं वे कल सामूहिक, समृद्धि, शान्ति एवं सुविधाओं के अभिवर्धन

में लग जायेंगे तो देखते-देखते यह धरती स्वर्ग बनेगी। तब इस पृथ्वी पर रहने वाले मनुष्य देवताओं का स्तर अपना कर सर्वत्र सुख, शान्ति का सृजन कर रहे होंगे।

विश्वास करना चाहिये कि मनुष्य की अन्त: चेतना अगले दिनों विकसित होगी और ऋतम्भरा प्रज्ञा का विकास उन संकीर्णताओं को नष्ट करेगा जिसके कारण मानवीय शक्तियों का पिछले दिनों घोर दुरुपयोग होता रहा है। गायत्री महामंत्र के तत्त्व-ज्ञान को विकसित कर हम सार्वभौम विवेक को जागृत करने चले हैं। विश्वास करना चाहिये कि विवेकशीलता जैसे-जैसे विकसित होगी, भिन्नताओं की भाषा में सोचने की अपेक्षा मानव मस्तिष्क एकता के आधार ढूँढ़ेगा और अपने प्रसुप्त साहस को जगा कर विश्व-बन्धुत्व के—वसुधैव कुटुम्बकम् के लक्ष्य को प्राप्त करके रहेगा।

युग-निर्माण के चार आधारों में प्रथम है- एकता। दूसरा आधार है—समता। एकता की भाँति ही हमें सार्वभौम समता के लिये प्रयत्न करना है। मनुष्य-मनुष्य के बीच जो आकाश-पाताल जैसा अन्तर आज दिखलाई पड़ रहा है उसे मिटाने और घटाने के लिए हमें साहसपूर्ण कदम बढ़ाने होंगे। असमानता, ईर्ष्या और द्वेष उत्पन्न करती है। उससे गिरे हुये वर्ग में हीनता, दीनता एवं पतनोन्मुख प्रवृत्तियाँ बढ़ती है और उठे हुए वर्ग में विलासिता, अहंकार, लोभ एवं अनुदारता जैसे दोष-दुर्गुण बढते चले जाते हैं। असमानता इतनी ही सह्य और क्षम्य है जितनी हाथ की पाँच उँगलियों में होती है। परिस्थिति और आवश्यकता में अन्तर होने से मनुष्यों का स्तर थोड़ा नीचा-ऊँचा भी रखा जा सकता है पर उसकी वैसी अति नहीं होनी चाहिये जैसी आज है। असमानता ने मनुष्य जाति के बीच भारी खाई उत्पन्न की है और एकता की जड पर भयानक कुठाराघात किया है। ईर्ष्या और द्वेष की आग भड़काने का युद्ध और संघर्षों की विभीषिकायें उत्पन्न करने का—अपराध और पाप बढ़ाने का कारण यह असमानता ही है, जिसने एक ही समाज को असंख्य गुटों में विभक्त किया और अगणित प्रकार की विकृतियाँ उत्पन्न करके सरल-सौजन्य को बेतरह कुचल-मसल डाला। सभी मनुष्य, भगवान् के समान प्रिय पुत्र हैं। सभी के कर्तव्य और अधिकार एक से हैं। सभी को प्रकृति प्रदत्त अनुदानों का समान रूप से लाभ उठाने का अधिकार है। असमानता प्राकृतिक नहीं है, ईश्वर प्रदत्त नहीं है। उसका सृजन मानवीय दुष्टता और दुर्बुद्धि ने किया है। समय आ गया है कि उस भूल को सुधार कर हम खाई पाटें और पुल बाँधें।

इन दिनों मनुष्य-मनुष्य के बीच असमानता जिन आधारों पर अवस्थित है उनमें प्रमुख यह हैं (१) जाति, (२) लिंग, (३) धन, (४) पद। हमें विचारना होगा कि क्या प्रचलित मान्यतायें सही हैं? यदि ये अनुपयुक्त, अनावश्यक, असत्य सिद्ध होती हैं तो विवेक का तकाजा यही है बिना पूर्व मान्यताओं का मोह किये उन्हें हटाने के लिये तत्पर हों और समता की वह प्रक्रिया कार्यान्वित करें जिससे प्रेम और प्रसन्नता की, सुख और सन्तोष की धारा बह चले।

जिस युग-निर्माण आन्दोलन के लिए हमारी जीवन साधना रही है—जिसके लिये हम जलते और तपते रहे हैं—जिसके लिये अपने समस्त साधनों को प्रयुक्त कर रहे है और जिसके लिये जीवित हैं उसका दूसरा चरण समता ही है। असमानता निस्सन्देह अस्वाभाविक और अवांछनीय है। जब तक वह विद्यमान है संसार में अशान्ति ही रहेगी। अज्ञान और अन्याय का सम्मिश्रित स्वरूप असमानता के रूप में प्रकट होता है। इस दो जीभ वाली विष विभीषिका को आस्तीन में छिपी सर्पिणी की तरह साथ रख कर हम चैन से नहीं बैठ सकते।

गाय, घोड़ा, बन्दर, तीतर, कबूतर, मोर आदि पशु-पक्षियों की तरह मनुष्य की भी एक जाति है। ऋतु और परिस्थिति के कारण उनके रंग-रूप में आकृति-प्रकृति में थोड़ा अन्तर हो सकता है पर उससे उसके स्तर में कोई अन्तर नहीं आता। भेड़ों की आकृति रंग-रूप में थोड़ा अन्तर हो सकता है, पहचानने के लिये उनके नाम भी काली भेड, सफेद भेड़ आदि हो सकते हैं पर उससे उनके दर्जे में कोई अन्तर नहीं आता। मनुष्य भी एक प्राणी है और उस प्रकार के समस्त जीवों की एक ही जाति एवं स्थिति है। काले, गोरे और पीले रंगों के कारण आज संसार में बड़ी असमानता फैली है। गरम देशों में जन्मे लोग काली चमड़ी के होते हैं। ठन्डे देशों में जो पैदा होते है वे गोरे होते हैं। मध्य एशिया के मंगोल नस्ल के पीले रंग तिरछी आँखों और चपटी नाक वाले पाये जाते हैं। यह रंग-भेद केवल उत्पत्ति स्थान की जलवायु का अन्तर मात्र बताता है। किन्तु इस आधार पर उनके स्तर को नीचा-ऊँचा नहीं माना जा सकता। गोरे लोग, काली चमड़ी वालो को अपने से केवल रंग के आधार पर नीचा समझे, उनसे घृणा करें, दूर रखें और सार्वभौम मानवीय अधिकारों से उन्हें वंचित

करें यह अन्याय है। संसार में गोरे-काले और पीले के रंग भेद को लेकर नीच-ऊँच की मान्यता बुरी तरह फैली हुई है। दक्षिण अफ्रीका के मूल निवासियों तथा भारतीयों के साथ वहाँ के निवासी गोरे जो नीच-ऊँच की असमानता फैलाये हुए थे उसके विरुद्ध महात्मा गाँधी ने सत्याग्रह चलाया था। अमेरिका में अभी भी घोर संघर्ष हो रहा है। राष्ट्र-संघ ने तथा विश्व के सभी विचारशील लोगों ने इस वर्ण [illegible] है।

विचारकों ने आगे बढ़कर अपने वर्ग की इस संदर्भ में घोर निन्दा की और प्रतिरोध में भारी त्याग भी किये। फिर भी गोरों का आग्रह अपनी सफेद चमड़ी के आधार पर उच्चता सिद्ध करने की ही है और यह दुराग्रह अभी भी संसार के अनेक भागों में द्वेष और अशान्ति फैलाये चले जा रहे हैं। आशा करनी चाहिये कि इस अन्याय और दुराग्रह का एक दिन अन्त होकर रहेगा। विवेकवान् मनुष्य निकट भविष्य में ही यह अनुभव करने लगेगा कि चमड़ी के रंग पर आधारित नीच-ऊँच की मान्यता अनुचित थी। और न्याय एवं सचाई का यह दबाव अन्ततः पड़ेगा ही कि जो अनुचित है उसे इच्छा या अनिच्छा से छोड़ देने के लिये विवश किया जाय।

संसार में अन्यत्र तो गोरी-काली चमड़ी के आधार पर यह वर्ण भेद की निन्दनीय असमानता चल रही है पर भारतवासियों ने तो इस दिशा में गजब ही कर दिया है। एक ही परम्परा, एक ही रक्त, एक ही वंश, एक ही रंग के लोग कल्पित जाति-पाँति के आधार पर एक दूसरे को नीच-ऊँच मानने लगे हैं। और इस विषमता की अति इस सीमा तक पहुँच गई है कि तथाकथित ऊँची जाति वाले—तथाकथित नीची जाति वालों को छूने, पास बिठाने तक में इन्कार करते हैं और मानवीय सामाजिकता के सामान्य शिष्टाचार एवं अधिकार तक से इन्कार करते हैं। संसार का विचारशील वर्ग इस प्रकार के व्यवहार को अनीति एवं दुष्टतापूर्ण ही मानता है। आदर्शवादी, धार्मिक और आध्यात्मिक कहे जाने वाले हिन्दू समाज के माथे पर एक अति व्यंग और उपहास भरा ऐसा लांछन है जिसने उसकी गरिमा का मूल्य बुरी तरह गिरा दिया है।

किसी समय चार वर्णों का सृजन गुण, कर्म, स्वभाव के आधार पर व्यवसायों के विभाजन की दृष्टि से किया गया था, उस व्यवस्था के निर्माताओं ने यह कल्पना तक नहीं की थी कि कोई ऐसा भी समय आ सकता है जब लोग इस विभाजन का जन्म, वंश के आधार पर मानने लगेंगे और इन वर्णों के बीच ऊँच-नीच की मान्यता चल पड़ेगी। वह कल्पनातीत अनहोनी आज हो रही है। सवर्ण और हरिजनों के बीच ही यह खाइयाँ नहीं हैं। स्वयं सवर्ण, सवर्ण के बीच और छूत-अछूत के बीच जातियों और उपजातियों के आधार पर यह ऊँच-नीच की मान्यता बुरी तरह पनप रही है। एक ही जाति के लोग अपनी उपजातियों को ऊँचा-नीचा मानते हैं। एक ही उपजाति के लोग अपने में 'विस्वा' आदि की निराधार मान्यतायें सोच कर ऊँच-नीच बने बैठे हैं। एक अछूत दूसरी जाति के अछूत के साथ ऊँच-नीच अपनाये बैठा है। इस प्रकार जातियों और उपजातियों में बंटा हुआ भारतवर्ष—हिन्दू समाज—बुरी तरह से विलगाव के रोग से ग्रसित हर दृष्टि से दीन-दुर्बल होता चला जा रहा है। देखने भर के लिए हम एक हैं पर नारंगी के भीतर जिस प्रकार टुकड़े-टुकड़े के भीतर छोटे टुकड़े भरे रहते हैं उसी प्रकार हम जातियों-उपजातियों और ऊँच-नीच की कुछ मान्यताओं में बुरी तरह चिपके हुए हैं। उसका दुष्परिणाम जातीय जीवन की अस्त-व्यस्तता, फूट और प्रथकता के रूप में तो देखा ही जाता है। सबसे बड़ी कठिनाई विवाह-शादी में होती है। अपनी ही उपजाति को संकीर्ण परिधि में अच्छे लड़की-लड़के मिलते नहीं तो दहेज और कन्या-विक्रय जैसी दुष्टतायें पनपती हैं। आर्थिक स्थिति नष्ट होती है और उपयुक्त जोड़े न मिलने से दाम्पत्य जीवन विषम बनते हैं। ढूँढ़-खोज में अनावश्यक समय और शक्ति खर्च होती है, अकारण परेशानी बढ़ती है सो अलग। यह विष राजनीति तक मे प्रवेश कर चुका है और अब चुनावों में जीतने के लिये जाति-पाँति के आधार पर वोटरों का समर्थन प्राप्त करना एक प्रमुख तथ्य बन गया है। यह परिपाटी प्रजातन्त्र के मूल आधार को ही नष्ट करने आ रही है। भीतर ही भीतर जो दुर्बुद्धि पनप रही है उससे देश के टुकड़े-टुकड़े हो जाने—गृह-युद्ध खड़ा हो जाने—तथा जातीय जीवन की एकता नष्ट हो जाने का पूरा खतरा मौजूद है।

इस प्रकार की असमानताओं का अन्त करके ही उस नये युग का सूत्रपात किया जा सकेगा जिसके चार चरणों में 'समता' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वसुधैव कुटुम्बकम् के आदर्श से इस प्रकार की प्रथकताओं और असमानताओं का कोई तालमेल नहीं। दोनों ही साथ-साथ नहीं चल सकतीं। अन्धकार और प्रकाश साथ-साथ नहीं रह सकते। विश्व बन्धुत्व और विश्व-कुटुम्ब की परिपाटी अपनाने के सत्परिणामों से लाभान्वित होना है तो वर्ण भेद की अनीति

और अज्ञान मूलक कड़ियों से चिपका नहीं रहा जा सकता। रंग-भेद, वर्ण-भेद, जाति-भेद, ऊँच-नीच की मूढ़तायें क्रमशः हमें घटानी और हटानी ही पड़ेंगी। मनुष्य जाति एक है इस एकता में जाति-पाँति की—वर्ण भेद की असमानता बुरी तरह अवरोध उत्पन्न कर रही है। आज नहीं तो कल इसे छोड़ना ही होगा। परिस्थितियां इसके लिये विवश करेंगी। समझदारी का तकाजा उदारता और व्यापकता बताने का है। संकीर्णता की परिधि में आगे बढ़ना ही होगा। आज भले ही यह बात गले न उतरे पर कल तो यह एक अनिवार्य आवश्यकता अनुभव होगी। जातीय जीवन में मनुष्य मात्र के नैसर्गिक और नागरिक अधिकारों को सम्मान के स्तर पर मान्यता देनी होगी। अच्छा हो कि विवशता आने से पूर्व उसे हम विवेकशीलता के आधार पर ही स्वीकृति और सहमति प्रदान करें।

असमानताओं में दूसरी असमानता लिंग भेद की है। नर-नारी के बीच पिछले सामन्तवादी अन्धकार युग में आकाश-पाताल जैसी खाई उत्पन्न हो गई थी। वह धीरे-धीरे कम तो हो रही है पर अभी वह मूढ़ता अवाँछनीय रूप में विद्यमान है। पिछले दिनों तो नारी का मूल्य भेड़-बकरी जितना रह गया था। उन्हें दान कर या बेच देने में कुछ भी अनुचित नहीं माना जाता था, पति कभी भी पत्नी का परित्याग कर सकता था। पशुओं के मुँह पर नकाब नहीं चढ़ाये जाते पर स्त्रियाँ मुँह पर नकाब चढ़ाकर पुरुषों के आगे निकल सकती थीं। पति के मर जाने पर स्त्रियों के आजीवन वैधव्य या सती बनकर जल जाना ही मार्ग था पर पुरुष स्त्री के मरने के बाद ही नहीं, उसके जीवित रहते हुए भी अनेकों पत्नियाँ रख सकते थे। पत्नी के दुराचारिणी होने पर उसकी हत्या तक कर दी जाती थी पर पति खुले आम वैसा ही दुराचरण करने के लिये स्वतंत्र थे। उत्तराधिकार से पत्नियाँ वंचित थीं। कन्या का जन्म दुर्भाग्य और पुत्र का जन्म सौभाग्य माना जाता था, वधू तब स्वीकार की जाती थी जब वह अपने पिता की सारी सम्पत्ति भी दहेज में लेकर आवे। कम दहेज मिलने पर मर्मान्तक प्रताड़नायें अभी वधुओं को सहनी पड़ती हैं। शिक्षा से, स्वावलम्बन से उन्हें वञ्चित रहना पड़ता था। एक तरह से अपाहिज एवं घर के पिंजड़े में बन्द पंछी जैसी स्थिति उनकी थी। यद्यपि समय ने थोड़ा सुधार किया है। बड़े नगरों में अपेक्षाकृत स्थिति कुछ अधिक सुधरी पर पिछड़े हुए देहातों में अभी भी वही दुर्दशा है।

नर और नारी—दो घटकों से मिलकर समाज बना है। दोनों की ही स्थिति समान है। गाड़ी के दो पहियों की तरह दोनों की स्थिति—उपयोगिता—कर्तव्य एवं अधिकार समान है। इनमें से न कोई महत्त्वहीन है और न महत्त्वपूर्ण। न्याय की पुकार है कि दोनों को अपने व्यक्तित्व समान रूप से विकसित करने का अवसर मिले। दोनों ही समाज के निर्माण में समान योगदान करें। दोनों के लिये नियम, कर्त्तव्य, कानून एवं अधिकार एक हैं। यदि घूंघट मारना, पर्दा करना अच्छी बात है तो वह पुरुषों और स्त्रियों पर समान रूप से प्रयुक्त कराया जाय। पतिव्रत धर्म की तरह पत्नीव्रत भी आवश्यक है। पर्दा करके स्त्रियाँ पतिव्रत धर्म बचा सकती हैं तो पुरुषों के लिए भी वैसी ही व्यवस्था करके पत्नीव्रत धर्म का पालन कराया जाना चाहिये। स्त्रियाँ पति के साथ सती होती हों तो पतियों को भी ठीक वैसा ही अनुकरण उपस्थित करना चाहिये। एकांगी, पक्षपातपूर्ण कानून, प्रतिबंध न्याय की कसौटी पर खरे सिद्ध न होंगे और उनका समर्थन देर तक नहीं हो सकता। अगला समय अनीति सहन नहीं करेगा भले ही वह किसी वर्ग की क्यों न हो। राजतन्त्र समाप्त हो गये अब वर्गतन्त्र भी समाप्त होने जा रहा है। नये युग में किसी को इस आधार पर ऊँच-नीच न माना जायगा कि उसका अमुक वंश में जन्म हुआ है। बड़प्पन के आधार केवल गुण, कर्म, स्वभाव रह जायेंगे। रंग-जाति या वंश के आधार पर किसी को न तो अहंकार करने का अवसर रहेगा और न इस कारण किसी को हीनता-दीनता अनुभव करनी पड़ेगी।

तीसरी असमानता धन के आधार पर है। धनी और निर्धन की असमानता के कारण एक व्यक्ति देवताओं जैसी सुख-सुविधायें भोगता है और अप्रत्याशित सम्मान पाता है। दूसरी ओर निर्धन व्यक्ति उच्च, वस्त्र, घर, चिकित्सा, शिक्षा जैसी सुविधाओं से वंचित रह जाता है। यह विषमता न ईश्वर प्रदत्त है न भाग्य का खेल, और न पुरुषार्थ की न्यूनाधिकता पर अवलम्बित। यह समाज में प्रचलित अर्थ प्रणाली के दोषपूर्ण होने का परिणाम है। पूँजी पर व्यक्ति का अधिकार न होकर समाज का स्वामित्व हो। हर व्यक्ति को अपनी क्षमता के अनुरूप श्रम करने को बाध्य होना पड़े और आवश्यकताओं के अनुरूप साधन मिले तो गरीब-अमीर का वर्तमान भेद देखते-देखते नष्ट हो सकता है और हर व्यक्ति सुख-शान्ति पूर्वक जीवनयापन की सुविधायें सहज ही पा सकता है। संग्रह पर उत्तराधिकार नियन्त्रण रहे तो एक जगह पहाड़ जैसी अमीरी—दूसरी जगह खाई

जैसी गरीबी के विक्षोभ उत्पन्न करने वाले दृश्य देखने को न मिलें। न किसी को अहंकार में उद्धत होना पड़े, न व्यसन-व्यभिचार में डूबना पड़े—न कोई दाने-दाने को मुँहताज रहेऔर न किसी को कष्टसाध्य जिन्दगी जीने को विवश होना पड़े। निस्सन्देह प्रचलित अर्थतन्त्र आदि दोषपूर्ण हैं। उसी के कारण ठगी, चोरी, जुआ, शोषण, विलासिता आदि अगणित प्रकार के अपराध और ईर्ष्या-द्वेष के मनोविकार उत्पन्न होते हैं। इसे बदला ही जाना चाहिये।

जिन देशों ने पूँजीवाद व्यवस्था को बदल कर उसके स्थान पर समाजवादी व्यवस्था प्रचलित की है वहाँ से उपरोक्त दोष प्रायः समाप्त हो गये हैं। वहाँ हर व्यक्ति को उपलब्ध उपभोग सामग्री एवं सुविधाओं का लाभ समान रूप से मिलता है और किसी को अनिश्चित भविष्य की आशंका से संग्रह करने के लिए चिन्तित नहीं रहना पड़ता। यही प्रणाली, प्राचीन काल में प्रचलित थी। तब इसे दान पद्धति कहते थे। जो अधिक उपार्जन कर सकते थे उसका आन्तरिक्त उपभोग या संग्रह नहीं करते थे। वरन् सामान्य अतिरिकों की तरह सादा जीवन जीते हुए अतिरिक्त उपार्जन को दान रूप में लौटा देते थे। अब मनुष्य अधिक स्वार्थी, विलासी और लालची हो गया है। दान अब कर्त्तव्य नहीं रहा। वरन् स्वार्थ के प्रलोभन पर—यश-सम्मान के लालच पर—ही उसका लंगड़ा-लूला स्वरूप प्रचलित है। जहाँ थोड़ा बहुत प्रचलित है भी वहाँ उसका लाभ पात्रों को नहीं कुपात्रों को मिलता है। समाज की असमानता दूर करने में उससे सहायता नहीं मिलती। वरन् एक ओर अहंकार दूसरी ओर दीनता की दुष्प्रवृत्तियाँ पनपती है। प्राचीन काल में ऐसा न था। तब आध्यात्मिक साम्यवाद प्रचलित था। परिग्रह को—संग्रह को-अतिरिक्त उपभोग को, विलासिता को पाप माना जाता था। अब वे परम्परायें न रहीं तो राज-सत्ता के नियन्त्रण में धन के ऊपर समाज का स्वामित्व एवं वितरण व्यवस्था रहने की आवश्यकता अनुभव की जा रही है। अगले दिनों यही प्रणाली प्रचलित होगी। अर्थतन्त्र पर व्यक्ति का नहीं समाज का नियन्त्रण होना न्यायोचित है। मनुष्य के स्वाभाविक आदशो की रक्षा इसी से होगी। धरती की पीठ पर जो भी जन्मे हैं उन्हे प्रवृत्ति प्रदत्त सुविधाओं का समान लाभ मिलना ही चाहिये। व्यक्ति की आवश्यकता और उपयोगिता को दृष्टि से अन्तर रह भी सकता है वह हाथ की पाँच उँगलियों के अनुपात की तरह इतना न्यून होना चाहिये कि उससे विकृतियाँ उत्पन्न न हों।

जिस नव युग की आराधना में हम संलग्न हैं उसकी अर्थ प्रणाली में समानता को ही आधार माना जायेगा। गरीब और अमीर दोनों का ही अस्तित्व न रहेगा। प्रस्तुत परिस्थितियों के अनुरूप साधनों से काम चलाकर हर किसी को सन्तोष करना पड़ेगा। तब लालच से प्रेरित असंख्य अपराधों को तथा ईर्ष्या-द्वेष के कारण उत्पन्न होने वाली आत्मिक अशान्ति की कोई गुंजायश न रहेगी। न कोई निठल्ला रहेगा न किसी को बेतरह पिसना पड़ेगा। आवश्यकता इस बात की है कि हम जन साधारण को इस अवश्यम्भावी परिवर्तन से परिचित करायें। सम्पन्न लोगों में अभी से उस व्याख्या के अनुरूप ढलने की—अनावश्यक संग्रह को उत्तराधिकारियों के लिये जोड़ने-गाँठने की ममता छोड़कर उसे उपयोगी कार्यो में खर्च कर देने की प्रवृत्ति आ जाये और राजतन्त्र का लक्ष्य पूरा किया जाना सम्भव हो सके।

चौथी असमानता 'पद' की है। प्रातभाशील एवं सुयोग्य व्यक्तियों को उनकी अतिरिक्त क्षमता के अनुरूप काम सौंपे जाँय यह ठीक है। उन्हें अपनी ईश्वर प्रदत्त विशेषताओं और विभूतियों का लाभ जन साधारण को देते हुए अपना भाग्य सराहना चाहिये एवं महत्त्वपूर्ण कार्य करने का अवसर पाने का सन्तोष करना चाहिये। इतना ही उनके लिये काफी है। पद के कारण अत्यधिक सुविधा एवं सम्मान का मिलना गलत है। इस प्रलोभन में पद प्राप्त करने के लिए अयोग्य लोगों में भी उसके लिये लिप्सा एव प्रतिद्वन्द्विता पैदा होती है और अनेक अव्यवस्थाओं का जन्म होता है।

आज बड़े सरकारी अफसरों को जो ठाट-बाट, वेतन एवं असाधारण, अस्वाभाविक, अनावश्यक सम्मान उपलब्ध होता है इससे उनका जन सम्पर्क एवं सेवा क्षेत्र कुण्ठित होता है तथा राजा-रंक जैसी खाई बढ़ती चली जाती है। चुनावों में खड़े होने वाले अयोग्य व्यक्तियों में उपहासास्पद प्रतिद्वन्द्विता देखते ही बनती है। महन्त और मठाधीशों को अकारण जो धन-सम्मान मिलता है उससे अवाँछनीय व्यक्ति ही उन पदों पर जा दीखते हैं। यदि उच्च पदों पर शान्त, सन्तोष एवं सेवा के अनुपात से उपलब्ध लोक-श्रद्धा मात्र का ही लाभ मिले और आज जो आर्थिक लाभ, अहंकार पूर्ति के अवसर एवं यश-सम्मान, पद

अकारण मिलते हैं वे न मिले तो अवाँछनीय व्यक्तियों को उसके लिए धमाचौकड़ी मचाने का आकर्षण न रह जाय और केवल उदात्त व्यक्ति ही उत्कृष्ट आदर्श लेकर उन महान् उत्तरदायित्वों को अपने कंधों पर उठाने के लिये तैयार हों।

धन के द्वारा यदि सुख, साधन, सम्मान आदि न मिले तो फिर कोई धनी बनने के लिये अवाँछनीय मार्ग न अपनाये। इसी प्रकार पद के कारण यदि भौतिक लाभ न मिले तो उसके लिये अवांछनीय प्रतिस्पर्धा की गुंजायश न रहे। सुयोग्य, सेवाभावी सज्जनों के कन्धे पर ही वे उत्तरदायित्व आवें और वे पद को गौरवान्वित करने वाले अनुकरणीय आदर्शों की स्थापना करने में समर्थ हो सकें। प्राचीन प्रणाली यही है। राजा जनक—राज्य प्रमुख तो थे पर अपनी आजीविका हल चला कर थोड़ी-सी कृषि द्वारा उपार्जित करते थे। महर्षि चाणक्य गुप्त साम्राज्य के महामन्त्री थे पर वे सन्तों जैसी सादगी का ही जीवनयापन करते थे। वशिष्ठ रघुवंशियों के राज्य संचालक एवं पुरोहित थे पर उन्होंने अतिरिक्त सुविधायें नहीं ली थीं। ईश्वरचन्द विद्यासागर ५००) मासिक वेतन पाते थे पर अपना गुजारा ५०) मासिक में करके शेष धन असमर्थ छात्रों की शिक्षा व्यवस्था में खर्च करते थे। उच्च पदों के महान् उत्तरदायित्व को ठीक तरह वहन कर सकने की क्षमता इस प्रकार के उदार उच्च चरित्र व्यक्तियों में ही हो सकती है। जो लोभी, विलापी और अहंकारी बनेंगे तो उससे अन्ततः समाज का अहित ही होगा। प्राचीन काल की ब्राह्मण परम्परा की विशेषता यही है कि मूर्धन्य व्यक्तियों को—वर्चस्व सम्पन्न पदाधिकारियों को साधारण जनता के स्तर का ही नहीं वरन् उससे भी कुछ हलका भौतिक लाभ लेकर सन्तुष्ट होना चाहिये। पदों के कारण आज जन साधारण में जो असमानता, विषमता उत्पन्न हो रही है यदि वह समाप्त न की जायगी तो हमारा नेतृत्व हर क्षेत्र में केवल अवाँछनीय व्यक्ति ही करेंगे और उसका दुष्परिणाम अनन्त काल तक जनता को भोगना पड़ेगा। धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक हर क्षेत्र में पद का गौरव तभी रहेगा जब उसका भार सुयोग्य व्यक्ति वहन करें और नैतिक सुयोग्यता की एक महत्त्वपूर्ण कसौटी यह है कि पदाधिकारी जन-साधारण को उपलब्ध होने वाली—अथवा अपने लोक कार्यों के लिए अनिवार्य सुविधाओं के अतिरिक्त व्यक्तिगत लाभ देने वाली सभी सुविधाओं से इन्कार कर दें। आज पदों का वर्तमान स्वरूप असमानता फैलाने और नेतृत्व को सुयोग्य हाथों से छीन कर अयोग्य हाथों में दे देने का निमित्त बना हुआ है। वर्ण, लिंग, धन की ही तरह हमें पदों का भी स्वरूप बदलना पड़ेगा अन्यथा किसी भी संस्था का स्वरूप निर्मल न रह सकेगा।

नया युग तेजी से बढ़ता चला आ रहा है। उसे कोई रोक न सकेगा। प्राचीन काल की महान् परम्पराओं को अब पुनः प्रतिष्ठित किया जाना है और मध्यकालीन अन्धकार युग की दुष्ट विषमताओं का तिरोधान होना है। महाकाल उसके लिये आवश्यक व्यवस्था बना रहे हैं और तदनुकूल आधार उत्पन्न कर रहे हैं। युग का परिवर्तन अवश्यम्भावी है। हमारा छोटा-सा जीवन इसी की घोषणा करने—सूचना देने के लिये है। परिस्थिति के अनुरूप जो समय रहते बदल सकेंगे वे सन्तोष और सम्मान प्राप्त करेंगे और जो बदलेंगे नहीं, मूढ़ता के लिये दुराग्रह करेंगे वे बुरी तरह कुचले जायेंगे। उनके हाथ अपयश, असन्तोष एवं पश्चात्ताप के अतिरिक्त और कुछ न लगेगा।

हमने अपना जीवन नव युग की पूर्व सूचना देने—महाकाल के इस महान् प्रयोजन में सम्मिलित होने के लिये प्रबुद्ध आत्माओं को निमन्त्रण देने में लगा दिया। जिस काम के लिये हम आये थे पूरा होने को है। अगला काम महाकाल स्वयं करेंगे। अगले दिन उनकी प्रेरणा से एक से एक बढ़कर प्रतिभाशाली और प्रबुद्ध आत्मायें सामने आयेंगी। ये ऐसा एक व्यापक संघर्ष विश्वव्यापी परिमाण में प्रस्तुत करेंगी जो असमानता के सारे कारणों को तोड़-मरोड़ कर फेंक दे और समता की मंगलमयी परिस्थितियों का शुभारंभ करके इसी धरती पर स्वर्ग का वातावरण सम्भव कर दिखावें।

युग संधि के अगले दिन

समझदार और दूरदर्शी अध्यापक, अपने सभी विद्यार्थियों का हित समान रूप से चाहते हैं और उज्ज्वल भविष्य की ही कामना करते हैं। इतने पर भी परिस्थितियों के अनुसार उन्हें पृथक्-पृथक् प्रकार के व्यवहार करने पड़ते हैं। उद्दण्डता के प्रति नाराजी और प्रताड़ना का व्यवहार रहता है, पर जो अनुशासन में रहते तथा जिम्मेदारी पूर्वक अपना काम करते हैं, उन्हें तदनुरूप उपहार देने की भी व्यवस्था करते हैं। इन दो प्रकार के व्यवहारों में अध्यापक का कोई स्वार्थ नहीं होता, वरन् हित कामना के अनुरूप काम देने वाले तरीके ही वह अपनाता है।

नियन्ता ने भी दो ऐसे ही माध्यम अपने हाथ में रखे हैं; ताकि उनके सहारे परिस्थितियों के अनुरूप व्यवहार किया और काम चलाया जा सके। पापी नरक का त्रास

भोगते हैं और पुण्यात्माओं को स्वर्ग-सुख का रसास्वादन करने का अवसर मिलता है। दंड प्रक्रिया के इसी स्वरूप का नाम महाकाल है। वही प्रताड़ना की-दुष्प्रवृत्तियों की व्यवस्था करता है। दूसरा पक्ष है- सुखद संभावना। अनुशासन में रहने वाले, मर्यादाएँ पालने वाले और मानवोचित सत्कर्मों को अपनाने वाले सुखद संभावनाओं के पात्र होते हैं। आलंकारिक कथा-गाथाओं में उसके कई नाम दिये गये हैं :- पारस, कल्पवृक्ष प्रसिद्ध नाम हैं ही, एक तीसरा भी है- विश्वकर्मा। इन सब नामों के मूल में उद्देश्य मात्र यही है कि कर्म का प्रतिफल मिल कर रहता है, भले ही उसमें कुछ कारणवश विलम्ब लग जाय।

पिछले दो हजार वर्षों में लोगों ने, विशेषतया शक्तिशाली वर्ग ने अपनी क्षमताओं का दुरुपयोग किया है; उसे मूलत: अनीति में, उद्दण्डता-दुष्टता आदि में नियोजित किया है। उसका प्रतिफल सामने है। हममें से अधिकांश शारीरिक और मानसिक त्रास सह रहे हैं। दुरुपयोग के कारण दरिद्रता का भाजन बनना पड़ता है। दुर्व्यवहार के कारण द्वेष और विग्रह बढ़ता रहता है। ईश्वरीय मर्यादाओं का उल्लंघन करने के कारण उन दैवी विपत्तियों का सामना करना पड़ रहा है, जिन्हें प्राय: पापात्मा लोग भुगतते हैं। निन्दा, भर्त्सना, अप्रामाणिकता, अविश्वास आदि का भाजन और दुर्घटनाओं के शिकार प्राय: ऐसे ही लोग बनते हैं।

जिन दिनों अनाचार का प्रचलन बढ़ जाता है, उन दिनों की परिस्थितियाँ ऐसी बन पड़ती हैं, जिन्हें कलियुग कहा जा सके। दुष्कर्म करने वाले अपने किये का दण्ड भुगतते हैं, पर मूकदर्शक बनकर अनीति को देखते रहने वाले, प्रतिरक्षा न करने वाले भी अपनी कर्तव्यहीनता, असामाजिकता एवं कायरता के कारण उसी वर्ग में आ जाते हैं; भले ही उनने प्रत्यक्ष दुष्कर्म न किये हों। ऐसी घटनाएँ घटित होती ही रहती हैं। कभी-कभी इसमें देर भी लग जाती है। आज का दूध कल दही बनता है। आज का बोया बीज कई दिनों बाद अंकुर बनता है और उसको वृक्ष बनने में तो और भी देर लग जाती है।

पिछली दो सहस्राब्दियों में सत्ताधारियों ने, धर्मोपदेशकों ने, चतुरजनों ने, धनाध्यक्षों ने, कलाकारो ने अपने समय की धूर्तताएँ करने में कमी नहीं छोड़ी है। इस भूल के कारण अनाचार बढ़ता रहा है और उसकी प्रतिक्रिया इस प्रकार सामने आती रही है कि व्यक्ति और समाज का ढाँचा बुरी तरह लड़खड़ाने लगा है। इसी का प्रतिफल है कि सर्वत्र असंतोष और असमंजस अपने बुरे रूप में सामने आता रहा है। अगले दिनों यह स्थिति और भी भयंकर होने की संभावना है। इसी कारण सर्वत्र असंतोष, विग्रह और अनाचार की मात्रा असाधारण रूप से बढ़ रही है और असंख्यों कुसंभावनाएँ, एक के बाद एक उभरती चली आ रही हैं। यदि क्रम यही रहा, तो अगले दिनों ऐसे दुर्दिन देखने को मिल सकते हैं, जिससे मानवी सत्ता और महत्ता दोनों ही संकट में पड़ी हुई दिखाई देने लगे।

स्रष्टा संतुलन का ध्यान रखता है। वह यह सब तभी तक सहन करता है, जब तक कि खेल-खिलवाड़ की प्रतिक्रिया सहनशक्ति की मर्यादा के भीतर रहती है। जब बात आगे बढ़ जाती है, तो उसे भी बड़े कदम उठाने पड़ते हैं। अस्पताल में जिस प्रकार भयंकर दुर्घटनाग्रस्त रोगी को उपचार क्रम में सबसे आगे रखा जाता है, 'इन्टेन्सिव केयर' की जाती है; उसी प्रकार जहाँ अधिक भयंकर दुर्घटना की संभावना रहती है, वहाँ पहले हाथ डाला जाता है।

बिगड़ते को बिगड़ने देना- यह मूकदर्शकों का-गैर जिम्मेदारों का काम है। भगवान ऐसा नहीं है लोग भले ही बिगाड़ करते हों, पर भगवान अन्तत: सब को सँभाल लेते हैं। बूढ़ा होने पर शरीर मर जाता है। घर वाले, कुटुम्बी उसे जला देते हैं, पर भगवान उसे नया जन्म देता है और फिर उसे हँसने-खेलने की स्थिति में पहुँचा देता है। पिछले दिनों बिगाड़ बहुत हुआ। प्रताड़ना का समय बीत चुका है। जो शेष रहा है, वह सन् ९५ से लेकर २,००० के बीच पाँच वर्षों में बीत जायेगा। इन दस वर्षों में महाकाल की दुहरी भूमिका सम्पन्न होगी। प्रसव-जैसी स्थिति होगी। प्रसव काल में एक ओर जहाँ प्रसूता को असह्य कष्ट सहना पड़ता है, वहाँ दूसरी ओर सन्तान प्राप्ति की सुन्दर सम्भावना भी मन ही मन पुलकन उत्पन्न करती रहती है।

युग संधि के यह पाँच वर्ष ठीक ऐसे ही दुहरी भूमिकाओं से भरे हुए हैं। पिछले दो हजार वर्षों में जो अनीति चलती रही है, उसकी प्रताड़ना स्वरूप अनेकों कठिनाइयाँ भी इन्हीं दिनों व्यक्ति के जीवन में, समाज की व्यवस्था में तथा प्रकृति के अवांछनीय माहौल मे दृष्टिगोचर होती रहेंगी। लोग अनुभव करेंगे कि पिछले दिनों जो अनुचित बरता गया है, उसका समुचित दण्ड मिल रहा है और सिद्ध किया जा रहा है कि भविष्य में ऐसी भूलें नहीं बरती जानी चाहिए। मनुष्य आपस में धोखेबाजी कर सकता है, पर स्रष्टा के नियम-विधान को झुठलाया नहीं जा सकता। स्रष्टा की आँखों में धूल झोंकना भी किसी के लिये संभव नहीं है। ''जैसी करनी-वैसी भरनी'' का

उपक्रम सदा से चलता रहा है और सदा चलता भी रहेगा। इन दिनों की कठिनाइयों को इसी दृष्टि से देखा जाना चाहिये।

साथ ही यह भी स्मरण रखने योग्य है कि माता एक आँख जहाँ सुधार के लिए टेढ़ी रखती है, वहाँ उसकी दूसरी आँख में दुलार भी भरा रहता है। उसकी प्रताड़ना में भी यही हित-कामना रहती है कि सुधरा हुआ बालक अगले दिनों गलतियाँ न करे और सीधे रास्ते को अपनाते हुए सुख-सुविधा भरा जीवन जिये। वर्तमान युग संधिकाल इस दुहरी प्रक्रिया का सम्मिश्रण है।

अगले दिनों सुन्दर संभावनाएँ भी अवतरित हो रही हैं। युग-संधि के वर्तमान पाँच वर्षों में ऐसा माहौल बन रहा है, जिसमे मनुष्य शान्ति और सौजन्य के मार्ग पर चलना सीखे; कर्मफल की सुनिश्चित प्रक्रिया से अवगत हो और वह करे, जो करना चाहिए, उस राह पर चले, जिस पर कि बुद्धिमान को चलना चाहिए तभी सहस्राब्दियों का घाव सदियों में भर सकता है।

समझदारी जल्द ही आयेगी

साधारणतया जख्म भरने मे देर लगती है। पर जब डॉक्टर खून बन्द करने की जल्दी मे होते हैं, तो टाँके लगाकर रक्त स्राव को जल्दी ही बन्द भी कर देते हैं। गत दो हजार वर्षों की निकृष्टता को ठीक होने में भी इसी प्रकार कम समय लगना चाहिए।

नियन्ता की विशेष व्यवस्था का यह भी एक चमत्कार है कि कम समय में ही घाव सिये और ठीक किये जा रहे है। इक्कीसवीं शताब्दी ऐसे ही चमत्कारो से भरी है, जिसमें देर तक भोगे जाने योग्य दण्ड की जगह, उनकी चिह्न-पूजा करके ही किसी प्रकार सुधार कर देने का सुयोग बन गया है। हजारों वर्षों से बरती जा रही अनीतियों को कम समय में सुधारने का अवसर मिल रहा है और उद्दण्डों को वांछित दण्ड देने की अपेक्षा केवल डरा धमकाकर ही सही रास्ते पर चलाने का प्रबंध बन पड़ रहा है।

जब मनुष्य उलटा सोचता और उलटा करता है, तो उसके प्रतिफल भी भयानक ही होते हैं। पर जब यथार्थता को पहचान तथा अपना लिया जाता है, तो बड़ी गलती भी थोड़ी ही देर में समझ में आ जाती है और उसका समाधान भी जल्दी हो जाता है। बीसवीं सदी का अन्त ऐसा ही है जिसमें समझदारी को जल्दी ही अपना लिया गया और गलती में समय रहते सुधार कर लिया गया।

बोया हुआ बीज ही कुछ समय में अंकुर बनकर फूटता है और बिना आवश्यक खाद-पानी लगाये, वह पौधा और पेड़ बन जाता है। सद्बुद्धि का उद्भव और उपक्रम भी ऐसा ही है कि समझदारी लौट पड़ने पर कठिन दीखने वाली समस्याएँ कम समय मे ही सुलझ जाती है। दुर्बुद्धि ही दुष्परिणाम उत्पन्न करती हैं, पर जब वह उलट कर सद्बुद्धि के रूप मे बदल जाती है तो फिर परिस्थितियाँ सुधरने में भी देर नहीं लगती।

लगता है, एक शताब्दी में ही उतना सुधार हो जाएगा जितना कि सामान्य गणित क्रम से कई शताब्दियों में होना चाहिए था। समझ में न आने पर कोई गुत्थी हल होने में बहुत समय ले सकती है। पर जब भूल का पता लग जाता है, तो उसका हल निकालने में देर नहीं लगती। इस दृष्टि से इक्कीसवीं सदी को सुधार की शताब्दी के नाम से जाना गया है।

उलटी समझ हजार समस्याओं का एक कारण है। लोगो ने समझ लिया है कि भलमनसाहत की रीति-नीति ही उचित है और उसी को अपनाने से शान्तिपूर्वक रहा जा सकता है। इन दिनों एक हवा चली है कि हर आदमी यह सोचने लगा है कि दुर्बुद्धि का परित्याग किया जाय, दुष्टता से हाथ खींचे जायें और रीति-नीति ऐसी अपनायी जाय, जैसी कि सज्जनों को शोभा देती है। नीतिपूर्वक किया गया थोड़ा उपार्जन भी सुख के साधन पर्याप्त जुटा देता है, जबकि अनीतिपूर्वक पाया गया विपुल वैभव भी संकटों पर संकट खड़े करता जाता है। इन दिनों जहाँ भी सुना जाय, भलमनसाहत की रीति-नीति ही चर्चा का विषय बन रही है।

इन्हें देखते हुए यह आभास मिलने लगा है कि महाकाल का गतिचक्र अपने सम्पूर्ण वेग से चल चुका है और हर एक के अन्तराल को मथ कर उसे अच्छा सोचने, अच्छा करने और अच्छा बनने के लिए बाधित करता प्रतीत हो रहा है। जो कार्य कल तक असंभव बन कर अड़ा हुआ था, वह आज देखते-देखते सरल-संभव बन गया है। कहने वाले इसे जादू चमत्कार, अनहोनी कुछ भी कह सकते हैं, पर जिन्हें महाकाल की शक्ति और सामर्थ्य पर भरोसा है, उन्हें इतना विश्वास तो करना ही चाहिए कि उस नियामक सत्ता के लिए यह कोई कठिन कार्य नहीं। ऐसे अवसरों पर यह सर्वदा अपनी जादुई छड़ी घुमाता और परिवर्तन प्रक्रिया सम्पन्न करता रहा है। आज भी यही हो रहा है होने जा रहा है।

२१वीं सदी और उसकी उज्ज्वल संभावनाएँ

क्रिया बदलेगी तो प्रतिक्रिया भी बदलेगी

क्रिया की प्रतिक्रिया होना सुनिश्चित है। घड़ी का पेण्डुलम एक सिरे तक पहुँचने के बाद वापस दूसरे सिर की ओर लौट पड़ता है। अति बरतने वाले कुछ ही समय बाद पछताते और सही स्थिति प्राप्त करने के लिए तरसते देखे गए हैं। विषैले पदार्थ खा बैठने पर उल्टी-दस्त तो लगते ही हैं, जान जोखिम तक का खतरा सामने आ खड़ा होता है। क्रोधी को बदले में प्रतिशोध सहना पड़ता है। दुर्व्यसनी अपनी सेहत, खुशहाली और इज्जत तीनों ही गँवा बैठता है। अपव्ययी लोग तंगी भुगतते देखे गए हैं। कुकर्मी, लोक और परलोक दोनों ही बिगाड़ लेते हैं। इसके विपरीत परिश्रमी, अनुशासित और मनोयोगपूर्वक व्यस्त रहने वाले अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति में दिन-रात सफल होते चले जाते हैं।

जिन दिनों शक्तियों के सदुपयोग का प्रचलन था, उन दिनों साधारण साधनों के रहते हुए भी लोग प्रसन्न रहते और सुख-शान्ति भरे वातावरण में जीवन-यापन करते थे। सतयुग वही काल था, जिसकी सराहना करते-करते इतिहासकार अभी भी थकते नहीं हैं। इसके विपरीत यदि मर्यादाओं और वर्जनाओं का परित्याग कर अनाचारी-उद्दण्ड उपक्रम अपनाया जाय, तो ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न होना स्वाभाविक है, जिनकी कलियुग के नाम से भर्त्सना की जाती है, जिनमें प्रचुर साधन होते हुए भी लोग डरती-डराती, जलती-जलाती जिन्दगी जीते हैं। इन दिनों ऐसा ही कुछ हो रहा है। विज्ञान ने मनुष्य को अतिशय शक्ति का स्वामी बनाया है। बढ़ते बुद्धि वैभव ने जानकारियों के अम्बार जुटा लिये है। विलास के साधनों की कमी नहीं। साज-सज्जा को देख कर भ्रम होता है कि कहीं हम लोग स्वर्ग में विचरण तो नहीं कर रहे हैं। इतना ही पर्याप्त होता तो, सचमुच यही माना जाता कि इन शताब्दियों में असाधारण प्रगति हुई है। पर जब लिफाफे का कलेवर उघाड़ कर देखा जाता है, तो प्रतीत होता है कि भीतर दुर्गन्ध भरे विषाणुओं, जीवाणुओं के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। यह विडम्बना, शालीनता के परित्याग का ही प्रतिफल है। विज्ञान और धर्म यदि मिलकर चल सके होते, तो आज की उपलब्धियाँ व्यक्ति और समाज के सामने सुख शान्ति के इतने आधार खड़े कर देतीं, जो सतयुग की तुलना में हीं अधिक बढ़े-चढ़े होते, पर उस दुर्भाग्य को क्या कहा जाय, जिसने सदुपयोग और दुरुपयोग की विभाजन रेखा को ही मिटा कर रख दिया है।

तेजी से बदलता परोक्ष जगत का प्रवाह

मनुष्य कर तो कुछ भी सकता है, पर उसकी परिणति से नहीं बच सकता। दुरुपयोग का परिणाम आज संकट और विग्रह ही हो सकता है। वही इन दिनों प्रस्तुत भी हो रहा है। सम्पन्नों और विपन्नों के बीच शीतयुद्ध छिड़ा हुआ है। सज्जनता की उपेक्षा करने वाला प्रचलन स्नेह, सौजन्य और सद्भाव का समापन करने पर उतारू है। घात-प्रतिघात के कुचक्र में फँस कर मनुष्य ने संतोष, उल्लास और सहयोग गँवा दिया है। दूसरों का शोषण और अपने अहंकार प्रदर्शन के अतिरिक्त और किसी को कुछ सूझता ही नहीं। ऐसे वातावरण में व्यक्तियों का विकृत और समाज का अधः पतित होना स्वाभाविक है। सार्वभौम संतुलन तो बन ही कैसे पड़े ? वायु प्रदूषण, अहंकार, अनाचार अपने-अपने ढंग से, अपने द्वारा किये जाने वाले महाविनाशों की चेतावनी दे रहे हैं। भूमि का दोहन, आबादी का बेतहाशा अभिवर्धन, अनौचित्य भरे प्रचलन, हर किसी को आशंका, अविश्वास, निराशा और आतंक से संत्रस्त किए हुए हैं। अगले दिन अन्धकार भरे दीखते है। वर्तमान भी इतना उलझा हुआ है, कि एक समस्या का हल ढूँढते-ढूँढते दस और नयी विपत्तताएँ बढ़े-चढ़े रूप में सामने आ खड़ी होती है। सहयोग के स्थान पर संघर्ष ही स्वभाव और प्रचलन का अंग बनता जाता है।

इस माहौल में सूक्ष्म वातावरण भी विषाक्त हो चला है। प्रकृति अपने ऊपर बलात्कार किये जाने पर, उपयुक्त दण्ड देने और प्रतिशोध लेने पर उतारू हो गयी है। आये दिन दुर्भिक्ष पड़ता है। बाढ़, भूकम्प, रोग—शोक के ऐसे घटनाक्रम आये दिन घटित होते रहते हैं। माता की तरह पोषण करने वाली प्रकृति अब मरने—मारने पर उतारू हो

गयी है । अणु आयुधों, मृत्यु किरणों और विषैले रसायनों के प्रहार चल पड़ने के उपरान्त इस धरती को निस्तब्ध पिण्ड के रूप में बने रहने का अवसर मिलेगा या नहीं, इसमे संदेह होता है। लगता है कि हर दिशा में उमड़ने वाले विनाश के बादल कहीं महाप्रलय तो करने नहीं जा रहे है? यह भी हो सकता है कि उन असह्य प्रहारों से यह सुन्दर ग्रह कहीं धूलि बनकर अनन्त आकाश में छितरा न जाय और इसके अस्तित्व का कहीं अता-पता भी शेष न रहे ।

साधारण अनुभव में पृथ्वी भी स्थिर दिखाई पड़ती है, दिन पर दिन इसी तरह गुजर जाते हैं, पर सूक्ष्म दृष्टि की गहराई में उतर सकने वाले जानते हैं कि धरती लट्टू की तरह अपनी धुरी पर भ्रमण करती है और साथ ही सूर्य की परिक्रमा के लिए पक्षी की तरह उड़ती रहती है । यह है तो आश्चर्य और समझ में न आने वाला, किन्तु इतने पर भी वस्तु स्थिति ऐसी ही है । औसत आदमी सब कुछ यथावत् चलता समझ सकता है, किन्तु लक्षणों का पर्यवेक्षण कर सकने वाले देखते हैं कि स्थिति इन दिनों भी विस्फोटक है और बारूद के ढेर पर बैठे हम सब निकट भविष्य में महाविनाश के ग्रास बनने जा रहे हैं ।

बीसवीं सदी का अन्त किन दुर्दशाओं के बीच होगा, इसकी चेतावनी विशेषज्ञों से लेकर भविष्यवक्ता तक समान रूप से देते रहे हैं । आशंका है कि वह दुर्दिन कल-परसों ही कहीं सामने आ खड़ा न हो ? विकास के नाम पर हम विनाश की दिशा में चले हैं । आज ही सब कुछ पा लेने की सोच में भविष्य को बुरी तरह दाँव पर लगाते रहे हैं । पृथ्वी के खनिज भण्डार चुक सकते हैं । बढ़ी हुई जनसंख्या के लिए आहार-आवास तो दूर, राह चलने के लिए भी पृथ्वी छोटी पड़ सकती है । जीवनी शक्ति गँवा बैठने के बाद लोग मक्खी-मच्छरों की तरह बेमौत मरेंगे। सद्भाव और सहयोग के अभाव में लोग प्रेत-पिशाच से अधिक कुछ रहेंगे ही नहीं, भले ही उनके पास सज्जा और सम्पदा कितनी ही अधिक क्यों न हो ? लक्षण आज भी सामने है-। कल तो उनके घटने की नहीं, बढ़ने की ही आशंका है ।

संतुलन नियन्ता की व्यवस्था का एक क्रम

इतने पर भी एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि इस सृष्टि का कोई नियन्ता है । उसने अपनी समग्र कलाकारिता को बटोर कर इस धरती को, उस पर शासन करने वाले मनुष्य को बनाया है । वह उसका इस प्रकार विनाश होते हुए देख नहीं सकता । बच्चों को एक सीमा तक ही मस्ती करने की छूट दी जाती है । जब भी वे उपयोगी और कीमती चीजें तोड़ने पर उतारू हो जाते हैं, तो उन्हें दुलार करने वाले अभिभावक भी ताड़ना देने पर उतारू हो जाते हैं । भटकने की भी एक सीमा है । समझदारी बाधित करती है कि पीछे लौट चला जाय । अनाचारियों को अति बरतने की उद्दण्डता पर उतरने से पूर्व ही जेल में बन्द कर दिया जाता है। कभी-कभी तो उन्हें मृत्यु दण्ड तक भुगतना पड़ता है। शरीर में प्रवेश करने वाली बीमारियों को खदेड़ देने के लिए जीवनी शक्ति एकत्रित होकर सब कुछ करने पर उतारू हो जाती है। वर्तमान अनाचार के सम्बन्ध में भी यही बात है । नियन्ता ने सामयिक निश्चय लिया है कि विनाश की दिशा में चल रही अन्धी दौड़ को रोक दिया जाय और फिर प्रवाह को संतुलित स्तर पर लाया जाय । शासन संचालक जब अयोग्यता प्रदर्शित करता है, तो राष्ट्रपति शासन लागू होता है और अयोग्यों के स्थान पर सुयोग्यों के हाथ सत्ता सौंपने हेतु वही उच्चस्तरीय नियन्त्रण चलता है ।

अन्धकार की भयानकता और उसके कारण उत्पन्न होने वाली अव्यवस्था से सभी परिचित हैं । पर साथ ही यह भी ध्यान रखने योग्य है कि सृष्टि व्यवस्था उसे अधिक समय तक सहन नहीं करती । ब्रह्म मुहूर्त आता है, मुर्गे बोलते हैं, पूर्वांचल में उषाकाल का आभास मिलता है और अन्ततः उस अरुणोदय का प्राकट्य भी होता है, जो अपने आलोक से दशों दिशाएं भर देता है । हलचलों का नया माहौल बनता है, यहाँ तक कि फूल खिलने, पक्षी चहकने-उड़ने फुदकने लगते हैं ।

वर्तमान प्रवाह को चरम विनाश के बिन्दु तक जा पहुँचने से पहले, स्रष्टा ने उस पर रोक लगाने और परिवर्तन का नया माहौल बनाने का निश्चय किया है। इसका अनुमान सभी सूक्ष्मदर्शी समान रूप से लगाने लगे हैं । नया सोच आरम्भ हो रहा है । दृष्टिकोण की दिशा बदल रही है । गतिविधियों के नये निर्धारण की योजनाएँ बन रही हैं। यह परिवर्तन मनुष्यों के मूर्धन्य क्षेत्रों में तो चल ही रहा है। व्यापक वातावरण पर नियंत्रण करने वाली अदृश्य शक्तियाँ अपने ढंग से अपने क्षेत्र में ऐसा कुछ चमत्कार दिखाने पर तुल गई हैं, जो अवाँछनीय प्रचलनों को उलटने और उनके स्थान पर नये मूल्यों-कीर्तिमानो की स्थापना कर पाने में सफल हो सके ।

समय की गति, मनुष्यों की प्रचण्ड पुरुषार्थ परायणता के कारण अत्यधिक तेज हो गई है। जो सृष्टि के आदि से अब तक नहीं बन पड़ा था, वह पिछली थोड़ी सी शताब्दियों में ही आश्चर्यजनक ढंग से बन पड़ा है। भले ही वह अवांछनीय या बुरा ही क्यों न हो। समय की चाल तेज हो जाने पर घण्टे में तीन मील चलने वाला व्यक्ति वायुयान में चढ़कर उतनी ही देर में कहीं से कहीं जा पहुँचता है। मनुष्य के प्रबल पुरुषार्थ की ऊर्जा से समय-प्रवाह में अतिशय तेजी आयी है। उसने जो भी भला बुरा किया है, तेजी से किया है। यह द्रुतगामिता आगे भी जारी रहेगी। सुधारक्रम भी उतनी ही तेजी से होगा। तूफान जिस भी दिशा में मुड़ता है, उसी में अपनी प्रचण्डता का परिचय देता चलता है।

यह युग परिवर्तन की सामान्य गति में असाधारण तीव्रता आने का ही प्रतीक है। अगले दिनों यह प्रवाह और भी अधिक गति पकड़ेगा और जो हेर फेर पिछली शताब्दियों में हुआ है, उसकी तुलना में अगली सदी के चमत्कार और भी अधिक बढ़े-चढ़े होंगे। इसलिए आम मान्यता बनती जाती है, कि इक्कीसवीं सदी में पतन का प्रवाह रुकेगा और उज्ज्वल भविष्य की संरचना का कार्य तूफानी गति से आगे बढ़ेगा। यह महाकाल की प्रेरणा है- ईश्वर की इच्छा है- समय की माँग है। इसे युग धर्म का पांचजन्य उद्‌घोष भी कह सकते हैं। इसमें प्रचंड मानवी पुरुषार्थ उभरेगा, पर स्मरण रखा जाय कि इसके पीछे नियन्ता की प्रचंड प्रेरणा और सुनिश्चित योजना ही काम कर रही होगी। मनुष्य तो स्वयं नगण्य होते हुए भी उसका अनुगमन करके हनुमान, अंगद, नल-नील और भीम, अर्जुन जैसी भूमिकाएँ निबाहते और सर्वत्र आश्चर्यजनक सफलताएँ उपलब्ध करते दिखाई देंगे। गीताकार ने अर्जुन से कहा था कि कौरव दल का मरण तो नियति ने ही करके रख दिया है; राज्य सुख और अक्षय यश का भागी बनने से कतराता क्यों है ? सुयोग का लाभ उठाने में बुद्धिमानी क्यो नहीं देखता ? ऐसी ही प्रचंड प्रेरणायें असंख्यों को मिलेंगी और वे अन्तःस्फुरणा के आधार पर ही इतना कुछ करेंगे, जितना करने के लिए किसी को असाधारण प्रलोभन देकर भी उकसाया नहीं जा सकता। परिणामस्वरूप घंटों का काम सेकेण्डों में प्रक्षेपणास्त्रों के चलने से पूरा होता दृश्यमान होगा।

कथा है कि महाप्रलय के दिनों सर्वत्र समुद्र का खारा पानी ही भरा पड़ा था। उसकी तली में गहरी कीचड़ भी भरी हुई थी। उसी बीच एक चमत्कार हुआ। पानी के ऊपर एक कमल उभरकर खिल आया। उसमें सहस्र पंखुड़ियाँ थीं। बात इतने पर ही समाप्त नहीं हुई। कमल के मध्य पर ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए। वे वेदज्ञान से सृष्टि को गुंजित करने लगे। साधन और सौंदर्य उसी गुंजन के प्रभाव से उभरे-जुड़े और चेतन सृष्टि उसी प्रयास के फलस्वरूप विनिर्मित हो चली।

पौराणिक मिथक की वास्तविकता के संबंध में दो मत हो सकते हैं पर इस संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि अपने समय की विपन्न परिस्थितियों में चमत्कार जैसा उद्‌भव होने ही वाला है। सहस्रदल खिलने ही वाला है। उसमें ब्रह्मा चेतना का ऐसा प्रवाह निःसृत होने वाला है, जो उलटे को उलट कर सीधा कर सके; सुखद संभावनाओं का अभिनव सृजन इस स्तर का बन पड़े, जिसे कीचड़ से उभरा कमल कहा जा सके।

इक्कीसवीं सदी के आरंभिक बुल-बुले शान्ति कुञ्ज की जमीन को फोड़कर उभरने और उबलने लगे हैं। अगले दिनों यह एक निर्झर के रूप में गति पकड़ ले, तो किसी को भी आश्चर्य नहीं करना चाहिए। हल्की भाप आरंभ में धीरे से उठती है, पर वह कुछ ही समय में घटा-टोप बनकर बरसने लगती है। इसे आश्चर्य नहीं तो और क्या कहें ? राई जितने छोटे बीज का विशाल वट-वृक्ष के रूप में सुविस्तृत हो जाना क्या कोई कम आश्चर्य की बात है ? यह अपनी सृष्टि ऐसे ही आश्चर्यों का प्रदर्शन पग-पग पर करती है। सच तो यह है कि इस संसार में जो कुछ हो चुका है, जो हो रहा है, जो होने वाला है, उसे सृष्टि के चमत्कारों की शृंखला के अतिरिक्त और कुछ कहा नहीं जा सकता। बाल की नोक जितना क्षुद्र शुक्राणु यदि साढ़े पाँच फुट का सर्वांग सुन्दर मनुष्य बन सकता है, तो चमत्कार के अतिरिक्त और क्या कहा जाय ? ग्रह-नक्षत्र अधर में टँगे हैं और द्रुत गति से घूमते रहते हैं, तो इसे अघटित का घटित होने के अतिरिक्त और क्या कहा जाय?

मनुष्य स्वल्प है। उसकी सामर्थ्य भी सीमित है। उसकी सूझ-बूझ, प्रयत्नशीलता और सफलता भी सीमित स्तर की ही बनकर रह जाती है, पर भगवान के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। वे देखते-देखते ऋतुओं मे ऐसा परिवर्तन करके रख देते हैं कि उस अलौकिकता को देखकर हतप्रभ ही होकर रह जाना पड़ता है। मनुष्य यदि ऐसा करना चाहे, तो भी उसका पुरुपार्थ वैसा बन ही नहीं पड़ेगा।

अवतारों की पूर्ण शृंखला का अवगाहन करने पर भी यही निष्कर्ष निकलता है कि उनका अवतरण असंभव को संभव कर दिखाने के लिए ही होता रहा है। यों निराकार होने के कारण वे प्राणियों की तरह प्रयत्न-पुरुषार्थ नहीं कर पाते, फिर भी मनुष्यो मे से ही ऐसे कितने का चयन कर लेते है, जिन्हें हवा भर कर नन्हें से गुब्बारे को कद्दू जितना विशाल बनाया जा सके। हनुमानों, अंगदों, अर्जुनों, नारदों, बुद्धों, गाँधियों आदि की इतनी बड़ी शृंखला है, जिन्होने मनुष्य शरीरधारी होते हुए भी ऐसे महान प्रयोजन पूरे कर दिखाये, जिन्हें अद्भुत और अलौकिक कहा जा सके। एक बार तो महर्षि विश्वामित्र ने ब्रह्मा जी की बनाई सृष्टि की तुलना में दूसरी नयी सृष्टि रच डालने के लिए कमर कस ली थी। ऐसे मामले बुद्धि द्वारा मुश्किल से ही सुलझाये जा सकते हैं। अगस्त्य ऋषि ने तीन चुल्लू में समूचा समुद्र सोख लिया था। ऐसे कृत्यों के पीछे यदि भगवान की शक्ति काम करती दीख पड़े, तो उसे आश्चर्य नहीं मानना चाहिए।

लम्बा समय दुर्मति-जन्य दुर्गति सहन करते-करते बीत गया। अब यदि उलट-पुलट कर सही स्थिति में ला देने की योजना बनी है, तो उसे इसलिए असंभव नहीं मान लेना चाहिए कि मनुष्यों के सीमित प्रयास इतने सुविस्तृत कार्य को नहीं कर सकते। मनुष्य के लिए कुछ भी कितना ही कठिन हो सकता है; पर जिसने आकाश में असंख्यों ग्रह-तारक, झाड़ फानूस की तरह अधर में लटका रखे हैं, उसके लिए किसी सदाशयता भरे प्रयोजन को पूरा कर सकना कैसे कुछ कठिन हो सकता है?

छोटा आरंभ उपहासास्पद तो लगता है, फिर भी इस संभावना को नकारा नहीं जा सकता कि वह कुछ ही समय मे कहीं-से कहीं जा पहुँचे। बुद्ध और गाँधी के आन्दोलन आरम्भ में नगण्य स्तर के ही थे; पर जब समय ने साथ दिया, तो क्रिया की प्रतिक्रिया इतनी महान हुई कि उसे देखते हुए आश्चर्यचकित ही रह जाना पड़ता है।

नवयुग का स्वरूप

ऐसा ही कुछ परिपाक अदृश्य के गर्भ में इस समय चल रहा है, जिसका विस्मयकारी सत्परिणाम अगले ही दिनों सामने आने वाला है। उसे देखते हुए यह अनुमान लगा पाना कठिन होगा कि यह वही मनुष्य जाति और वही दुनिया है, जिसने वैर-विद्वेष के व्यापार रचे और सम्पूर्ण सृष्टि को रसातल में धकेल देने के लिए आमादा थी या स्वर्ग से धरती पर कोई अभिनव अवतरण? सोच पाना मुश्किल होगा। कारण कि जो मानव-जाति आज विष-बीज बोते दिखाई पड़ रही है, तब एकता और समता का ऐसा उदाहरण प्रस्तुत करेगी, जिसे देखते हुए विश्व-परिवार का सपना मूर्तिमान हो उठे।

जाति और लिंग के आधार पर जो ऊँच-नीच का भेद चलता है वह अगली शताब्दी में कहीं दीख न पड़ेगा। लम्बे-ठिगने, काले-गोरे, भारी-हलके में प्रकृति प्रदत्त अन्तर तो रहेंगे, पर इस आधार पर किसी के मानवी अधिकारों को न्यूनाधिक नहीं किया जा सकेगा।

धर्म सम्प्रदाय व्यक्तिगत रुचि के विषय रह जायेंगे। जिस प्रकार पोशाक अपनी मर्जी की पहनी जाती है। साबुन अपनी मन पसंद का खरीदा जाता है। उसी प्रकार लोग धर्म-सम्प्रदायों मे से जिसको रुचिकर देखेंगे उसे अपना लिया करेंगे पर यह हठ नहीं करेंगे कि हमारी मान्यता ही सही है दूसरे जो कहते हैं वह अनर्गल है, वह झूठे हैं। इसके लिए न दबाव डाला जायेगा न प्रलोभन दिया जायगा कि कोई अपनी मान्यता छोड़ें? दबाव के आगे झुककर दूसरा धर्म अपनाये। इस सौम्य स्थिति तक पहुँच जाने पर यह भी हो सकता है कि सब लोग मिलजुल कर मन्दिर, मस्जिद, चर्च, गुरुद्वारा पैगोडा आदि मे जाने लगें और एक उद्देश्य के लिए गढ़ी गई मान्यताओं का सार तत्व समझते हुए संस्थापनों को सराहें साथ ही आज की बदलती परिस्थिति में जिन प्रथा-प्रचलनों को बदलना जरूरी है, उन्हें बिना किसी संकोच के बदल डालें। इस प्रकार वह दुराग्रहों के बन्धन से छूटकर एकता की—एकरूपता की दिशा को विवेकपूर्वक अपनाते चले जायेंगे।

मनुष्य मात्र एक जाति है। सबका रक्त लाल है इसलिए सबके प्रति बराबर की भावना लेकर चलना होगा और व्यवहार में भी बराबर की पद्धति को अपनाना पड़ेगा। बिलगाव के खड़े टीले इस बुलडोजर से समतल होते चले जायेंगे। यह बात मान्यता तक ही सीमित नहीं रहेगी, वरन् सहकारिता के रूप में प्रत्यक्ष विकसित होकर रहेगी। अलग-अलग चूल्हे पकाने, अलग-अलग घर बनाने के स्थान पर लार्जर फैमिली का प्रचलन चलेगा। उसमें लोग आन्तरिक और व्यावहारिक सुविधा का अनुभव करेंगे और मिल जुलकर रहने में जो अनेक प्रकार के आनन्द उल्लास रहते हैं उनका रसास्वादन करेंगे, एक बड़ी गृहस्थी में रहकर यदि कपड़े धोना, बच्चों को खिलाना, पढ़ाना, सामान खरीदना, सुरक्षा, मनोरंजन आदि का प्रबन्ध एक ही जगह हो जाता है तो उनमें व्यय की तुलना में असंख्य

गुनी सुविधा बढ़ जायगी । दु:ख-सुख मे एक-दूसरे के साथ रहने लगेंगे और लार्जर फैमिली का सहकारी बैंक आवश्यकतानुसार उधार देने और वापिस लेने की भी व्यवस्था करता रहेगा । साथियों में से ही कई घनिष्ठ मित्र भी बन जायेंगे और आनन्द तथा सहयोग सहज ही बढ़ने लगेगा ।

मातृभाषा किसी की कोई भी क्यों न रहे विश्व भाषा के रूप में उसे दूसरी भाषा भी पढ़नी पड़ेगी । किसी की जन्मभूमि किसी भी क्षेत्र में क्यों न रही हो पर उसे समूची धरती को विश्वमाता के रूप मे मानना चाहिए । लोगों को अपने आपको किसी देश का नहीं वरन् धरतीपुत्र मानना चाहिए । खाली भूमि पर बसने और उस क्षेत्र के उत्पादनो पर समूचे जन समुदाय का नैतिक अधिकार होने की प्रथा चलेगी तो वह विषमता टिक नहीं सकेगी जिसमें प्राकृतिक साधनों की बहुलता में कोई देश वैभवशाली बनता जाता है और उन्हीं के अभाव में अन्यत्र के लोगों को असाधारण मँहगाई या कठिनाई का सामना करना पड़ता है । यह इसलिए होता है कि लोग कुछ भूमि को अपना देश मानते हैं और उसी का वैभव बढ़ाने के लिए अन्य क्षेत्र वासियों का शोषण करने में बुराई नहीं मानते वरन् उल्टे उस अपहरण को देश भक्ति का नाम देते है । युद्ध तो आये दिन इसी कारण होते रहते हैं । पिछले पाँच सौ वर्षो में कुल मिलाकर एक हजार के करीब युद्ध हुए हैं, जिनमें करोड़ों के प्राण गए और उससे भी कई गुने अपंग, अनाथ बनकर गई गुजरी स्थिति में पड़े है । कितनों को ही महामारियां समेट ले गयीं । इन सबका कारण वह तथाकथित देश भक्ति है जो अपने क्षेत्र की समृद्धि सफलता के लिए अन्यत्र रहने वालों को चूसने-सताने में संकोच नहीं करती ।

अगली शताब्दी इन कूडे-करकट के ढेरों को बुहारकर रहेगी । गन्दगी के जो ढेर जगह-जगह खड़े दीखते हैं उन्हें गड्ढे में दबाकर उपयोगी खाद बनाया जायगा जिस पर उन उद्यानों को लगाया जा सके, जो फल-फूलो से सुगन्धित हरीतिमा से समूचे विश्व उद्यान को सुरम्य सुविकसित बना दे ।

आज की स्थिति को देखते हुए इक्कीसवीं सदी में होने वाले इन परिवर्तनो पर सहसा विश्वास नहीं होता, तो भी यह निश्चित है कि भवितव्यता होकर रहेगी । तपते [illegible] स्थिति को देखते हुए यह अनुमान कैसे लगे कि कुछ ही सप्ताह में खिलखिलाते बसंत की शोभा पूरे माहौल को बदल देगी ।

इन दिनों की स्थिति और अगली शताब्दी की संभावना में इतना अधिक अन्तर रहेगा कि सामान्य बुद्धि के लिए उस संभावना को सही मानने मे अविश्वास हो सकता है, पर जो अदृश्य को देखते हैं वे देखते हैं कि ढाँचा खड़ा हो गया है, उसे सुसज्जित करने भर की देर है । माता के उदर मे परिपक्व हुआ भ्रूण यों प्रत्यक्ष नहीं दीखता, पर यह निश्चित है कि कुछ ही दिनों में प्रसव होगा और नवजात शिशु गोदियों में खेलेगा । भावी समय का परिवर्त्तन इक्कीसवीं सदी का माहौल अब की अपेक्षा होगा तो अत्यधिक भिन्नता लिए हुए पर अन्दर ही अन्दर जो पक रहा है, उसे देखते हुए उन्हें कल्पना नहीं सुनिश्चित संभावना ही मानना चाहिए ।

इक्कीसवीं सदी के साथ अवतरित होने वाला नवयुग अपनी विशेषताओं के आधार पर यदि प्रज्ञायुग कहा जाय तो उसमें किसी प्रकार की अत्युक्ति नहीं मानी जानी चाहिए । आज की अगणित विभीषिकाओं और समस्याओं का एक मात्र कारण ''आस्था संकट'' है । लोगों ने आदर्शवादी आस्था, मान्यताओं का परित्याग कर दिया है । पशु प्रवृत्तियों को अपना लिया है । इसका निराकरण किसी लोभ या भय से नहीं हो सकता । अन्तराल में प्रज्ञा उभरेगी, तभी दूरदर्शी विवेकशीलता के अनुरूप चिन्तन प्रवाह बनेगा । इसी के साथ चरित्र की उत्कृष्टता और व्यवहार की सज्जनता का प्रमाण परिचय मिलता है। व्यक्ति बदलेगा और समाज का स्वरूप भी ऐसा गँदला न रहेगा जैसा कि इन दिनों है । जो परिस्थितियाँ इन दिनों कठोर बनी हुई हैं और विपन्न दीखती हैं वे तात्विक आधार बदलने पर अपना चोला साँप की केंचुली की भाँति बदल देंगी ।

इक्कीसवीं सदी में पदार्थजन्य सुविधा साधनो में भारी उलट-पुलट न होगी । इन परिवर्त्तनो को दो प्रत्यक्ष रूपो में देखा जा सकेगा कि लोगो ने सादगी अपना ली। औसत नागरिकों का जीवन जीने के लिए सुसम्पन्न भी स्वेच्छा या विवशता से बाधित होकर उस पद्धति को अपनाने लगें । दूसरा परिवर्तन यह दीख पड़ेगा कि देहातों से शहरों की ओर आने वाली भीड़ रुक जायेगी । बड़े नगरों का विकेन्द्रीकरण होगा और वे कस्बों में बिखर जायेंगे । बड़े गाँव ही साधन सम्पन्न कस्बे बनेंगे और समीपवर्ती

छोटे गाँवों को अपना ही मुहल्ला मानकर उनका परिपोषण, अभिवर्धन करने लगेंगे। तब कृषि, व्यवसाय, गृह उद्योग, परिवहन वितरण के बीच ऐसा सुन्दर तालमेल होगा कि किसी को असुविधा न हो किसी को खाली न रहना पड़े कोई बेरोजगारी का कष्ट न सहे।

इक्कीसवीं सदी के मौलिक आधार चार होंगे (१) एकता (२) समता (३) न्याय व्यवस्था (४) स्वाभाविक सुसंस्कारिता। एकता में राष्ट्रों का एकीकरण आता है। विभाजन की रेखाओं में बँटे हुए देश अपने-अपने स्वार्थ की आपाधापी में अड़े रहते है। शोषण के कुचक्र चलते हैं और दुर्बलों को शोषित होना पड़ता है। सीमाओ को घटाने बढ़ाने के कारण ही युद्ध छिडते है जिनमें धन-जन की अपार क्षति होती है। जब एकीकृत विश्व राष्ट्र की स्थापना होगी तो उसके जिले डीवीजन बन कर देशो को रहना पड़ेगा। सत्ता और सम्पदा एक स्थान पर केन्द्रित रहेगी और आवश्यकतानुसार उनका उपयोग होता रहेगा। प्रान्तों का विभाजन भौगोलिक स्थिति के अनुरूप नये सिरे से होगा। युद्ध सेनापति नहीं लड़ेंगे, अपितु न्यायालयों के फैसले मान्यता प्राप्त करेंगे। विश्व संविधान में मानवी एकता एक रूपता का-न्याय और विवेक का प्रमुख प्रावधान रहेगा। जहाँ घिच-पिच है वहाँ की आबादी छितरे-छितरे क्षेत्रों में बसा दी जायगी। धरती के उपार्जन पर समता का अधिकार होगा। पारिवारिक सिद्धान्तों के अनुरूप प्रचलन बनेंगे। विश्व एक परिवार होकर रहेगा।

दूसरा तथ्य मान्यता प्राप्त करेगा वह होगा-समता। जाति वंश के आधार पर कोई ऊँचा नीचा नहीं माना जायगा। नर और नारी के बीच कोई ऐसी विभाजन रेखा न रहेगी जिसके आधार पर किसी के वरिष्ठ और किसी को कनिष्ठ ठहराया जा सके। जाति और लिंग के आधार पर प्रतिष्ठित और प्रचलित भिन्नता की मान्यता का एक प्रकार समापन हो जायगा। गाड़ी के दो पहियों की तरह दोनों वर्ग समान निष्ठा और योग्यता से परिवार एवं समाज का सुसंचालन करेंगे।

भाषायी एकता की सर्वत्र आवश्यकता अनुभव की जायगी। अनेक भाषाएं रहने से लोगों के बीच निरर्थक ही भेदभाव पैदा होता है और ज्ञान के विस्तार का अनुवाद मुद्रण की भिन्नता से भारी अवरोध पड़ता है। भाषायी एकता होने पर संसार भर के लोग एक दूसरे के अति निकट होंगे और विचारों का भावनाओं का उन्मुक्त आदान-प्रदान करेंगे। अनेको सुविधाओं को देखते हुए विचारशील जनमानस भाषाई एकता को सहज स्वीकार करेगा और ज्ञान विस्तार क्षेत्र में इसका असाधारण लाभ अनुभव करेगा।

जाति, लिंग और भाषा की भिन्नता की हानियों की तरह ही अधिक विषमता भी है। धन का स्वामित्व राष्ट्र का रहे हर किसी को योग्यतानुसार और आवश्यकतानुरूप लेने की प्रथा हो तो न कोई गरीब रहे और न अमीर। गरीबी और अमीरी दोनों समाज में अनेकानेक विकृतियाँ उत्पन्न करती हैं। जब उनका आधार कट जायगा तो उसका स्वरूप साम्यवाद समाजवाद से मिलता-जुलता होगा।

तीसरा पक्ष है- व्यवस्था का प्रचलन एवं न्याय कानून का। इसका नवीन निर्धारण उपयोगिता एवं यथार्थता की कसौटी पर कसा जायगा। कानून और प्रचलन की भिन्नता भी मनुष्य जाति के पिछड़ेपन का अहंकारी आधिपत्य का एक बहुत बड़ा कारण है। सहकारी व्यवस्था के अन्तर्गत जब व्यवस्था चल पड़ेगी तो नौकर मालिक के समर्थ-दुर्बल के बीच जो आये दिन टकराव होते हैं उनका कोई कारण शेष न रहेगा।

इक्कीसवीं सदी का चौथा आधार होगा- सुसंस्कारिता। सुसंस्कारिता अर्थात् कर्तव्यपालन, मर्यादाओं का अनुशासन सभी धर्म सम्प्रदायों का अनुशासन सभी धर्म सम्प्रदायों में से उस नवनीत को अपनाया जाना जो न्याय विवेक एवं औचित्य पर आधारित है। पूजा परक कर्मकाण्ड कोई किसी रूप में अपनाये। यह रसोई या लिबास की तरह अपनी रुचि का विषय होगा, पर अपने को सत्य का ठेकेदार और दूसरों को झूठा-बेईमान कहने की छूट किसी को न होगी। एक ही बगीचे में कई रंग के फूल फलों की तरह सभी धर्म सम्प्रदाय एक दूसरे के पूरक बन कर रहेंगे और परस्पर सम्मान करने में भी कमी न रहने देंगे।

युग शक्ति का उद्‌भव

यह सामूहिकता संघ शक्ति-जनशक्ति के रूप मे विकसित होकर अन्ततः युगशक्ति के रूप में अवतरित होगी। इसी के माध्यम से प्रस्तुत समस्याओं, उलझनों, कठिनाइयों एवं विकृतियों का निराकरण हो सकेगा। मूर्धन्य लोग अपने लिए उपयुक्त एवं पर्याप्त साधन उपलब्ध आधारों के सहारे संभालते है। कठिनाई उनके सामने है, जो पिछड़ी या सामान्य स्थिति में रहकर अपने निर्वाह की व्यवस्था बनाने में ही जुटे रहते हैं और कुछ

अधिक शानदार सोचने के लिए न समय ही निकाल पाते है और न प्रेरणायें ही प्राप्त करते है ।

सुसम्पन्नो एवं मूर्धन्यों की संख्या समाज में दस बीस प्रतिशत से अधिक नहीं है । शेष तो सामान्य स्तर के लोग ही कहे जा सकते हैं । वस्तुतः यही है जनशक्ति। इसी को समझा जा सकता है- शक्ति, समृद्धि और प्रगति का अक्षय भण्डार किन्तु किया क्या जाय? मूर्च्छित स्थिति में पड़े रहने पर तो कोई योद्धा भी अर्धमृतक की स्थिति में बना पड़ा रहता है । मक्खी-मच्छर भी उसे काटते रहते हैं । कोई गाली देता रहे, चोरी करता रहे तो भी मन पर प्रभाव नहीं पड़ता । कपड़े बदन पर से हट जायँ और बेपर्दगी बन पड़े तो भी उस निद्राग्रस्त को कुछ पता नहीं चलता और जीवित होते हुए भी कुछ भी ऐसा नहीं कर सकता जो करने योग्य है ।

जनशक्ति के शक्ति-स्रोत को कुछ करने की स्थिति में पहुँचाया-जगाया जा सके तो एक ऐसी क्षमता का उद्‌भव दृष्टिगोचर हो सकता है, जिसके सामने अब तक प्रकाश में आई सभी शक्तियाँ गौण दृष्टिगोचर होंगी । सम्पन्नता, सत्ता और विद्वत्ता की सामर्थ्य से कोई इन्कार नहीं कर सकता । विशेषतया आज की परिस्थितियों मे, जब कि संसार भर के प्रमुख सशक्त साधन उसी वर्ग के हाथ में है ।

यहाँ किसी वर्ग पर कटाक्ष या दोषारोपण नहीं किया जा रहा है । मात्र स्वाभाविकता की चर्चा हो रही है । जागरूक, क्रियाशील और पुरुषार्थ परायण ही अभीष्ट सफलताएँ प्राप्त करते हैं । उपार्जन को परमार्थ में लगाया जाय यह सिद्धान्त तो देववर्ग का है । सामान्य स्तर की रीति-नीति यही है कि अपना वैभव अपने सुख साधनों के लिए प्रयुक्त किया जाय । इसी प्रथा का प्रचलन सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। फिर प्रवाह को रोका कैसे जाय ? बनराज, गजराज ही सुविस्तृत वन प्रदेश पर अपना अधिकार जमाये दिखाई देते हैं । अन्यो को तो उनके अनुग्रह पर जीवित रहना पड़ता है ।

यहाँ चर्चा उस बहुसंख्यक जन-समुदाय की हो रही है जो वस्तुतः सर्वतोमुखी शक्ति का अजस्र भण्डार है । समस्त प्रकार की सामर्थ्य इसी मध्यवर्ती वर्ग में सन्निहित है। वनस्पतियाँ खाकर समस्त प्राणी जीवित है । खाने वाले दहाड़ते और द्वन्द्व मचाते देखे जाते हैं पर घास की महत्ता समझने की चेष्टा नहीं की जाती जिसको उदरस्थ करके प्राणी अपनी अपनी कुशलता और विशेषता का प्रदर्शन करते हैं । गाय दूध देती है पर वस्तुतः वह घास का उत्पादन है । घोड़ा दौड़ लगाता है पर वस्तुतः घास द्वारा प्रदत्त शक्ति ही है । मनुष्य बुद्धिमान कहलाता है पर बुद्धि भी खेतों में उपजने वाली अनाज वर्ग की उत्पत्ति का ही प्रतिदान है । अमृतोपम जड़ी बूटियाँ और कुछ नहीं, मात्र घास वर्ग की सदस्य ही हैं । जन शक्ति ही है जिसकी क्षमता का थोड़ा-थोड़ा अंश लेकर सत्ता, विद्वत्ता, सम्पन्नता, कला के क्षेत्र में काम करने वाले तथा कथित मूर्धन्य प्रभावशाली लोग अपना वर्चस्व बढ़ाते हैं, समर्थ भाग्यशाली कहलाते हैं ।

शासन का राजस्व तथा मिलने वाले टैक्सो से भण्डार भरते हैं । उस तंत्र के अन्तर्गत विभिन्न गतिविधियों का संचालन होता है । यह सब और कुछ नहीं, जनशक्ति के एक छोटे से अनुदान का विस्तार मात्र है । पूँजी आसमान से नहीं गिरती । लोग वस्तुये खरीदते है और उसी के सहारे कारखाने चलते और उद्योगपतियों को सुसम्पन्न बनाते है। विशालकाय कारखानों की शृंखला खड़ी करते हैं । साहित्यतंत्र, कलामंच, धर्मतन्त्र जैसे अनेकों प्रतिष्ठान जनशक्ति के द्वारा दिए गए छोटे छोटे सहयोगों पर ही उत्पन्न होते एवं फलते फूलते हैं ।

इतने अधिष्ठानों का पोषण करते हुए भी जनशक्ति का अजस्र भण्डार चूकता नहीं । प्रजाजन अपना तथा अपने परिवार का निर्वाह भी भली प्रकार करते रहते हैं और थोड़ा बहुत आमोद-प्रमोद सुविधा-साधन एवं बचत आवश्यकताओं के लिए भी कुछ जमा करते रहते हैं । चन्दा, चुन्गी, टैक्स आदि के लिए बहुत कुछ देते रहने पर भी इस अन्नपूर्णा जनशक्ति का भण्डार न अब तक चुका है और न कभी भविष्य में चुकेगा ही । यह सदा अक्षुण्ण ही बनी रहेगी ।

अब नवयुग की अनेकानेक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इसी जन-शक्ति का आश्रय लिया जाना है । उसके पास शक्ति के, सम्पदा के अजस्र भण्डार भरे पड़े है। कठिनाई एक ही है कि वे बिखर गए है और किसी सुनियोजित उच्चस्तरीय प्रयोजन के लिए प्रयुक्त नहीं किए गए हैं । बिखराव से तो हर वस्तु छिन्न भिन्न हो जाती है और अपना मूल्य गवाँ बैठती है किन्तु यदि उस भूल को सुधारा जा सके तो एकीभूत क्षमता ऐसे प्रयोजन पूरे कर सकती है जिन्हें अद्‌भुत, आश्चर्यजनक और अभूतपूर्व कहा जा सके ।

कथा है कि हारे हुए देवताओ को जिताने के लिए प्रजापति ने उन सब की शक्तियों का थोड़ा थोडा अश लेकर सघबद्ध किया था। [illegible] कर दिया जिनके कारण सर्वत्र हाहाकार संव्याप्त था। नवयुग की जिन समस्याओं का हल और सुविधाओ का संवर्धन करना है, उसकी आवश्यकता की पूर्ति यह नव-जागृत-शक्ति ही पूरा करेगी, जिस का एक नाम युग शक्ति भी दिया जा सकता है।

जाग्रत भावनाओं का युग अब निकट ही

संक्रान्ति के इन क्षणों में मानव सामूहिक रूप से एक नए जमाने के प्रवेश द्वार पर आ पहुँचा है। प्रवेश करते ही उसे सारी परिस्थितियाँ बदली हुई मिलेगी। ऐसी दशा मे हरेक का अपरिहार्य दायित्व हो जाता है कि प्रविष्ट होने के पहले अपने को तदनुरूप ढाल ले। बदले परिवेश की विशिष्टाओ के अनुरूप स्वयं को विशिष्ट बना ले। इन विशेषताओं का केन्द्र बिन्दु होगी मानवीय संवेदना। जिसमें यह जितनी अधिक विकसित होगी वह उतना ही अधिक सुयोग्य साबित हो सकेगा। उतना ही कारगर सक्रिय सतेज बन सकेगा।

पहाड़ो पर चढ़ने वालों को महीनों पहले वहाँ की जलवायु को सह सकने की क्षमता देने वाले अभ्यासों से गुजरना होता है। शरीर और मन दोनों की कतिपय क्षमताएँ निखारनी पड़ती हैं। जो अपने को जितना अधिक प्रशिक्षित कर सका वह उतना ही सफल पर्वतारोही साबित होता है। अंतरिक्ष यात्रियों को यात्रा के पहले सालों-साल खास जीवन शैली का अभ्यास कराया जाता है। हवा का दबाव सहा जा सके गन्तव्य के गुरुत्वाकर्षण में चला फिरा जा सके इसके लिए न जाने कितनी प्रक्रियाओं से गुजरना पड़ता है। तब कहीं अंतरिक्ष में, अन्य ग्रहों में जाने का काम करने का गौरव हासिल होता है। जो इन प्रशिक्षणो को कष्ट साध्य बताते, अस्वीकार करते, उन्हें बदली हुई परिस्थितियों में खुद को बनाए रख पाना असम्भव प्रायः होता है। ठीक यही बात भावी समाज के अनुरूप अपने को ढालने के बारे में है। आज के बुद्धिवादी युग में अपनी सम्वेदनाओ को जाग्रत परिमार्जित और विस्तृत करने की बात कुछ विचित्र सी लगती है। पर किया क्या जाय? नियन्ता ने भावी समय के लिए इसे अनिवार्य योग्यता घोषित कर दिया है। निहायत जरूरी इस प्रवेश शुल्क को चुकाए बिना खैर नहीं।

यो संवेदनाओ का स्थान बौद्धिकता से सर्वदा उच्च रहा है। इनके जागरण को विकसित जीवन की सर्वोच्च ऊँचाई भी कहा जा सकता है। आत्म जागरण अथवा अध्यात्म की शुरूआत यहीं से होती है। यह एक ऐसा तालाब है जिसमें अनेकानेक सद्गुण अपने-आप सिमट-सिमट कर आ भरते हैं। इतना सब कुछ होते हुए इस ओर गति न होने का कारण है बुद्धिवाद की सांकल में जकड़े होना। बहुतों के मन में यह सवाल उठना स्वाभाविक है, कि अब यह साँकल कैसे टूटेगी? युग तो बुद्धि का है भाव की तरफ गति कैसे होगी? भाव के विकसित होने का कोई उपाय भी नहीं दिखाई पड़ता। सारे जीवन की व्यवस्था का सचालन बुद्धि से होता मालूम पड़ता है। इस बुद्धि के शिखर पर बैठे युग में भाव की ओर रास्ता कैसे खुले?

पर जीवन का एक विचित्र नियम है। वह यह कि एक अति पर जा पहुँचने पर दूसरी अति की ओर चल पड़ना आसान हो जाता है। ठीक घड़ी के पेडुलम की भाँति। जब यह बायीं तरफ के आखिरी सिरे को छू लेता है तो दायीं ओर मुड़ना शुरू हो जाता है। आज का जमाना न सिर्फ बुद्धि से ग्रस्त है बल्कि त्रस्त और पीड़ित भी है। समाधान जितने खोजे जाते है उतनी ही नई समस्याएँ जन्म लेती है। प्रत्येक समाधान स्वयं में समस्या बन जाता है।

बौद्धिकता का संताप अपने चरम शिखर पर छू रहा है अब स्वाभाविक है कि जीवन का पेंडुलम भाव की ओर मुड़ चले। इस स्थिति को भाँप लेने के कारण ही डॉ. पाल ब्रान्टन का "स्प्रिचुअल क्राइसिस आफ मैन" मे कहना है कि धरती पर शीघ्र ऐसा समय आने को है, जब पहली बार मनुष्य की भाव सम्वेदनाएँ इतनी गहरी और विस्तृत होंगी, जितना कि इसके पहले कभी नहीं हुई। कारण कि पहले मानव जाति ने बुद्धि का स्वाद नहीं चखा था, मन के रहते उसमें इस ओर लालच था। अब इस स्वाद को चख लेने, उकता जाने के कारण एक सामन्जस्य जन्म लेगा। बुद्धि का संचालन सम्वेदना के हाथ होगा। इनसे संचालित हो वह विवेक बनेगा।

इस सदी के शीर्षस्थ बुद्धिमानों में से एक हुए है बर्ट्रेण्ड रसेल। उनने अपनी जीवन कथा में एक स्थान पर अपना एक अनुभव बताया है। ग्रामवासियों का मस्ती भरा प्रेममय जीवन विस्मय हुआ और हर्ष भी। वह लिखते है कि बुद्धि की कमी के बाद भी जीवन इतना हलका फुलका और मस्ती भरा हो सकता है यह इसी अनुभव के बाद

मालूम हुआ और वह पहली बार मानने को बाध्य हुए कि भावनाओं का स्थान बुद्धि से ऊपर है । इतना ही नहीं वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भावनाएँ व्यक्ति के व्यक्तित्व को विस्तृत बनाती हैं और बुद्धि उसे स्वार्थों के संकीर्ण दायरे में समेट देती है ।

रसेल के अनुभव की सत्यता हर कहीं परखी जा सकती है । बुद्धिवादी सम्राट अशोक की सोच यह थी कि हर किसी को जीत कर अपने अहं के झण्डे तले ला पटकेगा । साधारण दृष्टि में भले उसकी योजना विस्तार की लगे पर असलियत में वह हर किसी को स्वार्थों के दायरे में घसीट लेना चाहता था । जिनने उसकी इस नीयत को परखा उसे चण्ड अशोक कहने लगे । पर कलिंग की विजय के दौरान तड़प रहे सिपाहियों, अनाथ-बेसहारा स्त्रियों, भूख से व्याकुल बच्चों की पीड़ा देखकर उसकी भाव सम्वेदनाएँ जग पड़ीं । जाग्रत सम्वेदनाओं ने अहंकार स्वार्थ को कूड़े के ढेर में फेंक दिया । फिर जो विस्तार का क्रम शुरू हुआ रोके नहीं रुका । पहले का चण्ड अशोक अब अशोक महान बन गया ।

राजकुमार सिद्धार्थ पहले सामान्य थे । राह चलते बीमार और पीड़ित वृद्ध ने उनके मर्म को छूआ । संवेदनाएँ जगीं और इनने उन्हें बेचैन कर के रख दिया। मानव के कष्ट को कैसे दूर करे इस हेतु वह व्याकुल हो उठे । तदनुरूप क्रियाशीलता-आत्म विस्तार ने उन्हें बुद्ध बना दिया । ऐसी ही घटना चैतन्य के जीवन में घटी। बंगाल में कोई मुकाबला न था उनकी प्रतिभा का। उनके तर्क के सामने कोई टिकता न था । उनके शिक्षक भी उनसे डरते थे । दूर-दूर तक खबर थी कि उनकी बुद्धि का कोई मुकाबला नहीं है । पर गया धाम में एक कोढ़ी के कष्ट ने माधवेन्द्र के उद्बोधन ने उनकी संवेदना को जगा दिया । विस्तृत हुआ व्यक्तित्व चाण्डाल, गरीब, दुखी-पीड़ित सभी को अपनाने में जुट गया और वह महाप्रभु बन गए । संवेदनाएँ न जगतीं तो छोटी सी पाठशाला के शिक्षक बन कर रह जाते ।

अपनी बुद्धिमत्ता की धाक जमाने वाले आइन्सटीन ने जब हिरोशिमा में हुई बर्बरता को सुना । वह अवाक रह गए बुद्धि का यह दुरुपयोग । उनका समूचा व्यक्तित्व हिल गया और संवेदनशीलता की जाग्रति ने उन्हें बाल कल्याण में जुटा दिया । वह संत बन गए । फेड्रिक हरनेक ने अपनी कृति "अलवर्ट आइन्सटीन इन लेबेन वाहरहेत, मेन्सच्लिचेकेत एण्ड फ्रेडेन" में उन्हीं के शब्दों को दुहराते हुए लिखा है संवेदनाएँ जीवन की दिव्यता हैं । वे ही जीवन की पहेली का हल है ।

आज के मनोवैज्ञानिक भी इसी सत्य की ओर बढ़ रहे हैं । मनोविद लेसली डी. व्हीदरहेड अपनी रचना "साइकोलॉजी इन द सर्विस आफ सोल" में लिखते हैं भावनाओं को व्यक्तित्व से निकाल फेंकना सारी समस्याओं का मूल है । इस केन्द्र को पुनः स्थापित और सुदृढ़ किए बगैर वर्तमान के संताप से कोई छुटकारा नहीं । संताप छूटे जीवन की उलझनें सुलझें इसके लिए स्वयं की भावचेतना को जगाना होगा । दूसरे के कष्टों को सामयिक आवश्यकता को समझने का प्रयास करें । प्रयास की तीव्रता जब हमें कुछ करने के लिए बेचैन करने लगे तो समझें कि जाग्रति हो रही है । संवेदनाओं की सक्रियता की शुरूआत होने का लक्षण है सहानुभूति और प्रखरता का चिह्न है सेवा । इसकी परिणति है अपनत्व का विस्तार अपने पराये के भेद का अभाव ।

इसकी सामयिक अनिवार्यता समझ कर स्वयं में इनका विकास किया जाय । नयी परिस्थितियो के लिए ऐसे ही उत्कृष्ट भाव सम्पन्न व्यक्तियों की आवश्यकता है । लक्ष्मी और वैभव न होने पर किसी को रंज नहीं करना चाहिए । बुद्धि की ऊंचाइयाँ न दिख रही हों तो भी निराश न हो । लालसाओं लिप्साओं को जीतकर जीवन की अनिवार्यतम आवश्यकताओं से सन्तुष्ट होकर समय की माँग को पूरा किया जा सका तो समझना चाहिए कि मानव जीवन धन्य हुआ । भविष्य के भावनात्मक समाज में रह सकने योग्य सुयोग्यता हासिल हुई । कालचक्र इन दिनों सिर से पैर तक संकीर्ण स्वार्थपरता से भरे हुए मानव समूह को आदर्शों की ओर मोड़ रहा है, नये जमाने लायक ढाल रहा है। जो मुड़ न सका उसे कटना पड़ेगा । स्थिति की गम्भीरता को समझें स्वयं को आदर्शवादी परिस्थितियों के अनुरूप मोड़ें । स्वयं प्रकाशित होकर औरों को प्रकाश का प्रतिदान करें ।

अवांछनीयताएँ मिटेंगी, वांछनीयताएँ बढ़ेंगी

हर बात की एक सीमा होती है । रावण, कंस, हिरण्यकश्यप, वृत्रासुर आदि भी उभरे तो तेजी से थे, पर उसी गति से उनका अंत भी हो गया । पानी में बबूले तेजी से उठते हैं, और उसी तेजी से वे उछलते व तिरोहित हो

जाते हैं ।.फसल पकती है और कटने के बाद उसी जगह नई उगाई जाती है । जर्जर शरीर मरते और नया जन्म धारण करते है । खण्डहरों के स्थान पर नयी इमारतें खड़ी होती हैं । इसी क्रम के अनुसार अवांछनीयताओं का माहौल अब समाप्त ही होने जा रहा है और उसका स्थान सच्चे अर्थो वाली प्रगतिशीलता ग्रहण करेगी । लंका दमन के साथ ही रामराज्य का अवतरण भी जुड़ा हुआ था । वही इस बार भी होने जा रहा है ।

जो बादल बेतरह गरज रहे हैं वे तीव्रगामी तूफान के साथ उड़ जायेंगे । वे न हिमयुग में बदलेंगे, न समुद्र में उफान लाकर धरातल को उदरस्थ ही कर सकेंगे । क्रिया की प्रतिक्रिया होती है, यह न्यूटन का नियम है। भौतिकी का दर्प दलन करने के लिए वह उद्भव हो रहा है जिसमें महाकाल की अप्रत्याशित भूमिका सम्पन्न होती देखी जा सके ।

वैज्ञानिक, राजनेता, भविष्यवक्ता, अन्वेषक अपने-अपने तर्क और तथ्य आगे रखकर यह प्रमाणित करने का प्रयत्न कर रहे हैं कि महाविनाश में अब उँगलियों पर गिनने जितने समय की देर है किसी सीमा तक उठे हुए कदम अब वापस नहीं लौटेंगे । इन प्रवक्ताओं के कथन, अनुमान, विश्लेषण पर कोई आक्षेप न करते हुए हमें यह पूरी हिम्मत के साथ कहने की छूट मिली है कि आतंक के समय रहते शान्त होने की भविष्यवाणी करें और जन साधारण से कहें कि भयभीत होने की अपेक्षा सृजन की बात सोचें । दुनिया वह नहीं रहेगी जो आज है । उसकी मान्यताऐं, भावनाएं, विचारणाऐं, आकांक्षाऐं ही नहीं, गतिविधियां भी इस तरह बदलेंगी कि सब कुछ नया-नया प्रतीत होने लगे ।

ठीक इसी के समतुल्य दूसरा परिवर्तन होने जा रहा है । उसके लिए पाँच सौ वर्ष प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ेगी । इस नये परिवर्तन के लिए एक शताब्दी पर्याप्त है । आज की चकाचौंध जैसी परिस्थितियां और आसुरी मायाचार जैसी समस्याएं अब इन दिनों भयावह लगती हैं और उनके चलते प्रवाह को देखकर लगता है कि सूर्य अस्त हो चला और निविड़ निशा से भरा अंधकार अति समीप आ पहुँचा । पर ऐसा होगा नहीं । यह ग्रहण की युति है । बादलों की छाया है, जिसे हटा देने वाले प्रचंड आधार विद्यमान भी हैं और गतिशील भी । लंकाकाण्ड की नृशंसता के उपरान्त रामराज्य का सतयुग वापस आया था । वैसी ही पुनरावृत्ति की हम अपेक्षा कर सकते हैं ।

विनाश की सोचते और चेष्टा करते हुए मनुष्य का बुद्धि संसार थक जायेगा और वैभव के साधन स्रोत सूख जायेंगे । उन्हें नये सिरे से नई बात सोचनी पड़ेगी कि प्रवाह की इस दिशा को उलट दिया जाय और उपलब्ध साधनों को सृजन के लिए लगाया जाय । ऊपर से पड़ने वाले दबाव ऐसी ही उलट फेर संभव करेंगे। उनने उलटे को उलट कर सीधा करने का निश्चय कर लिया है ।

आयुध बनाने वाले कारखाने के मजदूरों और इंजीनियरों को सृजन के साधन विनिर्मित करने का नया काम मिलेगा । आयुधों से लोगो का अब पेट भर गया है मजूरों को उधार या मुफ्त बाँट कर अपने कारखानों की बेरोजगारी उन्हे बरबस रोकनी पड़ रही है ।

अगले दिनों भूखी, प्यासी अशिक्षित बीमार, पिछड़ी दुनिया की आवश्यकता इतनी अधिक दृष्टिगोचर होगी कि उनकी पूर्ति के लिए युद्ध साधना और निर्माताओं की समूची पूँजी खप जायेगी । माँग भी इतनी होगी कि सीमित मुनाफा लेकर उत्पादन को जलते तवे पर पानी की बूँदों की तरह खपाया जा सके । सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि विनाश के लिए एक छुरी या दियासलाई पर्याप्त है। पर विकास के लिए तो अनेकानेक साधन बड़ी मात्रा में जुटाने पड़ते हैं । अगले दिनों सृजनात्मक उत्पादन की हजार गुनी माँग होगी और कहीं से भी बेकारी बेरोजगारी को पूँजी जमा होने की शिकायत सुनने को न मिलेगी ।

इक्कीसवीं सदी में ऐसे यंत्र बन जायेंगे जो सूर्य किरणों के बिखराव को केन्द्रीभूत करके उसे बिजली की तरह वितरित किया जा सके । समुद्र की लहरें और ज्वार-भाटे भी इस उत्पादन में योगदान दे सकते हैं । इस प्रकार प्रकृति की शक्ति वर्षा को ही केन्द्रीभूत किया जायगा और उसी को मिल बाँट कर ईंधन के काम में लाया जायगा । फिर इन दिनों अत्यधिक ऊर्जा खर्च करने का अपव्यय जो अभ्यास में आया है उसमें भी कटौती होगी । हर व्यक्ति को समझना पड़ेगा कि ईंधन सम्पदा की मानवी क्षमता सीमित रह गई है, उसे किफायत के साथ ही उपयोग में लाना चाहिए ।

पशुओं का मलमूत्र तो गोबर गैस प्लाण्ट में प्रयुक्त होने ही लगा है । अगले दिनों लगभग इतनी ही मात्रा में उत्पन्न होने वाला मनुष्य का मलमूत्र भी दुर्गन्ध और कुरुचि बीमारी फैलाने की अपेक्षा गोबर गैस की तरह ही प्रयुक्त होने लगेगा । उससे खाद भी प्रचुर मात्रा में मिलेगी, गंदगी

भी कटेगी और प्राकृतिक खाद की उपयोगी मात्रा भी खेतों को अधिक परिमाण में प्राप्त होगी। ईधन इस प्रकार समय की आवश्यकता को किसी प्रकार पूरा कर सकेगा।

वनस्पति पशुओं से बचेगी। उनसे मनुष्य को इमारती लकड़ी और कागज जैसी वस्तुओं को बनाया जा सकेगा। मनुष्य को दूध पीने की आदत घटानी पड़ेगी और तिल, मूँगफली, सोयाबीन आदि के घोल से उस प्रयोजन की पूर्ति करनी पड़ेगी। पशु चर्म के लिए जिन वस्तुओं पर निर्भर रहना पड़ता है, वे प्लास्टिक जैसी वस्तुएँ होंगी। जिस प्रकार कपास का स्थानापन्न नाइलान का धागा निकल आया है, उसी प्रकार धातुओं की कमी पड़ने पर उनके स्थान पर ऐसे रासायनिक पदार्थ उपज पड़ेंगे कि उनसे धातुओं की आवश्यकता पूरी हो सके। इन दिनों बड़े कारखाने और विशाल युद्धों के लिए विनिर्मित होने वाले हथियार ही लोहे की तिहाई खपत करते हैं। साधारण घरेलू उपयोग में तो एक तिहाई की ही आवश्यकता पड़ती है। अगले दिन महायुद्ध को निरस्त कर देंगे। इसी प्रकार बड़े कारखाने बढ़-चढ़कर छोटे कुटीर उद्योगों में बदल जायेंगे। ऐसी दशा में लोहे की उपयोगिता सीमित ही रह जायगी। उसकी पूर्ति पुरानों को नये में ढालकर अथवा जहाँ-तहाँ से कुरेदबीन कर की जाती रहेगी।

वस्त्रों के लिए जितना अम्बार अब खड़ा करना पड़ रहा है, उतना भविष्य में न रहेगा। सभी एक जैसी सीधी सादी पोशाकें पहनेंगे। तरह-तरह के डिजायन और फैशन उस बदले हुए जमाने में हेय समझे जाने लगेंगे। फिर बक्सों भरे कपड़े कोई न रखेगा। धोने, सुखाने और पहनने के लिए जितना आवश्यक होगा, उतने ही कपड़े बनेंगे और सीये जाया करेंगे। फैशन के नाम पर जितना पैसा तरह-तरह की डिजायनें बनाने में, बेशकीमती स्तर का जखीरा जमा करने में खर्च करना पड़ता है, उतने की जरूरत ही न पड़ेगी। कपड़ा उद्योग हैण्डलूम के हिस्से में एलाट कर दिया जायगा इससे बेकारी भी दूर होगी, अपव्य भी बचेगा और बेकार की शान-शौकत में लोगों में जो अनुकरण की ललक पैदा होती है, उसकी भी जड़ कट जायगी। यह परिवर्तन अपने आप में एक क्रान्ति उत्पन्न करेगा। उससे अनेकों कठिनाइयों का एक साथ समाधान हो जायेगा।

युटोपिया के नाम पर भविष्य कथन का विवरण जिन लेखकों ने विस्तारपूर्वक वर्णन किया है, उसमे उन्होने प्राय: एक बात लिखी है कि भौतिक विज्ञान के अनेकानेक आविष्कार होगे, उनसे मनुष्य की सुविधाएं और सामर्थ्य अतिशय बढ़ जायेंगी। थल की भाँति जल और नभ पर भी आधिपत्य हो जायेगा। इस कथन में अधूरापन यह है कि वर्तमान परिस्थितियों के बदलने पर नई परिस्थितियों के साथ संगति कैसे बैठेगी? सारे काम मशीनें करने लगीं तो मनुष्य का शरीर ही नहीं दिमाग भी निकम्मा हो जायगा। सुविधाओं के सहारे एक सीमा तक ही उन्नति सम्भव होती है, इसके उपरान्त अध:पतन का सिलसिला चल पड़ता है और मनुष्य लुंज पुंज हो जाता है। ऐसी दशा में स्वाभाविक है कि दुर्बलता, रुग्णता, विलासिता और आकांक्षा अभिलाषा इस सीमा तक बढ़ती चली जायँ, तो उसे उत्थान न कहकर पतन मानना पड़े। लोग प्रसन्न रहने के स्थान पर उद्विग्न रहने लगें। तब फिर जिस उज्ज्वल भविष्य का सपना देखा गया है वह ठीक उल्टी स्थिति में पहुँचकर विपत्तियों का कारण बने।

मानव सत्ता शरीर नहीं आत्मा है। शारीरिक सुविधा साधनों का उपयोग तभी तक है जब तक कि वह चेतना को समुन्नत बनाने की सहायता करता है। यदि इसके विपरीत हुआ, चेतना आलसी, प्रमादी, अनाचारी और पतनोन्मुखी होती चली गई तो उसका प्रभाव परिणाम न केवल अन्तरात्मा के लिए वरन् बाह्य परिस्थितियों की दृष्टि से भी अनुपयुक्त एवं कष्टकारक ही होगा। इसलिए यदि उज्ज्वल भविष्य के सपनों को साकार देखना है तो यह मान कर चलना होगा कि चिन्तन, चरित्र और व्यवहार में उत्कृष्टता का अधिकाधिक समावेश होगा और जीवनचर्या के साथ सादगी सहकारिता का अंश बढ़ता चला जायगा। यही वास्तविकता है। भविष्य कथन में वे ही सार्थक माने जायेंगे जो आविष्कारों और सुविधा साधनों की बात करें और मानवी सज्जनता और सुव्यवस्था की संभावना पर अधिक चिन्तन एकाग्र करें। अगली शताब्दी में मनुष्य, भावनाओं का धनी होगा, भले ही उसकी सम्पन्नता कम ही क्यों न हो? मिल-बाँट कर खाने वाले थोड़े साधनों में भी प्रसन्नता और प्रगतिशीलता का आधार खड़ा कर लेते हैं। जबकि विपुल विभूतियाँ रहने पर भी कृपणता से घिरे हुए लोग बेचैन रहते और बेचैन करते रहते हैं। अगले दिनों सद्गुण, सत्कर्म और सत्स्वभाव में अभिवृद्धि होगी। उन आविष्कारों और सुविधा साधनों को हेय ठहराया जायगा जो मनुष्य को जादूगर स्तर की कुछ भी बुला लेने और कुछ भी भगा देने की कला सिखाता है।

मानवी गौरव गरिमा को अक्षुण्ण रखना जब आवश्यक समझा जायगा तो मर्यादा में बँधना और

वर्जनाओं से बचना पड़ेगा। संयमशीलों की जीवनी शक्ति बढ़ती है। वे सुपाच्य सात्विक खाते और पसीना बहाने वाला श्रम करते हैं। ऐसी दशा मे उन्हें न दुर्बलता घेरती है न रुग्णता सताती है और न असमय की अकाल मृत्यु ही आती है।

अगले दिनों मनुष्य बलिष्ठ होगा। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह हाथी की तरह विशालकाय, चीते की तरह धावक और हिरन की तरह छलांगे लगाने लगेगा। वरन् अर्थ यह है कि आदर्शों के परिपालन की उसकी साहसिकता असाधारण होगी। वह लोभ और मोह का, भय और दबाव का सामना कर सकेगा। उनके आकर्षक दबाव से विचलित न होगा, वरन् अपनी प्रत्येक कृति में उस विशिष्टता का परिचय देगा जिसका धीर, वीर, गंभीर लोग प्रमाण प्रस्तुत किया करते हैं।

शरीरगत सुविधाएँ अभी भी कम नहीं हैं। आलसियों की तरह उन्हे अपनाया ही न जाय और अनाड़ियों की तरह दुरुपयोग किया जाय तब तो बात दूसरी है, अन्यथा साधनों की दृष्टि मे पूर्वजों की तुलना में हम कहीं अधिक सुविधा भरी स्थिति में हैं। यदि पूर्वज रहे होते तो आज की दुनिया उन्हें स्वर्ग जैसी मोहक और बुद्धिमान लगती। हम भी इक्कीसवीं सदी के लोगों को आविष्कार के धनी होने या अपेक्षाकृत अधिक साधन सम्पन्न देख सकते है, पर इससे बनेगा कुछ नहीं। अन्तरंग यदि प्रसन्न और सम्पन्न न हो तो ऊपरी चमक दमक केवल भ्रम ही उत्पन्न कर सकती है।

साक्षर बनने की शिक्षा चिरकाल से उपलब्ध है। स्कूलों और कालेजों में हमारे बच्चे बहुत सी जानकारियाँ प्राप्त करते हैं और बहुज्ञ प्रतीत होते हैं। अवसर मिलता है तो अफसर भी बन जाते हैं और कई प्रकार के कौशल दिखाकर सम्पन्नता भी बटोरते हैं। येन-केन-प्रकारेण प्रख्यात भी हो जाते हैं, पर इतने भर से कोई ठोस उपलब्धि हाथ नहीं लगती। बहुरूपिये, नट, बाजीगरों जैसे कौतूहल उत्पन्न करते रहे हैं, पर वह सूत्र हाथ नहीं आते, जिनके सहारे महान बना जाता है।

संसारभर में प्रायः दस करोड़ सैनिक और अर्ध सैनिक है वे युद्ध की पढ़ाई पढ़ते, परीक्षा देते और प्रतीक्षा करते रहते हैं। उन्हें इस बाल कक्षा से आगे बढ़ कर उस कालेज में भर्ती होना चाहिए जिसमें वे गरीबी, अशिक्षा और बीमारी के विरुद्ध मोर्चा लगा सकें और ढहा देने वाली तोपें चला सकें। दस करोड़ अध्यापक, बागवान, चिकित्सकों को आज की दुनिया के लिए स्वर्गलोक से अवतरित होने वाले देवता समझा जाय। उन्हें मृत्यु दूत की पदवी से विरत होना पड़ेगा।

युद्धों से समस्या घटती नहीं बढ़ती ही है। घटाने और मिटाने का एक ही तरीका है- विचार विनिमय पंच फैसला, संधि या विश्वास। यह तत्व उभरने ही वाले हैं। अण्डे में है तो क्या, कल वे चूजे बनेंगे, परसों मुर्गे और कुछ ही समय बीतेगा कि ब्रह्म मुहूर्त होने की बाँग लगाने लगेंगे। सोतो को जगाने की उनकी पुकार अनसुनी न की जायेगी।

यह सब विचारों में आमूल-चूल परिवर्तन से ही संभव हो सकेगा, और तभी शिक्षा पद्धति भी प्रभावित परिवर्तित हो सकेगी। तब अपने बदले रूप में शिक्षा ऐसी होगी, जिससे मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप एवं कर्तव्य-दायित्व का गंभीरतापूर्वक मान करें। साथ में ऐसा आचरण भी करें जो आत्मा की पुकार, परमात्मा के संकेत एवं युगधर्म की चुनौती स्वीकारने के लिए विवश कर सकें। ऐसी शिक्षा स्कूली पाठ्यक्रम में छात्रों के लिए सम्मिलित रहेगी। अध्यापकों को अपना चरित्र उसी ढाँचे में ढला हुआ सिद्ध करना पड़ेगा। यह नियमित पढ़ाई की बात हुई जिसे स्कूली शिक्षा कहते है। यह आवश्यक तो है पर पर्याप्त नहीं। धर्मोपदेशकों, कर्णधारों, नेतृत्व कर सकने की स्थिति में पहुँचे हुए साहित्यकारों, कलाकारों को अपने-अपने साधनों एवं कौशल के सहारे जन मानस में वह प्रेरणा गहराई तक पहुँचानी पड़ेगी, जिसके सहारे अपने व्यक्तित्व को विभूतिवान्, प्रतिभावान, चरित्रवान् और कर्तव्य परायण सिद्ध कर सकें। शिक्षा की तब मूलभूत आवश्यकता यही रह जायेगी और आज जिस प्रयोजन के लिए वह प्रयुक्त हो रही है, तब उसकी जरूरत नहीं पड़ेगी, कारण कि विशालकाय कल कारखाने बन्द हो जायेंगे। एक-एक, दो-दो हार्स पावर की मोटरें गृह उद्योगों के माध्यम से उन वस्तुओं का उत्पादन करने लगेंगी जिनकी विलास के लिए नहीं, निर्वाह के लिए आवश्यकता है। न शिक्षितों को बेरोजगारी रहेगी, न अशिक्षितों की। सभी को काम मिल जायगा और भूख ही नहीं मिटेगी, वरन् उस शैतानी पर भी अंकुश लगेगा, जो खाली दिमाग होने के कारण शैतानी बनकर छाई रहती है।

शहर और गाँव की तुलना में कस्बों की अभिवृद्धि होगी। चारो ओर खेतों और बागों के फार्म होंगे। सिंचाई और दुवाई का ऐसा योजनाबद्ध ताना बाना बनेगा जो न

केवल हरित क्रान्ति की आवश्यकता पूरी कर सकेगा वरन् पाताल गंगाओं से सींचकर रेगिस्तानों को भी इन्दिरा नहर की तरह उर्वरा भूमि में परिणत कर सकेगा ।

आज तो उत्पादन जितना ही श्रम विक्रय मे लगता है। पीछे हर कस्बे में मुहल्ले-मुहल्ले में ऐसे सुपर बाजार होंगे जहाँ एक ही जगह विक्रेताओं और खरीददारों की कुछ ही समय में अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने का सुयोग मिल सके ।

गाँवों की बसावट आज जैसी भोंड़ी न होगी वरन् वे "लार्जर फैमिली" के रूप में खेती करने वाले ऐसे परिवारों के रूप में बसे होंगे जो अपने आप मे स्वावलम्बी भी होंगे और सुरुचि पूर्ण भी, सुसंस्कृत एवं सुनियोजित भी । बड़े शहरों की बड़ी गंदगी को तब जलाशयों में बहाकर पेयजल को दूषित न करना पड़ेगा वरन् कचरे को खाद में बदल लेने की पद्धति कार्यान्वित होने लगेगी । खेत उर्वर बनेंगे और गंदगी का कहीं दर्शन भी न हो सकेगा ।

आज धर्मजीवी अगणित है । ६५ लाख संत बाबा, १ लाख प्रशिक्षित पादरी तथा १ लाख अन्यान्य धर्मो के पुरोहित । कुछ साधक, कुछ योगी । यह एक करोड़ का समुदाय असली धर्म की सेवा करेगा। व्यक्तित्व की प्रखरता और समाज के सुसंगठन के लिए जिस स्तर के लोक शिक्षण की आवश्यकता है वह नीति निष्ठा और समाज सेवा की दो गंगा-यमुना धाराओं में भली प्रकार समा जाता है। कर्मकाण्ड और जप तप व्यक्तिगत रुचि एवं आवश्यकता का विषय है । उसे ऐच्छिक छोड़ दिया जाय पर धर्म का वह पक्ष जो जनता से अपना निर्वाह भर पाता है, मात्र इसी काम में निरत रहे कि व्यक्ति का चिन्तन, चरित्र और व्यवहार शालीनता युक्त बनाये । समाज मे ऐसे प्रचलन चलाने के लिए जन सम्पर्क साधे, जिससे सुधरे समाज की झाँकी विनिर्मित हो सके । ऐसी झाँकी जिसे धरती पर स्वर्ग का अवतरण कहा जा सके । यह संत वर्ग स्कूली शिक्षा के स्थान पर सामाजिक शिक्षा का नैतिक शिक्षा का वातावरण बनाये । परिव्राजकों की तरह बादल बन कर उन पिछड़े क्षेत्रों में पहुँचें जहाँ नव सृजन की चेतना जगाने की आवश्यकता है ।

अन्यान्य गिरजाघरों-मस्जिदों देश के अगणित देवालयों की इतनी भूमि और इतनी सम्पदा विद्यमान है जिससे कितने ही नव जीवन जगाने वाले विश्व विद्यालय चलाये जा सके ।

यह एक करोड़ की धर्म सेना विश्वराष्ट्र की सम्पदा रहे और वहीं से उसे वहाँ समय-समय पर, सत्याग्रह करने के लिए भेजी जाय जहाँ कहीं भी अनीति बरती जा रही है। जब विश्व राष्ट्र का समस्त संसार का शासन होगा और भौगोलिक दृष्टि से देशों का छोटे प्रान्तों की तरह पुनर्गठन होगा तो स्थानीय समस्याओं को सुलझाने के लिए मनीषियों का मंत्रिमंडल काम करेगा । इनका बालिग वोट से चयन न होगा वरन् लोक सेवी प्रतिभाओ में से ही उन्हें नियुक्त कर लिया जाया करेगा । अनगढ़ भीड़ द्वारा एक बालिग एक वोट के आधार पर ऐसे सूत्र संचालक नहीं चुने जा सकते जो अपने पराये का पक्षपात करने की अपेक्षा लोकहित और आदर्शों का परिवर्तन ही अपना कर्तव्य समझें ।

अब बिखरे हुए, अपने क्षेत्रीय स्वार्थों की दुहाई देने वाले देशों का जमाना चला गया । अब संसार भर का एक ही विश्वराष्ट्र रहेगा । उसमें न्याय और विवेक चलेगा । न आर्थिक विषमता रहेगी न ही जातीय । हर किसी को शान्ति से रहने और रहने देने का अधिकार मिलेगा । उस वर्ग का उन्मूलन किया जायगा जो अपने परिकर और वर्ग को अनुचित लाभ दिलाने की दुहाई देकर लोगों को भड़काते और चलते हुए कार्य में बाधा डालते है ।

कम आवश्यकताएँ कम समय में पूरी हो जाने के उपरान्त सर्व साधारण को इतना समय मिल सकेगा कि वह अपना शारीरिक, मानसिक विकास करने के लिए समुचित अवसर प्राप्त कर सके, अपने सम्पर्क क्षेत्र में प्रगतिशीलता उत्पन्न करने वाले क्रिया कलापों मे भी योग-दान दे सकें ।

परस्पर मिल जुलकर उपयोगी काम करने से सहज मनोरंजन हो जाता है। संगीत, साहित्य कला को प्रज्ञा और श्रद्धा को उभारने में प्रयुक्त क्रिया जा सके तो उसमें इतने उच्च कोटि के मनोरंजन की व्यवस्था हो सकती है जिस पर आँखे व मन-मस्तिष्क खराब करने वाले सिनेमाओं को निछावर किया जा सके । प्रकृति अपने आप में इतनी अधिक सुन्दर और सुखद है कि उसकी गोदी में खेलने का आनंद उस अनुभूति की पूर्ति कर सकता है जिसके लिए कि आज हर किसी को बड़ी प्यास है । वैचारिक प्रदूषण की मुक्ति की दिशा में यह एक महत्वपूर्ण कदम होगा ।

मनुष्य में देवत्व उदय करने वाला और धरती पर स्वर्ग जैसा वातावरण बनाने वाला समय अब निकट है। अन्धकार सिमट कर पलायन कर रहा है। ऊषाकाल का अरुणोदय उल्लास का संदेश लेकर आया है । हर हृदय सरोवर में अब शतदल कमल खिलने ही वाले हैं । दिव्य

अवतरण की इस पुण्य बेला में धरित्री पर दो प्रकार की प्रवाह-धाराएँ बहने जा रही हैं – एक सुखद संभावनाओं वाले सृजन प्रयोजनों के लिए साहस भरे प्रयासों का प्रचलन उभरेगा। दूसरेजो अवांछनीय अनौचित्य प्रचलन बनकर जम गया है उसे सुधारने, उखाड़ने के लिए ऐसा संघर्ष भी चलेगा जो एकता, समता, विवेक और न्याय की प्रतिष्ठापना करके ही दम ले। दोनों प्रवृत्तियों का समान रूप से संवर्धन होने पर ही लक्ष्य तक पहुँच सकना संभव हो सकेगा।

इक्कीसवीं सदी के सौ वर्ष नया संसार, नया मनुष्य, नया प्रचलन परिपूर्ण स्तर तक पहुँचने का समय है। इसके लिए आरंभिक उपचार युग संधि के शेष वर्षों को समझा जा सकता है। बच्चे की आयु उसके जन्म दिन से गिनी जाती है, पर वह गर्भ में तो प्राय: नौ महीने पहले ही पहुँच जाता है और काया का महत्वपूर्ण निर्माण उन्हीं दिनों में पूरा कर लेता है। युग संधि की बेला भी ऐसे ही परम पुरुषार्थ की अवधि है जिसमें अनौचित्य का उन्मूलन एवं औचित्य के संस्थापन की द्विविध प्रक्रिया एक साथ चलती देखी जा सकती है। श्वास-प्रश्वास मे, रक्त संचार में, ग्रहण-विसर्जन में, श्रम-निद्रा में शरीर भी तो यही प्रयास अनवरत रूप से करता रहता है।

निराश होने की आवश्यकता नहीं

समाज में संव्याप्त निराशा के पक्ष में अनेकों तर्क और तथ्य भी हैं। अशुभ, अनिष्टों के अगले दिनों आ उपस्थित होने के संदर्भ में अनेक कारण गिनाये जा सकते हैं। उन्हें उलट कर उज्ज्वल भविष्य की संभावनाओं पर विश्वास जमाना तद्‌विषयक प्रत्यक्ष प्रयासों की आधी मंजिल पूरी कर लेना है।

इन दिनों आम चर्चा परिस्थितियों की विपन्नता पर होती सुनी जाती है। कुछ तो लोगों का स्वभाव ऐसा है कि आशंकाओं को बढ़ा चढ़ा कर कहने में सहज रुचि रहती है। कुछ वास्तविकतायें भी ऐसी हैं जो अगले दिनों के प्रति निराशा भरा चित्र खींचती हैं। उत्साह उभारने के अनेक कारण भले ही गतिशील हों पर उन्हें साधारण मानने और उपेक्षा करने का स्वभाव ही प्रमुखता अपनाये हुए दीखता है।

जिनके जिम्मे सुधार परिष्कार की जिम्मेदारी है वे अपने कर्तव्यों का वैसा पालन नहीं कर रहे जैसा कि करना चाहिए। राजनैतिक पार्टियों की आपसी उठा-पटकी उनकी प्रामाणिकता कम कर रही है। सामाजिक और धार्मिक संगठन कुछ ठोस काम कर सकते थे पर वे भीतर से पोले खोखले बनते जा रहे हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय सूझबूझ भी विश्व शान्ति की बात नहीं सोचती वरन् सुरक्षा व्यय से हर देश की कमर टूटी जा रही है। साहित्यकार, कलाकार, गायक, अभिनेता उस स्तर का सृजन कर नहीं पा रहे हैं जैसा कि ऐसी विषम वेला में सर्वतोभावेन होना चाहिए था। संभवत: इन्हीं सबको दृष्टि में रखते हुए सुप्रसिद्ध टाइम पत्रिका ने १९८८ का "मैन आफ द ईयर" न चुनकर संकटों से घिरी पृथ्वी को "प्लेनेट आफ द ईयर" चुना है।

सामयिक कठिनाइयों में से यह कुछ सार संक्षेप है, जिनके साथ वास्तविकता का एक बड़ा अंश भी जुड़ा हुआ है। छुटपुट चर्चा इन्हीं की होती है। अखबारों में समाचार भी ऐसे ही विघटन के पढ़ने को मिलते है। प्रतिपादन कर्ता अगले दिनों की विभीषिकाओं को ही अच्छा खासा रंग देकर इस प्रकार प्रस्तुत करते है जिससे वर्तमान की अवांछनीयता और भविष्य की अशुभ संभावना ही उभर कर सामने आती है। ऐसी दशा में निराशा का वातावरण बनना स्वाभाविक है।

कहना न होगा कि निराशा की मन: स्थिति अपने आप में एक बड़ा संकट है। उसके रहते व्यक्ति समर्थ होते हुए भी कुछ ऐसा सोच नहीं पाता, कुछ ऐसा कर नहीं पाता जो उचित भविष्य की संरचना कर सकने वाले विचारों और कार्यों को अग्रगामी बनाने में सहायक सिद्ध हो सकें। डरावने भविष्य की कल्पना करने से मनोबल टूटता है। उत्साह और उल्लास में भारी कमी पड़ती है और अभिनव सृजन के लिए जिस साहस की आवश्यकता है उसे जुटा सकने में भारी कठिनाई पड़ती है।

सृजन प्रयासों का क्रम सर्वथा बन्द हो गया हो ऐसी बात भी नहीं। वर्तमान को सुधारने और भविष्य को उज्ज्वल बनाने के लिए जिन प्रयत्नों की आवश्यकता है उनमें शिथिलता भले ही हो पर अभाव उनका भी नहीं है। इतने पर भी इसे मनुष्य स्वभाव की विसंगति ही कहना चाहिए कि जो अशुभ है उसी को बढ़ा चढ़ा कर डरावने रूप में प्रस्तुत किया जाता है और सृजन की नियोजित प्रयत्नशीलता को जैसी भी कुछ वह है उससे भी हलका आँका जाता है। यह माहौल मानसिक दृष्टि से ऐसा है, जिसे द्रुतगामी प्रगति प्रयासों के लिए जन साधारण का उल्लास उभारने के लिए अपर्याप्त ही कहा जा सकता है। उत्साह

के अभाव मे प्रगति प्रयासों को अभीष्ट बल मिलता नहीं है । पराक्रम शिथिल रहे तो भविष्य की संरचना के लिए जिन प्रचण्ड प्रयासों की आवश्यकता है, उसमें कमी ही बनी रहती है और सुखद संभावनाएं बन पड़ने की गति धीमी होती जाती है ।

हडसन इंस्टीटयूट न्यूयार्क के हरमन कॉन; वर्ल्डवाच इंस्टीटयूट अमेरिका के लेस्टर आर ब्राउन, जो आंकड़ों के आधार पर भविष्य की रूपरेखा बनाते हैं, आज से ४०० वर्ष पूर्व फ्रांस में जन्मे चिकित्सक नोस्ट्राडेमस, फ्रांस के नार्मन परिवार में जन्मे काउन्ट लुई हेमन-जिन्हें संसार 'कीरो' के नाम से पुकारता था, क्रिस्टल बॉल के माध्यम से भविष्य का पूर्वानुमान लगाने वाली सुविख्यात महिला जीन डोक्सन तथा क्रान्तिकारी मनीषी चिन्तक महर्षि अरविन्द जैसे मूर्धन्यगण कहते हैं कि यद्यपि यह वेला संकटों से भरी है, विनाश समीप खड़ा दिखाई देता है, तथापि दुर्बुद्धि पर अन्ततः सद्‌बुद्धि की ही विजय होगी एवं पृथ्वी पर सतयुगी व्यवस्था आयेगी। आसन्न संकटों के प्रति बढ़ी जागरूकता से मनीषीगण विशेष रूप से आशान्वित हैं। वे कहते हैं कि मनुष्य को बीसवीं सदी के समापन एवं इक्कीसवीं सदी के शुभारम्भ वाले इन वर्षों मे, जिसे सन्धि वेला कहकर पुकारा गया है, अपना पराक्रम-पुरुषार्थ श्रेष्ठता की दिशा में नियोजित रखना चाहिए । शेष कार्य ब्राह्मी चेतना, दैवी विधि-व्यवस्था, महाकाल की प्रत्यावर्तन प्रक्रिया उससे स्वयं करा लेगी ।

हौसले बुलन्द हों तो कठिनाइयों के बीच भी व्यक्ति मिल जुल कर थोड़े ही समय में इतना कुछ कर सकता है, जिसे देखकर आश्चर्य चकित रहा जा सके। पनामा की नहर, स्वेज कैनाल, चीन की दीवार, मिश्र के पिरामिड जैसे अनेकों प्रबल प्रयास उत्साह भरे वातावरण में ही सम्पन्न हुए हैं । बड़ा वजन जब श्रमिक मिल जुल कर आगे धकेलते हैं तो उनकी 'हेइशा' जैसी हुंकार जादुई असर दिखाती हैं । युद्ध के बाजे सैनिकों में नया जोश भर देते हैं और वे दूने उत्साह में मोर्चा संभालते हैं ।

इतिहास का एक पृष्ठ खोल कर देखा जाय । जिन दिनों इंग्लैण्ड पर जर्मनी की लगातार बमबारी हो रही थी तब वह देश बुरी तरह तहस नहस हो गया था । आशा की कोई किरण दीख नहीं रही थी । उन दिनों तत्कालीन ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री चर्चिल ने एक नया नारा दिया-'वी','वी' फॉर विक्ट्री । विजय के सुनिश्चित विश्वास के प्रतीक 'वी' अक्षर की दीवारों पर, वाहनों पर, वस्तुओं पर, पोशाकों पर, पुस्तकों पर हर कहीं वी अंकित किया गया और उस संकेत सूत्र का अर्थ समझाया गया "विजय" अर्थात् अन्ततः जीतना अपने को ही है । इस हुंकार का जादुई प्रभाव पड़ा । बाल वृद्ध सभी अपने स्तर के सृजन कार्यों में असाधारण उत्साह के साथ जुट गए । फलतः न केवल पराजय विजय में बदली वरन् उस खंडहर देश को नए सिरे से, पहले से भी अधिक शानदार बना कर खड़ा कर दिया गया ।

दार्शनिक मनुष्य को भटका हुआ देवता मानते और कहते हैं कि यदि वह अपनी शक्ति को पहचान ले और उसे उच्च प्रयोजनों में नियोजित करे तो नैपोलियन ही नहीं हर कोई अपने क्षेत्र में अपने कौशल का सर्व समर्थ बन सकता है । फिर असंभव कुछ रहेगा ही नहीं ।

जामवन्त के उद्‌बोधन से हनुमान् को शक्तिबोध हुआ और समुद्र लाँघने,पर्वत उखाड़ने में वे सफल हो गए, कृष्ण के उद्‌बोधन ने अर्जुन से गाण्डीव उठवाया और थोड़े साधन रहते हुए भी महाभारत जीत दिखाया। चाणक्य, समर्थ रामदास, रामकृष्ण परमहंस ने भी अपने शिष्यों में प्रेरणा भर के उन्हें चक्रवर्ती चन्द्रगुप्त, छत्रपति शिवाजी और भारतीय संस्कृति के विश्व विख्यात विवेकानन्द के रूप में ऐसा कुछ कर दिखाने में समर्थ बनाया जिसे कभी विस्मरण नहीं किया जा सकता । बुद्ध का धर्मचक्र प्रवर्तन प्रसिद्ध है । उनके एकांकी अग्रगमन ने लाखों धर्म प्रचारकों को विश्व के भावनात्मक काया-कल्प में जुटाया था । गांधी ने "करो या मरो" के नारे से जन-जन का खून खौलाया व सोये भारत को जगाया ।

आज की घड़ी में समस्त विश्व के लिए विशेषतया भारत के नवीन अभ्युदय के लिए "इक्कीसवीं सदी बनाम उज्ज्वल भविष्य" का नारा सर्वथा उपयुक्त एवं तथ्यपूर्ण है। इक्कीसवीं सदी के सम्बन्ध में भविष्य वक्ताओं, मनीषियों, दिव्यदर्शी एवं आकलन कर्ताओं ने बहुत कुछ कहा और बताया है कि अँधेरे का समापन और अभिनव प्रभात पर्व के अरुणोदय का यही सबसे महत्वपूर्ण अवसर है । इन दिनों सृजेता की ऐसी दिव्य प्रेरणा का अवतरण होगा जो जन-जन के मन-मन में से निराशाजन्य अशक्ति को तो दूर करेगा ही और ऐसा उल्लास जमायेगा कि उसके प्रभाव में हर किसी को उज्ज्वल भविष्य की संरचना में बढ़-चढ़ कर काम करने की प्रेरणा मिले । साहस और पराक्रम के सहारे बड़े से बड़े काम सम्पन्न होते रहे हैं । विश्व में दर्जनों राजक्रान्तियाँ सम्पन्न हुईं । राजतंत्र का स्थान प्रजातंत्र ने

ग्रहण किया। दास प्रथा मिटी, जमींदारों की सामन्ती सत्ता भूमिधर किसान के चरणों में आ गिरी। तो फिर वर्तमान की स्थिति बदल पाना क्यों संभव नहीं ?

इसे एक संयोग या तथ्य ही कहना चाहिए कि इक्कीसवीं सदी में नवयुग के आगमन, नवसृजन और सर्वतोमुखी अभ्युदय की भविष्यवाणियाँ किन्हीं ज्योतिषी पंडितों ने नहीं वरन् ऐसे लोगों ने की है जिन्हे अपने अपने क्षेत्र में अतीव प्रामाणिक माना जाता रहा है। फिर समय की माँग एवं परिवर्तन प्रक्रिया का सूक्ष्म अवलोकन करने से भी आभास मिलता है कि कठिनाइयों और विसंगतियो के दुर्दिन लद गए और अगला समय ऐसा आने वाला है जिसमें जिन संकटों संभावनाओं को अब तक असाधारण माना जाता रहा है वह लोक मानस के परिवर्तित प्रवाह में अशुभ आतंक से मुक्ति पा लेगी और ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करेगी जो नये युग की नई संभावनाओं का अवतरण उद्भव करती चली जायेगी। इक्कीसवी सदी को इसलिए उदीयमान सूर्य के समतुल्य ठहराना होगा। साथ ही अति उत्साह में निश्चिंत न हो बैठने के संबंध में यह भी सुझाना होगा कि बीसवीं सदी के ये अंतिम कुछ वर्ष अत्यन्त प्रबल पुरुषार्थ की चुनौतियाँ लेकर सामने आ रहे हैं। जिनमें सुधार और सृजन के उभय पक्षीय प्रयत्न साथ-साथ चलाने की योजनाएँ बनानी चाहिए और अदम्य साहस भरी चेष्टाएँ प्रबल पुरुषार्थ के साथ चल पड़नी चाहिए। इन प्रयासों में हर स्तर के हर व्यक्ति के लिए करने योग्य कार्य उसके समीपवर्ती क्षेत्र मे ही मिल सकता है। आवश्यकता अपनी योग्यता, क्षमता के साथ प्रस्तुत परिस्थितियो के साथ ताल-मेल बिठाने भर की है। इसमें जितनी सफलता मिली, समझना चाहिए कि निजी जीवन की विकृतियों को घटाने-मिटाने में हम उतने ही अंशों में सफल हुए।

विकृतियां दीखती भर ऊपर हैं पर उनकी जड़ अन्तराल की कुसंस्कारिता के साथ जुड़ी रहती है। यदि उस क्षेत्र को सुधारा, सँभाला उभारा जा सके, तो समझना चाहिए कि चिन्तन, चरित्र और व्यवहार बदला और साथ ही उच्चस्तरीय परिवर्तन भी सुनिश्चित हो गया।

भगवान असंख्य ऋद्धि-सिद्धियों के भाण्डागार है। उनमें संकटों के निवारण और अवांछनीयताओं के निराकरण की भी समग्र शक्ति है। वह मनुष्य के साथ संबंध घनिष्ट करने के लिए भी उसी प्रकार लालायित रहते हैं, जैसे माता अपने बालक को गोदी में उठाने, छाती से लगाने के लिए लालायित रहती हैं। मनुष्य ही है, जो वासना, तृष्णा के खिलौने से खेलता भर रहता है और दुलार की ओर से मुँह मोड़े रहता है, जिसे पाकर वह सच्चे अर्थों में कृत-कृत्य हो सकता था, उसे समीप तक बुलाने और उस विभूतिवान का अतिरिक्त उत्तराधिकार पाने के लिए यह आवश्यक है कि उसके बैठने के लिए साफ सुथरा स्थान पहले से ही निर्धारित कर लिया जाय। यह स्थान अपना अन्तःकरण ही हो सकता है।

दिव्य सत्ताओं का द्विधा मिलन एक तीसरी दिव्य संवेदना कहलाती है, जो नये सिरे से नये उल्लास के साथ उभरती है। यही उसकी यथार्थता वाली पहचान है, अन्यथा मान्यता तो प्रतिमाओं में भी आरोपित की जा सकती है। तस्वीर देख कर भी प्रियजन का स्मरण किया जा सकता है, पर वास्तविक मिलन इतना उल्लास भरा होता है कि उसकी अनुभूति अमृत निर्झरणी उभरने जैसी होती है। इसका अवगाहन करते ही मनुष्य काया-कल्प जैसी देवोपम स्थिति में जा पहुँचता है। उसमें हर किसी में अपना आपा हिलोरे लेता दीख पड़ता है और समग्र लोकचेतना अपने भीतर घनीभूत हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में परमार्थ ही सच्चा स्वार्थ बन जाता है। यही है मानव में देवत्व का उदय एवं धरती पर स्वर्ग का अवतरण। इसी की प्रबल संभावना इन दिनों बनती और बलवती होती प्रतीत हो रही है। इस आधार पर यदि अगले ही दिनों यहाँ की परिस्थितियाँ स्वर्गोपम बनती दिखाई पड़ें, तो कोई आश्चर्य नहीं करना चाहिए, वरन् उसे एक सुनिश्चित भवितव्यता की सहज परिणति के रूप में स्वीकार करना चाहिए।

नवयुग का अवतरण होने ही वाला है। भगवान् उसके लिये सौम्य परिस्थितियाँ उत्पन्न कर रहे हैं। हम लोग ईश्वर की इसी इच्छा को पूर्ण करने में प्राण पण से लगे हुए हैं।

वसुधैव कुटुम्बकम्-२१वीं सदी का मूल प्रयोजन

सगर पुत्रों को शोक-सन्ताप की आग में जलते रहने से उबारने के लिए भगवती गङ्गा का अवतरण आवश्यक था। भागीरथी तपस्या ने उस कठिन कार्य को असम्भव से सम्भव बनाया, इतिहास की पुनरावृत्ति अब फिर होने जा रही है। ज्ञान गङ्गा का अवतरण आज की परिस्थितियों मे आवश्यक है। विचार क्रांति की धारा इसी प्रयोजन को पूरा करेगी। अन्य युगों में भगवान् ने अवतार किसी भी कलेवर में लिया हो- इस युग मे उन्हें व्यापक विवेक रूप में अवतरित होना है। हमारे व्यक्तिगत और सामूहिक

सूक्ष्मीकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का अवतरण २.१७

प्रयत्नों का- विचारणा और प्रक्रिया का- अस्तित्व और व्यक्तित्व का उद्देश्य भी यही है । जन आन्दोलन और तप संधान दोनों ही गतिविधियाँ साथ लेकर दोनों कदम आगे बढ़ रहे हैं। हमारा परिवार दैनिक २४ लक्ष गायत्री पुरश्चरण में संलग्न हैं । उसी में आगे अब हमारे सूक्ष्म शरीर की सूक्ष्म शक्ति सम्मिलित होने जा रही है । दोनों ही पक्ष मिलकर एक ऐसा अभिनव सूक्ष्म वातावरण उत्पन्न करेंगे, जिससे युग-परिवर्तन के उपयुक्त परिस्थितियाँ विश्व-चेतना के अन्तराल में उद्भूत हो सकें । जन आन्दोलन की स्थूल प्रक्रिया का सूत्र संचालन शांतिकुंज से हो रहा है और रचनात्मक कार्यक्रमों के आधार पर हजारों शाखाओं में संगठित एवं सम्बन्धित लाखों व्यक्ति उस प्रयोजन की पूर्ति में अपने-अपने ढङ्ग से संलग्न हैं । नवनिर्माण का महान् प्रयोजन ईश्वरीय निर्देशों और संकेतों के आधार पर चल रहा है । हमारी गतिविधियो का सूत्र संचालन भी वहीं से हो रहा है ।

नवनिर्माण का स्वरूप और तन्त्र 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के आदर्श को व्यावहारिक रूप देने की आधार शिला पर खड़ा किया जा रहा है । मनुष्य को मनुष्य से पृथक् करने वाली समस्त दीवारें गिराई जा रही हैं । समस्त मानव-समाज को एकता एवं आत्मीयता के मुख्य बन्धनों में आबद्ध किया जाना है।

नया युग कुछ आदर्शों को लेकर आ रहा है- (१) एकता, (२) समता, (३) शुचिता, (४) ममता । यह सत्प्रवृत्तियाँ जब उमंगने और छलकने लगेंगी तो आज प्रत्येक क्षेत्र में संव्याप्त विकृतियां, अव्यवस्थाओं, उलझनों, कुण्ठाओं एवं समस्याओं का कोई कारण न रह जायगा और सर्वत्र सुख-शांति, प्रगति एवं समृद्धि भरी स्वर्गीय परिस्थितियाँ परिलक्षित होने लगेंगी ।

लगता है यह बहुत कठिन है । विकृतियों से भरे अन्धकार युग की, लम्बे पाँच हजार वर्षों की अवधि में जो अनाचार मानव स्वभाव में सम्मिलित कर दिया है, उसने एक परम्परा जैसा रूप धारण कर लिया है । ऐसे व्यामोह ग्रस्त लोक-मानस को बदल कर न्याय एवं औचित्य के अनुरूप विवेक सम्मत बनाना निस्सन्देह कठिन है पर कठिन काम भी मनुष्यों ने ही किये है । ईश्वर की इच्छा और मनुष्यो के प्रबल पुरुषार्थ का सम्मिलित स्वरूप बड़े-बड़े आश्चर्यजनक परिवर्तन उत्पन्न करता रहा है । आगे भी उसकी पुनरावृत्ति होनी कठिन भले ही लगे असम्भाव्य नहीं है ।

नये विश्व का नया निर्माण एकता, समता, शुचिता और ममता की चार आधार शिलाओं पर निर्भर है । इन चारों को संसार के कोने-कोने में, विभिन्न देशों और विचारों के व्यक्तियों में अलग-अलग ढङ्ग से प्रतिष्ठापित, परिपुष्ट एवं फलित किया जा रहा है । भारत में शतसूत्री योजना के आधार पर यहाँ की परिस्थितियों के अनुरूप उपरोक्त चार प्रक्रियाओं का संचालन किया जा रहा है ।

चार आधारों में प्रथम है एकता । जड़ पदार्थ एक और एक मिलकर दो होते हैं पर जीवित व्यक्ति 'एक और एक मिलकर ग्यारह' की उक्ति चरितार्थ करते हैं। एकता की सुदृढ़ शृंखला में पिरोये हुए मनुष्य हार में गुथे हुये मोतियों की तरह सुन्दर लगेंगे और उनकी शोभा से सारा वातावरण सुरभित हो उठेगा ।

मनुष्य की शक्ति एकता से ही बढ़ेगी । समाज की उन्नति एकता पर निर्भर है । विश्व से शांति की स्थापना के लिये एकता नितान्त आवश्यक है। यह एकता हमारे चतुर्विध नवनिर्माण प्रयोजनों में सर्वप्रथम है । एकता, समता, शुचिता और ममता का लक्ष्य प्राप्त करना ही नवनिर्माण है । वर्तमान अव्यवस्थाओं के स्थान चतुर्विध सुव्यवस्थाओं की स्थापना ही युग परिवर्तन है । इस पुण्य प्रयोजन के लिये अग्रसर होते हुये हमें विश्वव्यापी एकता के लिये कठोर प्रयत्न करना होगा । कहा जा चुका है कि एकता के भी चार स्तम्भ है—धर्म, संस्कृति, भाषा और शासन इनके बीच जो खाइयाँ बन गई हैं, उन्हें पाटना है। विभिन्नताओं के निराकरण का, अनेकता का एक रूपता के लिये प्रयत्न करना है । यही हमारी युग-निर्माण योजना का सारांश है । इस प्रयोजन की पूर्ति के लिये भारत में हिन्दू धर्मानुयायी जनता को जो करना है उसका एक शतसूत्री कार्यक्रम हम लोगों के जिम्मे आया है । इससे मिलती-जुलती, विभिन्न देशों और समाजों की स्थिति के अनुरूप संसार भर में अन्यत्र भी योजनायें बनी है और नव-निर्माण के अग्रदूत उन्हें अपने-अपने ढङ्ग से कार्यान्वित कर रहे है । योजना के स्वरूपों में अन्तर है। पर आधार सबका एक है । एकता, समता, शुचिता और ममता का व्यापक विचार करने के लिये ही हमारे कदम आगे बढ़ रहे है ।

(१) धर्मों की अनेकता क्यों ? जब ईश्वर एक है—उसका संसार एक है—उसके पुत्र एक हैं—ईश्वर का संदेश एक है—उद्देश्य एक है तो फिर धर्म भी एक ही होना चाहिये । अनेक धर्म—जो परस्पर टकराते है—एक दूसरे का खण्डन करते हैं—एक दूसरे से विपरीत दिशायें दिखाते हैं—ईश्वर प्रेरित नहीं हो सकते। हो सकता है सभी के मूल

में धर्म की अनादि आस्थाओं का समावेश रहा हो पर पीछे चलकर उनमें इतने अधिक जंजाल जुड़े कि सत्य से बढ़कर असत्य और विवेक से बढ़कर अविवेक उनमें जुड़ गया। यदि ऐसा न होता तो धार्मिक कहे जाने वाले लोगो का चरित्र एवं स्वभाव तो आदर्श रहा होता। देखने में ऐसा कहाँ आता है ? आज तो हर धर्म, सम्प्रदाय वाला यह माने बैठा है कि अपने वर्ग की क्रिया-प्रक्रियाओं को अपनाकर उसने धर्म, आस्तिकता और स्वर्ग-मुक्ति का ठेका उसने ले लिया। अपने वर्ग की मान्यताओं को सत्य और दूसरों को असत्य सिद्ध करने के लिये धर्म ध्वजी सारा बुद्धि कौशल व्यय करते रहते हैं। शास्त्रार्थों के अखाड़ों में आये दिन कुश्तियाँ होती देखी जा सकती हैं। वाक् वाण और कागजी गोले चलते रहते तो भी सहन किया जाता पर इस वेदी पर कितने निरीह प्राणियों का रक्त निर्दयता के साथ बहता रहा है, इसका स्मरण करके रोमाञ्च खड़े हो जाते हैं। दूसरे धर्म वालों पर अपने धर्म की गरिमा थोपने के लिये इतना नर-संहार अब तक इस दुनियाँ में हुआ है, जितना समस्त युद्धों में भी नहीं हुआ। क्या यही स्थिति उपयुक्त है ? क्या इसे ही बने रहने देना चाहिये ? विभिन्नताओं की उलझनें सत्य तक पहुँचने के लिये भारी बाधा हैं। आज का धर्म जंजाल इतना उलझा हुआ है कि वह वास्तविक धर्म तक आत्मा को पहुँचने देने में सहायक नहीं बाधक ही सिद्ध हो रहा है।

विवेक का तकाजा है कि धर्म [illegible]
चाहिये [illegible]
स [illegible]
[illegible] शिष्टाचार, आदर्श, औचित्य,
उदारता, स्नेह, सद्भावना, संतोष, संयम जैसी मान्यताओं को प्रश्रय मिलना चाहिये। मानवीय आस्थाओ और प्रक्रियाओं को जो पशुता के स्तर से ऊँचा उठाकर देवत्व की दिशा में विकसित कर सके वही विश्व-धर्म हो सकता है। अगले दिनों ऐसे ही विश्व धर्म का विकास होना है। संसार के कोने-कोने में रहने वाले एक ही प्रकार के धर्म को मानेंगे। एक ही प्रकार की पूजा पद्धति से सब का काम चल जायगा। एक ही धर्म-मंच पर सब लोग इकट्ठे हुआ करेंगे। धर्म के नाम पर व्यय होने वाले समय, श्रम तथा धन इन्हीं प्रयोजनो में लगेगा। ऐसा विवेकपूर्ण धर्म, मनुष्य-मनुष्य के बीच प्रेम और आत्मीयता उत्पन्न करने तथा अन्तःकरण के दिव्य तत्वों के उत्कर्ष में सहायक होगा। धर्म के नाम पर विराजमान मूढ़ मान्यताओ और व्यर्थ आडम्बरों में लगी हुई आज की ज्ञानवान शक्ति जब विश्व-धर्म की विवेकसम्मत आदर्शवादी प्रतिष्ठापनाओं में नियोजित होगी, तब उसके रचनात्मक परिणाम इ[illegible] शानदार होगे कि यह संसार स्वर्ग जैसा दिखाई देने लगेग[illegible]

(२) विश्व संस्कृति की एकता भी वैसी ह[illegible] आवश्यक है जैसी विश्व-धर्म की। आज संस्कृति भी धर्म[illegible] में जुड़ गई है। वस्तुतः वे दोनो अलग हैं। रीति-रिवाज, आचरण, शिष्टाचार, आचार-व्यवहार, रहन-सहन, तर्ज, तरीका यही संस्कृति के अंग हैं। इनमें प्रथकता से रहने से मनुष्य-मनुष्य के बीच प्रथकता और परायेपन के भाव उठते है। अब इन्हीं आधारों पर जातियाँ बनती चली जा रही हैं। जो लोग अपनी भाषा बोलते हैं, अपने जैसी पोशाक पहनते है, वेश-विन्यास रखते हैं, आहार-विहार करते हैं, रीति-रिवाज मानते हैं, उनके साथ सहज स्नेह हो जाता है। और भिन्न प्रक्रियाओं वाले पराये लगते हैं। यह अपने-पराये की प्रक्रिया संसार में भारी विद्वेष एवं विशृंखलता पैदा कर रही है। भारतवर्ष जाति-पाँति और धर्म, सम्प्रदायों के नाम पर इतना अधिक विभक्त है वि[illegible] सर्वत्र उसकी हँसी उड़ाई जाती है और आत्मिक दुर्बलता में ग्रसित पिछड़ा हुआ देश माना जाता है। यहाँ तक कि राजनीति तक पर जाँति-पाँति हावी है। चुनावों में जीतना अब बहुत करके इसी आधार पर होता है। भले ही कोई बाहर से इसका खण्डन करे पर जानते सब है कि वस्तुस्थिति यही है।

सुस्थिर मानवीय एकता के लिये सांस्कृतिक एकता आवश्यक है। जीवन-यापन की विभिन्न दिशाओं में हमें सर्वभौम एकता स्थापित करनी ही पड़ेगी। पोशाकें इतनी अधिक तरह की न हों, एक ही तरह के वस्त्र सब लोग पहनें तो कपड़े की सिलाई का तीन चौथाई व्यय बच सकता है और वह बचत शिक्षा, स्वास्थ्य आदि के संवर्धन मे लगाई जा सकती है। त्यौहार की एकता हो तो सारे समाज में एक ही समय एक-सा उल्लास जगता दिखाई पड़े। विवाह-शादियों के रीति-रिवाज एक जैसे सरल और सस्ते हो तो इन व्यर्थ आडम्बरों में शक्ति बच जाय और उसका उपयोग परिवारो का स्तर ऊँचा उठाने मे किया जा सके। सांस्कृतिक एकता के बिना विश्व-मानव की एकता सुस्थिर न बन सकेगी। विज्ञान और शिक्षा की प्रगति ने संसार को बहुत छोटा बना दिया है सुदूर द्वीप महाद्वीप अब गली-मुहल्ले की तरह समीप आ गये हैं। द्रुतगामी वाहनों ने दूरी सम्बन्धी कठिनाइयों को हलकर दिया है। पिछले दिनो जब यह परिस्थितियाँ न थीं, सुदूर देशों के निवासी परस्पर परिचय के अभाव में अलग-अलग ढङ्ग-ढर्रे को, अलग-अलग रीति-रिवाजों को अपनाये रहने के

लिये विवश थे। पर अब वैसी परिस्थिति नहीं रही। संसार समीप आ रहा है तो हमारी संस्कृति भी समीपवादी ही होनी चाहिये। अब प्रथकताओं पर अड़े रहने का, अपनों को श्रेष्ठ दूसरे की को निकृष्ट बताते रहने का कोई कारण नहीं। संसार भर में फैली हुई विभिन्न संस्कृतियों में से चुने हुए सर्वश्रेष्ठ, सर्वोपयोगी अंश लेकर एक सर्वांगपूर्ण सार्वभौम संस्कृति का निर्माण अब होने ही वाला है। युग की माँग ऐसी ही है।

संसार में किसी भी कोने में रहने वाले व्यक्ति को यह अनुभव करना होगा कि वह विश्व परिवार का एक घटक है। विश्व संस्कृति की एक इकाई के रूप में ही उसे अपना रहन-सहन एवं प्रथा, परम्पराओं को अपनाना है। जिस प्रकार छोटे-छोटे वर्गों में एक ही प्रकार के रिवाज चलते हैं, उसी प्रकार जब समस्त विश्व का एक सम्मिलित वर्ग होगा, एक ही समाज बनेगा, एक ही कुटुम्ब का आचरण होगा तो प्रथा-परम्पराओं में भी एकरूपता उत्पन्न करनी होगी। रुचि भिन्नतायें रह सकती हैं—कोई बालों में कंघी कैसे करे, कोई साबुन कौन-सा लगाये जैसी छुट-पुट वैयक्तिक अभिरुचियों में विभिन्नता रह सकती हैं। आचार-विचार, व्यवहार और शिष्टाचार की सामान्य रीति-नीति और प्रथा-परम्परा समस्त विश्व में एक जैसी होनी चाहिये।

कहना न होगा कि इस दृष्टि से भारतीय-धर्म, अध्यात्म तथा संस्कृति विश्व-मानव का सार्वभौम आवश्यकतायें पूरी करने में भली प्रकार समर्थ है। पिछले पाँच हजार वर्षों में जो विकृतियाँ उत्पन्न हुई है, यदि उन्हें निकाल दिया जाय तो विशुद्ध भारतीय मान्यतायें इसी स्तर की हैं, मानो किसी ने समस्त मानव जाति के लिए वास्तविकता, उपयोगिता और औचित्य का ध्यान कर ही विनिर्मित किया हो। निकट भविष्य में जिस नवयुग को लाने की साधना चल रही है, वही प्राचीनकाल में चिरकाल तक यहाँ विद्यमान् रहा है और एकता, समता और ममता की गङ्गा-यमुना, सरस्वती यहाँ बहती रही है। अस्तु भारतीयता में विश्व-धर्म एवं विश्व-संस्कृति के बीज विद्यमान परिलक्षित हैं तो इसमें आश्चर्य की कुछ बात नहीं है।

(३) विश्व-भाषा की आवश्यकता वसुधैव कुटुम्बकम् की स्थिति-उत्पन्न करने के लिए अनिवार्य है। वह कैसा कुटुम्ब जिसके सदस्य एक दूसरे की बोली न समझें, परस्पर बातचीत तक न कर सकें, विचारों के आदान-प्रदान के लिए भाषा ही माध्यम है। भाषाओं की भिन्नता-मनुष्य को एक सीमित समाज एवं क्षेत्र में संकुचित करती है। विश्व के विशाल ज्ञान भण्डार को सरलतापूर्वक उपलब्ध करने, हर विश्व नागरिक को निर्बाध गति से विचार विनिमय करने के लिए एक विश्व भाषा की आवश्यकता है। अन्यथा मानवता टुकड़ों में, क्षेत्र और प्रान्तों में विभक्त बनी सड़ती गलती रहेगी। हम भारतवासी एक राष्ट्रभाषा की आवश्यकता अनुभव करते हैं, इसी प्रकार यदि विश्व नागरिकता का—"वसुधैव कुटुम्बकम्" का विस्तार होता है तो उसके आधार भी तैयार करने होंगे। इन आधारों में एक विश्व-भाषा का महत्त्वपूर्ण स्थान होगा।

समस्त विश्व के लिए एक ही भाषा मे साहित्य छपने लगे तो वह कितना सस्ता और कितना उच्चकोटि का होगा, इसकी कल्पना मात्र से भारी उत्साह पैदा होता है। मनुष्य ने अब तक जो ज्ञान विभिन्न दिशाओं में संचित किया है वह इतना अधिक है कि उसका उपयोग हमें सहज ही महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों से लाभान्वित कर सकता है। पर खेद इसी बात का है कि वह ज्ञान भाषाओं की भिन्नताओं के कारण सीमित क्षेत्रों में बन्दी बना पड़ा है। यदि एक विश्व-भाषा होती तो पुस्तकालयों के माध्यम से ऊँचे-से ऊँचा ज्ञान सर्वसाधारण तक सहज ही पहुँच सका होता। संसार भर के लोग परस्पर पत्र-व्यवहार और विचारों का आदान-प्रदान कर सके होते। तब विश्व समस्याओं का हल ढूँढ सकना और एक देश के नागरिकों का अन्य देशवासियों के अति निकट पहुँच सकना सम्भव हो गया होता। विश्व की यह ज्वलन्त आवश्यकता हमे पूरी करनी ही होगी। संस्कृत भाषा में यह सारी विशेषतायें विद्यमान हैं, वस्तुतः किसी समय वह विश्व-भाषा ही थी और अगले दिनो अपने महान् गुणो के कारण यदि वह पुनः अपना स्थान प्राप्त कर ले तो यह तनिक भी आश्चर्य की बात न होगी।

(४) विश्व शासन ही समस्त राजनैतिक तथा सामाजिक समस्याओं का हल कर सकेगा। यातायात के साधनों के अभाव मे छोटे-छोटे सामन्ती राज्य शासनों की आवश्यकता रही होगी पर अब राष्ट्रवाद भी, प्रान्तवाद, जातिवाद जैसी ही संकीर्णता का प्रतीक बनता जा रहा है। अपने देश का लाभ करने के लिए, दूसरे देश का शोषण-उत्पीडन करना भी अब देश-भक्ति का एक अङ्ग बन चला है। दूसरे देशों के साथ अन्याय करके भी अपने देश का लाभ करने वाले देश-भक्तों की पंक्ति मे बैठता और सम्मानित होता है। आज की अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति इसी आधार को अपनाये हुए है कि अपने देश का लाभ जैसे

भी बने, वैसे किया जाय। युद्धों का मूल कारण यह राष्ट्रवाद के नाम पर पनप रही क्षेत्रीय संकीर्णता ही है । तस्कर व्यापार पनपने का कारण यही है। एक देश के पास उपयोग के पर्याप्त साधन हों और दूसरे देश वाले उससे वंचित रहे । एक क्षेत्र में विपुल सम्पन्नता और पड़ौस के क्षेत्र में विपुल विपन्नता रहे, इसका कारण विश्व-वसुधा एवं विश्व वसुन्धरा को राष्ट्रवाद के आधार पर कृत्रिम रूप में खण्ड-खण्ड कर देना ही है ।

यदि यह रेखायें मिटा दी जायँ और समस्त संसार एक राष्ट्र बन जाय, एक शासन के अन्तर्गत शामिल हो तो फिर युद्धों-महायुद्धों की विभीषिका सदा के लिए समाप्त हो जाय । एक प्रान्त में छोटे-छोटे अनेक जिले होते हैं, उनकी शासन-व्यवस्था अलग-अलग रहते हुए भी एक केन्द्र से शासित करती है, अतएव उनमें विग्रह संघर्ष या युद्ध का कभी कोई अवसर नहीं आता। यदि एक विश्व-केन्द्र से संसार के समस्त राष्ट्र-शासित हों तो उनके झगड़े विश्व-न्यायालय से तय होते रहेंगे। परस्पर लड़ने की कोई सम्भावना न रहेगी । आशंका, भय और अविश्वास से ग्रसित एक राष्ट्र आजकल सुरक्षा के नाम पर जो विपुल धन व्यय कर रहा है, उसकी कोई आवश्यकता न रह जायगी । आजकल प्रायः एक चौथाई आय युद्ध कार्यों की शिक्षा व्यवस्था में लगती है । वह बच जाय तो उतने साधन मानवीय भ्रातृत्व एवं सुख सुविधा के साधन जुटाने में लगाये जा सकते है और देखते-देखते यह संसार स्वर्गीय सुख-शांति से ओत-प्रोत हो सकता है ।

विश्व-शासन के अन्तर्गत एक ही समाज का सहज विकास हो सकता है । आचार-संहिता, न्याय, नैतिकता के कानून एक से हो सकते है । व्यापार की निर्बाधता से गरीबी और अमीरी का—उत्पादन और अभाव का समान रूप से वितरण हो सकता है और प्रकृति के अनुदानों का समान लाभ उठाते हुए धरती के समस्त निवासी जीवनोपयोगी आवश्यकताओं की पूर्ति सहज ही कर सकते हैं । उन परिस्थितियों से आज की अगणित समस्याओं का हल जादू की तरह निकल सकता है और जिन शोक-संतापों मे आज मानवता पीड़ित है, उनका नाम-निशान मिट सकता है ।

विश्व-व्यापी एकता और मानव भ्रातृत्व को एक मधुर कल्पना के रूप में प्रस्तुत किया जाता है । 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के आदर्श को एक सरस स्वप्न मात्र माना जाता है । समय आ गया कि इन कल्पनाओं और स्वप्नो को साकार बनाया जाय। एकता की उपयोगिता एवं आवश्यकता को यदि हम समझते स्वीकार करते हैं तो उनके आधारों को भी ढूँढना होगा । पलंग के चार पायों की तरह एकता के भी चार स्तम्भ हैं—(१) धर्म, (२) संस्कृति, (३) भाषा, (४) शासन । विश्व को एकता के सूत्र में आबद्ध करना हो तो इन चार आधारों में भी सार्वभौम स्तर पर एकता और एक-रूपता भी उत्पन्न करनी ही होगी ।

युग-निर्माण योजना के विविध कार्यक्रमों के पीछे यही मूल भावना एवं प्रक्रिया काम कर रही है। रचनात्मक कार्यक्रमों का महत्त्व इसलिये है कि वे व्यक्ति को वर्तमान संकीर्णता की परिधि से ऊपर उठकर सत्य और तथ्य को समझने, स्वीकार करने की प्रेरणा उत्पन्न करते है । इसी प्रेरणा के आधार पर उन कुसंस्कारों और मूढ़ताओं से छुटकारा पाया जा सकेगा। यह कार्यक्रम एक प्रकार के कर्मकाण्ड हैं । कर्मकाण्डों का उद्देश्य भावनाओं को प्रदीप्त करना है । आत्मिक प्रगति का सारा आधार भावनाओं पर निर्भर है । नव-निर्माण के कार्यक्रम तो करते रहे पर उनके पीछे सन्निहित तत्त्व-ज्ञान और प्रयोजन से विलग रहे तो भी काम चलने वाला नहीं है । हममें से प्रत्येक को यह जानना चाहिये कि हम विश्व का नव-निर्माण जनमानस में एकता, समता, शुचिता और ममता की उत्कृष्ट आदर्शवादिता स्थापित करने जा रहे है । भावनात्मक परिवर्तन पर ही व्यक्ति की महानता, समाज की सुदृढ़ता और विश्व की समग्र शांति आधारित है ।

उज्ज्वल भविष्य का प्रसव होने ही वाला है

इन आधारों पर इक्कीसवीं सदी को सुखद सम्भावनाओं की अवधि माना जा सकता है। बीसवीं सदी में उपलब्धियाँ कम और विभीषिकाएँ अधिक उभरी हैं । अब उस उपक्रम मे क्रान्तिकारी परिवर्तन होने जा रहा है। प्रातः सायं की संधि वेला की तरह बीसवीं सदी का अन्त और इक्कीसवीं सदी का आरम्भ वाला यह समय युगसंधि का है । इसका भी अपना एक मध्यकाल है वर्तमान में हम उसी अवधि से होकर गुजर रहे हैं । इस बीच मध्यवर्ती स्तर के सूक्ष्म और स्थूल परिवर्तनों की क्रान्तिकारी तैयारी होगी । बुझता हुआ दीपक अधिक ऊंची लौ उभारता है, मरते समय चींटी के पंख उगते है । मरण काल मे साँसों की गति तेज हो जाती है । दिन और रात के मिलन वाला संध्याकाल भी अनेक विचित्रताओं को लिए हुए होता है । प्रसव पीड़ा के समय भी दो प्रकार की परस्पर विरोधी विचित्रताएँ देखी जाती हैं । एक ओर पीड़ा की कराह सुनी

जाती है, तो दूसरी ओर संतान लाभ की प्रसन्नता भी उस परिवार के सभी लोगों पर छाई होती है। युग संधि के इन वर्षों में चलने वाली उथल-पुथल भी ज्वार भाटे जैसी है। इसमें एक और अवाँछनीयता हारे जुआरी की तरह दूने दाँव लगाती देखी जायेगी और अनर्थ उत्पन्न करने में कुछ उठा न रखेगी। दूसरी ओर सृजन के दृश्य और अदृश्य प्रयास भी अपना अपना पूरा जोर आजमाकर बाजी जीतने की चेष्टा में प्राणपण से जुटे दिखाई पड़ेंगे।

युग संधि की इस ऐतिहासिक वेला में सृजन संभावनाओं के दृश्यमान प्रयत्न जहाँ शासन, अर्थ क्षेत्र, विज्ञान आदि की परिधि में दिखाई पड़ेंगे, वहाँ अध्यात्म शक्तियाँ भी अपने तप-उपचार को ऐसा गतिशील करेंगी, जिससे भगीरथ, दधीचि, हरिश्चन्द्र, विश्वामित्र आदि द्वारा किये गये महान परिवर्तनों की भूमिका निबाही जाती देखी जा सके। इसमें पिछले तीन सौ वर्षों से चली आ रही अवांछनीयताओं का प्रायश्चित्त होगा और सुखद संभावनाओं से भरी-पूरी इक्कीसवीं सदी का बीजारोपण भी अवांछनीयताओं के समापन और सत्प्रवृत्तियों के संवर्धन की दुहरी प्रक्रिया इन्हीं दिनों पूरे जोर शोर से चलेगी। लोक सेवियों का एक बड़ा वर्ग भी इन्हीं दिनों कार्य-क्षेत्र में उतरेगा और राम के रीछ-वानरों, कृष्ण के ग्वालबालों, बुद्ध के परिव्राजकों और गाँधी के सत्याग्रहियों की अभिनव भूमिका का निर्वाह करते हुए, एक नये इतिहास की नई संरचना करते हुए देखा जायेगा। यह सब अदृश्य प्रयत्नों की ही अनुकृति समझी जा सकेगी। और इसको दूसरा गंगावतरण के समतुल्य भी कहा जा सकेगा। इसका उद्‌गम ढूँढना हो तो गंगोत्री की समता शान्ति-कुञ्ज से ही दी जा सकती है। यमुनोत्री मे यमुना निकलती है। अमरकंटक से नर्मदा, ब्रह्मपुत्र मानसरोवर से निकलती है। बाद में उनका विस्तार और प्रवाह क्रमशः बढ़ता ही चला गया है। इक्कीसवीं सदी बनाम उज्ज्वल भविष्य का उद्‌घोष जिस पांचजन्य से अन्तरिक्ष को गुंजित करने लगा है, उसे यदि कोई चाहे तो शांति कुञ्ज भी कह सकता है। गंगा की गोद, हिमालय की छाया, सप्त ऋषियों की तपस्थली के अतिरिक्त इस भूमि को दिव्य साधनाओं और यज्ञ कृत्यों से पवित्र एवं सशक्त बनाया गया है। दिव्य संरक्षण एवं दिव्य वातावरण की भी यहाँ कमी नहीं है। ऐसे ही अनेक कारणों से दैवी चेतना ने यदि इस आश्रम को युग अवतरण के लिए भागीरथी प्रयत्न करने का कार्यभार सौंपा है तो वह उचित ही है।

पृथ्वी की विकट आवश्यकताओं को देखते हुए, दैवी विधान ने गंगा को स्वर्ग से धरती पर भेजने का पूर्व निश्चय कर रखा था। निमित्त बनने के लिए चूँकि माध्यम की जरूरत पड़ी, तो भगीरथ के रूप में वह सहज ही चला आया। इन दिनों ज्ञान गंगा समस्त विश्व का सिंचन करने और समस्त मानव जाति का कल्याण करने के लिए उतर रही है। स्वेच्छापूर्वक अथवा नियन्ता की विधिव्यवस्था के अनुशासन में, जैसे भी हो, उज्ज्वल भविष्य की संभावना वाली ज्ञान गंगा का अवतरण निश्चित है। उसका स्वागत-अर्चन करने की आवश्यकता की पूर्ति के लिए, क्या असंख्यों भावनाशील पंक्तिबद्ध होकर विशाल सेना की तरह खड़े मिलेंगे ? क्या वे इतने स्वल्प समय में जुट सकेंगे ? जिन्हें महाकाल की इच्छा और योजना के सफल होने का विश्वास है, वे इस प्रतिपादन पर श्रद्धा कर सकते हैं कि राई से पर्वत बनाने वाली शक्ति का नियोजन स्वल्प साधनों और स्वल्प व्यक्तियों के माध्यम से ही संभव है।

प्रज्ञा अभियान, शान्ति कुञ्ज हरिद्वार ने भी इस विषय पर गहरा चिन्तन व शोध कार्य कर यही निष्कर्ष निकाला है। विशद अध्ययन, परिस्थितियों के आंकलन पर तो यह अनुमान आधारित है ही, भविष्य के विषय में पूर्वाभास की भी अपनी बड़ी भूमिका रही है। जैसे अन्यान्यों को पूर्वानुमान होता रहा है, ठीक उसी प्रकार यह अन्तःस्फुरण इस तंत्र के संचालक-संस्थापक को भी होतो रही है कि भविष्य उज्ज्वल होगा, विपन्नताओं के बादल छटेंगे एवं शीघ्र ही नवयुग का अरुणोदय होगा।

इक्कीसवीं सदी अपने ढंग की समग्र क्रान्ति साथ लेकर दौड़ी आ रही है। उसमें संसार का आनंद और उल्लास से भरा नव सृजन होने वाला है। अवांछनीयताओं का दुर्ग ढहने ही वाला है। आगामी सदी में अब तक बिखेरी गई गंदगी की सफाई होने जा रही है। तूफानी अन्धड़ कूड़े-कचरे को उड़ा कर कहीं से कहीं पहुँचाने वाला है, ताकि सुन्दरता और सुव्यवस्था अपने स्थान पर अक्षुण्य बनी रहे। दिव्यदर्शी यह अनुभव करते रहे हैं कि बीसवीं सदी के अन्त तक अवांछनीयताएँ अपना पसारा समेट लेंगी और इक्कीसवीं सदी उज्ज्वल भविष्य को आंचल में लपेटकर स्वर्ग से पृथ्वी पर उतरेगी। इस भवितव्यता में सहयोगी बनकर समस्त संसार का तो भला किया ही जा सकता है साथ ही अपने लिए भी उस स्तर का सौभाग्य उपलब्ध किया जा सकता है, जिसके प्रभाव से आने वाली अगली पीढ़ियाँ भी कृतकृत्य हो सकती हैं।

❏❏❏

२१वीं सदी अवतरण के आवश्यक अनुबन्ध

इस बार का वसन्त पर्व एवं उसकी उपलब्धियाँ

लम्बी मंजिल लगातार चलकर पार नहीं की जाती। बीच में सुस्ताने के लिए विराम भी देना पड़ता है। रेलगाड़ी जंक्शन पर खड़ी होती है। पुराने मुसाफिर और असबाब उतारे जाते हैं, नये चढ़ाये जाते हैं। ईंधन भरने और सफाई करने की भी आवश्यकता पड़ती है। आर्थिक वर्ष पर पुराना हिसाब-किताब जाँचा जाता है और नया बजट बनता है। भ्रूण माता के गर्भ में रहकर अंग-प्रत्यंगों को इस योग्य बना लेता है कि शेष जीवन उनके सहारे बिताया जा सके। किसान हर साल नयी फसल बोने और काटने का क्रम जारी रखता है। यह सब क्रम नित्य-लगातार नहीं होते। बीच-बीच में विराम के क्रम भी चलते-रहते है। फौजियों की टुकड़ी कूच के समय भी बीच-बीच में सुस्ताती है।

ब्रम्ह कमल की एक फुलवारी ८० वर्ष तक हर साल एक नया पुष्प खिलाने की तरह अपनी मंजिल का एक निर्धारित विराम पूरा कर चुकी। अब नयी योजना के अनुरूप नयी शक्ति-संग्रह करके नया प्रयास आरम्भ किया जाना है। यह विराम-प्रत्यावर्तन लगभग वैसा ही है, जैसे वयोवृद्ध शरीर को त्याग कर नये शिशु का नया जन्म लिया जाता है और नये नाम से सम्बोधित किया जाता है।

सभी को तो नहीं, पर साथ में जुड़े हुए लोगों को इसका पूर्व संकेत विदित था। इसलिए उन्हें भूतकाल के आश्चर्यजनक रहस्यों और भविष्य के अभूतपूर्व निर्धारणों के सम्बन्ध में अधिक कुछ जानने की उत्सुकता एवं जिज्ञासा उभरी। समय रहते उनने प्रत्यक्ष पूछताछ करने की आतुरता प्रदर्शित की। सन् ९० का वसन्त आने के कई महीने पूर्व आत्मीयजनों के हरिद्वार आने का ताँता लग गया। आगमन का उद्देश्य वह लाभ उठाने का था, जो किसी बड़े व्यवसायी के कारोबार में भागीदार बन जाने वालों को सहज ही मिलने लगता है। अनुसंधान-अन्वेषण भी एक कारण होता रहा है; रहस्यों का पता लगाने का सहज कौतूहल भी इस उत्साह का निमित्त कारण हो सकता है।

जो हो, पिछले ६ महीने इसी ऊहापोह में बीते हैं। इस बीच इतने प्रज्ञापुत्रों का आगमन हुआ, जितना कि इस आश्रम के निर्माण से लेकर अब तक के पूर्व वर्षो में कभी भी नहीं हुआ। बहुसंख्य परिजनों के आगमन से भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह रही कि जिज्ञासुओं ने आग्रहपूर्वक वह सब उगलवा लिया, जो रहस्यमय समझा जाता और लुक-छिप कर किया जाता रहा है। महत्त्वपूर्ण स्थानान्तरों के अवसर पर सहज सौम्यता इसके लिए बाधित भी तो करती ही है कि चलते समय तो गोपनीयता का, आश्चर्य-असमंजस का समाधान कर ही दिया जाय। सो कुशल-क्षेम सहज आतिथ्य के अतिरिक्त ऐसा भी बहुत कुछ पूछा बताया गया, जिनका तनिक दूर रहने वालों को अनुभव नहीं है। जो आ नहीं सके, उन्हें भी उस रहस्यमयी चर्चाओं की जानकारी प्राप्त करने से वंचित न रहना पड़े, यह विचार करते हुए आवश्यक रहस्यों को इन पंक्तियों में लिपिबद्ध कर देना उचित समझा गया; ताकि उपयोगी जानकारी से वे लोग भी वंचित न रहें, जो अब तक न सही, अगले दिनों सम्पर्क में आयेंगे और अतीत के सम्बन्ध में उपयोगी जानकारी प्राप्त करने के लिए उत्सुक होंगे। कारण कि इस रहस्योद्घाटन में उनका भी तो ऐसा लाभ सन्निहित है, जो सबल लोगों के सहचरों को सहज मिलता रहता है।

अनुमान सभी को यह था कि इस तंत्र की प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण गतिविधियों का प्रथम दिन बसंत पंचमी है। सो उस मुहूर्त को विशेष महत्त्व देने वाले आगन्तुकों की संख्या निश्चय ही पहले दिनों की अपेक्षा निश्चित रूप से अधिक रहेगी। हुआ भी ठीक ऐसा ही।

आश्रम की परिधि और आगन्तुकों के लिए साधनों की तुलनात्मक दृष्टि से कमी होने के कारण शान्तिकुञ्ज के आश्रमवासी इस आपत्तिकालीन समस्या से निपटने में जुट गये। भूमि न मिल सकी, तो जितना स्थान पास में था, उसे बहुमंजिला और सघन बनाया गया। ढेरों काम श्रमदान से भी किया गया और जितनों के लिए जगह थी, उससे प्रायः ढाई-तीन गुनों के लिए जगह बना दी गयी। भोजन-व्यवस्था के लिए बड़े आधुनिक यंत्र-उपकरण नये सिरे

से लगाये गये और ऊपरी मंजिल पर बने भोजनालय से नीचे खाद्य-पदार्थ लाने के लिए एक ट्राली (गुडस लिफ्ट) को फिट किया गया। बिछाने के लिए फर्शों का अतिरिक्त प्रबन्ध किया गया। फिर भी असुविधा रहने की आशंका थी, पर काम किसी प्रकार चल गया, जैसे कि ईश्वर पर आश्रित लोगों का चल जाया करता है। इस बार का बसन्त पर्व न केवल आयोजन की दृष्टि से, वरन् स्वजनों के साथ आत्मीयता भरे परामर्श देने की दृष्टि से भी अनुपम रहा। लोगों ने इतना कुछ-ऐसा कुछ पाया, जिसकी आशा या संभावना कदाचित् थोड़ों को ही रही होगी।

सुनना अधिक-कहना कम, करना अधिक-बताना कम, सीखना अधिक-सिखाना कम जिनकी जीवन शैली रही हो, वे इतने गम्भीर प्रसंगों को इतनी सरलतापूर्वक बता देंगे, इस स्थिति का प्रावधान पाकर आगन्तुकों में से अधिकांश को भारी संतोष हुआ। प्रश्नों की, जिज्ञासाओं की झड़ी लगी रही। इतनों को एक व्यक्ति इतना कुछ प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से बता सकता है, यह प्रसंग भी अपने आप में अद्भुत रहा।

अधिकांश जिज्ञासुओं ने एक जिज्ञासा प्रधान रूप से प्रकट की कि साधन रहित एकाकी व्यक्ति सीमित समय में इतने भारी और इतने व्यापक काम कर सकता है, इसका रहस्य क्या है? पूछने वालों को उन सर्वविदित बातों का तो पता ही था, जो कानों से सुनी और आँखों से देखी गयी हैं।

मूल प्रश्न था, युग चेतना उभारने वाला इतना साहित्य कैसे सृजा गया? उसका अनेक भाषाओं में अनुवाद और प्रकाशन-प्रसार कैसे सम्पन्न हुआ? इतना बड़ा परिवार कैसे संगठित हो गया, जिसमें पाँच लाख पंजीकृत और इससे पाँच गुना अधिक सामयिक-स्तर पर सम्मिलित उच्चस्तरीय व्यक्तियों का समुदाय जुड़ता चला गया और साथ चलता रहा? एक व्यक्ति के तत्वावधान में २४०० आश्रम, देवालय कैसे बन सके? शान्तिकुञ्ज, ब्रह्मवर्चस्, गायत्री तीर्थ धाम—जैसे बहुमुखी सेवा—कार्यों में संलग्न संरचनाओं की इतनी सुव्यवस्था कैसे बन सकी? सुधारात्मक और सृजनात्मक आन्दोलन की देशव्यापी-विश्वव्यापी व्यवस्था कैसे बन गयी? रोता आये—हँसता जाये वाला उपक्रम अनवरत रूप से कैसे चलता रहा? आदि-आदि ऐसे विदित-अविदित अगणित क्रिया-कलाप इन अस्सी वर्षों में घटित हुए है, जिनको इतने सुचारु रूप से चलने की सूत्र-संचालक जैसे एक नगण्य एवं साधारण से व्यक्तित्व से आशा की नहीं जा सकती थी। फिर भी वे कैसे सम्पन्न होते चले गये?

जड़ी-बूटी चिकित्सा पर आधारित आयुर्वेद की नयी सिरे से शोध कैसे बन पड़ी? मनोरोगों के निवारण और मनोबल के संवर्धन की ब्रह्मवर्चस्-प्रक्रिया कैसे चलती रही? सात पत्रिकाओं का सम्पादन एकाकी प्रयास से कैसे चल पड़ा? लाखों शिक्षार्थी हर वर्ष प्रशिक्षण पाकर किस प्रकार लाभान्वित होते रहे? सृजनात्मक आन्दोलनों की इतनी गति कैसे मिल सकी, जितनी कि अनेकानेक संगठन और समुदाय भी नहीं कर सके?

उपरोक्त प्रत्यक्षदर्शी कृत्यों को जिनने अंकुरित, पल्लवित, फलित होते देखा है, उनका समाधान एक ही उत्तर से हुआ कि सर्वशक्तिमान सत्ता की इच्छा और प्रेरणा के अनुरूप अपने व्यक्तित्व, कर्तृत्व, मानस और श्रम को समर्पित कर सकने वालों के लिए ऐसा कुछ बन पड़ना तनिक भी कठिन नहीं है। एक छोटी सी चिनगारी के, ईंधन के अम्बार से मिल जाने पर प्रचण्ड अग्निकाण्ड बन जाता है। गंगा में मिलकर नाला, नदी बन सकता है। पारस को छूकर लोहे का सोना बनने वाली उक्ति प्रसिद्ध है। फिर भगवान के साथ रहने की, सर्वतोभावेन, जुड़ने वालों की स्थिति ऐसी क्यों नहीं हो सकती, जैसे कि बिजली के विशाल उत्पादन-केन्द्र के साथ जुड़ जाने पर छोटे-मोटे यंत्र-उपकरण सहज ही चलते रहते हैं। बताया जाता रहा है कि यह सब कुछ मात्र कठपुतली के खेल की तरह होता रहा। श्रेय लकड़ी के खिलौने को नहीं, बाजीगर की उस कलाकारिता को मिलना चाहिए, जो पर्दे के पीछे रहकर अँगुलियों में बँधे तारों के सहारे कठपुतलियों को अद्भुत हलचल करते, चलने लायक बनाता और नचाता रहता है।

कुछ का समाधान तो हो गया, पर हजारों जिज्ञासु संदेह ही प्रकट करते रहे और पूछते रहे कि जब लाखों की संख्याओं में गिने जा सकने वाले भगवत् भक्त गयी-गुजरी उपहासास्पद अवांछनीयताओं के बीच ही जीवन व्यतीत करते हैं, तो एक व्यक्ति ने ऐसा क्या किया, जिसमें भगवान के अनुदान-अनुग्रह द्रौपदी को वस्त्र, सुदामा को गुरुकुल, नरसी मेहता को हुण्डी भुनाने तथा हनुमान अर्जुन जैसे किन्हीं विरलों को भगवत्-सखा होने के रूप में मिले। संदेह सही भी था, पर जो उत्तर दिया गया, वह भी कम समाधान कारक नहीं था। पात्रता के अनुरूप उपलब्धियों का हस्तगत होना एक ऐसी वास्तविकता है, जिसे हर-कहीं चरितार्थ होते देखा जा सकता है। खोटे सिक्के ही

सर्वत्र ठुकराये जाते हैं । खरे सोने की कीमत तो कहीं भी उठाई जा सकती है । जिसने अपना सब कुछ पति के सामने सौंप दिया, उस पत्नी को अपने पति की समूची सम्पत्ति, सहायता और सद्‌भावना मिलकर रहती है।

स्रष्टा की एक ही अपेक्षा है कि सुरदुर्लभ मानव तन तथा जीवन पाने वाला प्राणी, उपलब्ध विभूतियों के सहारे स्रष्टा के विश्व उद्यान को हरा-भरा रखने के लिए वफादार माली की भूमिका निवाहे, तो कोई कारण नहीं कि उसे आत्म-संतोष, सभी का सम्मान, श्रेय, यश तथा स्वामी का समुचित अनुग्रह-अनुदान प्राप्त न हो । इस तथ्य की परीक्षा करनी हो, तो संसार में जन्मे अब तक के महामानवों की जीवनचर्या को साक्षी देने के लिए आमंत्रित किया जा सकता है । पुण्य-परमार्थ को उस बीज की तरह विकसित होते देखा जा सकता है, जो आरंभ में राई के बराबर होता है, पर कुछ ही समय में विशालकाय बरगद वृक्ष की तरह उत्कर्ष के उच्चशिखर तक जा पहुँचता है । ईश्वर का अजस्र अनुदान प्राप्त करने का एक ही तरीका है और रहेगा, कि स्वार्थ को परमार्थ में बदल दिया जाय। धर्म-धारणा और सेवा-साधना को जीवनचर्या का अविच्छिन्न अंग बनाया जाय । भिखारी बनकर नहीं, उदारचेता, दानवीर बनकर भगवान के दरवाजे पर पहुँचा जाय और अनुदान का प्रतिदान असंख्यगुनी मात्रा में वापिस लौटाया जाय ।

''साधना से सिद्धि'' प्राप्त होने के रहस्य का उद्‌घाटन करने के इच्छुकों में से प्रत्येक को यही जताया और जनाया गया है कि सत्प्रवृत्तियों के संवर्धन हेतु अपने को प्रखर, प्रामाणिक और साहसी उदारचेता बनाया जाय, तो उतने भर से अनेकानेक कार्यों की आवश्यकता पूरी हो जाती है । साधना अपने आपको संयमी और सुसंस्कृत बनाने हेतु की जाती है। इसके लिए स्रष्टा की एक मात्र इच्छा को पूरा करना पड़ता है कि संयमशील उदारचेता स्तर का परमार्थ परायण जीवन जिया जाय । ईश्वर समर्पित मनुष्य ही देव-मानव कहलाते हैं और उन्हीं में वे सिद्धियाँ-विभूतियाँ प्रकट होती है, जिनके बारे में एक व्यक्ति के माध्यम से बन पड़े अनेकानेक महान कार्यों की चर्चा एवं पूछताछ की जाती है ।

माथा-पच्ची निरर्थक नहीं गई

इस बार का वसन्त पर्व एक प्रकार का ब्रह्मयज्ञ रहा। शान्तिकुञ्ज की भूमि पर उन दिनों यही समुद्र मंथन होता रहा और जिज्ञासुओं को यह पता चल सका कि मनुष्य का निजी पुरुषार्थ नगण्य है । उसकी इच्छा-आकांक्षा, वासना तृष्णा और अहंता से आगे नहीं बढ़ती । उसी छोटे दायरे में वह कूप-मंडूक एवं गूलर के भुनगे की तरह अपनी बहुमूल्य जीवन सम्पदा को विसर्जित कर देता है । छिटपुट पूजा-पाठ तक, तनिक से उपहार-मनुहार तक सीमित रहकर वह स्वयं संतुष्ट रहता एवं इसे ईश्वर उपासना मान कर मन बहलाता, पास-पड़ौस वालों को बहकाता रहता है ।

शक्ति के स्रोत ईश्वर के साथ जुड़कर मनुष्य भी हिमालय से निकलने वाली गंगा की तरह अपने और संसार का भला करने में समर्थ होता है । गंगा विशाल मैदानों को सींचती और असंख्य जड़ चेतनों की प्यास बुझाती है । इस पर भी घटती नहीं । बंगाल पहुँचते-पहुँचते हजार धारा मे परिवर्तित, विकसित, विभाजित होकर अपनी सफल सार्थकता एवं साधना से सिद्धि का परिचय देती है। जिन सफलताओं के सम्बन्ध में चर्चा होती रही, वे मात्र सर्वविदित, सुपरिचित एवं दृश्यमान है । इस शृंखला मे अभी और कुछ कहीं अधिक जानने योग्य शेष रह जाता है, जिसको आँखों से नहीं देखा गया, कानों से नहीं सुना गया, वरन् उसे समयानुसार, फिर कभी पूछे और बताये जाने के लिए सुरक्षित रख लिया गया है । उनके अनावरण के लिए उपयुक्त समय आने की प्रतीक्षा की जानी चाहिए। संक्षेप में व्यक्ति-विशेष के द्वारा बन पड़े चमत्कारी कहे जाने वाले कार्यों के संबंध में उतना ही पूछना, बताया जाना सीमित रहा कि शक्ति-स्रोत से जुड़ने के लिए अपनी क्षुद्रता को महापुरुष के चरणो पर समर्पित करने और उसकी महानता को भावनाओं, संवेदनाओं, आकांक्षाओं एवं क्रिया-कलापों में कस लेने की साधना-पुरुषार्थ यदि सच्चे अर्थों में कर सके, तो अपने को ईश्वर के हाथों सौंपे जाने के बदले मे उसके अनुदान और सिद्धि-सम्पदा को सहज खरीदना संभव है ।

वसन्त पर्व के महा सत्सग ने अनजाने में भक्ति के साथ शक्ति के जुड़े होने का रहस्य समझाया है, जिसकी शक्ति की जानकारी तो थी, पर न कभी श्रद्धा जगती थी और न विश्वास परिपक्व होता था । मात्र जानकारी भर को पर्याप्त समझते थे, क्रिया रूप मे कुछ परमार्थ जैसा कुछ करने के लिए साहस नहीं जुटा पाते थे । उनने इस बार तथ्य को गंभीरतापूर्वक समझा, साथ ही यह भी अनुभव किया कि शरीर बल, बुद्धि, बल, मनोबल, धनबल आदि क्षमताओ और सामर्थ्य का कितना ही बाहुल्य क्यों न हो,

आत्मबल की तुलना में उन सबकी सम्मिलित क्षमता भी नगण्य है । शान्तिकुञ्ज परिकर द्वारा अब तक जो किया गया है, उसके मूल में तप ही एक मात्र वास्तविकता है और यदि कोई ऐसा ही ओजस्वी, तेजस्वी, वर्चस्वी, तपस्वी बनना चाहता है, तो ऋद्धियों और सिद्धियों को प्राप्त करने के लिए कस्तूरी के मृग की तरह भटकने की क्या आवश्यकता है? भाव-पूजा के सहारे दैवी अनुकम्पा के रूप में मिलने वाले अनुदानों की जो अपेक्षा करते हैं, उन्हें मृगतृष्णा में भटकने पर खीज, थकान और निराशा के अतिरिक्त और कुछ हाथ नहीं लगता ।

वसन्त पर्व के दिन इस संदर्भ में चलता रहा शंका-समाधान निरर्थक नहीं गया । रहस्योद्‌घाटन की जानकारी प्राप्त करके, जिज्ञासा की तुष्टि भर नहीं हुई, वरन् सहस्रों ने निश्चयपूर्वक संकल्प लिया कि वे अगले दिनों सन्मार्ग पर चलेंगे । शेष जीवन को सच्चे अर्थों में सार्थक बनायेंगे। ईश्वर की आशा-अपेक्षा पूरी करेंगे और बदले में उसे सच्चे साथी-सहचर की भूमिका निभाते हुए निहाल कर देने के लिए बाधित करेंगे ।

अगले दिनों जो करना है

इस जीवनरूपी दुर्लभ ब्रह्मकमल के प्रायः ८० फूल खिल चुके । संजीवनी बूटी के एक से एक तरंगित और शोभायमान पुष्पों के खिलते रहने का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय पूरा हो चला । गहराई से पर्यवेक्षण करने पर प्रतीत होता है कि जो गुजर गया, सो ऐसा रहा, जिस पर गर्व-गौरव और आनन्द-उल्लास अनुभव किया जा सके । जो काम सौंपा गया था- जिस प्रयोजन के लिए भेजा गया था, वह क्रमबद्ध रूप से चलता रहा और दुलार बरसने वाले स्तर के साथ पूरा होता रहा । इसे संतोष की बात ही कहा जा सकता है । बदलते युग का बीजारोपण करने से लेकर-बीजांकुर आने, खाद-पानी देने, और नयनाभिराम हरियाली की रखवाली करते रहने का अवसर मिलता रहा । इसे ईश्वर की महती अनुकंपा ही कहना चाहिए ।

सूत्र संचालक के इस जीवन का प्रथम अध्याय पूरा हुआ । यह दृश्यमान स्वरूप था । जिनने देखा, उनने इसे एक शब्द में ही प्रकट कर दिया है कि "जो बोया-सो काटा" का सिद्धान्त अपनाया गया । समाज रूपी खेत में बोये गये सत्प्रवृत्ति के बीज, सूत्र संचालक के जीवन में उगे, बढ़े और विशाल उद्यान के रूप में सभी के सामने आये हैं । इस जीवनचर्या द्वारा यह सभी को बताया गया कि यही आदर्श दूसरों के लिए भी अनुकरणीय है । इस मार्ग पर चलना सरल भी है और सुखद भी । पथ-भ्रष्ट न हुआ जाए, तो यह मार्ग अति मंगलमय-प्रेरणाप्रद है। आध्यात्मिक जीवन को सदा से कठिन माना जाता रहा है, पर इस जीवन-साधना द्वारा यह सिद्ध किया जाता रहा, कि यह सभी के लिए सुलभ-सुखद है और साथ ही नीति-सम्मत भी ।

पिछले दिनों दृश्य काया से, परोक्ष सत्ता के मार्गदर्शन में जो कर्तृत्व बन पड़े, वह सबके सामने हैं। साधना द्वारा आत्मपरिमार्जन, युग साहित्य का सृजन, लाखों का संगठन, समर्थ सहायकों का विकास, लोकसेवियों का निर्माण, युग संधि का शिलान्यास, विचारक्रान्ति का सूत्र संचालन जैसे कितने ही विलक्षण कार्य लोगों ने अपनी आँखों से देखे हैं । यह सब काया द्वारा बन पड़ी गतिविधियों का संक्षिप्त परिचय है । जो जानकारी परिजनों को नहीं है, वह समय आने पर विदित हो जायेगी । उसे इस कारण उजागर नहीं होने दिया गया है कि लोगो को पीछे खोजने के लिए भी तो कुछ बाकी रहना चाहिए ।

अब जीवन का दूसरा अध्याय प्रारंभ होता है । अब इसमें जो होना है, उसे और भी अधिक महत्त्वपूर्ण-मूल्यवान माना जा सकता है । स्थूल के अतिरिक्त सूक्ष्म व कारण शरीरों का अस्तित्व अध्यात्म विज्ञानी बताते रहे है। उन्हें स्थूल शरीर की तुलना में असंख्य गुना अधिक शक्तिशाली कहा गया है। उन्हीं का प्रयोग अब एक शताब्दी तक किया जाना है । यह कार्य सन् १९९० के वसंत-पर्व से आरंभ किया जा रहा है । यहाँ से लेकर सन् २००० तक दस वर्ष युग संधि का समय है । परिजन देखेंगे कि इस अवधि में जो गतिविधियाँ चलेंगी, उसका केन्द्र "शान्ति कुञ्ज, हरिद्वार" होगा ।

युग चेतना का विस्तार इन्हीं दिनो हो रहा है। भारत के कोने-कोने में और विदेशों में बसे भारतीय मूल के विशिष्ट जनों के माध्यम से युग संधि का स्वरूप व्यापक बनाया जायेगा। इसके लिए जिस आध्यात्मिक साधना की, रचनात्मक क्रिया-कलापों की आवश्यकता पड़ेगी, उनका विस्तार भी इन्हीं दिनों होता रहेगा । यह कार्य सूक्ष्म शरीर द्वारा सम्पन्न होगा । स्थूल शरीर तो इससे पहले ही साथ छोड़ चुका होगा । कारण स्पष्ट है। स्थूल शरीर की विधि-व्यवस्था में ढेरो समय खर्च हो जाता है, जबकि सूक्ष्म शरीर बिना किसी झंझट के, व्यापक क्षेत्र मे अपना कार्य द्रुतगति से करता-कराता रह सकता है ।

कारण शरीर की शक्ति बड़ी है । उसका कार्यक्षेत्र भी बड़ा है । अदृश्य जगत में जो घटित होने जा रहा है, उसमे हस्तक्षेप करने की सामर्थ्य भी कारण शरीर मे होती है । इक्कीसवीं सदी में कई अनर्थों से जूझने की आवश्यकता पड़ेगी और कई ऐसे प्रयास सम्पन्न करने पड़ेंगे, जो न स्थूल शरीर से बन पड़ सकने हैं और न उन्हें सूक्ष्म शरीर ही कर सकता है । ब्राह्मी चेतना मे जुड़कर दिव्य कारण शरीर ही उस सब कार्यो को क्रियान्वित करता है, जिन्हें प्राय: अद्‌भुत एवं अलौकिक कहा जाता है ।

युग परिवर्तन की प्रस्तुत वेला में इस महान कार्य के लिए जो सुविधाएँ सामने आयेंगी, उनका उद्‌भव अदृश्य जगत से होगा । अदृश्य मे ही दृश्य गतिविधियाँ प्रकट होंगी । जो कुछ भी किया जाना है, वह ब्राह्मी चेतना से जुड़ा, कारण शरीर ही सम्पन्न करेगा । इक्कीसवीं सदी में ऐसेही परिवर्तन होगे, पर यह प्रतीत न होगा कि यह कैसे हो रहे हैं और कौन कर रहा है ? चूँकि पिछले दो हजार वर्षों की गड़बड़ियाँ अगले सौ वर्षो में ही ठीक होनी है नव सृजन के निमित्त महाकाल की तैयारी । इसलिए सुधार की गतिविधियाँ भी अपनी चरम सीमा पर होगी । इसे सामान्य साधन और प्रयासों मे नहीं किया जा सकता। इसके लिए विशिष्ट प्रयास अनिवार्य हैं । यही कारण है कि सूत्र संचालक ने प्रत्यक्ष मिलने-जुलने का क्रम बन्द कर कारण शरीर में संव्याप्त सत्ता द्वारा वह सब सम्पन्न कर डालने का निश्चय वसंत से कर लिया है। वैज्ञानिक या

समेट लेना और भी अधिक आवश्यक हो जाता है । इसीलिए ऐसा निश्चय करना पड़ रहा है ।

हम बिछुड़ने के लिए नहीं जुड़े हैं

ध्वंस के सरंजाम तो माचिस की एक तीली, आग की छोटी चिनगारी भी कर सकती है, पर निर्माण एक झोंपड़े का करना हो, तो भी ढेरो साधन, सामग्री और श्रमशीलों की कुशल तत्परता चाहिए । बिगड़ बहुत चुका। मनुष्य खोखला, उन्मादी और इस स्तर तक अनाचारी हो गया है कि उसे नर-पशु तक नहीं कहा जा सकता । मरघट में प्रेत-पिशाच कोलाहल करते रहते है । डरना-डराना ही उनका प्रधान कार्य होता है । मनुष्यों में से एक बड़ी संख्या आज ऐसे ही लोगों की दीख पड़ती है ।

भ्रष्ट चिन्तन ही दुष्ट आचरणों का निमित्त कारण है। उस आधार पर विनिर्मित वातावरण ही उन अनेकानेक विभीषिकाओं, विपत्तियों, कठिनाइयों और अभावो-अवरोधों का प्रमुख कारण है । इस कठिनाई को साधनों के सहारे दूर नहीं किया जा सकता। कहने भर से नासमझो को उलटी चाल अपनाने से कहाँ विरत किया जा सकता है । इसके लिए ऐसे प्रतिभावान व्यक्तित्व चाहिए, जिनने अपने को ऊँचा उठा लिया हो और दूसरों को पतन-पराभव से उबारने लायक बल-कौशल उपलब्ध कर लिया हो । ऐसे ही लोग देवमानव कहलाते हैं और उनके कार्य-क्षेत्र में उतरने पर वे साधन विनिर्मित होते चले जाते हैं, जिन्हें "अभ्युदय" के नाम से जाना जा सके ।

इन दिनों पतन और पराभव की विपन्नता को बढ़ाने में निरत हेयजनों की बहुलता, प्रबलता होने का आँकलन गलत नहीं है । फिर यही समझा जा सकता है कि मानवी गरिमा को उबारने सुरक्षित रख सकने वाले देव मानवों का सर्वथा अभाव हो गया है ? वे हैं, रहे है और रहेंगे । अन्यथा धरती रसातल को चली जाएगी । भावी नव सृजन के लिए ऐसे ही उत्कृष्टता के पक्षधर आदर्शवादियों की आवश्यकता पड़ेगी । उन्हीं के प्रयत्न-पुरुषार्थ से पुण्य-परमार्थ से समय को बदला और वातावरण को श्रेष्ठता से युक्त बनाया जा सकेगा। उन्हीं को तलाशना, संगठित , सुगठित एवं सुशिक्षित किया जाना, अपने समय की सबसे बड़ी आवश्यकता है । इस दिशा में अपने प्रयत्नों से अपने ढंग का कीर्तिमान स्थापित किया गया है। युग शिल्पियों का एक बड़ा समुदाय मिशन की पत्रिकाओं के साथ सम्बद्ध करके इस स्तर का विनिर्मित किया है, जो स्वयं उठ सकने की सफलता प्राप्त करने के उपरान्त दूसरों को सहारा देने, उबारने, उभारने में समर्थ हो सकें । जिनके लिए गिरों को उठाना और उठों को उछालना स्वाभाविक विषय बन गया हो । इन्हीं को नवयुग के अग्रदूत, नव सृजन के कर्णधार भी कहा जाता रहा है।

पाँच लाख को पच्चीस लाख बनाने-इसी गुणन प्रक्रिया को निरन्तर जारी रखने और कार्तिकी अमावस्या की रात्रि को सघन तमिस्रा से उबार कर जगमगाती दीपावली बनाने की चर्चा होती और योजना बनती रहती है । नव सृजन के आधार, उपकरण, औजार या साधन यही वह समुदाय है, जिसे शान्तिकुञ्ज के महागरुड़ ने अण्डे-बच्चों की तरह अपने डैनों में छिपा रखा है । उनको समर्थ एवं परिपुष्ट बनाने की प्रक्रिया इसी तन्त्र के अन्तर्गत चल रही है। कहना न होगा, इस प्रयोजन के लिए नवयुग के

अध्वर्यु, ने अपने जीवन के अस्सी पुष्प सुनियोजित गुलदस्ते के रूप में समर्पित किए हैं और देव-मानवों की एक ऐसी समर्थ मण्डली विनिर्मित की है, जो नवयुग के अवतरण में ब्रह्म-मुहूर्त की तरह अपना परिचय दे सकें, भोर का उद्घोष करने वाले कुक्कुटों की भूमिका निभा सकें। शान्तिकुञ्ज में इन दिनों यही सृजन कार्य होना है। उसके सम्पर्क में आये प्रभाव क्षेत्र में ऐसी ही बहुमुखी गतिविधियों का सूत्र-संचालन होना है। इस बार उसका वह नया स्वरूप निखरा है, जिसे नया पौधा कहा जा सकता है। जहाँ से अब तक बन पड़े प्रयासों की तुलना में कहीं अधिक महत्वपूर्ण निश्चय निर्धारण होने जा रहे हैं।

विगत वसन्त पर्व पर ऐसे ही परिजनों को सूक्ष्म संकेतों से आमंत्रित किया गया अथवा वे अपनी निजी उमंगों से विवश होकर उस आयोजन में सम्मिलित होने के लिए चल पड़े, इसी का संक्षिप्त विवरण इन पंक्तियों में यत्किंचित् प्रस्तुत किया जा रहा है।

जो नहीं आ सके, उनका आवश्यक निजी परिचय एवं स्तर जानने के लिए एक पत्र भेजा गया है; ताकि उस जानकारी के आधार पर यदि घनिष्ठता में कोई कमी रह गयी हो, तो पूरी हो सके। आदान-प्रदान का सिलसिला इस रूप में चल सके, जिसमें सबके लिए एक प्रकार से श्रेय-साधना ही सन्निहित हो।

प्रत्यक्ष पधारने या अपने व्यक्तित्व के स्तर को लिपिबद्ध व्यवस्थित भेजने वाले दोनो ही वर्गों की संख्या में वर्तमान उत्कृष्टता संपन्न लोगों की गणना है, जिन पर गर्व भी किया जाता है और नव सृजन के उज्ज्वल भविष्य की आधारशिला भी माना जा सकता है।

इन दोनों ही वर्गो के साथ लेखनी या वाणी के माध्यम से प्रत्यक्ष या परोक्ष संबंध बने रहे हैं और उस आधार पर युग-चेतना का प्रकाश अधिकाधिक बलिष्ट, विस्तृत, सार्थक एवं सफल होता रहा है।

विगत वसंत से कुलपति के एकान्त साधना में चले जाने, चेतना को विशेष प्रयोजन के लिए नियोजित कर देने पर एक असमंजस खड़ा होता है कि इतने बड़े और इतने समर्थ-समुदाय के साथ जो घनिष्ठता पनपती और प्रगति की प्रक्रिया चलती रही है, उसमें विक्षेप, गतिरोध, व्यवधान पड़ेगा। पारस्परिक जोड़ने वाला स्नेह-बन्धन टूट जाने पर वह उपक्रम कैसे बनेगा, जिसमें पतंगे की भाँति दीपक के प्रति स्नेह निभे, प्रकाश की तरह उज्ज्वल भविष्य के आकाश पर छाया और अपनी सक्रियता का परिचय दिया जा सके।

इस संबंध में सभी परिजनों को उपलब्ध माध्यमों से यह सूचित किया गया है कि कोई यह न समझें कि दीप बुझ गया और प्रगति का क्रम रुक गया। दृश्य शरीर रूपी गोबर की मशक चर्म-चक्षुओं से दिखे या न दिखे, विशेष प्रयोजनों के लिए नियुक्त किया गया प्रहरी अगली शताब्दी तक पूरी जागरूकता के साथ अपनी जिम्मेदारी वहन करता रहेगा।

पक्षी सुदूर अन्तरिक्ष में इतनी दूर उड़ जाते है कि खुली आँखों से दीख नहीं पड़ते, फिर भी वे अपने घोंसले का, दुधमुँहे बच्चों का पूरा ध्यान रखते है। बच्चे भी समय पर उनके द्वारा खुराक मिलने की प्रतीक्षा करते हैं। गाय अपने बछड़े सहित जंगल में चरने चली जाती है। संयोगवश कभी दोनों बिछुड़ भी जाते हैं, फिर भी एक दूसरे को ढूँढने और पुकारने में कमी नहीं रहने देते। वर्तमान पत्रिका-पाठकों का अपने-अपने परिवार का परिकर अगले दिनों बढ़ तो सकता है, पर घटेगा नहीं। मिशन की पत्रिकाओं के रूप में प्रकाश चेतना हर महीने अपने पाठक-परिजनों के यहाँ अप्रत्यक्ष रूप से जा पहुँचती है। हर दिन एक लेख को एक प्रवचन समझा जाय, तो यह मान्यता उचित है कि परिजनों और अभिभावकों के बीच दैनिक मिलन-सत्संग सम्भव है। इसलिए परिजन एक महीने में ढाई रुपये का व्यक्तिगत अनुदान पत्रिका के चन्दे के रूप में प्रदान करते हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष न सही परोक्ष मिलन एवं नियमित आदान-प्रदान का क्रम चलता रहता है। इसी माध्यम से विचारों का ही नहीं, प्राण-चेतना का, शक्ति का प्रत्यावर्तन भी बन पड़ता है।

अब इस संदर्भ में आगे भी यही प्रक्रिया चलेगी। सभी परिजनों के परिचय, जन्म-तिथि, फोटोग्राफ संग्रह कर लिए गए हैं। इस आधार पर शान्तिकुञ्ज से जन्मदिन के अवसर पर एक प्रेरणापूर्ण संदेश एवं अनुदान पहुँचा करेगा। मिलन की आंशिक पूर्ति इस प्रकार हो जाया करेगी। शान्तिकुञ्ज परिसर में संचालक अपना सूक्ष्म शरीर, अदृश्य अस्तित्व बनाए रहेंगे। आने वाले, रहने वाले अनुभव करेंगे कि उनसे अदृश्य किन्तु समर्थ प्राण-प्रत्यावर्तन और मिलन-आदान-प्रदान भी हो रहा है। इस प्रक्रिया का लाभ अनवरत रूप से जारी रहेगा।

युग संधि पुरश्चरण के अन्तर्गत सभी साधकों को अपने-अपने यहाँ कुछ साधना करते रहने के लिए कहा गया है। वह तो चलेगी ही। साथ ही एक अनुबंध यह भी जोड़ा गया है, यदि संभव हो तो वर्ष में कभी भी पाँच दिन के लिए शान्तिकुञ्ज आकर एक सत्र सम्पन्न कर लें और

लगभग वही लाभ प्राप्त कर लें, जो बैटरी को बिजली के साथ जुड़ कर नए सिरे से चार्ज होने एवं धीमी पड़ी शक्ति को नए सिरे से अर्जित करने के रूप में मिलता है। बिना शक्ति अर्जित किए, वे सभी कार्य कर पाना असम्भव होगा; जिनकी इक्कीसवीं सदी अपेक्षा रखती हैं । यह प्राण-अनुदान निरन्तर इस तपस्थली से वितरित होता रहेगा । आवश्यकता मात्र स्वयं को केन्द्र से जोड़े रखने की है ।

कहने-सुनने, करने-कराने की प्रक्रिया चलती रहने के संबंध में इस वसंतपर्व पर उपस्थित परिजनों से, ऊपर से उतरे आदेश के अनुसार यह कहा गया था कि "हम में से कोई-किसी से अगले दिनों बिछुड़ न सके ।" जो प्रमाद और उपेक्षा बरतेगा, उसे शान्तिकुञ्ज की संचालक शक्ति झकझोरेगी, उसके कान उमेठेगी और बाधित करती रहेगी । हर व्यक्ति जुड़कर एवं सक्रिय रहकर ही चैन से बैठ सकेगा । कहा भले ही असांसारिक भाषा में गया हो, पर इसे एक सच्चाई मानकर चलना चाहिए कि ऐसे सशक्त सूत्र मजबूती के साथ परस्पर बाँधे गए हैं, जो बिछुड़ने-बिगड़ने की स्थिति आने नहीं देंगे, भले ही हम लोगों में से किसी का दृश्यमान शरीर रहे या न रहे ।

अध्यात्म अविश्वस्त सिद्ध हुआ तो ?

साधना, शक्ति की की जाती है । शक्ति, समृद्धि या प्राण-प्रवाह रूप में प्रकट होती है । सम्पत्ति, सिद्धि और सफलता का चिह्न परस्पर पर्यायवाचक है । किसने, किस स्तर की साधना की इसका पता उसकी परिणति को देखकर ही जाना-समझा जाता है ।

शरीर-बल की साधना करने पर बलिष्ठता, सुन्दरता आदि विभूतियों की प्राप्ति होती है, उसी के सहारे अभीष्ट उपलब्धियों के लिए पुरुषार्थ करते बन पड़ता है; आक्रमण किया या उसे निरस्त किया जा सकता है । रुपये पास में हों, तो बाजार में मिलने वाली हर वस्तु उससे खरीदी जा सकती है; सुविधा-साधनों का अभीष्ट मात्रा में संचय करते बन पड़ता है । अहंता का प्रदर्शन, चाटुकारों का समर्थन आदि की उपलब्धियाँ धन जल के सहारे होती हैं बुद्धिबल के धनी उच्च पदाधिकारी बनते है । वकील, डाक्टर, इंजीनियर, नेतृत्व, संयोजन-संचालन कर सकने की गौरव-गरिमा पायी-कमायी जा सकती है । दार्शनिक-वैज्ञानिक निर्णायक होने के लिए अभीष्ट मात्रा में बुद्धि-बल का संचय आवश्यक है ।

युद्ध में शस्त्र-संचालन, साहस, रण-नीति का कौशल काम आता है। कलाकारिता की साधना करने वाले, साहित्यकार, कवि, संगीतज्ञ, चित्रकार, मूर्तिकार, अभिनेता आदि बनते हैं । इसी प्रकार संसार में अनेकानेक शक्तियों के अपने-अपने चमत्कार देखे जा सकते है । अशक्तों को अभाव, तिरस्कार, दौर्बल्य, पराजय आदि का ही भाजन बनते, जैसे-तैसे काम चलाते और परावलम्बन पर आश्रित रहते देखा जाता है । इसलिए बहुमुखी शक्तियों में से किसी न किसी की साधना के लिए मनुष्य को प्रयत्नशील होना पड़ता है।

शक्तियों में सर्वोपरि स्तर की क्षमता आत्मबल है । उसे अलौकिक, असाधारण माना जाता है । इस स्तर के प्रयासों को परम पुरुषार्थ गिना जाता है । उनकी ललक उच्चस्तरीय होती है । वे आत्मबल सम्पादित करने के लिए उन्मुख-तत्पर होते हैं । इसकी कीमत तपश्चर्या के रूप में चुकानी पड़ती है और वे इसे प्रसन्नता पूर्वक चुकाते हैं । उपार्जन के लिए पूँजी तो जुटानी ही पड़ती है। शक्तिवानों में से प्रत्येक को यही करना पड़ा है ।

ऋषियों को आत्मबल सम्पादन की साधना के लिए-अभीष्ट तपश्चर्या के लिए साहस जुटाते रहना पड़ा है। योगी-तपस्वी अपने कार्यक्रम इसी आधार पर विनिर्मित करते हैं । बदले में उन्हें जो कुछ मिलता है, उत्कृष्टता की दिशा-धारा का अवलम्बन करने के कारण हस्तगत भी ऐसा ही कुछ होता है, जिसे असाधारण, अद्भुत, अलौकिक कहा जा सके । इस बल के धनी होते ही इस स्तर के हैं, कि वे अपने को महामानव-धरती के देवता कह सकें । उन्हीं को ऋद्धि-सिद्धियों के अधिष्ठाता स्तर का, अभ्युदय कर सकने की स्थिति में पाया जाता है । अपने को अभ्युदय के चरम शिखर तक वे पहुँचाते है । अलौकिक स्तर की विभूतियों से सम्पन्न होते हैं । अपनी नाव पर बिठाकर अनेकों को भयंकर प्रवाह वाली नदी से उबारते, और पार उतारा करते हैं । वातावरण को प्रवाह को बदल देना भी, ऐसों से ही बन पड़ता है। दैवी अनुकम्पा एवं सहायता भी ऐसे ही लोग विपुल मात्रा में हस्तगत करते हैं । उनमें दूसरों को प्रभावित करने वाली शाप-वरदान देने की क्षमता होती है । स्वर्ग और मुक्ति के नाम से दिव्य आनन्दों की जो चर्चा होती रहती है, उन्हें उपलब्ध कर सकना भी आत्मबल के अधिष्ठाताओं से बन पड़ता है। इन सनातन मान्यताओं को कोई भी, कभी भी यथार्थता की कड़ी कसौटी पर कस सकता है, आग पर तपाये, कसौटी पर कसे सोने की तरह खरा पा सकता हे ।

इस संदर्भ में भी इन दिनों एक भारी असमंजस भरी विपन्नता देखी जाती है। आत्म-साधना का अवलम्बन करने का दावा असंख्यों को करते देखा जाता है; पर उनमें वे विभूतियाँ नहीं देखी जातीं, जो इस दिशा में सफल पुरुषार्थियों में देखी जानी चाहिए। सफलता के लक्षण न दीख पड़ने पर विडम्बना का ही आरोप लगेगा । वह धनाध्यक्ष कैसा, जो रोटी-कपड़े जैसी सामान्य आवश्यकता न जुटा सके ? वह पहलवान कैसा, जो सौ कदम की दौड़ न लगा सके? वह विद्वान कैसा, जो चिट्ठी-पत्री तक पढ़ने-लिखने में असमर्थता प्रकट करे ? वह कलाकार कैसा, जो एकाग्र रहने तक की क्षमता प्रदर्शित न कर सके? इसी प्रकार आत्म साधना में अपने को संलग्न करने वालों के लिए क्या कहा जाय, जो न तो अपना निजी व्यक्तित्व परिष्कृत कर सके, जो न सामयिक विपत्तियों के समाधान में कोई योगदान दे सके ? जिनमें दूसरों को प्रभावित-परिवर्तित करने की सामर्थ्य, कुछ कहने लायक सफलता प्राप्त कर सकने की क्षमता न हो । जिनमें समय की माँग-प्रवाह के परिवर्तन और पतन को अभ्युदय में परिवर्तित कर सकने की क्षमता न हो। इन अभावों को देखते हुए सन्देह होता है कि या तो आत्मबल की, आत्म-साधना की जो महत्ता बतायी, महिमा गायी जाती रही है, वह अत्युक्ति या आलंकारिक है अथवा जो आत्म-साधना करने के दावेदार है, वे भ्रमग्रस्त है ।

किसी समय आत्म-शक्ति से सम्पन्न अनेकों व्यक्तित्व थे । उनने अपनी अर्जित क्षमता के सहारे ऐसे कार्य कर दिखाये, जो साधारण जनों की दृष्टि में अलौकिक कहे जा सके । विश्वामित्र, अगस्त्य, परशुराम, नारद, दधीचि जैसे तपस्वियों के नाम याद आते ही वे घटनाएँ भी आँखों के सामने गुजरने लगती हैं, जिनमें उनने अपने समय में असाधारण पुरुषार्थ प्रकट करते हुए सिद्ध पुरुषों जैसे स्तर के प्रमाण-परिचय दिये थे ।

आज साधु-संतों की जनसंख्या प्रायः ६० लाख के लगभग है । तंत्र-मंत्र की कला में अपने को प्रवीण-पारंगत कहने वालों की संख्या भी हजारों में है । देवी-देवताओं की पूजा-पत्री में निरन्तर निरत रहने वाले पुजारी वर्ग के लोगों की गणना भी लाखों में की जा सकती है, क्योंकि प्रस्तुत देवताओं मे से हर मंदिर पीछे कम से कम एक पुजारी की नियुक्ति तो आँकी ही जा सकती है । व्यक्तिगत पूजा-पाठ में घंटों समय लगाने वाले भक्तजनो को गिना जाय, तो वे भी करोड़ों न सही, लाखों तो होंगे ही । पंडित-पुरोहित अपने को देवताओं का एजेन्ट बना कर प्रचुर परिमाण में दान-दक्षिणा बटोरते रहे हैं । इस समूचे परिकर को एकत्रित करके गिना जाय, तो उनकी संख्या मात्र अपने देश में ही लाखों-करोड़ों में हो सकती है । प्रस्तुत तथ्य को नकारा भी नहीं जा सकता और साथ ही यह विश्वास भी नहीं किया जा सकता कि उनकी स्थिति वैसी ही है, जैसी कि कही, सुनी और बतायी जाती है । सामयिक समस्याएँ इतनी हैं कि समर्थ अध्यात्म के सहारे, उन्हें इतने सारे लोग एकाकी न सही, तो मिल-जुलकर तो कर ही सकते हैं, किन्तु देखा इसके ठीक विपरीत जाता है । इन तथाकथित अध्यात्मवादियों की संख्या बरसाती उद्भिवजों की तरह बढ़ती जा रही है। उनके द्वारा नियोजित कर्मकाण्डों का भी अत्यन्त खर्चीला और आडम्बर भरा प्रदर्शन इतना बढ़ रहा है, जिसे आसमान छूने-स्तर का कहा जा सके ।

यह उलझन किसी प्रकार सुलझाने में नहीं आती कि आत्मशक्ति की प्रखरता जिस प्रकार बतायी जाती है, वह किस प्रकार विश्वस्त हो सकती है, जबकि हर क्षेत्र में संकटों, विग्रहों, अभावो और अनाचारों के अंबार लगे हुए है और उन्हें निरस्त करने में निरंतर बढ़ते हुए अध्यात्म-विस्तार का दबाव कुछ ऐसा नहीं कर पा रहा है, जिससे परिस्थितियाँ सुधरें, अवांछनीयताओं की बाढ़ रुके ।

हो तो इतना भी नहीं रहा है कि उपरोक्त लाखों-करोड़ों वेशधारियों की संख्या लोक-हित की दृष्टि से कुछ न कर सके, तो कम से कम अपने आपको तो आदर्श व्यक्तित्व के रूप में प्रस्तुत करे । जिनके चिन्तन, चरित्र और व्यवहार-प्रयास को देखते हुए यह मान्यता बने कि अपने देश में उच्चस्तरीय व्यक्तित्व से सम्पन्न ऐसे लाखों-करोड़ों मौजूद है, जो अपनी उपस्थिति से जन साधारण की जन-जागरण में बढ़ती जा रही अश्रद्धा से निपट सकें । कम से कम इतना तो सिद्ध कर सकें कि अध्यात्म के दावेदार निजी जीवन में तो इतने प्रखर और प्रामाणित होते ही हैं कि उनकी साक्षी में आत्म-विद्या की गरिमा को तो विश्वस्त समझा जा सके ।

लगता है कहीं बहुत बड़ी गड़बड़ हो गयी है। कुछ को कुछ समझ लिया गया है । मात्र कलेवर को सब कुछ समझा गया है और वह आवश्यकता अनुभव नहीं की गयी कि उपासक को प्राणवान भी होना चाहिए । पूजा-कृत्यों के साथ अध्यात्मवादी की जीवनचर्या भी उच्चस्तरीय होनी चाहिए । उसके व्यक्तित्व में प्रामाणिकता एवं उत्कृष्टता का भी गहरा पुट होना चाहिए ।

मात्र वहिरंग कलेवर का गठन कर लेना पर्याप्त नहीं होता। मिट्टी के खिलौने जैसी गाय से बच्चे का मन बहल सकता है, पर उससे दूध देने और बछड़े जनते रहने की आशा नहीं की जा सकती। काठ से बड़े हाथी की आकृति तो बन सकती है, पर उस पर सवारी करके लम्बी मंजिल पूरी करने की आशा नहीं की जा सकती। खोटे सिक्के देखने में असली जैसे लगते तो हैं, पर दुकानदार के हाथ तक पहुँचते-पहुँचते उपहासास्पद बनने लगते हैं। नकली तो आखिर नकली ही रहेगा। उससे मन बहलाया जा सकता है, पर वह प्रयोजन पूरा नहीं कराया जा सकता, जो असली के माध्यम से सम्पन्न हो सकता है।

नकली अध्यात्म के खिलौने से एक भारी हानि यह हो सकती है कि आध्यात्मिक और आस्तिकता के तत्व-ज्ञान को ही लोग अविश्वस्त-अप्रामाणिक मानने लगें। उसे छद्म समझने और उस प्रपंच से दूर रहने की बात [illegible] अनैतिकता, असामाजिकता, अराजकता, अवांछनीयता की वृद्धि होने लगे। उत्कृष्टता, आदर्शवादिता को अनावश्यक समझा जाने लगे। उत्कृष्टता, आदर्शवादिता को अनावश्यक समझा जाने लगे। महावत का अंकुश न रहने पर उन्मत्त हाथी किसी भी दिशा में चल सकता है और कुछ भी अनर्थ कर सकता है। आत्मिक तत्त्व के साथ जुड़े हुए उत्कृष्टता के, मर्यादाओं के, पुण्य परमार्थों के विचार यदि बाँध तोड़कर उच्छृंखलता की दिशा में चल पड़ें तो मनुष्य, मनुष्य नहीं रह जायेगा। उसे प्रेत-पिशाचों जैसे उद्दण्ड कोलाहल खड़े करते चारों ओर देखा जायेगा।

इसे दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि इन दिनो कड़ुई गिलोय कड़ुए नीम पर चढ़ने का सम्मिलित कुयोग बन रहा है। भौतिक-विज्ञान ने नियन्ता की मान्यता से इनकार करके विशुद्ध भौतिकवादी मान्यताओं को जन्म दिया है। आत्मा-परमात्मा को अमान्य ठहराकर प्रकारान्तर से उस नीति-निष्ठा की उपयोगिता से इनकार कर दिया है, जो अब तक किसी रूप मे मानवीय गरिमा और मर्यादा से किसी सीमा तक मनुष्य को सराबोर बनाए हुए थी।

इसी के साथ-साथ यह दार्शनिक संकट उभरता दिखता है, जो अध्यात्म-आधारों के सहारे बड़े महत्त्वपूर्ण प्रयोजन सिद्ध होते रहने की आशा दिलाता रहा है; उच्चस्तरीय सिद्धियों और साधनों द्वारा व्यक्तित्व के देवोपम बनने की मान्यता पर विश्वास कराता रहा है।

वर्तमान परिस्थितियाँ सन्निपात जैसी बन गयी हैं। मनुष्य में विकसित पशुता द्वारा पतन के गर्त मे गिरने का प्रोत्साहन, विज्ञान द्वारा नास्तिकता का पोषण तथा आत्मिक क्षेत्र में बढ़ रही विडम्बनाओं की भरमार जन-मानस को इतना भ्रमित कर रही है कि उनका प्रतिफल विनाशकारी रूप धारण करके ही सामने आ सकता है।

असमंजस की स्थिति और समाधान

यह संसार, विश्व ब्रह्माण्ड जड़ और चेतन दोनो के ही सम्मिश्रण से बना है। यहाँ प्रकृति और प्राण का ही सामंजस्य है। चेतन को परिष्कृत करने पर जो उपलब्धियाँ हस्तगत होती है, उन्हे ऋषि युग मे, सतयुग में लम्बी अवधि तक जाना परखा जा चुका है। इस देश की गौरव गरिमा का इतिहास उसी वर्चस्व से ऐतिहासिक बना और प्रख्यात रहा है। अब बीसवी शताब्दी मे प्रधानतया भौतिकता की सत्ता को प्रमुखता मिली है। इस अवधि में दो विश्व युद्ध और १०० से अधिक क्षेत्रीय युद्ध हो चुके है। भौतिकवादी ललक की ही यह संरचना है, जिसके कारण अपार धन-जन की हानि हुई है। चिन्तन, चरित्र और व्यवहार सभी कुछ लडखड़ा गया है। प्रगति युग के अगले चरण कितने भयावह हो सकते है, इसकी कल्पना मात्र से दिल दहल जाता है।

यह विचारने के लिए नये सिरे से बाधित होना पड रहा है कि भौतिक मान्यताओं के आधार पर संसार को क्या इसी गति से चलने दिया जाना है या अतीत में बरते गये उन सिद्धान्तों को फिर से अपनाया जाना है जिनके आधार पर मनुष्यो मे देवत्व और धरती पर स्वर्ग जैसा वातावरण बना रहा?

इस असमंजस में एक और नई कठिनाई सामने है कि पुरातन की, साक्षी को ध्यान में रखकर यदि जीवनचर्या और लोक व्यवहार को अध्यात्म तत्वज्ञान के स्तर पर विनिर्मित करने की बात सोची जाय तो यहाँ भी भारी विडम्बना सामने खड़ी होती है। प्रचलित अध्यात्म सिद्धान्तों और प्रचलनों में भी विकृतियों का इतना अधिक अंवाछनीयता का अनुपात घुस पड़ा है कि कसौटी पर कसते ही यह भी खोटे सिक्के की तरह अप्रामाणिक ही सिद्ध होते हैं। लाखों संत-साधु, लाखों भजनानंदी लाखों कर्मकाण्डी, पूजा व्यवसायी जिस स्थिति में रह रहे है, उनके स्तर को उलट-पुलट कर जाँचने से प्रतीत होता है

कि इस क्षेत्र मे भी विडम्बना के अतिरिक्त और कुछ शेष बच नहीं रहा है। किसी जमाने मे थोड़े से संत न केवल भारत को वरन् समस्त विश्वसुधा को हर दृष्टि से समुन्नत एवं सुसंस्कृत बनाये रखने मे समर्थ हुए थे, पर अब तो उनकी संख्या हजारो लाखो गुनी हो गई है। इतने पर भी विश्वकल्याण की, भारतभूमि की गरिमा को बनाये रहने की बात तो दूर स्वयं के व्यक्तित्व को भी इतना गया गुजरा बना बैठे हैं कि सहज विश्वास नहीं होता कि इस प्रयोजन में भी कुछ उत्कृष्टता एव विशिष्टता शेष रह गई है।

कुछ दिन पूर्व गाँधी, बुद्ध जैसी कुछ ही प्रतिभायें प्रकट हुई थीं और अपने व्यक्तित्व तथा कृतित्व से संसार भर में आस्था, उत्साह और उल्लासकी एक नई लहर चला सकने में समर्थ हुई थी, पर अब तो उनकी गणना आश्चर्यजनक गति से बढ़ जाने पर भी वातावरण को परिष्कृत करना तो दूर अपने आप को भी प्रामाणिक एवं प्रतिभावान बना पाना दीख नहीं पडता। इस निरीक्षण परीक्षण से प्रतीत होता है कि जैसे लांछन भौतिकवाद पर लगाये जाते है उससे भी अधिक प्रस्तुत अध्यात्मवाद पर लगाये जा सकते हैं। लगता है दोनों ही क्षेत्रो में अपने-अपने ढंग की विरूपता ने आधिपत्य जमा लिया है। धर्म के नाम पर जितनी विडम्बनाएँ चलती है, उन्हें देखते हुए उसे भी अपनाने योग्य मानने के लिए मन नहीं करता।

दोनो ही रास्ते अनुपयुक्त दीखने पर प्रश्न यह उठता है कि इनके अतिरिक्त कोई तीसरा विकल्प भी है क्या? आस्तिकता और नास्तिकता के, श्रेष्ठता और निकृष्टता के बीच क्या कोई मध्य मार्ग भी है। वहाँ भी न करने के अतिरिक्त भी कुछ सूझता नहीं। फिर क्या चुना जाय जबकि जीवन और मरण दोनों ही अनुपयुक्त अविश्वस्त दीखते हैं।

इस असमंजस के बीच एक हल उभरता है कि भौतिक विज्ञान को अध्यात्म तत्व ज्ञान के साथ जुड़ना चाहिए था और अध्यात्मवाद का स्वरूप ऐसा होना चाहिए था जिसे प्रत्यक्षवाद की कसौटी पर भी खरा सिद्ध किया जा सके।

भौतिकवादी मान्यताओ का अपना आकर्षण ही इतना बड़ा है कि उसने ९९ प्रतिशत क्षेत्र को अपनी चपेट मे ले लिया है। उसकी अच्छाई बुराई भी आँखों के सामने है। मात्र अध्यात्म ही ऐसा है जो रहस्य बनकर रह रहा है। उसे नकारते इसलिए नही बन पड़ता कि शास्त्रकारों आप्तजनों और ऋषिकल्प व्यक्तियों के आधार पर जो उत्कृष्टतावादी निष्कर्ष निकलता है उसे अमान्य ठहराने का कोई कारण नहीं। उसकी प्रामाणिकता असंदिग्ध है। योगी अरविंद, महर्षि रमण, समर्थ रामदास, रामकृष्ण परमहंस आदि प्रतिभाएँ उस पक्ष को अपनी वरिष्ठता के बल पर भी सही सिद्ध करती रही है।

रहस्य क्या है ? यह खोजने की बात सामने आने पर भूतकाल की साक्षी और वर्तमान की दूरदर्शी विवेचना यही बताती है कि जन कल्याण अध्यात्म पर ही अवलम्बित हो सकता है। खोट इतना भर है कि आध्यात्मिक तत्वज्ञान और प्रयोग परीक्षण में कहीं कुछ ऐसा अनुपयुक्त अड़ गया है जिसके कारण सूर्योदय रहते हुए भी पूर्णग्रहण जैसा कुछ लग जाने के कारण दिन होते हुए भी अन्धेरा छाने लगता है। अनुपयुक्त प्रयोग से तो विशिष्टता भी निकृष्टता में बदल सकती है। जिस प्रकार आदर्शों के अनुशासन को अस्वीकृत कर देने के कारण भौतिक विज्ञान की उपयोगिता और यथार्थता विनाशकारी परिणाम उत्पन्न कर रही है, संभवतः अध्यात्म ने भी उलटबाँसी अपनायी है, और असली के स्थान पर नकली के आ विराजने पर उसकी भी प्रामाणिकता एवं उपयोगिता खतरे में पड़ गई है।

हमारा निजी अनुभव

सत्य और तथ्य को कैसे जाना, परखा जाय ? इसके लिए भौतिक क्षेत्र को आदर्शों के साथ जोड़ने पर क्या परिणाम निकल सकता है इसकी खोजबीन करने का काम दूसरों के जिम्मे छोड़कर इन पंक्तियों के लेखक ने अपनी अभिरुचि, जानकारी एवं रुझान के अनुरूप यही उपयुक्त समझा कि वह अपने छोटे से जीवन और थोडे से समय, साधन का उपयोग इस प्रयोजन विशेष के लिए कर गुजरे कि जब शरीर से प्राण श्रेष्ठ है तो फिर भौतिक सम्पदा की तुलना में प्राण चेतना को वरिष्ठता का गौरव क्यों न प्राप्त होना चाहिए। अगले दिनों सतयुग की वापसी के लिए नये सिरे से नया प्रयत्न क्यों न होना चाहिए ? खोज के लिए प्रयोगशाला चाहिए, साधन और उपकरण भी। यह सभी अपने ही काय-कलेवर में उपलब्ध किये जाने चाहिए और देखा जाना चाहिए कि परिष्कृत अध्यात्म व्यक्ति और संसार के लिए उपयोगी हो सकता है क्या?

भौतिक विज्ञानियों में से अनेकों ने अपनी अभीष्ट खोज के लिए प्रायः पूरी जिन्दगी लगा दी और लक्ष्य तक पहुँचने में उतावली नहीं बरती, तो परिष्कृत अध्यात्म का स्वरूप खोजने और परिणामों की जाँच-पड़ताल करने के लिए एक व्यक्ति की एक जिन्दगी पूरी तरह लग जाय तो उसे घाटे का सौदा नहीं कहा जा सकता।

३.११ सूक्ष्मीकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का अवतरण

इन पंक्तियों का लेखक अपनी जिन्दगी के प्राय: अस्सी बरस पूरे करने जा रहा है । उसने उस पुरातन अध्यात्म को खोज निकालने के लिए अपने चिन्तन, समय, श्रम एवं पुरुषार्थ को मात्र एक केन्द्र पर केन्द्रित किया है यदि पुरातन काल का सतयुगी अध्यात्म सत्य है, यदि ऋषियों की उपलब्धियाँ सत्य हैं, तो उनका वास्तविक स्वरूप क्या रहा होगा और उसके प्रयोग से ऋद्धि-सिद्धि जैसे परिणामों का हस्तगत कर सकना क्यों कर संभव हुआ होगा । अनुमान था कि कहीं कोई खोट घुस पड़ने पर ही शाश्वत सत्य को झुठलाये जाने का कोई अनर्थ मार्ग में न अड़ गया हो ।

अध्ययन, अनुभव, प्रयोग और विशेषज्ञों की पूछताछ से पता चला है कि आत्मिकी का प्रथम पक्ष है-साधक का परिष्कृत व्यक्तित्व और दूसरा पक्ष है-साधना-उपासना स्तर का उपक्रम । जीवन साधना को स्वास्थ्य और कर्मकाण्ड परक उपचारों को शृंगार स्तर का कहा जा सकता है, पर इन दिनों किसी भटकाव ने लोगों को ऐसा कुछ बना दिया है कि जीवन साधना की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है । मात्र पूजा परक कर्मकाण्डो के ही बलबूते उस सारी महत्ता को हस्तगत किया जा सकता है जिसको कि शास्त्रकारों ने अपने अनुभव में और आप्तजनो ने अपने जीवनक्रम मे समाविष्ठ करके वस्तुस्थिति की यथार्थता का पूरी तरह रहस्योद्घाटन किया है ।

समस्त विश्व के विशेषतया मानव समुदाय के भाग्य और भविष्य का भला-बुरा निर्धारण करने वाले इस प्रसंग पर अत्यन्त गहराई तक शोध करने के लिए आकुल-व्याकुल उत्कंठा से द्रवित होकर किसी दिव्य मार्गदर्शक ने संकेत किया कि- ''इस तथ्य को प्रारंभ से ही समझ लेना चाहिए ।'' अध्यात्म को अंकुरित पल्लवित एवं पुष्पित होने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि इस प्रयोजन में प्रवेश करने वाले का व्यक्तित्व उत्कृष्टता से सुसम्पन्न हो । इसके पश्चात् ही उपासना परक कर्मकाण्डों की कुछ उपयोगी प्रतिक्रिया उपलब्ध होती है । यदि मनोभूमि और जीवनचर्या गंदगी से भरी हो तो समझना चाहिए कि मंत्र की, पूजा उपचार की प्रक्रिया प्राय: निरर्थक ही सिद्ध होगी। समय श्रम और साधन सामग्री निरर्थक गंवाने के अतिरिक्त और कुछ हाथ न लगेगा। अध्यात्म दिव्य शक्ति का आधार भूत पुञ्जस्रोत है । विज्ञान तो सज्जा भर का प्रदर्शन करता है उसमें आकर्षण और प्रलोभन के द्वारा बलबुद्धि को फुसलाने के लिए खिलौने जैसी चमक दमक के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं ।

इस संकेत से मार्गदर्शन मिला । विश्वास जमा। फिर भी भ्रान्तियों के जाल-जंजाल से निकलने के लिए आवश्यक समझा गया कि क्यों न अपनी काया की प्रयोगशाला मे तथ्य का निरीक्षण-परीक्षण करके देखा जाय ? इसमें हानि ही क्या है ? अपने प्रयोग यदि खरे उतरते हैं तो उससे श्रद्धा विश्वास की अभिवृद्धि ही होती है । यदि मिथ्या सिद्ध होते है तो हानि मात्र इतनी ही है कि जैसे असंख्य अधकचरी स्थिति में संदेह भरी स्थिति में रह रहे हैं, उन्ही में एक की और वृद्धि हो जायेगी फिर विश्वास और साहस पूर्वक अपनी मान्यता बनाने या दूसरों से साहसपूर्वक कुछ कहने की स्थिति तो समाप्त हो जायेगी।

मंत्र विज्ञान के संबंध में जितना कुछ पढा, सुना और गुना था, उसके आधार पर प्रारंभिक दिनो में ही यह विश्वास जम गया था कि आदि शक्ति के नाम से जानी जाने वाली गायत्री की श्रेष्ठता वरिष्ठता असंदिग्ध है । संचित संस्कार और सम्बद्ध वातावरण भी इसी की पुष्टि करते रहे । उपासना क्रम सरल भी लगा और उत्साहवर्धक भी । गाड़ी चली सो अपनी पटरी पर आगे बढ़ती और लुढ़कती ही चली गई । तब से अब तक न उसने विराम लिया और न कोई अवरोध ही आड़े आया। अस्सी वर्ष की आयु होने तक वह मान्यता, भावना श्रद्धा आगे ही आगे बढ़ती चली आई है ।

मानवी गरिमा के अनुरूप जीवन यापन कैसे किया जा सकता है ? उसके साथ जुड़ी हुई मर्यादाओं का परिपूर्ण निर्वाह कैसे हो सकता है और वर्जनाओं से कैसे बचा जा सकता है ? यह समझ अन्तराल की गहराई से निरन्तर उठती रही और उसका परिपालन भी स्वभाव का अंग बन जाने पर बिना किसी कठिनाई के होता रहा । गुण, कर्म, स्वभाव, चिन्तन, चरित्र, व्यवहार मे जो तथ्य गहराई तक उतर कर परिपक्व हो जाते हैं वे छोटे-मोटे आघातों से डगमगाते नहीं । देखा गया है कि सघन संकल्प के साथ जुड़ी हुई व्रत शीलता अनायास ही निभती रही है । सो सचमुच बिना किसी दाग धब्बे के निभ भी गई ।

ईश्वर के प्रति सुनिश्चित आत्मीयता की अनुभूति उपासना, जीवन में शालीनता की अविच्छिन्नता अर्थात् ''साधना'' तथा करुणा और उदारता से ओतप्रोत अन्तराल में निरन्तर निर्झर की तरह उद्भूत होती रहने वाली ''आराधना'', यही है वह त्रिवेणी जो

सच्चे अर्थों में मनुष्य बनाती है । उस संगम तक पहुँचने पर जो मनुष्य को सच्चे अर्थों में मनुष्य बनाती है। उस संगम तक पहुँचने पर कल्मष कषायों, दोष दुर्गुणों के प्रवेश कर सकने जितनी गुंजायश भी शेष नहीं रहती। त्रिपदा कही जाने वाली गायत्री, प्रज्ञा, मेधा और श्रद्धा बनकर इस स्तर तक आत्मसात हो गई कि लगने लगा कि सचमुच ही वैसा मनुष्य जीवन उपलब्ध हुआ है । जिसे सुर दुर्लभ कहा और देवत्व के अवतरण जैसे शब्दों से जिसका परिचय दिया जाता रहा है ।

साधारण स्तर के नर वानर कोल्हू के बैल की तरह पिसते और पीसते रहकर जिन्दगी के दिन गुजार देते है । पर जब भीतर से उत्कृष्टता का पक्षधर उल्लास उभरता है तो अन्तराल में बीज रूप में विद्यमान दैवी क्षमताएँ जागृत, सक्रिय होकर अपनी महत्ता का ऐसा परिचय देने लगती हैं जिसे अध्यात्म का वह चमत्कार कहा जा सकता है, जो भौतिक शक्तियों की तुलना में कहीं अधिक समर्थ है ।

उपासना प्रकरण मे श्रद्धा विश्वास की शक्ति ही प्रधान है । वही उस स्तर की बन्दूक है जिस पर किसी भी फैक्टरी में विनिर्मित कारतूस चलाये जा सकते हैं। उस दृष्टि से मात्र गायत्री मंत्र ही नहीं, साधक की आस्था के अनुरूप अन्यान्य मंत्र एवं उपासना विधान भी अपनी सामर्थ्य का वैसा ही परिचय दे सकते हैं । श्रद्धा और विश्वास के अभाव में उपेक्षा पूर्वक अस्तव्यस्त मन से कोई भी उपासना क्रम अपनाया जाय, असफलता ही हाथ लगेगी ।

परीक्षण के लिए प्रयोगशाला की तथा उसके लिए आवश्यक यंत्र उपकरणों की जरूरत पड़ती है । इस संदर्भ में अच्छाई एक ही है कि मानव शरीर में विद्यमान चेतना ही उन सभी आवश्यकताओं की पूर्ति कर देती है, जो अत्यंत सशक्त प्रयोग परीक्षणों के लिए भौतिक विज्ञानियों को मूल्यवान यंत्र उपकरणों से सुसज्जित प्रयोगशाला को जुटाने पर संभव होते हैं ।

इन दिनों विज्ञान के प्रतिपादन, पत्थर की लकीर बनकर जन-जन की मान्यताओं को अपने प्रभाव क्षेत्र में समेट चुके हैं । आज की मान्यताऐं और गतिविधियाँ उसी से आच्छादित है और तदनुरूप प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न कर रही हैं । अध्यात्म का स्वरूप विडम्बना स्तर का बनकर रह गया है, फलस्वरूप उसका न किसी साधनारत पर प्रभाव पड़ता है और न वातावरण को उच्चस्तरीय बनाने में कोई सहायता ही मिल पाती है। इस दुर्गति के दिनों में यही उपयुक्त लगा है कि यदि विज्ञान के प्रत्यक्षवाद को, यथार्थता को जिस प्रकार अनुभव कर लिया गया है, उसी प्रकार अध्यात्म को भी यदि सशक्त एवं प्रत्यक्ष फल देने वाला माना जा सकने का सुयोग बन सके तो समझना चाहिए कि सोना और सुगंध के मिल जाने जैसा सुयोग बन गया । विज्ञान शरीर और अध्यात्म प्राणचेतना मिलकर काम कर सकें तो समझना चाहिए कि सब कुछ जीवन्त हो गया । एक प्राण वान दुनियाँ समग्र शक्ति के साथ नये सिरे से नये कलेवर में उद्भूत हो गई । न विज्ञान झगड़ालू रहा और न अध्यात्म के साथ जो कुरूपता जुड़ गई है, उसके लिए कोई गुंजायश ही शेष रह गई है ।

त्रिधा भक्ति एवं उसकी अद्‌भुत सिद्धि

उपासना का अपना प्रयोगक्रम चला और उसे अनेकानेक परीक्षणों की कसौटियों पर कसे जाने के उपरान्त सही एवं सशक्त पाया गया । इसी आधार पर अब यह सोचने, कहने और करने की व्यवस्था बन गई है कि संसार को एक नया संदेश दिया जा सके कि उपेक्षित, तिरस्कृत विडम्बनाग्रस्त, अध्यात्म को यदि पुनर्जीवित किया जा सके तो विश्व चेतना के साथ एक उच्चस्तरीय माहौल जुड़ सकता है । तब भौतिक विज्ञान के लिए भी यह न सोचना पड़ेगा कि वह लाभ देने की तुलना में हानि के, विनाश के सरंजाम अधिक जुटाता है । इसलिए उसके उपयोग को आशंका एवं भयानकता के साथ जुड़ा हुआ सोचा जाय । वस्तुतः बढ़े हुए विज्ञान के चरणों को आध्यात्मिक प्रगति के साथ जोड़ा जा सके तो हम भूतकाल के सतयुग की अपेक्षा और भी अच्छी स्थिति में पहुँच सकते हैं । यों जिस तरह नया आधार संजोया गया है, उसे देखते हुए यह भी कहा जा सकता है कि हम और भी अधिक ऊंचे स्तर का "महासतयुग" अगले दिनों अपनी इसी धरती पर उतार कर रहेंगे ।

अपने समय का मनुष्य बहुत बौना है । इस बौनेपन को संकीर्ण स्वार्थपरता के रूप में भी लिया जा सकता है, होता यही रहा है कि वैज्ञानिक उपलब्धियों को भी संकीर्ण स्वार्थों के लिए तथाकथित समर्थ लोगों ने प्रयुक्त किया और असंख्य समस्याएँ उत्पन्न कीं । ठीक इसी प्रकार प्रपंचों से बचकर जो अध्यात्म किसी लंगड़े लूले रूप में शेष रह गया था उसे भी अपने अथवा अपनों की सम्पन्नता, यशलिप्सा, असाधारण सफलता आदि के लिए ही प्रयुक्त किया जाता रहा । तथाकथित सिद्ध पुरुष भी अपने को वरिष्ठ सिद्ध करने और जिन कुपात्रों ने उन्हें जिस तिस

प्रकार प्रसन्न कर लिया उन्हें उस अध्यात्म द्वारा अधिकाधिक सम्पन्न बनाने मे लगे रहे। उस अनुदान का उपयोग निजी विलासिता एवं महत्वाकांक्षा को पूरा करने के अतिरिक्त किसी लोकोपयोगी काम में न हो पाया।

अपने प्रयोग में आरंभ से ही यह व्रतशीलता धारण की गई कि परम सत्ता के अनुग्रह से जो भी मिलेगा उसे उसी के विश्व उद्यान को अधिक श्रेष्ठ समुन्नत सुसंस्कृत बनाने के लिए ही खर्च किया जाता रहेगा। अपना निजी जीवन मात्र ब्राह्मणोचित निर्वाह भर से काम चला लेगा। औसत नागरिक स्तर से बढ़कर अधिक सुविधा, प्रतिष्ठा आदि की किसी ललक को पास में न फटकने दिया जायेगा।

इस प्रयोग के अन्तर्गत अपना आहार-विहार, वस्त्र-विन्यास, रहन-सहन, व्यवहार, अभ्यास ऐसा रखा गया जो न्यूनतम था। आहार इतना सस्ता जितना कि देश के गरीब से गरीब व्यक्ति को मिलता है। वस्त्र ऐसे जैसे कि श्रमिक स्तर के लोग पहनते है। महत्वाकांक्षा न्यूनतम। आत्म प्रदर्शन ऐसा जिसमें किसी सम्मान, प्रदर्शन और अखबारों में नाम छपने जैसी ललक के लिए कोई गुंजायश न रहे। व्यवहार ऐसा जैसा बालकों का होता है। यह पृष्ठभूमि बना लेने के उपरान्त शारीरिक और मानसिक श्रम इतना जितना कि कोई पुरुषार्थ परायण कर सकता है, इसे पूजा उपासना तो नहीं पर जीवन साधना अवश्य कहा जा सकता है।

इसके उपरान्त उपासना की निर्धारित पद्धति की बारी आई। उसमें श्रद्धा विश्वास का गहरा पुट रहा और ध्यान रहा कि किसी भी अधिक आवश्यक काम के बहाने उसे किसी भी प्रकार चुकाये जाने का अवसर न मिलने पाये। चिन्तन निजी लाभ का नहीं परमार्थ सम्पादन का ही रहा। यही कारण है कि अपने निजी कहे जाने योग्य एक कानी कौड़ी की भी कोई संचित सम्पदा नहीं है। पैतृक सम्पदा बड़ी थी पर उसका भी एक-एक पैसा उपयोगी परमार्थिक इमारतो में लगा दिया गया। यह सारा जंजाल सिर पर से उतर जाने के उपरान्त व्यामोह से विरक्त मन इतना खाली हो गया जिस का 'वैक्युम' एक सशक्त चुम्बक की तरह ईश्वरीय अनुकम्पा की अजस्र वर्षा करने लगा। सामर्थ्य भी इतनी आधमकी जिसके लिए अपनी ओर से नगण्य जितना ही प्रयत्न बन पड़ा।

अध्यात्म सिद्धियों के साथ जुड़ा हुआ माना जाता है। क्या वे हमें हस्तगत हुई ? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है ''हाँ,'' उनमें से यहाँ कुछ ऐसे प्रसंगों की चर्चा की जा सकती है जो सर्व विदित है, जिनके लिए ह किसी को अपनी आँखें और अपनी निज की जानकारी ही साक्षी रूप मे पर्याप्त हो सकती है। उसके लिए किसी प्रकार की खोजबीन करने की कदाचित ही किसी को आवश्यकता पड़े।

युग साहित्य का सृजन इतनी बड़ी मात्रा में बन पड़ा। उसका इतनी भाषाओं में अनुवाद हुआ कि उस सारे संग्रह को किसी एक मनुष्य के शरीर जितना भारी तोला जा सकता है। इसी लेखन की हर पंक्ति ऐसी है जिसके संबंध में यही कहा जा सकता है कि किसी ने भारी खोज, गहन मंथन एवं व्यक्तिगत अनुभव की छत्रछाया में ही लिखा है। सामान्य बुद्धि यही कह सकती है कि एक व्यक्ति कम से कम पांच जन्मों मे अथवा पांच, शरीर से ही इतना साहित्य सृजन कर सकता है। इस प्रयास को भी यदि कोई चाहे तो सिद्ध स्तर की गिन सकता है।

दूसरा कार्य है नव सृजन में कुछ कारगर भूमिका निभा सकने योग्य साथी सहयोगियों के विशाल काय परिकर का एकत्रीकरण। इन दिनों उन सभी की संख्या जो कुछ समय पूर्व पांच लाख भर थी, अब बढ़कर पच्चीस लाख हो गई है। यह क्रम एक से पांच, पांच से पच्चीस, पच्चीस से एक सौ पच्चीस, वाली गुणन प्रक्रिया के आधार पर द्रुत गति से आगे बढ़ रहा है और आश्वासन दे रहा है कि प्रगति रुकेगी नहीं, क्षेत्रों और देशों की परिधि लांघते हुए विश्व भर में सज्जनो के संवर्धन की प्रक्रिया पूरी करेगी।

तीसरी सिद्धि है- दुष्प्रवृत्तियों के विरुद्ध संघर्ष की असाधारण रणनीति वाली मोर्चा बंदी। साथ ही सत्प्रवृत्ति संवर्धन के लिये हजारो प्रज्ञा केन्द्रों की स्थापना और उनकी गतिविधियों में नवसृजन, की सत्प्रवृत्ति संवर्धन की रचनात्मक प्रवृत्तियों की अनवरत अभिवृद्धि।

जिनने विनिर्मित प्रज्ञा पीठों की हजारों की संख्या में भव्य इमारतें देखी हैं वे एक ही बात सोच सकते हैं कि यह अपने समय का अभिनव सृजन आन्दोलन है। चार धाम बनाने वालों को जितना श्रेय मिला उसकी तुलना में यह सृजन कार्य कितना महँगा और कितना विस्तृत बन पड़ा है, इसे एक आश्चर्य ही कहना चाहिये। प्रचलित कुरीतियों एवं अवांछनीयताओं के साथ टक्कर लेने की मोर्चेबंदी को दूसरे महाभारत के समतुल्य कहा जा सकता है।

ईर्ष्यालुओं दुर्जनो और विद्वेषियो के आक्रमण सच्चाई को किस प्रकार हराने और तोड़ने मे असफल होते हैं, इस तथ्य को मात्र वे लोग ही जानते हैं जो अपने निकट सम्पर्क में रहे और उन हरकतो मे परिचित रहे है । चूँकि उन प्रसंगों की कभी चर्चा नहीं की गयी, प्रतिरोध के लिये एक पतली छड़ी तक नहीं उठायी गयी तो वे अनाचार कैसे प्रगट होते, जिन्हें दैवी प्रयोजनों में विश्वामित्र यज्ञ-ध्वंस षडयंत्र की ही उपमा दी जा सकती है। भक्त की रक्षा कैसे होती है, इसके प्रमाण में प्रहलाद की, गज की, द्रौपदी आदि की उपमा दी जाती है । एक कड़ी और भी इन्हीं दिनों की यह जुड़ सके तो कोई हर्ज नहीं । इसे भी एक सिद्धि कह सकते है ।

सहायता के लिये किसी के आगे हाथ न पसारने के पीछे कोई अहंकार प्रदर्शन का भाव नहीं रहा किंतु यह एक प्रयोग परीक्षण था कि यदि भगवत् प्रयोजन के लिये कहीं से कोई प्रामाणिकता उभरे तो उसकी शक्ति और सम्पदा कितनी ही बढ़ जाती है? इसके लिए पुरातन उदाहरण हनुमान जी का है । नया उदाहरण अपने समय के इस प्रयोग परीक्षण को समझा जा सकता है कि गंगा के याचना न करने पर भी हिमालय किस प्रकार कभी न सूखने वाली जलराशि प्रदान करता रहता है। अपनाये गये क्रिया कलापों में कितनी जनशक्ति की, कितनी धनशक्ति की, कितने साधनों की आवश्यकता पड़ती है और वह सुदामापुरी को द्वारिका पुरी में बदल जाने का कैसे उदाहरण बनती है ? इस दृश्य दर्शन को कोई एक प्रकार से सिद्धि स्तर की भी गिन सकता है ।

अपनी अपेक्षा पिछड़ों, दुखियारों, आवश्यकताग्रस्तों की सहायता करना मानवी कर्तव्य है । गिरों को उठाने, उठों को उछालने में ही सच्चे सामर्थ्यवानों के हाथ खुलते और सहायता देते रहे हैं। इस लम्बे जीवन की अवधि में कितनो की कितनी भौतिक एवं आत्मिक सहायता बन पड़ी, यह प्रसंग तो असाधारण रूप से विस्तृत है, पर उसकी चर्चा पर इसलिए प्रतिबंध लगा दिया है कि देने वाले का अहंकार उभर सकता है और लेने वाला किसी अहसान की अनुभूति में अपनी हेठी समझकर संकोचग्रस्त हो सकता है ।

सिद्धियों के और भी किसी प्रत्यक्ष प्रमाण का परिचय प्राप्त करना हो तो उसी गणना में एक कड़ी यह भी है इन दिनों अस्सी वर्ष की आयु तक पहुँचने वाले प्रायः जराजीर्ण हो जाते हैं और मौत के घर जाने की तैयारी करने लगते हैं । पर यहाँ दृश्य दूसरा ही है, शरीर मन, संकल्प और पुरुषार्थ उसी स्तर का परिचय दे रहा है जैसे कि वयोवृद्ध द्रोणाचार्य धनुष संधानने और लक्ष्य बेधने की शिक्षा अंत काल तक देते रहे । बुढ़ापे में ही जवानी जीवन्त रह सकती है, इस स्तर का इस प्रयोक्ता का एक सघन स्वरूप यह भी है।

चर्चा को अप्रासंगिक, अनावश्यक और अहंकार स्तर का उद्धत उल्लेख न समझा जाय, इसलिए इस लम्बे प्रसंग को उनके लिए शेष छोड़ दिया गया है, जो शरीर न रहने पर कुछ और खोजने बताने के लिए उत्सुक होंगे।

सच्चे अध्यात्मवाद में निहित विलक्षण शक्ति

यहाँ इतनी पंक्तियाँ इसलिए लिखनी पड़ी हैं कि शरीर बल, सम्पत्ति बल, बुद्धिबल, पद और सहायकों का बल बहुत समय से श्रेय-चर्चा के अधिकारी रहे हैं, पर भुलाया यह भी नहीं जाना चाहिए कि आध्यात्मिक साधना के सहारे उपजने वाला आत्मबल भी उपेक्षणीय नहीं है । वह न तो अप्रामाणिक है, और न छद्म । गड़बड़ी मात्र वहीं पड़ती है जहाँ उसके साथ जुड़े सिद्धान्तों को भुला दिया जाता है और कुछ मंत्र-तंत्रों से ही गगनचुम्बी अपेक्षा की जाने लगती है और उसके सफल न होने पर निराशा एवं नास्तिकता उभरती है ।

व्यक्तिगत लाभ तक अपने को सीमाबद्ध कर लेने वाला व्यक्ति अपनी संकीर्णता में इतना अधिक लिप्त हो जाता है कि उसे दूसरों के अधिकार का, उनके प्रति सद्भाव बरते जाने की आवश्यकता का ध्यान ही नहीं रहता। लोक व्यवहार में अलगाववाद की अनेकानेक दुष्प्रवृत्तियाँ इसी आधार पर पनपती हैं, अध्यात्म क्षेत्र में भी जो लोग इसी रीति-नीति को अपनाते है, उनकी गरिमा भी एक प्रकार से समाप्त प्रायः हो जाती हैं । अपने लिए स्वर्ग मुक्ति, ऋद्धि-सिद्धि, चमत्कार प्रदर्शन, लोगों से पुजापा बटोरना, अपने को देवताओं का एजेण्ट बताकर उनके द्वारा ओछे लोगों की ऐसी मनोकामनाएँ पूरी कराने का आश्वासन देना, जो उनकी पात्रता से बाहर है ऐसी बातें जिनके मनोरथों में सम्मिलित हो जायें, समझना चाहिए कि उनका पूजा-पाठ भजन-कर्मकाण्ड ओछे स्तर का है । उससे अध्यात्म पक्ष की गरिमा बढ़ेगी नहीं, वरन् घटेगी ही। ईश्वर के निकटवर्ती संबंधी बनना, उनको दर्शन देने के लिए बंधित करना, उनकी कचहरी के दरबारी बनकर

सामीप्य-सान्निध्य जैसी मुक्ति का मजा लूटना, औरों से अपने को वरिष्ठ होने की मान्यता बनाना-ऐसा ओछापन है जो किसी भी वास्तविक भगवद् भक्त का अनुगामी बनने वाले को तनिक भी शोभा नहीं देता। यह सब लगभग ऐसा ही है जैसा कि सेठ, साहूकार, राजनेता, पंचतारा होटलों में मौज मजा करने वालों की मनःस्थिति होती है। अमीर लोग भी सेवक, चाकर, चारण और चमचों को इनाम-इकराम बाँटते रहते हैं। ईश्वर की हैसियत उन्हीं लोगों के समतुल्य बना देने का मनोरथ न तो किसी के अध्यात्मवादी होने का प्रमाण है और न ऐसे व्यक्ति को साधक-उपासक ही कहा जा सकता है।

वस्तुत: सच्चा अध्यात्मवादी लोक सेवी ही हो सकता है। जन साधारण की समस्याओं के समाधान में यदि अध्यात्म का प्रयोग नहीं होगा, तो श्रेष्ठता कैसे पनपेगी और दुष्टता कैसे निरस्त होगी ? फिर भगवान का उद्यान सूखता, कुम्हलाता और नष्ट-भ्रष्ट होता ही दीख पड़ेगा। यदि मूर्धन्यजन लोक मंगल को अपने कर्तव्य क्षेत्र में सम्मिलित न करेंगे, तो फिर उत्कृष्टता, आदर्शवादिता, सुख-शान्ति और प्रगति के लिए नितान्त आवश्यक सहयोग, सद्भाव, संयम, सदाचार का वातावरण ही न बन सकेगा। आज तो प्रत्यक्षवाद और बढ़े हुए वैभव से जो अनाचार बढ़ा है, उस पर अंकुश लगाने के लिए अध्यात्म तत्वज्ञान के पक्षधरों को अगले मोर्चे पर ही खड़ा होना चाहिए। उस दिशा में यदि वे उपेक्षा बरतें तो यही कहा जायगा कि उनकी गणना विलास-वैभव जैसी महत्वाकांक्षाओं से पीड़ित ओछे जनों से तनिक भी बढ़कर नहीं हो सकती। उन्हें ऋषिकल्प योगी, तपस्वियों के स्तर की मान्यता किसी भी प्रकार नहीं मिल सकती।

यह तथ्य अपने मार्गदर्शक ने उसी समय समझा दिये थे जबकि इस दिशा में बढ़ने का आदेश दिया था और उसकी शक्ति असाधारण होने का संकेत दिया था। सैद्धान्तिक तत्वज्ञान की दृष्टि से तो यह समझा जा सकता है कि आदर्शवादिता के अभिवर्धन में अध्यात्म सहायक है, पर उससे यह सिद्ध नहीं होता कि उसमें कोई असाधारण शक्ति भी है, जो बुराईयों से निपटने और अच्छाइयों को बढ़ाने के लिए असाधारण परिवर्तन लाने में समर्थ हो सके। यदि वह विशेषता सिद्ध न की जा सकी तो उससे धर्मनिष्ठा के अतिरिक्त और कोई बड़ा प्रयोजन साधने की आशा नहीं की जा सकती। विशेषतया तब जबकि इन दिनों बढ़ते हुए पतनोन्मुख प्रवाह को रोकने और उसे उतनी प्रचण्डता के साथ सृजन प्रयोजनों के लिए नियोजित करना नितान्त आवश्यक प्रतीत हो रहा है। वैयक्तिक प्रखरता उपलब्ध करने के लिए भी ऐसी ही शक्ति चाहिए। यह शक्ति इन दिनों पर्याप्त नहीं मानी जा सकती जो मात्र परलोक की, परोक्ष जगत की ही चर्चा करे और इस लोक को सुधारने, संभालने, उठाने और सुख-शान्ति मय बनाने में काम न आ सके। इन दिनों तो विशेषतया ऐसी ही भक्ति की आवश्यकता है जो शक्ति से भी परिपूर्ण हो।

अपने मन में भी असमंजस बना ही रहा कि भक्ति का सम्बन्ध मात्र भाव-संवेदनाओं तक ही सीमित तो नहीं है ? क्या उसकी पूर्णता शक्ति से संयुक्त होने में ही है ? जाँच-पड़ताल इसकी भी करनी चाहिए कि उसमें इतनी शक्ति है क्या ? जो भौतिक विज्ञान द्वारा प्रस्तुत की जाने वाली उपलब्धियों की तुलना कर सके और साथ ही अब तक की विकृतियों को उलट कर उसके स्थान पर उपयोगी वातावरण प्रस्तुत कर सके। उपासना क्षेत्र में कदम बढ़े, पर यह अदम्य अभिलाषा भी बनी रही जैसा कि कहा जाता है, वैसी शक्ति भी अध्यात्म में होनी ही चाहिए, अन्यथा पटरी से उतरे इंजन को उठाकर फिर से यथास्थान रख सकने जैसा प्रयोग बन कैसे पड़ेगा ?

मार्गदर्शक ने उत्सुकता के औचित्य को समझा, साथ ही अपने निजी उत्कर्ष को भी उसमें जोड़ा कि समय का प्रवाह बदल सकने वाली किसी ऐसी शक्ति का उद्भव होना चाहिए, जो महाक्रान्ति स्तर का युग बदलने जैसा महान परिवर्तन प्रस्तुत कर सके। सोचने वालों ने सोचा होगा कि किसी को तो आगे करना ही होगा। फिर जिसके पास जन्म-जन्मान्तरों की सुसंस्कारिता संचित है, उसे ही क्यों न पूर्ण विश्वासी बनाया जाय। उसी का उदाहरण प्रत्यक्ष उदाहरण प्रस्तुत करते हुए इस प्रत्यक्षवादी वातावरण की अनास्था को आस्था में बदलने की आवश्यकता को पूरा किया जाय। जिज्ञासु की उत्कण्ठा और शक्ति स्रोत की सहमति का समन्वय बन जाने से ऐसे कदम उठे और ऐसे प्रयोजन सिद्ध हुए, जिनके आधार पर भविष्य निर्माण की दिशा में कोई बड़ा प्रयोजन सधने की आशा किरणें उदय होने लगीं।

ऊपर कहा जा चुका है कि इन पंक्तियों के लेखक ने भक्ति में शक्ति का सम्मिश्रण होने के कई अनुभव किये और चमत्कार देखे। इसका सिलसिला तब से चला, जब विना किसी के सामने हाथ पसारे ऐसे प्रयोजन पूरे कर

गुजरने के लिए असाधारण स्तर का जनबल और धनबल अभीष्ट था।

भक्ति से जुड़ी शक्ति

१९५८ के सहस्रकुण्डीय महायज्ञ के सफल प्रयोग परीक्षण ने अपनी श्रद्धा-विश्वास असंख्य गुना बढ़ा दिया और बाद में निर्देशित हुए कामों का सिलसिला चल पड़ा, जिनका कि उल्लेख पहले भी हो चुका है। साहित्य सृजन, संगठन, केन्द्रों की खर्चीली व्यवस्था, अभावग्रस्तों की सहायता जैसे काम इस प्रकार चलते रहे, मानो वे सभी कार्य किसी दूसरे ने किये हों और अपने सिर पर श्रेय अनायास ही लद गया हो। यह वैयक्तिक सफलता का प्रसंग नहीं माना जाना चाहिए कि यह किसी के पुरुषार्थ का प्रतिफल सामने आया, वरन् यह समझा जाना चाहिए कि भक्ति के साथ शक्ति का भी अविच्छिन् सामंजस्य है। निर्देशक शक्ति अपने संकेतों पर चलने वाले समर्पित व्यक्ति के लिए वैसी ही व्यवस्था भी करती है, जैसी कि मोर्चे पर लड़ने जाने वाले सैनिक के लिए आवश्यक सुविधा सामग्री का प्रबंध सेनापति या रक्षा विभाग द्वारा किया जाता है।

वैयक्तिक प्रयास से बन पड़ने में जिन्हें संभव समझा जा सकता है, उन छिटपुट कामों को सम्पन्न करने के उपरान्त निर्देशक ने अपनी कठपुतली में इतनी क्षमता भर दी कि वह संकेतों के इशारे भर से मनमोहक नृत्य अभिनव कर सके। इतना बन पड़ने के उपरान्त वह भारी वजन लादा गया, जिसे सम्पन्न करने की कोई व्यक्ति विशेष कल्पना तक नहीं कर सकता, जिसे वह अदृश्य सत्ता ही कर सकती है, जिसने इतना बड़ा पसारा बनाकर खड़ा किया है और जो मनुष्य को एक सीमा तक नटखटपन बरतने तक की छूट देने के उपरान्त जब देखती है कि उद्दण्डता मर्यादा से बाहर जा रही है, तब उसके कान पकड़ कर सीधी राह अपनाने के लिए बाधित ही नहीं, प्रताड़ित भी कर सकती है। इसी को युग परिवर्तन की पृष्ठभूमि कहा जा सकता है। यही है इक्कीसवीं सदी-उज्ज्वल भविष्य की परिकल्पना, महाक्रान्ति की अभूतपूर्व परियोजना।

प्रस्तुत प्रयोजन के लिए जितना कुछ दृश्य रूप में मानवी प्रयत्नों के अन्तर्गत संभव था, उसे युग निर्माण योजना के अन्तर्गत पिछले कई वर्षों से किया जाता रहा है। उसमें जो सफलता मिली है, वह लगभग इसी स्तर की मानी जा सकती है जितनी कि मानवी पुरुषार्थ के अन्तर्गत आने की परिकल्पना की जा सकती है। मानवी पुरुषार्थ और साधनों के समन्वय से संसार के इतिहास में बहुत कुछ ऐसा बन पड़ा है, जिसे असाधारण भी कहा जा सकता है और आश्चर्यजनक भी। इसी आधार पर मिशन के दृश्य प्रयास जिस प्रकार बन पड़े हैं और उसके प्रतिफल जिस प्रकार के सामने आये उन्हीं में इन्हें भी एक गिना जा सकता है।

किन्तु जो काम बन पड़ा है, उसकी तुलना में हजार-लाख गुना और करने के लिए पड़ा है। वह अदृश्य जगत से संबंधित एवं सूक्ष्म स्तर का भी है। उसकी जड़ें चेतना क्षेत्र के सूक्ष्म जगत मे असाधारण गहराई में घुसी हुई हैं। प्रस्तुत विकृतियाँ भी अभूतपूर्व हैं जो बदलाव, परिष्कार प्रस्तुत किया जाना है वह भी ऐसा है जिसे अभूतपूर्व ही कहा जा सकता है।

भूतकाल में भी अनीतिका उन्मूलन और नीति का संस्थापन बराबर होता रहा है, पर यह परिवर्तन रहे क्षेत्र स्तर के ही है। भूतकाल में साधनों और वाहनों के अभाव में दुनियाँ इतनी निकट नहीं आई थी कि समस्त संसार को एक गाँव-कस्बे की तरह आंका जा सके और प्रगति और अवगति की समस्याएँ समस्त विश्व को थोड़े बहुत हेर फेर के साथ एक ही स्तर पर प्रभावित करे। इसलिए अपने समय का व्यापक परिवर्तन इतने स्तर का, इतना उलझा हुआ एवं इतना विस्तृत है कि उसे अब तक के सुधार-परिवर्तनों की तुलना में अद्भुत अनुपम एवं अभूतपूर्व ही कहा जा सकता है। इसके लिए प्रयत्न भी हलके-फुलके करने से काम नहीं चलेगा, वरन् वह इतने प्रबल, इतने प्रचण्ड इतने सशक्त और इतने व्यापक होने चाहिए जिन्हें असाधारण ही कहा जा सके।

विज्ञान के पक्षधरों ने दुनियाँ को अधिक सुखद बनाने के लिए परिकल्पनाएँ कम नहीं की हैं। उनने असाधारण ढाँचे खड़े करने और अद्भुत प्रयोग करने, साधन जुटाने के लिए कम माथा-पच्ची नहीं की, पर उन सबमें एक ही कमी रही है कि वे भौतिक परिप्रेक्ष्य में भौतिक उपचारों से ही सुधार लाने की बात पर विश्वास करते है। आकाश पर कब्जा कर लेने समुद्र क्षेत्र पर आधिपत्य जमा लेने, प्रकृति सम्पदाओं में से और भी अधिक छीन लेने, अनुपयुक्त को नष्ट करने वाले उपकरण ढूँढने, सम्पदा सम्वर्धन के नये स्रोत खोज निकालने जैसी योजनाएँ ही बन रही हैं, जिन्हें इक्कीसवीं सदी की समुन्नत योजनाएँ कहा जाता है। लोग कुछ स्तर तक विश्वास भी

करते है कि भौतिक विज्ञान अति समर्थ है । उसने अब तक एक से एक बढ़कर उपलब्धियाँ प्रस्तुत की हैं और अपने आविष्कारों से जादू लोक जैसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी हैं तो भविष्य के लिए उसकी जो योजनाएँ हैं, अवधारणाएँ हैं, वे क्यो पूर्ण न होगी ?

इस आशा की एक झलक झाँकी के उपरान्त तत्काल दूसरा पक्ष समझ में आता है कि उसने भौतिक उपलब्धियों से कुछेक समर्थों के लिए बढ चढ़कर सुविधा-साधन उपलब्ध करने के अतिरिक्त और कोई ऐसा आधार प्रस्तुत नहीं किया है, जिससे मानसिक क्षेत्र में घुसी हुई विकृतियों का निराकरण हो सके और मानवी व्यवहार मे सद्भावना का अभिवर्धन हो सके । ऐसी दशा में आगे भी विज्ञान के आधार पर जो और भी प्रगति होगी, वह वर्तमान प्रचलन को ही उत्तेजित करेगी । उसमें मानवी उत्कृष्टता का न तो कोई पक्ष जुड़ सका है और न ऐसा कुछ बन पड़ने की संभावना है, जिससे जन साधारण को मानवी गरिमा की मर्यादाओं में अनुबंधित किया जा सके । यदि ऐसा न बन पड़ा, तो सम्पन्नता और समर्थता के साथ-साथ अनीति भी बढ़ती ही जायगी और अन्ततः प्रस्तुत प्रगति योजनाएँ भयावह विपन्नता के अतिरिक्त और कुछ उपलब्ध न कर सकेंगी ।

समस्याएँ प्रत्यक्षवाद के साथ जुड़ी हुई अनैतिकता के कारण उत्पन्न हुई हैं । जड़ को काटे बिना विषवृक्ष की कुछेक पत्तियाँ तोड़ देने भर मे क्या कुछ बनने वाला है? एक नाम रूप वाली विपत्तियाँ दूसरे नाम रूप से सामने आयें, इसके अतिरिक्त वैज्ञानिक उपचारों से और कुछ हेर-फेर बन पड़ने वाला नही है ।

स्मरण पुरातन सतयुग का आता है, जब साधनो की आज की तुलना मे कहीं अधिक कमी थी, पर साथ ही सद्भावनाओं के समुन्नत रहने पर लोग उस स्थिति में भी इस प्रकार रह लेते थे, जिन्हें आज भी स्वर्गोपम होने का प्रतिपादन इतिहासकार करते हैं । उन परिस्थितियों का जन्म तपस्वियों द्वारा सूक्ष्म जगत का, चेतना-क्षेत्र का परिष्कार कर सकने पर ही संभव हुआ था । आज भी वही एक मात्र विकल्प है जिसे अपना कर मनुष्य की देवोपम सद्भावनाओ और सत्प्रवृत्तियों को उभारा जा सकता है और इसी अवरोध के कारण उत्पन्न हुई सभी विकृतियों का सभी समस्याओं का समाधान हो सकता है ।

सतयुग-ऋषियुग था । ऋषियों के पास तपोबल ही एकमात्र शस्त्र था । वृत्रासुर के अनाचार पर दधीचि ऋषि की अस्थियो से बना वज्र इतना प्रचंड प्रहार कर सका था कि उसे इंद्र वज्र का नाम दिया गया और उसने वृत्तासुर की व्यापक अवांछनीयता को निरस्त करके रख दिया । अपने समय में विश्वामित्र ने भी ऐसा तपयज्ञ सम्पन्न किया था, जिससे उस समय की व्यापक असुरता का निराकरण संभव हुआ और त्रेता में सतयुग की सुसंस्कारिता वापिस लौट आई । भगीरथ का तप ऐसे ही सत्परिणों का माध्यम बना था ।

अभी कुछ दिन पूर्व योगी अरविन्द, महर्षि रमण, रामकृष्ण परमहंस स्तर की आत्माओं ने प्रचण्ड अध्यात्म का मार्ग अपनाया और उसी कारण भारत को नया आश्वासन देने वाले दर्जनों महामानव एक साथ उत्पन्न हुए थे । बुद्ध की साधना को भी तत्कालीन वातावरण में भारी हेर फेर कर सकने वाली माना जा सकता है ।

विगत ५० वर्षों में इतने सहयोगी, अनुगामी उत्पन्न हुए हैं कि उनके ऊपर भौतिक स्तर पर महाक्रान्ति की जिम्मेदारी सौंपी जा सकती है और हमें उच्चस्तरीय तपश्चर्या के लिए अवसर मिल सकता है। सो मार्गदर्शक के अनुसार सन् ९० के वसन्त से अपने लिए एक मात्र कार्य सूक्ष्म जगत में भावनात्मक परिवर्तन लाने के लिए आज की परिस्थितियों के अनुरूप विशिष्ट स्तर की तप-साधना करने के लिए निर्देश मिला है । सो, उसी दिन से इस प्रयोग को तत्काल अपना लिया गया है । सैनिक अनुशासन पालने वाले के लिए और कोई ननुनच करने जैसा विकल्प है भी तो नहीं ।

आश्वासन एवं अनुरोध

सन् ९० की इसी वसन्त पंचमी से एकान्त स्तर की समूचे समय चलने वाली-समग्र अध्यात्म साधना के हमारे भावी कार्यक्रम की जानकारी प्राप्त करने के उपरान्त उन लोगों में कुछ हड़बड़ी उभरी दीख पड़ती है, जो युग निर्माण की अभिनव योजनाओ में अभी-अभी लगे हैं । इन्हें कठिनाई यह दीखती है कि समर्थ सेना नायक का सीधा सम्पर्क रहने पर जो प्रयास सफलतापूर्वक चल रहे थे, वे आगे किस प्रकार चल पायेंगे ? साधन कैसे जुटेंगे? प्रोत्साहन और सहयोग कहाँ से मिलेगा ? ऐसे सभी लोगों तक संदेश पहुँचा दिया गया है कि सूक्ष्म स्तर की गतिविधियाँ अपना लेने पर भी हम अपने प्रत्यक्ष उत्तरदायित्वो को निभा सकने में भी समर्थ रहेंगे । वह कार्य स्थूल शरीर द्वारा अपनायी जाने वाली प्रत्यक्ष गतिविधियों जैसा भले ही

न हो पर सूक्ष्म चेतना मे इतनी क्षमता मानी ही जानी चाहिए कि वह मात्र सूक्ष्म जगत तक ही सीमावद्ध नहीं रह जाती प्रत्यक्ष जगत को प्रभावित करने में भी उसकी सशक्त भूमिका निभती रह सकती है ।

शान्तिकुन्ज हमारे प्रत्यक्ष शरीर के रूप में विद्यमान है तो फिर उससे सम्बन्धित लोगों को आवश्यक प्रेरणाएँ और प्रकाश किरणें भी मिलती रहेंगी, जिनकी ऊर्जा और आभा से संसार भर के महत्वपूर्ण प्रयोजन गतिशील बने रहेंगे। अगले दिनों संभवत: किसी को हमारी अनुपस्थिति अखरेगी नहीं, वरन् वह दृश्य दृष्टिगोचर होगा, जिसमें एक बीज वृक्ष बनकर नये हजारो-लाखों बीज उत्पन्न करता है। प्रत्यक्ष भूमिका निभाने की कमी को कोई यह न माने कि मृत्यु हो गई । दिव्य तत्व कभी मरते नहीं । शरीर बदल लेने पर आत्म सत्ता का आस्तित्व नहीं बदल जाता। यदि वह सशक्त हो, तो स्थूल शरीर का भार एवं बंधन हट जाने से वह और भी अधिक गतिशीलता का परिचय देने लगता है। यही कारण है कि भारतीय परम्परा में मात्र जन्मदिवस मनाये जाते है । मृत्यु दिवस की तो आश्विन पितृपक्ष में ही एक हलकी-फुलकी चर्चा होती है ।

स्वामी रामतीर्थ ने मरने के कुछ ही समय पूर्व "मौत के नाम खत" नाम से एक दस्तावेज लिखा है। वह है तो लम्बा और मार्मिक; पर उसका सारांश इतना ही है कि "शरीर का भार लदा रहने से मैं वह कर नहीं पा रहा हूँ जो कर सकता था। इसलिए इस वजन के अपने ऊपर से हटते ही हवा के साथ, चाँदनी के साथ, किरणों के साथ, वसन्त वर्षा के साथ मिलकर बहुत उपयोगी बन सकूँगा और अधिक प्रसन्नता भरे उल्लास का रसास्वादन कर सकूँगा ।"

अस्सी वर्ष जी लेने के उपरान्त और अधिक जीने की इच्छा तो तनिक भी नहीं है; पर अपनी मर्जी से तो न जीना हो सका और न मरना हो सकता है। नियन्ता की मर्जी ही प्रमुख है । इतने पर भी यह निश्चित है कि शरीर के बिना भी बहुत कुछ करते बन पड़ेगा। इसका पूर्वाभ्यास इन दिनों चल रहा है । एकान्त सेवन के साथ जुड़ी हुई निष्क्रियता दीख पड़ने पर भी यह जाँचा जा रहा है कि स्फूर्तिवान शरीर से लदे रहने पर जितना कुछ करते बन पड़ा करता था, अब उसमें कुछ कमी तो नहीं आ गई है। निष्कर्ष यही निकल रहा है कि इस स्थिति में सीमित को असीम बनाने में समर्थता का अधिक बढ़-चढ़ कर परिचय देने में सहायता ही मिल रही है। इस आधार पर विश्वास परिपक्व हो गया है कि जीवित रहने की अपेक्षा शरीर न रहने पर समर्थता एवं सक्रियता और भी अधिक बढ़ जाती है। इसी मान्यता के आधार पर प्रज्ञा परिजनों से विशेष रूप से कहा जा रहा है कि आँखों से न दीख पड़ने पर तनिक भी उदास न हों और निरन्तर यह अनुभव करें कि हम उन्हें अधिक प्यार, अधिक उत्कर्ष और अधिक समर्थ सहयोग दे सकने की स्थिति में तब भी होंगे, जब यह पंच भौतिक ढकोसला मिट्टी में मिल जायेगा। जो पुकारेगा, जो खोजेगा उसे हम सामने ही खड़े और समर्थ सहयोग करते दीख पड़ेंगे ।

अदृश्य अध्यात्म की सामर्थ्य दृश्यमान विज्ञान की तुलना में कम तो नहीं है, इस असमंजस को इतने दिनों जीकर, अभीष्ट प्रयोग की दिशा में निरत रहकर यह भली-भाँति जान लिया है कि आत्मबल संसार के समस्त बलों की तुलना मे अधिक सामर्थ्यवान है। विज्ञान की पहुँच मात्र जड़ पदार्थों तक है, जबकि अध्यात्म जड़ ही नहीं, चेतना को भी प्रभावित, परिष्कृत करने में समर्थ है । उसका अमृत, पारस, कल्पवृक्ष, कामधेनु आदि के नामों से अलंकारिक संबोधन किया जाता है । वह कथानक प्रकारान्तर से सचाई के साथ जुड़ा हुआ है ।

हमारी भविष्यवाणी

अब बात भविष्य की आती है, जिसमें प्रचलित दुष्प्रवृत्तियों का उन्मूलन, अभावों का निराकरण, सदाशयता का अभिवर्धन प्रमुख है । यह कार्य विज्ञान तो कदाचित् कितने ही प्रयत्न कर लेने पर भी समय की माँग को पूरा न कर सकेगा; पर यह विश्वास किया जा सकता है कि चिन्तन, चरित्र और व्यवहार में उत्कृष्टता का असाधारण मात्रा में अभिवर्धन होगा, तो वे सभी समस्याएँ अनायास ही सुलझती चलेंगी, जिन्हें इन दिनों सर्वनाशी और खण्ड प्रलय जैसी विभीषिकाएँ माना जा रहा है ।

चेतना में ऐसी शक्ति उभरने पर मनुष्य की भावना और क्रिया-प्रक्रिया में ऐसा आश्चर्यजनक परिवर्तन होगा कि दुरुपयोग में लगी हुई क्षमताएँ सदुपयोग की ओर मुड़ चलेंगी और ऐसे सत्परिणाम उत्पन्न करेंगी, जिन्हें सतयुग की वापसी का नाम दिया जा सके।

विज्ञान आगे भी अनर्थ पैदा करता रह सकेगा, ऐसी आशंकाएँ किसी को भी नहीं करनी चाहिए; क्योंकि खनिज तेल, विद्युत उत्पादन जैसे स्रोत ही सूख जायेंगे, तब विज्ञान जीवित कैसे रह सकेगा ? लोगो को लौटकर फिर

प्राकृतिक जीवन अपनाना पड़ेगा, जिसमें विकृतियों के अभिवर्धन की कोई गुंजायश ही नहीं है ।

विज्ञान जीवित रहेगा, पर उसका नाम भौतिक विज्ञान न होकर अध्यात्म विज्ञान ही हो जायेगा । उस आधार को अपनाते ही वे सभी समस्याएँ सुलझ जायेंगी, जो इन दिनों अत्यन्त भयावह दीख पड़ती हैं। उन आवश्यकताओं को प्रकृति ही पूरा करने लगेगी, जिनके अभाव में मनुष्य अतिशय उद्विग्न, आशंकित, आतंकित दीख पड़ता है । न अगली शताब्दी में युद्ध होंगे, न महामारियाँ फैलेंगी और न जनसंख्या की अभिवृद्धि से वस्तुओं में कमी पड़ने के कारण चिन्तित होने की आवश्यकता पड़ेगी । जागृत नारी अनावश्यक संतानोत्पादन से स्वयं इन्कार कर देगी और अपनी बर्बाद होने वाली शक्ति को उन प्रयोजनों के लिए नियोजित करेगी, जो समृद्धि और सद्भावना के अभिवर्धन के लिए नितान्त आवश्यक है । नारी प्रधान इक्कीसवीं शताब्दी का वातावरण ऐसा होगा, जिसे सरस्वती, लक्ष्मी और दुर्गा की संयुक्त शक्ति द्वारा अपनाया गया क्रिया-कलाप कहा जा सके । शिक्षा मात्र उदरपूर्णा न रहेगी, वरन् उसका अभिनव स्वरूप व्यक्तियों को प्रामाणिक, प्रखर एवं प्रतिभा सम्पन्न बनाने की अपनी जिम्मेदारी पूरी करेगा ।

यह सब कैसे होगा, इसकी प्रत्यक्षदर्शी योजनाओं का स्वरूप पूछने या जानने की जरूरत नहीं है । अदृश्य जगत में संव्याप्त दैवी चेतना का अनुपात वर्तमान परिस्थिति की प्राणचेतना के आधार पर असाधारण रूप में उभरेगा और ऐसे परिवर्तन अनायास ही करता चला जायगा, जिसे वसंत का अभिनव अभियान कहा जा सके या उज्ज्वल भविष्य को साथ लेकर आने वाले "सतयुग की वापसी" कहा जा सके । इक्कीसवीं सदी का उज्ज्वल भविष्य इन्हीं आधारों को साथ लेकर अवतरित होगा । इसी की पृष्ठभूमि इन दिनों बन रही है ।

प्रगति के त्रिविध अवलम्बन

यह सुनिश्चित तथ्य है कि मनःस्थिति ही परिस्थितियों की जन्मदात्री है । मान्यताएँ और भावनाएँ ही व्यक्तित्व का गठन करती हैं । विचार बीज और कार्य उसके द्वारा उत्पादित पौधे हैं । व्यक्ति का नीतिवान, समाजनिष्ठ, कर्तव्यपरायण, धर्मात्मा एवं परमार्थी बन सकना तभी संभव है, जब उसके अन्तःकरण में उत्कृष्ट आदर्शवादिता ने गहरी जड़ें जमा ली हों । भ्रष्ट-चिन्तन तो दुष्ट-आचरणों को ही जन्म देगा और उस विषवृद्धि के समर्थ होने पर परिस्थितियाँ अनर्थकारी स्तर की ही बन कर रहेगी ।

इन दिनों विज्ञान और बुद्धिवाद की अभिवृद्धि ने सुविधा-साधनों के अम्बार खड़े कर दिये हैं । पूर्वजों की तुलना में भौतिक दृष्टि से हम कहीं सुविधा-सम्पन्न हैं । सम्पदा की उपलब्धि को यदि प्रगति कहा जाय, तो मानना पड़ेगा कि पूर्वजों की तुलना में हम कहीं आगे हैं; पर वस्तुतः ऐसा है नहीं जनसाधारण का शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य बुरी तरह गड़बड़ा रहा है । दुर्बलता और रुग्णता दिन-दिन तूफानी गति से बढ़ती जा रही है । अस्पताल, डॉक्टर और औषधि आविष्कारों ने हमें स्वस्थ और समर्थ बनाने में कोई सहायता नहीं की है, कारण कि आहार-विहार में बढ़ा हुआ असंयम, स्वस्थ जीवन के मूलभूत आधार को ही नष्ट किये दे रहा है । पैसा बढ़ा है; पर उसके साथ ही दुर्व्यसनों और प्रदर्शनों के निमित्त होने वाले अपव्यय की इतनी वृद्धि हुई है कि हर कोई अपने को अभावग्रस्त अनुभव करता है । कामचोरी, हरामखोरी को प्रश्रय मिलते रहने पर किसी भी क्षेत्र में वास्तविक एवं अभीष्ट प्रगति हो नहीं सकती । गुण, कर्म, स्वभाव में घुसे हुए दुर्गुण आये दिन ऐसे संकट खड़े करते रहेंगे, जिनका समाधान करने में भौतिक उपचार एवं अनुदान कुछ काम न आ सके । बढ़ते हुए अविश्वास, असहयोग, अनाचार के पीछे चरित्र-भ्रष्टता ही मूल कारण है । क्रोध से क्रोध अनाचर से अनाचार बढ़ता है । यह विपन्नता आज संसार के समूचे जलाशय पर जलकुम्भी-काई की तरह छायी दीखती है और जलाशय से मिलने वाले लाभों का अन्त हो रहा है । पथभ्रष्ट को किस प्रकार कँटीली झाड़ियों से संत्रस्त होना पड़ता है, इसे हममें से प्रत्येक को सर्वत्र घटित होते देखा जा सकता है ।

प्रदूषण, विकिरण, पर्यावरण, अपराध, छल आदि के जो संकट व्यापक रूप से घहरा रहे हैं, उनकी परिणति की कल्पना और चिन्ताजनक है । बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए आवश्यक साधन जुटा सकना कठिन प्रतीत होता है। अवांछनीयता और वातावरण में संव्याप्त विपन्नता कैसे पनपी ? इसका उत्तर वस्तुओं की कमी होने की बात कहने से नहीं मिल सकता । मानना यही पड़ेगा कि विचार क्षेत्र में बढ़ती हुई उद्दण्डता का, आपाधापी का प्रदूषण ही उन समस्याओं के लिए उत्तरदायी है, जो अप्रसन्नता और अव्यवस्था का निमित्त कारण बनी हुई है ।

संक्षेप में यही निष्कर्ष निकलता है कि नीतिनिष्ठा और समाजनिष्ठा के आदर्शों की अवहेलना करने पर ही

समूचा मनुष्य समुदाय उस विपत्ति में फँसा है, जिससे निकलना और उबरना असंभव नहीं, तो कम से कम सहज तो प्रतीत नहीं होता है। आशा की किरण एक ही है- लोकमानस का परिष्कार, आदर्शों का परिपालन, विचारों का परिशोधन, चरित्र और प्रयासों में आदर्शों का सम्पुट लगाया जाना। उनके बिना प्रस्तुत असंख्यों समस्याओं में से एक का भी सीधा समाधान मिलना नहीं है।

उक्त महान प्रयोजन की पूर्ति अध्यात्म तत्वज्ञान से होती है। भावनाओं और मान्यताओं का उदात्तीकरण इसी आधार पर संभव है। प्रस्तुत विश्व-समस्याओं का निराकरण भी यही है। व्यक्तियों को भ्रान्तियों एवं अवांछनीयताओं से मुक्त करके ही उन्हें मौज से रहनेऔर रहने देने की स्थिति में लाया जा सकता है। हँसतो-हँसाती जिन्दगी, मिल-बाँटकर खाने की प्रवृत्ति, झपटने-हड़पने की अपेक्षा सेवा-सहायता में रुचि लेने की रीति-नीति ही मनुष्य को सच्चे अर्थों में मनुष्य बना सकती है और उन सारी विपत्तियों से एक बारगी छुटकारा दिला सकती है, जिनके कारण कि महाविनाश की आशंका पनप रही है।

उपरोक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए, प्रचलित भाषा में जिसे "विचार क्रान्ति" कहा जाता है और पुरातन सोच के अनुसार जन-मानस का परिष्कार कहा जा सकता है; इस मर्यादा को अन्त:करण की गहराई तक पहुँचाने में मात्र अध्यात्म तत्वदर्शन ही समर्थ हो सकता है। इस प्रकार समर्थ एवं प्रखर अध्यात्म से ही यह आशा की जा सकती है कि व्यक्ति और समाज के सामने प्रस्तुत असंख्यों विपन्नताओं-विभीषिकाओं का समाधान हो सकेगा।

इसके अतिरिक्त वह शक्ति भी जीवन्त अध्यात्म मे ही है, जो सर्वतोमुखी समर्थता और प्रगतिशीलता से जनसाधारण को लाभान्वित कर सके। अध्यात्म की चर्चा सिद्धियों के संबंध मे भी होती रहती है और कहा जाता है कि सतयुग की वापसी जैसा सुखद वातावरण यदि उससे विनिर्मित करना हो, तो मनुष्य को समझना और समझाना पड़ेगा कि जिस प्रकार शरीर बल, धन-बल, बुद्धि बल, कौशल बल आदि के सम्पादन का प्रयत्न किया जाता रहा है, उससे बढ़ कर आत्म बल का उपार्जन-अभिवर्धन होना चाहिए। उज्ज्वल भविष्य की संरचना इसी आधार पर हो सकेगी। इक्कीसवीं सदी मे जिन सुखद भवितव्यताओं की अपेक्षा की जा रही है, उसके लिए दैवी शक्ति के रूप में अध्यात्म का सर्वतोमुखी संवर्धन होना चाहिए। आज की सबसे बड़ी आवश्यकता एवं दूरदर्शिता यही है।

कठिनाई यह है कि परिस्थितियों को देखते हुए अध्यात्म के संबंध में इसकी प्रामाणिकता संदिग्ध हो चली है। भौतिक विज्ञान और प्रच्छन्न अध्यात्म ने मिल-जुलकर ऐसा वातावरण बनाया है, जिससे श्रद्धा डगमगाती है और आत्म-साधना का कोई जल्दबाजी भरा परिणाम न आने से उस ओर सर्वसाधारण की प्रवृत्ति को मोड़ना अतिशय कठिन हो रहा है।

वास्तविकता और अवास्तविकता के बीच बने रहस्य उद्घाटित करने के लिए दैवी-नियोजन ने सर्वसाधारण के सामने एक सुयोग प्रस्तुत किया है। शान्तिकुञ्ज की भूतकालीन गतिविधियों में यदि कुछ आनंददायक और उत्साहवर्धक है, तो उसका श्रेय आत्म-शक्ति को ही जाता है। भले ही प्रयोक्ता कोई भी व्यक्ति क्यों न रहा हो। भूतकाल में सभी का उल्लेख हो चुका। इन दिनों तैयारी चल रही है, उसे भी इसी स्तर का समझा जा सकता है कि कोई सर्वशक्तिमान नियोजन कार्यान्वित होने जा रहा है। उसे भी इस भाषा में कहा जा सकता है, मानों कोई सत्ता असंभव को संभव करने जा रही हो।

युग परिवर्तन के भूतकालीन, आज के और भावी प्रयत्नों को जोड़कर देखा जाय, तो इसे "आत्म शक्ति से समाज संरचना" के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इतने पर भी पूर्व असमंजस जहाँ का तहाँ अड़ा रह जाता है कि बात यदि ऐसी है, तो इतने बड़े समुदाय द्वारा अपनायी जा रही प्रक्रिया अपने द्वारा किसी महत्त्वपूर्ण संरचना का परिचय क्यों नहीं दे रही है?

यह साधारण असमंजस नहीं है। इसके निराकरण के ऐसे समाधानकारक प्रमाण चाहिए, जो अविश्वास को विश्वास में बदल सकें। साथ ही यह रहस्योद्घाटन भी कर सकें कि सशक्त और सही अध्यात्म का स्वरूप क्या हो सकता है, जो अपनी प्रखरता का परिचय दे सके; और साथ ही इस तथ्य से भी सर्वसाधारण को अवगत कराया जाना चाहिए कि वे अभाव क्या है, जिनकी उपेक्षा के कारण पूजा-पत्री और कथा-वार्ता मात्र विडम्बना बनकर रह गयीं। दिग्भ्रान्त लोगों को इसी कारण से ऐसी असफलताएँ हस्तगत हुईं, जो न केवल उसको असमर्थ और उपहासास्पद बनाती रहीं, वरन् लोक श्रद्धा भी डगमगाती रही, विचारशीलों को उस उत्साह से वंचित भी करती रही, जिससे कि वे सही दिशाधारा अपना कर अपने को और अपने समूचे समूह को कृत-कृत्य बनाते।

इन समस्त समाधानो के लिए शान्तिकुञ्ज के संचालक द्वारा निजी जीवन में अपनाये गये उन तथ्यों पर प्रकाश डालना पड़ रहा है, जिसमें वे भूतकाल को साक्षी रूप में प्रस्तुत करतेहुए, वर्तमान क्रिया-कलापों के औचित्य पर विश्वास करने की मनःस्थिति पैदा कर सकते हैं। साथ ही भावी योजना के लिए जितनी जनशक्ति और साधनशक्ति की अपेक्षा होगी, उसे सफल-सम्पन्न कर सकते हैं। इससे शक्ति-संचय हेतु किये गये पुरुषार्थ और तदनुरूप दैवी अनुकम्पा के सहयोग की सम्भावना का रहस्य आसानी से समझा जा सकता है।

प्रस्तोता ने पूजा-अर्चा की उपेक्षा की हो, सो बात नहीं। इस दिशा मे सघन विश्वासी जो कर सकता है, वह भी उनने दुस्साहस स्तर पर पूरा किया है। पर साधना को ही उन प्रयोगों में भी अपनाया है, जिन्हें अध्यात्म का प्राण कहा जा सकता है।

कपड़े को धोने के बाद ही उस पर रंग चढ़ता है। लोहा तो भट्टी मे गलने के उपरान्त ही उसमे अभीष्ट स्तर के उपकरण ढलने योग्य बन पाता है। पात्रता के अनुरूप ही अनुदान मिलते हैं। इन उदाहरणो की चर्चा इस संदर्भ में की जा रही है कि अध्यात्मवादी को निजी व्यक्तित्व के परिष्कार को प्राथमिकता देनी चाहिए और उसकी शोभा-सज्जा के लिए जप-तप को प्रश्रय देना चाहिए। यही है प्रयोक्ता का अनुभव और प्रतिदान, जो साक्षी रूप में इस लिए प्रस्तुत किया जा रहा है कि जिसने इस दिशा में चलने का साहस जुटा लिया है, उसे यह भी जानना चाहिए कि समग्र साधना-सम्पादन के लिए किन तथ्यों को अविस्मरणीय मानते हुए अपनाने की तैयारी करनी चाहिए।

इन पंक्तियों के लेखक ने अध्यात्म विज्ञान के रहस्यों की प्रेरणा, अनुसंधान, अनुभव के आधार पर यह जाना और माना है कि आत्म विज्ञान की त्रिवेणी संगम की तरह तीन दिशा धाराएँ हैं :- (१) उपासना (२) साधना (३) आराधना। तीनों के समन्वय से ही एक पूरी बात बनती है।

मनुष्य अन्न, पानी और हवा के आधार पर जीता है। तीन लोक प्रसिद्ध हैं। तीन देवता प्रमुख कहे गये हैं। भूत, वर्तमान और भविष्य समय के तीन काल माने जाते हैं। जीव, ईश्वर और प्रकृति के समन्वय से संसार चल रहा है। इसी प्रकार यह भी माना जाना चाहिए कि (१) उपासना (२) साधना (३) आराधना का समन्वय ही आत्मशक्ति के उपार्जन को सुनिश्चित करता है। इन्हें समान रूप से अपनाया जा सके, तो कोई कारण नहीं कि जिन चमत्कारी ऋद्धि-सिद्धियों को अध्यात्म की परिणति माना जाता है, वे अक्षरशः सही सिद्ध न हों। तीनों की संक्षिप्त विवेचना यहाँ प्रस्तुत है।

(१) उपासना-निकट बैठना। ईश्वर को सर्वतोभावेन आत्म-समर्पण करना। उसके निर्देश और अनुशासन को इस सघनता के साथ अपनाना, मानों आग और ईंधन, नाला और नदी एक हो गये हों। एक ने अपनी इच्छा और सत्ता समाप्त कर दी हो और दूसरे में अपने को लय करने में कोई कमी न रखी हो। पूजा-पाठ इसी मनःस्थिति को विनिर्मित करने का एक माध्यम है। अपनाया उसे भी जाय, किन्तु सद्‌भावनाओं, सत्प्रवृत्तियों का समन्वय ही; विराट् ब्रह्म, विशाल विश्व अर्थात् ईश्वर ने उसका कोई नाम रूप नहीं। यह व्यापक सत्ता निराकार ही हो सकती है। फिर भी कोई उसकी इच्छित कल्पना एवं स्थापना अपने मन से कर सकता है। प्रस्तोता उसका नाम गायत्री मंत्र के शब्दों में और सविता-उदीयमान स्वर्णिम सूर्य के रूप में अपनाता रहा है। दूसरे अपनी इच्छानुसार और अन्य नामों-रूपों में भी मान्यता यह सन्निहित कर सकते हैं।

साम्प्रदायिक प्रचलनों, रीति-रिवाजों को भी ईश्वर की वाणी कहते रहे है। यह समयानुसार परिवर्तनशील है। इसलिए इन्हें भी सामयिक उपयोगिता की कसौटी पर कसते हुए मान्यताओं के रूप में स्थिर किया जा सकता है।

२. ईश्वर प्राप्ति की पात्रता अर्जित करने का दूसरा अवलम्बन है- **'साधना'**। अर्थात् जीवन साधना। सधा हुआ संयमी जीवन। मानवी गरिमा के अनुरूप क्रियाओं, मर्यादाओं का अवलम्बन और वर्जनाओं का निरस्तीकरण, सभ्यता एवं सुसंस्कारिता की अवधारणा। उत्कृष्ट आदर्शवादिता के अनुशासनों का अवधारण। संचित कुसंस्कारों का गुण, कर्म, स्वभाव से निष्कासना देवमानव स्तर के गुण, कर्म, स्वभाव का अवलम्बन, अभिवर्धन। सरकस के जानवरों जैसा आत्मशिक्षण, सुरम्य उद्यान स्तर का सुनियोजित जीवनयापन। संस्कारों को पवित्र बनाने वाली यही साधना है। तपश्चर्या को, संयम साधना से तुलना इसी कारण की जाती है।

३. आराधना अर्थात् उदारता। देने में प्रसन्नता। लेने में संकोच। सादा-जीवन, उच्च-विचार। न्यूनतम में निर्वाह। बचत का सर्वतोमुखी सुसंस्कारिता के लिए नियोजन। गिरों को उठाने और उठों को उछालने मे

अभिरुचि। इसी को पुण्य-परमार्थ कहा जाता है। दान की परम्परा यही है। वसुधैव कुटुम्बकम् और आत्मवत् सर्वभूतेषु के दोनों सिद्धान्त इसी आधार पर विनिर्मित हैं। धर्म-धारणा और सेवा-साधना का निर्वाह भी आराधना के अन्तर्गत आता है। दैवत्व की प्रवृत्ति एवं रीति-नीति भी यही है।

अध्यात्म तत्वज्ञान, उपासना, साधना, आराधना के समन्वय पर अवलम्बित है। इन तीनों को जीवनचर्या की हर क्रिया-प्रक्रिया के साथ जोड़ना पड़ता है और ध्यान रखना पड़ता है कि इसके विपरीत तो कुछ नहीं बन पड़ रहा है?

आराधना का एक पक्ष है- शुभ का संवर्धन और दूसरा है- अशुभ का उन्मूलन। इन्हें सहयोग और संघर्ष के नाम से जाना जाता है।

बोने और काटने का सिद्धान्त आराधना- विज्ञान के अन्तर्गत ही आता है। न्याय-निष्ठा एवं औचित्य का नीर-क्षीर विवेक भी आराधना का ही एक भाग है।

पात्रता अर्जित करने के लिए उपासना, साधना और आराधना के त्रिविध प्रयत्न करते रहने की आवश्यकता होती है। इसी आधार पर आत्मिक स्वस्थता बन पड़ती है। पूजन, अर्चन, उपहार आदि क्रिया-कृत्यों को भी आत्म-साधना का अंग माना जाता है; पर वह ऐसा ही है, जैसा कि स्वस्थ शरीर पर धुले वस्त्र और शृंगार-साधनों की सुसज्जा। आवश्यकता उसकी भी है, पर उसे महत्त्व इतना ही देना चाहिए, जितना कि अपेक्षित है। पूजा-कृत्यों को यदि काय-कलेवर और आत्म-साधना को यदि प्राण-कलेवर समझा जाय, तो भी ठीक है। दोनों के बीच अविच्छिन्न संबंध है। पूर्णता तक पहुँचने के लिए जीवन-शोधन ही वह तत्त्व है, जिसे भक्ति-भावना की जड़ो के सहारे और आगे बढ़ाया जाता है।

इन पंक्तियों के लेखक द्वारा भूत-काल में जो सफलताएँ पायी गई हैं, वर्तमान में जो योजनाएँ बनाई गयी हैं और भविष्य के लिए जो तैयारियाँ की गयी हैं; उनकी सफलताओं का रहस्य इस एक ही केन्द्र पर केन्द्रित समझा जा सकता है कि उसने आत्म परिष्कार के उपरोक्त तीनों आधारों को समग्र निष्ठा के साथ अपनाया है। इस संदर्भ में अन्य सफलता प्राप्ति के इच्छुकों को भी इसी समग्रता का अनुकरण करना चाहिए।

समय-सम्पदा का श्रेष्ठतम सदुपयोग

लेने और देने दोनों का ही अपने-अपने स्थान पर अपना-अपना महत्त्व है। इस सुविस्तृत प्रसंग पर गंभीरतापूर्वक विचार करते हुए "दान" के सम्बन्ध में भी वैसा ही विचार करना पड़ता है। दान देते समय प्रसन्नता एवं गर्व-गौरव की अनुभूति होती है। लेने वाले से कृतज्ञ, सहयोगी, प्रशंसक बनने की अपेक्षा रहती है। देखने-सुनने वाले उदार व्यक्तित्व की झाँकी करते और समय-समय पर प्रशंसा भरी चर्चा करते हैं, उसे विश्वस्त मानते और परोक्ष रूप से सहायक बनते हैं। इसके अतिरिक्त पापों के प्रतिफल से छुटकारा, पुण्यों की अभिवृद्धि, स्वर्ग और मुक्ति के प्रति-अमुक देवता की अनुकम्पा जैसी कितनी ही उपलब्धियों की आशा की जाती है, जो खर्ची हुई राशि की तुलना में कहीं अधिक लाभ मिलने का आश्वासन दिलाती है।

कुपात्रों को दान देने से उनके दुर्व्यसन भड़कते हैं। मुफ्त में पाने वाले अपव्यय के अतिरिक्त अनेक बार अपने आलस्य-प्रमाद को बढ़ाते, मुफ्तखोरी के कुचक्र में आत्महीनता से लदते और गिड़गिड़ाते हुए सिर नीचा करते हैं। दान का उपयोग अनर्थ के लिए भी होता है। देवता के नाम पर पशु-पक्षियों का वध-बलिदान किया जाता है। कुकर्मी उसे पाकर दुष्टता के पक्षधर प्रयासों पर उतरते हैं। ऐसी स्थिति को ध्यान में रखते हुए शास्त्रकारों ने कुपात्रों को अविवेकपूर्वक दिये गये दान की निन्दा भी की है। गाँधी जी ने गरीबों की आर्थिक सहायता का उपयुक्त तरीका यही बताया था कि उनकी बनी खादी जैसी वस्तुएँ खरीदकर उनकी परोक्ष सहायता की जाय।

संकटग्रस्तों, अभावग्रस्तों की सहायता करने में धन का सदुपयोग ही है। सुविधा-संवर्धन के लिए कई लोग धर्मशालाओं, सदावर्त आदि का ऐसा भी विनियोग करते हैं, जिनका लाभ सत्पात्रों को कम और कुपात्रों को अधिक मिलता है। मुफ्त औषधि वितरण की व्यवस्था को सराहा तो जाता है, तीर्थयात्रा पर-प्रीतिभोजो पर किये जाने वाले खर्च भी वास्तविक हित-साधन कितना कर पाते है- इसके लिए उपयोग की प्रक्रिया पर भी ध्यान देना होगा। लाखों-करोड़ों की जनसंख्या में भिखारियों की संख्या बढ़ाने वालों ने पाने वालों से स्वावलम्बन और आत्मगौरव छीना है। ऐसा कुप्रचलन बढ़ाया है, जिसने आदर्शनिष्ठा को, मानवी गरिमा को गिराने में ही सहायता की है। भिक्षा भी

एक व्यवसाय गिना जाने लगने से देश का गौरव बढ़ा नहीं, वरन् गिरा ही है। इसलिए विचारशील वर्ग में उसे अनुचित ठहराया गया और हेय कहा गया है।

देवालय और तीर्थ कभी लोक शिक्षण की अतिमहत्त्वपूर्ण आवश्यकता की पूर्ति करते रहे होंगे। कोई समय ऐसा भी रहा होगा, जब लोकमंगल के लिए समर्पित पुरोहित वर्ग आकाशवृत्ति पर अपरिग्रही रीति-नीति अपनाये रहा होगा। तब उन्हें दान-दक्षिणा देने की भी उपयोगिता थी, पर जब वह अधिकार वंश और वेश के आधार पर उनके हिस्से में चला गया, तो उनकी परिणति क्या हुई ? इसकी विवेचना करते किस प्रकार बन पड़े ?

यहाँ मात्र इतना कहा जा रहा है कि कुपात्रों को ही यदि धनदान दिया जाना हो, तो मुट्ठी खोलने से पहले हजार बार यह भी विचार कर लेना चाहिए कि इसकी परिणति क्या हुई, या क्या हो सकती है ? गिरों को उठाने और उठो को उछालने जैसी सत्प्रवृत्तियों के संवर्धन में सहायक होने वाले दान सदा से सराहनीय एवं श्रेयस्कर रहे हैं। उस पुनीत परम्परा को तो अभी भविष्य में भी जीवन्त बनाये रहने की, रखे जाने की आवश्यकता है।

यहाँ इन पंक्तियों में एक नया सोच प्रस्तुत किया जा रहा है कि मानवता को लगे घावों को भरने के लिए जिस दान-पुण्य की पारमार्थिक आवश्यकता है, उसके लिए उपयुक्त माध्यम जनमानस का परिष्कार होना चाहिए। यह बन पड़े तो समझना चाहिए कि इस क्षेत्र की उर्वर-भूमि में बोया गया प्रत्येक बीज, ऐसे प्रतिफलों से लदा रहेगा, जिसमें प्रस्तुत संकटों को टालने से लेकर भविष्य में हर क्षेत्र को समृद्धिमय बनाने की क्षमता होगी। विचार परिमार्जन से लेकर सत्प्रवृत्ति-संवर्धन तक की परिधि में आने वाले पुनीत कार्य ही ऐसे हैं, जिनके लिए स्वयं आधे पेट रह कर भी भाव-भरे अनुदान प्रस्तुत करने की उदारता दिखाई जानी चाहिए। व्यक्ति और समाज का सर्वतोमुखी कल्याण उन्हीं भाव-संवेदनाओं के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ है।

भगवान ने मनुष्य को सृष्टि का सर्वोत्तम प्राणी बनाया है। और साथ ही शारीरिक, मानसिक क्षमताओ का अजस्र भण्डार भी विपुल मात्रा मे दिया है। इसे अन्य प्राणियों के साथ किया गया अन्याय या मनुष्य के साथ बरता गया भाई-भतीजावाद स्तर का पक्षपात नहीं समझा जाना चाहिए। यह सामन्तों से उनकी संतान को उत्तराधिकार में मिलने वाला मुफ्त का कोष या भण्डार नहीं है, जिसे कुकर्मों और दुर्व्यसनों में भी मनमाने ढंग से खर्च कर डालने की छूट मिली हो। अन्य प्राणियों की तुलना में मनुष्य को, जो कुछ भी अतिरिक्त रूप से मिला है, वह एक विशुद्ध धरोहर है। उसे ऐसी अमानत समझा जाना चाहिए, जिसे मात्र विश्व-वाटिका को अधिक सुरम्य और अधिक सुसंस्कृत बनाने के लिए ही खर्च किया जा सकता है। सरकारी खजाने में बड़ी सम्पदा जमा रहती है, पर उसमें से खजांची किसे, कितना दे, यह शासकोष निर्धारणों पर ही निर्भर है। बैंक के कोषाध्यक्षों की तिजोरी में प्रचुर सम्पदा रहती है और उस तिजोरी की चाभी-कुंजी नियुक्त खजाचीं ही सँभालते हैं। इतने पर भी वे उसमें से निजी प्रयोजन के लिए अथवा अनाधिकारी कार्यों के लिए एक पाई भी खर्च नहीं कर सकते। यदि वे लोग उस धन को ले भागे या मनमाने खर्च करने में उड़ा दें, तो इसे अनाधिकार पूर्ण चेष्टा माना जायेगा।

इस तथ्य को भुला देने वाले ही ईश्वर प्रदत्त बहुमूल्य सम्पदा जीवनकाल की अवधि-का मनमाने ढँग से दुरुपयोग करते हैं और बदले में अपना लोक-परलोक बिगाड़ते हैं। पैसा तो मनुष्य का अपना कमाया हुआ है, इसलिए उसमें की जाने वाली धांधली को तो दरगुजर भी किया जा सकता है, पर समय-सम्पदा की बर्बादी तो खुली डकैती के सदृश है। इसे असाधारण स्तर का अनाचार कहा जा सकता है। ईश्वर के प्रति विद्रोह भी। जीवन के साथ की गई खिलवाड़ भी।

मनुष्य की आवश्यकताएँ अत्यन्त स्वल्प है। उसकी उपार्जन क्षमता इतनी अधिक है कि कुछ ही घंटे श्रम-साधना से निर्वाह की उचित आवश्यकताएँ पूरी की जा सकती हैं। सात घंटे सोने में, आठ घंटे कमाने में, पाँच घंटे इधर-उधर के कामों में खर्च कर लेने पर भी बीस घण्टे से अधिक, रोज कुँआ-खोदने और रोज पानी-पीने वाले को भी नहीं चाहिए। चौबीस घंटे समय में से चार घंटे हर किसी के पास इसलिए बच जाते हैं कि उन्हें ईश्वर द्वारा निर्धारित प्रयोजनों के लिए, लोकमंगल के लिए, सत्प्रवृति संवर्धन के लिए लगाया जा सके। पर जो इस अनुशासन को पूरी तरह भूल जाते हैं; सारा समय विलास, संग्रह, मनोरंजन एवं अवांछनीय प्रयोजनों के लिए खर्च कर डालते है, उनके लिए यही कहा जा सकता है कि वे आत्मा और परमात्मा के साथ विश्वासघात कर रहे हैं।

यह आपत्तिकाल जैसा समय है। अग्निकाण्ड, तूफान, भूकम्प, दुर्भिक्ष, महामारी, बाढ़, दुर्घटना जैसे

समय में तो हर भावनाशील को अपने निजी आवश्यक कामों को छोड़ कर भी उस विपत्ति में सहायता करने के लिए दौड़ना पड़ता है। उस समय निष्ठुरता धारण करके यदि कोई मूकदर्शक बना रहे और गुलछर्रे उड़ाने में निरत रहे, तो वह भी सर्वत्र-धिक्कारा जायेगा। जो सुनेगा, देखेगा, वह भी इस निष्ठुरता को धिक्कारे बिना रहेगा नहीं। आत्मा और परमात्मा की दृष्टि से भी इस प्रकार की उपेक्षा का बरता जाना अक्षम्य ही समझा जायेगा।

लूट, बलात्कार, हत्या, डकैती जैसी अपराध आँखों के सामने होते रहें, पर जो समर्थ होते हुए भी उन अनाचारों की रोक-थाम के लिए टस से मस न हों, तो उसे भी अपराधियों की श्रेणी में ही गिन लिया जाता है।

समय की सम्पदा को जिस भी प्रयोजन के लिए लगाया जाय, उसी स्तर की फसल पक कर सामने आती है। लोभ, मोह और अहंकार के लिए, वासना, तृष्णा के लिए बौनी समझ के लोग उसे लगाते हैं, फलस्वरूप शोक-सन्ताप, कलह-पतन के पराभव भुगतते हैं। इसी प्रचलन ने व्यक्ति और समाज को ऐसे जंजालों में फँसा दिया है, जिनमें विनाश और विग्रह के अतिरिक्त कुछ मिलता ही नहीं दीख पड़ता। आवश्यकता इस अभ्यास को आदि से अन्त तक बदलने की है। देवमानवों को मात्र पुण्य और परमार्थ ही सुहाता था। अन्तराल की शक्तियों और बहिर्जगत की सम्पदाओं को सत्प्रवृत्ति संवर्धन के लिए लगाया जाता था, वे अपनी सामर्थ्य का नियोजन अपने और परायों का कल्याण करने में ही निरत रखते थे। फलतः सर्वत्र सतयुगी वातावरण बिखरा दीखता था और दैवी अनुग्रह अमृत-वर्षा की तरह बरसता था।

पिछली शताब्दी में गिरने और गिराने का मार्ग अपनाया गया। उसने नारकीय परिस्थितियाँ उत्पन्न करके रख दी हैं। इस अनाचार से प्रकृति और परमेश्वर दोनों को ही भारी कष्ट हुआ है। उनने कुमार्गगामियों को कड़ी प्रताड़ना देकर सीधे रास्ते पर चलाने का निश्चय किया है। साथ ही जो विनाश हो चुका है, उसे नये सिरे से सुधारने का भी। लंकाध्वंस और धर्म राज्य की स्थापना की त्रेता वाली दुहरी प्रक्रिया पुनः दुहराई जा रही है। इस भवितव्यता में सम्मिलित होकर श्रेयाधिकारी बनने की मानसिकता वाले हनुमान, जामवन्त, नल-नील ढूँढे जा रहे हैं। जो सहमत हो रहे हैं, उनसे एक ही अपेक्षा की जा रही है- "महाक्रान्ति के लिए समयदान।" इसे अपनाने वाले लगभग उतने ही बड़े श्रेय के अधिकारी बनेंगे, जिसे अब तक मात्र परमेश्वर को ही दिया जाता है। राम काज करने वाले हनुमान के देवालय राम मंदिरों से कम नहीं है।

यह चिन्ता करना व्यर्थ है कि अपनी समय-सम्पदा यदि महाकाल की पुकार सुनकर नवसृजन के लिए लगा दी गई, तो हमें घाटा पड़ेगा। वस्तुतः यह नफे का सौदा है। संसार भर के महामानवों का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि परमार्थी देवपुरुषों ने जो खपाया उसकी तुलना में पाया कहीं अधिक है। मात्र संकीर्णता के वशीभूत होकर ही लोग युगधर्म निबाहने और समय की पुकार सुनने में आना-कानी करते हैं, पर जिनने भी इस प्रयोजन के लिए साहस बटोरा है, वे कृत-कृत्य होकर रहेंगे और लोकहित के निमित्त इतना कुछ कर सकेंगे, जिसके लिए उन्हें अनुकरणीय-अभिनंदनीय दैवमानव के रूप में अनंतकाल तक स्मरण किया जा सके।

भगवान का द्वार निजी प्रयोजनो के लिए अनेकों खट-खटाते पाये जाते हैं, पर अबकी बार भगवान ने अपना प्रयोजन पूरा करने के लिए साथी, सहयोगियों को पुकारा है। जो इसके लिए साहस जुटायेंगे, वे लोक और परलोक की सिद्धियों-विभूतियों से अलंकृत होकर रहेंगे। शान्तिकुञ्ज के संचालकों ने यही सम्पन्न किया और अपने को अति सामान्य होते हुए भी अत्यन्त महान कहलाने का श्रेय पाया है। जागृत आत्माओं से भी, इन दिनों ऐसा अनुकरण करने की अपेक्षा की जा रही है।

यह सरल है, कठिन नहीं

सर्वतोमुखी श्रेय-साधना का यह सर्वश्रेष्ठ समय है। इसे चूका नहीं जाना चाहिए। जो उपयुक्त अवसर पर मुँह मोड़ते और पीठ दिखाते हैं, वे परीक्षा भवन में गायब हो जाने वालों की तरह सदा-सर्वदा पछताते ही रहते हैं। इस भूल को अनेक बार दुहराया जाता रहा है, पर जब भगवान ने सुदामा से उसकी तंदुल-पोटली माँग कर बदले में टूटे छप्पर वाली सुदामापुरी को सर्वसम्पन्न सृजित द्वारिकापुरी के रूप में बदलने का आमंत्रण भेजा है; तब उस स्वर्ण सौभाग्य को स्वीकार करने में आना-कानी नहीं ही की जानी चाहिए। पेट और प्रजनन की छोटी सी परिधि में तो कीड़े-मकोड़े भी अपना समय गुजार लेते हैं, पर जब कल्पवृक्ष के नीचे विश्राम मंच किसी ने बिछाया हो, तो उस पर बैठने भर में आना-कानी क्यों करनी चाहिए।

फालतू पैसे वाले, अपना ढिंढोरा पिटवाने के लिए भी धनदान उपेक्षापूर्वक कर देते हैं, पर उच्चस्तरीय लक्ष्य

पर चल पड़ना तभी बन पड़ता है, जब श्रद्धा, सद्भावना और उत्कृष्टता का उसके साथ समुचित समावेश बन पड़े। परीक्षा की इस घड़ी में यहाँ जाँच-खोज हो रही है कि यदि कहीं महानता जीवित होगी, तो वह इस नव निर्माण के पुण्य-पर्व पर अपनी जागरूकता और सक्रियता का परिचय दिये बिना न रहेगी। दिनमान का अभिनन्दन करने में मात्र निशाचर ही मुँह छिपाते देखे गये हैं।

गाँधी और बुद्ध के आह्वान पर असंख्यों ने अपने तथाकथित आवश्यक काम छोड़ कर भी उन दिनों के

वर्तमान को यह उलाहना नहीं सहना चाहिए कि एक समय ऐसा भी रहा है, जिसमें चोर-चालाकों की भी भरमार थी और आदर्शवादी शौर्य-साहस का एक प्रकार से बीजनाश हो ही गया था। युग सृजन के लिए समयदान-यह ही आज का पुण्य-पराक्रम है, जिसका परिचय देने के लिए जीवन्तों में से हर एक को आगे आना चाहिए।

लिप्सा, तृष्णा और अहंमन्यता के उन्माद पर यदि थोड़ा अंकुश लगाया जा सके, तो हर किसी के पास इतना समय श्रम और साधन सहज बच जाता है, जिसके बल-बूते सराहनीय स्तर पर युग-धर्म निबाहते बन पड़े। जो सादा जीवन जी सकेगा और वही उच्च विचारों की अवधारणा में समर्थ हो सकेगा। अच्छा हो-वासना, विलासिता की जंजीरों को कम से कम इस अवधि काल में थोड़ा ढीला कर ही लिया जाय। भौतिक महत्त्वाकांक्षा के लिए आतुर होने पर अंकुश लगाया जाय।

अपरिग्रही साधु-ब्राह्मण ही दैवी प्रयोजनों को पूरा कर सकने मे समर्थ हुए हैं। लिप्सा और तृष्णा की समुद्र जैसी खाई को पाट सकना, किसी से भी नहीं बन पड़ा। सोने के पहाड़ जमा करने से कोई लाभान्वित नहीं हुआ। जब विश्वविजयी बनने के लिए सब कुछ कर गुजरने के लिए उद्धत महादैत्यों के लिए असीम मनोकामनाओं को पूरा कर सकना संभव नहीं हुआ, तो सामान्य योग्यता और क्षमता वाले, कुछ कहने लायक सुखोपभोग कर सकेंगे, इस मान्यता को उपहासास्पद ही बनना पड़ेगा।

जो तृष्णाओं को मर्यादित कर सके, जिनकी परमार्थ-भावना गहरी खुमारी से उबर सके, उनमें से किसी के लिए भी इन दिनों की अनिवार्य समयदान योजना को उदारतापूर्वक पूरी करने से वंचित न रहना पड़ेगा। व्यस्तता और अभावग्रस्तता तो मात्र बहाने हैं। अभिरुचि होने पर जब अवांछनीय कार्यों के लिए सारा समय और मनोयोग खपाते रह सकते हैं, तो कोई कारण नहीं कि भावनाशीलों के लिए युगचिन्तन के अनुकूल बनने में कोई ऐसा व्यवधान सामने आये, जिसे हटा सकना बन ही न पड़े।

प्रगति के चार चरण

पुण्य-परमार्थ के लिए कौन सा क्षेत्र चुनें? किस दिशा-धारा को स्वीकारें? अपने लिए क्या कार्यक्रम भावी जीवन के नियोजन हेतु अपनायें? समयदान की श्रद्धाञ्जलि किस देवता के चरणो में अर्पित करें? प्राणवान परिजनो के सामने प्रस्तुत इन समस्त प्रश्नों का उत्तर एक ही है-जन जीवन में गहराई तक घुसी हुई विकृतियों का उन्मूलन, क्योंकि व्यक्ति और समाज की, स्थानीय एवं संसार में संव्याप्त अगणित विपन्नताएँ, आस्था-संकट के कारण ही उत्पन्न हुई हैं। भ्रष्ट-चिन्तन ही दुष्ट आचरणों को जन्म देता है और उसी के कारण समूचा वातावरण अवांछनीय वातावरण से भर गया है। यदि प्रचलित मानसिकता को बदला जा सके, तो उन अगणित समस्याओं का सहज समाधान निकल सकता है, जो सर्वत्र हाहाकार मचाये हुए है और सर्वनाश को निमंत्रण दे रही है।

लोकमानस का परिष्कार, अनुपयुक्त प्रचलनों का परिवर्तन, शालीनता की रीति-नीति को प्रश्रय-इस एक ही उद्देश्य को विचार-क्रान्ति-महाक्रान्ति, जनमानस का परिष्कार, युग परिवर्तन आदि नामों से जाना जा सकता है; बात एक ही है पर उसे नाम कितने ही अन्य दिए जा सकते हैं। धर्म-धारणा, सेवा-साधना भी यही है।

यों सुविधा-संवर्धन के लिए बनाए हुए अवलंबन भी दान-पुण्य की परिधि में आते हैं। निर्धनों को अनुदान और संकट निवारण में आर्थिक स्तर का सहयोग भी परमार्थ की परिधि से बाहर नहीं है; पर इन दिनों जिस प्रयत्न को प्रमुखता के साथ प्रश्रय मिलना चाहिए, जिसे लोक शिक्षा या जन-जागरण कहा जा सकता है, वही निकृष्टता की पक्षधर मानसिकता को बदल सकने में समर्थ हो सकती है। इस एक कार्य को सफलतापूर्वक सम्पन्न कर लेने से अन्य पारमार्थिक कहे जाने वाले इतने सरल एवं स्वाभाविक हो जाते हैं, जो अनायास ही अपनी पटरी पर लुढ़कने लगे।

मानसिकता को सुधारने-उभारने में लेखनी और वाणी का प्रधान माध्यम माना जाता है। इसी को स्वाध्याय और सत्संग भी कहते है। लेखनी, स्वाध्याय का सरंजाम

जुटाती है और वाणी से कानों के छिद्र में मान्यताओं को प्रवेश कराने के रूप में मस्तिष्क को झकझोरा जाता है। धर्म-तंत्र के अन्तर्गत इन्हीं दोनों को प्रमुखता दी गयी है। कथा, प्रवचन, कीर्तन आदि में वाणी काम करती है। पाठ, स्वाध्याय आदि में लेखबद्ध प्रशिक्षण का प्रभुत्व है। पढ़े और बिना पढ़े दोनों ही वर्गों में इन माध्यमों से किसी न किसी रूप में प्रकाश पहुँचाया जा सकता है।

इस संदर्भ में संजीवनी विद्या का, परिवर्तन-प्रयोजन का व्यावहारिक प्रशिक्षण भी आता है। इसके पाठ्यक्रम चलाने और साधन-प्रयोजनों में व्यक्तित्व को झकझोरने का कार्य ऐसा है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है।

क्रिया-कलापों में एक कार्य देव मानवों की संयुक्त शक्ति का विकास भी है, जिसे दिव्य संगठन कहा जा सकता है। इसके लिए जन समूह को एकत्रित करके, धार्मिक कर्मकाण्डों आदि के माध्यम से समुन्नत विचारधारा वाले वर्ग को एकत्रित करने की आवश्यकता पड़ती है।

उपरोक्त निर्धारण-प्रतिपादन को वर्गीकृत किया जाय, तो उसके चार चरण बन पड़ते हैं। (१) स्वाध्याय के लिए युग साहित्य का प्रयोग (२) सत्संग के लिए प्रवचन, परामर्श, विचार-विनिमय आदि की व्यवस्था (३) प्रशिक्षण एवं साधना के लिए नियोजित किये जाने वाले सत्रों में सम्मिलित होना (४) सामूहिक समारोह, दीप यज्ञ, तीर्थयात्रा, जुलूस, प्रदर्शन आदि प्रयोजनों द्वारा अलख जगाने की क्रिया-प्रक्रिया को अपनाया जाना। युग परिवर्तन के लिए इन चारों ही माध्यमों को समुचित प्रश्रय मिलना चाहिए।

युग चेतना का प्रसारण

विचार-परिष्कार के लिए युग धर्म का प्रतिपादन और प्रस्तुत भ्रान्तियों-विकृतियों के निराकरण में साहित्य का अधिकाधिक प्रचार-प्रसार। इस प्रकार का स्वाध्याय उपक्रम अधिकाधिक लोगों तक पहुँच सके, इसके लिए शान्तिकुञ्ज द्वारा उस साहित्य का अभिनव सृजन किया गया है, जो युग धर्म की रूप-रेखा, सामयिक समस्याओं को ध्यान में रखते हुए दूरदर्शी विवेकशीलता को जगाता है।

इस प्रयास को एकाकी स्तर पर करना हो, तो उसके लिए झोला पुस्तकालय योजना सर्वसुलभ है। इसके लिए अपने सम्पर्क क्षेत्र में शिक्षितों के साथ सम्पर्क बढ़ाया जाय। उनकी अन्तरात्मा को स्पर्श करने वाले युग साहित्य को एक छोटे झोले में लेकर उन तक पहुँचा जाय। पढ़ने के लिए उन्हें घर बैठे वह साहित्य पहुँचाया जाय तथा नियत अवधि में उसे पढ़कर वापस करने के लिए सहमत किया जाय।

अपने देश की गरीबी, अशिक्षा और सत्साहित्य के प्रति अरुचि को देखते हुए यह आशा नहीं की जा सकती कि युग चेतना को प्रोत्साहन देने वाला साहित्य अभीष्ट मात्रा में लिखा, प्रकाशित किया जायेगा। विक्रेता भी ऐसे झंझट में क्यों हाथ डालें, जिसमें उन्हें तत्काल संतोषजनक लाभ न होता हो ? यह एक अवरोध है, जिसके कारण नवोदित राष्ट्र को उपयुक्त दिशा-निर्देशन प्राप्त करने के लिए अभीष्ट साहित्य उपलब्ध नहीं हो पाता। इसलिए शान्तिकुञ्ज ने उपरोक्त सभी पक्षों को अपने हाथ में लिया है और हर शिक्षित को पढ़ाने और हर अशिक्षित को सुनाने के लिए झोला पुस्तकालय योजना बनायी और स्वयं सेवी समयदानियों द्वारा समग्र निष्ठापूर्वक चलायी है। इस प्रयास के अन्तर्गत लाखों को घर बैठे, बिना कुछ खर्च किये, नवयुग का संदेश मिल रहा है।

इसी प्रयास का कुछ बड़ा रूप है ज्ञानरथ-संचालन। युग-साहित्य को युग देवता का संदेश प्रतीक मानते हुए, उसे ठोस रबड़ के तीन पहिये वाली गाड़ी पर सुसज्जित रूप से इस स्तर का बनाया गया है कि बाहर से देखने वालों को एक छोटा देवालय ही प्रतीत हो। इसे खींचते-धक्केलते हुए परिजन अपने क्षेत्र में शिक्षित नर-नारियों तक झोला-पुस्तकालय की भाँति सत्साहित्य देने, पढ़ाने और वापस लेने का उपक्रम चलाते हैं और घर-घर, जन-जन तक अपनी पैठ बनाते हैं। जो चाहें, वे उनसे साहित्य खरीद भी सकते है।

प्रज्ञा केन्द्रों को अचल और ज्ञानरथों को चल प्रज्ञामंदिर मान कर इस योजना को चलाया तो बहुत दिनों से सफलतापूर्वक जा रहा था; पर अब उसमें कुछ और नये एवं सशक्त उपकरण जोड़ दिये गये हैं, जिनके कारण वह प्रज्ञावाहन जिधर से भी गुजरता है, उधर ही अच्छी खासी भीड़ जमा हो जाती है और ऐसी प्रेरणाएँ मनोयोगपूर्वक हृदयंगम की जाती है, जिसकी इन दिनों नितान्त आवश्यकता है।

नवनिर्मित ज्ञानरथों में मोटर वाली चार्जर युक्त छोटी बैटरी से चलने वाला टेपरिकार्डर और लाउडस्पीकर फिट कर दिया गया है। इस माध्यम से जन समुदाय की प्राण-प्रेरणा झकझोरने वाला युग संगीत सुनने को मिलता है और

छोटे-छोटे किन्तु सारगर्भित प्रवचन-परामर्श सुनने को मिलते रहते हैं। निर्जीव होते हुए भी ज्ञानरथ सजीव वक्ता, प्राणवान संगीत से अपने रास्ते में मिलने वाले मे ऐसा कुछ कहता और गाता रहता है, जिसकी कि परिवर्तन की पृष्ठभूमि बनाने के लिए महती आवश्यकता है।

पिछले दिनों वाले ज्ञानरथ मात्र साहित्य का लाभ पहुँचाने के लिए झोला-पुस्तकालय स्तर की सेवा-साधना में निरत रहते थे। पर अब वे अपने छोटे कलेवर में दिन भर प्रवचन और गायन करते रहने पर भी न थकने वाला माध्यम सँजोये रहने लगे हैं। इसलिए उसकी उपयोगिता अनेक गुनी अधिक बढ़ गयी है। पुराने ज्ञानरथों को चलाने वाले, राह में मिलने वालों को अपने प्रयास का, वाणी द्वारा परिचय भी देते थे। पर अब उन्हें कम पढ़े, भाषण-कला से अनभिज्ञ भावनाशील भी लिये-लिये फिरते हैं और एक दिन एक अति प्रभावोत्पादक चलते-फिरते प्रचार समारोह को गतिशील रखे रहते हैं। पुराने की तुलना में नये ज्ञानरथों की लागत तो कुछ बढ़ गयी है, पर वह इतनी नहीं कि औसत नागरिक उसे अपनी सीमित सामर्थ्य में ही जुटा न सकें। इस प्रयास में स्वाध्याय और सत्संग के दोनों ही प्रयोजन एक साथ जुड़ जाते हैं।

इसके अतिरिक्त इस क्षेत्र का एक और माध्यम है- दीवारों पर आदर्श वाक्य लिखते रहना। गेरू, काजल, नील, पीली रामरज, मुलतानी मिट्टी, खड़िया आदि को एक डिब्बे में डालकर बड़ी दावात के रूप में विनिर्मित किया जा सकता है और उसमें मे बालों के ब्रुश या बाँस जैसे किसी लकड़ी के उपकरण को कलम बनाकर जहाँ भी खाली दीवार दीख पड़े, वहाँ हाथ साधकर, सुन्दर अक्षरों में आदर्श वाक्य लिखे जा सकते हैं। जिन पर उधर से रास्ता निकलने वाले व्यक्ति नजर डालते ही सामयिक प्रेरणाएँ प्राप्त करते रह सकते हैं १- हम सुधरेंगे- युग सुधरेगा, हम बदलेंगे-युग बदलेगा। २- नर और नारी एक समान, जाति वंश सब एक समान। ३- इक्कीसवीं सदी- उज्ज्वल भविष्य का अवतरण जैसे दर्जनों आदर्श वाक्य गढ़े गये हैं। उनमें से जहाँ, जिनका चयन उपयुक्त दीखता हो, उसे वहाँ लिखा जा सकता है। इस प्रकार हर दीवार, खण्डहर, टीले, पत्थर को बोलती दीवार बनाया जा सकता है।

इस वर्ग में एक अन्य योजना स्टीकर चिपकाने की आती है। यह भी अनेकों प्रकार के तथा नाम-मात्र की लागत से मिलते हैं। उन्हें किवाड़ों पर, आलमारियों पर, अटैचियों पर, फर्नीचरों पर कहीं भी चिपकाया जा सकता है। प्लास्टिक पर वर्ण और पक्की स्याही से अंकित एवं मजबूत गोंद से सटे होने के कारण छोटे-बड़े साइज के यह स्टीकर ऐसे हैं जिन्हें वर्षों के लिए स्थायी रहने की स्थिति में चिपकाया जा सकता है। इनकी कीमत कुछ पैसे मात्र होने से हर किसी को खरीदने और घर सजाने के लिए सहमत किया जा सकता है।

इस प्रकार की प्रचार सामग्री के सस्ते-मँहगे अनेक प्रकार के उपकरण विनिर्मित किये गये हैं। रुमालों, साड़ियों, दुपट्टों पर भी ऐसे ही कुछ प्रेरणाप्रद अंकन सदा देने की भी योजनायें बनती और चलती रहती हैं।

साक्षरता की, प्रौढ़ शिक्षा की, व्यवस्था बनाना अपनी जगह आवश्यक है। अशिक्षितों की अंधों में गणना होती है। इसलिए प्रत्येक शिक्षित परिजन को यह कहा गया है कि वह अपने सम्पर्क क्षेत्र में से अशिक्षित नर-नारियों को, बालकों-वृद्धों को, ठालों और व्यस्तों को तलाश करके उनके साथ सम्पर्क साधें। उनकी सुविधा का समय खोजें और अपने घर बुलाकर अथवा उनके घर जाकर हर किसी को साक्षर बनाने का प्रयत्न करें। अपने देश का कोई भी नागरिक अशिक्षित न रहे, इसके लिए विद्या-विस्तार में हर शिक्षित को "विद्या-ऋण" चुकाने के लिए कहा गया है।

इसी प्रयास का दूसरा चरण यह है कि साक्षरता के उपरान्त दैवी प्रेरणाएँ पढ़ने का अवसर मिले। जिससे व्यक्तित्व विकास में, लोकमानस के परिष्कार की, अभीष्ट प्रगति-प्रेरणा का भी समावेश हो सके। युग साहित्य को जन-जन तक पहुँचाने के लिए झोला-पुस्तकालय और ज्ञानरथ इसी निमित्त चलाये जा रहे हैं। दीवारों पर आदर्श वाक्य लिखने और प्रेरक स्टीकर स्थान-स्थान पर चिपकाने की योजना भी इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए है।

सत्संग-प्रशिक्षण एवं संगठन

विचार-विनिमय भी उपयोगी आदान-प्रदान की तरह है। प्रगति के लिए मिल-जुलकर कदम बढ़ाने पड़ते हैं। जीवन क्रम को ठीक तरह चलाने के लिए जिस प्रकार अनेक साधन जहाँ-तहाँ से जुटाने पड़ते हैं, उसी प्रकार विचार-सम्पदा को बढ़ाने के लिए आवश्यक मणिमुक्तक वहाँ से खोजने पड़ते हैं, जहाँ वे पहले से ही मौजूद हैं। हाट-बाजार की व्यवस्था भी इसलिए की जाती है कि जरूरत मंदों को आवश्यक वस्तुएँ एकत्रित एवं उपलब्ध

कराने में सुविधा रहे। अनगढ़ विचार तो कूड़े-करकट की तरह कहीं भी बिखरे पाये जाते है और बिना बुलाये ही घर में घुस आते हैं, पर उपयोगी, आवश्यक और महत्त्वपूर्ण वस्तुएँ हस्तगत करने के लिए उत्साहपूर्वक प्रयत्न करने पड़ते हैं। ठीक इसी प्रकार हर किसी को सुनियोजित-प्रगतिशील विचारों को ढूँढने-बटोरने की आवश्यकता पड़ती है। इसी प्रक्रिया को सम्पन्न करने का नाम है- सत्संग।

सर्वविदित है कि संगति का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। सुगंध और दुर्गन्ध के समीप बैठ कर इस तथ्य का प्रमाण-परिचय सहज ही प्राप्त किया जा सकता है। बच्चे भाषा, आचरण और व्यवहार समीपवर्ती लोगों का अनुकरण करते हुए ही उपलब्ध करते हैं। व्यक्तित्व और दिशा-निर्धारण में भी संगति का असाधारण प्रभाव पड़ते देखा जाता है। उत्थान और पतन में इसी प्रक्रिया की बड़ी भूमिका रहती है।

हर किसी के सम्पर्क में कुछ न कुछ लोग होते ही हैं। परिवार के लोग एक साथ रहते और एक दूसरे से न केवल सहयोग प्राप्त करते हैं, वरन् प्रभावित भी होते हैं। इसलिए परिवार के वरिष्ठ व्यक्तियों का कर्तव्य बनता है कि वे कम योग्यता वालों को अधिक सुयोग्य, अधिक सुसंस्कृत बनाये रखने के लिए घर-कुटुम्ब में सत्संग का उपक्रम अनिवार्य रूप से बनाये रहें। विचार-विनिमय चलता रहे शंका-समाधान की गुंजायश रहे। अनुभवों को सुनने का कार्य क्रम भी अन्य नित्यकर्मों की तरह सुनियोजित ढंग से चलता रहे।

संकोचवश या व्यस्तता के बहाने परिवारो के सदस्यों से विचारों का आदान-प्रदान प्रायः उपेक्षित रहता है। इससे जहाँ ज्ञान-वृद्धि में रुकावट पड़ती है, वहाँ पारस्परिक घनिष्ठता भी बढ़ने से रुक जाती है। परिवारों में कोई न कोई समय ऐसा अवश्य रहना चाहिए, जिससे एक दूसरे की कमी, कठिनाई जानने और उनके समाधान सुझाने का अवसर मिलता रहे। यह कार्य कथा, कहानी, जीवन-चरित्र, संस्मरण, घटनाक्रम, समाचार सुनने-सुनाने के माध्यम से भी चल सकता है।

घर में अत्यावश्यक वस्तुओं की तरह घरेलू पुस्तकालय की भी ऐसी व्यवस्था रहनी चाहिए, जिसके माध्यम से सद्विचारों को पढ़ने और सुनने का अवसर मिलता रहे। स्वाध्याय और सत्संग यह दोनों ही मनुष्य की मानसिक एवं भावनात्मक आवश्यकताएँ हैं। इनकी पूर्ति वैयक्तिक, पारिवारिक एवम् सामाजिक क्षेत्रों में अपनी परिस्थितियों के अनुरूप क्रियान्वित करते ही रहना है। इन पंक्तियों में इसे पारिवारिक क्षेत्र में आरंभ करने के लिए इसलिए कहा गया है, ताकि उसे सहज-सुगमता के साथ सीखा और सिखाया जा सके। उसका प्रत्यक्ष लाभ अपनों को विकसित करने के रूप में उठाया जा सके और सामाजिक क्षेत्र में क्रियान्वित करने के लिए प्रभावी अभ्यास करने में प्रवीणता प्राप्त हो सके।

युगनिर्माण आन्दोलन का एक अनिवार्य चरण साप्ताहिक सत्संग है। रविवार को आमतौर से छुट्टी रहती है। उस दिन इस हेतु दो-तीन घण्टे का कार्यक्रम बनाया और उसमें अधिकाधिक लोगों को सम्मिलित किया जा सकता है। (१) संक्षिप्त दीपयज्ञ (२) सहगान-कीर्तन (३) नव सृजन के सन्दर्भ में प्रवचन (४) झोला पुस्तकालय उपक्रम का भी इसी में समावेश, यह चार कार्यक्रम एक साथ जोड़ देने से थोड़े से लोगों के बीच भी साप्ताहिक सम्मेलन नियमित रूप से चालू रह सकता है। जहाँ अवसर हो, वहाँ घनिष्ठ लोगों का जन्म दिवसोत्सव मनाने के रूप में प्रक्रिया को उसके घर सम्पन्न किया जा सकता है, ताकि उस व्यक्ति के मित्र सम्बन्धी भी उसमें उत्साहपूर्वक सम्मिलित हो सकें और अपनी सत्संग-योजना को नये लोगों तक पहुँचाने का अवसर मिल सके।

इन सत्संग आयोजनों का एक विशेष लाभ यह है कि जिन लोगों को इसमें रस आने लगता है, वे बार-बार आपस में मिलते हैं। परिचित होते एवम् घनिष्ठ बनते हैं। इस प्रकार विचारशील लोगों का संगठन बनने, बढ़ने और सुदृढ़ होने का सिलसिला भी साथ ही चल पड़ता है। यह बहुत बड़ी बात है कि दैत्य इसलिए सफल होते रहे हैं कि वे संगठित होते हैं, देवताओं की-संत-सज्जनों की-एक ही सबसे बड़ी कमी है कि वे आत्मकेन्द्रित रहते और संगठन को महत्त्व नहीं देते। पौराणिक कथा प्रख्यात है कि हारे हुए देवताओं ने उद्धार का उपाय प्रजापति से पूछा, तो उनने उन्हीं की सामर्थ्य को एकीकृत करके महाकाली का अवतरण किया। उसी ने दैत्यों को हराया और देवताओं को दुर्गति से उबारा। यह कथा अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए सटीक मार्गदर्शन करती है। नवसृजन में रुचि लेने वाले प्रज्ञावानों को जहाँ विचारक्रांति के सन्दर्भ में अनेक काम करने हैं, सत्प्रवृत्ति संवर्धन और दुष्प्रवृत्ति उन्मूलन के अनेक निर्धारणों को पूरा

करना है, वहाँ उससे भी पहले यह करने की आवश्यकता है कि सृजनशिल्पी-परम्परा संगठित हो। इसके लिए साप्ताहिक सत्संग, जन्मदिवसोत्सव जैसे छोटे कार्यक्रम अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति में असाधारण रूप में सहायक हो सकते हैं। इसलिए जहाँ भी प्रकाश की किरणें फूटे, उपरोक्त स्वाध्याय और सत्संग के उभयपक्षीय शक्तिशाली चरण उठने ही चाहिए।

सत्संग और संगठन का महत्त्व एवं वास्तविक उद्देश्य, तो छोटे आयोजनों से ही पूरा होता है; पर प्रचार प्रयोजन के लिए- जन-जागरण के लिए-बड़े आयोजन, समारोहों की भी आवश्यकता रहती ही है। राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक संस्थाओं द्वारा अक्सर अपने बड़े वार्षिकोत्सव सम्पन्न किये जाते हैं। इससे एक विचारों को एक स्थान पर बड़ी संख्या में एकत्रित होते देखकर उपस्थितजनों का उत्साह भी बढ़ता है और दर्शकों पर भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अच्छा प्रभाव पड़ता है। जिस विचार-धारा को प्रचारित करना है उसे अनेक लोगों तक एक ही समय में पहुँचा देने का यह सफल प्रयोग माना जाता है। धार्मिक मेलों का भी प्रचलन इसी दृष्टि से हुआ है। तीर्थों पर, पर्व भी इसीलिए मनायं जाते हैं। भारतीय संस्कृति का महत्त्वपूर्ण अंग माने जाने वाले पर्व-त्यौहार भी सामूहिक रूप से इसीलिए मनाये जाते हैं।

युगसृजन संगठनों के लिए यह एक आवश्यक कर्तव्य ठहराया गया है कि वे छोटी विचार गोष्ठियो, साप्ताहिक सत्संगों और बन पड़े आयोजन-समारोहों को पर्व-त्यौहारों के अवसर पर अथवा वार्षिकोत्सव के रूप में बड़े आकार-प्रकार, बड़ी तैयारी, बड़ी धूम-धाम के साथ सम्पन्न करे, ताकि अपने साथी-सहयोगियो की बढ़ी-चढ़ी संख्या देखकर लोगों में संगठित होने की ललक उठे और उस विशालता से दर्शक एवम् सम्मिलित लोग उत्साहवर्धक प्रेरणा प्राप्त करें। यह सभी छोटे-बड़े कार्यक्रम सत्संग में ही गिने जाते हैं। इनके सहारे देवजनों का पारस्परिक परिचय एवम् संगठन बनने का कार्य भी सरलतापूर्वक सम्पन्न होता चला जाता है।

महान लक्ष्य की विकेन्द्रीकरण योजना

उज्ज्वल भविष्य की विश्वव्यापी संरचना के लिये आवश्यक समझा गया है कि संसार भर मे रह रहे ६०० करोड़ मनुष्यो में से प्रत्येक को मानवी गरिमा और मर्यादा के अनुरूप चिन्तन, चरित्र और व्यवहार अपनाने के लिये सहमत ही नहीं, बाधित भी किया जाय। दुर्बुद्धिजन्य अनीति अपनाने पर तो, समग्र एवं समर्थ उत्कृष्टता की संभावना ही नहीं बनती। व्यापक लोक-मानस का परिष्कार यद्यपि बहुत बड़ा कार्य है, फिर भी उसे सम्पन्न किये बिना और कोई विकल्प नहीं। जिस ढर्रे पर हम सब इन दिनों चल रहे हैं, वह पतन और पराभव का ही है। उसे अपनाये रहने पर महाविनाश की परिस्थितियाँ ही उत्पन्न हो सकती हैं।

इतना बड़ा काम से किया जाय? कौन करे? इस संबंध मे उथले विचार करने पर बिल्ली के गले में चूहे द्वारा घंटी बाँधे जाने की बात बनना असंभव ही लगता है; पर जब यह विचार सामने आता है कि एक छोटी नर्सरी में लगाये हुए पौधे जब स्थान-स्थान पर आरोपित किये जाते है, तो अगणित वृक्षों से सजा उद्यान, सघन-वन विनिर्मित होता है; तो साहस उभरता है। विश्वास होता है कि अच्छे शुभारंभ का परिणाम यह भी हो सकता है कि विश्व-व्यवस्था में असाधारण परिवर्तन असंभव न रहकर संभव होगा। पिछले दिनों बौद्ध धर्म, ईसाई धर्म और साम्यवादी मान्यता ने किस प्रकार गति पकड़ी और चिनगारी से दावानल जैसा रूप धारण किया, यह बात किसी से छिपी नहीं है।

शान्तिकुञ्ज ने इस दिशा में जो श्रीगणेश-शुभारंभ किया है, वह अपने पाँच लाख पंजीकृत और पच्चीस लाख सहयोगी-समर्थकों द्वारा आरंभ होता है। इस देव-समुदाय में से प्रत्येक को एक से पाँच में विकसित होने के लिए कहा गया है। पाँच से पच्चीस पच्चीस से एक सौ पच्चीस, एक सौ पच्चीस से छै सौ पच्चीस वाली गुणन-प्रक्रिया यदि अनवरत रूप से गतिशील रहे, तो मिशन का प्रस्तुत समुदाय भी कुछ बड़ी छलाँगों में समूचे मनुष्य-समुदाय तक संसार भर में अपना प्रकाश पहुँचा सकता है। इस विश्वास के साथ मजबूत कदम उठाने और समर्थ कार्यक्रम चलाये गये है।

मिशन की यह घोषित प्रतिज्ञा सर्वविदित है कि युगसंधि के इन्हीं दस वर्षों में एक लाख से अधिक संगठन- समारोह सम्पन्न करने हैं और अपने बल-बूते ही युग-संधि की पूर्णाहुति में एक करोड़ ऐसे लोग सम्मिलित करने है, जो नव-सृजन के प्रति निष्ठावान हों। अपनी पूर्णाहुति यदि एक ही जगह सम्पन्न की जाय, तो यह सचमुच बहुत कठिन होगा। इसलिए उसे स्थान-स्थान पर करने की योजना बनी है।

सन् ५८ में गायत्री तपोभूमि, मथुरा में सम्पन्न हुए एक हजार कुंड वाले यज्ञ का जिन्हें स्मरण है, उन्हें विदित है कि उसमें चार लाख याजक और १० लाख दर्शक उपस्थित हुए थे। उनके ठहरने आदि की व्यवस्था दस मील के दायरे की भूमि घेरने पर संपन्न हुई थी। उन दिनों सम्बद्ध व्यक्तियों को यह आश्चर्य होता था कि इतने बड़े समारोह से संबंधित अनेकानेक जटिल व्यवस्थाएँ किस प्रकार जुटायी जा सकेंगी, किस प्रकार इतने साधन एकत्रित हो सकेंगे; पर उन आश्चर्यचकित लोगों में से प्रत्येक को यह एक तथ्य स्वीकार करना पड़ा था कि दैवी शक्तियों के मनोरथ सचमुच ही ऐसे होते हैं, जिसमें "असंभव" शब्द का प्रयोग कहीं नहीं हो सकता। आकाश के ग्रह-नक्षत्रों का, धरती का, वनस्पतियो और प्राणियों का, जलाशयों की लहरों पर खेलते जल-जीवों का, संकल्प मात्र से जो सत्ता सृजन कर सकती है, उसके लिए इतने बड़े आयोजन समारोह का संयोग बिठा देना क्यों कुछ कठिन होगा ? उस समारोह की सफलता देखते ही बनती थी।

उस अनुमान के आधार पर जो मनोबल और संकल्प उभरा है, उसने एक प्रकार से निश्चित ही कर दिया है कि अगले बड़े कदम भी डगमगायेंगे नहीं। एक लाख समारोह-संगठन-एक करोड़ भागीदार, जिस आयोजन में सम्मिलित हो सकते हैं, वह वायु, रोशनी, गर्मी, वर्षा की भाँति अपना विस्तार संसार भर में भी कर सकता है। साधारणजनों से भी असंख्य गुना दृढ़-विश्वास इस संदर्भ में उन्हें है, जो शान्तिकुञ्ज जैसे छोटे कुटीर में रह कर इक्कीसवीं सदी के साथ जुड़े हुए उज्ज्वल भविष्य की, सतयुगी वातावरण के अवतरण की आशा सँजोये बैठे है।

विचार उठता कि एक स्थान पर इतना बड़ा आयोजन करने पर प्रयोग कुम्भ जैसे अनेकों समारोह एकत्रित करने जैसी व्यवस्था बनानी होगी; साधन जुटाने होंगे और पर्यावरण पर जो प्रदूषण का दबाव पड़ेगा, वह सारी व्यवस्था लड़खड़ा देगा। इतने बड़े मेले में सम्मिलित लोग परस्पर परिचित एवं संगठित भी न हो सकेंगे और घुल-मिल भी न सकेंगे। भविष्य की वैसी रूपरेखा भी न बन पायेगी, जैसे कि सन् ५८ के सहस्रकुण्डीय यज्ञ के साथ ६ हजार शाखाओं और एक लाख कार्यकर्ताओं का हाथों-हाथ गठन बन पड़ा था।

इस कठिनाई पर गंभीरतापूर्वक विचार करने के उपरान्त मार्गदर्शक सत्ता ने सुझाया है कि यह अधिक अच्छा होगा कि एक स्थान पर इतना बड़ा समारोह न करके उसे खण्डों में विभाजित कर दिया जाय। अनेकों केन्द्रों में उनकी शक्ति और सामर्थ्य के अनुरूप इस महान संकल्प को छोटे-छोटे खण्डों में कार्यान्वित किया जाय।

इन दिनों २४०० विनिर्मित प्रज्ञापीठें हैं, जिनमें दर्शनीय और कीमती इमारतें बनी हुई हैं। जहाँ नियमित रूप से निर्धारित गतिविधियों का सूत्र-संचालन होता है। इनके अतिरिक्त नवनिर्मित २४ हजार केन्द्रों की व्यवस्था भी की जा रही है। यह सचल स्तर के होंगे। जहाँ ज्ञान रथ चलेंगे, जहाँ तीर्थ-यात्रा के साइकिल जत्थे निकलेंगे, जहाँ साप्ताहिक सत्संगों के निर्धारण क्रियान्वित होंगे, वे भव्य इमारतों के रूप में दृष्टिगोचर भले ही न हों, पर उपयोगिता की दृष्टि से यह चल केन्द्र अचल निर्माणों से किसी भी प्रकार कम न होगा। विश्वासपूर्वक प्रयत्न चल रहा है कि न केवल पिछले २४०० प्रज्ञापीठ अधिक सक्रिय हों, वरन् नव-निर्मित २४ हजार प्रज्ञा केन्द्र भी उपयोगिता की दृष्टि से अपने को अधिक शक्तिशाली सिद्ध करें। यह चल-अचल केन्द्रों की संख्या पच्चीस हजार से अधिक हो जाती है।

योजना यह चल रही है कि एक लाख आयोजनों और एक करोड़ भागीदारों को इन नये-पुराने प्रज्ञा-केन्द्रों को आबंटित कर दिया जाय। इससे देश के कोने-कोने में नव जागरण का आलोक प्रसारित होगा और एक स्थान पर इतना दबाव एकत्रित न होगा जो अव्यवस्था पैदा करे और असाधारण रूप से भारी पड़े। यह विभाजन-आबंटन योजना इन दिनों पूरे उत्साह के साथ क्रियान्वित की जा रही है और केन्द्रों की हर इकाई अपनी भागीदारी निर्धारित करने के लिए पूरी दौड़-धूप कर रही है।

इस विभाजन-प्रक्रिया की सरलता को देखते हुए यह भी आशा की गयी है कि एक लाख केन्द्र और एक करोड़ भागीदार बनाने के पूर्व निर्धारण की, नयी रीति-नीति के आधार पर कई गुनी संख्या में फलित होने का अवसर मिलेगा। इतने सजन शिल्पी सन् २००० तक विनिर्मित हो जायेंगे, जो इक्कीसवीं सदी के अवतरण में-भागीरथी भूमिका निबाह सकें, स्वयं धन्य बन सकें, योजनाकारी सत्ता को सन्तुष्ट कर सकें और यह भी दिखा सकें कि दैवी-मार्ग-दर्शन में चलने वाले प्रयास युग परिवर्तन जैसे असाधारण असंभव लगने वाले कार्य को मनुष्यों के सहारे ही साधारण और संभव बना सकते है।

विकास क्रम रुकेगा नहीं

चैतन्य शक्तियों में सबसे बढ़कर संघ शक्ति है। परमाणुओं का संयुक्त संचालन ही इस विशाल सृष्टि के रूप में दृष्टिगोचर होता है। जीवाणुओं का एकत्रीकरण ही शरीर संरचना है। ग्रह-नक्षत्रों का घेरा ही ब्रह्माण्ड है। आत्माओं का समन्वय-समुच्चय ही परमात्मा नाम से जाना जाता है और उसे सर्वशक्तिमान कहा जाता है। समन्वय ही सृजन के रूप में दृष्टिगोचर होता है।

असुरों की संयुक्त शक्ति उनकी प्रबलता और असीम क्षमता के रूप में दृष्टिगोचर होती रही है। देवता इसीलिए बार-बार हारते रहे कि वे समन्वय की उपेक्षा करते रहे, अलग-अलग अपने शक्ति भण्डार संचित करते रहे। सहयोग का चमत्कार उन्हें विदित ही न हो सका और न आत्म शक्ति का उच्च स्तरीय नियोजन उसका समुचित प्रयोग ही कभी उन्होंने किया। इस पराजय के मूलकारण का जब भी उन्हें पता चला, तभी वे एकत्रित हुए और असाधारण स्तर की सफलता प्राप्त कर सके। समन्वय ही शान्तिपुञ्ज है। जब उन्हें यह पता चला, तभी यह भी समझा कि असुरता से कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी शक्तियाँ देव सत्ता में हैं। भूल से तो हीरे को भी काँच का टुकड़ा समझा जा सकता है। मजबूत रस्सा जब अपने छोटे पृथक तिनकों के रूप में बिखर जाता है, तो उसकी शक्ति का एक प्रकार से समापन ही हो जाता है। समुद्र मंथन से उपलब्ध हुए रत्न और कुछ नहीं केवल समन्वित शक्ति के प्रयोग के चमत्कारी परिणाम भर थे।

देव शक्ति के समन्वय का इस आड़े समय में फिर एक बार सशक्त प्रयोग हो रहा है। देव-सम्मेलन दिव्य समन्वय के रूप में इन दिनों एक लाख दीपयज्ञों का व्यापक विस्तार हो रहा है। विशालकाय और अति खर्चीले यज्ञो का समय अब नहीं रहा। शुद्ध सामग्री भी उपलब्ध नहीं है, इसलिए प्रतीक पूजा के रूप में धूपबत्ती और घृत दीपकों का यजन ही गायत्री महामंत्र के साथ जोड़कर यजन प्रक्रिया पूरी की जा रही है। सुविस्तृत भारत भूमि में सुव्यवस्थापूर्वक बिना अधिक कठिनाई के एक करोड़ देव संगठन का उद्देश्य पूरे करने वाले दीपयज्ञ हो सकते हैं, किन्तु सत्पात्रों को प्रमुखता देने के तथ्य को ध्यान में रखते हुए शांतिकुञ्ज सेजुड़े हुए देव समुदाय के बलबूते इस वर्ष में एक लाख शक्ति संघों का ही शुभारंभ करने का निर्णय किया गया है। बड़ा वजन एक बारगी उठाने की अपेक्षा यह कहीं सरल है कि खण्ड-खण्डों में थोड़ा-थोड़ा संजोने की नीति अपनाई जाय। निश्चय इसी प्रकार का हुआ है। पिछले दिनों शांतिकुञ्ज परिवार के देव संघ ने मिल-जुलकर एक लाख संगठन खड़े करने, दीपयज्ञो के आयोजन आरंभ करने का कदम उठाया है। यह क्रम भविष्य में भी निरन्तर चलता रहेगा। सन् २००० की पूर्णाहुति मे अभी कुछ वर्ष शेष हैं। इसी अवधि में छोटे-छोटे कदम उठाते हुए भी ऊँची और लम्बी दीखने वाली मंजिल भी आसानी से पूरी की जा सकेगी।

इन दिनो धरती में प्राय: ६०० करोड़ मनुष्य हैं। अवांछनीयता का दौर अभी समाप्त नहीं हुआ है। जनसंख्या की वृद्धि अगले दिनों भी बढ़ती रहेगी। अनुमान है कि सन् २००० तक अपनी धरती पर १००० करोड़ मनुष्य होंगे। उनमें से देवत्व के पक्षधर समुदाय को बीनना-बटोरना पड़ेगा। उनकी संघ शक्ति को विकसित करना भी अभीष्ट होगा। तब तक लाख के स्थान पर एक करोड़ दीपयज्ञों के आयोजन बन पड़े, तो उसे भी आश्चर्य नहीं समझना चाहिए। विधान इतना संक्षिप्त और सरल है कि उन्हें मध्यम वर्ग के लोग भी निर्धारित अवधि के अन्तर्गत सरलतापूर्वक कर सकते हैं।

अब भागीदारी का महत्त्व समझ लिया गया है और हर क्षेत्र में उसी योजना का प्रयोग हो रहा है। आर्थिक क्षेत्र में सहकारी समितियाँ, बैंक, निजी कम्पनियाँ मिल जुलकर छोटे-बड़े कार्य सम्पन्न कर रही हैं। सामाजिक क्षेत्र में पंचायतें, नगरपालिकाएँ, सेवा समितियाँ जैसे साधन खड़े हो रहे हैं। सैन्य दल सामूहिकता का ही एक स्वरूप है। धार्मिक क्षेत्र में अलग-अलग जप, तप, पूजा, पाठ करने की अपेक्षा सामूहिक धर्म आयोजनों का प्रचलन चल पड़ा है। राजनैतिक पार्टियाँ भी गठित होती और चुनाव लड़ने जैसे बड़े काम करते देखी जाती हैं। विधान सभाएं, लोक सभाएँ, राज्य सभाएँ जैसे आधार बड़े प्रयोजन की पूर्ति के लिए खड़े हो रहे हैं। विश्व राष्ट्र संघ का गठन इसी प्रयोजन की पूर्ति के लिए हुआ है। इनमे अधिकाधिक लोगों का सहयोग सम्मिलित किया जा रहा है। धार्मिक आयोजन इसी रीति-नीति को अपना रहे हैं।

नवयुग के अभिनव सृजन के लिए भी ऐसी प्रतिभाये खोजी जा रही हैं, जो कूप-मंडूक, गूलर के भुनगे न रहकर सामूहिक शक्ति का महत्व समझें और बड़े कामों के लिए बड़े संगठन खड़े करने की आवश्यकता को पूरी तरह अनुभव करें। यह प्रक्रिया अब संदिग्ध नहीं रह गई है। उसकी अनिवार्यता समझने और अपनाने के लिए सर्वत्र

भाव भरे प्रयत्न हो रहे हैं । उन प्रयासों को सहायता भी मिल रही है ।

अखण्ड ज्योति पत्रिका के माध्यम से शांतिकुञ्ज के प्रचण्ड प्रेरणा का अवगाहन करने वाले पंजीकृत सदस्य प्राय: पाँच लाख है । अनुपाठक एक से पाँच बनाने की रीति-नीति अपनाकर प्राय: पच्चीस लाख हो चुके हैं । एक से पाँच की बढ़ोत्तरी अब एक सुनिश्चित नीति बन गई है । नव सृजन की विस्तार प्रक्रिया के संबंध में भी इसी प्रकार पाँच से पच्चीस लाख और पाँच गुनी अभिवृद्धि के हिसाब से १२५ लाख को ६२५ लाख लोग चाहिए अर्थात् प्राय: छ: करोड़ के लगभग। गणना न्यूनतम के अनुपात से करना, आशा अपेक्षा की कटौती करके आँकना ही ठीक रहता है । इस हिसाब से सोचा जा सकता है कि निर्धारित प्रचार-प्रक्रिया अगले वर्षों में प्राय: एक करोड़ को अपने अंचल में लपेट लेगी । वक्ताओं की तुलना में श्रोता अधिक होते हैं और श्रोताओं की तुलना में महत्वपूर्ण प्रसंगों को चर्चा का विषय बना लेने पर वक्तृता अनेक गुनी बढ़ जाती है । इस प्रकार नवयुग के समर्थक परिचित सहयोगी खड़े करते हुए एक करोड़ की संख्या तक जा पहुँचे, तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं करना चाहिए ।

मक्का, बाजरा आदि के बीज बोने पर सहज ही एक से सौ हो जाते हैं । पशु-पक्षी तक अपने जीवन काल में दस के औसत तक बढ़ जाते हैं, तो मनुष्यों मे भी अभिवृद्धि का क्रम प्राय: पाँच के हिसाब से चल रहा है । यह शरीर से शरीर प्रजनन की प्रक्रिया हुई । विचारों से विचार बढ़ाने का विस्तार क्रम और भी अधिक तीव्रता पकड़ता है। नशेबाजी, गुण्डागर्दी, असभ्यता का जो क्रम पिछले दिनों बढ़ा है, उसे देखते हुए लगता है कि दुष्प्रवृत्तियों का अनुपात बढ़ने की प्रक्रिया भी अधिक बढ़ी-चढ़ी होती है, इसलिए उनका विस्तार सहज समझ में आ जाता है, पर यह समझने की भूल नहीं करनी चाहिए कि सत्प्रवृत्ति के विस्तार की गति अत्यन्त मन्द होती है । गणना की जा सके, तो सद्भाव भरे सृजन की प्रक्रिया इतनी धीमी नहीं है, जितनी की समझी जाती है । विचारशीलता इन दिनों भी घट नहीं बढ़ रही है, भले ही उसका उपयोग किसी भी प्रयोजन के लिए क्यों न हो रहा हो । शिक्षा और सभ्यता का अभिवर्धन यद्यपि अभीष्ट उपक्रम से नहीं हो रहा हो, तो भी यह नहीं समझना चाहिए कि उनका विस्तार रुक गया है । धर्म-सम्प्रदायों के अनुयायी घट नहीं बढ़ ही रहे हैं । शिक्षितों का अनुपात भी बढ़ा है। आशा की जानी चाहिए कि अगले दिनों समझदारी भी बढ़ेगी । बेशक अनौचित्य को अपनाने वाले बढ़ रहे हैं, पर यह भूल करने की आवश्यकता नहीं कि औचित्य का समर्थन रुक जायेगा, घट जायगा । बढ़ेगा वह भी । बढ़ भी रहा है । बढ़ेगा भी ।

मक्खी, मच्छर जैसे अनुपयोगी जीव-जन्तु बढ़ते हैं-यह ठीक है, पर यह भी गलत नहीं कि अन्न का एक दाना बोने पर वह सहज सौ-गुना हो जाता है। यदि ऐसा न होता, तो दिन में कई बार लगने वाली भूख का समाधान वर्ष में एक-दो बार ही फलने वाली फसल के द्वारा कैसे हो जाता और जीवित प्राणियों में से कितने अधूरा आहार पाने के कारण संसार में से कब के विलुप्त हो गये होते ।

दिति की संतानें देवता और अदिति का प्रजनन असुर के नाम से प्रख्यात होते-होते इस समूचे धरातल पर छा गया । फिर यह कैसे स्वीकार न किया जाय कि ऋतु के अनुकूल फल और फूल अपना विस्तार न करेंगे। अभिवृद्धि मात्र अवांछनीयता की ही होगी और वांछनीयता का विस्तार रुक जायगा, ऐसी आशंका कदापि नहीं की जा सकती ।

सन्तों, सुधारकों और शहीदों की परम्परा अभी समाप्त नहीं हुई है । परिस्थितियों के अनुरूप उनमें निष्क्रियता भले ही आती रही हो, पर सृष्टि का क्रम अभिवर्धन का है । यदि कुसमय के अनुरूप अवांछनीयता का विस्तार हो सकता है, तो कोई कारण नहीं कि उत्कर्ष के मौसम में पाला ही पड़ जायगा, दुर्भिक्ष ही विजयी होगा। निराशा का कारण हो सकता है, किन्तु आशा और उत्साह भरी परिस्थितियाँ उत्पन्न होने और विस्तार करने की संभावना से भी इनकार नहीं करना चाहिए । विस्तार अच्छाई का भी होता रहा है ।

शांतिकुञ्ज ने अगले दस वर्षों में सृजन प्रक्रिया में तेजी आने का अनुमान लगाया है । विकास का भी, अभ्युदय का भी और प्रगति का भी संभावनाओं का भी। आरंभ में एक लाख देव संगठन खड़े होने, एक-एक करोड़ समर्थक सहयोगी विनिर्मित-विगठित होने की आशा की है और अनुमान लगाया है कि वह विस्तार घटेगा नहीं, बढ़ता ही रहेगा । जो सोचा गया है, जो निर्धारित किया गया है, उसे अत्युक्ति नहीं माना जाना चाहिए । एक लाख दीपयज्ञ देव संगठनों के रूप में विकसित होगे और एक करोड़ समर्थक भागीदार विनिर्मित होकर रहेंगे । यदि

युग संधि के दस वर्षों में यह हो सकता है तो कोई कारण नहीं कि इससे आगे की वेला और भी बढ़े-चढ़े उत्साहवर्धक परिणाम उत्पन्न न करे।

अवांछनीयता अपने क्रम से अभिवर्धन की दिशा में चली है। विश्वास यह भी किया जाना चाहिए कि अभिवर्धन रुकेगा नहीं। श्रेष्ठता विस्तार पकड़ेगी और उसका प्रतिफल उज्ज्वल भविष्य के रूप में फलित होता दृष्टिगोचर होगा। छूत की बीमारियाँ असंख्यों के लिए मरण एवं विनाश का संदेश साथ लेकर आती हैं, अभ्युदय का मौसम उपयोगी गतिशीलता पकड़ेगा, मान्यता इसकी भी निरन्तर बढ़नी चाहिए।

तीर्थ-प्रक्रिया का पुनर्जीवन

भारतीय ही नहीं विश्व की सांस्कृतिक मान्यताओं में तीर्थ यात्रा का अतिशय महत्त्व है। येरुसलम, मक्का, बोध गया, सारनाथ आदि तीर्थों की यात्रा हेतु उन मतों के अनुयायी लम्बी दूरियाँ तय करके उन केन्द्रों में पहुँचते और अपनी श्रद्धा की सघनता का परिचय देते हैं। भारतीय धर्म में उनकी महिमा और गरिमा का असाधारण प्रतिपादन हुआ है, इसलिए असंख्य तीर्थ यात्री इस प्रयोजन के लिए असाधारण मात्रा में समय, श्रम और धन का नियोजन करते हैं।

इन दिनों विकृतियों ने कोई क्षेत्र अछूता नहीं छोड़ा है; तीर्थ प्रयोजन भी नहीं। तीर्थ यात्रा का महत्त्व एवं पुण्य-फल इस तथ्य पर आधारित है कि उसमें धर्म-प्रचार की पद यात्रा के रूप में जन जन से सम्पर्क साधते थे। उसका नेतृत्व करने वाले विचारशील, जन-जीवन में सत्प्रवृत्तियों को उभारने की महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। पर आज तो द्रुतगामी वाहनों में सवारी करके देवालयों की दर्शन-झाँकी करने, जलाशयों में डुबकी लगाने और पूजा-पत्री करने मात्र जैसी लकीर पीट कर लोग तीर्थ यात्रा सार्थक मान लेते हैं। धक्का-मुक्की और फैली हुई गंदगी के अतिरिक्त और कोई वस्तु बाद में स्मरण नहीं रहती। यह कैसी तीर्थ यात्रा? इतने भर में पुण्यफल कैसे आकाश से बरसेगा और पापों का क्षय होने जैसी मान्यताओं को किस आधार पर प्रकाश मिलेगा?

भूल सुधारनी पड़ती है। अच्छा हो तीर्थ यात्रा संबंधी प्रचलन में हम नये सिरे से विचार करें और देखें कि उस यात्रा के साथ कहीं लोकमंगल जुड़ा है या नहीं? धर्म प्रचार की पद यात्रा के पुराने प्रचलन में अब यह अन्तर हो सकता है कि उसे विनोबा की सर्वोदयी पद-यात्रा स्तर की उपयोगिता से समन्वित किया जाय। समीपवर्ती क्षेत्र में सत्प्रवृत्तियों की प्राचीन या अर्वाचीन कार्यपद्धति के प्रति निष्ठा जमाने के लिए सुनियोजित क्रिया-प्रक्रिया निर्धारित करें।

गाँधीजी जब कांग्रेस के माध्यम से देश-सेवा की तैयारी करने लगे, तो उन्हें श्री गोखले ने सलाह दी कि वे पहले उस भारत माता की परिस्थितियाँ आँखों से देख लें। इसके लिए एक बार देश भ्रमण कर लें। गाँधी जी ने वही किया और एक अधनंगी महिला की परेशानी आँखों देखकर इतने द्रवित हुए कि स्वयं भी आधी धोती पहनने और आधी ओढ़ने लगे। तभी से वे सच्चे अर्थों में 'महात्माजी' नाम से प्रख्यात हुए। लोक सेवियों के लिए तीर्थ यात्रा इसीलिए आवश्यक है कि वे अपने समाज की वस्तुस्थिति समझें और तदनुसार उपचार के लिए जुटें। संत-परिव्राजक इसी प्रयोजन के लिए तीर्थ यात्रा को धर्मकृत्य मानते थे और उसमें निरत होकर लोक-कल्याण की बहुमुखी योजनाओं में निरत होते थे।

श्रावण या फाल्गुन के महीनों में गंगा जल की काँवर कंधे पर रखकर लोग ले जाते हैं और समीपवर्ती किसी शिवालय में उसे चढ़ाते हैं। जो लोग इस प्रयोजन के लिए निकलते हैं, वे मिल जुलकर धार्मिक गीत ऊँचे स्वर से गाते चलते हैं; ताकि जो भी उस गायन को सुने, वे कुछ प्रेरणा प्राप्त करें। यह चिह्न-पूजा बताती है कि धर्म प्रचारक ही नहीं, तीर्थयात्रा का उपक्रम हर स्तर के लोग किसी न किसी रूप मे क्रियान्वित करने के लिए लालायित रहते हैं। पापों के प्रायश्चित्त के लिए एक बहुप्रचलित माध्यम तीर्थ-यात्रा की मान्यता अभी भी है।

प्राचीन काल के ऋषि-मुनियों की एक प्रशिक्षण-पद्धति यह भी थी कि वे अपने शिष्यों की मण्डली साथ लेकर तीर्थयात्रा पर निकलते थे और उपयुक्त स्थानों पर विराम करते हुए अध्ययन अध्यापन का क्रम चलाते रहते थे। इससे उन्हें अनेक क्षेत्रों के साथ सम्पर्क साधने, अनुभव बटोरने एवं स्वास्थ्य संवर्धन के बहुमुखी लाभ मिलते थे। पद-यात्रा स्वास्थ्य-संवर्धन का एक अति सरल और महत्त्वपूर्ण माध्यम माना गया है। अभी भी छुट्टी के दिनों में छात्रों, किसानों एवं दूसरे लोगों को पर्यटन के लिए विशेष सुविधाएँ मिलती हैं। इस प्रकार पर्यटन एक उद्योग भी बन गया है। यह सब प्रयोजन प्राचीन काल की उस तीर्थ परम्परा का ही स्मरण दिलाते हैं, जिससे अनेकों को,

अनेक प्रकार के प्रत्यक्ष एवं परोक्ष लाभ उठाते रहने का अवसर मिलता था।

इक्कीसवीं सदी की युगान्तरीय चेतना का संदेश सुनाने एवं वातावरण बनाने, उत्साह उभारने के लिए उसी प्राचीन परम्परा को अब नये ढंग से, नये कार्यक्रम के साथ प्रयुक्त करने की योजना बनायी गयी है। जिसे अपनाकर प्रचारकों और विचारकों ने यहाँ के जन समुदाय एवं वातावरण को उच्चस्तरीय बनाने में असाधारण सफलता अर्जित की थी, उसे पुनर्जीवित करके उद्देश्यमय तथा सार्थक बनाने का ठीक यही समय है।

युग धर्म के पालन के लिए, जनमानस के परिष्कार के लिए, सघन जनसम्पर्क के लिए सार्थक तीर्थ यात्राएँ प्रारंभ की जायें। आज की स्थिति में यह उपयुक्त लगता है कि जन-जागरण के लिए उत्साही युगशिल्पी, साइकिल टोलियाँ बनाकर निकलें। साइकिल यात्रा को पद-यात्रा के समकक्ष ही माना जा सकता है। समय की बचत भी होती है, इच्छित क्रम से सम्पर्क किया जा सकता है, कहीं भी सुविधानुसार पहुँचा और रुका जा सकता है।

साइकिल टोलियाँ अपने साथ छोटा प्रचार-साहित्य, दीवाल लेखन के साधन, कीर्तन के लिए ढपली-मंजीरे जैसे वाद्य रखें। गोष्ठी, सत्संग, कीर्तन, सहगान, वाक्य-लेखन, स्लाइड-प्रदर्शन, छोटे दीप यज्ञ जैसे माध्यमों से जन-जन में युग चेतना का संचार करते चलें। कस्बों, देहातों तक में, देश के कोने-कोने में इस प्रक्रिया द्वारा नवजागरण का संदेश पहुँचाया जाना संभव है।

साइकिल यात्रा मे तीन-चार की टोली पर्याप्त है। टोली में एक साइकिल पर लाउडस्पीकर रहे, तो और भी अच्छा हो। इसके लिए हलके और छोटी बैट्री से भी काफी समय तक चल सकने वाले एम्प्लीफायर तैयार कराये गये हैं, जो शान्तिकुञ्ज में उपलब्ध रहते है। माइक-हार्न, बैट्री, बैट्री-चार्जर सहित मूल्य लगभग ११ सौ रुपये पड़ता है। इसी में कैसेट-प्लेयर भी जुड़ा है। इससे संगीत, उद्‌बोधन, गोष्ठी, जयघोष आदि सभी में सुविधा रहती है।

यह तीर्थ-यात्राएँ किन्हीं स्थूल देवालयों को लक्ष्य करके निकाली जायें, यह आवश्यक नहीं। रामचरितमानस में यह कहा गया है- 'मुद मंगलमय संत समाजू, जो जग जंगम तीरथ राजू' अर्थात् लोकमंगल के लिए संकल्पित सक्रिय सज्जनों का, लोक सेवियों का समुदाय चलते-फिरते तीर्थराज की तरह होता है। महाकाल का, युग शक्ति का संदेश स्वयं तीर्थ-चेतना का प्राण है। उसे गाँव-गाँव स्थापित करके सारे देश को पुनः तीर्थ रूप में जागृत-विकसित करना, उन यात्राओं का महान उद्देश्य है। इनका पुण्य-फल भी असाधारण होता है।

इन यात्राओं के कई प्रकार हो सकते हैं। निकटवर्ती क्षेत्रों के लिए प्रातः चलकर रात्रि तक वापस लौट आने का क्रम सबसे सुगम है। दिन का भोजन अपने साथ रखा जा सकता है। सत्, चूड़ा (पोहा) आदि जैसे आहार साथ लेकर कई दिन की यात्राएँ भी सुविधापूर्वक की जा सकती हैं। अधिक ठण्ड हो, तो ओढ़ने-बिछाने के कपड़ों की जरूरत पड़ती है। वैसे पुआल बिछाकर कम्बल ओढ़कर अधिकांश समय तक काम चल भी जाता है। जैसी परिस्थितियाँ हों, तदनुसार विवेकपूर्वक यात्रा योजना बनायी जा सकती है।

यों साइकिल पर पर्याप्त सामान लेकर चलना संभव नहीं है। यदि साइकिल यात्रा का उत्साह उभरे, नियमित क्रम चले, तो एक ट्रालीवाला रिक्शा भी एक टोली के साथ रखा जा सकता है। उसमें सबके लिए आवश्यक वस्त्र, भोजन का सामान आदि रह सकता है। साइकिल यात्री आस-पास के गाँवों में सम्पर्क करते हुए बढ़ें और रिक्शा सीधा निर्धारित भोजन या रात्रि विश्राम के स्थल पर पहुँचकर पूर्वव्यवस्था बनाकर रखे। ऐसा करने से लम्बी यात्राएँ भी बड़े मजे में की जा सकती है।

कभी प्रचलन यह भी रहा है कि देवालयों, धर्मशालाओं का निर्माण विशालकाय धर्म-प्रचार केन्द्रों के रूप में ही किया जाता था। वहाँ निवास एवं भोजन की व्यवस्था रहती थी; ताकि प्रचारकों को कम से कम असुविधाओं का सामना करना पड़े। अब वह समय न जाने कब आयेगा। अब तो मनोकामना पूर्ण करने या सस्ती वाहवाही लूटने के उद्देश्य से ही धर्मस्थानों का निर्माण होते देखा गया है।

इस दिशा में शान्तिकुञ्ज ने २४०० प्रज्ञापीठो की स्थापना उत्तर भारत के अनेकों स्थानों पर पिछले दिनों की थी; किन्तु दुर्भाग्य यही रहा कि पुरानी मान्यताओं को बदल सकने में वैसी सफलता नहीं मिली, जैसी मिलनी चाहिए। अब नये सिरे से नये ऐसे धर्म स्थानों को बनाने की आवश्यकता अनुभव की जा रही है, जो तीर्थयात्रा आन्दोलन के साथ सघन रूप से जुड़े हुए रहें। जहाँ ठहरने की, भोजन की और लोगों को एकत्रित कर लेने की तीनों ही सुविधाएँ उपलब्ध रहें। अगले दिनों हर गाँव-कस्बों को ही नये धर्मसंस्थानों की आवश्यकता बड़ी संख्या में

पड़ेगी। भले ही वे आर्थिक असुविधा की स्थिति में, झोंपड़ी, खपरैल. टीनशेड, सघन वृक्ष के उद्यान के रूप में ही बना लिए जायँ।

एक प्राचीन परम्परा यह भी थी कि हर घर से एक-एक रोटी संग्रह करके तीर्थयात्रियों की भोजन-व्यवस्था जुटा ली जाती थी। किसी पर अधिक भार न पड़ता था। बनाने-पकाने का झंझट भी नहीं रहता था और देने वाला यह अनुभव करता था कि उसने भारतीय धर्म में सर्वोत्तम स्तर के माने जाने वाले कार्य में सहयोग दिया। अब से जहाँ संभव होगा, वहाँ शान्तिकुञ्ज की साइकिल यात्राएँ उस परम्परा को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न करेंगी। जहाँ संभव न होगा, वहाँ अपने साथ भोजन-व्यवस्था रखने जैसा अन्य क्रम बनाये जा सकते हैं।

जहाँ भी प्रज्ञाकेन्द्र है, छोटे-बड़े संगठन बन चुके हैं, वहाँ समय-समय पर तीर्थ यात्राए निकालने का प्रयत्न चलना चाहिए। साधन जुटाना कठिन नहीं, साइकिलें माँगी भी जा सकती हैं। इसके लिए फरवरी से जून तक का और सितम्बर से दिसम्बर तक समय भी ऋतु की दृष्टि से अनुकूल रहता है। देश का हर गाँव तीर्थ बने, हर क्षेत्र में जीवन्त युगान्तरीय चेतना उभरे, इसके लिए मनीषियों को गाँव-गाँव पहुँचने और जन-जन को ऐसे विचारशील प्रतिभाशाली लोगों के सम्पर्क मे आने का अवसर मिले, तो समझना चाहिए कि नवयुग के अवतरण की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया चल पड़ेगी।

जहाँ कोई बड़ी तैयारी नहीं है, पूर्व योजना बनाने तथा इस संबंध में अब तक प्रशिक्षण प्राप्त करने का अवसर नहीं मिला है; वहाँ पर सरल उपाय यह है कि अपने यहाँ से हरिद्वार चल पड़ने की योजना बनायी जाय। रास्ते में वाक्य लेखन, दीप यज्ञ, सहगान कीर्तन, प्रवचन, साहित्य-विस्तार स्टीकर, लगाने आदि कार्य करते हुए शान्तिकुञ्ज पहुँचा जाय। वहाँ दो-चार दिन विश्राम एवं नये प्रशिक्षण का लाभ प्राप्त करते हुए, दूसरे रास्ते से घर वापस लौट जाया जाय; ताकि लौटने में अलग गाँवो से सम्पर्क सधे।

उसके अतिरिक्त यह भी हो सकता है कि अपने इलाके की एक परिधि बनाकर, उसके हर गाँव के साथ सम्पर्क साधने का काम हाथ में लिया जाय और निर्धारित परिक्रमा पूरी की जाय। ईमारतों, मंदिरों, जलाशयों तक तीर्थयात्रा को सीमित करते हुए उस क्षेत्र को ही एक जीवंत तीर्थ मान लिया जाय और उसकी अभ्यर्थना नवचेतना-संचार द्वारा की जाय।

अगले दिनों जनशक्ति ही समस्त समस्याओं का समाधान करेगी। राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, पारिवारिक एवं अनीति-उन्मूलन, सत्प्रवृत्ति-संवर्धन जैसे कार्यक्रमों में जो लोग निरत होंगे, उन्हीं के हाथ सुदृढ़ और सुनिश्चित नेतृत्व अनायास ही जा पहुँचेगा। सेवा के बदले श्रद्धा उपलब्ध करने वाले ही संसार का नेतृत्व करते और महामानव बनते रहे हैं। इस साधना को सम्पन्न करने वाले स्वयं लाभान्वित होंगे और अपने सम्पर्क-क्षेत्र को भी लाभान्वित करेंगे। इसलिए नवयुग के आगमन की पुण्य-वेला में तीर्थ यात्रा के रूप में युग चेतना का अभिनव संचार किया जा रहा है।

यों झोला पुस्तकालय चलाना, ज्ञानरथ धकेलना, घरों में स्लाइड प्रोजेक्टर दिखाना, आदर्श वाक्य लेखन, स्टीकर्स लगाना, प्रचार उपकरण पेटी से छोटी-छोटी गोष्ठियाँ नियोजित करना, प्रभात फेरी स्तर का अलख जगाना, सामूहिक सत्संग के लिए दौड़ धूप करना- यह सब भी प्रकारान्तर से पद-यात्रा, तीर्थ-यात्रा की ही आवश्यकता पूरी करते हैं; पर साइकिल टोली यात्रा का जो प्रभाव-परिणाम देखने को मिलता है, उसकी बात ही दूसरी है।

युगचेतना-संचार के लिए सूत्रधारों ने इस यात्रा-प्रक्रिया पर बहुत जोर दिया है। हर जागृतात्मा को इसमें जुटने के लिए कहा जा रहा है। हजारों साइकिल यात्री निकल पड़ें और नव जागरण की तीव्र लहर सब ओर उभर कर आये, ऐसी आशा-अपेक्षा की गयी है। शान्तिकुञ्ज से ऐसी क्रान्तिकारी टोलियाँ निकालने की भी व्यवस्था बनायी गयी है।

सृजन शिल्पियों का समर्थ शिक्षण

शिक्षा के नाम पर साक्षरता से लेकर सामान्य काम-काज में आने वाली जानकारियों का प्रशिक्षण तो वर्तमान स्कूल-कालेजों में भी होता है। उस आधार पर नौकरी से लेकर अन्य अनेक प्रकार के व्यवसायों की योग्यता प्राप्त होती है। इसलिए उसे उदरपूर्णा भी नाम दिया जाता है। उस आधार पर लोग पैसा और प्रशिक्षण भी प्राप्त कर लेते हैं। पर व्यक्तित्व का विकास-परिष्कार, जो इस प्रस्तुत शिक्षा-परिधि से आगे की बात है,-सहज उपलब्ध करने की कोई व्यवस्था कहीं दीख नहीं पड़ती।

प्राचीन काल में व्यक्तित्व के विकास-परिष्कार को ही 'विद्या' कहा जाता था। उसी की महिमा-महत्ता

'विद्ययाऽमृतमश्नुते' जैसी सूक्तियों में प्रकट की गयी थी। उदरपूर्णा में काम आने वाली शिक्षा तो किसी भी तद्विषयक जानकार व्यक्ति या केन्द्र से उपलब्ध की जा सकती है, किन्तु विद्या की प्राप्ति के लिए प्रशिक्षक का स्तर ही नहीं, प्रशिक्षण केन्द्र का वातावरण भी उच्चस्तरीय होना चाहिए। प्रशिक्षण का पाठ्यक्रम भी ऐसा होना चाहिए, जो सामान्य जानकारियाँ ही उपलब्ध न कराये; वरन् अन्तराल के उन मर्मस्थलों को भी विकसित करे, जहाँ व्यक्तित्व-उद्भव का मूल स्रोत सन्निहित है।

उस स्तर की विद्या की उपलब्धि जहाँ से होती थी, उन केन्द्रों को गुरुकुल, आरण्यक, आश्रम, तीर्थ आदि के नाम से जाना जाता था। ऐसा प्रबंध जुटा सकना, हर किसी के बस में नहीं होता। उन्हें मूर्धन्य मनीषा के धनी ऋषि स्तर के अध्यापक ही विनिर्मित संचालित करते थे। इसलिए जहाँ-तहाँ पाये जाने वाले, उन केन्द्रों में स्थानीय समीपवर्ती लोगों के अतिरिक्त सुदूर क्षेत्रों के संसार भर के विद्यार्थी एकत्रित होते थे। उस बड़ी व्यवस्था को विश्वविद्यालय के नाम से जाना जाता था। नालन्दा और तक्षशिला विश्वविद्यालय ऐसी ही भूमिका निभाते थे। बौद्ध-विहारों और अन्यान्य समर्थ तीर्थों में भी ऐसी ही व्यवस्था थी। उन्हीं खदानों से बहुमूल्य नर रत्न विनिर्मित होते थे। महामानव ढालने की टकसाल भी उन्हीं को कहा जाता था। इन्हीं केन्द्रों का महान कर्तृत्व था, जिसने महामानवों की इतनी बड़ी सेना खड़ी कर दी थी, जिसने संसार व्यापी अनाचार से जूझने और सत्प्रवृत्तियों को विश्वव्यापी बनाने में असाधारण सफलता पायी। वही पुरुषार्थ फलित होकर ऐसा वातावरण विनिर्मित करता था, जिसे अब भी सतयुग के रूप में स्मरण किया जाता है। उन दिनों की सुविकसित प्रतिभाओं को देव मानव नाम दिया जाता है। उनकी बहुलता के कारण ही यह भारत भूमि 'स्वर्गादपि गरीयसी' बनी थी। विश्व-शान्ति और सर्वतोमुखी प्रगति का श्रेय इन्हीं महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों को दिया जाता था। इन निर्माणों को धरती पर स्वर्ग उतारने वाले आधार कहकर, उन्हें असाधारण श्रेय दिया जाता था।

इन दिनों पुरातन महानता की विधि-व्यवस्था का प्रतिरूप कहीं दिखाई नहीं पड़ता। शिष्यों की कमी नहीं, पर विद्यालयो का महान उद्देश्य पूरा कर सकने वाले केन्द्र कहीं खोजने पर भी नहीं मिलते। कोई समय था, जब इस महान परम्परा के पुनर्जीवन की महान आवश्यकता समझी गयी थी और कई महामानवों ने अपने अपने ढंग से ऐसे विद्यालयों का नव निर्माण करने के लिए अपनी-अपनी क्षमता को अपने ढंग से नियोजित किया था।

महामना मालवीय जी द्वारा स्थापित हिन्दू विश्वविद्यालय, शिवप्रसाद गुप्त द्वारा स्थापित काशी विद्यापीठ, योगी अरविन्द द्वारा स्थापित कलकत्ते का नेशनल कौंशिल कालेज, स्वामी श्रद्धानन्द का गुरुकुल कांगड़ी, राजा महेन्द्रप्रताप का प्रेम महा विद्यालय, टैगोर का शान्तिनिकेतन आदि कुछ ही स्थापनाएं अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए बन पड़ीं; पर यह नहीं कहा जा सकता कि उनमें से कितनी प्रतिभाएँ उभरीं और वे तंत्र किस सीमा तक उद्देश्य की पूर्ति कर सके? महात्मा गाँधी, योगी अरविन्द विनोबा आदि के अपने निजी सम्पर्क-प्रयास इसी प्रयोजन के लिए चले और उनके किसी हद तक प्रभाव-परिणाम भी निकले। इनमें गाँधी के सत्याग्रही और बुद्ध के परिव्राजक विशेष रूप से प्रभावशाली सिद्ध हुए, जिनने प्रतिभाएँ भी निखारी और सामयिक समस्याओं के कारगर समाधान भी निकाले।

इसी शृंखला में एक अभिनव कड़ी शान्तिकुञ्ज, हरिद्वार की भी जुड़ती है। वहाँ वातावरण, प्रशिक्षण एवं अध्यात्म-साधना उपक्रम की तीनो व्यवस्था जुटाते हुए ऐसा प्रबन्ध किया गया है कि प्राचीन विश्वविद्यालयों की तरह सभी शिक्षार्थियों को, बिना अमीर-गरीब के अन्तर के शिक्षा पाने में सभी अनिवार्य सुविधाओं को प्राप्त करने का अवसर मिल सके। अन्यथा मूल्य चुकाने की स्थिति रहने पर मात्र अमीरों को ही उपयुक्त विद्या लाभ-मिल पाता और निर्धनों को आत्म परिष्कार एवं परमार्थ-प्रयोजनों के लिए कुछ कर सकने से सर्वथा वंचित ही रहना पड़ता। उपयुक्त साधनों के अभाव में ऐसे समर्थ विद्यालय हर कहीं स्थापित भी तो नहीं हो सकते थे। एक प्रकार से इसे बहुमुखी एवं समग्र विद्यारण्यक या 'मल्टीवर्सिटी' कहा जा सकता है।

कहा जा चुका है कि युग परिवर्तन की प्रक्रिया के पीछे पूँजी, प्रतिभा, संगठन आदि कोई प्रत्यक्ष दीख पड़ने वाली भौतिक शक्ति काम नहीं कर रही है। इतनी बड़ी योजना, जिसमें किसी देश और क्षेत्र का सुधार-परिवर्तन ही नहीं, वरन समूचे विश्व की चेतन और अचेतन स्तर की असंख्यों समस्याएँ जुड़ी हुई हैं; जिनकी जड़ें पाताल तक गहराई में घुसी हुई है; जिन्हे प्रभावित करना, बदलना किसी भौतिक शक्ति का काम नहीं है; उसकी

योजना और व्यवस्था बनाने में एक मात्र दैवी शक्ति ही सफल हो सकती है । उसी के द्वारा समूचा, नव-निर्माण से संबंधित ताना-बाना बुना जा सकता है । उसी शक्ति ने, उद्गम-उद्भव केन्द्र के रूप में शान्तिकुञ्ज का चयन किया है । चम्बल, नर्मदा, गंगा, यमुना जैसी विशाल नदियों के उद्गम छोटे-छोटे हैं, पर आगे बढ़ने पर वे आश्चर्यजनक विस्तार पकड़ गये हैं । शान्तिकुञ्ज को भी गोमुख की तरह एक छोटा झरना कह सकते है, जिसके साथ गौरी कुंड या 'नियाग्राफाल' जैसी सुविस्तृत संभावनाएं जुड़ी हुई हैं।

गंगा की गोद, हिमालय की छाया, सप्तऋषियों की तपोभूमि, दिव्य वातावरण और अखण्डदीप प्रज्वलन, नित्य यज्ञ, युग संधि महापुरश्चरण की आधारशिला के साथ-साथ यहाँ अनायास ही ऐसा शिक्षण-तंत्र बन गया है, जिसे चन्दन वन की उपमा दी जा सकती है । कहा जा सकता है कि उसमें प्रवेश करने वाला जब लौटता है, तो उसकी स्थिति उस काया-कल्प जैसी हो जाती है, जिसकी तुलना वयोवृद्ध च्यवन का अश्विनीकुमारों के अनुग्रह से तरुण हो जाने से दी जा सकती है ।

शान्तिकुञ्ज की अपनी अनेक विशेषताएं है, पर उनमें से प्रमुखता इसे दी जाती है कि उसने नालंदा-तक्षशिला के समान बनाने का प्रयत्न किया है । एक लाख प्रज्ञा केन्द्र और एक करोड़ सृजनशिल्पी विनिर्मित करने और उन्हें युग देवता के चरणों मे भाव-भरी श्रद्धांजलि के रूप में प्रस्तुत करने का ऐसा संकल्प किया है, जिसके साकार एवं सार्थक होने के संबंध में आशंका नहीं की जा सकती । यहाँ अपने ढंग की ऐसी-शिक्षा पद्धति चलती है, जिसमें पाठ्यक्रम ही पूरे नहीं कराये जाते, वरन् साधना एवं प्रेरणा के उभयपक्षीय प्रयत्नों से सामान्यों को असामान्य बना देने का प्रयत्न किया जाता है टकसाल के सिक्कों और सीप के मोतियों की तरह ।

युग परिवर्तन की मध्य संध्या दस वर्षों की है, सन् १९९० से २००० तक । इस केन्द्र से साहित्य-सृजन, संगठन एवं प्रचार-परिवर्तन से लेकर सृजनशिल्पियों का सृजन-इन क्रियाकलापों में प्रमुख है । आश्रम में स्थान की कमी और सम्मिलित होने वाले भागीदारों की बहुलता को देखते हुए पाँच-पाँच दिन के छोटे-छोटे शिक्षण-शिविर चलाकर किसी प्रकार समाधान ढूँढा गया है । इतने पर भी यह गुंजायश रखी गई है कि जिनको अधिक देर टिकाना आवश्यक है, उन्हें एक महीने तक के लिए रोक लिया जाय । सीखना और सिखाना वही है, जिनसे भागीरथी-वरिष्ठता अर्जित की जा सके; हनुमान, अंगद जैसा युगधर्म निबाहा जा सके ।

प्रेरणाएँ, परामर्श, विचार-विनिमय के समाधान के आधार पर उपलब्ध करायी जाती हैं । इसके लिए कोई निर्धारित पाठ्यक्रम नहीं है । व्यक्ति विशेष को चिन्तन को आवश्यकतानुसार इतना बदल देने का प्रयत्न किया जाता है, कि उस आधार पर व्यक्ति को दिव्य स्तर का बनाया जा सके । यह प्रयोग इतना सफल हुआ है कि मिशन के कार्यकर्त्ता देश-विदेश के कोने-कोने में छाये, देखे जा सकते हैं । यह प्रेरणा पक्ष हुआ।

इसके साथ ही साधना की ऐसी प्रक्रिया भी जुड़ी हुई है, जिसे युग-साधना या सामयिक तपश्चर्या कहा जा सकता है । नित्य गायत्री जप, उदित होते स्वर्णिम सविता का ध्यान, नित्य यज्ञ अखंड दीप का सान्निध्य, दिव्यनाद की अवधारणा, आत्मदेव की साधना, सहगान-कीर्तन जैसे अनेक प्रयोग ऐसे हैं, जो सम्मिलित रूप से युग साधना की आवश्यकता पूरी करते हैं, तपाकर खरा सोना बनाने में बहुत हद तक सफल होते हैं । सूर्यतापी गंगा जल मे बना हुआ हविष्यान्न यहाँ का भोजन रूपी प्रसाद है । आश्रम की परिधि में पाँच दिनों तक, उसी प्रकार बिना दौड़-धूप के एकनिष्ठ रहना पड़ता है, जैसा कि माँ के गर्भ में नियत अवधि तक भ्रूण पकता है । संचित कुसंस्कारों के प्रायश्चित्त-परिमार्जन के रूप में, जो कुछ करना पड़ता है, उसे सामर्थ्य के अनुसार नव-सृजन की लोकसेवा में निरत रहने के रूप में जाना जा सकता है।

सोचा यह गया है कि जिस प्रकार कभी हर राजपूत के घर से एक सैनिक हर ब्राह्मण के घर से एक परिव्राजक, हर लोकसेवी परम्परा के परिवार से एक समर्पित शिष्य निकला करता था, उसी प्रकार अब हर सुसंस्कारी परिवार से एक सृजन-शिल्पी निकलने की परम्परा चल पड़े । उसके घरेलू उत्तरदायित्व परिवार के अन्य सदस्य मिल-जुल कर पूरे करें । इस निमित्त आश्रम में गृह-उद्योगों की भी एक सुव्यवस्थित शिक्षण शाला है, जिसमें वह सिखाया जाता है- जिसके आधार पर हर परिवार स्वावलम्बन, पूर्वक अपना खर्च चला सकें और एक व्यक्ति की आर्थिक जिम्मेदारियाँ अपने कंधों पर वहन कर सकें ।

मिशन दिन-दिन मत्स्यावतार की तरह अपना कलेवर निरंतर बढ़ाता चला जाता है । इसलिए सम्पर्क परिकर के सदस्यों का आश्रम में निरंतर आते-जाते रहना स्वाभाविक है । उनके ठहरने और भोजन का प्रबंध भी

असाधारण रूप से अधिकाधिक बढ़ाना पड़ रहा है । इसलिए पिछले दिनों वाले रसोई-घर से काम नहीं चला। अब उसे आधुनिक यंत्र-उपकरणों से इस प्रकार सुसज्जित कर दिया गया है कि हर दिन हजारों का भोजन पाना कठिन न रहे । आश्रम में स्थायी रूप से रहने वाले लगभग पाँच सौ कार्यकर्त्ता हैं । मिल-जुलकर श्रमदान से इन सब कार्यों को सेवा-साधना के आधार पर पूरा कर लेते है, जिनके लिए यदि कर्मचारी रखने पड़ते, तो उनका व्यय-भार असंभव हो जाता ।

शान्तिकुञ्ज की और भी कई अद्भुत विशेषताएँ हैं। जड़ी-बूटी उद्यान और अनुसंधान के सहारे आयुर्वेद का पुनर्जीवन, ब्रह्मवर्चस् शोध संस्थान द्वारा मनोविकारों का निष्कासन और प्रतिभा परिवर्तन के अदृश्य स्रोतों का रहस्योद्घाटन ऐसे ही प्रयोग हैं, जिनके सहारे अभीष्ट शारीरिक-मानसिक परिष्कार में असाधारण सहायता मिलती है । यह दोनों तंत्र जैसी सफलता अर्जित कर रहे हैं, उसे देखने के लिए देश के कोने-कोने से अगणित मनुष्य इसलिए आते हैं कि अध्यात्म-आधार को लेकर व्यक्ति का सर्वतोमुखी परिष्कार सचमुच बन पड़ सकता है ?

इक्कीसवीं सदी उज्ज्वल भविष्य के अनेक पक्षों पर प्रकाश डालने वाला सर्वसुलभ साहित्य भी इसी आश्रम में छपता रहता है, जिसके लिए एक छोटा प्रेस लगा है, जिसमें मिल-जुलकर ही प्रचार साहित्य छपता रहता है ।

नित्य का सांस्कृतिक कार्यक्रम, प्रखर-प्रवचन, तीर्थ-यात्रा योजना का प्रशिक्षण, स्लाइड प्रोजेक्टर, ऑडियो टेप, वीडियो स्तर के कैसेट आदि मशीन-उपकरणों की एक वैज्ञानिक कक्षा अलग से चलती रहती है, जिसमे यांत्रिक प्रचार-प्रक्रिया की आवश्यकता पूरी होती रहती है । इन्हे दर्शक देखते और शिक्षार्थी सीखते हैं।

पत्राचार विभाग द्वारा व्यापक संख्या में सृजन-शिल्पियों का मार्गदर्शन चलता रहता है । इसके लिए आश्रम में ही एक पोस्ट आफिस भी है । आश्रम की प्रचार जीपें निरन्तर देशव्यापी दौरे पर रहती हैं; ताकि छोटे-बड़े आयोजनों और सम्मेलनों की आवश्यकता भी क्रमबद्ध रूप से पूरी होती रहे । यह क्रम वर्ष भर चलता रहता है।

युगान्तरीय चेतना का आलोक विस्तार

छोटा बीज कुछ ही दिनों में बड़ा वृक्ष बन जाता है। शिलान्यास छोटे रूप में ही होता है; पर समयानुसार वह भव्य भवन बन कर खड़ा हो जाता है । यह युग संधि है। अभी जो छोटा दीख रहा है, वह अगले दिनों विशालकाय ऐसा बोधिवृक्ष बन जायेगा, जिसके नीचे तपस्वी सिद्धार्थ को बोध हुआ; वे बुद्ध बने और जिसकी शाखायें देश-विदेशों में दिव्य बोध का संदेश देने पहुँचती रहीं ।

बीज बोने का समय थोड़ा ही होता है । वृक्ष का अस्तित्व लम्बे समय तक स्थिर रहता है । सन् १९९० से लेकर सन् २००० तक के दस वर्ष जोतने, बोने, उगाने, खाद-पानी डालने और रखवाली करने के हैं। इक्कीसवीं सदी से वातावरण बदल जायेगा, साथ ही परिस्थितियों में भी भारी हेर-फेर होगा । इस सभी के विस्तार में एक शताब्दी ही लग जायेगी- सन् २००० से सन् २०९९ तक । इस बीच इतने बड़े परिवर्तन बन पड़ेंगे, जिसे देख कर जन साधारण आश्चर्य में पड़ जायेंगे । सन् १९०० में जो परिस्थितियाँ थीं, वे तेजी से बदलीं और क्या से क्या हो गया-यह प्रत्येक सूक्ष्मदर्शी जानता है । जिनकी दृष्टि मोटी है, उनके लिए तो जमीन-आसमान सदा एक से रहते हैं। अगले दिन इतने आश्चर्य भरे परिवर्तनों से भरे होंगे, जिसे देखकर प्रज्ञावानों को यही विदित होगा कि युग बदल गया । अनुभव होगा कि मनुष्य का शरीर तो पहले जैसा ही है, किन्तु उसका मानस, चिन्तन, दृष्टिकोण असाधारण रूप से बदल गया और समय लगभग ऐसा आ गया, जिसे सतयुग की वापसी कहा जाय, तो अत्युक्ति न होगी ।

प्राचीन काल में समय की गति धीमी थी, परिवर्तन क्रमिक गति से होते थे । पर अबकी बार प्रवाह तूफानी गति से आया है और दो हजार वर्षों में हो सकने वाला कार्य, मात्र एक सौ वर्ष में पूरा होने जा रहा है। नयी शताब्दी नये परिवर्तन लेकर तेजी से आ रही है।

सन् १९९० से २००० तक का समय भारी उथल-पुथल का है । उसके लिए मानवी प्रयास पर्याप्त न होंगे। दैवी शक्ति की इसमें बड़ी भूमिका होगी । इसी की इन दिनों ऐसी तैयारी चल रही है, जिसे अभूतपूर्व कहा जा सके ।

नर-पशु, नर-कीटक, नर-पिशाच स्तर के जीवन-यापन करने वालों में से ही बड़ी संख्या में ऐसे इन्हीं दिनों निकल पड़ेंगे, जिन्हें नर रत्न कहा जा सके । इन्हीं को दूसरा नाम दिव्य प्रतिभा सम्पन्न भी दिया जा सकता है । इनका चिन्तन, चरित्र और व्यवहार ऐसा होगा, जिसका प्रभाव असंख्यों को प्रभावित करेगा । इसका शुभारंभ शान्तिकुञ्ज से हुआ है ।

युग संधि महापुरश्चरण का श्रीगणेश यहाँ से हुआ है । इसका मोटा आध्यात्मिक स्वरूप जप, यज्ञ और ध्यान

होगा। उसे उस प्रक्रिया से जुड़ने वाले सम्पन्न करेंगे, साथ ही साथ पाँच-पाँच दिन के दिव्य प्रशिक्षण-सत्र भी चलते रहेंगे। साधारण प्रशिक्षणों में कान, नाक, आँखें ही काम करती है। इन्हीं के माध्यम से जानकारियाँ मस्तिष्क तक पहुँचती हैं; वहाँ कुछ समय ठहर कर तिरोहित हो जाती हैं। पर उपरोक्त पाँच दिवसीय शिक्षण सत्र ऐसे होंगे, जिसमें मात्र शब्दों का ही आदान-प्रदान न होगा, वरन् प्राण शक्ति भी जुड़ी होगी। उसका प भाव चिरकाल तक स्थिर रहेगा और अपनी विशिष्टता का ऐसा परिचय देगा, जिसे चमत्कारी या अद्‌भुत कहा जा सके।

संकल्प है कि सन् १९९५ की वसन्त पंचमी के दिन एक लाख दीप कुण्डों का यज्ञ आयोजन उन सभी स्थलों पर होगा, जहाँ प्रज्ञा पीठें विनिर्मित और प्रज्ञाकेन्द्र संस्थापित हैं। किस स्थान पर कितने बड़े आयोजन होंगे, इसका निर्धारण करने की प्रक्रिया अभी से आरंभ हो गयी है। प्रथम सोपान सन् १९९५ में और दूसरा सोपान वसन्त २००० में सम्पन्न होगा। स्थान वे रहेंगे, जहाँ अभी से निश्चय होते जायेंगे।

इस महायज्ञ के यजमान वे होंगे, जो अगले पाँच वर्षों में नियमित रूप से साप्ताहिक सत्संगों का आयोजन करते रहेंगे। आयोजनों में दीपयज्ञ, सहगान-कीर्तन, नियमित प्रवचन और युग साहित्य का स्वाध्याय चलता रहेगा। स्वाध्याय में जो पढ़ नहीं सकेंगे, वे दूसरों से पढ़वाकर सुन लिया करेंगे। इस प्रकार की प्रक्रिया नियमित रूप से चलती रहेगी।

अपेक्षा की गयी है कि सन् ९५ तक एक लाख यज्ञ हो चुकेंगे और शेष १ लाख सन् २००० तक पूरा होंगे- कुल दो करोड़ देवमानव इनमें सम्मिलित होंगे। यह तो आयोजनों की चर्चा हुई। इन आयोजनों में सम्मिलित होने वाले अपने-अपने सम्पर्क क्षेत्र में इसी प्रक्रिया को अग्रगामी करेंगे और आशा की जाती है कि इन दस वर्षों में सभी शिक्षितों तक नव युग का संदेश पहुँच जायेगा। इस प्रयोजन के लिए युग साहित्य के रूप में एक-एक रुपये मूल्य की बीस पुस्तकें छाप दी गयी हैं।

वाणी और लेखनी के माध्यम से अगले दस वर्षों में जो प्रचार कार्य होता रहेगा, उसका आलोक युगान्तरीय चेतना विश्व के कोने-कोने में पहुँचा देगी-ऐसा निश्चय और संकल्प इन्हीं दिनों किया गया है।

जीवन सम्पदा का सदुपयोग

मनुष्य जब जन्म लेता है तो अपने जीवन की अवधि भी साथ लेकर आता है। जन्म और मरण भगवान के हाथ है। यह सम्पदा उसकी दी हुई है। इच्छानुसार कोई चाहे जब जन्म नहीं ले सकता और मरना भी कदाचित् ही कभी स्वेच्छापूर्वक होता है। आत्महत्या तक लोग चाहे जब नहीं कर सकते। वैसा आवेश चढ़ा हो तो भी अनेक बार ऐसे अवसर आ जाते हैं कि मरने की तैयारी भी एक कोने में रखी रह जाती है। इसके विपरीत ऐसा भी होता है कि कोई सशक्त कारण न होने पर भी मनुष्य चाहे जब लुढ़क जाता है। देखने वाले आश्चर्य करते रह जाते हैं कि यह सब अनायास ही आकस्मिक रूप से कैसे हो गया? इच्छापूर्वक मरना कोई नहीं चाहता, पर जब समय आ जाता है तो कोई अनायास ही कहीं से घसीट ले जाता है।

जीवन का अर्थ है-समय। जो जितने समय जीता है, उस समय को ही जीवन कहते हैं। यह कितना लम्बा होगा यह कोई नहीं जानता। न जन्म अपने हाथ की बात है और न मरण। इसे ईश्वर के अनुग्रह के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है? प्राणियों में अगणित ऐसे हैं, जो घास-पात की तरह, मक्खी-मच्छरों की तरह जन्मते और मौसम का दबाव पड़ने जैसे किन्हीं कारणों से उसे गँवा बैठते हैं। मनुष्य जीवन ही एक ऐसी सत्ता है, जिसे भगवान के बाद दूसरे नम्बर की कहा जा सकता है। यह जिन्हें जितने समय के लिए मिला, उन्हें अपने को उतने ही समय का सौभाग्य काल मानना चाहिए।

यह सौभाग्य अकारण ही नहीं मिला है। ज्यों-त्यों करके जीने-मरने के लिए नहीं। पेट और प्रजनन भी इसका उद्देश्य नहीं है। वासना-तृष्णा की बढ़ी-चढ़ी अँगुलियाँ नोंचती तो रहती है, पर वस्तुतः यह इतने भर के लिए बना नहीं है। कीमती वस्तुयें किन्हीं विशेष उद्देश्य के लिए, विशेष प्रयोजनों के लिए मिलती हैं। कोषाध्यक्ष, सेनाध्यक्ष, शासनाध्यक्ष आदि हर किसी को नहीं बना दिया जाता है। यह पद जिन्हें सौंपा जाता है, उनकी योग्यता, दक्षता और भावना को जाँच-परख लिया जाता है और साथ ही यह भी ध्यान रखा जाता है कि सौंपा गया दायित्व ठीक तरह निभ रहा है या नहीं। नर-पशु स्तर के प्राणी तो अपनी समय सम्पदा को किसी भी प्रकार उपयोग करते और गंवाते रहते है। उस ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जाता, पर जिनके कंधों पर बड़ी जिम्मेदारियाँ हैं, उन पर

सदा तीखी नजर रखी जाती है और देखा जाता है कि कहीं कोई गड़बड़ तो नहीं हो रही। बड़े लोगों की छोटी भूलें तो बड़ी समझी जाती हैं और उसके लिए दण्ड-उत्पीड़न भी बड़ा ही दिया जाता है। सेनाध्यक्ष की छोटी-सी भूल भी समूचे राष्ट्र की सुरक्षा को खतरे में डाल सकती है और उतने भर के लिए उसे कोर्ट मार्शल के लिए पेश होना पड़ता है, मृत्यु दण्ड तक मिल सकता है, जबकि कीट-पतंगे, पशु-पक्षी आदि कुछ भी उचित-अनुचित करते रहते हैं। उनकी स्थिति हेय होने के कारण कोई उनकी ओर विशेष ध्यान भी नहीं देता।

मनुष्य जन्म को इस संसार का ऊँचे से ऊँचा पद कहा जा सकता है। उसे जैसी शारीरिक और मानसिक क्षमता मिली है, उसे असाधारण एवं अद्भुत ही कहा जा सकता है। वह यदि उसका सदुपयोग करे, तो देवता की भूमिका निबाहने में पूरी तरह समर्थ हो सकता है। महामानव, देवमानव, आदर्श, अनुकरणीय, आदरणीय, अभिनन्दनीय आदि किसी भी स्तर का वह तनिक-सी सावधानी बरतने पर हो सकता है। साथ ही यह भी हो सकता है कि यदि वह प्रमाद बरतता है, तो पशु-पिशाच से भी गये-गुजरे स्तर तक पहुँच सकता है। इसलिए उसकी सावधानी-असावधानी, जिम्मेदारी-गैर जिम्मेदारी असाधारण महत्व रखती है, कारण कि इस व्यवहार का न केवल उस पर प्रभाव पड़ता है, वरन् असंख्य मनुष्यों और प्राणियों को उन प्रवृत्तियों का भला-बुरा परिणाम भोगना पड़ता है। ऐसी दशा में उसकी कृतियों का दण्ड-पुरस्कार बढ़-चढ़ कर मिले, तो उसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। पाप-पुण्य के अनेक स्वरूप हो सकते हैं, पर मनुष्य के लिए इतना ही पर्याप्त है कि उसने अपनी निर्धारित जिम्मेदारियों को निबाहा या नहीं।

मनुष्य को इस विश्व उद्यान का कुशल माली बनकर रहने की जिम्मेदारी विशेष रूप से सौंपी गई है। माली यदि हर समय सतर्कता बरते और जिम्मेदारी निबाहे, तो बगीचे को सदा-सर्वदा हरा-भरा और फलता-फूलता रख सकता है। इस व्रत का श्रेय और पुरस्कार भी उसे लगे हाथों मिलता रहता है, पर साथ ही यह बात भी है कि यदि वह उपेक्षा बरते, सौंपे हुए काम की ओर ध्यान न दे, तो सौंपा हुआ उद्यान कुछ ही समय में बुरी तरह बर्बाद हो सकता है और उस प्रमाद के लिए उसे निर्माणकर्त्ता की ओर से कड़ा दण्ड भी मिल सकता है।

कृमि-कीटक जैसे क्षुद्र प्राणियों के जिम्मे कोई बड़ा उत्तरदायित्व नहीं होता, इसलिए उन्हें दण्ड-पुरस्कार से भी बचे रहना पड़ता है, पर मनुष्य तो प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ है। उसका स्रष्टा के उपरान्त संरक्षक का दूसरा उत्तरदायित्व है। इसलिए उसकी छोटी भूल भी असह्य और अक्षम्य मानी जाती है। इस तथ्य को भली-भाँति समझ रखना हर विचारशील का कर्तव्य है।

पशु-पक्षी पूरे दिन परिश्रम करते हैं, तब कहीं शरीर यात्रा की व्यवस्था कर पाते हैं, पर मनुष्य की स्थिति सर्वथा विपरीत है। उसे इतना छोटा पेट मिला है कि एक-दो घण्टे के शारीरिक श्रम से ही उसे भरा जा सकता है। अन्य आवश्यक समझी जाने वाली वस्तुयें भी इतनी कम अपेक्षित होती हैं कि शारीरिक और मानसिक श्रम का सदुपयोग करके उनकी पूर्ति सहज ही कुछ घण्टे की तत्परता से करता रह सकता है। इसके बाद जो समय बचता है, वह इतना अधिक बच जाता है कि ईश्वर के सौंपे हुए कामों में से अधिकांश की पूर्ति वह भली प्रकार करता रह सकता है। देखा भी यही जाता है कि ऋषि, मनीषी, साधु, ब्राह्मण, वानप्रस्थ, परिव्राजक, लोकसेवी स्तर के मनुष्य अपने उच्चस्तरीय कर्तव्यों की पूर्ति भली प्रकार करते रहते हैं। साथ ही उनके पास इतनी क्षमता, दक्षता शेष बची रहती है कि उनका सदुपयोग करने पर वह इतना कुछ कर सकते हैं कि अपने को सब प्रकार धन्य बनाने के अतिरिक्त इस विश्व वाटिका को सुरम्य-सुसज्जित बनाने के लिए बहुत कुछ करते रह सकें और स्रष्टा के उस प्रयोजन की पूर्ति कर सकें, जिसके लिए कि उसे यह सुरदुर्लभ मनुष्य शरीर उपलब्ध कराया गया है।

समय को, जीवन के सार्थक-निरर्थक प्रयोजनों में लगाते रहने की मनुष्य को समुचित सुविधा मिली हुई है। उसमें सांसारिक व्यवधान कदाचित् ही कभी कुछ आता हो। अपनी आन्तरिक निकृष्टता ही ऐसी अड़चन है, जिसके कारण उच्चस्तरीय आदर्शों का परिपालन करते न बन पड़े। मानवी गरिमा को गिराने वाले हेय कर्मों में निरत होने के लिए बाधित होना पड़े। यही वह कारण है, जिसके कारण समर्थ होते हुए भी मनुष्य को वासना, तृष्णा, अहंता जैसे हेय प्रयोजनों में निरत होना पड़ता है। इन हेय कर्मों में एक भी ऐसा नहीं है, जिसको अपनाये बिना कोई काम रुकता हो, जीवन क्रम में कभी कोई अड़चन आती हो। इन्द्रियाँ तो जीवन के उच्चस्तरीय प्रयोजनों की पूर्ति के लिए हैं, पर उस बुद्धि को क्या कहा जाय, जो इन नव चेतना केन्द्रों को वासना के साथ जोड़कर अपने को खोखला करती रहती हैं। दुर्बलता, रुग्णता और अकाल मृत्यु का

सरंजाम स्वयं जुटाती हैं। यदि विषय वासनाओं से बचे रहा जा सके तो शारीरिक-मानसिक स्वास्थ्य को लम्बे समय तक अक्षुण्ण बनाये रखा जा सकता है। ओजस् और तेजस से मनुष्य भरा-पूरा रह सकता है। जीवनी शक्ति के भण्डार से भरा-पूरा रह सकता है।

तृष्णा एक प्रकार की सनक है, जिसे अर्ध-विक्षिप्तता भी कह सकते हैं। आवश्यक वस्तुओं के संग्रह का एक दृष्टि से औचित्य भी है, पर जब असाधारण मात्रा में अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह किया जाय, तो उसे भार वहन ही कहा जाता है। तृष्णा की ललक को इसी स्तर का समझा जाना चाहिए। उससे परिचितों तक के लिए बचते रहने की बात भी बनती कहाँ है? ईर्ष्या, द्वेष, दुर्व्यसन, अनर्थ, अनाचार जैसी व्याधियाँ भी एकत्रित होकर लद लेती हैं। तृष्णा की पूर्ति अनाचार अपनाये बिना सीधे सरल मार्ग से होती ही नहीं। इस व्यर्थ के प्रपंच में भटकने में किसी का कोई हित साधन नहीं हो सकता।

मनुष्य भी अन्य प्राणियों की तरह एक साधारण जीवधारी है। उसमें कोई ऐसी विशेषता नहीं, जिसके लिए अहन्ता का उन्माद वहन करना पड़े। नम्रता, सज्जनता और शालीनता का एक युग्म है। सादा जीवन के साथ ही उच्च विचारों का तारतम्य जुड़ता है। तृष्णाग्रस्त व्यक्ति अपने का असाधारण सिद्ध करना चाहता है। बड़प्पन की अहमन्यता में अपराधियों जैसी हरकतें करता है। इसका प्रतिफल रोष, आवेश, आडम्बर, अनाचार जैसे दुर्व्यसनो के रूप में सामने आता है। यही हैं वे महत्वाकांक्षाएँ जो साधारण से जीवधारी मनुष्य को उन्मादी जैसे आचरण करने के लिए बाधित करती हैं और समाज का बहुमूल्य समय इन्हीं जाल-जंजालों में खपा देना है।

इसी को कहते है सिद्धान्त को त्यागकर कीचड़ भरे तालाब में कूद पड़ना। समय का उपयोग आखिर कहीं न कहीं तो होता ही है। चिन्तन न तो शरीर को खाली रख सकता है और न मन-मस्तिष्क को। यदि उन्हें उपयुक्त कर्तव्यों से वंचित किया जायगा, तो फिर उन पर शैतान लद कर रहेगा। ईश्वर प्रदत्त धर्म-धारणा और सेवा-साधना के, उपासना के कर्तव्य पालन की उपेक्षा करके यदि कोई वासना, तृष्णा और अहंता जैसे दुष्कर्मों को अपनाता है, तो उसके संबंध में यही कहा जा सकता है कि बुद्धिमत्ता का परित्याग करके मूर्खता को अपनाया गया, श्रेय, सौजन्य का उपहार छोड़कर दुर्बुद्धि और दुष्टता को अपनाकर अपने को दुर्गति के गर्त में गिराया गया।

समझदारी का उदय होने पर उच्चस्तरीय सद्भावनायें उभरती हैं, शालीनता अपनाने के लिए बाधित करती हैं और पुण्य-परमार्थ की दिशा में कदम बढ़ाते चलने के लिए अग्रसर करती हैं। संसार में इतने अधिक दुःख हैं कि उनमें से बहुतों से हम आसानी से बहुत कुछ बच सकते हैं। अभाव, दारिद्रय और पिछड़ेपन का इतना बाहुल्य है कि उस त्रास से पीछा छुड़ा सकने की किसी न किसी प्रकार कुछ न कुछ सहायता बन ही पड़ सकती है। यह रीति-नीति ऐसी है, जिसे जिस अनुपात में अपनाया जा सके, उतना ही आत्म संतोष, लोक सम्मान और दैवी अनुग्रह का लाभ हाथों-हाथ मिलता है।

मनुष्य के एक हाथ में स्वर्ग है, दूसरे में नरक। इनमें से स्वेच्छापूर्वक किसी को भी, कितनी ही मात्रा में अपनाया जा सकता है। हम उत्थान और पतन की ओर जाने वाली दो सड़कों के बीच चौराहे पर खड़े हैं। किस दिशा में चलना है, यह व्यक्ति की अपनी समझ के ऊपर निर्भर है। पतन को लक्ष्य बनाना है या उत्थान के श्रेय पथ पर चलना है, यह निर्णय करना पूरी तरह अपने हाथ मे है। विवशता तो मात्र उनके प्रतिफल भोगने भर की है। किसको क्या चाहिए? कौन इस मेले में से क्या खरीदेगा? यह निर्धारण पूरी तरह अपनी इच्छा, आकांक्षा, चेष्टा एवं प्रयत्नशीलता पर निर्भर है। भगवान ने इतनी स्वतंत्रता हर किसी को दी है कि वह किसी भी दिशा का चयन करे और अपने पैरो चलकर किसी भी लक्ष्य तक जा पहुँचे। मनुष्य जीवन मुक्त है। यह उसकी इच्छा, आकांक्षा है कि यदि उसे उन्माद सूझे तो अपने हाथों में हथकड़ियाँ, पैरों में बेड़ियाँ और कमर में रस्सियाँ कसकर इस भव-सागर में डूबता-तैरता रहे।

समय भगवान द्वारा उदारतापूर्वक प्रदान किया गया है। यह उसी की धरोहर है। इसे किस प्रयोजन मे लगाया जाय, इसका भी कार्य नियोजन और निर्धारण है। प्रगति का द्वार सभी के लिए खुला है। उल्लास और उत्साह का बाहुल्य हर किसी के भण्डार में भरा पड़ा है। यह अपनी ही इच्छा है जो भ्रष्टता, उद्दण्डता, दुष्टता पर उतरती और दुर्गति या सद्गति का वरण करती है। सत्प्रवृत्तियों का संवर्धन अपेक्षाकृत सरल है, जबकि दुष्प्रवृत्ति की कँटीली झाड़ियो में भटकते रहना और काँटे चुभने, ठोकरें खाने का त्रास अपनाना न तो उचित है और न आवश्यक। इस संसार मे श्रेष्ठता की फसल सृजेता ने पहले से ही बो रखी है, उसे सींचने और रखवाली करने की चेष्टा भर से वह

सत्परिणाम हस्तगत हो सकता है, जिससे कोठे भर अनाज बटोरा और सम्पत्ति का अधिष्ठाता कहलाया जा सके ।

काँटे बोना और विष बेल उगाना दोनों ही कठिन हैं । उनके लिए किया गया श्रम भी कम कष्ट साध्य नहीं है । इतने पर भी प्रतिफल हर दृष्टि से दुःखदायी ही है। भगवान ने मनुष्य को तीखी, पैनी और दूरदर्शी बुद्धि ही दी है, साथ ही शरीर-संरचना की भी ऐसी व्यवस्था की है, जिसके सहारे अपने और दूसरों के लिए एक से एक बढ़कर सत्कर्म करते बन सकता है । चारों ओर वातावरण ऐसा विनिर्मित है, जिसमें अवांछनीयताओं से जूझ कर अपना शौर्य-पराक्रम कमाया, श्रेय पाया और सुख-शान्ति से भरा-पूरा मार्ग अपनाया जा सके। कहीं किसी का ऐसा हस्तक्षेप भी नहीं है, जिसमें बुरे का चयन और भले का प्रतिबन्ध लगने जैसी कहीं कोई अड़चन हो । स्वतंत्रता का ऐसा लाभ अपने को उपलब्ध है, जिसमें कि किसी भी दिशा धारा को अपनाया जा सके और उनके सर्वविदित परिणामों में से किसी एक का स्वेच्छापूर्वक वरण किया जा सके ।

ऐसा कम ही होता है जो अपने पैरों आप कुल्हाड़ी मारता हो । साफ-सुथरे राजमार्ग को छोड़कर कँटीली झाड़ियों में भटकता हो । ऐसे कम ही होते हैं, जिनका रुझान ऊँचे-चढ़ने की अपेक्षा नीचे गिरने का होता हो, यश को छोड़कर अपयश को उपलब्ध करने की जिनकी ललक होती है । मूर्खता को समेटना अपना अहित करने, भविष्य को अन्धकारमय बनाने की छूट होते हुए भी अनर्थ को कोई विरले ही वरण करते हैं। देखना यह है कि कहीं हम हित की उपेक्षा कर अनहित तो नहीं अपनाते ।

युग परिवर्तन की अति महत्वपूर्ण पृष्ठभूमि यह है कि भावनाशील मनुष्यों का अधिकांश समय पेट-प्रजनन की सीमित स्वार्थपरता मे न खपेगा । उसका एक बड़ा अंश उस प्रगति के निमित्त लगेगा, जिसे आत्मिक आदर्शवादिता और भौतिक सुख-शान्ति के निमित्त बन पड़ने वाली सहकारिता कहा जा सकता है। इसे कठिन समझा भी जाता है, पर वस्तुतः वैसा है नहीं । निर्वाह के निमित्त कुछ घण्टे लगा देना पूर्णतः पर्याप्त हो सकता है । इसके बाद जो कुछ बचता है, उसे दैवी प्रयोजन के लिए लगाये जा सकने में क्यों किसी को कुछ अड़चन अनुभव होनी चाहिए । प्रतिभाओं ने अपना व्यक्तित्व पतन पराभव के लिए लगाया है । उसका प्रतिफल सामने है । जिधर भी आँख उठाकर देखा जाय, उधर ही दुष्प्रवृत्तियों का बोलबाला दीख पड़ता है । यदि प्रवाह उलट जाय और सदाशयता के निमित्त सज्जनों के प्रयास चल पड़े तो कोई कारण नहीं कि मनुष्य का सोया हुआ देवत्व फिर से न उभर पड़े और अपने इसी संसार की गतिविधियाँ ऐसी बन पड़ें जिनके बीच रहते हुए स्वयं ऊँचा उठने और दूसरों को ऊँचा उठाने का प्रयास सर्वत्र सफल होता न दीख पड़े ।

उलटे को उलट देने पर बात सीधी हो जाती है। जिनने अधः पतन के सरंजाम जुटाये हैं, वे ही यदि उत्थान, अभ्युदय और परमार्थ की गतिविधियों को अग्रगामी बनाने में जुट पड़ें तो अपनी इसी दुनियाँ में स्वर्गीय वातावरण का देखते-देखते सृजन हो सकता है । समय ईश्वर प्रदत्त ऐसी शक्ति है, जिसे जिस भी प्रयोजन के लिए लगाया जाय, वह उसी मे सफलताओं के अम्बार लगा सकती है । पिछले नवयुगों के अवसर पर इस तथ्य के अनेकों बार प्रयोग परीक्षण भी हो चुके हैं । इस बार फिर वैसा ही अवसर सामने आ रहा है। प्रतिभायें यदि सृजन में लगेंगी तो नवयुग के आने में देर न लगेगी । इक्कीसवीं सदी उज्ज्वल भविष्य के अवतरण की संभावना यों कठिन दीखती है, पर वस्तुतः वैसा कुछ है नहीं । तेजस्वी प्रतिभायें यदि सृजन प्रयोजन में जुट पड़ें, उसके लिए अपना नियोजित समय देने लगे तो अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति में कुछ भी देर लगने वाली नहीं है ।

धन मनुष्य का अपना कमाया हुआ है, उसे वह दुष्प्रयोजनों में से रोक ले, तो इतनी उलट-पुलट से मात्र समय के सहारे शुभ संयोग का सृजन हो सकता है । फिर यदि कदाचित् मुट्ठी में आये साधनों में से भी कुछ का नियोजन पुण्य प्रयोजनों में करना बन पड़े, तो कोई कारण नहीं कि सदाशयता की उन्नत परिस्थितियाँ न बन पड़ें और ऐसा कुछ चल पड़े, जिसके अवतरण से सर्वत्र सुख-शान्ति और प्रगति की मंगलमयी संभावनाओं का निर्झर बहने लगे। यही होने जा रहा है । यही होकर रहेगा ।

दीप यज्ञों की अति सरल एवं अत्यंत प्रेरक प्रक्रिया

"छोटे बच्चे तो मदारियों, बाजीगरों और सपेरो की डुगडुगी सुनकर भी एकत्रित हो जाते हैं, पर विचारशील लोगों को किसी महत्त्वपूर्ण चर्चा में सम्मिलित होने को बुलाना और प्रस्तुत प्रगतिशील तर्कों तथा तथ्यों को सुनने के लिए एक मंच पर जमा करना आसान नहीं है । कठिन

होते हुए सच्चाई यह भी है कि कोई उपयोगी परिवर्तन लाने या कदम उठाने के लिए भावनाशील एवं प्रबुद्धजनों को एक स्थान पर जमा करने के बिना काम नहीं चलता। जिनका समय बहुमूल्य है और जिनका अपना प्रभावशाली व्यक्तित्व है, वे मात्र तभी कहीं पहुँचते हैं, जब उसकी गरिमा और उपयोगिता के सम्बन्ध में आश्वस्त हो जाते हैं।

युग परिवर्तन जैसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन के लिए भावनाशील वर्ग को अभीष्ट विचार-विनिमय के लिए एकत्रित करना और उन्हें प्रगतिशील निर्धारणों पर सहमत करके सहयोगी बनने के लिए तत्पर करना एक बड़ा काम है, जिसे किए बिना बात बनती नहीं। इसके बिना महान परिवर्तन संभव नहीं हो सकते हैं, जिनकी कि इन दिनों सर्वत्र उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा की जा रही है।

कठिनाई यह है कि व्यर्थ के प्रवचनों और बेकार की लेक्चरबाजी से लोग ऊब गये हैं। इसलिए प्रबुद्ध जनों की ज्ञान गोष्ठियाँ नियोजित करना असाधारण कठिनाई भरा काम बन गया है। अरुचि के वातावरण में लोग टी. वी. देखकर या ताश खेलकर अपना समय गुजारना अच्छा समझते हैं। ऐसी दशा में प्रगति के अग्रदूत बनने की भूमिका निबाहने में समर्थ लोगों को कैसे एकत्रित किया और एक जुट बनाया जाय? बड़े काम, बड़े लोगों के बड़े संकल्प, उभारने और बड़े कदम उठाने पर ही संभव हुए हैं। इन तथ्यों के अनुरूप नवसृजन के अग्रदूतों को, समर्थ ज्ञान गोष्ठियाँ नियोजित करने की बात को समुचित महत्त्व देना ही चाहिए।

दीप यज्ञों की योजना इस प्रयोजन के लिए अतीव सार्थक सिद्ध हुई है। धर्म-प्रयोजनों के लिए शिक्षित-अशिक्षित सभी में इस गयेगुजरे समय में भी किसी न किसी हद तक श्रद्धा विद्यमान है। इसके अनेकों प्रमाण समय-समय पर देखे जा सकते हैं। इन दिनों नव नियोजित दीपयज्ञ इस प्रयोजन के लिए अतीव आकर्षक और महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो रहे है। यज्ञ, भारतीय धर्म का जनक माना जाता है। गायत्री, भारतीय संस्कृति की जननी कही जाती है। दोनों का सम्मिलन-गायत्री यज्ञ बनता है। इस हेतु भारतीय मानस के लोगों में विशेप-रूप से और अन्य धर्मावलम्बियों में साधारण स्तर पर श्रद्धा सद्भावना पायी जाती है। कम से कम उनका विरोध तो कदाचित् ही कहीं, किसी के द्वारा किया जाता है। गायत्री यज्ञ आयोजन अब तक जब कभी, जहाँ कहीं होते रहे हैं, उनमें विज्ञजन श्रद्धापूर्वक बड़ी संख्या में एकत्रित होते देखे गये हैं।

इतने पर भी इन दिनों एक बड़ी कठिनाई यह है कि पुरातन शैली के यज्ञ आयोजनों में इतना खर्च पड़ता है, इतनी भाग-दौड़ करनी पड़ती है, कि उसे देखते हुए मध्यम वर्ग के लोगो में निराशा ही होती है। दूसरी कठिनाई यह है कि एक वर्ग विशेष के, संस्कृत मंत्रों के मर्मज्ञ, अनेकानेक मंत्रों के उच्चारण में अभ्यस्त लोग इस संचालन के लिए इतनी दान-दक्षिणा माँगते हैं, जो इस मँहगाई के जमाने में, अन्यमनस्क मानसिकता में उत्साह नहीं-उपेक्षा ही उत्पन्न कर सकती है। यही कारण है समय-समय पर होने वाले धर्मकृत्य दिन-दिन लुप्त होते जाते हैं। संस्कारों और पर्वों तक को श्रद्धा भरे वातावरण में मनाया जाना संभव नहीं हो पाता।

उलझनों को सुलझाने के लिए एक सरल किन्तु अभीष्ट प्रयोजनों की सिद्धि कर सकने वाला एक उपचार ढूँढ़ निकाला गया है- 'दीप यज्ञ'। शास्त्रकारों ने समय-समय पर यह विकल्प लिखा है कि खर्चीले और झंझट भरे कर्मकाण्ड न बन पड़ें, तो उस स्थान पर जलाञ्जलि देने के सरल माध्यम भी अपनाए जा सकते हैं। सूर्य को जल अर्घ्य चढ़ाना, दीपक जलाकर अग्निदेव का आवाहन करना भी ऐसा माध्यम बन सकता है, जिससे श्रद्धा-संवर्धन का उद्देश्य पूरा हो सके।

पिछले दिनों शान्तिकुञ्ज द्वारा विचारशील लोगों को धर्म-प्रयोजनों के लिए एकत्रित करने और उन्हें प्रेरणाएँ अपनाने, संकल्प भरे कदम उठाने के लिए प्रयुक्त किया गया है। कहना न होगा कि यह छोटे आयोजन बड़े समारोहों की तरह सफल सिद्ध हुए हैं और विचारशील लोगों की अच्छी उपस्थिति संभव बनाते रहे है। उन धर्मानुष्ठानों में सम्मिलित होने वालों ने ऐसे प्रगतिशील कदम उठाने का साहस किया है, जिसे देखते हुए हर दृष्टि में उनकी सार्थकता स्वीकार करनी पड़ती है।

गायत्री मंत्र जिन्हें याद है, वे कुछ अगरबत्तियाँ और थोड़े से दीपक जलाकर उन्हें एक समग्र देवता की मान्यता देते हैं और अत्यन्त सरल कर्मकाण्ड को मिल-जुलकर पूरा कर लेते हैं। हवन सामग्री से विनिर्मित सुगंधमय अगरबत्तियों से यज्ञ का प्रतीक बन जाता है और प्रदीप को प्रकाश की अधिष्ठात्री, सद्ज्ञान की देवी गायत्री का प्रतीक मान लिया जाता है। इन आयोजनों को गायत्री यज्ञों का प्रतीक मान लेने में भी किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। यह नवयुग की आरती का एक पूर्वाभ्यास है, जो संसार के कोने-कोने में अधिकाधिक सत्संग निर्धारण का

तो दीप यज्ञ अविच्छिन्न अंग है । वार्षिकोत्सव तथा अन्य छोटे-बड़े आयोजन भी इसी प्रक्रिया के साथ बड़े रूप में, बड़ी संख्या में संपन्न हो सकते हैं ।

दीप यज्ञ का कर्मकाण्ड यहाँ विस्तारपूर्वक लिखना तो अनावश्यक है, पर वह है ऐसा, जिसे कोई भी मिशन से संबंधित व्यक्ति एक घंटे में भली प्रकार सीख या सिखा सकता है ।

हर्षोत्सवों, शुभारंभों, संस्कारों, जन्मदिनों एवं युगचेतना संबंधी किसी भी क्रिया-कृत्यों में दीप यज्ञ जोड़ा जा सकता है । बिना किसी खर्च या परावलम्बन के सम्पन्न होने वाली इस विधा से सभी शिक्षित नर-नारी अवगत हो जायें, तो अपने घर, दफ्तरों, दुकानों, कार्यालयों में धार्मिक वातावरण का उत्साहपूर्वक आयोजन कर सकते हैं ।

लोक शिक्षण भी दीप यज्ञों का एक अविच्छिन्न अंग है । सहगान-कीर्तन द्वारा भाव संवेदनाओं को आन्दोलित करने वाला बहुत कुछ आधार पर्याप्त मात्रा में इनमें जुड़ा हुआ है । यह भी अति सरल है कि जब, जिस प्रसंग से जोड़कर दीपयज्ञ सम्पन्न किया जाय, तब उस विषय का प्रतिपादन करके कोई भी प्रबुद्ध व्यक्ति उपस्थित जनों को वह विषय हृदयगम कराने का प्रयत्न करे ।

इनमें सम्मिलित करने के लिए विचारशील नर-नारियों के यहाँ व्यक्तित्ववानों को स्वयं जाना चाहिए और आग्रहपूर्वक अनुरोध करना चाहिए कि उनकी उपस्थिति, ऐसे विचार वालों को आन्दोलित करने के लिए महत्त्वपूर्ण हैं । इस प्रसंग में स्वयं तो उपस्थित हों ही, साथ ही अपने स्तर के अन्य लोगों को भी उस आयोजन में घसीट लाने में कुछ भी कमी न रहने दें ।

धार्मिकता, आध्यात्मिकता, आस्तिकता के सभी महत्त्वपूर्ण संदर्भ दीपयज्ञ के साथ जुड़ते हैं । साथ में बड़ी बात यह है कि युग परिवर्तन के लिए जिस विचारधारा एवं क्रिया-प्रक्रिया को गतिशील करना है, उनका द्वार इन आयोजनों से खुलता है । साथ ही हर शिक्षित को बिना किसी वंश-वेश का भेदभाव रखे, बिना मँहगे साधन जुटाये, वह सब हो सकता है, जो जनमानस के परिष्कार हेतु इन दिनों किया जाना नितान्त आवश्यक है ।

महिलाओं की महानता उभरे

इक्कीसवीं सदी को महिला शताब्दी घोषित किया गया है । इसे विश्व की आधी जनता का स्वाधीनता आन्दोलन भी कह सकते हैं और नवजीवन स्तर का पुरुत्थान भी । नारी के रूप में जीवन-यापन कर रही आधी जनसंख्या को भविष्य में भी गयी-गुजरी स्थिति में पड़ा रहने नहीं दिया जा सकता, अन्यथा अर्धांग पक्षाघात पीड़ित की तरह अपंग स्थिति में रहने वाला समुदाय स्वयं तो पिछड़ी-परावलम्बी स्थिति में रहेगा ही, समर्थ पक्ष के ऊपर भी गले का पत्थर बनकर लटकेगा और प्रगति का मार्ग अवरुद्ध ही बना रहेगा । एक पहिये की गाड़ी किस प्रकार आगे बढ़ सकेगी ? भगवान ने नर और नारी को एक सिक्के के दो पहलू के रूप में बनाया है । दोनों की समता तो अभीष्ट है ही, साथ ही दोनों को समान रूप से शिक्षित, समर्थ, स्वावलम्बी , कुशल एवं प्रगतिशील भी होना चाहिए । यह हो भी रहा है । संसार भर में एक नयी लहर चल पड़ी है । वह ऐसा वातावरण बना रही है और साधन जुटा रही है, ताकि भविष्य में दोनों परस्पर पूरक इकाइयों में से कोई भी किसी की तुलना में किसी भी दृष्टि से दीन-दुर्बल होकर न रहे ।

लम्बे समय से नारी की अगणित क्षमताओं और विशेषताओं का शोषण नर द्वारा होता रहा है । समय आ गया कि अब उस अनाचार का पश्चात्ताप-प्रायश्चित करने के लिए नये सिरे से, नये प्रयत्न किये जायें और जो अपहरण हुआ है, उसकी पूर्ति करने के लिए समय रहते भावनापूर्ण प्रयास किये जायें । अन्यथा अब तक हुई क्षति आगे और भी बढ़ेगी और ऐसा संकट खड़ा करेगी, जिससे दोनों पक्षों को अपार हानि सहनी पड़े ।

पुरुषों में से प्रत्येक के मन में यह न्याय-निष्ठा और उदारता जागनी चाहिए, जो गहरे घावों पर मरहम लगाने के रूप में सदाशयता का परिचय दे सकें । अनीति को आगे भी चलते रहने के लिए आग्रह करना और उठने की संभावनाओं को निरस्त करना, जले पर नमक छिड़कने जैसा पाशविक अनाचार माना जायेगा।

नर और नारी की अनिवार्य समता का वातावरण बनाने के लिए आवश्यक है कि कन्या और पुत्र में, बेटी और वधू में अन्तर करने की कुप्रथा का अब पूरी तरह अन्त कर दिया जाय । दोनों की प्रगति एवं सुविधा का, समान व्यवहार-समान सम्मान का प्रचलन अपनाया जाय । शिक्षा, स्वावलम्बन, दक्षता, श्रेय-सम्मान दोनों को ही समान रूप से मिलने चाहिए ।

शिक्षा मनुष्य की आरम्भिक आवश्यकता है । इसे लड़कों की तरह लड़कियों को भी उपलब्ध कराने में

होते हुए सच्चाई यह भी है कि कोई उपयोगी परिवर्तन लाने या कदम उठाने के लिए भावनाशील एवं प्रबुद्धजनों को एक स्थान पर जमा करने के बिना काम नहीं चलता। जिनका समय बहुमूल्य है और जिनका अपना प्रभावशाली व्यक्तित्व है, वे मात्र तभी कहीं पहुँचते हैं, जब उसकी गरिमा और उपयोगिता के सम्बन्ध में आश्वस्त हो जाते हैं।

युग परिवर्तन जैसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन के लिए भावनाशील वर्ग को अभीष्ट विचार-विनिमय के लिए एकत्रित करना और उन्हें प्रगतिशील निर्धारणों पर सहमत करके सहयोगी बनने के लिए तत्पर करना एक बड़ा काम है, जिसे किए बिना बात बनती नहीं। इसके बिना महान परिवर्तन संभव नहीं हो सकते हैं, जिनकी कि इन दिनों सर्वत्र उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा की जा रही है।

कठिनाई यह है कि व्यर्थ के प्रवचनों और बेकार की लेक्चरबाजी से लोग ऊब गये हैं। इसलिए प्रबुद्ध जनों की ज्ञान गोष्ठियाँ नियोजित करना असाधारण कठिनाई भरा काम बन गया है। अरुचि के वातावरण में लोग टी. वी. देखकर या ताश खेलकर अपना समय गुजारना अच्छा समझते हैं। ऐसी दशा में प्रगति के अग्रदूत बनने की भूमिका निबाहने में समर्थ लोगों को कैसे एकत्रित किया और एक जुट बनाया जाय? बड़े काम, बड़े लोगों के बड़े संकल्प, उभारने और बड़े कदम उठाने पर ही संभव हुए हैं। इन तथ्यों के अनुरूप नवसृजन के अग्रदूतो को, समर्थ ज्ञान गोष्ठियाँ नियोजित करने की बात को समुचित महत्त्व देना ही चाहिए।

दीप यज्ञों की योजना इस प्रयोजन के लिए अतीव सार्थक सिद्ध हुई है। धर्म-प्रयोजनों के लिए शिक्षित-अशिक्षित सभी में इस गयेगुजरे समय में भी किसी न किसी हद तक श्रद्धा विद्यमान है। इसके अनेकों प्रमाण समय-समय पर देखे जा सकते हैं। इन दिनों नव नियोजित दीपयज्ञ इस प्रयोजन के लिए अतीव आकर्षक और महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो रहे हैं। यज्ञ, भारतीय धर्म का जनक माना जाता है। गायत्री, भारतीय संस्कृति की जननी कही जाती है। दोनों का सम्मिलन-गायत्री यज्ञ बनता है। इस हेतु भारतीय मानस के लोगों में विशेष-रूप से और अन्य धर्मावलम्बियों में साधारण स्तर पर श्रद्धा सद्भावना पायी जाती है। कम से कम उनका विरोध तो कदाचित् ही कहीं, किसी के द्वारा किया जाता है। गायत्री यज्ञ आयोजन अब तक जब कभी, जहाँ कहीं होते रहे हैं, उनमें विज्ञजन श्रद्धापूर्वक बड़ी संख्या में एकत्रित होते देखे गये हैं।

इतने पर भी इन दिनों एक बड़ी कठिनाई यह है कि पुरातन शैली के यज्ञ आयोजनों में इतना खर्च पड़ता है, इतनी भाग-दौड़ करनी पड़ती है, कि उसे देखते हुए मध्यम वर्ग के लोगो में निराशा ही होती है। दूसरी कठिनाई यह है कि एक वर्ग विशेष के, संस्कृत मंत्रों के मर्मज्ञ, अनेकानेक मंत्रों के उच्चारण में अभ्यस्त लोग इस संचालन के लिए इतनी दान-दक्षिणा माँगते हैं, जो इस मँहगाई के जमाने में, अन्यमनस्क मानसिकता में उत्साह नहीं-उपेक्षा ही उत्पन्न कर सकती है। यही कारण है समय-समय पर होने वाले धर्मकृत्य दिन-दिन लुप्त होते जाते हैं। संस्कारों और पर्वों तक को श्रद्धा भरे वातावरण में मनाया जाना संभव नहीं हो पाता।

उलझनों को सुलझाने के लिए एक सरल किन्तु अभीष्ट प्रयोजनों की सिद्धि कर सकने वाला एक उपचार ढूँढ़ निकाला गया है- 'दीप यज्ञ'। शास्त्रकारों ने समय-समय पर यह विकल्प लिखा है कि खर्चीले और झंझट भरे कर्मकाण्ड न बन पड़ें, तो उस स्थान पर जलाञ्जलि देने के सरल माध्यम भी अपनाए जा सकते हैं। सूर्य को जल अर्घ्य चढ़ाना, दीपक जलाकर अग्निदेव का आवाहन करना भी ऐसा माध्यम बन सकता है, जिससे श्रद्धा-संवर्धन का उद्देश्य पूरा हो सके।

पिछले दिनों शान्तिकुञ्ज द्वारा विचारशील लोगों को धर्म-प्रयोजनों के लिए एकत्रित करने और उन्हें प्रेरणाएँ अपनाने, संकल्प भरे कदम उठाने के लिए प्रयुक्त किया गया है। कहना न होगा कि यह छोटे आयोजन बड़े समारोहों की तरह सफल सिद्ध हुए हैं और विचारशील लोगों की अच्छी उपस्थिति संभव बनाते रहे हैं। उन धर्मानुष्ठानों में सम्मिलित होने वालों ने ऐसे प्रगतिशील कदम उठाने का साहस किया है, जिसे देखते हुए हर दृष्टि में उनकी सार्थकता स्वीकार करनी पड़ती है।

गायत्री मंत्र जिन्हें याद है, वे कुछ अगरबत्तियाँ और थोड़े से दीपक जलाकर उन्हें एक समग्र देवता की मान्यता देते हैं और अत्यन्त सरल कर्मकाण्ड को मिल-जुलकर पूरा कर लेते है। हवन सामग्री से विनिर्मित सुगंधमय अगरबत्तियों से यज्ञ का प्रतीक बन जाता है और प्रदीप को प्रकाश की अधिष्ठात्री, सद्ज्ञान की देवी गायत्री का प्रतीक मान लिया जाता है। इन आयोजनों को गायत्री यज्ञों का प्रतीक मान लेने में भी किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। यह नवयुग की आरती का एक पूर्वाभ्यास है, जो संसार के कोने-कोने मे अधिकाधिक सत्संग निर्धारण का

तो दीप यज्ञ अविच्छिन्न अंग है । वार्षिकोत्सव तथा अन्य छोटे-बड़े आयोजन भी इसी प्रक्रिया के साथ बड़े रूप में, बड़ी संख्या में संपन्न हो सकते हैं ।

दीप यज्ञ का कर्मकाण्ड यहाँ विस्तारपूर्वक लिखना तो अनावश्यक है, पर वह है ऐसा, जिसे कोई भी मिशन से संबंधित व्यक्ति एक घंटे में भली प्रकार सीख या सिखा सकता है ।

हर्षोत्सवों, शुभारंभों, संस्कारों, जन्मदिनों एवं युगचेतना संबंधी किसी भी क्रिया-कृत्यों में दीप यज्ञ जोड़ा जा सकता है । बिना किसी खर्च या परावलम्बन के सम्पन्न होने वाली इस विधा से सभी शिक्षित नर-नारी अवगत हो जायें, तो अपने घर, दफ्तरों, दुकानों, कार्यालयों में धार्मिक वातावरण का उत्साहपूर्वक आयोजन कर सकते हैं ।

लोक शिक्षण भी दीप यज्ञों का एक अविच्छिन्न अंग है । सहगान-कीर्तन द्वारा भाव संवेदनाओं को आन्दोलित करने वाला बहुत कुछ आधार पर्याप्त मात्रा में इनमें जुड़ा हुआ है । यह भी अति सरल है कि जब, जिस प्रसंग से जोड़कर दीपयज्ञ सम्पन्न किया जाय, तब उस विषय का प्रतिपादन करके कोई भी प्रबुद्ध व्यक्ति उपस्थित जनों को वह विषय हृदयगम कराने का प्रयत्न करे ।

इनमें सम्मिलित करने के लिए विचारशील नर-नारियों के यहाँ व्यक्तित्ववानों को स्वयं जाना चाहिए और आग्रहपूर्वक अनुरोध करना चाहिए कि उनकी उपस्थिति, ऐसे विचार वालों को आन्दोलित करने के लिए महत्त्वपूर्ण है । इस प्रसंग में स्वयं तो उपस्थित हों ही, साथ ही अपने स्तर के अन्य लोगों को भी उस आयोजन में घसीट लाने में कुछ भी कमी न रहने दें ।

धार्मिकता, आध्यात्मिकता, आस्तिकता के सभी महत्त्वपूर्ण संदर्भ दीपयज्ञ के साथ जुड़ते हैं । साथ में बड़ी बात यह है कि युग परिवर्तन के लिए जिस विचारधारा एवं क्रिया-प्रक्रिया को गतिशील करना है, उनका द्वार इन आयोजनों से खुलता है । साथ ही हर शिक्षित को बिना किसी वंश-वेश का भेदभाव रखे, बिना मँहगे साधन जुटाये, वह सब हो सकता है, जो जनमानस के परिष्कार हेतु इन दिनों किया जाना नितान्त आवश्यक है ।

महिलाओं की महानता उभरे

इक्कीसवीं सदी को महिला शताब्दी घोषित किया गया है । इसे विश्व की आधी जनता का स्वाधीनता आन्दोलन भी कह सकते हैं और नवजीवन स्तर का पुनरुत्थान भी । नारी के रूप में जीवन-यापन कर रही आधी जनसंख्या को भविष्य में भी गयी-गुजरी स्थिति में पड़ा रहने नहीं दिया जा सकता, अन्यथा अर्धांग पक्षाघात पीड़ित की तरह अपंग स्थिति में रहने वाला समुदाय स्वयं तो पिछड़ी-परावलम्बी स्थिति में रहेगा ही, समर्थ पक्ष के ऊपर भी गले का पत्थर बनकर लटकेगा और प्रगति का मार्ग अवरुद्ध ही बना रहेगा । एक पहिये की गाड़ी किस प्रकार आगे बढ़ सकेगी ? भगवान ने नर और नारी को एक सिक्के के दो पहलू के रूप में बनाया है । दोनों की समता तो अभीष्ट है ही, साथ ही दोनों को समान रूप से शिक्षित, समर्थ, स्वावलम्बी, कुशल एवं प्रगतिशील भी होना चाहिए । यह हो भी रहा है । संसार भर में एक नयी लहर चल पड़ी है । वह ऐसा वातावरण बना रही है और साधन जुटा रही है, ताकि भविष्य में दोनों परस्पर पूरक इकाइयों में से कोई भी किसी की तुलना में किसी भी दृष्टि से दीन-दुर्बल होकर न रहे ।

लम्बे समय से नारी की अगणित क्षमताओं और विशेषताओं का शोषण नर द्वारा होता रहा है । समय आ गया कि अब उस अनाचार का पश्चात्ताप-प्रायश्चित करने के लिए नये सिरे से, नये प्रयत्न किये जायें और जो अपहरण हुआ है, उसकी पूर्ति करने के लिए समय रहते [illegible] दोनों पक्षों को अपार हानि सहनी पड़े ।

पुरुषों में से प्रत्येक के मन में यह न्याय-निष्ठा और उदारता जागनी चाहिए, जो गहरे घावों पर मरहम लगाने के रूप में सदाशयता का परिचय दे सकें । अनीति को आगे भी चलते रहने के लिए आग्रह करना और उठने की संभावनाओं को निरस्त करना, जले पर नमक छिड़कने जैसा पाशविक अनाचार माना जायेगा।

नर और नारी की अनिवार्य समता का वातावरण बनाने के लिए आवश्यक है कि कन्या और पुत्र में, बेटी और वधू में अन्तर करने की कुप्रथा का अब पूरी तरह अन्त कर दिया जाय । दोनों की प्रगति एवं सुविधा का, समान व्यवहार-समान सम्मान का प्रचलन अपनाया जाय । शिक्षा, स्वावलम्बन, दक्षता, श्रेय-सम्मान दोनों को ही समान रूप से मिलने चाहिए ।

शिक्षा मनुष्य की आरम्भिक आवश्यकता है । इसे लड़कों की तरह लड़कियों को भी उपलब्ध कराने में

कहीं, किसी प्रकार का दुहरा मापदण्ड न अपनाया जाय।

हर व्यक्ति को आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी होना चाहिए ताकि कोई किसी पर भार बनकर न रहे, वरन् एक-दूसरे की सहायता करते हुए, इस मँहगाई भरे समय में दूसरे की सहायता करते हुए समूचे परिवार में खुशहाली ला सकें। विधवाएँ एवं परित्यक्ताएँ कई छोटे बच्चे गोदी में होने की स्थिति में ससुराल अथवा पितृगृह से कारगर सहायता न मिलने पर कितनी दुर्गति भुगतती है, हर भुक्तभोगी यह जानता है। ऐसी स्थिति में किसी भी लड़की को न पड़ना पड़े। इसी कमजोरी के कारण नारी को हर प्रकार से दबाव भी सहने पड़ रहे हैं, क्योंकि वह दूसरों की सहायता कर सकना तो दूर, अपने खर्चे के लिए भी दूसरों पर अवलम्बित रहती है। कुटीर उद्योग से लेकर अध्यापन तक का कोई न कोई स्रोत उसके हाथ में विवाह से पहले ही थमा देना चाहिए, ताकि उसे आर्थिक दृष्टि से सर्वथा पराश्रित न रहना पड़े। पैतृक सम्पत्ति, परिवार की सम्पन्नता अथवा पति की कमाई जैसे माध्यमों को आड़े समय में उपयोग कर सकने का सुयोग मिलता ही रहेगा, इसका अब कोई विश्वास रह नहीं गया है। शिक्षा-स्वावलम्बन के अतिरिक्त स्वास्थ्य, दक्षता-कुशलता, अनुभव आदि के साधन भी नारी के लिए जुटने ही चाहिए। इसके लिए जो उपाय संभव हों, वे करने चाहिए।

एक दूसरा वज्रपात है- बाल विवाह। इस उतावली में लड़कियो को सुयोग्य बनने का अवसर ही नहीं मिलता। मनोबल एवं कौशल विकसित होनेकी तो गुंजाइश ही नहीं रहती। कच्ची आयु मे कामक्रीड़ा का दवाव सहने से उसका शरीर और मन तो निचुड़ ही जाता है, साथ ही बच्चों का पालन कर सकने की दक्षता न रहने पर, वे भी अनगढ़ स्तर के रह जाते हैं। प्रसव-पीड़ा में अधिकांश महिलाओं को मौत के मुँह में जाना पड़ता है। वह आपत्ति यदि जल्दी-जल्दी उन पर टूटे, तो जवानी में बुढ़ापा आ धमकने, अकाल मृत्यु का ग्रास बनने, आये दिन दुर्बल और बीमार रहने की व्यथा तो उसी कारण उसके गले बँध ही जाती है। इसलिए बाल-विवाह को लड़कियों का आधा मरण समझकर, उस विपत्ति से उन्हें बचाया ही जाना चाहिए। पढ़ने और बढ़ने के लिए उन्हें भी उपयुक्त सुविधा और समय मिलना चाहिए।

तीसरी विपत्ति है- धूमधाम वाली शादियाँ। लड़के वालों की ओर से दहेज और लड़की वालों की ओर से जेवर की माँग। यह दोनों ही प्रचलन सर्वथा मूर्खता और अनीतिपूर्ण हैं। इस निमित होने वाले खर्च में दोनों परिवार खोखले हो जाते हैं। दहेज को लेकर आये दिन झंझट होते हैं, हत्या, आत्म-हत्या जैसी दुर्घटनाएँ होती हैं। इसलिए शादी को नितान्त सादगी के साथ घरेलू उत्सव की तरह सम्पन्न किया जाना चाहिए। दहेज या जेवर के स्थान पर उस रकम को एकत्रित करके कन्या के नाम फिक्स्ड-डिपाजिट के रूप में जमा कर दिया जाय, तो वह निधि बनी रहे और सुदूर भविष्य में किसी आड़े वक्त पर काम आये।

अगले दिनों नारी प्रगति की भारी संभावनाएँ सामने आ रही हैं। उन्हें प्रत्येक महत्त्वपूर्ण प्रसंग में आरक्षण मिलने जा रहा है। राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में उनकी प्रगति के लिए सरकारी और गैर सरकारी अनेकानेक उपहार दौड़ते हुए चले आ रहे हैं। अन्य नये अवसर भी अनेकों बन रहे हैं। इनसे लाभ उठाने के लिए आवश्यक है कि नारी सुयोग्य और समर्थ हो, अन्यथा बिचौलिए ही उस सुविधा को हड़प लेंगे।

अनेक कुरीतियाँ, मूढ़-मान्यताएँ, प्रतिगामिताएँ, विषाणुओं की तरह दुर्बल शरीर पर सरलतापूर्वक चढ़ दौड़ती हैं। इन त्रासों से भी महिलाओं को बचाने के लिए विचारशीलों को चाहिए कि गुण-दोषों का अन्तर करने योग्य विवेक उनमें जागृत करें। यह तभी संभव है, जब विवाह की अवधि अधिक बढ़ाई जाय। भारत के केरल प्रान्त की महिलाओं ने लड़-झगड़ कर महिलाओं की विवाह आयु न्यूनतम २५ और लड़के की अट्ठाइस करवा ली है। इसी का सत्परिणाम है कि वहाँ नारियाँ प्रगति के हर पक्ष का अवसर प्राप्त कर रही हैं और परिवारों को समर्थ बना रही हैं। शिक्षा का स्तर और प्रगति भी वहाँ देश के अन्य भागों की तुलना में कहीं अधिक है। ऐसे ही प्रयत्न सर्वत्र होने चाहिए।

विवाह के उपरान्त वर-कन्या को कई वर्ष का अवसर ऐसा मिलना चाहिए कि वे एक दूसरे की योग्यता-समर्थता बढ़ाने में योगदान दे सकें। इसके लिए आवश्यक है कि विवाह के बाद कम से कम पाँच वर्ष तक बच्चे उत्पन्न करने के संकट न लदें। यह अवधि ससुराल वालों की ओर से समर्थता प्रदान करने के लिए नियत रहनी चाहिए। अभिभावको ने इतने दिन उसकी योग्यता वृद्धि में योगदान दिया। विवाह के बाद कम से कम पाँच वर्ष तो ससुराल वालों को भी ऐसा ही अनुदान देना चाहिए। उस अवधि में बच्चे पैदा करने की विपत्ति से नहीं लाद देना चाहिए।

यह सामान्य प्रचलन की विधा हुई। नारी को अवगति से उबारकर प्रगति के पथ पर घसीट ले चलने के लिए महिला वर्ग में से भी कुशल नेतृत्व उभरना चाहिए। देश को स्वतंत्र कराने में नारी नेतृत्व की अग्रणी भूमिका रही है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए नारी वर्ग के भावनाशील पक्ष को आगे बढ़ना चाहिए और ऐसा कुछ करना चाहिए, जिससे उनकी योग्यता घर की चहारदीवारी में रसोईदारिन, धोबिन, मेहतरानी, धाय, नौकरानी की तरह ही गुजार न देनी पड़े वरन् कम से कम अपने समुदाय को ऊंचा उठाने, विविध बंधनों से छुड़ाने के लिए वे लग सकें।

इसके लिए वे महिलाएं अधिक उपयुक्त हो सकती हैं, जो छोटे बच्चों की जिम्मेदारी से मुक्त हो चुकीं। रिटायर्ड स्तर की जिम्मेदार अध्यापिकाएं तथा दूसरी कार्यरत महिलाएँ घर का भार दूसरों के कंधे पर खिसका कर यह कर सकती हैं कि छोटी-बड़ी टोलियाँ बनाकर महिला-संपर्क आन्दोलन के लिए निकल पड़ें और उनमें कितनी ही सत्परिवृत्तियों के संवर्धन हेतु बढ़-चढ़ कर काम करें। सहायता आवश्यक है, वह मिलेगी भी, परन्तु नारी स्वयं उमंग के साथ उठ खड़ी हो, यह आवश्यक है। स्वावलम्बन भी भाग्योदय का एक समर्थ पक्ष है।

ऐसा भी हो सकता है कि कुछ युवतियाँ, विवाह के प्रलोभन से बचकर अपनी बहुमूल्य प्रतिभा नारी उत्कर्ष के लिए लगा दें। प्रजनन के कुचक्र में फँस कर उन्हें जितना त्रास सहना पड़ता है, उसका बीसवाँ भाग भी यदि साहस जुटा कर नारी उत्कृष्टता के लिए अपने को समर्पित कर सके, तो वह महामानवों, वीर, बलिदानियों जैसा साहस होगा। घरेलू जिम्मेदारियों से बची रहने की स्थिति में वे विस्तृत क्षेत्र में बड़ी मात्रा में नारी-कल्याण का काम कर सकती हैं। ऐसे साहस जिनने अपनाये, ऐसी शूर-वीर महिलाओं से किसी अंश में पुराण और बड़े अंश में अपने समय का इतिहास भरा पड़ा है। विवाह को अनिवार्य मानकर नहीं चलना चाहिए। साथी के बिना जिन्दगी कैसे कटेगी? सुरक्षा कैसे मिलेगी? इस प्रकार के अपडरों से आदर्शवादी महिलाएं सहज ही बच निकल सकती हैं। सहेलियों की सघन मित्रता भी मिल-जुलकर इस आवश्यकता को बहुत अंश में पूरी कर सकती है।

अगले दिनों नारी शताब्दी का नव निर्माण संभव कर सकने में देश के पुरुषों का जहाँ उदार सहयोग अपेक्षित है, वहाँ यह भी आवश्यक है कि उस आन्दोलन का नेतृत्व सँभालने के लिए मनस्वी महिलाएँ अग्रिम पंक्ति में आयें। आन्दोलन को पुरुषों का सहयोग तो चाहिए ही, वे नारी को समय, साधन, सहयोग और प्रोत्साहन प्रदान करें; पर साथ ही यह उससे भी अधिक आवश्यक है कि नेतृत्व समर्थ महिलाएँ ही सँभालें। अपने देश की प्रतिगामिता, नर और नारी को मिलकर काम करने के सुविधा नहीं देती। इसलिए आवश्यक है कि महिलाओं की अपनी छोटी-बड़ी मंडलियाँ बनें और घर-घर में प्रवेश करें। संगठन खड़ा करें, वातावरण बनायें और ऐसे कार्यक्रमों को चलायें, जिससे युग संगठनों के अति महत्त्वपूर्ण नेतृत्व का श्रेय उन्हें ही हस्तान्तरित हो सके।

महिला सदी का बहुत बड़ा शुभारम्भ शान्तिकुञ्ज सेही गतिशील होना है। इसलिए उसके सदस्यों और सदस्याओं को अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार यह योजना बनानी चाहिए कि महिलाओं की स्थानीय क्रिया-प्रक्रिया किस प्रकार चलेऔर उनके द्वारा बड़े क्षेत्र को सँभाल सकने वाली युग नेतृत्व की व्यवस्था किस आधार पर बने? इस संदर्भ में मात्र पुरुषों का सहयोग पर्याप्त नहीं। समर्थ महिलाओं को भी लालच, दबाव और संकीर्णता की परिधि से ऊंचा उठकर घर से बाहर निकलने की बड़ी योजना भी बनानी चाहिए; ताकि उनकी गणना महान प्रयोजन पूरा कर सकने वाली महान महिलाओं से हो सके।

सहस्त्रकुण्डी महायज्ञों का देशव्यापी सरंजाम

शासन-व्यवस्था संसार भर पर आच्छादित है, पर उसका क्रम खण्ड-खण्डो में विभाजित होकर लागू होता है। दुनिया एक है, पर उसमें देश अनेक हैं। देश में प्रान्त, प्रान्तों में जिले, जिलों में मण्डल बँटते है। और उनके अनुसार शासनाध्यक्ष नियुक्त होकर कार्यरत होते हैं। केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत विधान सभाएँ जिला आदि के चुनाव होते हैं; तभी विकेन्द्रीकरण का तारतम्य बैठता है।

धर्मतंत्र अथवा समाजतंत्र का भी इसी प्रकार विभाजन बन पड़ता है। छोटी इकाइयाँ मिलकर एक बड़ी इकाई बनती हैं। यों इन दिनों उनमें सम्प्रदायों और मतमतान्तरों का भी बोलबाला है; और तीर्थो, धर्म-केन्द्रों का विभाजन विघटन स्तर का हो गया है। फिर भी ऐसी अराजकता प्राचीनकाल में नहीं थी और भविष्य में भी न रहेगी। राजतंत्र और धर्मतंत्र दोनों मिलकर एक समग्र लोक

तंत्र का सृजन करेंगे । शासनतंत्र सुरक्षा, सुव्यवस्था, स्वास्थ्य, शिक्षा, संचार, मुद्रा, अर्थतंत्र आदि का संचालन करेगा और मानसिकता, भावना, आचार-संहिता, प्रथा-प्रक्रिया आदि का दायित्व धर्मतंत्र को सँभालना पड़ेगा । भौतिकता से मनुष्य को लाभान्वित करने का सरंजाम शासन जुटाये और आध्यात्मिकता, नीति-निष्ठा, समाजनिष्ठा, आदर्श, अनुशासन आदि को समुन्नत करने की जिम्मेदारी धर्मतंत्र के कंधे पर रहे । समग्रता इसी आधार पर बन पड़ेगी, अगले दिनों ढाँचा ऐसा ही खड़ा करना पड़ेगा।

शासनतंत्र अपने ढंग से चल रहा है, उसकी उठक-पटक राजनैतिक पार्टियाँ करती रहती हैं; सुधार-परिवर्तन होते रहते हैं, पर दुर्भाग्य यही है कि मानसिकता, भावना और आदर्शवादी अनुशासन को सुस्थिर-समुन्नत रखने वाला धर्मतंत्र इन दिनों अन्य क्षेत्रों की तुलना में विकृतियों से अधिक भर गया है, जबकि उसके अधिक परिष्कृत, प्रभावी एवं संगठित होने की आवश्यकता थी; ताकि शासन क्षेत्र में जो गड़बड़ी चले, उसे संतुलित करने में उसकी प्रभाव-क्षमता का परिचय मिल सके । धर्म-तंत्र से लोक शिक्षण की प्रक्रिया इसी आधार पर चल पड़ी है । इक्कीसवीं सदी की युग परिवर्तन योजना के अन्तर्गत इसी प्रक्रिया को प्रमुखता दी गयी है । परिवर्तन योजना के अन्तर्गत इसी प्रक्रिया को प्रमुखता दी गयी है । जन-सम्पर्क, जनजागरण के अनेकानेक कार्यक्रम इसी लक्ष्य को आगे रखकर संचालित किये गये हैं ।

यह घोषणा देश के-विश्व के-कोने-कोने में की गयी है कि सन् १९९० से २००० के बीच दस वर्षों में जन-जागृति का, लोकमानस के परिमार्जन का लक्ष्य पूरा कर लिया जायेगा । उस हेतु एक लाख दीप यज्ञों और एक करोड़ सृजन शिल्पियों की भागीदारी नियोजित किये जाने का इतना बड़ा कार्यक्रम बना है, जिसे अभूतपूर्व, असाधारण एवं ऐतिहासिक कहा जा सकता है । अपेक्षा की गयी है कि इस कार्यक्रम के आधार पर देश भर के कोने-कोने तक युग-चेतना का प्रकाश पहुँचाया जायेगा। इससे कुछ कदम आगे बढ़ते हों, विश्व भर में बिखरे भारतीय मूल के प्रवासियों और इसके बाद अनेक धर्मावलम्बियों, भाषा-भाषियों, मान्यताओं वाले लोगों की, उनकी अभिरुचि के साथ संगति बिठाते हुए, इसी प्रयास को व्यापक बनाया जायेगा । प्रस्तुत ६०० करोड़ मनुष्यों को मानवी-गरिमा की छत्र-छाया में लाने की यही योजना है । शान्तिकुञ्ज से संबंधित सभी परिजन इस विशालकाय योजना को कार्यान्वित करने में इन्हीं दिनों जुट गये हैं । परिजनों-पाठकों को ही नहीं, अपरिचितों को भी इस माध्यम से एक जुट करने और प्रगति-पथ पर चल पड़ने के लिए आन्दोलित किया जा रहा है । सन् १९९० को शुभारम्भ वर्ष माना गया है । अगले दस वर्ष इस प्रयोजन को व्यापक और परिपक्व बनाने में लगेंगे । फिर सन् २००० के आगमन के साथ इक्कीसवीं सदी का सूत्रपात हो ही जायेगा ।

सन् १९९० का निर्धारण यह है कि जहाँ भी प्रज्ञापीठें, प्रज्ञा-मंडलियाँ, जागृत शक्तिपीठें विद्यमान हैं, उन सभी में एक-एक हजार दीप यज्ञों के आयोजन हों । उसमें एक मंडल के लोगों को आमंत्रित ही नहीं, सम्मिलित भी किया जाय । मंडल के गठन आवश्यक हैं। राजनैतिक क्षेत्र की तरह धर्म-तंत्र को भी अपने मंडल संगठित करने चाहिए और उसके आधार पर दीप यज्ञों के समारोह होने चाहिए । उस क्षेत्र की विचारशील जनता को इनमें प्रयासपूर्वक अधिकाधिक संख्या में सम्मिलित किया जाना चाहिए ।

हर मंडल में कई-कई हजार वेदी के दीप यज्ञ हों। इसके लिए सम्पर्क साध कर, उद्देश्य एवं महत्त्व बताकर, संभावनाओं पर ध्यान केन्द्रित कराया जा सके, तो निश्चय ही दो-दो, तीन-तीन मील के फासले पर उपरोक्त स्तर के आयोजनों की धूम मच सकती है। उस परिधि के लाखों व्यक्ति नवयुग के, नवजीवन के आधारों को अपनाने के लिए आन्दोलित हो सकते हैं ।

कुछ प्रभावशाली प्रतिभाएँ यदि इन आयोजनों को सम्पन्न बनाने के लिए कटिबद्ध हो सकें, तो इतने भर से ही उज्ज्वल भविष्य से जुड़े हुए नवयुग आन्दोलनों की तूफानी लहर पैदा हो सकती है । समर्थ प्रतिभाओं को कार्य-क्षेत्र में उतारने का संदेश शान्तिकुञ्ज से सभी दिशाओं में, देश के कोने-कोने में भेजने की प्रक्रिया योजनाबद्ध रूप से आरंभ कर दी गयी है ।

उपरोक्त आयोजन न तो अत्यधिक श्रम-साध्य हैं और न खर्चीले । इच्छा-शक्ति की प्रबलता और व्यवस्थित दौड़-धूप से आयोजन में सम्मिलित होने वालों की अभीष्ट संख्या एकत्रित हो सकती है । प्रचार के अनेक सरल माध्यम हैं । साइकिल यात्राओं, ज्ञान रथों, स्लाइड प्रोजेक्टरों और टेपप्लेयर-लाउड स्पीकरसैटों के माध्यम से जन-जन तक आयोजनों के संदेश, उद्देश्य और आमंत्रण पहुँचाये जा सकते हैं । गीतों, गोष्ठियों आदि के माध्यम से

उद्देश्य और महत्त्व समझकर लोग सहज ही भाग लेने लगते हैं ।

संयोजकों को छाया का प्रबंध करने के लिए शामियाना, बैठने के लिए फर्श, घेरा बंदी के लिए कनात जैसी आवश्यकताएँ पड़ेंगी । लाउडस्पीकर का भी प्रबन्ध करना होगा । प्रवचन मंच तथा पूजा वेदी की व्यवस्था तख्त एकत्र करके बनाई जा सकती है । ऐसा भी हो सकता है कि एक क्षेत्र के लिए एक सेट की व्यवस्था करली जाय और उसी का प्रयोग फिर समीपवर्ती सैकड़ों कार्यक्रमों में होता रहे । बड़ी संख्या में जन उपस्थिति के लिए पीने का पानी और पेशाबघरों का प्रबंध भी करना पड़ता है । सज्जा तथा सुव्यवस्था के लिए अपने ही लोगों में से कुछ को स्वयंसेवक स्तर की जिम्मेदारी सँभालने के लिए प्रशिक्षित कर दिया जाय ।

एक दिन का यह आयोजन प्रायः सबेरे से शाम तक चलेगा । इतने लम्बे समय तक सम्मिलित रहने वालों के लिए एक बार का भोजन प्रबंध बन पड़े, तो ठीक है । यह मुश्किल तब पड़ेगा, जब एक ही जगह पूड़ी-सब्जी जैसी खर्चीली व्यवस्था बनाई जाय । यह प्रीतिभोज शैली अपने कार्यक्रमों में अपनाये जाने की तनिक भी आवश्यकता नहीं है ।

नया निर्धारण यह है कि हर घर से एक-दो रोटी तथा शाक-सब्जी लाने के लिए प्लास्टिक की थैलियाँ बाँट दी जायें और कहा जाय कि इसमें अपनी सामर्थ्यानुसार कुछ बना हुआ भोजन भी आयोजन में आने के समय साथ लेते आवें । रोटी संग्रह करने वाली थैलियों पर छपा रहे "स्वच्छतापूर्वक बना- शाकाहारी भोजन" । इस प्रकार का भोजन सब लोग पंक्तिबद्ध बैठकर प्रीतिभोज की तरह खायें, तो उससे "जाति-वंश सब एक समान" के आदर्श की पूर्ति होती है और जातिगत ऊंच-नीच का जो भेद-भाव चल रहा है, उससे निवृत्ति मिलती है । सहभोज के सम्बन्ध में एक प्रयोग यह भी हो सकता है कि खिचड़ी या दलिया एक जगह बना ली जाय और उसे पत्तलों में परोस कर खाया जाय ।

सहगान कीर्तन से भी एकता के भाव विकसित होते हैं । साथ-साथ गायत्री मंत्र के उच्चारण में भी जहाँ एकता और समता का प्रतिपादन है, वहाँ उससे सूक्ष्म जगत का ऐसा परिष्कार भी जुड़ा है, जो नवयुग के अवतरणों में सहायता करेगा ।

इन आयोजनों में सम्मिलित होने वालों को कुछ उपयोगी प्रतिज्ञाएं भी करनी चाहिए । जैसे हर साक्षर द्वारा दो निरक्षरों को साक्षर बनाया जाय । नशेबाजी छोड़ी और छुड़ायी जाय । प्रगति कार्यक्रमों में सहयोगी बनने के लिए समयदान-अंशदान का पुण्य छोटे-बड़े किसी रूप में निबाहा जाय ।

धर्म के चार चरण भी व्याख्या करने योग्य हैं और प्रतिज्ञा में सम्मिलित रखने योग्य भी । १. समझदारी २. ईमानदारी, ३. जिम्मेदारी, ४. बहादुरी । पाँच नियम ऐसे हैं, जिन्हें अपने प्रभाव क्षेत्र में सुविस्तृत किया जाना चाहिए- १. श्रमशीलता, २. शिष्टता, ३. मितव्ययिता, ४. सुव्यवस्था, ५. सहकारिता । व्याख्यानों में इन सद्गुणों को अपनाने की उपस्थित जनों को प्रेरणा दी जानी चाहिए । विवाहों में दहेज-जेवर और धूम-धाम का परित्याग करने का व्रत लेना भी ऐसा है, जिसे सभी लोगों को संकल्प रूप में निबाहने की प्रतिज्ञा करनी चाहिए ।

दीपयज्ञ में उपस्थित जन अपने-अपने प्रभाव क्षेत्र में ऐसे ही छोटे बड़े आयोजन करने-कराने की प्रतिज्ञा लें, तो इस प्रक्रिया का व्यापक प्रचार हो सकता है और धर्म-धारणा के लिए, सेवा-साधना के लिए एक नया वातावरण विनिर्मित हो सकता है ।

इस योजना से कुछेक प्रतिगामियों को छोड़कर अन्य किसी की कोई असहमति नहीं हो सकती है । एक दिन का समय निकालना और घर से कुछ खाद्य-पदार्थ लेकर चलना भी इतना कुछ कठिन नहीं है, जिसके लिए यदि समुचित प्रचार किया जाय, तो बड़ी संख्या में लोगों को सम्मिलित न किया जा सके । इस प्रकार एकत्रित हुए लोगों का एक परिवार समुदाय गठित होता है । उसकी संयुक्तशक्ति को अवांछनीयताओं से जूझने और एक जुट होकर उपयोगी कार्य सम्पन्न करने के निमित्त लगाया जा सकता है और उसके सत्परिणाम कुछ ही दिनों में सामने आ सकते हैं ।

इन आयोजनों को गठित करने वाले, एक लोकसेवी और सुधारवादी के रूप में जन साधारण के सामने आते है और छवि बनती है । उस छवि का लाभ व्यक्तिगत और सामूहिक प्रगति के रूप अनेक आधार लेकर सामने आ सकता है। नेतृत्व के अभिलाषी तो इन आयोजनों के सहारे अपनी मनोकामना सौम्यतापूर्वक सहज पूरी कर सकते हैं ।

समर्थ शाखा-संगठनों के लिए कुछ उपकरण खरीदना और अपने तथा अन्यों के क्रिया-कलापों में उपयोग करना कठिन नहीं है । दीपयज्ञो के साथ धार्मिकता

और पुण्य-परमार्थ के जुड़े होने के कारण, खुशहाल लोगों से इतना पैसा भी आसानी से संग्रह किया जा सकता है, जिसके सहारे तीर्थयात्रा, ज्ञान रथ, स्लाइड प्रोजेक्टर, टेपरिकार्डर पेटी, बिछावन, आच्छादन आदि को खरीद सकना सरलतापूर्वक बन पड़े । दीपयज्ञों को सुनियोजित ढंग से आयोजित किया जा सके, तो युग अवतरण के महान प्रयोजन में उनसे बड़ी सहायता मिल सकती है ।

युग प्रतिभाएँ इस तरह आगे आयें

दीवाली, दशहरा जैसे महापर्व वर्ष में एक बार आते हैं । स्वाति-वर्षा साल में एक बार ही होती है । उसका लाभ जिन सीपियों को, केलों को, बाँसों को उठाना होता है, वे उन्हीं दिनों उठा लेते है । बाद मेंतो बात गयी-आयी हो जाती है । ब्रह्मकमल और संजीवनी बूटी भी एक वर्ष में एक बार ही फूलती है । प्रतियोगिताएँ भी निर्धारित समय पर ही होती हैं । राजनैतिक चुनाव पाँच वर्ष में एक बार होते हैं । यह अवसर है, जिन्हें महत्त्वपूर्ण माना और चूका नहीं जाता ।

हर दूरदर्शी को यह अनुभव भी करना चाहिए कि युग परिवर्तन की वर्तमान बेला ऐसी है, जिसकी पुनरावृत्ति बार-बार होगी । गाँधी जी के सत्याग्रह आन्दोलन में जो लोग स्वतंत्रता सेनानी के रूप में सम्मिलित हो गये, उन्हे इतने दिन बीत जाने के उपरान्त भी अभी तक समुचित सम्मान, पेन्शन, फ्री पास आदि की सुविधा मिलती है । शासनसत्ता भी वही लोग प्राय: ४० वर्ष तक चलाते रहे । यदि समय निकल जाने पर अब कोई उत्सुक हो, तो भी उस सुयोग को नहीं पा सकता । अब कोई बन्दर, हनुमान नहीं बन सकता । हर किसी रीछ को जामवन्त, किसी गिद्ध को जटायु बनने का अवसर नहीं मिल सकता ।

उच्च अधिकारियों की नियुक्ति चुनाव आयोग या शासनाध्यक्षों द्वारा होती है । यह अवसर गिने-चुने को मिलता है, सो भी दूसरों के अनुग्रह से । किन्तु धर्म तंत्र में सेवा क्षेत्र में- अनौखी सुविधा यह है कि यदि कोई भावनाशील पुरुषार्थी अपनी उमंग और आदर्शवादी हिम्मत से काम ले, तो वह मण्डलाधीश, मण्डलेश्वर आदि बन सकता है और इतनी समर्थता उपलब्ध कर सकता है कि उसका शासन जन-जन के मन-मन पर रहे । इसी स्तर के लोगो की इन दिनों सर्वत्र माँग है । उनके उभरने की आशा-अपेक्षा दशों-दिशाएँ कर रही हैं । युग देवता ने उन्हीं को पुकारा है । महाकाल उन्हीं को खोजने के लिए टकटकी लगाये ढूँढ-खोज में निरत है ।

अभागे तो मनुष्य-जीवन जैसी सुरदुर्लभ सम्पदा को भी कीड़े-मकोड़ों की तरह गँवा देते हैं । अनजानो के लिए हीरे और काँच में कोई अन्तर नहीं; पर जिनके अन्तराल में दिव्य प्रकाश की एक किरण भी उठती हो, उनके लिए यह अलभ्य अवसर है । इतना अलभ्य अवसर गँवा देने पर, जन्म-जन्मान्तरों तक पछताने के अतिरिक्त और कुछ हाथ लगने वाला नहीं है । आत्मा को, परमात्मा को, विश्वात्मा को ऐसे प्रमादियों के प्रति रोष-आक्रोश ही सदा बना रहेगा । यह सुनिश्चित लाटरी खुलने जैसा, दबा खजाना हाथ लगने जैसा, स्वयंवर वरण करने जैसा अवसर है । जिन आँखों के अंधों को पेट-प्रजनन के अतिरिक्त इस संसार में और कुछ दीख ही नहीं पड़ता, उनके प्रमाद पर कोई लानत ही भेज सकता है ।

होना यह चाहिए कि बुद्धिमत्ता के दावेदार विवेकशीलों में से प्रत्येक को, युग संधि के यह दस वर्ष अथवा उससे कुछ कम समय भी, युग की पुकार सुनने और उसे पूरा करने में अपनी मानसिकता और साहसिकता को खरी-खोटी सिद्ध करने के लिए, कसौटी पर कसे जाने के लिए तैयार हो जाना चाहिए । न्यूनतम एक वर्ष लगाने जैसे कुछ छोटे कदम उठा लेने का साहस तो किसी प्रकार बटोर ही लें । जितना अधिक बन पड़े, उतना ही उत्तम ।

इन दिनों करने योग्य, प्रमुखता देने योग्य काम एक ही है- जनमानस का परिष्कार । विचार-परिशोधन, मान्यताओं, भावनाओं आकांक्षाओं को निकृष्ट प्रयोजन मे निरत रहने से उबार कर इस मान्यता से सहमत कर लिया जाय कि इस समय विशेष को उठने और उठाने, जगने और जगाने में, नव सृजन के लिए कटिबद्ध होने और दूसरों को इसी के निमित्त नियोजित करने के लिए प्राण-पण से लगाया जाय । व्यक्तित्ववानों ने अपने को बदलना आरंभ किया, तो यह निश्चित है कि वह समूचा वातावरण बदल जायेगा, जिसमें रहते हुए हर कोई खिन्न-विपन्न हो रहा है।

अपने कुछ न करने पर भी उज्ज्वल भविष्य की संभावना, स्रष्टा के संकल्पों और निर्धारणो के संकेत पर भवितव्यता बनकर, साकार होकर रहेंगी; पर जो सेवा-साहस अपनाकर धन्य हो सकते थे, वे ही अपनायी गयी कृपणता, निष्ठुरता और कायरता के कारण अपने ऊपर धिक्कार बरसते रहने की व्यथा सहते रहेंगे ।

जो करना है, वह सरल भी है-सुखद भी है और हाथों-हाथ श्रेय-गौरव उपलब्ध कराने वाला भी । उसकी आरंभिक चर्चा पिछले पृष्ठों पर हो चुकी है । स्वाध्याय,

सत्संग, संगठन और उल्लास उभार के कई कार्यक्रमों की चर्चा हो चुकी है। उनमें से कोई एकाकी भी कुछ न कुछ कार्य अपना सकता है। पर यदि संगठन की क्षमता हो, तो बड़े क्षेत्र को अपने सेवा प्रयोजन के लिए चुना जा सकता है। दस-बीस गाँवों का एक मण्डल निर्धारित करके, उनमें बसने वालों के साथ सघन सम्पर्क जोड़ा जा सकता है, उनकी मनोभूमियों को जोतने, बोने, खाद-पानी देने, रखवाली करने में एक कर्मठ किसान की तरह निरत रहकर हीरे-मोतियों जैसी फसल से कोठे भरने की प्रतीक्षा भी की जा सकती है।

इसका समर्थ शुभारंभ अपनी निज की प्रतिभा निखारने से होना चाहिए। जिन्हें अपने से बड़ा या योग्य माना जाता है, उन्हीं की बातों पर लोग ध्यान देते हैं। उन्हीं का आदर्श-परामर्श मानते हैं। इसलिए जिन्हें किसी प्रकार का नेतृत्व निबाहना हो, उन्हें सर्वसाधारण की अपेक्षा अधिक वरिष्ठ और अतिविशिष्ट होना चाहिए। आत्म परिष्कार की कसौटी पर कस कर स्वयं को इतना खरा बना लेना चाहिए कि किसी को अँगुली उठाने का अवसर न मिले। वाणी की मधुरता, व्यवहार में सभ्यजनों जैसी शिष्टता, वस्त्र-उपकरणों से लेकर साज-सज्जा तक में समुचित स्वच्छता रह सके, ऐसा अभ्यास करना चाहिए। समझदारी, ईमानदारी, जिम्मेदारी और बहादुरी के चार प्रमुख धर्माचरणों से अपने व्यक्तित्व को सँजोया जा सके, तो समझना चाहिए कि विशिष्टता और वरिष्ठता से अपने को सम्पन्न बना लिया गया।

क्रिया-कलापों में वाणी की मुखरता और शरीरगत ऐसी सक्रियता हो, जो चुस्त-दुरुस्त होने का लक्षण प्रकट करती रहे। स्वाध्याय एवं सत्संग प्राप्त करते रहने का अवसर अधिकाधिक लोगों को मिलता रह सके, ऐसे छोटे-बड़े कार्यों में निरत रहने के लिए परिस्थितियों के अनुरूप प्रयत्न करते रहना चाहिए।

उत्साह उभारने और लोक चेतना जगाने की एक नितान्त सरल और अत्यधिक प्रभावशाली विद्या है-सहस्रवेदी दीप यज्ञों की योजना। यदि चुनाव में खड़े होने वालों की तरह दौड़धूप की जा सके, तो यह आयोजन हर जगह सरलता और सफलतापूर्वक सम्पन्न हो सकता है। एक बार का उबाल, साल-छै महीने तो अपनी गर्मी बनाये ही रहता है। इसलिए जिलाधीशों के समतुल्य धर्मतंत्र की जिम्मेदारी उठाने वालों को अपनी सुविधानुसार निकटवर्ती मंडल निर्धारित करना चाहिए। साइकिल या अन्य साधनों के सहारे ऐसी व्यवस्था बनानी चाहिए; ताकि सघन जन-सम्पर्क सध सके और जन-जागरण के नव-सृजन के अनेकानेक कार्य अपने ढर्रे पर, अपने बलबूते लुढ़कते रहने वाली गति पकड़ सके।

अपने मंडल के हर गाँव में एक बड़ा दीप यज्ञ आयोजन हर साल होना ही चाहिए; ताकि उभरे हुए उत्साह से उपस्थित जनों को प्रभावित करके उनके द्वारा सत्प्रवृत्ति-संवर्धन और दुष्प्रवृत्ति-उन्मूलन के कितने ही छोटे-बड़े काम संकल्पपूर्वक किए जाने की प्रक्रिया चल पड़े-व्रतशीलता निभ सके।

अपने समुदाय में ऐसे अनेकों कार्य करने को पड़े हैं, जिनको गतिशील बनाने में तनिक भी विलम्ब नहीं होना चाहिए। शिक्षा-संवर्धन इनमें से प्रमुख हैं। नारी शिक्षा और प्रौढ़ शिक्षा को सृजन शिल्पी विशेष रूप से हाथ में लें, क्योंकि इस ओर उपेक्षा ही बरती जा रही है। 'गरीबी दूर भगाओ' की योजना कुटीर उद्योगों को अपनाए बिना हल हो नहीं सकती। शारीरिक समर्थता और मानसिक साहसिकता के अभिवर्धन के लिए व्यायामशालाओं के आन्दोलन को गतिशील बनाया जाना चाहिए। बाल-विवाह और प्रजनन की बाढ़ का तो दृढ़तापूर्वक रोका ही जाना चाहिए। खर्चीली शादियाँ हमें दरिद्र और बेईमान बनाती हैं, इस तथ्य को हर किसी को हृदयंगम कराया जाना चाहिए और बिना खर्च तथा धूम-धाम की शादियाँ कर, यह कुप्रचलन समाप्त करना ही चाहिए। नशेबाजी धीमी आत्म-हत्या है, यदि यह तथ्य समझा और समझाया जा सके, तो बहुमुखी बर्बादी पर कारगर अंकुश लग सकता है। वृक्षारोपण की प्रवृत्ति बढ़नी चाहिए। यह गतिविधि हर घर में शाक-वाटिका या पुष्प वाटिका के आरोपण के रूप में तो चल ही पड़नी चाहिए। जीवन के हर क्षेत्र में प्रगतिशीलता का समावेश करने के लिए साप्ताहिक सत्संगों को योजनाबद्ध रूप में चलाना चाहिए। यदि दैनिक रूप में धार्मिक, सामाजिक आयोजन नहीं चल सकते, तो उन्हें कम से कम साप्ताहिक रूप में तो चलाना ही चाहिए।

युग अवतरण का योजना केन्द्र यदि नयी इमारत के रूप में नहीं बन सकता, तो कम से कम इतना तो हो ही सकता है कि किसी बड़ी इमारत वाले से एक कमरा माँग लिया जाय, जो संगठन कार्यों के लिए भी प्रयुक्त होता रहे और शेष समय घर-मालिक उसे अपने कार्यों में प्रयुक्त करता रहे।

कुछ उपकरण इस प्रयोजन के लिए अनिवार्य हैं- (१) ज्ञान-रथ का चल देवालय (२) स्लाइड-प्रोजेक्टर (३) सत्संग पेटी (४) गाँव-गाँव परिभ्रमण करने के लिए साइकिल टोली। (५) संगीत उपकरण (६) आयोजन के लिए फर्श और आच्छादन (७) दीप यज्ञों में काम आने वाले उपकरण। यह सभी साधन मिलकर दस से बीस हजार के भीतर बन सकते हैं। इतने पैसे का प्रबंध सहज ही यज्ञ के समय मिल-जुलकर चंदे के रूप में एकत्रित किया जा सकता है। जिनसे पैसा लिया है; उन्हें हिसाब समझा देना आवश्यक है। प्रामाणिकता बनाये रखने के लिये इतनी सफाई आवश्यक है।

वर्ष में एक बार कर्मठ व्यक्तियों को शान्तिकुञ्ज पाँच दिन का एक सत्र सम्पन्न करने के लिए भेजना चाहिए; ताकि वे उपयुक्त प्रेरणा और प्राण-चेतना साथ लेकर वापस लौटें। यह हर साल बैटरी चार्ज कर लेने, बंदूक या मोटर का वार्षिक लाइसेंस लेने के समान आवश्यक समझा जाना चाहिए।

मिशन के साथ किसी भी रूप में जुड़े हर व्यक्ति को नित्य कुछ घंटे का समयदान नव सृजन के निमित्त लगाने के लिए सहमत करना चाहिए और साथ ही कुछ पैसों का अंशदान भी निकालते रहने के लिए उन्हें प्रोत्साहित करना चाहिए; ताकि उस योगदान के सहारे आत्म-निर्माण, परिवार-निर्माण और समाज-निर्माण के तीनों ही क्रिया-कलापों को आवश्यक सिंचाई का अवसर मिल सके।

अखण्डज्योति पत्रिका अपने परिवार के हर शिक्षित सदस्य को पढ़ानी और अशिक्षित को सुनानी चाहिए। इस अनुष्ठान को प्रस्तुत महा अभियान के सूत्र-संचालक को नित्य अपने घर बुलाने और उनका एक प्रवचन नित्य सुनाने के समकक्ष मानना चाहिए। इसके लिए जो खर्च करना पड़ता है, वह इतना कम है कि महीने में एक बार हलका जलपान करा देने से अधिक नहीं बैठता।

उपरोक्त सभी काम ऐसे हैं, जिन्हें अपनाने पर कोई भी व्यक्ति पुण्य-प्रक्रिया के रूप में उभर सकता है और अपने को, अपने परिवार-समाज तथा वातावरण को हर दृष्टि से कृतकृत्य कर सकता है।

आत्म शक्ति का उपार्जन एवं सुनियोजन

बाहर की वस्तुओं के सम्बन्ध में मनुष्य को बहुत-सी जानकारियाँ रहती है। उनके द्वारा होने वाली हानि तथा उठाये जा सकने वाले लाभों का भी सहज बुद्धि से अता-पता रहता है, किन्तु आश्चर्य इस बात का है कि अपने आपके संबंध में नगण्य जानकारियाँ ही रहती हैं। जो जाना जाता है उससे लाभ कैसे उठाया जाय और हानि से कैसे बचा जाय ? इस संबंध में भी इतना ही परिचय होता है, जिसे वस्तुस्थिति की तुलना में नगण्य ही कहा जा सके।

शरीर के छोटे-बड़े अंग अवयवों को भली प्रकार देखा-समझा भी नहीं जाता, इतने पर भी उनकी सशक्तता आश्चर्यजनक होती है। किसी बड़े मिल कारखाने को चलाने मे जितनी बिजली खर्च होती है उसकी अपेक्षा शरीर संचालन में, उसके कल-पुर्जों को गतिशील रखने में ऊर्जा कहीं अधिक खप जाती है। फिर भी मोटी दृष्टि में इस उपयोग का कुछ पता नहीं चलता और लगता है कि शरीर अपने आप जीवित है। इसका ढर्रा अपने आप चल रहा है। खाने-सोने का क्रम अनायास ही चलता रहता है। एक महिला घरेलू काम-काज करने मे जितनी शरीर शक्ति खर्च कर लेती है वह उतनी होती है कि उसके बल पर समूचे भू-मण्डल की कई परिक्रमायें लगायी जा सकती हैं। हृदय, आमाशय, गुर्दे आदि अवयव निरन्तर कार्यरत रहकर जितनी सामर्थ्य खर्च करते हैं, उसके संबंध में इतना ही कहा जा सकता है कि मोटी जानकारी की तुलना में वह हजारों गुनी अधिक होती है। इस विद्युत उत्पादन और उपयोग का लेखा-जोखा लिया जा सके तो प्रतीत होगा कि बाहरी दुनियाँ के बारे में हम भले ही कुछ आधा-अधूरा जानते हों, पर अपने सम्बन्ध में जितना समझा गया है उसे पर्वत की तुलना में अणु मात्र ही समझा जाना चाहिए।

मानसिक शक्ति के सम्बन्ध में भी यही बात है। सरकस में अनोखी करामातें दिखाने वाले, खेल के मैदानों में सामर्थ्य के कीर्तिमान स्थापित करने वाले जितने आश्चर्यजनक लगते हैं उससे कहीं अधिक मस्तिष्क की चेतनसत्ता है। वैज्ञानिक, दार्शनिक, कलाकार, मनस्वी जो प्रस्तुतीकरण करते रहते है उससे प्रतीत होता है कि मानसिक सूझबूझ लगती तो नगण्य है, पर उसकी कृतियों का चमत्कार किसी बड़े से बड़े कौतूहल से बढ़कर है। व्यसनी, प्रपंची, अपराधी जैसी सूझ-बूझ का परिचय देते हैं, उसे देखते हुए बाजीगर की उपमा दी जा सकती है। शरीर से लेकर मानसिक क्षमता का समग्र आकलन कर सकना तथाकथित समर्थ व्यक्ति के लिए कठिन है जो उनका धारणकर्त्ता, निर्माता, प्रयोक्ता माना जाता है। चेतना ही है जो कुछ क्षण के लिए अवरुद्ध हो जायँ तो समझना

चाहिए कि समूचा खेल देखते-देखते बिखर गया । क्षण पहले का जीवित व्यक्ति इस स्थिति में पहुँचते भी देखा गया है जिसे मरते ही जल्दी से जल्दी दूर हटाने का प्रयत्न किया जाय। शरीर अद्‌भुत है उसी का पुरुषार्थ और रसास्वादन है जो जड़ समझे जाने वाले पदार्थों को सचेतन से भी अधिक सरस अनुभव करता है । अशक्त को शक्तिशाली बना देता है । मनुष्य ही है जो परमाणु जैसी नगण्य इकाई को शक्ति सत्ता के रूप में प्रकट करता है । फिर सचेतन के सम्बन्ध में तो कहा ही क्या जाय ? यह अद्‌भुत है । स्रष्टा की असीम क्षमता उसकी छोटी-सी दीखने वाली इकाई में लगभग पूरी तरह समाई हुई है । जड़ पदार्थों को सशक्त, सक्षम और अनुभूतिमय बना देने में उसी का कौतूहल काम करता देखा जा सकता है।

इस सचेतन सत्ता को प्राण कहते हैं । प्राणियों की चित्र-विचित्र हरकतें-हलचलें मात्र इसीलिए दृष्टिगोचर होती हैं कि उनमें प्राण की सशक्तता काम करती है । यदि वह क्षीण हो जाय तो समझना चाहिए कि अशक्ति के अतिरिक्त और कुछ शेष नहीं बचा । दुर्बल, दीन, असहाय, असमर्थ मात्र उन्हें कहते हैं जिनकी चेतना लड़खड़ा जाती है । तब फिर शरीर के अंग-अवयव भी जीवित रहने पर भी निर्जीववत् दीख पड़ते हैं । इसको शरीर से सम्बन्ध छूट जाना कहते हैं, जिसे जीवन का अन्त कहा जाता है । साथ ही यह भी स्पष्ट है कि यदि चेतना शरीर और मन पर अपना समुचित आधिपत्य बनाये हुए हो तो फिर काय कलेवर के दुर्बल रहने पर भी व्यक्ति असीम सामर्थ्य का धनी बना रहता है । गान्धी जी की ऊँचाई पाँच फुट दो इंच थी और वजन ९६ पौण्ड । इतने पर भी उनकी चेतना इतनी समर्थ थी कि करोड़ों जन साधारण में प्रचण्ड प्राण फूँका । व्यापक जन मानस का स्तर कुछ से कुछ बनाकर दिखाया । समर्थ शासकों को धूल चटाने में सफल रहे । विश्व के कोने-कोने में अपने ढंग की अनोखी चेतना का संचार किया । यह शरीर या बुद्धि का नहीं प्राण चेतना की समर्थता का ही चमत्कार था। ऐसे उदाहरणों की इस संसार में कमी नहीं जिनकी प्राण चेतना ने साधनों का एक प्रकार से अभाव रहते हुए भी असाधारण उपलब्धियों का पर्वत खड़ा कर दिखाया । तपस्वियों और सिद्ध पुरुषों द्वारा व्यक्तियों, परिस्थितियों एवं वातावरण को किस प्रकार समय-समय पर पलटा और सुधारा गया है, यह विवरण भी इतिहास का सर्वविदित प्रसंग है ।

मनुष्य को शक्ति का स्रोत कहा जा सकता है । वह प्राणियों को भी इच्छानुसार परिवर्तित करता और पदार्थों को भी कुछ से कुछ बना देता है । घटनायें दुःख-सुख की, हानि-लाभ की निमित्त कारण प्रतीत होती है, पर वास्तविकता इससे भिन्न है । चेतना की अनुभूतियाँ ही चित्र-विचित्र अनुभव करतीं और तरह-तरह के अनुभव कराती रहती हैं । घटनायें एवं वस्तुयें तो उस प्रसंग में नाम मात्र की भूमिका निभा पाती हैं।

शास्त्रकारों का कथन है कि जिसने अपने को जान लिया उसने सब कुछ जान लिया । जिसने अपनी सत्ता और महत्ता का परिचय प्राप्त करने से लेकर प्रयोग करने तक की विद्या को जान लिया उसे समग्र सत्ता सम्पन्न एवं अति महत्त्वपूर्ण ही समझना चाहिए ।

सम्पदा किसके पास कितनी है ? कहाँ है ? उसे किस प्रकार प्राप्त किया जाय ? पाने के उपरान्त उसका सर्वश्रेष्ठ उपयोग क्या है ? यह सब जान लेना ही सम्पदा का होना और लाभ उठाना कहलाता है । जिनके पास यह जानकारी, लाभ पाने का उपक्रम है, जिन्हें ऐसी कुछ जानकारी नहीं है, उसके पैरों तले खजाना दबा पड़ा हो तो भी उसका उपयोग नहीं । रत्नराशि पास में होने पर भी यदि उसे काँच का टुकड़ा भर समझा जाय तो व्यक्ति धनाध्यक्ष होते हुए भी गरीबी के दिन गुजारेगा। मनुष्य की सबसे बड़ी सम्पदा चेतना पास होने का कारण आत्मशक्ति ही है । शरीरबल, बुद्धिबल आदि सभी उसके सामने तुच्छ हैं ।

सही उपयोग विदित होने पर साधारण सी घास-पात भी संजीवनी बूटी सिद्ध हो सकती है । जानकारी के अभाव में सब कुछ निरर्थक-सा है । सही उपयोग ही समुचित लाभ उठाने की स्थिति विनिर्मित करता है। बखेरते चलने पर तो सब कुछ बरबाद हो जाता है । छलनी में दूध दुहने पर तो दुधारू गाय का मालिक भी हाथ मलता और दुर्भाग्य को कोसता है ।

आत्मबल भी अन्य बलों की तरह लोगों के पास होता है, पर उसे संभालना, संजोना न बन पड़े तो कुछ लाभ उठा सकना संभव नहीं । आतिशी शीशे पर सूर्य किरणों को एकत्रित कर लेने पर आग जलने लगती है। बन्दूक की नली द्वारा सही निशाने पर छोड़ी गई बारूद भयंकर विस्फोट करती और अपनी शक्ति का परिचय देती है। आत्म शक्ति होने पर भी उसको एकाग्र किए बिना सामर्थ्य की वृद्धि नहीं होती । इसीलिए योग साधनाओं, तपश्चर्याओं द्वारा आत्मशक्ति को उभारना, एकत्रीकरण करना और वरिष्ठता का परिचय देना संभव होता है । एकाग्रता एकान्त साधना, मौन साधना जैसे प्रयोग इसीलिए किये जाते हैं कि

सड़े दलदल में हाथ-पैर पीटते रहने की अपेक्षा, जिन्हें आदर्शवादी अनुशासन अपनाना श्रेयस्कर लगे, उनके लिए शान्तिकुञ्ज का आह्वान है। जो शान्तिकुञ्ज चल पड़ने की सोचें, अपनी संचित कमाई को भी साथ ले जाने की योजना बनायें, अन्यथा उसे मसखरे हड़प लेंगे और अपना गुजारा भिक्षा के धन पर करना पड़ेगा। जिनके पास कुछ अर्थ-साधन संचित नहीं है, उनका तो शान्तिकुञ्ज अपना घर है ही।

युग अवतरण की प्रक्रिया

जिसकी अहंता कुएँ के मेंढ़क या गूलर के फल के भुनगे जैसी हो; जिनके लिए अपना स्वार्थ, विलास और अहंकार ही सब कुछ है; समझना चाहिए कि उनकी केवल काय-संरचना ही मनुष्य जैसी है। पेट और प्रजनन का निर्वाह तो हर कृमि-कीटक को आता है। उसी सीमा में जो आवद्ध है, उसे मनुष्य नाम से भले ही जाना जाय, पर है वह वस्तुतः कृमि-कीटक, या नरपशु जैसा ही। जब कभी ऐसे लोगों का बाहुल्य होता है, तब समझना चाहिए नरक का साम्राज्य छा गया। कलियुग आ गया।

इन दिनों सुविधा-साधनों की कमी नहीं, पर मनुष्य शरीर में रहने वाली चेतना का स्तर गया बीता हो गया है। ऐसा जब कभी होगा तब समझना चाहिए कि व्यक्ति और समाज पर संकट एवं पतन-पराभव का दौर चढ़ने ही वाला है। इन दिनों जो अगणित समस्याएँ हर क्षेत्र में दीख पड़ती हैं, उनका एक ही कारण है कि मानवी काया पर श्मशान के प्रेत ने आधिपत्य जमा लिया है। उसने मर्यादाओं का उल्लंघन और वर्जनाओं का अभ्यास आरंभ कर दिया है। वर्तमान परिस्थितियों में दीनता-हीनता का एक ही कारण है- हम जैसे बोते हैं, वैसा ही काटते भी तो हैं।

वर्तमान परिस्थितियों का विश्लेषण उस एक वाक्य में ही किया जा सकता है कि जन-समुदाय का एक बड़ा भाग भ्रष्ट-चिन्तन और दुष्ट-आचरण को अपनाने का अभ्यस्त हो गया है। उसे उसी में स्वार्थ सधता दीखता है, जिसमें वासना और तृष्णां की पूर्ति का साधन बनते दीखता है। उस ओर ध्यान भी नहीं जाता, जिसके लिए यह सुर-दुर्लभ शरीर मिला है। यही है वह उलटी चाल, जिसे अपना कर लोग स्वयं भ्रमित होते-कष्ट पाते और दूसरों को गिराने का पापपुंज सिर पर लादते जाते हैं। यह उपक्रम जब तक चलता रहेगा, तब तक तो दुर्गति को भोगना पड़ेगा।

समय बदल रहा है। रात्रि का पलायन और प्रभात का उदय हो रहा है। उसका निमित्त कारण एक ही बनने जा रहा है कि लोग अपने को बदलेंगे। स्वभाव में परिवर्तन करेंगे। गिरने और गिराने के स्थान पर उठने और उठाने की रीति-नीति अपनाएँगे और पतन के स्थान पर उत्थान का मार्ग ग्रहण करेंगे। यही नवयुग है। यही सतयुग है, जो अब निकट से निकटतम आता जा रहा है।

भगवान अपना कार्य किन्हीं महामानवों, देवदूतों के माध्यम से कराते रहे हैं। इन दिनों भी ऐसा ही हो रहा है। मनुष्य शरीर में प्रतिभावान देवदूत प्रकट होने जा रहे हैं। इनकी पहचान एक ही होगी कि ये अपने समय का अधिकांश भाग प्रभु की प्रेरणा के लिए लगायेंगे। शरीर कुछ न कुछ साधन उपार्जन करता है। नरपशु उसे स्वयं ही खर्चते हैं, पर देवमानवों की प्रकृति यह होती है कि अपने उपार्जन में से न्यूनतम अपने लिए खर्च करें और शेष को परमार्थ प्रयोजनों के लिए लगा दें। नवयुग का प्रधान स्वरूप है-लोक मानस का परिष्कार। यही अपने समय की साधना, पुण्य-परमार्थ और धर्मधारणा है। इसके लिए जो जितना समय और साधन लगाता दीख पड़े, समझना चाहिए कि भगवान उसी के माध्यम से अपना अभीष्ट पुरुषार्थ पूरा कर रहे हैं।

नवयुग का आगमन-अवतरण निकट है। उसे स्रष्टा किसके माध्यम से पूरा करने जा रहे हैं, यह जानना हो, तो समझना चाहिए कि युग अवतरण का श्रेय उन्हीं को उपहार-स्वरूप भगवान दे रहे हैं जो उनके काम में लगे है। ऐसे लोगों को ही बड़भागी और सच्चा भगवद्-भक्त मानना चाहिए।

महान संकल्पों की महान परिणति

बीज खाद पानी का सहयोग पाकर वृक्ष बनता है और संकल्प को कर्म की सहायता से सफलता के लक्ष्य तक पहुँचने का गौरव प्राप्त होता है। इच्छायें सभी की उठती हैं। मन सभी चलाते हैं। ऊँची उड़ाने उड़ने और रंग-बिरंगे सपने देखने वालों की कमी नहीं। उपलब्धियों और विभूतियों के लिए ललचाते रहने वाले लोगों की ही बहुलता है। इनमें अधिकांश को मनोरथों की पूर्ति न होने के कारण खिन्न और निराश ही देखा जाता है। कल्पनायें स्वप्न हैं। मनोरंजन भर उनसे हो सकता है। भविष्य में सुखद स्थिति आने की रंगीनी जुड़ जाने से कल्पनायें ललचाने वाली तो बन जाती हैं पर उनकी पूर्ति नहीं हो सकती। मनोरथ पूरा होने का भी एक विज्ञान है। एक निर्धारित राजमार्ग है, उस पर न चला जाय अनिश्चित

आत्मशक्ति का चमत्कारी उपयोग बन पड़े । इसी आधार पर सिद्ध पुरुष अनेकों दिव्य विभूतियों के अधिष्ठाता बनते हैं और वह कर दिखाते हैं जो सामान्यजनों की कल्पना से भी बाहर होता है । नर-पशु के समतुल्य विचरण करने वाले भी यदि ऋद्धि-सिद्धियों के अधिष्ठाता बन सकें तो समझना चाहिए कि उनने देव पुरुष की स्थिति प्राप्त कर ली ।

योगीजन अपनी दिव्य शक्ति का एक कण भी बिखरने नहीं देते । उसे सँभाल-सँजो कर रखते हैं । जबकि साधारण जन अपना समय निरर्थक क्रियाकलापों में बरबाद करते रहते हैं । सघन वनों में एकान्त सेवी, गुफा निवासी प्रयोगरत सिद्ध पुरुषों द्वारा असाधारण क्षमतायें कैसे प्राप्त की जाती हैं ? इसका लम्बा इतिहास है । ऋषि-महर्षि यही करते थे । विगत दिनों भी योगी अरविन्द, महर्षि रमण आदि ने इसी मार्ग पर चलते हुए सिद्धियाँ पाईं । अपना, दूसरों का, विश्व की विविध समस्याओं का समाधान किया । अनुभवी बताते हैं कि जिसका प्राण वश में है, उसके लिए सब कुछ उसकी मुट्ठी में है । विभूतियों की उसके पास कुछ कमी नहीं रहती । पार्वती, भगीरथ, ध्रुव आदि की तपस्याओं के प्रतिफल सर्वविदित है ।

वह राजमार्ग अभी भी सभी के लिए खुला हुआ है। तप साधना के सत्परिणामों की परम्परा अभी भी यथावत है । यह दूसरी बात है कि उन उपलब्धियों को कोई क्षुद्र प्रयोजनों में बाजीगरी जैसे कौतुक-कौतूहल दिखाये अथवा उसके साथ जन समस्याओं के हितार्थ लोक कल्याण के महान प्रयोजन पूरा कर सके । युग परिवर्तन की इस बेला में ऐसी संग्रहीत, परिष्कृत और प्रखर आत्म शक्ति के प्रयोग की आवश्यकता समझी गई है ।

शेष जीवन का उत्सर्ग

कृपणता, कायरता और अभ्यस्त हेय-परम्परा मनुष्य को मात्र वासना, तृष्णा के लिए अहंकार प्रदर्शन में यत्किंचित् सफलता प्राप्त करने के लिए बाधित करती है। मनुष्य रूप में कृमि-कीटकों की तरह जीने वालों का चारों ओर फैला हुआ समुदाय भी ऐसा हीन अनुकरण, आचरण अपनाने के लिए प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से समझाता-फुसलाता रहता है । अदूरदर्शिता से ग्रस्त मानव इसी प्रयास में जीवन-संपदा गँवा देता है और पापों की पोटली सिर पर लाद कर हाथ मलते प्रभु के दरबार में वापस लौटता है ।

यह संभव है कि मानवीय गरिमा के उल्लास से भरा जीवन जिया जाय और आत्म संतोष, लोक सम्मान एवं देव अनुग्रह जैसे लाभ प्राप्त किये जायें । विश्वास इतना भर चाहिए कि आदर्श-निष्ठों को नंगे-भूखे नहीं रहना पड़ेगा । यह आश्वासन तो प्रभु ने जन्म के पूर्व ही दूध के स्रोत खोल कर दे दिया था । नव सृजन के लिए, भावनाशील एवं कर्मठ व्यक्तियों के लिए ऐसा ही आश्वासन शान्तिकुञ्ज ने भी दिया हुआ है । उपेक्षा उन्हीं की, की जाती है, जो कोल्हू के बैल की तरह लोभ, मोह के कुचक्र में फँस कर खली की तरह छूँछ बन चुके हैं, जिनमें श्रम-साहस शेष नहीं रह गया है। संसार पर भार बन कर रहते है, उनके लिए शान्तिकुञ्ज ही अपनी दस-दस पैसे की याचना करके जमा की गयी राशि को क्यों बर्बाद करे ? स्वर्ग, मुक्ति, सिद्धि चमत्कार जैसे निरर्थक प्रलोभनों में न उलझाकर यहाँ तो कर्म चेतना को भगवान के चरणों पर अर्पित करने और आत्मोत्कर्ष का प्रत्यक्ष लाभ प्राप्त करने की ही शिक्षा और प्रेरणा दी जाती है ।

जिन्हें प्रभु के अनुपम उपहार-मानव जीवन को प्रपंचों के दुर्गन्धित दलदल में फँसे रहने से अरुचि उत्पन्न हो, जिन्हें युग देवता द्वारा द्वार खटखटाये जाने पर सर्वथा निष्ठुर न बने रहने की भाव चेतना उभरे, उन्हें नये सिरे से सोचना चाहिए कि मसखरी के लिए जिन्दगी निछावर करने की अपेक्षा, युगधर्म के निर्वाह हेतु शेष जीवन को परमार्थ प्रयोजन के लिए ईश्वर के हाथों सौंप देना चाहिए।

शान्तिकुञ्ज में स्थानीय एवं परिव्राजक स्तर के भी कई काम रहते हैं । इसके अतिरिक्त शाखा-प्रशाखाओं में भी कार्यकर्ताओं की माँग रहती है । उसके लिए तत्परता प्रकट करते हुए नये युग की नई साधना आरंभ की जा सकती है । कठिनाई तभी पड़ती है, जब कोई व्यक्ति लोकसेवी तो बनता है; पर वित्तेषणा से आक्रान्त होकर औसत नागरिक से अधिक खर्च करना चाहता है, काम से जी चुराता है या अहंकार की पूर्ति के लिए आत्म-विज्ञापन का प्रपंच रचता है । ऐसे लोग विज्ञ समुदाय में सर्वत्र दुत्कारे जाते हैं फिर सेवा-साधना के क्षेत्र में ही उनकी क्यों व्यापक उपयोगिता-आवश्यकता रह जायेगी ? धर्म-धारणा और सेवा-साधना वस्तुतः योगाभ्यास और तपश्चर्या का ही एक बुद्धिसंगत उपचार है ।

घोर संसारी बन कर जीना भी सरल कहाँ है । उसमें भी पग-पग पर उपहास, आरोप और संकट भरे रहते हैं। जो कमाया जाता है, उसे मसखरे झटक ले जाते हैं । उस

साथ क्रीड़ा-कल्लोल किया करेगा। 'एकोहं बहुस्याम' की श्रुति इसी रूप से इस नियति की उत्पत्ति का वर्णन करती है। जीव विज्ञानी अपने समस्त अन्वेषण के आधार पर चेतना विकास का एक ही आधार बताते हैं कि प्राणी के भीतर आकांक्षा उत्पन्न हुई और अनुकूल कलपुर्जे उनके शरीर तथा मन में उगते चले आये। आकांक्षा में असाधारण चुम्बकत्व होता है। उनकी आकर्षण शक्ति अपने क्षेत्र में ग्रह तारकों को परस्पर बांधे रहने वाली चुम्बकीय शृंखला से कम सामर्थ्यवान् नहीं है। प्राणियों में जब-जब जितने परिमाण में आकांक्षायें जितनी अधिक आकुलता के साथ उत्पन्न हुई हैं तब-तब उतनी ही मात्रा में अनुकूल क्षमता भीतर से विकसित हुई है, पुरुषार्थ जागा है और उसी अनुपात से बाह्य जगत से साधन समिग्री क्रमशः खिंचती घिसटती चली आई है। प्राणी जगत् की प्रगति का यह संक्षिप्त तथ्य इतिहास है। विकास के गर्भ में उफनते इसी आधार को हम हर क्षेत्र की प्रगति में समाया संजोया देखते हैं।

जीव शास्त्रियों के अन्वेषण इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस धरती पर जब जीवन आरम्भ हुआ तब वह एक कोषीय अमीबा जैसी अदृश्य प्राणियों की स्थिति में था। उनमें से जिसमें प्रगति की जितनी आकांक्षा भड़की उसी अनुपात से उनकी शारीरिक बनावट और मानसिक क्षमता विकसित होने लगी और वे अपनी मूल स्थिति की अपेक्षा तेजी से अधिक साधन सम्पन्न बनने लगे। अपने पुरुषार्थ से उन्होंने सुविधा सामिग्री खोजी और संकल्प क्षमता जितनी तीव्र थी उन्हें उसी अनुपात से आगे बढ़ने और साधन सम्पन्न बनने का अवसर मिलता चला गया। जिनमें उत्साह और साहस जितना कम था उनकी प्रगति उतनी ही मन्द बनी रही। साधनों की न सृष्टि के आदि में कमी थी न अब है। प्रगति पथ न तब कठिन था और न अब सरल है। प्रश्न पुरुषार्थ का था। नियति ने आरम्भ से ही प्राणियों को सुविधा प्रदान करने में आरम्भ से ही उदार नीति अपनाई है और वह अन्त तक अपने उस उदार उपक्रम को अपनाये रहेगी। जीवाणु चेतना का प्रतिनिधि होने के कारण जन्मजात रूप से अधिपति और अधिकारी है। प्रकृति का परमाणु सदा से उसका इच्छानुवर्ती अनुचर रहा है और सदा तक अपनी निष्ठावान् स्वामि भक्ति का परिचय देता रहेगा। जीवन की सत्ता इस सृष्टि में सर्वोपरि है उसकी माँग यदि गहरी हो तो उसकी पूर्तिमें प्रकृति बाधक नहीं बनती। नियति रोड़े नहीं अटकाती। मात्र साहस की जाँच पड़ताल करने के लिए अड़चनों के चौकीदार कुछ-कुछ पूछ-ताछ और रोक टोक करते रहते हैं। परिस्थितियों ने कभी किसी मनस्वी के मार्ग में इतनी कठिनाई उत्पन्न नहीं की जिसके कारण उसे अपना संकल्प बदलने और साहस छोड़ने को विवश होना पड़े।

यह जीव जगत की प्रगति का विकासवादी शोधकर्ताओं द्वारा किया गया पर्यवेक्षण और निकाला हुआ निष्कर्ष है। प्रगति का कारण परिस्थितियों को समझा भले ही जाता हो पर तथ्य तक पहुँचने वाले जानते हैं कि चमत्कार उत्पन्न करने की परिपूर्ण क्षमता मनःस्थिति में ही भरी पड़ी है। जड़-जगत की मूल सत्ता एनर्जी है। उसकी विद्युत शक्ति अपने विभिन्न रूपों में काम करती और भौतिक जगत की हलचलों को गति देती है। जीव जगत में यही कार्य संकल्प शक्ति है। प्राणियों का भूतकाल तत्वतः उनकी तत्कालीन मनः स्थिति का ही लेखा-जोखा है। आज भी जो जिस स्थिति में रह-रहा है। वह अपने ही संकल्पों का दण्ड पुरस्कार भोगता है। भविष्य में जिसका जो बनेगा उसमें उथली मान्यता साधनों और परिस्थितियों को श्रेय या दोष देती रह सकती है। वस्तुतः जो कुछ होने जा रहा है। उसमें मनुष्यों की भली बुरी आकांक्षायें ही विकास या विनाश के आधार खड़े करेंगी। मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता आप है। इस सत्य के पीछे एक ही तथ्य काम करता है कि वह संकल्प शक्ति की प्रचण्ड ऊर्जा से सुसम्पन्न है। वह ऊर्जा इतनी प्रखर है कि सामान्य दीखने वाला व्यक्ति उसके सहारे महामानवों की ऐतिहासिक भूमिका निभाने में सहज ही समर्थ बन जाता है। नैपोलियन के शब्दों में इस प्राणवान् शक्ति के सामने सचमुच ही असंभव नाम का शब्द उसके अपने शब्दकोश में है नहीं।

इसका एक निकटतम और हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष प्रमाण अपना युग निर्माण अभियान है। उसका शुभारम्भ कैसे हुआ, इसका आदिम इतिहास बहुत कम लोगों को मालूम है। एक व्यक्ति ने अन्तःकरण मे युग परिवर्तन की नव-निर्माण की स्फुरणा अवतरित हुई। अवतरित इस अर्थ

मन:स्थिति में बहकते और अनिर्णीत दिशाधारा में भटकते रहा जाय तो मंजिल तक पहुँचना कैसे सम्भव हो सकता है ।

महत्वपूर्ण सफलता पाने के लिए वही रीति नीति अपनानी पड़ती है जिसे बुद्धिमान किसान अपनाते और धन धान्य से कोठे भरते हैं । कृषि कर्म में बीजारोपण मुख्य है। कितने दिनों में, क्या फसल उपजेगी इसकी एक रूपरेखा उसी दिन बन जाती है जिस दिन बीज बोया जाता है । जो बीज बोया गया है । उसके उगने से लेकर पकने तक की एक सुनिश्चित रूप रेखा होती है । उसके लिए कब, क्या किस परिमाण में साधन जुटाने और श्रम लगाने की आवश्यकता पड़ेगी इसका एक व्यवस्थित चित्र सामने ऐसा है, उसकी पूर्ति के लिए क्रमबद्ध प्रयत्न होते रहते हैं। प्रगति की दिशा में बढ़ने तथा सफलता तक पहुँचने का पथ प्रशस्त होता रहता है । प्रत्येक छोटे बड़े काम में यही रीति-नीति अपनानी पड़ती है । महान कार्यों में तो इस उपक्रम को और भी अधिक दृढ़तापूर्वक अपनाना पड़ता है । बीजारोपण की उपमा संकल्प से दी जा सकती है । संकल्प का तात्पर्य कल्पना की रंगीन उड़ानों से ऊंचा उठकर किसी लक्ष्य तक पहुँचने के लिए सुनिश्चित निर्धारण करना है । इसके उपरान्त उसे पूरा करने के लिए जो लम्बी मंजिल पार करनी है- जो साधन जुटाने हैं उनका स्वरूप सामने आता है । सामने स्पष्ट रूपरेखा होने और साधनों एवं परिस्थितियों को देखते हुए उसे किस गति से कितने समय में पूरा करना है यह तथ्य सामने आता है । आवश्यकता की स्पष्टता प्रेरणा देती है कि सफलता का मूल्य चुकाने के लिए अभीष्ट तत्परता बरती जाय । इन्हें जुटाने के लिए तत्परता बरती जाती है तो सफलता निकट खिंचती चली आती है । लक्ष्य की दूरी घटने और मनोरथ को पा लेने का यही सनातन मार्ग है । इससे कम में अनायास- अप्रत्याशित रूप से उपलब्धियां किसी के घर में छप्पर फाड़कर बरस पड़ी हों ऐसा तो कदाचित ही कभी-कभी- अपवाद रूप में देखने को मिलता है ।

हम सब नवयुग के उपासक हैं । सतयुग के अवतरण की प्रतीक्षा करते हैं । वर्तमान विपन्नता हमें अरुचिकर और असह्य है । अवाँछनीयतायें व्यक्ति और समाज पर बेतरह लद गई है । उसने सन्तुलन बिगाड़ कर रख दिया है । सुख शान्ति अभीष्ट है पर सामने शोक सन्ताप हो आ खड़े होते हैं । सोचते ऊपर उठने की है पर दुर्भाग्य की विडम्बना उलटे दल-दल की कीचड़ में धकेलती दबोचती चली जाती है । स्थिति निराशा जनक है प्रगति की उपेक्षा करते हैं पर हाथ में दुर्गति ही लगती है । इस स्थिति को बदलने की आवश्यकता सर्वत्र अनुभव की जा रही है। अन्धकार से प्रकाश की ओर चलने और पतन को उत्थान में परिवर्तित करने की आकांक्षा जन-जन की है । यही है समय की पुकार। इसे पूरा करने के लिए जागृत आत्माओं को ही अग्रिम पंक्ति में खड़ा होना होगा । यही हो भी रहा है । युग निर्माण परिवार के परिजन इन दिनों युग परिवर्तन की मुहीम संभाले हुए हैं । लम्बी मंजिल इन थोड़े ही दिनों में मिल-जुलकर पार कर ली गई है । जो शेष है उसकी सफलता का सुनिश्चित आश्वासन नियति ने दिया है। यह विश्वास दिन-दिन सुदृढ़ होता जाता है कि शान्ति का युग आकर रहेगा । मानवी गतिविधियों में शालीनता का समावेश होगा । अपनी इसी धरती पर सुख-शान्ति की परिस्थितियाँ उत्पन्न होंगी । हर किसी के लिए हँसते-हंसाते स्नेह और सन्तोष से भरा पूरा जीवन बिता सकने का अवसर रहेगा । साधनो की न पहले कमी थी- न अब है और न भविष्य में रहने वाली है । कमी सज्जनता की पड़ रही है । उसे पूरा करने के लिए जागृत आत्माओं की- प्राणवान आदर्शवादियों की सक्रियता नियोजित होगी तो कोई कारण नहीं कि उज्ज्वल भविष्य की संरचना के लिए नियोजित हो रहे प्रयास सफलता के लक्ष्य तक न पहुँचें।

युग निर्माण योजना के प्रयत्नों ने स्वल्पकाल में ही सत्प्रवृत्तियों के सम्बर्धन के लिए प्रयासों को आशातीत सफलता के स्तर तक पहुँचाने का कीर्तिमान स्थापित किया है । जो हो चुका है उसका परिचय जिन्हें भी है वे विश्वास करते हैं कि सृजन शिल्पियों के प्रस्तुत प्रयत्न कल नहीं तो परसों अपनी धरती पर सुख शान्ति की परिस्थितियों का अवतरण करके रहेंगे । निराशा का कुहासा घटते हुए और आशा भरा प्रकाश मुस्कराते हुए हम सब अपनी इन्हीं आँखों से प्रत्यक्ष देख रहे हैं । जो गहराई से नहीं देख सकते और लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकते, उनके लिए यह कोई दैवी वरदान या सिद्ध चमत्कार हो सकता है पर जिन्होंने प्रगति का विधान पढ़ा है और सफलताओं की पृष्ठभूमि समझी है, उनके लिए इसमें कुछ भी अद्‌भुत अनुपम अप्रत्याशित दिखाई नही पड़ता । संकल्प यदि प्राणवान हो और उन्हें सघन कर्मनिष्ठा का परिपोषण मिलता रहे तो उनके फलित होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता है ।

शास्त्र कहते हैं ब्रह्मा ने संकल्प किया कि अकेलापन उसे अखरता है वह अपने को अनेक बनाकर अपने आपके

साथ क्रीड़ा-कल्लोल किया करेगा। 'एकोहं बहुस्याम' की श्रुति इसी रूप से इस नियति की उत्पत्ति का वर्णन करती है। जीव विज्ञानी अपने समस्त अन्वेषण के आधार पर चेतना विकास का एक ही आधार बताते हैं कि प्राणी के भीतर आकांक्षा उत्पन्न हुई और अनुकूल कलपुर्जे उनके शरीर तथा मन में उगते चले आये। आकाँक्षा में असाधारण चुम्बकत्व होता है। उनकी आकर्षण शक्ति अपने क्षेत्र में ग्रह तारकों को परस्पर बांधे रहने वाली चुम्बकीय शृंखला से कम सामर्थ्यवान् नहीं है। प्राणियों में जब-जब जितने परिमाण में आकांक्षायें जितनी अधिक आकुलता के साथ उत्पन्न हुई है तब-तब उतनी ही मात्रा में अनुकूल क्षमता भीतर से विकसित हुई है, पुरुषार्थ जागा है और उसी अनुपात से बाह्य जगत से साधन समिग्री क्रमशः खिचती घिसटती चली आई है। प्राणी जगत् की प्रगति का यह संक्षिप्त तथ्य इतिहास है। विकास के गर्भ में उफनते इसी आधार को हम हर क्षेत्र की प्रगति में समाया संजोया देखते हैं।

जीव शास्त्रियों के अन्वेषण इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस धरती पर जब जीवन आरम्भ हुआ तब वह एक कोषीय अमीबा जैसी अदृश्य प्राणियों की स्थिति में था। उनमें से जिसमें प्रगति की जितनी आकाँक्षा भड़की उसी अनुपात से उनकी शारीरिक बनावट और मानसिक क्षमता विकसित होने लगी और वे अपनी मूल स्थिति की अपेक्षा तेजी से अधिक साधन सम्पन्न बनने लगे। अपने पुरुषार्थ से उन्होंने सुविधा सामिग्री खोजी और संकल्प क्षमता जितनी तीव्र थी उन्हें उसी अनुपात से आगे बढ़ने और साधन सम्पन्न बनने का अवसर मिलता चला गया। जिनमें उत्साह और साहस जितना कम था उनकी प्रगति उतनी ही मन्द बनी रही। साधनों की न सृष्टि के आदि में कमी थी न अब है। प्रगति पथ न तब कठिन था और न अब सरल है। प्रश्न पुरुषार्थ का था। नियति ने आरम्भ से ही प्राणियों को सुविधा प्रदान करने में आरम्भ से ही उदार नीति अपनाई है और वह अन्त तक अपने उस उदार उपक्रम को अपनाये रहेगी। जीवाणु चेतना का प्रतिनिधि होने के कारण जन्मजात रूप से अधिपति और अधिकारी है। प्रकृति का परमाणु सदा से उसका इच्छानुवर्ती अनुचर रहा है और सदा तक अपनी निष्ठावान् स्वामि भक्ति का परिचय देता रहेगा। जीवन की सत्ता इस सृष्टि में सर्वोपरि है उसकी माँग यदि गहरी हो तो उसकी पूर्तिमें प्रकृति बाधक नहीं बनती। नियति रोड़े नहीं अटकाती। मात्र साहस की जाँच पड़ताल करने के लिए अड़चनों के चौकीदार कुछ-कुछ पूछ-ताछ और रोक टोक करते रहते हैं। परिस्थितियों ने कभी किसी मनस्वी के मार्ग में इतनी कठिनाई उत्पन्न नहीं की जिसके कारण उसे अपना संकल्प बदलने और साहस छोड़ने को विवश होना पड़े।

यह जीव जगत की प्रगति का विकासवादी शोधकर्ताओं द्वारा किया गया पर्यवेक्षण और निकाला हुआ निष्कर्ष है। प्रगति का कारण परिस्थितियों को समझा भले ही जाता हो पर तथ्य तक पहुँचने वाले जानते हैं कि चमत्कार उत्पन्न करने की परिपूर्ण क्षमता मन:स्थिति में ही भरी पड़ी है। जड़-जगत की मूल सत्ता एनर्जी है। उसकी विद्युत शक्ति अपने विभिन्न रूपों में काम करती और भौतिक जगत की हलचलों को गति देती है। जीव जगत में यही कार्य संकल्प शक्ति है। प्राणियो का भूतकाल तत्वतः उनकी तत्कालीन मनः स्थिति का ही लेखा-जोखा है। आज भी जो जिस स्थिति में रह-रहा है। वह अपने ही संकल्पों का दण्ड पुरस्कार भोगता है। भविष्य में जिसका जो बनेगा उसमें उथली मान्यता साधनों और परिस्थितियों को श्रेय या दोष देती रह सकती है। वस्तुतः जो कुछ होने जा रहा है। उसमें मनुष्यों की भली बुरी आकाँक्षायें ही विकास या विनाश के आधार खड़े करेगी। मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता आप है। इस सत्य के पीछे एक ही तथ्य काम करता है कि वह संकल्प शक्ति की प्रचण्ड ऊर्जा से सुसम्पन्न है। वह ऊर्जा इतनी प्रखर है कि सामान्य दीखने वाला व्यक्ति उसके सहारे महामानवों की ऐतिहासिक भूमिका निभाने में सहज ही समर्थ बन जाता है। नैपोलियन के शब्दों में इस प्राणवान् शक्ति के सामने सचमुच ही असंभव नाम का शब्द उसके अपने शब्दकोश में है नहीं।

इसका एक निकटतम और हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष प्रमाण अपना युग निर्माण अभियान है। उसका शुभारम्भ कैसे हुआ, इसका आदिम इतिहास बहुत कम लोगों को मालूम है। एक व्यक्ति ने अन्तःकरण में युग परिवर्तन की नव-निर्माण की स्फुरणा अवतरित हुई। अवतरित इस अर्थ

में कि उसके साथ प्रचण्ड उत्साह साहस और निश्चय की समन्वित शक्ति भी जुड़ी हुई थी। यह स्फुरणा देर तक अपनी अवतरण भूमि पर निःचेष्ट नहीं बैठी रही वरन् उसने अग्रगमन की-गतिशील होने की ऐसी हलचल उत्पन्न करदी जिसे दूसरे शब्दों में आकुलता कह सकते हैं। यह आकुलता न तो अन्धी थी और न अनिश्चित। उसने अपना एक स्वरूप और कार्यक्रम बनाया। दिशाधारा का निश्चय किया। उसी की परिपक्वता युग निर्माण योजना है। इस क्रान्तिकारी तूफान का प्रथम दर्शन अपने सर्व विदित बहु चर्चित "युग निर्माण सत्संकल्प" में हुआ। सर्वप्रथम यही है अपने मिशन अभियान का अरुणोदय- प्रभात दर्शन। इसके बाद का सारा घटनाक्रम लगभग वैसा ही है जैसा कि सूर्य का अग्नि पिण्ड क्रमशः ऊँचा चढ़ता- प्रखर होता और ऊर्जा बखेरता चला आता है। अभियान के तीस वर्षों के इतिहास को एक शब्द में सत्संकल्प का विकास विस्तार कह सकते हैं। विचार पूर्ण दृढ़ निश्चय जब कर्म निष्ठा के साथ जुड़तेहै तो उनकी अग्रगामी गतिशीलता आँधी तूफान जैसी होती है।

संकल्प का दूसरा चरण गायत्री यज्ञ की क्रिया-प्रक्रिया के साथ प्रारम्भ होता है। हवन अग्निहोत्र तो पहले भी होते थे। उस सांस्कृतिक क्रियाकृत्य का प्रचलन चिरकाल से चला आया है। पर युग निर्माण मिशन ने उसमें एक ऐसे अद्भुत तथ्य का समावेश किया जिससे गायत्री यज्ञ और युग निर्माण अभियान को एक दूसरे का पूरक बनने की स्थिति उत्पन्न हो गई। मिशन के द्वारा नियोजित गायत्री यज्ञ की अपनी मौलिक विशेषता है इसलिए उन्हें पण्डिताऊ अग्निहोत्रों के समतुल्य होते हुए भी तथ्यतः सर्वथा भिन्न भी समझा जा सकता है। अपनी यज्ञ योजना के पीछे कितने ही प्राणवान संकल्प जुड़े हुए हैं, उन्हें कार्यान्वित होने का जहां जितना अवसर मिल जाता है वहाँ उन्हे उसी-परिमाण में सार्थक हुआ मान लिया जाता है। अपने गायत्री यज्ञों में देव-दक्षिणा को सर्वोपरि महत्व दिया जाता है। देव-दक्षिणा का अर्थ है अपने स्वभाव अभ्यास में जड़, जमाये बैठी हुई अवाँछनीयताओं में से न्यूनतम एक का परित्याग। यह परित्याग सर्व प्रथम संकल्प के रूप में ही दृश्यमान होता है। श्रोतागण अपने दुर्गुणों में से एक को यज्ञाग्नि में होमने का संकल्प देवताओं की उपस्थिति मे लेते रहे हैं। इसी प्रवाह का प्रतिफल यह हुआ है कि दुष्कृत्यों के प्रति अवमानना की प्रक्रिया विकसित हुई है। कषाय-कल्मषों के दुष्परिणाम पर अधिक ध्यान गया है। और परिशोधन के प्रयास द्रुतगामी होते चले गये हैं। व्यक्ति की मनःस्थिति और समाज की परिस्थिति के परिशोधन का प्रयास कितने बड़े परिणाम में सफल हुआ है इसका प्रत्यक्ष प्रमाण लाखों करोड़ों व्यक्तियों के जीवन क्रम में आश्चर्यजनक परिवर्तन के रूप में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। युग निर्माण योजना की इस महती सफलता के पीछे गायत्री यज्ञों के अवसर पर देव-दक्षिणा देने की दुरित दुर्गुणों को त्यागने की पुण्य प्रक्रिया ने अवाँछनीयताओं को साहस भरी चुनौती दी है और आश्चर्य जनक परिवर्तन प्रस्तुत किये हैं। मनुष्य में देवता उत्पन्न करने का उद्घोष दूसरे शब्दों में दानव को निरस्त करना भी कहा जा सकता है इस दिशा में मिशन को आशातीत सफलता मिली है। अपने गायत्री यज्ञ इस अर्थ मे पूरी तरह सफल हुए हैं कि उनके माध्यम से असंख्यों को अपने अवाँछनीय दिशा क्रम से उलझने का अवसर सहज ही मिल गया। भाव भरे धर्मानुष्ठानों के आधार पर उत्पन्न यज्ञीय वातावरण में मनुष्यों को देव बनने के लिए दानव से पिण्ड छुड़ाने की आवश्यकता समझाई गई और अन्तरात्मा की प्रसुप्त श्रद्धा जगाई गई तो उसने यह सहज स्वीकार कर लिया कि कषाय कल्मषों के दुष्ट दुर्गुणों से पीछा छुड़ाना ही श्रेयस्कर है। अशुभ का परित्याग ही शुभ की-शिव की प्राप्ति है। यज्ञीय वातावरण में देव-दक्षिणा के रूप में-नशा, माँस, जुआ, चोरी, दहेज, मृत्युभोज, छुआ छूत, आलस्य प्रमाद जैसी आदतों को छोड़ा गया तो उस रिक्त की पूर्ति सद्गुणों में होती गई।

श्रेय गायत्री यज्ञों को-युग निर्माण अभियान को-आयोजन कर्ताओं या अन्य किसी को दिया जा सकता है पर तथ्यतः सारा चमत्कार संकल्प शक्ति का है वह रहती तो हर मनुष्य में है पर नियोजित निरर्थक या अनर्थ मूलक प्रयोजनों में रहती है। उसे बदला जा सके तो दिशा उलटती है और शोक सन्ताप को दुःखद परिस्थितियाँ उलट कर सुख-सौभाग्य की झांकी कराने लगती हैं।

□□□

प्रज्ञावतार का लीला-संदोह

तुच्छ को महान बनाने वाली दिव्य सत्ता

ब्रह्माजी प्रातःकाल संध्या-वन्दन के लिए बैठे। चुल्लू में आचमन के लिए पानी लिया। उसमें एक छोटा-सा कीड़ा विचरते देखा। ब्रह्माजी ने सहज उदारतावश उसे जल भरे कमंडलु में छोड़ दिया। अपने क्रिया-कृत्य में लग गये। थोड़े ही समय में वह कीड़ा बढ़ कर इतना बड़ा हो गया कि सारा कमंडल ही उससे भर गया। अब उसे अन्यत्र भेजना आवश्यक हो गया। समीपवर्ती तालाब मे छोड़ा गया। देखा गया कि वह सरोवर भी उस छोटे कीड़े के विस्तार से भर गया। इतनी तेज प्रगति और विस्तार को देख कर वे स्वयं आश्चर्यचकित हुए और एक-दो बार इधर-उधर ठठक-पटक करने के बाद उसे समुद्र में पहुँचा आये। आश्चर्य यह कि संसार भर का जल-थल क्षेत्र उसी छोटे कीड़े के रूप में उत्पन्न हुई मछली ने घेर लिया।

इतना विस्तार आश्चर्यजनक, अभूतपूर्व समझ में न आने योग्य था। जीव-धारियों की कुछ सीमा-मर्यादाएँ होती हैं, वे उसी के अनुरूप गति पकड़ते हैं; पर यहाँ तो सब कुछ अनुपम था। ब्रह्मा जी, जिनने उस मछली की जीवन-रक्षा और सहायता की थी, आश्चर्यचकित रह गये। बुद्धि के काम न देने पर वे उस महा-मत्स्य से पूछ ही बैठे कि यह सब क्या हो रहा है ? मत्स्यावतार ने कहा- मैं जीवधारी दीखता भर हूँ, वस्तुतः परब्रह्म हूँ। इन अनगढ़ संसार को जब भी सुव्यवस्थित करना होता है, तो उस सुविस्तृत कार्य को सम्पन्न करने के लिए अपनी सत्ता को नियोजित करता हूँ। तभी अवतार प्रयोजन की सिद्धि बन पड़ती है।

ब्रह्माजी और महामत्स्य आपस में विचार करते रहे। सृष्टि को नई साज-सज्जा के साथ सुन्दर-समुन्नत करने की योजना बनाकर, उस निर्धारण की जिम्मेदारी ब्रह्माजी पर सौंपकर, वे अन्तर्धान हो गये और वचन दे गये कि अब कभी अव्यवस्था को व्यवस्था में बदलने की आवश्यकता पड़ेगी, उसे सम्पन्न करने के लिए मैं तुम्हारी सहायता करने के लिए अदृश्य रूप में आता रहूँगा। श्रेय तुम्हें मिलेगा; पर प्रेरणा, योजना और क्षमता मेरी ही कार्य करेगी। जीवधारी तो अपनी क्षमता के अनुरूप थोड़ा ही कुछ कर सकते हैं। असाधारण कार्यों का सम्पादन तो ब्राह्मी शक्ति ही कर सकती है। सो वह महान प्रयोजनो में सहायता करने के लिए हर किसी को हर कहीं उपलब्ध रहती है। इन्हीं रहस्यमय तथ्यों से तुम्हें तथा अन्यान्य मनीषियों को अवगत कराने के लिए मैंने अद्भुत विस्तार करके यह समझाने का प्रयत्न किया है, कि महान प्रयोजन यदि दैवी प्रेरणा से सम्पन्न किये गये हैं और कर्त्ता ने अपनी प्रामाणिकता-प्रतिभा को अक्षुण्ण रखा है, तो असंभव भी संभव होकर रहता है।

हुआ भी वही। ब्रह्माजी को सृष्टि की संरचना का काम सौंपा गया। वह उन्होने यथाक्रम सम्पन्न कर दिया। अगला चरण यह था कि मनुष्य स्तर के सर्वोच्च प्राणियों में से जो उपयुक्त हों, उन्हें दिव्य चेतना से, दूरदर्शी विवेक से, प्रज्ञा और मेधा से सुसज्जित किया जाय; ताकि वे अपने साथ ही असंख्य अन्यान्यों को भी समुन्नत, सुसंस्कृत बना सकें। इसके लिए वेद ज्ञान, दिव्यलोक से अवतरित हुआ। ब्रह्माजी की लेखनी ने उसे लेखबद्ध किया। देवमानवों ने उसे पढ़ा, समझा और अपनाया। उस क्रियान्वयन से ही धरती पर स्वर्ग जैसा वातावरण बनाने का सिलसिला चल पड़ा।

तीव्र विस्तार-चेतना का स्वभाव

लघु से महान, तुच्छ से विशाल होने में अचंभे जैसा व्यतिक्रम तो मालूम पड़ता है, पर जिस प्रयोजन के पीछे दैवी सत्ता की इच्छा और योजना काम करती है, उसके द्रुतगामी विस्तार में कोई शंका नहीं रह जाती है।

'विकासवाद के अनुसार सृष्टि के आरम्भ में मात्र एक "अमीबा" जैसा अत्यन्त छोटा-एक कोषीय जीव था, पर जब उस पर दिव्य प्रेरणा उतरी, तो संकल्पों से ओत-प्रोत हो गया। उसी से विकसित होते-होते सृष्टि में एक दूसरे से सर्वथा भिन्न स्तर के असंख्य जीवधारी बन गये और अपनी आकृति तथा प्रकृति में असाधारण अद्भुतता का

परिचय देने लगे। यह चमत्कार 'अमीबा' का नहीं, उसके ऊपर उतरी दिव्य सत्ता के उस प्रवाह का था, जो असंभव को संभव बना देता है।

एक बीज से उत्पन्न पेड़ से विनिर्मित होने वाले हजारों-लाखों बीजों को बोना, उगाना, बढ़ाना संभव हो सके, तो एक बीज से अगली पीढ़ी अगणित वृक्षों वाले वन्य प्रदेश विनिर्मित कर सकती है। यही सिलसिला बीज की तीसरी-चौथी पीढ़ी तक भी चलता रह सके, तो समझना चाहिए कि आदिकाल जैसी सघन हरितिमा लिए हुए, वन सम्पदा से समूची धरित्री शोभायमान दीख पड़ने लगेगी। मनुष्य, बीज जैसा विकासक्रम अपनाने वाली कोई वस्तु अपने बलबूते नहीं बना सकता, पर स्रष्टा का कर्तत्व और नियोजन तो इतना अधिक समर्थ है, कि उसकी तुलना सामान्य लोक-व्यवहार के आधार पर चलने वाले क्रिया-कलापों से हो ही नहीं सकती। बादलों के बरसने, वसन्त के पुष्प-पल्लवों से सुसज्जित होने की प्रक्रिया मनुष्य अपने बलबूते नहीं कर सकता। ऋतुओं का क्रमबद्ध परिवर्तन भी मनुष्य अपनी इच्छानुसार नहीं कर सकता; किन्तु उस दिव्य सत्ता के लिए यह सहज ही संभव है जो-'एकोऽहम् बहुस्याम्' के संकल्प मात्र से, समूची प्रकृति-सम्पदा को दिव्य-विभूतियों से भर कर विनिर्मित, सुसज्जित और गतिशील बना देती है। हर एक युग संधिकाल में उस दिव्य सत्ता ने अपनी इस तीव्र प्रक्रिया के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।

उसी धारा में प्रस्तुत-एक उदाहरण

ऐसा ही एक उदाहरण इन दिनों भी प्रकट है और अपने आश्चर्यजनक विस्तार से हर किसी को चकित कर रहा है। यह है—'अपने समय का मत्स्यावतार' अथवा युग-परिर्वन का सुनियोजित भी इसे कह सकते हैं। इसमें टूटे खण्डहरों की सफाई और उसके स्थान पर भव्य भवनों का निर्माण एक साथ होना है।

सामान्यतया अपने लिए अपना अच्छा घर बना लेने जैसा छोटा सा मनोरथ पूरा करने में भी, इच्छुक और उत्सुक रहते हुए भी असंख्य लोग सफल नहीं हो पाते; फिर मनुष्य समुदाय का-उस पर छाये अनौचित्य का परिशोधन कितना बड़ा काम हो सकता है, उसकी कल्पना करने भर से सिर चकराता है। इसी में एक कड़ी और भी जुड़ती है कि अनौचित्य के परिशोधन के साथ-साथ देव-संस्कृति के अनुरूप, अभिनव भावना क्षेत्र में अभिनव संरचना भी की जानी है। उस दुहरे क्रिया-कलाप का दायित्व उठाने के लिए किसी व्यक्ति या छोटे संगठन द्वारा साहस किए जाने की बात गले ही नहीं उतरती। उसे दिवास्वप्न कहकर उसका उपहास भी उड़ाया जा सकता है। किसी पगले की सनक भी कहा जा सकता है। पर यदि वस्तुस्थिति पर नये सिरे से विचार किया जाय और अनुमान लगाया जाय कि यदि इस योजना के पीछे दैवीशक्ति काम कर रही होगी, तो योजना असफल होकर क्यों रहेगी? आकाश में सूर्य, चन्द्र और सितारे टाँग देने वाली सत्ता - अग्नि, जल, पवन जैसे तत्वों से इस निर्जीव धरातल को हलचलों से भरा-पूरा बना देने वाला सृजेता, अपनी अत्यधिक बड़ी और कठिन दीखने वाली योजनाओं को क्यों संभव नहीं बना सकता? जिसकी संरचना जल, थल और आकाश के स्तर को अद्भुत बनाये हुए है, उसके क्रिया-कौशल द्वारा क्या कुछ संभव नहीं हो सकता।

युग परिवर्तन जैसे अत्यन्त दुरूह और व्यापक स्तर के निर्धारण में मनुष्य की सीमित शक्ति असमर्थ और असफल भी रह सकती है; पर यदि वही क्रिया-कलाप स्रष्टा के तत्त्वावधान में चल रही हो, तो फिर उसमें असफल रह जाने की आशंका करने में कोई तुक नहीं है। अवतार शृंखला में अनेकानेक अवसरों पर ऐसी ही उलट-पुलट होती रही है, जिसमें साधारण, असाधारण और तुच्छ, महान बनते देखे जाते एवं इतना व ऐसा कुछ कर गुजरते हैं, जिसे असंभाव्य कहा जा सके। इसे सामान्य नहीं, असामान्य ही कहा जायेगा।

असुरों का केन्द्र बनी लंका का पराभव और उन्हीं दिनों राम-राज्य के रूप मे सतयुग की वापसी का नियोजन, क्या दो राजकुमार और मुट्ठी भर रीछ-वानर सम्पन्न कर सकते थे? इसको व्यवहार की रीति-नीति के आधार पर नहीं समझाया जा सकता। पाँच पाण्डवों द्वारा कौरवो की नारायणी सेना को निरस्त किया जाना क्या मनुष्य कृत रीति-नीति के आधार पर संभव माना जा सकता है? वासुदेव का व्यक्तित्त्व और असाधारण योजना नीति महाभारत जैसी विशाल योजना को पूरी करके दिखा दे, इस पर सामान्य बुद्धि तो अविश्वास ही करती रहेगी? समाधान उन्हीं का हो सकेगा, जो दैवी शक्ति की महान महत्ता पर विश्वास कर सकें। बुद्ध जैसे गृहत्यागी, वनवासी, तपस्वी, विश्वव्यापी धर्म-चक्र प्रवर्तन के लिए आवश्यक जनशक्ति और साधन-शक्ति कैसे जुटा सकते थे। उनसे जो बन पड़ा, उसका मानवी पुरुपार्थ द्वारा बन

पड़ना संभव नहीं हो सकता । तक्षशिला और नालन्दा विश्वविद्यालय जैसे महान् संस्थापना और संचालन सिद्धार्थ नाम का एक व्यक्ति कर सकता था ? यदि हाँ तो वैसा उदाहरण प्रस्तुत करके दिखा देने के लिए और कोई आगे क्यों नहीं आता ?

एक बंदर द्वारा समुद्र छलांग जाना, लंका जैसे सुदृढ़ दुर्ग को धराशायी बनाना, पर्वत समेत संजीवनी बूटी कंधे पर लाद लाना, क्या सामान्य शरीरधारियों के बलबूते की बात है ? गाँधी, शंकराचार्य, विनोबा, विवेकानन्द जैसों के कर्तृत्व भी ऐसे ही मानने पड़ते हैं । जिन्हें अलौकिक मानकर ही अविश्वास को विश्वास स्तर पर लौटा लाना संभव हो सकता है । जिनके राज्य में कभी सूर्य अस्त नहीं होता था, उस ब्रिटिश साम्राज्य को अपना बिस्तर गोल करने के लिए विवश कर देना मुट्ठी भर सत्याग्रहियों के लिए कैसे संभव हो सका ? जबकि नादिरशाह, तैमूरलंग, चंगेजखाँ जैसे सामान्य से आक्रान्ता अपने सीमित साधनों से भारत जैसे विशाल देश पर मुद्दतों, लूट-पाट करते आये और दिल दहलाने वाला शासन करते रहे। यदि पुरुषार्थ ही सब कुछ रहा होता, तो शताब्दियों तक भारत को इतने निविड़ पराधीनता-पाश में न बँधा रहना पड़ता । बहादुर बलिदानी और देश-भक्त, तो उस समय भी थे, पर गाँधी के असहयोग आन्दोलन से घबराकर असामान्य शक्तिशाली और साधन सम्पन्न साम्राज्य का उलटे पैरों वापस लौट जाना एक आश्चर्य की बात है। उसमें मानवी पुरुषार्थ कितना ही क्यों न लगा हो, पर दिव्य सत्ता द्वारा प्रतिकूलता को अनुकूलता में बदल दिये जाने वाली बात से भी एकदम इनकार नहीं किया जा सकता ।

सतयुग कालीन, साधन रहित ऋषि-मनीषियों द्वारा अजस्र अनुदान प्रदान करके, इस सुविस्तृत संसार में समृद्धि और सुसंस्कारिता का वातावरण बना देना, किस नियम के आधार पर संभव हो सका, यह तर्क बुद्धि के आधार पर समझना और समझाना संभव नहीं हो सकता। इक्कीसवीं सदी के उज्ज्वल भविष्य वाले गंगावतरण की परिकल्पना और संभावना इसी आधार पर गले उतरती है, कि उसके पीछे कोई अदृश्य-सत्ता काम कर रही है; अन्यथा इस समय के असुरत्व को देवत्व में बदल देने वाले विश्वव्यापी कायाकल्प पर कैसे विश्वास किया जा सकेगा ? जब नदी का प्रवाह उलट देना एक प्रकार से असंभव माना जाता है, तो प्रचलनों और परम्पराओं के रूप में जड़ जमाये बैठी अवांछनीयता के अन्धड़ को उलट कर विपरीत दिशा में लौट पड़ने के लिए बाधित किया जाना, निश्चय ही मानवी प्रयत्नों के आधार पर न तो स्वयं समझा जा सकता है और न दूसरों को समझाने-सहमत करने में ही सफलता मिल सकती है । इन प्रयोगों में समर्थ सत्ता का हस्तक्षेप होने की मान्यता अपनानी ही पड़ती है, अन्यथा प्रतिपादन को लोक मान्यता मिल सकना प्रायः असंभव ही रहेगा । व्यक्ति विशेष अथवा छोटे संगठन तो अपनी पहुँच के अन्तर्गत छोटा-मोटा सुधार-परिष्कार ही कर सकते हैं, किन्तु जब युग परिवर्तन जैसे बड़े और व्यापक स्तर की सुधार की आवश्यकता हो, तो इसे ईश्वरीय चेतना ही सम्पन्न करती है ।

अदृश्य चेतना द्वारा सूत्र-संचालन

इक्कीसवीं सदी के गंगावतरण और नवयुग के मत्स्यावतार के स्वरूप और विस्तार को देखते हुए इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है, कि इतनी बड़ी योजना को सम्पन्न कर सकना मानवी पुरुषार्थ की परिधि से बाहर है। फिर इतने बड़े आन्दोलन-अभियान-उद्घोष-प्रतिपादन को सर्वसाधारण के सम्मुख प्रस्तुत करने का दुस्साहस किस आधार पर किया जा रहा है ?

शांतिकुञ्ज और उसके सूत्र-संचालक अपनी अयोग्यता, असमर्थता और साधनों की न्यूनता से भली प्रकार परिचित होते हुए भी, किस आधार पर युग परिवर्तन के महाप्रयाण मे झण्डा बरदार बनकर आगे-आगे चल रहे है ? इसके उत्तर में, उस विश्वास को ही साक्षी रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है, जिसकी सुनिश्चित परिपक्वता अनेक प्रयोग परीक्षणों के उपरान्त ही बन पड़ी है । निराधार कल्पनाएं करना और अपनी सामर्थ्य से बाहर का भार उठाने की भूल तो कोई अर्धविक्षिप्त-सनकी ही कर सकते हैं, यह लांछन स्वीकारने की हिम्मत भी उस संचालक-तंत्र में नहीं है; क्योंकि जो मान्यता बनाई गई है, वह मात्र कल्पना पर आधारित नहीं है । तर्कों, तथ्यों, प्रमाणों, उदाहरणों का एक बड़ा अम्बार भी प्रयासों को प्रोत्साहित करने के लिए विद्यमान है । पिछले दिनों जो कदम उठे और प्रयास बने, वे कितने आश्चर्यजनक रीति से सफल-सम्पन्न हुए, उनकी कथा-गाथा ऐसी है, जिसे कथा-कहानी की तरह संशयग्रस्त नहीं माना जा सकता । जो बन पड़ा है, उसका जो परिणाम निकला है, उसकी जाँच-पड़ताल करने के लिए हर किसी के लिए द्वार खुला पड़ा है । पिछली लम्बी अवधि की गतिविधियों और उपलब्धियों

परिचय देने लगे। यह चमत्कार 'अमीबा' का नहीं, उसके ऊपर उतरी दिव्य सत्ता के उस प्रवाह का था, जो असंभव को संभव बना देता है।

एक बीज से उत्पन्न पेड़ से विनिर्मित होने वाले हजारों-लाखों बीजों को बोना, उगाना, बढ़ाना संभव हो सके, तो एक बीज से अगली पीढ़ी अगणित वृक्षों वाले वन्य प्रदेश विनिर्मित कर सकती है। यही सिलसिला बीज की तीसरी-चौथी पीढ़ी तक भी चलता रह सके, तो समझना चाहिए कि आदिकाल जैसी सघन हरितिमा लिए हुए, वन सम्पदा से समूची धरित्री शोभायमान दीख पड़ने लगेगी। मनुष्य, बीज जैसा विकासक्रम अपनाने वाली कोई वस्तु अपने बलबूते नहीं बना सकता, पर स्रष्टा का कर्तत्व और नियोजन तो इतना अधिक समर्थ है, कि उसकी तुलना सामान्य लोक-व्यवहार के आधार पर चलने वाले क्रिया-कलापों से हो ही नहीं सकती। बादलों के बरसने, वसन्त के पुष्प-पल्लवों से सुसज्जित होने की प्रक्रिया मनुष्य अपने बलबूते नहीं कर सकता। ऋतुओं का क्रमबद्ध परिवर्तन भी मनुष्य अपनी इच्छानुसार नहीं कर सकता; किन्तु उस दिव्य सत्ता के लिए यह सहज ही संभव है जो- 'एकोऽहम् बहुस्याम्' के संकल्प मात्र से, समूची प्रकृति-सम्पदा को दिव्य-विभूतियों से भर कर विनिर्मित, सुसज्जित और गतिशील बना देती है। हर एक युग संधिकाल में उस दिव्य सत्ता ने अपनी इस तीव्र प्रक्रिया के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।

उसी धारा में प्रस्तुत-एक उदाहरण

ऐसा ही एक उदाहरण इन दिनों भी प्रकट है और अपने आश्चर्यजनक विस्तार से हर किसी को चकित कर रहा है। यह है—'अपने समय का मत्स्यावतार' अथवा युग-परिर्वन का सुनियोजित भी इसे कह सकते हैं। इसमें टूटे खण्डहरों की सफाई और उसके स्थान पर भव्य भवनों का निर्माण एक साथ होना है।

सामान्यतया अपने लिए अपना अच्छा घर बना लेने जैसा छोटा सा मनोरथ पूरा करने में भी, इच्छुक और उत्सुक रहते हुए भी असंख्य लोग सफल नहीं हो पाते; फिर मनुष्य समुदाय का-उस पर छाये अनौचित्य का परिशोधन कितना बड़ा काम हो सकता है, उसकी कल्पना करने भर से सिर चकराता है। इसी में एक कड़ी और भी जुड़ती है कि अनौचित्य के परिशोधन के साथ-साथ देव-संस्कृति के अनुरूप, अभिनव भावना क्षेत्र में अभिनव संरचना भी की जानी है। उस दुहरे क्रिया-कलाप क दायित्व उठाने के लिए किसी व्यक्ति या छोटे संगठन द्वार साहस किए जाने की बात गले ही नहीं उतरती। उसे दिवास्वप्न कहकर उसका उपहास भी उड़ाया जा सकत है। किसी पगले की सनक भी कहा जा सकता है। प यदि वस्तुस्थिति पर नये सिरे से विचार किया जाय और अनुमान लगाया जाय कि यदि इस योजना के पीछे दैवीशक्ति काम कर रही होगी, तो योजना असफल होकर क्यों रहेगी ? आकाश में सूर्य, चन्द्र और सितारे टाँग देने वाली सत्ता - अग्नि, जल, पवन जैसे तत्वों से इस निर्जीव धरातल को हलचलों से भरा-पूरा बना देने वाला सृजेता, अपनी अत्यधिक बड़ी और कठिन दीखने वाली योजनाओं को क्यों संभव नहीं बना सकता ? जिसकी संरचना जल, थल और आकाश के स्तर को अद्‌भुत बनाये हुए है, उसके क्रिया-कौशल द्वारा क्या कुछ संभव नहीं हो सकता।

युग परिवर्तन जैसे अत्यन्त दुरूह और व्यापक स्तर के निर्धारण में मनुष्य की सीमित शक्ति असमर्थ और असफल भी रह सकती है; पर यदि वही क्रिया-कलाप स्रष्टा के तत्वावधान में चल रही हो, तो फिर उसमें असफल रह जाने की आशंका करने में कोई तुक नहीं है। अवतार शृंखला में अनेकानेक अवसरों पर ऐसी ही उलट-पुलट होती रही है, जिसमें साधारण, असाधारण और तुच्छ, महान बनते देखे जाते एवं इतना व ऐसा कुछ कर गुजरते हैं, जिसे असंभाव्य कहा जा सके। इसे सामान्य नहीं, असामान्य ही कहा जायेगा।

असुरों का केन्द्र बनी लंका का पराभव और उन्हीं दिनों राम-राज्य के रूप में सतयुग की वापसी का नियोजन, क्या दो राजकुमार और मुट्ठी भर रीछ-वानर सम्पन्न कर सकते थे ? इसको व्यवहार की रीति-नीति के आधार पर नही समझाया जा सकता। पाँच पाण्डवों द्वारा कौरवों की नारायणी सेना को निरस्त किया जाना क्या मनुष्य कृत रीति-नीति के आधार पर संभव माना जा सकता है ? वासुदेव का व्यक्तित्व और असाधारण योजना नीति महाभारत जैसी विशाल योजना को पूरी करके दिखा दे, इस पर सामान्य बुद्धि तो अविश्वास ही करती रहेगी ? समाधान उन्हीं का हो सकेगा, जो दैवी शक्ति की महान महत्ता पर विश्वास कर सकें। बुद्ध जैसे गृहत्यागी, वनवासी, तपस्वी, विश्वव्यापी धर्म-चक्र प्रवर्तन के लिए आवश्यक जनशक्ति और साधन-शक्ति कैसे जुटा सकते थे। उनसे जो बन पड़ा, उसका मानवी पुरुषार्थ द्वारा बन

पड़ना संभव नहीं हो सकता । तक्षशिला और नालन्दा विश्वविद्यालय जैसे महान् संस्थापना और संचालन सिद्धार्थ नाम का एक व्यक्ति कर सकता था ? यदि हाँ तो वैसा उदाहरण प्रस्तुत करके दिखा देने के लिए और कोई आगे क्यों नहीं आता ?

एक बंदर द्वारा समुद्र छलांग जाना, लंका जैसे सुदृढ़ दुर्ग को धराशायी बनाना, पर्वत समेत संजीवनी बूटी कंधे पर लाद लाना, क्या सामान्य शरीरधारियों के बलबूते की बात है ? गाँधी, शंकराचार्य, विनोबा, विवेकानन्द जैसों के कर्तृत्व भी ऐसे ही मानने पड़ते हैं । जिन्हें अलौकिक मानकर ही अविश्वास को विश्वास स्तर पर लौटा लाना संभव हो सकता है । जिनके राज्य में कभी सूर्य अस्त नहीं होता था, उस ब्रिटिश साम्राज्य को अपना विस्तर गोल करने के लिए विवश कर देना मुट्ठी भर सत्याग्रहियों के लिए कैसे संभव हो सका ? जबकि नादिरशाह, तैमूरलंग, चंगेजखाँ जैसे सामान्य से आक्रान्ता अपने सीमित साधनों से भारत जैसे विशाल देश पर मुद्दतों, लूट-पाट करते आये और दिल दहलाने वाला शासन करते रहे। यदि पुरुषार्थ ही सब कुछ रहा होता, तो शताब्दियों तक भारत को इतने निविड़ पराधीनता-पाश में न बँधा रहना पड़ता । बहादुर बलिदानी और देश-भक्त, तो उस समय भी थे, पर गाँधी के असहयोग आन्दोलन से घबराकर असामान्य शक्तिशाली और साधन सम्पन्न साम्राज्य का उलटे पैरों वापस लौट जाना एक आश्चर्य की बात है। उसमे मानवी पुरुषार्थ कितना ही क्यों न लगा हो, पर दिव्य सत्ता द्वारा प्रतिकूलता को अनुकूलता में बदल दिये जाने वाली बात से भी एकदम इनकार नहीं किया जा सकता ।

सतयुग कालीन, साधन रहित ऋषि-मनीषियों द्वारा अजस्र अनुदान प्रदान करके, इस सुविस्तृत संसार में समृद्धि और सुसंस्कारिता का वातावरण बना देना, किस नियम के आधार पर संभव हो सका, यह तर्क बुद्धि के आधार पर समझना और समझाना संभव नहीं हो सकता। इक्कीसवीं सदी के उज्ज्वल भविष्य वाले गंगावतरण की परिकल्पना और संभावना इसी आधार पर गले उतरती है, कि उसके पीछे कोई अदृश्य-सत्ता काम कर रही है; अन्यथा इस समय के असुरत्व को देवत्व में बदल देने वाले विश्वव्यापी कायाकल्प पर कैसे विश्वास किया जा सकेगा ? जब नदी का प्रवाह उलट देना एक प्रकार से असंभव माना जाता है, तो प्रचलनो और परम्पराओं के रूप में जड़ जमाये बैठी अवांछनीयता के अन्धड़ को उलट कर विपरीत दिशा में लौट पड़ने के लिए बाधित किया जाना, निश्चय ही मानवी प्रयत्नों के आधार पर न तो स्वयं समझा जा सकता है और न दूसरों को समझाने-सहमत करने में ही सफलता मिल सकती है । इन प्रयोगों में समर्थ सत्ता का हस्तक्षेप होने की मान्यता अपनानी ही पड़ती है, अन्यथा प्रतिपादन को लोक मान्यता मिल सकना प्रायः असंभव ही रहेगा । व्यक्ति विशेष अथवा छोटे संगठन तो अपनी पहुँच के अन्तर्गत छोटा-मोटा सुधार-परिष्कार ही कर सकते हैं, किन्तु जब युग परिवर्तन जैसे बड़े और व्यापक स्तर की सुधार की आवश्यकता हो, तो इसे ईश्वरीय चेतना ही सम्पन्न करती है ।

अदृश्य चेतना द्वारा सूत्र-संचालन

इक्कीसवीं सदी के गंगावतरण और नवयुग के मत्स्यावतार के स्वरूप और विस्तार को देखते हुए इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है, कि इतनी बड़ी योजना को सम्पन्न कर सकना मानवी पुरुषार्थ की परिधि से बाहर है। फिर इतने बड़े आन्दोलन-अभियान-उद्घोष-प्रतिपादन को सर्वसाधारण के सम्मुख प्रस्तुत करने का दुस्साहस किस आधार पर किया जा रहा है ?

शांतिकुञ्ज और उसके सूत्र-संचालक अपनी अयोग्यता, असमर्थता और साधनों की न्यूनता से भली प्रकार परिचित होते हुए भी, किस आधार पर युग परिवर्तन के महाप्रयाण में झण्डा वरदार बनकर आगे-आगे चल रहे है ? इसके उत्तर में, उस विश्वास को ही साक्षी रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है, जिसकी सुनिश्चित परिपक्वता अनेक प्रयोग परीक्षणों के उपरान्त ही बन पड़ी है । निराधार कल्पनाएं करना और अपनी सामर्थ्य के बाहर का भार उठाने की भूल तो कोई अर्धविक्षिप्त-सनकी ही कर सकते हैं, यह लांछन स्वीकारने की हिम्मत भी उस संचालक-तंत्र में नहीं है; क्योकि जो मान्यता बनाई गई है, वह मात्र कल्पना पर आधारित नहीं है । तर्कों, तथ्यों, प्रमाणों, उदाहरणों का एक बड़ा अम्बार भी प्रयासों को प्रोत्साहित करने के लिए विद्यमान है । पिछले दिनों जो कदम उठे और प्रयास बने, वे कितने आश्चर्यजनक रीति से सफल-सम्पन्न हुए, उनकी कथा-गाथा ऐसी है, जिसे कथा-कहानी की तरह संशयग्रस्त नहीं माना जा सकता । जो बन पड़ा है, उसका जो परिणाम निकला है, उसकी जाँच-पड़ताल करने के लिए हर किसी के लिए द्वार खुला पड़ा है । पिछली लम्बी अवधि की गतिविधियों और उपलब्धियों

को उलट पुलट कर यही निष्कर्ष निकलता है कि वर्तमान दृश्य-तंत्र, प्रचलनों एवं अनुभवों के आधार पर किसी शरीरधारी नगण्य व्यक्ति को श्रेय देने के लिए कोई तैयार नहीं हो सकता। समाधान मात्र उन्हीं का होगा, जो यह अनुभव कर सकेंगे कि उस समूचे प्रयास या प्रवाह के पीछे कोई अदृश्य सत्ता काम कर रही है।

असंख्यों प्रसंगों में से यहाँ कुछेक का उल्लेख कर देना, बटलोई में पकते भात में से कुछ चावल निकाल कर, पकने न पकने की बात जाँचने की तरह पर्याप्त हो सकता है।

१. अखण्ड ज्योति पत्रिका का तथा उसकी सहेलियों का प्रायः पाँच लाख की संख्या में छपना। उस साहित्य का अनेक भाषा-भाषियों द्वारा अत्यन्त श्रद्धापूर्वक पढ़ा जाना। पत्रिका के सदस्यों द्वारा पाँच विचारशीलों को उनका पढ़ाया जाना और इस प्रकार उनके वाचन-श्रवण के अतिरिक्त प्रेरणाओं को जीवनचर्याओं मे उतारना। इस प्रकार २५ लाख विचारशीलों का परिकर जुट जाना। यह सब ऐसी दशा में और भी कठिन पड़ता है कि इस समूचे तंत्र को खड़ा करने में एक ही व्यक्ति की क्रिया-प्रतिक्रिया काम करती दीखती है।

२. युग साहित्य के रूप में प्रायः एक हजार छोटी-बड़ी पुस्तकों का लिखा जाना, कई-कई संस्करण उनके प्रकाशित होना, घर-घर पहुँचाना और अनेक भाषाओं में उनका अनुवाद होना। जो कार्य विद्वानों की मंडली और सम्पत्तिवानों के सहयोग से भी कठिन था, वह सामान्यजनों-सामान्य साधनों के सहारे पूरा हो जाना।

३. प्रज्ञापीठों के रूप में देश के कोने-कोने में प्रायः २४०० इमारतों का विनिर्मित होना और उनके तंत्रियों द्वारा, अपने-अपने क्षेत्रों में नव सृजन के क्रिया-कलापों को क्रियान्वित करते रहना। सीमित समय में, सामान्य जनता के योगदान से एक ही उद्देश्य के लिए इतना विशाल तंत्र खड़ा हो जाना-इतिहास की एक अनुपम घटना कही जाती है।

४. अब तक प्रायः ऐसे दस हजार आयोजनों, समारोहो का उत्साह भरे वातावरण में सम्पन्न होना। जिनमें धर्मतंत्र के माध्यम से लोक शिक्षण की उच्चस्तरीय प्रेरणा संचरित की गयी। उस संचार द्वारा अगणित व्यक्तियों को पतन-पराभव के चंगुल से निकाल कर उन्हें प्रगति-पथ पर चला देने मे सफलता प्राप्त होना।

५. युग संधि महा-पुरश्चरण के माध्यम से लोक मानस में नव सृजन का उल्लास उभारना और लाखों व्यक्तियों का उसमें सम्मिलित होना। वर्ग भेद भुलाकर हर क्षेत्र, हर भाषा, हर स्तर के व्यक्ति का इस महान प्रयोग में निष्ठापूर्वक जुट पड़ना।

६. युग संधि के अगले दस वर्षों में एक लाख सृजन शिल्पी उभारना, प्रशिक्षित करना और कार्य क्षेत्र में उतारना। उसे प्राचीन काल के साधु, ब्राह्मण, वानप्रस्थ, परिव्राजक स्तर के प्रचलन को पुनर्जीवित किया जाना भी कहा जा सकता है। प्रयत्न तेजी से चल रहे हैं और उस लक्ष्य की ओर तेजी से बढ़ा जा रहा है। करोड़ों विचारशीलों को समर्थक-सहयोगी बनाना एवं पूर्णाहुति के अवसर पर एकत्रित करना।

७. विज्ञान और अध्यात्म के समन्वय के लिए ब्रह्मवर्चस् शोध संस्थान के उन आविष्कारों को प्रस्तुत करना, जो अगले दिनों लोगों को नई प्रेरणा एवं नयी दिशा दे सकते हैं।

८. प्रकाशन, प्रचार एवं संगठन के लिए युग निर्माण योजना, गायत्री तपोभूमि तंत्र का अनवरत रूप से तत्पर रहना। अनेक भाषाओं में युग साहित्य का प्रकाशन करना और लागत मूल्य में घर-घर पहुँचाना।

इन प्रयासों की क्या परिणति एवं क्या प्रतिक्रिया हुई? इसका विवरण इतना असाधारण है, कि जिनका भी इस तंत्र के साथ निकटवर्ती संबंध है, वे एक स्तर से प्रशंसा करते नहीं थकते। यह विवरण प्रकाशित करने की इसलिए आवश्यकता नहीं समझी गयी, कि विज्ञापनबाजी से सदैव दूर रहने की नीति इस तंत्र द्वारा सदैव अपनायी गयी है। अपनी शक्ति का कण-कण केवल सृजन प्रयोजनों मे लगाने के उद्देश्य से ऐसा करना आवश्यक समझा गया है।

सत्प्रवृत्ति संवर्धन के अन्तर्गत अनेकों ऐसे क्रिया-कलाप रह सकते हैं, जिन्हें नव सृजन की ठोस एवं सुदृढ़ आधारशिला समझा जा सकता है। इस प्रयास का पूरक है-दुष्प्रवृत्ति उन्मूलन; जिसमें कुरीतियों, मूढ़ मान्यताओं, अन्धविश्वासो, अवांछनीयताओं से संबंधित क्रिया-कलाप आते हैं, उनका उन्मूलन किया ही जाना चाहिए। धूम-धामवाली और जेवर-प्रदर्शन के कारण भार-भूत बन कर रह रही खर्चीली शादियाँ, नशेबाजी, विचारों की दुष्टता और आचरणों की भ्रष्टता जैसी अनेकों कुप्रथाएँ गिनी और गिनाई जा सकती हैं। जाति-पाँति के नाम पर बरती जाने वाली ऊँच-नीच, भिक्षा-व्यवसाय, पर्दा-प्रथा जैसी कुरीतियों का खुलकर विरोध किया जा रहा है। इन दिनों दोनों की दिशाधाराओं से संबंधित प्रौढ़ शिक्षा, वृक्षारोपण,

स्वास्थ्य-संवर्धन, नारी जागरण आदि कितने ही प्रयास गिनाये जा सकते हैं, जो अखण्ड ज्योति परिजनो द्वारा नित्यकर्म जैसी दिनचर्या में सम्मिलित किये हुए हैं ।

उपरोक्त विवरण में नमूने की बानगी जैसी जानकारियाँ हैं। इन क्रिया-कृत्यों की उपयोगिता देखते हुए, शान्तिकुञ्ज में प्रायः पाँच सौ लोकसेवी-परमार्थपरायण कार्यकर्ता मिशन के प्रयोजन को पूरा करने के लिए स्थायी निवास करते हैं । इनमें से अधिकांश उच्च शिक्षित, व्यक्तित्ववान एवं अपनी प्रामाणिकता से सम्पर्क में आने वाले को निरन्तर प्रभावित करते रहने में सक्षम हैं ।

इन गिनायी जा सकने वाली उपलब्धियों के सूत्र संचालक ने यह विश्वास दिलाया है कि यह मात्र मानवी पुरुषार्थ के सहारे बन पड़ने वाली उपलब्धियाँ नहीं हैं । इनके पीछे वह अदृश्य चेतना महती भूमिका निभा रही है, जिसे युग परिवर्तन के लिए उपयुक्त वातावरण बनाना, सरंजाम जुटाना एवं भविष्य के लिए महत्त्वपूर्ण ताना-बाना बुनना है । मिशन की इमारतो में, बहुसंख्यक शिक्षार्थी एवं भोजनालय में एक हजार से अधिक की रसोई बनती रहने, प्रशिक्षण, लेखन तथा शोध-कार्य चलते रहने की गतिविधियों को देखते हुए यही निष्कर्ष निकलता है कि इतने बड़े तंत्र के संचालन में सामान्य स्तर के किसी व्यक्ति की योजना एवं पुरुषार्थ परायणता कारगर नहीं हो सकती । एक हजार प्रतिदिन का पत्राचार चलना, उसके माध्यम से दूरवर्ती लोगों तक वही प्रेरणाएँ पहुँचाना, जो हरिद्वार आने पर ही दी जा सकती हैं; यह पत्राचार विद्यालय, लोक-सेवियों का प्रशिक्षण, साहित्य-सृजन ऐसा छोटा कार्य नहीं है, जिसे इतने सुनियोजित उपक्रम के साथ कोई ऐसा व्यक्ति कर सके, जिसे हर दृष्टि से सामान्य ही कहा जा सकता है।

अध्यात्म क्षेत्र के वे प्रयोग, अनुभव और तप साधना इस सबके अतिरिक्त हैं; जो अन्तःकरण को पवित्र करने और उसमें दैवी प्रेरणा के अवतरित होने के लिए पथ-प्रशस्त करते हैं ।

उपरोक्त उल्लेखों में निजी समाधानों की चर्चा नहीं है, जिसके आधार पर व्यक्ति कठिनाइयों से उबरने और उज्ज्वल भविष्य की संभावनाओं को साकार करने के लिए अतीन्द्रिय क्षमताओं को उभारते एवं दिव्य प्राण-चेतना का संचार करते हैं ।

पिछले दिनों की उपलब्धियों का यही है- सार संक्षेप, जिसकी सीमित और संक्षिप्त जानकारी के, प्रस्तुत विवरण को देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता है कि यह सब मानवी पुरुषार्थ पर निर्भर हो सकता है। प्रमाणों के आधार पर उत्पन्न हुए विश्वास ने यह साहस प्रदान किया है कि जिस अदृश्य शक्ति की अनुकम्पा से इतना बन पड़ा है, बन पड़ रहा है, उसका अनुग्रह एवं सहयोग आगे भी मिलता रहेगा । वे सभी भावी निर्धारण पूरे होकर रहेंगे, जिन्हें अगले दिनों क्रियान्वित किया जाना है और महान परिवर्तन को लक्ष्य तक पहुँचाया जाना है ।

यह परिकर सीमित होकर न रहेगा

हवा यदि अनुकूल हो, तो साइकिल सवार का काम आसान हो जाता है और जो सफर घंटों में पूरा होने वाला था, वह आधे घंटे जितने अल्प अन्तराल में सम्पन्न हो जाता है । इसे सवार का पुरुषार्थ कहना उचित न होगा । उसका प्रयास तो है; पर वायु-वेग की सहायता न मिली होती, तो उसका उक्त प्रयत्न वह परिणाम प्रस्तुत न कर पाता जो मिलता दृष्टिगोचर हुआ । यह सूक्ष्म का सहयोग है । इन दिनों अदृश्य जगत में कुछ ऐसे ही सूक्ष्म प्रवाह का जोर है, जो जीवन्तों को कहीं-से-कहीं पहुँचाने और कुछ से कुछ बनाने में जुटा हुआ है ।

इसी समुदाय में अखण्ड-ज्योति परिजनों की गणना होती है । उनकी इतनी बड़ी भीड़ आकस्मिक रूप से ही इकट्ठी नहीं हो गयी है । अमुक रुचि का पठन-पाठन करने का कौतूहल ही इन्हें समवेत होने या एक सूत्र में बँधने का कारण नहीं है, वरन् इसके पीछे कुछ रहस्यमय कारण भी काम कर रहे है । गोताखोर गहरे पानी में डुबकी लगाकर मोती संग्रह करता है । मणि-मुक्तक पाये तो खदानों में ही जाते है; पर उन्हें कोई कहीं से भी झट से खुदाई कर एकत्रित नहीं कर सकता । दुर्लभ जड़ी-बूटियाँ बड़ी खोज के बाद, किन्हीं विशेष क्षेत्रों में ही पायी जाती है ।

निकट भविष्य में कितनों को ही कितनी ही बड़ी भूमिका निभा सकने की क्षमता से सम्पन्न बनाया जाना है। हर काम हर आदमी नहीं करता है । भारी वजन हाथी जैसे समर्थ प्राणी ही उठा सकने में सफल होते हैं । छोटे कद के प्राणी उसे उठा सकना तो दूर, दबाव की अधिकता मे अपना ही कचूमर निकाल बैठेंगे । हर मनुष्य हर क्षमता से सम्पन्न नहीं है । रामायण में हनुमान की और महाभारत में अर्जुन की जो भूमिका रही, उसे उन दिनो उपस्थित जनों में से अन्य आसानी से पूरा नहीं कर सकते थे । मनुष्य की समर्थता में संदेह नहीं; पर बिना संचित सुसंस्कारिता, प्रतिभा और तप-सम्पदा के हर कोई चाहे जो कर गुजरे, ऐसा भी नहीं है । यही कारण है कि हर प्रयोजन के लिए

पात्रता तलाशी जाती है और जो काम, जिसके करने योग्य है, उसी को सौंपा जाता है। सेनापति के पद पर हर किसी की नियुक्ति नहीं की जा सकती; उसकी बलिष्ठता, हिम्मत, कौशल एवं प्रतिभा आदि गुणों को भी परखा जाता है।

अगले दिनों अनेकानेक ऐसे क्षेत्र सामने खड़े होंगे, जिनमें विशेष पुरुषार्थ दिखाने की आवश्यकता पड़ेगी, उन्हें साधारण लोग न कर सकेंगे। इस साधारण और असाधारण के चयन में अभी से ध्यान रखना होगा। एकाकी बड़े निर्णय नहीं लिये जा सकते हैं। प्रतिभाओं की परख प्रतिस्पर्धाओं की कसौटी पर होती रहती है और जो अनेक बार अपनी वरिष्ठता का परिचय दे चुके होते हैं, उन्हें ही दुरूह मोर्चा सँभालने के लिए नियुक्त किया जाता है। शेष हल्के दर्जे के मोर्चे पर हल्के लोगों को लगा कर किसी प्रकार काम चलाया जाता है। अगले दिन, ऐसी ही अनेकों कसौटियाँ और चुनौतियाँ साथ लेकर आ रहे हैं।

इस संदर्भ मे अखण्ड-ज्योति परिजनों की जाँच-पड़ताल अभी से आरम्भ की जा रही है। यो उस परिकर को सामान्य लोगों की तुलना मे असामान्य समझते हुए ही एकत्रित किया गया है। इन दिनो उथले साहित्य में, उथले स्तर के, उथली अभिरुचि के लोगों का आकर्षण है। उन्हें उत्कृष्टता का महत्त्व समझने में उत्साह ही नहीं उभरता, कहने-समझाने पर भी तथ्य गले नही उतरता। यही कारण है कि उच्चस्तरीय विवेकशीलता का प्रतिपादन करने वाला साहित्य प्रायः नही के बराबर ही बिकता खरीदा जाता है। लोग उसे आग्रहपूर्वक देने पर भी मुफ्त पढ़ने तक को तैयार नहीं होते। जिसमें रुचि न हो, उसके लिए समय कौन लगाये? माथा-पच्ची कौन करे ? यही कारण है कि अखण्ड ज्योति वाले विषय की अन्य पत्रिकाएँ कुछ दिन निकलने के बाद ही बन्द हो जाती हैं। जो निकलती है, उसकी सदस्य संख्या कुछ सौ तक ही सीमित रहती है, सो भी विज्ञापन छापने की नीति अपनाने के बाद ही किसी प्रकार उसकी नाव पार लगती है। पर अखण्ड ज्योति के बारे में बात ही दूसरी है। गरिष्ठ विषय का प्रतिपादन रहने पर भी उसके पाठक इतनी बड़ी संख्या में है कि उसकी तुलना तत्सम पत्रिकाओ मे से किसी के साथ भी कदाचित् ही की जा सके।

यह चमत्कार अनायास ही नहीं हुआ है। किसी आकर्षण शक्ति ने अपने चुम्बकत्व के सहारे उन्हें ढूँढा, खोजा और प्रयत्नपूर्वक एकत्रित किया है। इसका कारण सामयिक घटनाक्रमों में ही नहीं खोजा जाना चाहिए। संचित सुसंस्कारिता और विलक्षणता उन्हें अपने आकर्षण केन्द्र के साथ जोड़ती रही है। सशक्त चुम्बक के इर्द-गिर्द लौह-कण आकर्षित हो, खिंचे चले आते हैं और उस स्थान पर एकत्रित-एक जुट हो जाते हैं। ऐसा ही कुछ अखण्ड ज्योति पाठकों के सम्बन्ध में भी हुआ है।

इस प्रसंग को लेखन, प्रकाशन, वाचन के साहित्यिक क्षेत्र भर तक सीमित नहीं करना चाहिए। यह किसी बड़े मोर्चे पर जूझने वाले बलिष्ठ योद्धाओं का परिकर है, जो अनेक परीक्षाओं में उत्तीर्ण होते-होते इस शक्तिशाली अक्षौहिणी में एकत्रित हुआ है।

इसे साहित्य की गहराई में उतर कर समझना हो, तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ेगा कि कुछ विशेष क्षमता संपन्न मधुमक्खियाँ ही इस छत्ते में रानी मक्खी के अनुशासन में रहने के लिए खिंचती चली आई हैं और इस प्रकार सघनतापूर्वक गुँथ गई है मानो कई जन्म-जन्मान्तरों से एक सूत्र में बँधी आ रहीं हों, जैसे स्नेह-सूत्र में बँधे हुए आत्मीय जन होते हैं। इसका निरन्तर परीक्षण भी होता रहा है। परिजनों को उनकी शक्ति-सामर्थ्य देखते हुए समय-समय पर ऐसे आदर्शवादी काम सौंपे जाते रहे है, जिसमें औसत आदमी की रुचि प्रायः नहीं ही होती। उन्हें भी इतनी तत्परता और तन्मयता के साथ करते रहना इस तथ्य का परिचायक है कि यह रास्ता चलती भीड़ नहीं है, वरन् यह किसी विशेष उद्देश्य के लिए विशिष्ट परिजनो का समुच्चय है।

स्पष्ट है कि इक्कीसवीं सदी के उत्कृष्ट आदर्शवादी मोर्चे पर जुझारू स्तर पर लड़ने वाले प्रचण्ड योद्धाओ का यह परिवार है। उसकी ट्रेनिंग लम्बे समय से होती रही है। पत्रिका प्रायः ५२ साल से निकलती रही है, इनके पाठकों में अधिकांश ऐसे हैं, जो आरम्भ से लेकर अब तक मिशन के साथ घनिष्ठतापूर्वक जुड़े हुए हैं और एकरस प्रशिक्षण [illegible] आदर्शवादिता की [illegible] -की

[illegible]

यों अखण्ड-ज्योति का स्थायी सदस्य होना भी इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि इक्कीसवीं सदी के साथ जुड़े हुए उज्ज्वल भविष्य के साथ उनका अपना विषय भी कहीं न कहीं घनिष्ठता पूर्वक जुड़ा हुआ है। उन्हे कुछ ऐसा करना और बनना है, जिन्हें जनसामान्य को अनुकरणीय और अभिनन्दनीय कहना पड़े।

प्रज्ञावतार के प्रचण्ड वेग से ही यह सब इतनी सरलता से संभव हो सकेगा और जो परिकर इन दिनों छोटा, सीमित

और क्षेत्रीय स्तर का प्रतीत हो रहा है, वह अगले ही दिनो विराट् विस्तार करते हुए विश्वव्यापी बनेगा। इसे अवतार चेतना की विस्तार प्रक्रिया कहना ही वांछनीय और उचित है।

सृष्टि क्रम में सृष्टा की अवतरण प्रक्रिया

सृष्टि क्रम में सृजन और उत्थान के तत्व प्रधान हैं। कृषि क्रम में भूमि शोधन, बीज वपन, हरितमा का विस्तार, पुष्प की शोभा और फलों की सम्पदा का वैभव भी अधिक समय तक दृष्टिगोचर होता है। इतने पर भी वह स्थिति न तो निर्बाध गति से चलती है और न स्थिर रहती है। कृमि-कीटक और पशु-पक्षी उस हरितमा को नष्ट करने में कमी नहीं रहने देते। ऋतु प्रभाव भी कई बार इस उत्पादन मे अवरोध उत्पन्न करता है। अन्ततः एक समय ऐसा आता है जब पकी फसल सूखती और अपनी जीवन लीला समाप्त करती है। उत्पादन का क्रम चक्र चलते रहने के लिए आवश्यक है कि उत्थान के बाद पतन और पतन के बाद उत्थान का क्रम जारी रहे। सूर्य का उदय-अस्त, प्राणियों का जन्म-मरण इस सुनिश्चित तथ्य की सुनिश्चित साक्षी देते रहते हैं।

सृष्टि की सुव्यवस्था और सुन्दरता देखने ही योग्य है। प्रगतिक्रम का एक इतिहास है जिसमें नये अध्याय जुड़ते ही जाते हैं। इतने पर भी अवगति का अन्त नहीं। पतन और पराभव के तत्व अपना काम करते हैं और प्राणियों की सुरक्षा के लिए अधिक जागरुक रहने की प्रेरणा देते हैं। जीवन प्रवाह का एक सिरा है जन्म, दूसरा मरण। गति चक्र इसी प्रकार बनता है। विस्तार सीधा चलता रहे उतना स्थान इस ब्रह्मांड में नहीं है। इसलिए उसे चक्र गति से परिभ्रमण करने के लिए बाधित किया गया है। पहिये नीचे जाते और ऊपर उठते हैं। सृष्टि क्रम में भी यही होता है। शैशव, किशोरावस्था, यौवन पूर्ण होते-होते जरा जीर्णता का ढलना आरम्भ हो जाता है और अन्ततःमरण के अतिरिक्त और कोई समाधान रह नहीं जाता है। यह मरण भी अन्तिम नहीं है। समापन के दिन से ही नव जीवन की भूमिका आरम्भ हो जाती है। मृतक को नवीन जन्म मिलता है। असमर्थ वयोवृद्ध के सामने मरण की निराशा रहती तो है पर उससे अगला कदम अभिनव शैशव के रूप में दूरदर्शी ज्ञान चक्षु आसानी से देख सकते हैं। निराशा की सघन तमिस्रा को प्रत्यक्ष देखते हुए भी ऊषा द्वारा नवीन अरुणोदय का आश्वासन हर आस्थावान को उपलब्ध हो सकता है।

मनुष्यों की मनः स्थिति के समष्टि प्रवाह में भी ऐसे ही, उत्थान-पतन के पन्ने पलटते रहते है। सृजन प्रधान है उत्कर्ष तथ्य है। शालीनता के साथ व्यवस्था जुड़ी हुई है। यही जीवन है। यही विस्तृत है। यही सुनिश्चित है। इतने पर भी पतन और पराभव से छुटकारा नहीं। घुन छोटा होता है, चिनगारी छोटी होती है और विषाणुओं की सत्ता भी नगण्य है फिर भी वे चुपके-चुपके इतना कर गुजरते हैं कि मरण अथवा उसके समतुल्य संकट का सामना करना पड़ता है। विश्व के इतिहास में ऐसी संकट की घड़ियाँ अनेक बार आई हैं। जिनमें विनाश के घटाटोप बादल छाये ही नहीं, भयानक रूप से गरजे और सब कुछ डुबा देने की चुनौती लेकर मूसलाधार बरसे हैं। इसी आशंका ने जन-जन को भयाक्रांत किया है कि विपत्ति का प्रभाव सर्वनाश करके ही छोड़ेगा।

यह सब होते हुए भी सृष्टा अपनी इस अद्भुत कलाकृति-विश्व वसुधा को—मानवी सत्ता को—सुरम्य वाटिका को विनाश के गर्त में गिरने से पूर्व ही सजाता और अपना सक्रियता का परिचय देता है और परिस्थितियों को उलटने का चमत्कार उत्पन्न करता है। यही अवतार है। संकट के सामान्य स्तर से तो मनुष्य ही निपट लेते हैं, पर जब असामान्य स्तर की विपन्नता उत्पन्न हो जाती है तो सृष्टा को स्वयं ही अपने आयुध संभालने पड़ते है। उत्थान के साधन जुटाना भी कठिन है पर पतन के गर्त मे द्रुतगति से गिरने वाले लोक मानस को उलट देना अति कठिन है। इस कठिन कार्य को सृष्टा ने समय समय पर स्वयं ही सम्पन्न किया है। आज की विषम बेला में भी अवतरण की परम्परा को अपनी लीला सदीह प्रस्तुत करते हम में भी कोई भी प्रज्ञावान प्रत्यक्ष देख सकता है।

दिव्य अवतरण की पुण्य वेला और परिवर्तन प्रक्रिया

मनुष्य सीमित है और भगवान असीम। सीमित स्तर की समस्याएँ हल करने और साधन जुटाने में ही मनुष्य सफल हो सकता है। उसकी शक्ति, सूझ-बूझ, साधन-सामग्री और पहुँच स्वल्प है, इसलिए वह अपनी सामर्थ्य के अनुरूप ही कर्म कर सकता है। भगवान व्यापक है इसलिये ऐसी समस्याएँ जो समस्त भू-मण्डल के समस्त मनुष्यो और उससे सम्बद्ध प्राणियों और-पदार्थों को प्रभावित करती है, समाधान के लिए भगवान पर ही निर्भर

करती है। परिस्थिति अनुकूल हों तो ही मनुष्य कुछ कहने लायक सफलताएें प्राप्त कर [illegible] व्यक्ति [illegible] है [illegible] उलट-पुलट देती है और सारे मनोरथ भी एक कोने पर रखे रह जाते हैं। परिस्थितियों को अनुकूल बनाना मनुष्य के अपने हाथ में नहीं है। उसका सुयोग अदृश्य शक्ति ने अपने हाथ में रखा है। अतएव युग समस्याओं के समाधान जैसे महान कार्यों के लिए उस परम सत्ता की ही प्रधान भूमिका रहती है।

इतिहास साक्षी है कि व्यापक असंतुलन को सृष्टा ने स्वयं ही संभाला है। अवतार लेकर उसी ने समस्याऐं सुलझाई हैं। चौबीस अवतारों की कथा-गाथायें एक ही तथ्य का निरूपण करती हैं कि अनौचित्य के तूफान को रोकने के लिए—औचित्य की नये सिरे से प्राण प्रतिष्ठापना करने के लिए, समय-समय पर दिव्य लोक से कोई प्रवाह उतरा है और उसने वातावरण में ऐसी प्रखरता उत्पन्न की है कि अधर्म का नाश और धर्म का संस्थापन जो इन विकट परिस्थितियों में नितान्त कठिन दीखता है, जादुई अनुकूलता बदलने और प्रवाह पलटने में सहज ही सम्भव हो गया।

सृष्टि के आदि से लेकर अब तक के लम्बे इतिहास पर दृष्टि डालने से प्रतीत होता है कि जिन परिस्थितियों मे भगवान को अवतार लेने पड़े हैं उन सभी संकट वेलाओं की तुलना में आज की परिस्थितियाँ सबसे अधिक विकट है। अन्य अवसरों पर समस्याएँ क्षेत्रीय थीं। कुछ ही मनुष्य सिर दर्द बने हुए थे। कुछ क्षेत्रों में ही विभूतियाँ भरी थीं, पर आज की स्थिति भिन्न है। दुनियां सिकुड़ कर बहुत छोटी हो गई है। फलतः अवांछनीयताओ का क्षेत्र भी बढ़ा है और सङ्कट भी। इन दिनों भी विश्व सङ्कट सामने है। खतरा समस्त मानव जाति को और युगो युगो की संचित संस्कृति को है। एक ही विस्फोट सब कुछ तहस नहस करके रख सकता है। विस्फोट वैज्ञानिक आयुधों का ही नहीं है मानवी चिन्तन और चरित्र पर छाई हुई असुरता, उच्छृंखलता का है जो किसी को भी चैन से नहीं रहने दे रही है। हर किसी के लिए त्रास उत्पन्न कर रही है। सुलझाने वाले दो गज जोडते हैं तो चार गज टूटती है। मूर्धन्य भी हतप्रभ और किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे हैं। अन्न सङ्कट का हल निकल सकता है किन्तु विपत्तियों के मूल आस्था सङ्कट की व्यापकता और भयानकता को देखते हुए उस वृत्रासुर से जूझने का साहस कौन करे?

इन परिस्थितियों में सृष्टा का वह आश्वासन ही आशा का केन्द्र बिन्दु हो सकता है, जिसमें उसने विषम बेला में स्वयं उत्तरदायित्व संभालने का सुनिश्चित वचन दिया था। आज मानवी मस्तिष्क विनाश के कगार पर खड़ा है—आज परिवर्तन और सन्तुलन की विकट प्यास है उसे कौन पूरा करे? निश्चित रूप से इतना बड़ा काम उसी के द्वारा हो सकेगा जिसने इस विराट ब्रह्माण्ड की रचना की है और उसके गतिशील रहने की सुनियोजित व्यवस्था बनाई है। द्रौपदी और गज की पुकार सुनकर बिना अवसर गंवाये जिस सृजेता ने सङ्कट को उबारा था उसे आज की सङ्कटापन्न स्थिति का भी ज्ञान है और वह विभीषिकाओं से जूझने अपने आयुधों को सम्भालने और चल पड़ने तैयारी पूरी कर रहा है।

भगवान निराकार है। उसका कर्तृत्व प्रेरणाओं त[illegible] सीमित है। उन्हे क्रियान्वित करने का उत्तरदायित्व दे[illegible] मानवों के कन्धों पर आता है। युद्ध में योद्धा का पराक्र[illegible] और साहस ही जीतता है, पर प्रत्यक्षतः लड़ाई तो हथियारों से होती है भले ही वे लोहे जैसी सस्ती धातु के ही बने क्यों न हों? शास्त्र गहन आत्मज्ञान के आधार पर लिखे जाते हैं पर वह कृत्य तो उंगलियो के सहारे कागज कलम की सहायता से ही होता है। रोगी की प्राण रक्षा चिकित्सक का कौशल एवं अनुभव करता है पर प्रत्यक्षतः तो दवा के रूप में कुछ रसायनों का ही प्रयोग होता है। चित्र कलाकार की प्रतिभावना तो है, पर उस अप्रकट का प्रकटीकरण तो तूलिका ही करती है। वक्ता भीतर रहता है पर अभिव्यक्ति का प्रकटीकरण जीभ करती है। भगवान निराकार है। इसलिए उनका वर्चस्व प्रेरणाओं तक सीमित है। उसका कार्यान्वयन देव मानवो को भूतकाल में भी करना पड़ा है और अब भी वही होना है।

भगवान जन्म मरण से रहित है, किन्तु अवतार जन्मे भी, और मरे भी इसलिए उनकी गणना देव मानवो में की गई। देव इस अर्थ में कि उनका चिन्तन चरित्र और कर्तृत्व महान था। लोग तो लोभ और मोह के वशीभूत होकर नर पशुओं सा जीवन जीते है। उत्कृष्टता ही अलौकिकता है। इसी अलौकिकता का नाम देवत्व है। महामानवों को धरती के देवता कहते हैं। देव आदर्श है और मानव क्रिया समुच्चय है। दोनो का सम्मिलित स्वरूप देव मानव है। उन्हीं को प्रकारान्तर से अवतारी कहते हैं। सूर्य की स्वर्णिम किरणों का दिव्य दर्शन सर्व प्रथम पर्वत शिखरो पर होता है। ऊषा की अरुणिमा धरती को आश्वासन देती है कि आलोक के अवतरण में अब देर नहीं। युग मानवों की उच्चस्तरीय हलचलों मे प्रभात कालीन अरुणोदय का

आभास मिलता है। इसे अवतार की झांकी भी कह सकते हैं।

युग परिवर्तन की अवतारी प्रक्रिया का सर्वाधिक महत्व का कार्य यह है कि उसकी दिव्यता का संवहन करने में समर्थ कुछ आत्माऐं अग्रदूतों की तरह धरती पर आती हैं और भावी गतिविधियों की पृष्ठभूमि बनाती है। जिस क्षेत्र में सेना प्रयाण करती है उसके रास्ते साफ करने के लिए इन्जीनियर आगे आगे चलते हैं। दफ्तरों और कारखानों में काम तो विज्ञजन करते हैं पर उसका निर्माण कारीगरों द्वारा होता है। शासनाध्यक्षों के आगे आगे पायलेट चलते हैं। जुलूस में झंडा धारी आगे चलते हैं। हर अवतरण के साथ अग्रगामियों की युगदूतों की एक बड़ी सेना होती है। उनका बाह्य स्वरूप भले ही सामान्य हो पर वे भीतर से असामान्य होते हैं। सामान्यों को पेट पालने और संतति जनने के कुचक्र से आगे बढ़ने की न इच्छा होती है न हिम्मत किन्तु असामान्यों का कुछ दूसरा ही नशा छाया रहता है। उनका चिन्तन और कर्तृत्व इतना ऊँचा होता है जिसकी सामान्यों के साथ कोई संगति नहीं बैठती। एक पाताल में धसता है दूसरा आसमान में उड़ता है। देव मानवों का अस्तित्व यों तो आदर्शवादियों के रूप में सदा ही बना रहता है पर युग अवतरण के समय उनके दिव्य दर्शन सर्व सुलभ होते हैं। रामावतार के रीछ वानर-कृष्णवतार के ग्वाल पाण्डव-युद्ध के भिक्षु गाँन्धी के सत्याग्रही-परिस्थिति से सामान्य और मनः स्थिति से महान थे। उनके पौरुष का प्रथम परिचय इस रूप में उभरा कि लोक प्रवाह में बहने से उनने इनकार कर दिया और उपहासास्पद बनने, कष्ट कर सेवा साधना स्वीकार करने और विषमताओं से जूझने की तपश्चर्या अपनाने में उन्हें तनिक भी कठिनाई प्रतीत नहीं हुई। जबकि सामान्य लोगों के लिए भीतरी और बाहरी दबाव आकर्षणों से बच निकलना दुस्तर-असंभव जैसा लगता है।

युग परिवर्तन प्रसव पीड़ा जैसे होते हैं। उनमें मंथन जैसी सीधी और उलटी दोनों विषमताएँ प्रचंड वेग से उभरती हैं। एक ओर प्रसूता को घोर कष्ट होता है दूसरी ओर गर्भस्थ शिशु बंधन मुक्ति के लिए प्रबल प्रयास में लगा होता है। प्रसूता पीड़ा सहती और शिशु जन्म की गुदगुदी का रसास्वादन करती है। डाक्टर आपरेशन करता है और साथ ही घाव भरने का प्रबन्ध भी करता है। अधर्म के नाश का उपचार ध्वंसात्मक है और धर्म की स्थापना का सृजनात्मक। किसान हल जोतकर खर पतवार उखाड़ता है और साथ ही बीजारोपण से नई फसल का शुभारम्भ करता है। युग संध्या में सदा ऐसी ही दुहरी प्रक्रिया सम्पन्न होती है। भगवान परशुराम ने फरसे का उपयोग करके अवांछनीयता का उन्मूलन किया था और फावड़े का उपयोग करके सर्वत्र उद्यान लगाये थे। लंका काण्ड और रामराज्य महाभारत और परीक्षित की शासन प्रक्रिया देखने में एक दूसरे से सर्वथा विपरीत थी, फिर भी उनके मध्य परस्पर पूरक तत्व ही काम करते थे।

इन दिनों कष्ट कर स्थिति कम नहीं-वे आगे और बढ़ती दीखती हैं। मनुष्य कृत दुष्कर्मो की प्रतिक्रिया दैवी प्रकोपों का रूप धारण करके सामने आ रही है। उसकी पीड़ा और भी अधिक बढ़ती दीखती है। डॉक्टर का चाकू चलने से काम पूरा नहीं होता वह फोड़े के इर्द गिर्द दबा कर मवाद भी निकालता है। लगता है वर्तमान विपन्नताएँ अगले दिनो कुछ और अधिक कष्ट कारक होंगी। इसका पूर्वाभास इन दिनों कई झरोखों से देखने को मिल रहा है। ग्रह-नक्षत्रो की उलट पुलट के पीछे अन्तरिक्ष विज्ञानी दैवी प्रकोपों की एक शृंखला उभरती देखते हैं। इन्हीं दिनों उभरने वाले सूर्य कलंक खगोल वेत्ताओं के लिए चिन्ता के विषय बने हुए हैं और वे इसकी प्रतिक्रिया धरती निवासियों के लिए कष्ट कारक होने का अनुमान लगाते हैं। वृहस्पति ग्रह की अगले दिनों विशेष स्थिति होगी। उसके द्वारा उगली गई ऊर्जा से अपनी धरती की आन्तरिक क्षति पहुँचने की आशंका है। फलित ज्योतिष के अनुसार १६ फरवरी १९८० को पड़ा हुआ सूर्य ग्रहण असाधारण था। वैसा कुयोग पिछले आठ सौ वर्ष बाद आया बताया गया था। छः ग्रहो के एक पंक्ति में होने की 'युति' भी उनके कथनानुसार धरती वासियों के लिए संकटापन्न स्थिति उत्पन्न करेगी यह ग्रह नक्षत्रों की बात हुई।

भौतिक विज्ञानी बढ़ते हुए प्रदूषण और तापमान को भावी विनाश की पूर्व भूमिका बताते हैं। साँख्यकी के विशेषज्ञ बताते हैं कि तूफानी गति से बढ़ती हुई जनसंख्या से भुखमरी, महामारी और बेकारी के चरम सीमा तक जा पहुँचने का संकट प्रत्यक्ष है। भू विज्ञानी कहते हैं पेड़, जल, ईंधन एवं खनिज सम्पदा का संचित भण्डार चुकता जा रहा है। इनके अभाव से मनुष्यों को अगले दिनों आदिम परिस्थितियों की ओर लौटना, और वन्य जीवन बिताना होगा। दिन-दिन उलझती अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के पर्यवेक्षक कहते हैं विघातक आयुधों का उपयोग कभी भी हो सकता है और उसकी परिणति किसी देश की हार जीत

के रूप में नहीं महा विनाश बनकर ही सामने आयेगी। तब इस धरती पर जहाँ तहाँ वन्य जीवन ही क्षत विक्षत रूप में शेष रह जायगा। अदृश्य दर्शी कहते है मानवी दुष्कृतों ने सूक्ष्म जगत के वातावरण को विक्षुब्ध करके रख दिया है फलतः प्रकृति प्रकोपो का जो सिलसिला चल पड़ा है उसमें अगले दिनों बढ़ोत्तरी ही होगी।

समाज विज्ञानी इन विपत्तियों को मनुष्यों के द्वारा सामूहिक कर्तव्यों की अवहेलना से उत्पन्न प्रतिक्रिया बताते हैं। उनका कथन है कि समस्त मानव समुदाय एक शरीर के विभिन्न घटकों की तरह सघन सूत्र शृंखला में बंधा है। एक नाव में बैठे लोग जिस प्रकार साथ-साथ डूबते उतरते हैं, उसी प्रकार कुछ के कृत्यों का दंड सबको भुगतना पड़ता है। पड़ौसी के घर का अग्निकाण्ड न रोकने पर अपना घर भी जलेगा। पड़ोसी पर हुए गुण्डों के आक्रमण को न रोकने का प्रतिफल वह सङ्कट अगले दिन अपने ऊपर टूट पड़ने रूप में सामने आयेगा। उपद्रव सूखा ग्रस्त क्षेत्रों पर सरकार सामूहिक कर दंड लगाती है। उसका कथन है कि व्यक्ति को अपनी सुरक्षा सज्जनता तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए वरन् पड़ौस की देखभाल का संयुक्त उत्तरदायित्व भी संभालना चाहिए। जो नहीं संभालते अपने मतलब से मतलब रखते है उन्हें सामाजिक दृष्टि से अपराधी ही ठहराया जायेगा। प्रकृति प्रकोपों में सूखे के साथ गीला जलने, गेहूँ के साथ घुन पिसने की कहावत इसी आधार पर चरितार्थ होती है। वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए प्रकृति प्रकोपों में सामाजिक कारणों से विपत्ति बढ़ने की संभावना व्यक्त की जाती है। न्याय शास्त्री प्रस्तुत संकटों के पीछे सृष्टा की परोक्ष न्याय व्यवस्था द्वारा प्रस्तुत किया गया दंड विधान प्रयुक्त होते देखते हैं।

प्रत्यक्षदर्शी उपरोक्त प्रतिपादनों में से क्या सही-क्या गलत होने के सम्बन्ध में निश्चित न होने पर भी परिस्थितियों का मूल्यांकन करते हैं और कम्प्यूटर स्तर पर संभावनाओं का निष्कर्ष निकालते है तो अगले दिन कठिनाइयों से ᐧरे हुए ही दीखते हैं। अतीन्द्रिय क्षमता सम्पन्न व्यक्ति पिछले दिनों से जिन भविष्यवाणियों को प्रकट करते रहे है उनके अनुसार अपना समय विपत्तियों से भरा हुआ ही होना चाहिए। व्यवसायी भविष्य वक्ता तो ऐसे ही तीर तुक्का छोड़ते रहते हैं पर कभी कभी अतीन्द्रय क्षमता सम्पन्न व्यक्तियों का भविष्य दर्शन इतना सही होता है कि उसे देखते हुए चकित रह जाना पड़ता है। संसार में ऐसे लोग कभी कभी, कुछ ही कहीं पाये जाते हैं। इनमें से अधिकांश की अभिव्यक्तियाँ ऐसी हैं जो अपने समय के साथ अशुभ संभावनाओं से जुड़े होने की जानकारी देती हैं।

इतने पर भी हम में से किसी को भी न तो डरना है और न अपना संतुलन बिगाड़ना है। हड़बड़ी विपत्तिको घटाती नहीं वरन् कई गुना बढ़ा देती है। परिस्थितियों की विषमता का यदि पूर्वाभास होता है तो उसका सदुपयोग एक ही है कि अधिक सावधानी बरती जाय, सुरक्षा पर अधिक ध्यान दिया जाय और आशंकाओं को निरस्त करने के लिए अधिक सूझ-बूझ का, अधिक साहस और पराक्रम का उपयोग किया जाय। इस सतर्कता और तत्परता से लाभ ही लाभ है। विपत्ति न आवे तो भी जागरूकता एवं तत्परता की अभिवृद्धि का सत्परिणाम तो निश्चित रूप से होगा ही।

समग्र पर्यवेक्षण से इस निष्कर्ष पर पहुँचना ही पड़ता है कि इन दिनों जिन विषम परिस्थितियों में रहना पड़ रहा है और गति चक्र जिस गति से अवांछनीयता की दिशा में अग्रगामी बन रहा है उसका परिणाम विपत्तियों के अधिक बढ़ने और भविष्य के अन्धकार मय होने के रूप में ही सामने आ सकता है। इस चिन्तन के साथ ही दूसरा पक्ष और भी सामने आता है कि सृष्टा ने इस धरती को समस्त ब्रह्माण्ड में अपने ढंग की अनोखी बनाया है। साथ ही प्राणीजगत में मनुष्य की संरचना भी ऐसे ही विलक्षण तत्वों से की है जिसे अनुपम ही कहा जा सकता है। इस उद्यान की संरचना में कलाकार ने अपनी समस्त कलाकारिता बाजी पर लगा दी है। उसका इस प्रकार नष्ट-भ्रष्ट हो जाना उसे सहज स्वीकार नहीं हो सकता। यही कारण है कि उसने लोक व्यवस्था का सामान्य उत्तरदायित्व मनुष्य के हाथ में सौंपते हुए भी यह भार अपने ही कन्धों पर रखा है कि जब भी असंतुलन संभलते न बनेगा तो वह स्वयं अपने विशिष्ट प्रयासों से उस अव्यवस्था पर स्वयं नियंत्रण करेगा। मंत्रिमंडल के असफल रहने पर राष्ट्रपति के शासन जैसी आपत्ति कालीन स्थिति को अवतार कहा जा सकता है। इन दिनों उसी की पूरी पूरी संभावना है।

प्रसव पीड़ा की इन कष्टकर घड़ियों का धैर्य और साहस के साथ सामना करना चाहिए। उन्हें हलका करने के लिए जो भी उपाय संभव हैं, उन सबको परिपूर्ण तत्परता के साथ प्रयोग करना चाहिए। साथ ही इस आशा को पूरी तरह संजोये रहना चाहिए, कि अन्ततः उज्ज्वल भविष्य का सूर्य ही उदय होगा। रात्रि की सघनता कितनी ही जटिल

क्यों न हो। नवयुग की सुखद संभावना और उज्ज्वल भविष्य की संरचना पर हमें परिपूर्ण विश्वास रखना चाहिए।

यहाँ एक तथ्य और भी सुनिश्चित है कि यह परिवर्तन प्रयोजन भगवान के हाथों ही सम्पन्न होगा। वे अपनी लीलाऐं उसी प्रकार सम्पन्न करेंगे जैसे कि हर अवतार के समय करते रहे हैं। दिव्य लोक में प्रेरणा प्रवाह और देव मानवों द्वारा उसका क्रियान्वयन सही मायनों में सनातन कार्य पद्धति है। इस बार भी उसी प्रक्रिया की पुनरावृत्ति होगी। महाकाल द्वारा युगान्तरीय चेतना का संचार होगा। समयानुसार स्वीकार सभी करेंगे। युग देवता की समर्थता नहीं श्रद्धा अपेक्षित है। जो श्रद्धावान है उन्हीं का पराक्रम सराहा जाता है। देव मानवों की भूमिका निभाते हुए अवतार का प्रत्यक्ष प्रयोजन उन्हीं के द्वारा सम्पन्न होना है।

ब्राह्ममुहूर्त में सर्वप्रथम कुक्कुट जगाता है और वही नव जागरण के अग्रदूत की भूमिका निभाते हुए लम्बी बांग लगाता है। देव मानवों के जग पड़ने, कटिबद्ध होने और अपने को व अपने युग को धन्य बनाने का ठीक यही समय है। जो चूकेंगे उनके हाथ पश्चात्ताप ही शेष रह जायेगा।

अवतार का प्रयोजन और स्वरूप

शरीर में हर घड़ी विषाक्तता उत्पन्न होती रहती है और उसकी सफाई का व्यवस्था क्रम भी स्वसंचालित रीति से चलता रहता है। कोशिकाओं का मरण, आहार का परिशोधन, गति क्रम में अवरोध, बाह्य आघात जैसे अनेको कारण काय सत्ता के अन्तः क्षेत्र में विकृतियाँ उत्पन्न करते हैं। प्रकृति ने इनकी परिशोधन पद्धति का भी काया के साथ-साथ ही निर्माण किया है। मल, मूत्र, स्वेद, कफ, श्वास आदि के माध्यम से अनुपयुक्त का निष्कासन होता रहता है। रक्त के श्वेत कण, बाहर से आने वाले विषाणुओं से जूझने और उन्हें परास्त करने में निरन्तर अपना प्रयास सजग प्रहरी की तरह जारी रखते हैं। थकान की क्षतिपूर्ति विश्राम से होती रहती है।

यह विश्व भी विराट ब्रह्म का शरीर है। इसमें भी पिण्ड काया की जैसी व्यवस्था काम करती है। प्रकृति का सृजन और विगति का विसर्जन, निर्माण और ध्वंश की आँख मिचौनी खेलते रहते हैं। इसी को अनवरत क्रम से चलने वाला देवासुर संग्राम कहते हैं। ईसाई, मुस्लिम धर्मों में इसी को शैतान भगवान की प्रतिद्वन्द्विता कहा जाता है। मन का स्वभाव पानी की तरह नीचे की ओर चलना है। मनुष्य शरीर मिलने पर भी निम्न योनियों के संग्रहीत कुसंस्कार अपनी जड़ जमाये बैठे रहते है। मानवी मर्यादाओं का धर्म, आध्यात्म, कानून, व्यवस्था सुप्रचलन आदि के द्वारा उद्बोधन उत्तेजन होता रहता है, फिर भी कुसंस्कारिता अपनी करतूत करती ही रहती है। अनगढ़ व्यक्तियों के चिन्तन में भ्रष्टता और चरित्र में दुष्टता का बाहुल्य रहता ही है। सज्जन प्रकृति के लोग भी यदा कदा अवांछनीयता की कीचड़ में फिसलते देखे गये हैं। इस अनुपयुक्तता से जूझना भी उतना ही आवश्यक है जितना की सृजन के साधन जुटाना।

घर मे भोजनालय की तरह ही शौचालय की व्यवस्था करनी पड़ती है और रसोई दारिन की तरह ही महतरानी की भी आवश्यकता रहती है। उपार्जन के साथ-साथ ही सुरक्षा की योजना बनानी पड़ती है। भण्डारी की तरह चौकीदार का भी दर्जा है। अगरबत्ती जलाकर सुगंध बखेरने की ही तरह नाली में फिनायल छिड़कने की भी आवश्यकता रहती है। किसान बीज बोने की, खाद पानी की व्यवस्था जुटाने की तरह ही वन्य पशुओं और कृमि कीटकों से फसल को बचाने का भी प्रबन्ध करता है। माली के श्रम की सार्थकता फलों को पक्षियों से बचाने का प्रबन्ध किये बिना हो नहीं सकती। सरकारें, शिक्षा, चिकित्सा, परिवहन, सिंचाई, बिजली उद्योग आदि के अभिवर्धन में जितना ध्यान देती हैं, लगभग उतना ही व्यय उन्हे पुलिस, जेल, कचहरी, सेना, शस्त्र निर्माण आदि पर करना पड़ता है। मात्र सृजन ही अभीष्ट नहीं, ध्वंस का अवरोध भी एक तथ्य है। जिसकी ओर से आँख मींच सकना न काय सत्ता के लिए न विश्व व्यवस्था के लिए न व्यक्ति के लिए न समाज के लिए संभव होता है। उपार्जन एवं सृजन की कितनी ही महत्ता क्यों न हो, उसकी अपूर्णता तब तक बनी ही रहेगी जब तक विनाश के विघातक तत्वों से निपटने का प्रबन्ध न किया जाय। मानवी और दैवी व्यवस्था क्रम में दोनों का ही समुचित समावेश पाया जाता है। इस क्रम में जब भी असंतुलन पड़ता है तभी विषम परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं और विडम्बनाओं का सामना करना होता है।

उपयोगी का अभिवर्धन करने के लिए सृजन के तत्व गतिशील रहते है। उन्हीं के पुरुषार्थ से भौतिक और आत्मिक जगत् मे समृद्धि, और संस्कृति की सुषमा, हरितिमा इस विश्व वसुधा पर दृष्टिगोचर होती है। साथ

ही निकृष्टता की विनाश लीला को निरस्त करने के लिए प्रखर पराक्रम भी अपना जौहर दिखाता रहता है। शौर्य और साहस इसी का नाम है । श्रेष्ठता के संवर्धन और निकृष्टता के उन्मूलन में नियोजित मानवी प्रखरता को ही त्याग बलिदान कहते हैं । इतिहास में ऐसे ही वीर पुरुषों का यशगान है। धर्म ग्रन्थों के ऋषि प्रायः सृजन कृत्य में संलग्न रहे हैं उन्होंने सर्वतोमुखी प्रगति के महत्व पूर्ण आधार खड़े किये हैं। साधु और ब्राह्मण की परम्परा इन्हीं पुण्य प्रयोजनों में गतिशील रही है । वीर बलिदानियों का वर्ग क्षत्रिय है। क्षात्र धर्म भी ब्रह्म धर्म के समकक्ष ही माना गया है और उसकी प्रशक्ति भी समतुल्य ही आंकी जाती रही है। ब्रह्म क्षात्र का समन्वय ही श्रेष्ठता के सम्वर्धन और संरक्षण में समर्थ इकाई बनकर प्रकट होती है। एक ही केन्द्र से दोनों प्रवृत्तियाँ चलें या दो उद्गमों से निकल कर एक लक्ष्य तक पहुँचे, यह परिस्थितियों पर आधारित है, किन्तु पूर्णता समग्रता बनती तभी है जब सृजन का अभिवर्धन और ध्वंस का उन्मूलन सन्तुलित गति से अपना आधार सुदृढ़ बनाये रख सके ।

शास्त्र और शस्त्र का समन्वय करने वाले तत्वो और व्यक्तियों ने ही सृष्टि के प्रगति क्रम को आगे बढ़ाया है । उन्हीं ने ध्वंस की चुनौती से वसुधा की सौन्दर्य सुषमा को सुरक्षित रखा है । ऋषि परम्परा में द्रोणाचार्य, परशुराम, भीष्म, विश्वामित्र आदि के अनेकानेक उदाहरण ऐसे हैं जो उभयपक्षीय भूमिका निभाते रहते हैं । शास्त्र और शस्त्र का समान उपयोग करते रहते हैं । होता ऐसा भी रहा है कि दोनों उद्गम स्वतन्त्र इकाई बनकर रहे और आवश्यकतानुसार उपयुक्त मात्रा से तालमेल बिठाकर काम करें । धर्म तन्त्र और राजतंत्र की दो ध्वजाओं के नीचे दो आधार प्रथक-प्रथक भी एकत्रित होते रहे है और पारस्परिक सहयोग से समृद्धि और प्रगति की सुख-शांति का ढांचा खड़ा करते रहे है ।

काम सत्ता की तरह विश्वसत्ता में भी औचित्य का सम्वर्धन और अनौचित्य का उन्मूलन क्रम रथ के दो पहियों की तरह सहयोग पूर्वक चलता है। यह सुव्यवस्था जब तक सही रूप में बनी रहती है तब तक प्रगतिक्रम सुनियोजित गति से चलता और सुख शान्ति का वातावरण बनता रहता है। किन्तु जब असन्तुलन उत्पन्न होता है अथवा सामंजस्य लड़खड़ाता है तो संकट की घटायें घुमड़ने लगती हैं । जन-जीवन मे सृजन की चेतना उच्चस्तरीय रहनी आवश्यक है। धर्म और अध्यात्म का तत्व दर्शन इसी की भावनात्मक पृष्ठभूमि खड़ी करता है। सन्त और सृजेता अपनी प्रवृत्तियाँ इस प्रयोजन में नियोजित रखते है । साथ ही प्रखरता का पराक्रम निकृष्टता को निरस्त करने मे अपने शौर्य साहस का परिचय देता है । शान्ति और सुव्यवस्था की गारण्टी इन दोनों की समर्थता और सहकारिता पर भी निर्भर रहती है ।

यह हुआ सृष्टि की सुव्यवस्था का सन्तुलित प्रगतिक्रम। साथ ही असन्तुलन की अव्यवस्था भी दृष्टव्य है। जब सृजन के तत्व दुर्बल पड़ जाते हैं तो आत्मिक क्षेत्र में अज्ञान और भौतिक क्षेत्र में दारिद्रय की विभीषिकायें सिर उठाने लगती हैं। इसी प्रकार पतन से जूझने वाली प्रखरता अपनी वरिष्ठता भूलकर ललक लिप्सा के गर्त में गिरने लगती है तो निकृष्टता की अपनी विनाशलीला रचने के लिए खुला क्षेत्र मिल जाता है । सृजन की शिथिलता और विनाश की स्वच्छन्दता का असन्तुलन ही व्यक्ति और समाज के सम्मुख अनेकानेक विपत्तियाँ खड़ी करता है । समस्यायें और कठिनाइयाँ इसी स्थिति में आँधी तूफान की तरह उठती हैं । सर्वनाशी विभीषिकाओं का आधारभूत कारण यह असन्तुलन ही है जिससे देवता दुर्बल पड़ता है और दैत्य को स्वच्छन्द रहने का अवसर मिलता है ।

काया में दुर्बलता, रुग्णता और अकाल मृत्यु जैसे संकट तभी खड़े होते हैं जब पोषण घटता और मालिन्य बढ़ता है। मानसिक तेजस्विता का व्यक्तित्व की उत्कृष्टता का ह्रास भी इसी आधार पर होता है कि चिन्तन और चरित्र में से आदर्श वादिता घटती और दुर्बद्धिजन्य दुश्चरित्रता बढ़ती जाती है । व्यक्ति के पतन, पराभव का एकमात्र कारण यही है। समाज का उत्थान पतन भी इसी तथ्य पर आधारित है । सृष्टि का चिर पुरातन इतिहास साक्षी है कि संकट असाधारण रूप से जब कभी जहाँ कहीं उभरे हैं वहीं सृजन की दुर्बलता और ध्वंस की बलिष्ठता को भी नाना आकार प्रकार के संकटों को बनाते उभारते देखा जा सकता है ।

सृजन की सत्प्रवृतियाँ सनातन है वे अपना काम करती ही रहती हैं। परिस्थितिवश दुर्बल तो पड़ती हैं पर पूर्णतया नष्ट नहीं होतीं । लंका में असुरों का बाहुल्य था फिर भी विभीषण और मन्दोदरी न केवल अपनी वरिष्ठता बनाये रहे वरन् अनीति के प्रतिरोध अधिक सम्भव न होने पर भी असहयोग और विरोध तो करते ही रहे । सन्त, सुधारक और शहीद तथा श्रेष्ठता के समर्थन और निकृष्टता के उन्मूलन में भी अपनी क्षमता और परिस्थितियों को

विषमता के साथ तालमेल बिठाकर कुछ योजना बनाते और प्रयास करते हैं । यह सामान्य क्रम हलके भारी रूप में चलता ही रहता है । किन्तु कभी-कभी स्थिति बहुत विषम हो जाती है । सामान्य प्रयासों से न सृजन की बढ़ी-चढ़ी आवश्यकता पूरी होती है और न ध्वंस की विनाशलीला पर नियन्त्रण बन पड़ता है । आतंक की तमिस्रा घनी होती जाती है और निराशा भरी परिस्थितियाँ मानवी पुरुषार्थ को हतप्रभ बना देती हैं । लगता है परिस्थितियाँ बेकाबू हो गई हैं और पतन और उत्थान में बदल सकने वाली प्रखरता मनुष्य के हाथ से छिन गई । यह असमंजस यदि देर तक ऐसा ही बना रहे तो ध्वंस ही जीतेगा । विनाश ही नग्न नृत्य करेगा ।

ऐसे ही अवसरों पर सृष्टा का वह आश्वासन अवतरित होता है जिससे उसको अपने सुरम्य उद्यान को विनाश के गर्त में गिरने से पूर्व ही उसे बचाते रहने का सुनिश्चित विश्वास दिलाया है । ''यदा यदाहि धर्मस्य ....।'' वाली प्रतिज्ञा गीताकार ने अर्जुन के सम्मुख ही प्रकट नहीं की है वरन् इस आश्वासन का शास्त्रों और आप्त वचनों में अनादि काल से अनवरत उल्लेख होता रहा है । न केवल उल्लेख वरन् उसके प्रकटीकरण का प्रमाण भी समय-समय पर उपलब्ध होता रहा है। दिव्य सत्ता का अवतरण ऐसे ही अवसरों पर होता है । अवतार ऐसी ही विषम परिस्थितियों में प्रकट होते हैं । मनुष्य का पौरुष जहाँ लड़खड़ाता है वहाँ गिरने से पूर्व ही सृजेता के लम्बे हाथ असन्तुलन को सन्तुलन में बदलने के लिए अपना चमत्कार प्रस्तुत करते दिखाई पड़ते हैं । यही है सृष्टा का लीला अवतरण, प्रकटीकरण ।

सृष्टि के आदि से लेकर अब तक अनेक बार अनेक क्षेत्रों में अनेक विषमताओं को निरस्त करने के लिए अवतार होते रहे हैं । भूतकाल में विश्व बिखरा हुआ था। यातायात के साधनों में न्यूनता रहने से एक दुनिया छोटी-छोटी अनेक दुनियाओं में बँटी हुई थी। इसलिए विषमतायें भी क्षेत्र विशेष की स्थानीय परिस्थितियों की होती थीं । विश्वव्यापी कोई संकट प्रायः नहीं ही होता था, इसलिए अवतार भी क्षेत्रीय ही होते थे और उनके सामने लक्ष्य भी उतना ही रहता था जितना कि उन दिनों संकट उत्पन्न करने के लिए उत्तरदायी था । भारतवर्ष में हिन्दू धर्म के अन्तर्गत २४ अवतार गिनाये जाते हैं । जैन धर्म के २४ तीर्थकर इनके अतिरिक्त हैं । सिखों के दस गुरु भी उसी श्रेणी के गिने जाते है । अन्यान्य सम्प्रदायों में भी अपने प्रवर्तकों एवं ऋषी देवताओं का प्रथक-प्रथक उल्लेख है । हिन्दू धर्म की शाखा प्रशाखाओं के अन्तर्गत जिन्हें अवतार स्तर की मान्यता मिली है उसकी गणना हजारों में हो जाती है फिर भारत से बाहर अन्य देशों एवं धर्मों की गाथाओं में अपने-अपने अवतारों का अलग से वर्णन है । ईसाई, मुस्लिम, पारसी, यहूदी आदि धर्मावलम्बी भी अपने अवतारों की गणना अलग से करते हैं । वे हिन्दू धर्मानुयायियों की गणना से भिन्न हैं ।

मात्र धार्मिकता का क्षेत्र ही एक मानवी आवश्यकताओ एवं समस्याओं का क्षेत्र नहीं है । उसके बाहर भी बहुत कुछ है । उन क्षेत्रों में भी समस्याओं का समाधान करने वाली शक्तियाँ भी अनेक महा मानवों के रूप में प्रकट होती रही हैं । दर्शन, विज्ञान, शिक्षा, चिकित्सा जैसे क्षेत्रों में छाये हुए अन्धकार को प्रकाश में बदलने वाले व्यक्तियों को उनसे लाभान्वित होने वाले एवं श्रद्धालु लोग अवतार ही मानते हैं । दर्शन एवं विज्ञान की महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ प्रस्तुत करने वाले महामानवों को वैसा ही मसीहा माना जाता है जैसा कि धर्म क्षेत्र के लोग पौराणिक अवतारों को श्रद्धास्पद एवं अभिनन्दनीय मानते है ।

व्यक्तियों को अवतार मानना हो तो मात्र धर्मक्षेत्र की विभूतियों को ही नहीं, सन्तुलन में सहायक हर महान् को उसी श्रेणी में गिनना पड़ेगा । ऐसी दशा में उनकी संख्या सीमा का निर्धारण सम्भव न रहेगा । साथ ही एक कठिनाई और बनी रहेगी कि उनके स्तर के अनुरूप कनिष्ठ वरिष्ठ का वर्गीकरण भी आवश्यक हो जायगा । अवतारों की क्षमता और विशिष्टता का मूल्यांकन उनकी कलाओं के मापदण्ड में आंका जाता है । परशुराम जी तीन कला के और रामचन्द्र जी बारह कला के अवतार थे । दोनो एक ही समय में हुए और एक दूसरे के संबंध में यथार्थता से अपरिचित ही बने रहे । मच्छ, कच्छ, बाराह आदि की कलायें कम थीं और क्रमिक विकास के अनुसार बढ़ती चली आईं । राम बारह कला के और कृष्ण सोलह कला के अवतार थे बुद्ध बीस के । पूर्ण कलायें चौंसठ मानी जाती हैं । इस प्रकार अब तक के अवतारों की सामयिक परिस्थितियों के अनुसार जैसा भी पुरुषार्थ करना पड़ता है उसके स्तर और विस्तार को देखते हुए उनका महत्व, स्तर और पराक्रम भी बढ़ता रहा है ।

अपने युग में भगवान की सत्ता ''प्रज्ञावतार'' के रूप में प्रकट हो रही है । इसकी कलायें चौबीस है । गायत्री के चौबीस अक्षरों में से प्रत्येक को एक कला किरण माना

जा सकता है। इन दिव्य धाराओं में बीज रूप से वह सब कुछ विद्यमान है जो मानवी-गरिमा को स्थिर एवं समुन्नत बनाने के लिए आवश्यक है। सूर्य के सप्त अश्व, सप्त मुख, सप्त आयुध प्रसिद्ध हैं। सविता की प्राण सत्ता गायत्री की शक्तिधारायें इससे अधिक हैं। गायत्री के चौबीस अक्षरों में साधन परक सिद्धियाँ और व्यक्तित्व परक ऋद्धियाँ अनेकानेक हैं उनका वर्गीकरण चौबीस विभागों में करने से विस्तार को समझने में सुविधा होती है चेतना की अन्तरंग का परिष्कार और साधन सुविधाओं का विस्तार यह दोनों ही तथ्य मिलने पर मनुष्य में देवत्व के उदय और समाज में स्वर्णिम परिस्थितियों के विस्तरण की सम्भावना बनती है। प्रज्ञावतार का कार्यक्षेत्र यही है। वह व्यक्ति के रूप में नहीं शक्ति के रूप में प्रकट होगी। जिस व्यक्ति में इस प्रज्ञा तत्व की मात्रा जितनी अधिक प्रकट होगी वह युग सृजेताओं की गणना में आ सकेगा और अपने पुरुषार्थ के आधार पर श्रेय प्राप्त कर सकेगा इतने पर भी परिवर्तन के लिए अवतरित मूल सत्ता निराकार ही रहेगा। चेतना सदा निराकार ही रहती है। व्यक्तियो में घटनाओं के माध्यम से उसके प्रवाह का अनुभव भर किया जा सकता है। पंखा, बल्ब, मोटर, हीटर आदि बिजली से चलते तो हैं पर वे उपकरण बिजली नहीं हैं। विद्युत धारक मूलभूत स्वरूप को प्रत्यक्ष नहीं देखा जा सकता उसकी प्रतिक्रिया भर अनुभव की जा सकती है। प्रज्ञावतार का दर्शन भी इसी आधार पर कर सकना सम्भव होगा। उसे किसी व्यक्ति की आकृति में देखा जा सकेगा। हाँ विशिष्ट व्यक्तियों में उसकी ज्योति न्यूनाधिक मात्रा में जलती देखी जा सकेगी। यह ज्योति पुंज अपनी विशिष्टता का परिचय देते हुए यह प्रमाणित करेगा कि युग परिवर्तन की ईश्वरीय इच्छा को पूरा करने में वे कितने समर्थ एवं श्रेयाधिकारी बन सके।

न अवतार का प्रयोजन डगमगाते सन्तुलन को स्थिर करने के लिए सूक्ष्म जगत में ऐसा भावनात्मक प्रवाह उत्पन्न करता है जो अपनी प्रेरणा से असंख्य प्राणवानों में नव सृजन के लिए अभीष्ट आवेश उत्पन्न कर सके। धर्म की ग्लानि की ओर दुष्कृतों को उलट कर धर्म की, स्थापना एवं साधुता की सुरक्षा का महान प्रयोजन इसी प्रकार सम्पन्न होता रहा है। अपने युग में वह प्रक्रिया इसी क्रम से सम्पन्न होने जा रही है।

अवतार के प्रकटीकरण और प्रमाण

व्यापक शक्तियाँ सूक्ष्म और निराकार होती हैं। उनका कार्य क्षेत्र अदृश्य जगत है। परब्रह्म की अवतार सत्ता युग सन्तुलन को सम्भालने, सुधारने के लिए आती हैं। यह कार्य वह उनसे कराती है जिनमें दैवी तत्वों का चिर संचित बाहुल्य पाया जाता है।

सूक्ष्म जगत में चलने वाले प्रवाहों की प्रतिक्रिया से सभी परिचित हैं। ग्रीष्म, शीत और वर्षा ऋतुओं में भिन्न-भिन्न प्रकार का वातावरण रहता है और उसी आधार पर पदार्थों एवं प्राणियों की स्थिति बदलती रहती है। बसन्त ऋतु में कुछ विचित्र प्रवाह बहते हैं और प्राणियों से लेकर वनस्पतियों तक को उल्लास उन्माद से भर देते हैं। महामारी से लेकर युद्धोन्माद तक की परिस्थितियाँ सूक्ष्म जगत में बनती और स्थूल जगत में अपने अस्तित्व का परिचय देती हैं। लोक प्रवाह में अवांछनीयता की विषाक्तता भर जाने से पतन और पराभव का संकट खड़ा होता है। उसका निराकरण भी सूक्ष्म जगत में ही उत्पन्न होता है। उसका तूफानी प्रभाव सारे वातावरण को झकझोरता है। जागृत आत्मायें उस दैवेच्छा को पूरा करने में अग्रगामी भूमिका निभाती और महाकाल का हाथ बटाती दीखती हैं। साथ ही लोक मानस पर भी उस उभार का प्रभाव पड़ता है। अवांछनीयता की जड़ें खोखली होने लगती हैं और औचित्य का समर्थन करने के लिए हर किसी का मन मचलता है। इस सहज परिवर्तन का प्रभाव नये सृजन के लिए उत्पन्न हुई अनेकानेक सत्प्रवृत्तियों के रूप में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है।

मानवी काया में जो अवतार का दर्शन करना चाहते हैं वे समय के श्रेष्ठ सज्जनों को उदात्त चरित्र एवं उदात्त प्रयास के विकास विस्तार में भली प्रकार देख सकते हैं। जब युगान्तरीय चेतना से प्रभावित आदर्शवादी भक्ति-सृजन प्रयोजनों में अधिक तत्परता पूर्वक कार्य लाने दिखाई पड़े तो उसे अवतार की प्रेरणा ही मानना चाहिए। सन्त, सुधारक और शहीद बढ़ने लगे तो समझना चाहिए इसका सूत्र संचालन अवतारी सत्ता ही अदृश्य रूप में कर रही है।

सन्त सुधारक और शहीद सामान्य जन-जीवन से ऊँचे स्तर के होने के कारण छोटे-बड़े अवतारों की गणना में आते हैं। सन्त अपनी सज्जनता से मानव जीवन के सदुपयोगों का आदर्श प्रस्तुत करते हैं। उनकी विचारणायें गतिविधियाँ और उपलब्धियाँ जन-जन के मन में आदर्शवादिता के प्रति श्रद्धा और अनुकरण के लिए उमंग उत्पन्न करती हैं। सुसंस्कृत जीवन यापन किस प्रकार होना चाहिए इसका प्रत्यक्ष उदाहरण सन्त अपने उपदेशों से ही

नहीं चरित्र एवं व्यक्तित्व के आधार पर भी प्रस्तुत करते हैं। हेय उदाहरण ही सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं इसलिये आमतौर से यही समझा जाता है कि आदर्शवादिता कहने सुनने भर की बात है उसका उपयोग कथा-प्रवचन में तो हो सकता है पर व्यवहार में उसे उतारना सम्भव नहीं। इस निराशा को सन्त अपने निजी उदाहरण से निरस्त करते हैं और यह साहस प्रदान करते हैं कि मन: स्थिति ऊँची रहने पर विषम परिस्थितियों में भी मानवी गरिमा अक्षुण्ण रखी जा सकती है। इससे सर्व साधारण को बल और प्रोत्साहन मिलता है। निराशा की अनास्था को उलटने में सन्तों का जीवन क्रम प्रकाश स्तम्भ जैसा प्राणवान उदाहरण प्रस्तुत करता है। आदर्शों के परिपालन में आने वाली कठिनाई का सामना करते हुए उत्कृष्टता को दृढ़ता पूर्वक अपनाये रहने वाले व्यक्ति सन्त वर्ग में गिने जाते हैं भले ही वे वेश और व्यवसाय सामान्य स्तर का ही क्यों न अपनाये रहते हों। सन्तों को धरती के देवता कहते हैं। साधु और ब्राह्मणों को जो उच्चस्तरीय सम्मान मिलता है उससे अवतार के प्रति लोकश्रद्धा की झांकी मिलती है।

जन जीवन में अवतार का इससे ऊंचा स्तर है सुधारक। यह स्थिति ऊँची है। इसमें सन्त होने के लिए आत्म निर्माण की तपश्चर्या ही पर्याप्त नहीं होती। श्रेष्ठ जीवन जी लेने तक ही बात नहीं बनती वरन् एक और भी बड़ा कदम उठाने की आवश्यकता पड़ती है कि जन-जीवन पर छाये हुए भ्रष्ट चिन्तन और दुष्टाचरण के साथ जूझने का प्रबल पराक्रम करना होता है। आत्म-सुधार अपने हाथ की बात है इसलिए सन्त का कार्यक्षेत्र सीमित और सरल है। किन्तु सुधारक को दूसरों को बदलना होता है। इसलिए अपेक्षाकृत अधिक प्राण शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। चरित्र अधिक ऊँचा साहस अधिक प्रखर और पुरुषार्थ अधिक प्रबल चाहिए। तभी दूसरों को अभ्यस्त अनाचार से विरत करने और सदाशयता अपनाने के लिए सहमत एवं विवश करना सम्भव होता है। सुधारक न केवल लोक प्रवाह में घुली हुई अवांछनीयता से जूझते हैं वरन् साथ ही अभीष्ट परिवर्तन को प्रचलन में जोड़ने और परम्परा बनाने का सृजन प्रयोजन भी पूरा करते हैं। उन्हें दो मोर्चे संभालने पड़ते है। जबकि सन्त के लिये एक कार्य भी पर्याप्त समझा जाता है। सन्त का ब्राह्मण होना पर्याप्त है किन्तु सुधारक को 'ब्रह्मक्षेत्र' धर्म अपनाना होता है। उसके एक हाथ में शास्त्र और दूसरे में शस्त्र रहता है। व्यापक परिवर्तन के लिए इससे कम प्रखरता से काम चल भी नहीं सकता। सुधारकों की गणना देवदूतों में होती रही है। अवतार का यह द्वितीय चरण है।

तीसरा चरण है शहीद। शहीद का अर्थ है—"स्व का "परं" के लिए समग्र समर्पण। अध्यात्म भाषा में इसी को समर्पण, शरणागति कहते हैं। स्वार्थ का परमार्थ में उत्सर्ग करने का तात्पर्य है लोभ और मोह के बन्धनों को काट फेंकना, अपने दायरे को शरीर परिवार तक सीमित न रखकर विश्व नागरिक जैसा बना लेना वसुधैव कुटुम्बकम् के दर्शन को चिन्तन और चरित्र का अविच्छिन्न अंग बना लेना। इस स्तर के व्यक्तित्व लोक प्रवाह से अलग थलग पड़ जाते हैं। लोगों की दृष्टि में वे मूर्ख होते हैं और उनकी दृष्टि में लोग मूर्ख। यह एक प्रकार से लौकिक जीवन का मरण है। जीवित रहते हुए भी वे आस-पास की परिस्थितियों से प्रभावित नहीं होते अथवा दृष्टिकोण और कार्यक्रम दूसरों के प्रभाव परामर्श से नहीं अन्त: प्रेरणा से निर्धारित करते है। तथाकथित स्वजन सम्बन्धियों का मित्र, परिचितों का अनुपयुक्त परामर्श उन्हें रत्ती भर भी प्रभावित नहीं करता। अपनी नीति स्वयं निर्धारित करते हैं। ऐसे महामानवों को ही आत्मदानी शहीद कहा जा सकता है।

साधारणतया शहीद उन्हें कहते हैं जो किसी महान प्रयोजन के लिये अपनी जान गँवा देते हैं। पर यह परिभाषा एकांगी है। जिनने परमार्थ के लिए प्राण त्यागे उनके चरणों पर श्रद्धा के सुमन चढ़ने ही चाहिए। उनकी यश गाथा का गायन आदर्शों के प्रति, आदर्शवादियों के प्रति लोक मानस के नत मस्तक होने और उच्चस्तरीय प्रेरणाओं से अनुप्राणित होने का अवसर प्रदान करता है। इस दृष्टि से बलिदानियों का जितना गुणगान किया जाय, जितना सम्मान दिया जाय उतना ही कम है। इतने पर भी एक बात ध्यान में रखने की है कि हर आत्मदानी के लिए प्रभु समर्पित के लिए मरण कृत्य अपनाना अनिवार्य नहीं है। हर शहीद को फांसी गोली तलाश ही करनी पड़े ऐसी बात नहीं है। संकीर्ण स्वार्थपरता का अन्त करके परमार्थ को ही अपनी महत्वाकांक्षाओं का केन्द्र बना लेना उसी में रस लेना चिन्तन में तन्मय रहना वस्तुत: मानसिक शहादत है। यह जहाँ होगी वहाँ व्यवहार भी वैसा ही बनेगा क्रियाकलापों का निर्धारण और कार्यान्वयन वही होता है, जो अन्त:करण में बसा हो। समर्पण एक आस्था है जिसमें लोभ मोह और अहंकार के भव बन्धन काटने पड़ते हैं और आदर्शों के लिए चिन्तन और चरित्र को पूरी तरह नियोजित रखना पड़ता है। अपने को इस ढांचे में ढाल लेने वाले व्यक्ति

अध्यात्म शब्दावली में 'ऋषि' कहलाते हैं । शहीद शब्द से यह अधिक उपयुक्त है । शहीद होने में मरण की आवश्यकता जुड़ी रहती है जबकि ऋषि के लिए जीवन या मरण में कोई अन्तर नहीं रहता, वह जीवित रहते हुए चतुर लोगों की दृष्टि में मृतक है । इतिहासकार उसके मर जाने पर भी जीवितों जैसी अभ्यर्थना करते हैं ।

सन्त और सुधारक में अपना 'अहं' शेष रहता है । जबकि समर्पित को वासना, तृष्णा का लोभ, मोह का ही अन्त नहीं करना पड़ता वरन् अहन्ता का भी विसर्जन आवश्यक होता है । आमतौर से लोकसेवियों की लोकेषणा, यश और सम्मान की कामना घटने के स्थान पर बढ़ती देखी जाती है जबकि वस्तुतः उसका पूर्णतया विसर्जन होना चाहिए । सार्वजनिक जीवन में यह लोकेषणा ही सबसे बड़ी बाधा है । लोकसेवी बहुत कुछ त्यागते पाये जाते हैं, पर अपनी यश लिप्सा-पद लिप्सा, छोड़ नहीं पाते यही कारण है कि संस्था संगठनों के अन्तःक्षेत्र में आये दिन भूकम्प आते और विस्फोट होते देखे जाते हैं । जन-सहयोग के अभाव में सार्वजनिक सेवा क्रम में उतनी बाधा नहीं पड़ती जितनी तथाकथित लोकसेवियों की महत्वाकांक्षा की चिनगारी उन उपयोगी प्रयासों को नष्ट-भ्रष्ट करके रख देती है । अवतारों में उच्चस्तरीय वे हैं जिन्होंने सन्त की पवित्रता-सुधारक की प्रखरता के साथ-साथ ऋषि की तत्व दृष्टि अपनाई और अहंता का पूरी तरह विसर्जन कर दिया । अपने श्रम, समय, चिन्तन, प्रभाव का पूरी तरह परमार्थ के ब्रह्मानन्द पर उत्सर्ग कर दिया। ऐसे लोगों की प्रतिभा एवं क्षमता सामान्य लोगों की तुलना में असंख्यों गुना अधिक होती है । स्व का परिपोषण मनुष्य की अधिकांश शक्ति से निकल जाता है। यदि उससे बचा जा सके और सच्चे अर्थों में उत्कृष्टता के लिए समर्पण किया जा सके तो अहंता के परिपोषण में लगने वाली इच्छा, विचारणा एवं क्रियाशीलता इतनी अधिक मात्रा मे बच जाती है जिसके आधार पर सामान्य व्यक्ति भी असामान्य स्तर के काम कर सकता है । ऐसी प्रतिभाएँ जब कभी, जहाँ कहीं उपलब्ध होती हैं तब वहाँ चमत्कार उत्पन्न होते चले जाते हैं ।

ऋषियों के सभी कृत्य शहीदों जैसे दुस्साहस भरे होते है । अपने साधनों के परमार्थ के लिए विसर्जित करने में उन्हें वाजिस्रवा के सर्वमेध यज्ञ जैसे दृश्य दिखाई पड़ते है। लक्ष्य में इतनी तन्मयता रहती है कि अर्जुन के मत्स्यवेध का अनुकरण करने में घटना अहर्निश घटित होते देखी जा सकती है । प्राण का मोह छोड़ना कठिन है, पर अपने वैभव, व्यामोह और अहम्मता का विसर्जन करने के उच्चस्तरीय उदाहरण प्रस्तुत कर सकते है । इसी स्तर के लोग प्रकाश स्तम्भ की तरह ज्योतिर्मय रहते और कर्तृव्य की गरिमा से असंख्यों को प्रभावित करते हैं । उनके त्याग, बलिदान का परिचय, पग-पग पर मिलता रहता है । शहीद मरने के उपरान्त आक्रोश उत्पन्न करते हैं, किन्तु ऋषियों की सुषमा हर घड़ी स्वर्गीय श्रद्धा सम्वेदना का संचार जन-जन मे करती रहती है ।

बिजली हर वस्तु में प्रवाहित नहीं होती । वह कुछ ही पदार्थों में प्रवेश कर पाती है। लकड़ी, चीनी, रबड़, काँच जैसी वस्तुओं पर उसका तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता । अवतार के सहकर्ती, सहधर्मी तीन ही होते हैं-सन्त, सुधारक और शहीद । सज्जन, सृजन शिल्पी, ऋषि । जिन्हें अवतार के प्रत्यक्ष दर्शन करने होते हैं वे इन तीन वर्गों का विस्तार एवं स्तर उभरता देखकर यह सन्तोष कर लेते हैं कि अवतार की प्रखरता कितनी दीप्तिवान हो रही है । राम काल के रीछ वानर, कोल भील, गीध, गिलहरी जिस आदर्शवादिता को अपना रहे थे उसे देखकर यह जाना जा सकता था कि सूक्ष्म जगत में अवतार की ऊर्जा किस आवेग के साथ काम कर रही है । कृष्ण काल के पाण्डव और ग्वाल-बाल इसी तथ्य का प्रमाण प्रस्तुत करते थे । बुद्ध काल के परिव्राजक और गान्धी काल के सत्याग्रहियों की गतिविधियों से भी यही सिद्ध होता था कि अवतार का आवेश दिव्य आत्माओं पर उतरता है और उनके शरीर से वही करा लेता है जो उसे अभीष्ट है ।

प्रज्ञावतार का आवेश उसके प्रभाव से अनुप्राणित परिव्राजकों-समयदानियों की बढ़ती हुई संख्या और उठती हुई श्रद्धा को देखकर सहज ही आँका जा सकता है । इस वर्ग से सन्त, सुधारक और शहीद के तीनों ही तत्व असाधारण मात्रा में बढ़ते उभरते देखे जा सकते है । आदर्शवादी, निष्ठावान् और पराक्रमी सृजन शिल्पियों का बाहुल्य उनकी गतिविधियों का अनुकरणीय सत्प्रवृत्तियों का सम्वर्धन यह बताता है कि निराकार प्रज्ञावतार अपने अनुकूल और अनुरूप आत्माओं को नियत दिशा धारा में नियोजित करके अभीष्ट की पूर्ति का वातावरण बनाने मे अपनी तत्परता दे रहा है ।

युगान्तरीय चेतना का अवतरण सुनिश्चित

सामान्य बुद्धि इसी निष्कर्ष पर पहुँचती है कि सुविधा साधन बढ़ने मनुष्य को सुख शान्ति मिलनी चाहिए और अधिक प्रसन्नता तथा प्रगति का अवसर मिलना चाहिए। इसी आधार पर अधिक समृद्धि उपलब्ध करने के लिए नाना प्रकार के उचित अनुचित प्रयत्न करने में लगे रहते हैं। इन दिनों मान्यता एवं चेष्टा और अधिक बढ़ गई है। साम्यवादी प्रतिपादनों ने पिछले दिनों यह घोषणा बहुत जोरों से की है कि संसार की समस्त कठिनाइयों का प्रधान कारण धन की कमी है। धन बढ़ेगा तो समस्त कठिनाइयाँ स्वयं ही समाप्त हो जायेंगी। इसके लिए अधिक उत्पादन पर जितना ध्यान दिया जाना चाहिये था उतना नहीं दिया गया वरन् धनिकों को गरीबी का कारण ठहरा कर वर्ग संघर्ष खड़ा कर दिया है जो हो, लक्ष्य धन की अभिवृद्धि ही रही।

पूंजीवादी क्षेत्रों में भी अर्थ सम्वर्धन के लिए कम प्रयत्न नहीं किये गये। हर देश में अपने-अपने ढंग से समृद्धि सम्बर्धन के प्रयत्न चल रहे हैं। विज्ञान ने इस निमित्त अनेकानेक आविष्कार किये हैं और सफल सम्वर्धन ही नहीं अर्थ उपार्जन के लिए भी अनेकानेक उपकरण आधार विनिर्मित किये हैं। शिल्पी, व्यवसायी, अर्थशास्त्री अपनी आमदनी का अधिकांश भाग धन उपार्जन के निमित्त ही लगाते रहे हैं। इसमें सफलता भी कम नहीं मिलती पूर्वजों की तुलना मे अपनी पीढ़ी कहीं अधिक समृद्ध है। सुविधा साधनों की दृष्टि से इस समय पीढ़ी के लोग इतने सौभाग्यशाली हैं जितने सृष्टि के आरम्भ से लेकर अपनी शताब्दी के मध्यकाल में कभी नहीं रहे। गरीबी दूर नहीं हुई। कारण यह नहीं है कि ४०० करोड़ मनुष्य की उचित आवश्यकता पूरी कर सकने के लिए आवश्यक सुविधा साधन उपलबध नहीं है। वरन् यह है कि उनके संचय की ललक और उपभोग की लिप्सा ने सम्पत्ति का सदुपयोग संभव नहीं रहने दिया। साधनों की वृद्धि तेजी से जारी है। सम्पन्नता बढ़ रही है। इतने पर भी यह आशा नहीं बँधती कि प्रस्तुत कठिनाइयों का कोई हल निकलेगा। अमेरिका जैसे धन कुबेर इस बात के साक्षी है कि बहुत वैभव होने पर भी मनुष्य शारीरिक और मानसिक दृष्टि से किस तेजी के साथ दुर्बल एवं रुग्ण होते चले जा रहे हैं। पारिवारिक और सामाजिक जीवन में उन्हें कितनी भारी कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। बढ़ते हुये मनोरोग और उन्माद यह बताते हैं कि बढ़ा हुआ वैभव भी व्यक्ति को सुखी एवं सन्तुष्ट बनाने में कुछ अधिक कारगर सिद्ध नहीं हो रहा है।

यहाँ वैभव वृद्धि की अनुपयोगिता नहीं ठहराई जाती है और उन प्रयत्नों के विरुद्ध कुछ नहीं कहा जा रहा है। सम्पत्ति बढ़ना तो मनुष्य के कौशल एवं पुरुषार्थ का ही प्रतिफल है अस्तु उसे सराहनीय ही कहा जायगा। बात यह हो रही है कि पिछली धरोहर के लिए लोग आज की तुलना में कहीं अधिक अभाव ग्रस्त थे। उनमें से कुछ जीवित रहे होते तो आज बड़ी-बड़ी सुविधाओं को देखते और अपने समय की परिस्थितियों के साथ तुलना करते तो उन्हें यह समय चमत्कारी समृद्धि सिद्धियों से भरा पूरा प्रतीत होता रेल, तार, डाक जहाज, मोटर, सड़क, शिक्षा, चिकित्सा, शिल्प, कला व्यवस्था आदि की जो बढ़ोत्तरी हुई है उसे देखते हुये पिछली पीढ़ी वाले यही कल्पना कर सकते हैं कि इन दिनों के लोग देवोपम जीवन जी रहे है और स्वर्गीय परिस्थितियों का आनन्द ले रहे होंगे।

स्थिति बिल्कुल उल्टी है। व्यक्ति दिन-दिन शारीरिक, मानसिक और आन्तरिक हर क्षेत्रों में दुर्बल पड़ता जा रहा है। रुग्णता और दुर्बलता एक फैशन एवं प्रचलन है यद्यपि पौष्टिक खाद्य पदार्थों और चिकित्सा साधनों की कोई कमी नहीं है। उसी प्रकार मस्तिष्कीय विकास के लिए पाठशालाओं से लेकर पुस्तकों तक के अगणित साधन उपलब्ध हैं। रेडियो, अखबार, प्रदर्शनी, सभा सम्मेलन आदि की सुविधा से जानकारी का क्षेत्र तेजी से बढ़ रहा है।

अशिक्षा के विरुद्ध युद्धस्तरीय प्रयत्न चल रहे हैं और विज्ञ एवं कुशल लोगों की संख्या तूफानी गति से बढ़ रही है। इतने पर भी मनोरोग, द्वेष, चिन्तन, दुर्भाव, अनुपयुक्त महत्वाकांक्षा, निकृष्टता में अनुभूति जैसे अनेकों ऐसे आधार खड़े हो गये हैं जिनके कारण जन मानस में असंतुलन उद्वेग एवं आक्रोश उत्पन्न करने वाले तत्वों की ही भरमार है। अधिकांश जनमानस संतोष और शान्ति से वंचित हैं। प्रसन्नता एवं प्रफुल्लता के लक्षण अपवाद रूप से नहीं दृष्टिगोचर होते हैं। हर व्यक्ति खिन्न, चिन्तित, उदास दृष्टिगोचर होता है। न उमंगे हैं न आशा। आशंकाओं और समस्याओं के भार से हर मनुष्य का मस्तिष्क तनाव ग्रस्त दीखता है। असुरक्षा और एकाकीपन का भार इतना लद रहा है कि जिन्दगी भारी लाश की तरह ढोनी पड़ रही है। बढ़ी हुई विपन्नता में हताशी, आत्म हत्याओं का

रहा है। अर्ध हत्या, अर्ध आत्म हत्या की घटनायें तो पग-पग पर देखी जा सकती हैं विक्षिप्त और अर्ध विक्षिप्त-सनकी और वह भी लोगों की संख्या इस तेजी से बढ़ रही है कि स्वास्थ्य और संतुलित मनःस्थिति वाले व्यक्ति खोज निकालना कठिन दीखता है। बाहर से चतुर और बुद्धिमान सुशिक्षित और सम्पन्न दीखने वाले व्यक्ति भी भीतर ही भीतर इतने खोखले और उथले पाये जाते हैं कि कई बार तो उनके सुशिक्षित होने में भी संदेह होने लगता है।

पारिवारिक स्नेह सौजन्य सहयोग सौहार्द घटते-घटते समाप्ति के बिन्दु तक जा पहुँचा है। माता-पिता और संतान के बीच भाई बहिनों में भावज नन्द जैसी आत्मीयता होती जा रही है उसका दर्शन दुर्लभ हो रहा है। एक बाड़े में रहने वाली भेड़ो की तरह कुटुम्बों में कई व्यक्ति रहते तो हैं पर एक दूसरे पर प्यार और सहयोग बखेरने के स्थान पर अपनी-अपनी गोटी बिठाने में लगे रहते हैं परिवार संस्थान अधिकाधिक लाभ उनसे उसी प्रकार उठाया जा सकता है घर का हर सदस्य इतना ही सोचता है। अधिकार की मांग है और कर्तव्य की उपेक्षा। फलतः परिवार नीरस निरानंद हो चले हैं। दुकान दफ्तर से लौटने पर घर मे जो स्वर्गीय आनन्द मिल सकता है उससे अधिकांश लोग वंचित है। थकान मिटाने के नाम पर नशा, सिनेमा यारवासी जैसे घटिया आधार ढूँढने के लिए लोग प्रायः बचे हुये समय को भी बाहर ही बिताते हैं।

पति पत्नी का रिश्ता एक प्राण दो देह का माना जाता है। जीवन रथ को अग्रगामी बनाने में दोनों को दो पहियों की भूमिका निभानी चाहिए। नाव खेने में दो हाथ काम देते हैं वही गृहस्थ की सुव्यवस्था में पति-पत्नी का योगदान होता है दोनों को एक मन होकर समन्वित जीवन जीना पड़ता है। किन्तु लगता है वे आदर्श समाप्त प्रायः हो गये। यौन लिप्सा ही वह आधार रह गया है जिस में दोनों एक दूसरे के साथ जुड़े रहते हैं। इसी प्रसंग में बच्चे आ सकते है और उनके प्रति जो प्रकृति प्रदत्त माया मोह होता है उस सूत्र से भी पति पत्नी किसी प्रकार बंधे रहते हैं। यदि यौन आकर्षण और बालकों का मोह हटा लिया जाय तो सहज सौजन्य से प्रेरित भाव भरा दम्पत्ति जीवन कदाचित ही कहीं दृष्टिगोचर होगा समृद्ध देशों में स्वच्छन्दता के कारण ही पिछड़े देशों में विवशता के कारण ही पति पत्नी के बीच काना कुबड़ा स्नेह संबंध जीवित रह रहा है। परिवार टूटते जा रहे है। वयस्क होते ही हर किसी को अलग रहने की बात सूजती है मजबूरी से जो साथ रहते हैं उन्हें भी सोचना यही पड़ता है कि सम्मिलित कुटुम्ब के सदस्य रहते तो अच्छा होता। पढी लिखी लड़कियों और उनके अभिभावक विवाह संबन्ध जोड़ने के साथ ही यह सोचते हैं कि बड़े कुटुम्ब का सदस्य बन कर न रहना पड़े। विलगाव के इस प्रयत्न में पारिवारिक जीवन जिसे घरौंदो में बसने वाला स्वर्ग कहा जाता था एक प्रकार से छिन्न भिन्न अस्त व्यस्त और नष्ट भ्रष्ट ही होता चला जा रहा है। इस सौभाग्य से वंचित रहने पर लोग सराय में दिन बिताने वाले आवारागिर्द लोगों की तरह दिन गुजारते हैं। गृहस्थ जीवन का भावात्मक आनंद कितना उच्चस्तरीय होता है इसकी अनुभूति ही नहीं कल्पना भी लोगों के हाथ से छिनती जा रही है।

आर्थिक दृष्टि से प्रायः सभी लोग दरिद्री हैं। अभाव ग्रस्त लोग स्वतंत्र आजीविका के कारण जितने खिन्न पाये जाते हैं, उससे अधिक उद्विग्न वे हैं जिनके पास साधनो का बाहुल्य है। धन कमाना एक बात है और उसका सदुपयोग करना बिल्कुल दूसरी। एक पक्ष तो बढ़ रहा है पर दूसरे की दुर्दशा ने सारा संतुलन ही बिगाड़ दिया। विलासिता, आलस्य, बनावट, शान शौकत की मदें इतनी खर्चीली हो रही है कि भोजन वस्त्र जैसे आवश्यक व्यय तो उनकी तुलना में नगण्य जितने ही लगते हैं। अहंकार और बड़प्पन सहोदर जैसे बनते जा रहे हैं। सम्पन्नता की धारा दुर्व्यसनों के गर्त में गिरती है और उसकी प्रतिक्रिया से अनेकानेक आचरण एवं विग्रह उत्पन्न होते हैं आजीविका सीमित है और लिप्सा असीम तो फिर ऋणी बनने या कुकर्म करके उपार्जन करने के अतिरिक्त और कोई उपाय ही नहीं रह जाता। सामाजिक कुरीतियों की लाश ढोने में भी अर्थ-व्यवस्था की कमर टूटती है। उचित से काम नहीं चलता तो अनुचित उपार्जन किया जाता है और अपराधी स्तर को कमाई का एक बड़ा साधन बनाया जाता है। इतने पर भी कितने लोग है जो आर्थिक दृष्टि से अपने को सुख संतुष्ट कह सकें। धनी निर्धन सभी को अर्थ संकट से गुजरने की शिकायत है।

समाज व्यवस्था का ढाँचा ऊपर से तो किसी प्रकार कागज से बने विशालकाय पुतले की तरह खड़ा है पर उसके भीतर खोखलेपन के अतिरिक्त और कुछ शेष नहीं। भित्रता की आड़ में जितना छल छद्म चलता है उतनी घात दुश्मन भी नहीं लगा पाते। संबन्धियों के बीच किस प्रकार बुनने उधेड़ने की दुरभि संधियाँ चलती हैं उसे विवाह शादियों में होने वाले लेन देन को देखकर भली प्रकार

समझा जा सकता है। ग्राहक और विक्रेता के मध्य अक्सर और प्रजाजन के मध्य—जिस प्रकार की सदाशयता युक्त आदान प्रदान होना चाहिए। उसके दर्शन दुर्लभ हो रहे हैं मूल्य, तौल, स्तर के सम्बन्ध में ग्राहक को सदा छल की आशंका ही बनी रहती है। अधिकारी और प्रजाजनों के मध्य उचित सहयोग का आधार रिश्वत पर केन्द्रित होता जा रहा है। पड़ौसी से हर घड़ी चौकन्ना रहना होता है। परदेश में अपरिचितों के बीच वही जिन्दा रह सकता है जो किसी के साथ कुछ समय रहने पर समुचित सतर्क रह सके। विश्वास करने वाले और निश्चिन्त रहने वाले पग-पग पर जोखिम उठाते हैं। सेवक स्वामी के बीच का रिश्ता अब समाप्त हुआ ही समझना चाहिए। दोनों के मध्य सद्भावना सूत्र टूट चुके। मालिक को सर्प पालने की तरह सतर्क रहना होता है नौकर को हर घड़ी शीर्षक के साथ रहने जैसे अप्रिय लगता है। पारिवारिक सहयोग से समृद्धि और व्यवस्था बढ़ सकती है उसकी संभावना निरन्तर घटती जा रही है। श्रम संकट आज के समाज की इतनी विकट समस्या है कि उसकी उलझन में समृद्धि की सम्भावना को बेतरह धूमिल कर दिया है।

समाज के प्रथा प्रचलनों को देखते हुए लगता है कि इस प्रमाद में बहने वाले जन समाज को विपत्तियों के गर्त में ही गिरा रहना पड़ेगा। नशे बाजी फैशन परस्ती, विलासिता धूर्तता, उच्छृङ्खलता जैसे प्रचलन सभ्यता के अंग बन चले हैं। यों कहने को तो अपने समय को तर्क और बुद्धि का युग कहा जाता है पर अन्धविश्वासों और कुरीतियों का परिष्कार जितने उत्साह के साथ इन दिनों बढ़ रहा है उतना कदापि पिछले दिनों के उस समय में भी न रहा हो जिसे अनगढ़ आदिम काल कहते हैं।

बुद्धिमत्ता और पूर्णता का यह विचित्र समन्वय देखते ही बनता है। ज्योतिषीन्तात्रिक, भविष्य वक्ता जादूगरों ने जिस प्रकार धर्म और अध्यात्म को ग्रस्त लिया है उसे देखते हुए लगता है विवेक का अरुणोदय अभी भी बहुत दूर है। भ्रान्तियों से छुटकारा पाने की शुभ घड़ी आने में अभी भी बहुत दिन प्रतीक्षा करनी पड़ेगी ऐसा लगता है। जाति लिंग के असमानता आर्थिक विषमता, क्षेत्रीय संकीर्णता, मत वादियों की कट्टरता आहार विहार की शैली, विनोद की व्यवस्था, चिन्तन की धारा आदि की स्थिति को देखते हुये लगता है जिस मध्य कालीन अन्धकार युग को कोसा जाता है, उसमें वह अभी भी यथावत् विद्यमान है। उसने मात्र अपना पुराना चोला उतारा और तथा जामा नया पहना है। समाज प्रवाह के आधार पर सामान्य जन मानस ढलता है और लोक प्रवृत्तियाँ पनपती हैं। यदि उसमें आमनवी तत्व ही भरे रहें तो फिर यह आशा करना व्यर्थ है कि शालीनता को लोग अपने जीवन व्यवहार में स्थान दे सकेंगे। समाज का स्तर उस क्रम से नीचे गिरता जा रहा है उसे देखते हुए लगता है आदर्शवादी सिद्धान्त लिखने पढ़ने और सुनने तक ही सीमित बनकर रह जाता है। शासन व्यवस्था प्राकान्तर से समस्त व्यवस्था का ही दूसरा नाम है। प्राय: समाज को श्रेष्ठ शासन मिलने की आशा नहीं ही करनी चाहिए।

ऊपर की पंक्तियों में व्यक्ति के सामने प्रस्तुत कठिनाइयों और विपत्तियों का चित्रण किया गया है। अधिकांश जनसंख्या को इन्हीं समस्याओं और कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। जन-जीवन में शान्ति और व्यवस्था की प्रगति और प्रसन्नता की सम्भावनाएं घटती जा रही हैं।

सामूहिक जीवन में शासन तन्त्र की प्रधानता है। सरकारें अपने संकीर्ण स्वार्थों की पूर्ति के लिए दूसरे देशो के प्रति जो रबैया बनाती हैं उससे शोषण आधिपत्य, विग्रह और युद्ध का कुचक्र ही गतिशील होता है। शीत युद्ध तो कूट नीति का ध्वज ही ठहरा। गरम युद्ध की आशंका बढ़ रही है। अणु आयुध विपक्त जैसी दाहक किरणें रासायनिक युद्ध जैसे उत्पादनों का चरम सीमा तक जा पहुँचना यह बताता है कि कोई भी एक पागल अनंत काल की श्रम साधना से संचित मानवों का अंत चुटकी बजाने जितने समय में कर सकता है। तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या ने यह संकट सामने खड़ा कर दिया है कि एक शताब्दी में ही जीवन यापन के लिए आवश्यक अन्न, जल वस्त्र निवास जैसे साधन मिलना कठिन हो जायेगा। जन संख्या जिस तेजी से बढ़ रही है उस अभिवृद्धि का भार उठा सकने की क्षमता अपनी धरती शताब्दी पूरी होते-होते गँवा बैठेगी। कारखाने जिस अनुपात से प्रदूषण और विकिरण उत्पन्न करते हैं उसका प्रभाव मनुष्यों का शारीरिक एवं मानसिक संतुलन स्थिर नहीं रख सकता, शरीर और मन की बढ़ती हुई दुर्बलता, प्रकृति का दबाव और विकृति प्रलनों का दबाव कहाँ तक सहन कर सकेगी इसमें भारी संदेह है। विनाश की ऐसी अगणित विभीषिकायें है जिन्हे काल्पनिक नहीं वास्तविक ही माना जायगा।

प्रगति और शान्ति के लिए कुछ नहीं किया जा रहा है या उस स्तर के प्रयासों की कोई उपलब्धि नहीं है यह कहा जा रहा है। लक्ष्य इतना ही प्रस्तुत किया जा रहा है कि सृजन से ध्वंस की गति तीव्र होने के कारण दिवालिया

होने और ऐसी विपत्ति में फंस जाने की ही सम्भावना अधिक है जिससे निकल सकने के लिए नई सृष्टि की शुभ घड़ी आने के लिए लम्बी प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।

विपत्तियाँ भौतिक क्षेत्र में बढ़ रही हैं और विकृतियों से आत्मिक क्षेत्र उद्विग्न होता जा रहा है। सुधार और बचाव के प्रयास अपेक्षा कृत बहुत धीमे हैं। लगता है मनुष्य द्वारा अन्यमनस्क भाव से किया गया आधा अधूरा प्रयास वर्तमान की समस्याओं को सुलझाने तथा भविष्य की विभीषिकाओं को परास्त करने में सफल नहीं हो सकेगा, एक गज जोड़ने के साथ-साथ दस गज टूटने का क्रम चल रहा है। ऐसी दशा में विश्व को महाविनाश के गर्त में जा गिरने की ही आशंका है।

अवतार ऐसे ही समय में प्रकट होते हैं। मनुष्य का बाहुबल थक जाता है और विनाश की आशंका बलवती हो जाती है तो प्रवाह को उलटने का पुरुषार्थ महाकाल ही करता है। सृष्टि को अपनी उस सुरम्य विश्व वाटिका को दर्द भरा आवसन सहन नहीं हो सकता। वे धर्म से गिलानी और अधर्म की अभिवृद्धि को एक सीमा तक ही सहन कर सकते हैं। मानवी पुरुषार्थ जब संतुलन बनाये रहने में असफल होता है तो व्यवस्था को भगवान स्वयं संभालते हैं। राष्ट्रपति शासन तभी लागू होता है जब राज्य की सामान्य व्यवस्था लड़खड़ा जाती है। पागलों और बालकों के अधिकार का उत्तरदायी किन्हीं अन्य संस्था को सौंप दिया जाता है। इन दिनों ऐसा ही होने जा रहा है। महाकाल की चेतना सूक्ष्म जगत में ऐसी महान हलचलें विनिर्मित कर रही है जिसके प्रभाव परिणाम को देखते हुए उसे अप्रत्याशित और चमत्कारी ही माना जायगा। अवतार सदा ऐसे ही कुसमय में होते रहे हैं जैसे कि आज है। अवतारों ने लोक चेतना में ऐसी प्रबल प्रेरणा भरी है जिससे अनुपयुक्त को उपयुक्त में बदल देने की उत्साह लगने वाली संभावना सरल हो सके। दिव्य चक्षुओं की युगान्तरीय चेतना को गंगावतरण की तरह धरती पर उतरते देखा जा सकता है। चर्म चक्षुओं को भी कुछ ही दिनों में अवतार के लीला संदेह का परिचय प्रत्यक्ष एवं सुनिश्चित रूप से देखने को मिलेगा।

आस्था संकट की विभीषिका और उससे निवृत्ति

यों प्रकृति के उतार चढ़ाव भी प्राणियों को प्रभावित करते हैं और उन कारणों से भी उन्हें कई प्रकार की सुविधा, असुविधाओं को सहन करना होता है। किन्तु यह तथ्य सामान्य प्राणियों पर ही अधिकतर लागू होता है। मनुष्य की विलक्षण बुद्धि उसे प्रकृति के प्रतिकूल प्रभाव से बच निकलने और अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न करने में सहायता करती रहती है। मनुष्य प्रकृति पर पूर्णतया आधिपत्य तो स्थापित नहीं कर सकेगा पर इतना अवश्य है कि अनुकूलन में बहुत बड़ी सफलता प्राप्त कर ली है। इस सफलता का स्तर और अनुपात अगले दिनों घटेगा नहीं बढ़ता ही जायगा।

इस तथ्य की चर्चा यहाँ इसलिए की जा रही है कि इन दिनों मनुष्य के सामने प्रस्तुत वैयक्तिक और सामूहिक कठिनाइयों का कारण खोजते समय कहीं प्रकृति की प्रतिकूलता को दोषी न ठहराया जाने लगे। बहुत भाग्यवादी लोग ऐसा ही कुछ कहते सुने जाते हैं कि ग्रह-नक्षत्रों ने, विधि-विधान ने, प्रकृति परिस्थितियों ने मनुष्य के सामने कठिनाइयाँ उत्पन्न की और वह उनके प्रभाव से विपत्तियों में फँस गया। सुविधा, सम्वर्धन के अवसरों पर भी इसी प्रकार श्रेय आकस्मिक परिस्थितियों को दिया जाने लगता है। ऐसा कभी-कभी अपवाद जितना भले ही होता हो, आमतौर से मानवी चिन्तन और प्रयास ही भली-बुरी परिस्थितियों के लिए उत्तरदायी होता है। प्रकृति की प्रतिकूलता की कभी किसी सीमा तक कारण होती है, पर मनुष्य को परिस्थितियों से जूझने का इतना अनुभव प्राप्त है कि वह उनसे सुरक्षा के उपाय किसी न किसी प्रकार खोज ही लेता है। प्रकृति संघर्ष के लम्बे इतिहास में सृष्टि के आरम्भ से लेकर अब तक का घटनाक्रम साक्षी है कि मनुष्य हारा नहीं। जीता भले ही न हो पर तालमेल बिठा लेने में उसे आशाजनक सफलता दिलाने में बुद्धि-कौशल ने सदा सर्वदा अपना चमत्कार दिखाया है।

जमाना बुरा है। कलियुग का दौर है। परिस्थितियाँ कुछ ऐसी ही बन गईं। भाग्य चक्र प्रतिकूल रहा, जैसे कारण बताकर मन तो हलका किया जा सकता है, पर उससे समाधान कुछ नहीं निकलता। मूर्धन्य राजनेताओं, दार्शनिकों, सेनापतियों, धर्माचार्यों, धनिकों को भी प्रतिकूलताओं के लिए दोषी तो ठहराया जा सकता है, पर यह नहीं कहा जा सकता है कि जन-मानस सर्वथा निर्दोष है। तथ्य यह है कि मू [illegible] व्यक्ति भी आकाश से नहीं टपकते, जन-समाज में [illegible] हैं। लोक-मानस क [illegible] भाएँ [illegible] र उन्हें दिशा प्रदान [illegible] अपने [illegible] अन्तःचेतना [illegible] । वे

हैं कि व्यक्तित्व का स्तर बनता है और उस आधार पर विनिर्मित हुई प्रतिभा अपना चमत्कार दिखाती है। मूर्धन्यो के उभरने और पुरुषार्थ की दिशा अपनाने का यही तत्व ज्ञान है। परिस्थितियों को दोष या श्रेय देने को तो किसी को भी दिया जा सकता है, पर मूल कारण ढूँढना और तथ्य तक पहुँचना हो तो यही निष्कर्ष निकलेगा कि व्यक्ति का अन्तराल ही प्रगति एवं अवगति के लिए उत्तरदायी है। आज की विषम परिस्थिति को बदलने की जो आवश्यकता समझते हैं उन्हें कारण की तह तक पहुँचना होगा। अन्यथा सूखते, मुरझाते पेड़ को हरा बनाने के लिए जड़ की उपेक्षा करके पत्ते सींचने जैसी विडम्बना चलती रहेगी और थकान के अतिरिक्त और कुछ भी पल्ले न पड़ेगा।

आमतौर से मनुष्य की कृतियों को परिस्थितियों के लिए उत्तरदायी माना जाता है। प्रत्यक्षवादी को इतना ही दीखता है। किन्तु जो गहराई तक उतर सकते हैं उन्हें प्रतीत होगा कि शरीर जड़ पदार्थों का बना है, वह उपकरण मात्र है। उसमें क्रियाशीलता तो है, पर यह विवेक नहीं कि क्या करें, क्या न करें। यह निर्धारण मन को करना होता है। शरीर मन का आज्ञानुवर्ती सेवक है। मन के इशारे पर ही उसके समस्त क्रिया-कलाप चलते हैं। भली-बुरी आदतें यों देखने में तो शरीर के अभ्यास में जुड़ी प्रतीत होती हैं, पर वास्तविकता यह है कि गुण, कर्म, स्वभाव का सारा ढाँचा मनःक्षेत्र में खड़ा रहता है, शरीर को तो उस बाजीगर के इशारे पर कठपुतली की तरह हरकत भर करनी होती है। शरीर से की गई हर क्रिया के लिए मानसिक स्तर को ही कारण मानना होगा।

इससे भी अगली परत एक और है जहाँ पहुँचने पर व्यक्तित्व के आधार भूत मर्मस्थल को जाना जा सकता है। यह है आस्था केन्द्र-अन्तःकरण। यही भाव सम्वेदनाएँ उठती हैं। रुचि और इच्छा का निर्माण यहीं होता है। साधारण बुद्धि तो शरीर द्वारा किये गये कर्मों को ही परिस्थिति उत्पन्न करने वाला कारण मानती है। सूक्ष्म दृष्टि की खोज आगे तक जाती है और वह मानसिक स्तर को-विचार विन्यास को महत्त्व देती है। इससेआगे तथ्यान्वेषी प्रज्ञा का विवेचन प्रतिपादन आरम्भ होता है। वह व्यापक परिस्थिति के लिए लोगों की कृतियों और विचारणाओं को एक सीमा तक उत्तरदायी मानती है। उसका अन्तिम निर्णय यही होता है कि अन्तःकरण का स्तर ही विचार समुच्चय में से अपने अनुकूलों को अपनाता है और आन्तरिक उमंगें हैं। काया को किसी दिशा विशेष मे विचारणा एवं क्रियाशीलता को वे ही प्रभावित करती हैं। व्यक्ति जो कुछ सोचता या करता है वस्तुतः वह सब कुछ आस्था एवं आकांक्षा के उद्गम केन्द्र-अन्तःकरण का ही निर्देश होता है।

सामान्य परिस्थितियाँ सभी के लिए एक जैसी होती है। साधन सुविधा के अवसर किसी-किसी को तो पैतृक उत्तराधिकार में या आकस्मिक कारणों से भी मिल जाते हैं, पर आमतौर से सारा उपार्जन मनुष्य की आन्तरिक अभिरुचि के अनुरूप होता है। यही है चुम्बकत्व का वह उद्गम केन्द्र जो अपने स्तर के विचारों, साधनों, व्यक्तियों को आकर्षित-आमन्त्रित करता है। यही है व्यक्तित्व की वास्तविक पूंजी या कुंजी। कहने को तो यही कहा जाता है कि जो जैसा सोचता है वह वैसा बनता है, पर वास्तविकता यह है कि जिसकी आकांक्षा जिस स्तर की होती है उसे उसी स्तर के विचार चुनने, अपनाने होते हैं। मन में जो विचार जम जाते हैं वे ही शरीर को अपनी मन मर्जी पर शिल्पी के उपकणों की तरह हिलाते घुमाते रहते हैं।

गीताकार ने इस आत्यंतिक सत्य का रहस्योद्घाटन करते हुए कहा है—"श्रद्धा मयोयं पुरुषायो यच्छ्रद्धः स एव स।" व्यक्तित्व श्रद्धा का ही प्रतिफल है। जिसकी जैसी श्रद्धा है उसका स्तर ठीक तदनुरूप ही होता है।

मनुष्यों की आकृति और नित्यकर्म प्रक्रिया प्रायः एक जैसी होती है। शरीर सभी के आहार-विहार की पद्धति लगभग एक जैसी ही अपनाते हैं। नहाने, खाने, सोने, जागने जैसी हरकतें और अनुकूल सुविधा साधन पाने के लिए सभी समान रूप से इच्छुक रहते है। ऋतु प्रभाव से लेकर समय का प्रभाव भी सभी को समान रूप से प्रभावित करता है। थोड़ा-बहुत अन्तर भले ही हो प्रगति के लिए अवसर हर मनस्वी को उपलब्ध रहते हैं। ऐसी दशा मे किसी का पिछड़ेपन से घिरा रहना—किसी का दिन गुजारना, किसी का प्रगतिशील होना- किसी को महामानवों जैसी मूर्धन्य स्थिति प्राप्त करना—आश्चर्यजनक लगता है। इस आकाश, पाताल जैसे अन्तर का एकमात्र कारण अन्तराल में अवस्थित आस्थाएँ एवं आकांक्षाएं ही होती है। वे ही जीवन-क्रम की दिशा धारा निर्धारित करती हैं।

एक ही प्रसंग में असंख्य प्रकार की विचारधाराओं का प्रचलन है। उनमें से किन्हें चुना जाय, इसका फैसला अन्तराल अपनी आस्थाओं एवं आकांक्षाओं के अनुरूप करता है। क्या साधन ढूँढे जायें ? किन व्यक्तियों से सम्पर्क

आधिपत्य है। आदर्शों के प्रति न आस्था है, न आकांक्षा। उस स्तर की उमंगें उठती ही नहीं। उत्कृष्टता अपनाने में गर्व-गौरव की अनुभूति कर सकने वाली भाव सम्वेदना को ढूँढ निकालना अति कठिन हो रहा है। ऐसी दशा में आधे-अधूरे मन से श्रेष्ठता का लंगड़ा, लूला, समर्थन और उन्हें क्रियान्वित करने के अनुत्साह कोई ऐसे आधार खड़े नहीं कर सकते जिनके सहारे ध्वंस को निरस्त और सृजन को अग्रसर कर सकना सम्भव हो सके।

हम आस्था संकट के दुर्दिनों में रह रहे हैं। दुर्भिक्ष मात्र आस्थाओं का है। अन्य सभी वस्तुएँ मँहगे, सस्ते दाम पर विपुल परिमाण में खरीदी जा सकती हैं। समस्याओं का स्थूल उत्पत्ति क्षेत्र आर्थिक, राजनैतिक या सामाजिक प्रतीत होता है। अतएव इन्हीं को सुधारने के लिए आन्दोलन और संघर्ष खड़े किये जाते रहते हैं। स्वास्थ्य की गिरावट का कारण असंयम नहीं, विषाणुओं का आक्रमण माना जाता है। मनोरोगों का कारण उत्कृष्ट चिन्तन का अभाव नहीं स्वेच्छाचार का नियंत्रण बताया जाता है। अर्थ समस्या का समाधान श्रमशीलता और मितव्ययता का अभाव नहीं पूँजी का वितरण माना जाता है। अपराधों को रोकने के लिए आस्तिकता का, आध्यात्मिकता का तत्व-दर्शन हृदयंगम कराने की अपेक्षा की जाती है और पुलिस, कचहरी में समाधान सोचा जाता है। राजसत्ता के सुधार की जादुई छड़ी मानकर उस पर आधिपत्य करने के लिए हर महत्वाकांक्षी लालायित है। धर्मतन्त्र को परिष्कृत करने और उसके सहारे आस्थाओं से झंझट करने का मार्ग किसी को सूझता तक नहीं है। यह उथले प्रयत्न हैं। रक्त की विषाक्तता की उपेक्षा करके फुन्सियों पर पट्टी बाँधते रहने का रास्ता बहुत लम्बा है और अभीष्ट परिणाम की दृष्टि से नितान्त संदिग्ध। फिर भी घुड़दौड़ इन्हीं उथले प्रयत्नों के बवंडर खड़े करने में लगी हुई है। जड़ को खोजे बिना उथले प्रयत्न कितने दिनों में—किस सीमा तक सफल हो सकेंगे यह नितान्त अनिश्चित है।

यह हजार बार समझना और लाख बार समझाया जाना चाहिए कि अपने युग की अनेकानेक समस्याओं, विपत्तियों और विभीषिकाओं का एकमात्र कारण मानवी अन्तःकरण से सन्निहित रहने वाली [illegible] का अवमूल्यन है। सड़ी कीचड़ [illegible] कीटक, विषाणु और दुर्गन्ध [illegible] आत्यंतिक निराकरण नाली में [illegible] है।

हुई निकृष्टता को न हटाया जा सका—अन्तःकरण में उत्कृष्टता का स्तर न बढ़ाया जा सका—तो समझना चाहिए बालू से तेल निकालने की तरह सुधार परिवर्तन के समस्त प्रयास निष्फल ही होते रहेंगे। उज्ज्वल भविष्य दिवास्वप्न की तरह कल्पना का विषय ही बना रहेगा।

बाह्योपचारों के लिए कोई मनाही नहीं। वे होते हैं और होते रहने चाहिए। किन्तु महत्व अन्तःउपचार का भी समझा जाना चाहिए। युग परिवर्तन का वास्तविक तात्पर्य है अन्तःकरण में जमी हुई आस्थाओं का उत्कृष्टतावादी पुनर्निर्धारण, समस्त समस्याओं का समाधान इस एक ही उपाय पर केन्द्रित है क्योंकि गुत्थियों का निर्माण इसी क्षेत्र में विकृतियाँ उत्पन्न होने के कारण हुआ है। खाद्य संकट, ईंधन संकट, स्वास्थ्य संकट, सुरक्षा संकट की तरह आस्था संकट के व्यापक क्षेत्र और प्रभाव को भी समझा जाना चाहिए। युग की समस्याओं के समाधान में इससे कम में काम चलेगा नहीं और इससे अधिक और कुछ करने की आवश्यकता नहीं है। यों लोगों को आश्वासन देने की दृष्टि से सुधार और सम्वर्धन के बहिर्मुखी प्रयास भी चलते रहने चाहिए। किन्तु ठोस बात तभी बनेगी जब समष्टि के अन्तःकरण में उत्कृष्टता की आस्थाओं का आरोपण और अभिवर्धन युद्ध स्तरीय आवेश के साथ किया जायेगा। एक ही समस्या है और एक ही समाधान। मनुष्य इसे भले ही समझ न पाये, पर महाकाल की यथार्थता की जानकारी है। वह लोक-मानस में आस्थाओं को पुनर्जीवन प्रदान करने के लिए प्रज्ञावतार को भेज रहा है। उसका प्रधान उद्देश्य अनास्था को आस्था में बदल देना ही होगा।

समस्याओं के समाधान और भविष्य निर्धारण का सुनिश्चित आधार

शक्ति और साधनों की उपयोगिता से इनकार नहीं किया जा सकता। सुविधा सम्वर्धन की दृष्टि से उनका बाहुल्य निश्चित रूप से अभीष्ट है। इसलिए इन दोनों को व्यर्थ बताने या उपेक्षा करने का प्रश्न ही नहीं उठता। पराक्रम के लिए सामर्थ्य चाहिए और उपलब्धियों के लिए उपकरण। अस्तु इन दोनों का संचय-सम्वर्धन मनुष्य आदिम काल से ही करता रहा है और जब तक धरती पर उसका अस्तित्व है तब तक करता भी रहेगा। यह स्वाभाविक भी है, उचित भी और अभीष्ट भी।

किन्तु ध्यान रखने योग्य तथ्य यह है कि शक्ति एवं स[illegible] करने वाली चेतना का स्तर ऊँचा रहना

साधा जाय—किन परिस्थितियों में रहा जाय—किस प्रकार का वातावरण अपनाया जाय, इसका अन्तिम निर्णय बाहरी व्यक्ति नहीं करते । यह परामर्श या संगति वातावरण के कारण होती भर दीखती है । वास्तविकता यह है कि मनुष्य का 'स्व' उसके अन्तराल में प्रतिष्ठित रहता है । निर्णय निर्धारण यहीं से होते हैं । मन और शरीर स्वामिभक्त सेवक की तरह अन्त:करण की आकांक्षा को पूरा करने के लिए तत्परता और ईमानदारी के साथ लगे रहते हैं । एक ही परिस्थितियों में जन्मे और पले व्यक्तियों के सामने एक जैसे अवसर रहने पर भी उनकी दिशा धारा भिन्न दिशाओं में चलती हैं और ऐसे परिणामों पर पहुँचती है जिन्हें उन साथियों के मध्य आकाश, पाताल जैसे अन्तर के रूप में देखा जा सकता है । इस गूढ़ पहेली का समाधान एक ही है कि व्यक्तियों की आस्था ही उन्हें सोचने-करने के लिए विवश करती हैं और धकेलते-धकेलते भली या बुरी परिस्थितियों के दरबार में जा खड़ा करती हैं । तत्वदर्शियों का यह निष्कर्ष अक्षरश: सही है कि अन्त:करण ही व्यक्तित्व है । आस्थाएँ ही चिन्तन और चरित्र की दिशाधारा निर्धारित करती हैं । कौन किस प्रकार जिया और किन परिस्थितियों में रहा इसका निमित्त कारण उनके अन्त:करण का स्तर ही होता है। यही उत्थान पतन का भाग्य विधान लिखा जाता है । कदाचित् विधाता इसी मर्म केन्द्र को कहते हैं । भाग्य और भविष्य यदि वस्तुत: लिखा जाता होगा तो उसकी विधि पाठ अन्तराल के मर्मस्थल में ही प्रतिष्ठित होती होगी ।

कई बार परिस्थितियाँ भी किसी को कुछ से कुछ बना देती है, पर उन्हें अपवाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता । इतनी बड़ी विश्व बसुधा में बेतुके प्रसंगों का जब तब घटित होते रहना अप्रत्याशित नहीं है । अनुपयुक्तों को भी कई बार उच्चस्तरीय परिस्थितियाँ मिल सकती है। इसी प्रकार उपयुक्त व्यक्ति कुछ समय तक हेय परिस्थितियों में भी पड़े रह सकते हैं । इतने पर भी एक तथ्य सुनिश्चित है कि व्यक्ति के स्तर और परिस्थिति के बीच यदि विसंगति बन भी गई होगी तो वह अधिक समय ठहरेगी नहीं । न तो कुपात्र, श्रेष्ठता को स्थिर सुरक्षित रख सकते हैं और न श्रेष्ठ व्यक्तियों को देर तक हेय परिस्थितियों में घिरे रहना पड़ता है ।

प्राचीन काल और अर्वाचीन काल में जो तुलनात्मक विसंगतियाँ पाई जाती है उनका कारण परिस्थिति नहीं मन:स्थिति है । परिस्थिति की दृष्टि से आज सुविधा साधनों का बाहुल्य है । सम्पत्ति, शिक्षा, चिकित्सा, शिल्प, कला, व्यवसाय, विज्ञान आदि क्षेत्रों में हम अपने पूर्वजों की तुलना में कहीं अधिक समृद्ध, सौभाग्यशाली है, किन्तु स्वास्थ्य, सन्तुलन, स्नेह, सहयोग जैसे जीवन के सभी महत्वपूर्ण क्षेत्रोंमें श्मशान जैसी वीभत्स भयंकरता छाई हुई है । जबकि होना उलटा यह चाहिए कि लोग अधिक समृद्ध, सुसंस्कृत दिखाई पड़ते, प्रसन्न रहते और प्रसन्न रखते । उठते और उठाते । जो क्षमताएँ सृजन और सहयोग में नियोजित रहने पर संसार में स्वर्गीय वातावरण बना सकती थीं—वे ही एक-दूसरे को काटने-गिराने में लगी हुई है । यह दुरुपयोग कैसे बन पड़ा ? सृजन की धारा ध्वंस में कैसे जुट गई ? इस विडम्बना का कारण एक ही है—आदर्शवादी आस्थाओं का पलायन । अन्त:करण के स्तर का अवमूल्यन । इसी विपर्यय की प्रतिक्रिया व्यक्ति और समाज के सम्मुख खड़ी हुई अनेकानेक समस्याओं, विपत्तियां और विभीषिकाओं के रूप में दृष्टिगोचर हो रही हैं ।

प्राचीन काल में लोग स्वल्प साधनों से गुजारा कर लेते थे । आज की तुलना में उस समय की भारी अभाव ग्रस्तता भी उन्हें अखरती नहीं थी । कारण इतना ही था कि तब यह सोचा जाता था कि जीवन उच्चस्तरीय प्रयोजनों के लिए है । शरीर निर्वाह के लिए न्यूनतम साधन जुटाने में सन्तोष करने के उपरान्त क्षमताओं का समुच्चय सदुद्देश्यों में नियोजित रहना चाहिए । आदर्शवादी परम्पराओं को अपनाने में गर्व-गौरव अनुभव करना चाहिए । प्रसन्नता का आधार परमार्थ रहना चाहिए । यही वे मान्यताएँ हैं जिनके कारण हमारे महान पूर्वज अपने क्षेत्र में स्वर्गीय परिस्थितियाँ बनाये रहने के उपरान्त समस्त विश्व को अजस्र अनुदानों से लाभान्वित करते हुए, लोक श्रद्धा अर्जित करने की दृष्टि से देवमानव कहलाने का सौभाग्य पा सके ।

आज आस्थाओं का स्तर गिर गया । संकीर्ण स्वार्थपरता का विलासी परिपोषण जीवन का लक्ष्य बन गया है । वैभव के सम्पादन और उसका उद्धत प्रदर्शन-उच्छृंखल दुरुपयोग ही जन-जन को अभीष्ट है । आदर्शवादी कहने-सुनने भर का एक बुद्धि विलास बनकर रह गया है। समृद्धि बढ़ रही है और चातुर्य की मात्रा भी । न प्रतिभाओं की कमी है न कर्म कौशल को चरितार्थ कर सकने के अवसरों की । फिर भी श्रेष्ठता का सम्वर्धन और निकृष्टता का उन्मूलन बन नहीं पड़ता। इस सन्दर्भ में एक ही कठिनाई है कि लोक-मानस पर पशु-प्रवृत्तियों का ही

आधिपत्य है । आदर्शों के प्रति न आस्था है, न आकांक्षा। उस स्तर की उमंगें उठती ही नहीं । उत्कृष्टता अपनाने में गर्व-गौरव की अनुभूति कर सकने वाली भाव सम्वेदना को ढूँढ निकालना अति कठिन हो रहा है। ऐसी दशा में आधे-अधूरे मन से श्रेष्ठता का लंगड़ा, लूला, समर्थन और उन्हें क्रियान्वित करने के अनुत्साह कोई ऐसे आधार खड़े नहीं कर सकते जिनके सहारे ध्वंस को निरस्त और सृजन को अग्रसर कर सकना सम्भव हो सके ।

हम आस्था संकट के दुर्दिनों में रह रहे हैं । दुर्भिक्ष मात्र आस्थाओं का है । अन्य सभी वस्तुएँ मँहगे, सस्ते दाम पर विपुल परिमाण में खरीदी जा सकती हैं। समस्याओं का स्थूल उत्पत्ति क्षेत्र आर्थिक, राजनैतिक या सामाजिक प्रतीत होता है । अतएव इन्हीं को सुधारने के लिए आन्दोलन और संघर्ष खड़े किये जाते रहते हैं। स्वास्थ्य की गिरावट का कारण असंयम नहीं, विषाणुओं का आक्रमण माना जाता है । मनोरोगों का कारण उत्कृष्ट चिन्तन का अभाव नहीं स्वेच्छाचार का नियंत्रण बताया जाता है। अर्थ समस्या का समाधान श्रमशीलता और मितव्ययता का अभाव नहीं पूँजी का वितरण माना जाता है। अपराधों को रोकने के लिए आस्तिकता का, आध्यात्मिकता का तत्व-दर्शन हृदयंगम कराने की अपेक्षा की जाती है और पुलिस, कचहरी में समाधान सोचा जाता है । राजसत्ता के सुधार की जादुई छड़ी मानकर उस पर आधिपत्य करने के लिए हर महत्वाकांक्षी लालायित है । धर्मतन्त्र को परिष्कृत करने और उसके सहारे आस्थाओं से झंझट करने का मार्ग किसी को सूझता तक नहीं है । यह उथले प्रयत्न हैं । रक्त की विषाक्तता की उपेक्षा करके फुन्सियों पर पट्टी बाँधते रहने का रास्ता बहुत लम्बा है और अभीष्ट परिणाम की दृष्टि से नितान्त संदिग्ध । फिर भी घुड़दौड़ इन्हीं उथले प्रयत्नों के बवंडर खड़े करने में लगी हुई है । जड़ को खोजे बिना उथले प्रयत्न कितने दिनों में—किस सीमा तक सफल हो सकेंगे यह नितान्त अनिश्चित है ।

यह हजार बार समझना और लाख बार समझाया जाना चाहिए कि अपने युग की अनेकानेक समस्याओं, विपत्तियों और विभीषिकाओं का एकमात्र कारण मानवी अन्तःकरण से सन्निहित रहने वाली उच्चस्तरीय आस्थाओं का अवमूल्यन है । सड़ी कीचड़ में से मक्खी, मच्छर, कृमि कीटक, विषाणु और दुर्गन्ध के उभार उठते हैं । इनका आत्यंतिक निराकरण नाली में जमी हुई सड़न को धो डालना ही हो सकता है । आस्थाओं मे जड़ जमाये बैठी हुई निकृष्टता को न हटाया जा सका—अन्तःकरण में उत्कृष्टता का स्तर न बढ़ाया जा सका—तो समझना चाहिए बालू से तेल निकालने की तरह सुधार परिवर्तन के समस्त प्रयास निष्फल ही होते रहेंगे । उज्ज्वल भविष्य दिवास्वप्न की तरह कल्पना का विषय ही बना रहेगा ।

बाह्योपचारों के लिए कोई मनाही नहीं । वे होते हैं और होते रहने चाहिए । किन्तु महत्व अन्तःउपचार का भी समझा जाना चाहिए । युग परिवर्तन का वास्तविक तात्पर्य है अन्तःकरण में जमी हुई आस्थाओं का उत्कृष्टतावादी पुनर्निर्धारण, समस्त समस्याओं का समाधान इस एक ही उपाय पर केन्द्रित है क्योंकि गुत्थियों का निर्माण इसी क्षेत्र में विकृतियाँ उत्पन्न होने के कारण हुआ है । खाद्य संकट, ईंधन संकट, स्वास्थ्य संकट, सुरक्षा संकट की तरह आस्था संकट के व्यापक क्षेत्र और प्रभाव को भी समझा जाना चाहिए । युग की समस्याओं के समाधान में इससे कम में काम चलेगा नहीं और इससे अधिक और कुछ करने की आवश्यकता नहीं है । यों लोगों को आश्वासन देने की दृष्टि से सुधार और सम्वर्धन के बहिर्मुखी प्रयास भी चलते रहने चाहिए । किन्तु ठोस बात तभी बनेगी जब समष्टि के अन्तःकरण में उत्कृष्टता की आस्थाओं का आरोपण और अभिवर्धन युद्ध स्तरीय आवेश के साथ किया जायेगा । एक ही समस्या है और एक ही समाधान । मनुष्य इसे भले ही समझ न पाये, पर महाकाल की यथार्थता की जानकारी है। वह लोक-मानस में आस्थाओं को पुनर्जीवन प्रदान करने के लिए प्रज्ञावतार को भेज रहा है । उसका प्रधान उद्देश्य अनास्था को आस्था में बदल देना ही होगा ।

समस्याओं के समाधान और भविष्य निर्धारण का सुनिश्चित आधार

शक्ति और साधनों की उपयोगिता से इनकार नहीं किया जा सकता । सुविधा सम्वर्धन की दृष्टि से उनका बाहुल्य निश्चित रूप से अभीष्ट है । इसलिए इन दोनों को व्यर्थ बताने या उपेक्षा करने का प्रश्न ही नहीं उठता । पराक्रम के लिए सामर्थ्य चाहिए और उपलब्धियों के लिए उपकरण । अस्तु इन दोनों का संचय-सम्बर्धन मनुष्य आदिम काल से ही करता रहा है और जब तक धरती पर उसका अस्तित्व है तब तक करता भी रहेगा । यह स्वाभाविक भी है, उचित भी और अभीष्ट भी ।

किन्तु ध्यान रखने योग्य तथ्य यह है कि शक्ति एवं साधनों का उपयोग करने वाली चेतना का स्तर ऊँचा रहना

साधा जाय—किन परिस्थितियों में रहा जाय—किस प्रकार का वातावरण अपनाया जाय, इसका अन्तिम निर्णय बाहरी व्यक्ति नहीं करते। यह परामर्श या संगति वातावरण के कारण होती भर दीखती है। वास्तविकता यह है कि मनुष्य का 'स्व' उसके अन्तराल में प्रतिष्ठित रहता है। निर्णय निर्धारण यहीं से होते हैं। मन और शरीर स्वामिभक्त सेवक की तरह अन्तःकरण की आकांक्षा को पूरा करने के लिए तत्परता और ईमानदारी के साथ लगे रहते हैं। एक ही परिस्थितियों में जन्मे और पले व्यक्तियों के सामने एक जैसे अवसर रहने पर भी उनकी दिशा धारा भिन्न दिशाओं में चलती हैं और ऐसे परिणामों पर पहुँचती हैं जिन्हें उन साथियों के मध्य आकाश, पाताल जैसे अन्तर के रूप में देखा जा सकता है। इस गूढ़ पहेली का समाधान एक ही है कि व्यक्तियों की आस्था ही उन्हें सोचने-करने के लिए विवश करती हैं और धकेलते-धकेलते भली या बुरी परिस्थितियों के दरबार में जा खड़ा करती हैं। तत्वदर्शियों का यह निष्कर्ष अक्षरशः सही है कि अन्तःकरण ही व्यक्तित्व है। आस्थाएँ ही चिन्तन और चरित्र की दिशाधारा निर्धारित करती हैं। कौन किस प्रकार जिया और किन परिस्थितियों में रहा इसका निमित्त कारण उनके अन्तःकरण का स्तर ही होता है। यहीं उत्थान पतन का भाग्य विधान लिखा जाता है। कदाचित् विधाता इसी मर्म केन्द्र को कहते है। भाग्य और भविष्य यदि वस्तुतः लिखा जाता होगा तो उसकी विधि पाठ अन्तराल के मर्मस्थल में ही प्रतिष्ठित होती होगी।

कई बार परिस्थितियाँ भी किसी को कुछ से कुछ बना देती है, पर उन्हें अपवाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता। इतनी बड़ी विश्व बसुधा में बेतुके प्रसंगों का जब तब घटित होते रहना अप्रत्याशित नहीं है। अनुपयुक्तों को भी कई बार उच्चस्तरीय परिस्थितियाँ मिल सकती है। इसी प्रकार उपयुक्त व्यक्ति कुछ समय तक हेय परिस्थितियों में भी पड़े रह सकते हैं। इतने पर भी एक तथ्य सुनिश्चित है कि व्यक्ति के स्तर और परिस्थिति के बीच यदि विसंगति बन भी गई होगी तो वह अधिक समय ठहरेगी नहीं। न तो कुपात्र, श्रेष्ठता को स्थिर सुरक्षित रख सकते हैं और न श्रेष्ठ व्यक्तियों को देर तक हेय परिस्थितियों में घिरे रहना पड़ता है।

प्राचीन काल और अर्वाचीन काल में जो तुलनात्मक विसंगतियाँ पाई जाती हैं उनका कारण परिस्थिति नहीं मनःस्थिति है। परिस्थिति की दृष्टि से आज सुविधा साधनों का बाहुल्य है। सम्पत्ति, शिक्षा, चिकित्सा, शिल्प, कला, व्यवसाय, विज्ञान आदि क्षेत्रों में हम अपने पूर्वजों की तुलना में कहीं अधिक समृद्ध, सौभाग्यशाली हैं, किन्तु स्वास्थ्य, सन्तुलन, स्नेह, सहयोग जैसे जीवन के सभी महत्वपूर्ण क्षेत्रोंमें श्मशान जैसी वीभत्स भयंकरता छाई हुई है। जबकि होना उलटा यह चाहिए कि लोग अधिक समृद्ध, सुसंस्कृत दिखाई पड़ते, प्रसन्न रहते और प्रसन्न रखते। उठते और उठाते। जो क्षमताएँ सृजन और सहयोग में नियोजित रहने पर संसार में स्वर्गीय वातावरण बना सकती थीं—वे ही एक-दूसरे को काटने-गिराने में लगी हुई हैं। यह दुरुपयोग कैसे बन पड़ा? सृजन की धारा ध्वंस में कैसे जुट गई? इस विडम्बना का कारण एक ही है—आदर्शवादी आस्थाओं का पलायन। अन्तःकरण के स्तर का अवमूल्यन। इसी विपर्यय की प्रतिक्रिया व्यक्ति और समाज के सम्मुख खड़ी हुई अनेकानेक समस्याओं, विपत्तियां और विभीषिकाओं के रूप में दृष्टिगोचर हो रही हैं।

प्राचीन काल में लोग स्वल्प साधनों से गुजारा कर लेते थे। आज की तुलना में उस समय की भारी अभाव ग्रस्तता भी उन्हें अखरती नहीं थी। कारण इतना ही था कि तब यह सोचा जाता था कि जीवन उच्चस्तरीय प्रयोजनों के लिए है। शरीर निर्वाह के लिए न्यूनतम साधन जुटाने में सन्तोष करने के उपरान्त क्षमताओं का समुच्चय सदुद्देश्यों में नियोजित रहना चाहिए। आदर्शवादी परम्पराओं को अपनाने में गर्व-गौरव अनुभव करना चाहिए। प्रसन्नता का आधार परमार्थ रहना चाहिए। यही वे मान्यताएँ हैं जिनके कारण हमारे महान पूर्वज अपने क्षेत्र में स्वर्गीय परिस्थितियाँ बनाये रहने के उपरान्त समस्त विश्व को अजस्र अनुदानों से लाभान्वित करते हुए, लोक श्रद्धा अर्जित करने की दृष्टि से देवमानव कहलाने का सौभाग्य पा सके।

आज आस्थाओं का स्तर गिर गया। संकीर्ण स्वार्थपरता का विलासी परिपोषण जीवन का लक्ष्य बन गया है। वैभव के सम्पादन और उसका उद्धत प्रदर्शन-उच्छृंखल दुरुपयोग ही जन-जन को अभीष्ट है। आदर्शवादी कहने-सुनने भर का एक बुद्धि विलास बनकर रह गया है। समृद्धि बढ़ रही है और चातुर्य की मात्रा भी। न प्रतिभाओं की कमी है न कर्म कौशल को चरितार्थ कर सकने के अवसरों की। फिर भी श्रेष्ठता का सम्वर्धन और निकृष्टता का उन्मूलन बन नहीं पड़ता। इस सन्दर्भ में एक ही कठिनाई है कि लोक-मानस पर पशु-प्रवृत्तियों का ही

आधिपत्य है। आदर्शों के प्रति न आस्था है, न आकांक्षा। उस स्तर की उमंगें उठती ही नहीं। उत्कृष्टता अपनाने में गर्व-गौरव की अनुभूति कर सकने वाली भाव सम्वेदना को ढूँढ निकालना अति कठिन हो रहा है। ऐसी दशा में आधे-अधूरे मन से श्रेष्ठता का लंगड़ा, लूला, समर्थन और उन्हें क्रियान्वित करने के अनुत्साह कोई ऐसे आधार खड़े नहीं कर सकते जिनके सहारे ध्वंस को निरस्त और सृजन को अग्रसर कर सकना सम्भव हो सके।

हम आस्था संकट के दुर्दिनों में रह रहे हैं। दुर्भिक्ष मात्र आस्थाओं का है। अन्य सभी वस्तुएँ मँहगे, सस्ते दाम पर विपुल परिमाण में खरीदी जा सकती हैं। समस्याओं का स्थूल उत्पत्ति क्षेत्र आर्थिक, राजनैतिक या सामाजिक प्रतीत होता है। अतएव इन्हीं को सुधारने के लिए आन्दोलन और संघर्ष खड़े किये जाते रहते हैं। स्वास्थ्य की गिरावट का कारण असंयम नहीं, विषाणुओं का आक्रमण माना जाता है। मनोरोगों का कारण उत्कृष्ट चिन्तन का अभाव नहीं स्वेच्छाचार का नियंत्रण बताया जाता है। अर्थ समस्या का समाधान श्रमशीलता और मितव्ययता का अभाव नहीं पूँजी का वितरण माना जाता है। अपराधों को रोकने के लिए आस्तिकता का, आध्यात्मिकता का तत्व-दर्शन हृदयंगम कराने की अपेक्षा की जाती है और पुलिस, कचहरी में समाधान सोचा जाता है। राजसत्ता के सुधार की जादुई छड़ी मानकर उस पर आधिपत्य करने के लिए हर महत्वाकांक्षी लालायित है। धर्मतन्त्र को परिष्कृत करने और उसके सहारे आस्थाओं से झंझट करने का मार्ग किसी को सूझता तक नहीं है। यह उथले प्रयत्न हैं। रक्त की विषाक्तता की उपेक्षा करके फुन्सियों पर पट्टी बाँधते रहने का रास्ता बहुत लम्बा है और अभीष्ट परिणाम की दृष्टि से नितान्त संदिग्ध। फिर भी घुड़दौड़ इन्हीं उथले प्रयत्नों के बवंडर खड़े करने में लगी हुई है। जड़ को खोजे बिना उथले प्रयत्न कितने दिनों में—किस सीमा तक सफल हो सकेंगे यह नितान्त अनिश्चित है।

यह हजार बार समझना और लाख बार समझाया जाना चाहिए कि अपने युग की अनेकानेक समस्याओं, विपत्तियों और विभीषिकाओं का एकमात्र कारण मानवी अन्तःकरण से सन्निहित रहने वाली उच्चस्तरीय आस्थाओं का अवमूल्यन है। सड़ी कीचड़ में से मक्खी, मच्छर, कृमि कीटक, विषाणु और दुर्गन्ध के उभार उठते हैं। इनका आत्यंतिक निराकरण नाली में जमी हुई सड़न को धो डालना ही हो सकता है। आस्थाओं में जड़ जमाये बैठी हुई निकृष्टता को न हटाया जा सका—अन्तःकरण में उत्कृष्टता का स्तर न बढ़ाया जा सका—तो समझना चाहिए बालू से तेल निकालने की तरह सुधार परिवर्तन के समस्त प्रयास निष्फल ही होते रहेंगे। उज्ज्वल भविष्य दिवास्वप्न की तरह कल्पना का विषय ही बना रहेगा।

बाह्योपचारों के लिए कोई मनाही नहीं। वे होते हैं और होते रहने चाहिए। किन्तु महत्व अन्तःउपचार का भी समझा जाना चाहिए। युग परिवर्तन का वास्तविक तात्पर्य है अन्तःकरण में जमी हुई आस्थाओं का उत्कृष्टतावादी पुनर्निर्धारण, समस्त समस्याओं का समाधान इस एक ही उपाय पर केन्द्रित है क्योंकि गुत्थियों का निर्माण इसी क्षेत्र में विकृतियाँ उत्पन्न होने के कारण हुआ है। खाद्य संकट, ईंधन संकट, स्वास्थ्य संकट, सुरक्षा संकट की तरह आस्था संकट के व्यापक क्षेत्र और प्रभाव को भी समझा जाना चाहिए। युग की समस्याओं के समाधान में इससे कम में काम चलेगा नहीं और इससे अधिक और कुछ करने की आवश्यकता नहीं है। यों लोगों को आश्वासन देने की दृष्टि से सुधार और सम्वर्धन के बहिर्मुखी प्रयास भी चलते रहने चाहिए। किन्तु ठोस बात तभी बनेगी जब समष्टि के अन्तःकरण में उत्कृष्टता की आस्थाओं का आरोपण और अभिवर्धन युद्ध स्तरीय आवेश के साथ किया जायेगा। एक ही समस्या है और एक ही समाधान। मनुष्य इसे भले ही समझ न पाये, पर महाकाल की यथार्थता की जानकारी है। वह लोक-मानस में आस्थाओं को पुनर्जीवन प्रदान करने के लिए प्रज्ञावतार को भेज रहा है। उसका प्रधान उद्देश्य अनास्था को आस्था में बदल देना ही होगा।

समस्याओं के समाधान और भविष्य निर्धारण का सुनिश्चित आधार

शक्ति और साधनों की उपयोगिता से इनकार नहीं किया जा सकता। सुविधा सम्वर्धन की दृष्टि से उनका बाहुल्य निश्चित रूप से अभीष्ट है। इसलिए इन दोनों को व्यर्थ बताने या उपेक्षा करने का प्रश्न ही नहीं उठता। पराक्रम के लिए सामर्थ्य चाहिए और उपलब्धियों के लिए उपकरण। अस्तु इन दोनों का संचय-सम्बर्धन मनुष्य आदिम काल से ही करता रहा है और जब तक धरती पर उसका अस्तित्व है तब तक करता भी रहेगा। यह स्वाभाविक भी है, उचित भी और अभीष्ट भी।

किन्तु ध्यान रखने योग्य तथ्य यह है कि शक्ति एवं साधनों का उपयोग करने वाली ... का स्तर क्या

चाहिए। तभी समर्थता और सम्पदा का सहयोग बन पड़ेगा। इसके अभाव में बन्दर के हाथ में तलवार पड़ने की तरह मात्र अनर्थ की ही सम्भावना है। दुर्बुद्धियुक्त कुकर्मी का सशक्त होना उसे विनाश के गर्त में और भी तेजी के साथ धकेलता है। आग में ईंधन पड़ने से वह भड़कती ही है। अन्तरंग की निकृष्टता, अभावग्रस्त स्थिति में तो दबी भी पड़ी रहती है, पर साधन मिलने पर तो उसे खुला खेलने का अवसर मिलता है ऐसी दशा में कुकर्मो का वैभव उसके स्वयं के लिए-सम्बन्धित व्यक्तियों के लिए और समस्त समाज के लिए अभिशाप ही सिद्ध होता है। दुर्बलता बुरी होती है, पर दुष्टता तो भयानक ही कही जायगी। अभावजन्य दुर्बलता को कोई पसन्द नहीं करता, पर समर्थताजन्य दुष्टता द्वारा कुछ घटित होता है उसे देखकर तो रोमांच ही हो आता है। सम्पन्नता और समर्थता बढ़ने का लाभ तभी है जब उस पर नियंत्रण करने वाली शालीनता को अक्षुण्ण और प्रखर रखा जा सके।

पिछले दिनों प्रगति के नाम पर बहुत कुछ हुआ है। उससे अनेकों में कुशलता और तत्परता का बड़े परिमाण में नियोजन हुआ है। अन्यमनस्कता और अकर्मण्यता की हेय स्थिति की तुलना इस पुरुषार्थ की मुक्त कण्ठ से सराहना ही की जायगी। जिन पुरुषार्थियों ने बुद्धिकौशल से विज्ञान, उद्योग आदि क्षेत्रों में प्रबल प्रयत्न करके सुविधा साधन बढ़ाये हैं उनके पराक्रम को विस्मृत नहीं किया जा सकता। इतने पर भी यह अभाव खटकता ही रहेगा कि दूरदर्शिता, विवेकशीलता, उदारता, शालीनता जैसी सत्प्रवृत्तियों का उत्पादन, अभिवर्धन उपेक्षित ही पड़ा रहा। उसकी उपयोगिता वैसी नहीं समझी गई जैसी समझी जानी चाहिए थी। एकांगी चिन्तन यह बताता रहा कि भौतिक प्रगति ही सब कुछ है। साधनों के बढ़ने पर मनुष्य के सामने उपस्थित होने वाली सभी कठिनाइयों का समाधान हो जायगा।

मनुष्य जितना बुद्धिमान है उतना ही अदूरदर्शी भी। सम्पदा को सब कुछ मान बैठने और चेतना की उत्कृष्टता को अपेक्षित रखने की भूल निश्चित ... [illegible]
है। इतिहास साक्षी ... [illegible] जा
प्राप्त करने के उप ... [illegible] को
ही विक्षुब्ध करते
अभिशाप बना है।
चरितार्थ होते ...

रहे हैं, उसके क्या-क्या परिणाम भुगत रहे हैं, उसका प्रमाण अमेरिका जैसे सम्पन्न देशों की वास्तविक स्थिति को, ऊपर से चमकीला आवरण उघाड़ कर भली भाँति देखा जा सकता है। सम्पन्नता से सुविधाएँ तो बढ़ती हैं, पर उससे व्यक्ति के अन्तरंग को ऊँचा उठाने में तनिक भी सहायता नहीं मिलती। फलतः मात्र भौतिक सफलता के सहारे जिस स्थिति में जा पहुँचते हैं उसमें भारी निराशा होती है। क्या व्यक्ति, क्या समाज और क्या राष्ट्र सभी पर यह तथ्य समान रूप से लागू होता है कि आदर्शवादिता बढ़े बिना, बढ़े हुए वैभव से संकटों और विग्रहों की ही बाढ़ आती है।

आदर्शवादिता का नियंत्रण हट जाने पर बलिष्ठता की परिणति उद्दण्ड उच्छृंखलता में होती है सुन्दरता, कामुकता और अहमन्यता का पथ प्रशस्त करती है। बढ़ा हुआ बुद्धिकौशल छद्म रचने के काम आता है। वैभव के बढ़ते ही दुर्व्यसन चढ़ दौड़ते हैं। अधिकारों का उपयोग स्वार्थ के लिए अशक्तों के शोषण, उत्पीड़न में होता है। कला का सौष्ठव पशु प्रवृत्तियों को भड़काने में नियोजित होता है। धनी अधिक धनी बनना चाहता है, समर्थ अधिक सामर्थ्यवान किन्तु वे यह नहीं सोच पाते कि इस अभिवृद्धि का सदुपयोग क्या हो सकता है ? दूरदर्शी विवेक के अभाव में तृष्णा और अहंता की पूर्ति ही वह आधार रह जाती है, जिसके लिए बाहुल्य और वार्धक्य को लगाया जा सके। यह होता है—यही हो रहा है। प्रतिक्रिया सामने है वैभव बढ़ रहा है साथ ही विक्षोभ भी। साधन बढ़ रहे हैं, साथ ही दुर्व्यसन भी। शिक्षा, साधन और कुशलता संवर्धन के अनेकानेक आधार बढ़ रहे हैं और मनुष्य अपेक्षाकृत अधिक चतुर, अधिक सतर्क बनता जा रहा है। इतने पर भी यह बढ़ी हुई बुद्धिमत्ता दुरभिसंधियाँ गढ़ने में ही काम आती है।

शान्त चित्त से स्थिति की विवेचना करने पर एक बार तो ऐसा लगता है कि प्रगति की दिशा में दौड़ते हुए हम अवगति के गर्त में गिरने को तेजी से बढ़ रहे हैं। तब क्या प्रगति निरर्थक है ? समर्थता और सम्पन्नता बढ़ाने के लिए जो प्रयत्न चल रहे हैं क्या वह अनावश्यक है ? इस प्रकार सोचने की आवश्यकता नहीं है। सम्पन्नता अचेतन है और ... अन्धी। इनमें से न किसी को भला कहा जा सकता ... पदार्थ, पदार्थ है और बल, बल है। इनमें क्षमता ... योग्यता नहीं कि अपना उपयोग किसी भले के लिए कर सके। आग में ताप तो है, पर

उसमें यह निर्णय करते नहीं बनता कि वह भोजन पकाने में लगे या अग्निकाण्ड उत्पन्न करने में। यह कार्य किसी सचेतन का है। पदार्थ प्रकृति की प्रेरणा भर अंगीकार करते हैं। उचित-अनुचित का निर्णय करना या परिणाम की कल्पना करना उनके बस से बाहर की बात है। इसलिए बारूद, आग, बिजली जैसी समर्थताओं से भी उचित-अनुचित का निर्णय करते नहीं बन पड़ता। चेतन ही उन्हें विकास या विनाश के लिए नियोजित करता है। रेल, मोटर, जहाज की गतिशीलता सर्वविदित है, किन्तु वे कुशल ड्राइवर के संरक्षण में ही अपनी उपयोगिता का परिचय दे सकते हैं। अन्यथा वे अनियमित गतिशीलता अपना कर स्वयं नष्ट होने एवं दूसरों को नष्ट करने जैसी दुर्घटनाएँ ही उपस्थित कर सकते हैं।

एकांगी प्रगति असंतुलन उत्पन्न करती है। एक पहिए की गाड़ी और अर्धांङ्ग पक्षाघात से पीड़ित काया कितनी ही मूल्यवान क्यों न हो, अन्ततः भारभूत ही सिद्ध होती है। एक पैर मोटा, एक पतला होना सुन्दरता और गतिशीलता में बाधक होता है। फूला हुआ पेट, घेंघे का गला, सूजा हुआ चेहरा, रसौली या फोड़ा होने पर वे अङ्ग अपेक्षाकृत उठे, उभरे दिखाई पड़ते हैं, तो भी उस असन्तुलन को शुभ न माना जाता है न सुविधाजनक। जीवन एकांगी नहीं है। उसके दो पक्ष हैं—एक शरीर अर्थात् भौतिक, दूसरा प्राण अर्थात् चेतन, दोनों का सम्मिलित ढाँचा जब तक सुसन्तुलित बना रहता है तभी तक जीवन चर्या चलती है। एक के विलग हो जाने पर दूसरा अपंग, असमर्थ ही नहीं परिहार्य ही हो जाता है। प्राण रहित शरीर तो तेजी से सड़ता है शरीर रहित प्राण भूत पलीत जैसी विचित्र स्थिति में जा पहुँचता है। भौतिक प्रगति को लक्ष्मी कहा गया है पर नारायण के आदर्श के साथ रहने में ही उसकी शोभा है। ऋद्धि-सिद्धि के युग्म में भौतिक और आत्मिक प्रगति का सहसंतुलन ही प्रतिपादित किया गया है। उमा-महेश, शची-पुरन्दर, सीता-राम, राधे-श्याम आदि युग्मों में प्रगति की उभयपक्षीय आवश्यकता का ही प्रतिपादन है। साधन रहित सद्भावना और सद्भाव रहित साधन की स्थिति अवांछनीय ही मानी जाती है।

पिछले दिनों बुद्धिवाद और प्रत्यक्षवाद ने जीवन के भौतिक पक्ष को ही सब कुछ मान बैठने की भूल की है तत्व दर्शन के आधार पर प्रतिपादित हो सकने वाली उत्कृष्टता को काल्पनिक कहकर अमान्य ठहरा दिया है। फलतः आदर्शवादिता का नियंत्रण लोक-मानस पर से उठ गया। अनियंत्रित पशु प्रवृत्तियाँ समर्थ होने की स्थिति मे कितनी उच्छृङ्खल एवं घातक होती है, इसका अनुमान मदोन्मत्त हाथी, नर भक्षी, व्याघ्र, श्मशान के पिशाच, जलाशय के मगर द्वारा किये जाने वाले विनाश को देख कर सहज ही लगाया जा सकता है। छुट्टल पशु हरी-भरी फसल को चर कर समाप्त कर देते हैं। अराजकता, उच्छृङ्खलता के आततायी दुष्परिणामों का जो अनुमान लगा सकते हैं उन्हें यह भी जानना चाहिए कि चेतना पर से आदर्शवादिता का अंकुश हट जाने पर जो परिस्थिति उत्पन्न होती है, महामारी आदि विपत्तियों से जूझने के लिए अवसर आने पर अथवा उससे पहले ही जो सतर्क सक्रियता अपनानी होती है, उससे कम नहीं अधिक ही सावधानी चिन्तन क्षेत्र पर आधिपत्य जमाने वाले स्वेच्छाचार के प्रति बरती जानी चाहिए।

पिछली पीढ़ी प्रत्यक्षवादी अदूरदर्शिता के आतुर आवेश में मात्र भौतिक प्रगति पर ही अपनी सक्रियता नियोजित किये रही है; जबकि उससे भी अधिक प्रयास चेतना को सुसंस्कृत बनाने के लिए किया जाना चाहिए था। शरीर से प्राण का मूल्य और महत्व अधिक है। उसी प्रकार समृद्धि से संस्कृति की गरिमा अपेक्षाकृत अधिक समझी जानी चाहिए। इस सन्दर्भ में जो असंतुलन बरता गया—एकांगी दृष्टिकोण को अपनाया गया, उसी की प्रतिक्रिया आज अनेकानेक संकटों और विग्रहों के रूप में सामने प्रस्तुत है। जिस तत्परता से समृद्धि सम्वर्धन का प्रयास किया गया, उसी तन्मयता से सद्भाव उन्नयन के लिए प्रबल प्रयास होने चाहिए थे। शरीर से आत्मा का महत्व अधिक है। इसलिए समृद्धि की तुलना में संस्कृति को प्रमुखता मिलनी चाहिए थी और उसी अनुपात से लोक मानस को उत्कृष्टता से भरा-पूरा रखने वाले प्रयास चलने चाहिए थे। वर्षा का पानी नाला न मिलने पर भयंकर बाढ़ के रूप में विनाश लीला उत्पन्न करता है। इसी का दृश्य हम सब अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देखते है।

भूल के परिमार्जन का ठीक यही समय है। मानवी दूरदर्शिता से, शान्त चित्त से विचार करना चाहिए कि क्या पिछली भूल का परिमार्जन करने के लिए अब कुछ नहीं हो सकता? मानवी प्रखरता को समझने वाले यह भली प्रकार जानते है कि जिस भी दिशा में आकांक्षा और तत्परता का विनियोग होता है, उसी दिशा में तूफानी प्रगति होने लगती है। आज के साधन जहाँ विनाश का पथ प्रशस्त करते हैं, वहाँ उनमें यह क्षमता भी विद्यमान है कि विकास

के सांस्कृतिक पुनरुत्थान की दिशा में भी चमत्कारी सत्परिणाम प्रस्तुत कर सकें। प्रेस, लाउडस्पीकर, चलचित्र जैसे कितने ही उपयोगी यन्त्र ऐसे निकल पड़े हैं, जिनकी सहायता से चिंतन को परिष्कृत करने की दिशा में कई प्रचारात्मक कार्य आसानी से सम्पन्न हो सकते हैं। युग साहित्य का निर्माण और प्रसारण एक कार्य है और ज्ञान गोष्ठियों के माध्यम से मनीषियों द्वारा शिक्षण दूसरा। रचनात्मक और सुधारात्मक गतिविधियों की सुगठित रूप रेखा बना कर उनमें असंख्यों सद्भाव सम्पन्नों की श्रम-साधना नियोजित की जा सकती है। समृद्धि सम्वर्धन के लिए जिस प्रकार सोचा जाता रहा है, जिस प्रकार उसमें साधन, श्रम तथा मनोयोग का नियोजन होता रहा है, उसी तन्मयता तथा तत्परता से यह भावनात्मक उत्कृष्टता बढ़ाने के लिए सक्रियता अपनाई जाएगी तो कोई कारण नहीं कि प्रयत्न असफल चले जायें। असफलता का एक ही प्रमुख कारण है—उपयुक्त तन्मयता तथा अभिरुचि एवं प्रयत्नशीलता का अभाव। इसे यदि दूर किया जा सके तो प्रगति किसी भी क्षेत्र में हो सकती है, भले ही वह उत्कृष्टता संवर्धन के लिए ही नियोजित क्यों न की गई हो ?

यहाँ स्मरण रखने योग्य तथ्य यह है कि जिस क्षेत्र में दृष्टिकोण की उत्कृष्टता उत्पन्न होती है वह न तो शरीर है और न मस्तिष्क। शरीर को सैनिकों, नर्तकों, श्रमिकों, बालचरों की तरह कुछ अभ्यास करा दिए जायें, तो उनसे काया भर सधेगी। मस्तिष्क को प्रशिक्षित करने के लिए कितनी ही तरह के पाठ्यक्रम चलते हैं। दृश्य दिखाये, अनुभव कराए और प्रसंग सुनाये जाते हैं। साहित्य पढ़ने और प्रवचन सुनने का भी क्रम चलता रहता है, उससे जानकारी भर बढ़ती है। आस्थाओं के परिष्कार में कोई खास सहायता नहीं मिलती। नीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, नागरिक शास्त्र आदि पढ़ाने वाले अध्यापकों तक का निजी जीवन जब उच्चस्तरीय न बन सका, आदर्शवादिता पर आये दिन लिखते रहने वाले लेखकों तक का स्तर जब सामान्य लोगों से अधिक ऊँचा न उठ सका—कथा प्रवचनों में संलग्न रहने वाले पुरोहितों को जब प्रतिपादनों के अनुरूप आचरण करते न पाया जा सका- तो यही मानना पड़ेगा कि मस्तिष्कीय शिक्षा मात्र जानकारी बढ़ाती है। उसका सीधा प्रभाव उस मर्मस्थल तक नहीं पहुँच पाता जहाँ उच्चस्तरीय आस्थाओं का उत्पादन और उत्थान होता है। यदि व्यक्तित्व के मूल आधार दृष्टिकोण को परिष्कृत परिमार्जित करना हो तो फिर निश्चय ही पुनर्निर्माण का कार्यक्षेत्र अन्तःकरण को मानकर चलना होगा। तब उन आधारों को अपनाना होगा जो उच्चस्तरीय आस्थायें उत्पन्न करने में काम आते और सफल होते रहे हैं।

आस्थाओं के क्षेत्र को स्पर्श करने वाला एक ही माध्यम है- अध्यात्म, अध्यात्म के चिन्तन को तत्वदर्शन और व्यवहार को धर्म कहते हैं। दोनों को मिलाने से ही समग्र अध्यात्म बनता है। तत्वदर्शन को हृदयंगम करने की पद्धति को योग और व्यवहार में उच्चस्तर का समावेश करने का नाम तप कहा जाता है। तप को साधना और योग को ब्रह्मविद्या कहते हैं। आस्तिकता-आध्यात्मिकता और धार्मिकता की त्रिवेणी मिलने से वह त्रिवेणी बनती है, जिसमें स्नान करने पर रामायण में प्रतिपादित 'काक होहिं पिक बकहु मराला' का भावनात्मक कायाकल्प संभव होता है।

यों चिन्तन के माध्यम से ही आस्थाएँ जगाई जाती हैं, पर यह उथला नहीं गहरा होता है। तर्क का समावेश तो रहता है पर साथ में श्रद्धा भी जुड़ी रहती है। शुष्क तर्क बुद्धि विलास है। बहस के लिए ही बहस करने वाले—मस्तिष्क से चतुर वकीलों की तरह वह प्रतिपादन करते चले जाते हैं, जिन पर उनकी आस्था तनिक भी नहीं है। सच्चे को फँसाने और झूठे को छुड़ाने के लिए वे वकील भी प्रभावी बहस करते देखे गये हैं, जो वस्तु स्थिति को ठीक तरह समझते हैं। इसलिए मस्तिष्क को माध्यम मानते हुए उस आस्थाओं को उच्च स्तरीय बनाने के लिए पर्याप्त नहीं माना जा सकता। इसके लिए एक ही अवलम्बन है—अध्यात्म। अध्यात्म का प्राण है ऋतम्भरा प्रज्ञा। गायत्री इसी को कहते है। ऋतम्भरा प्रज्ञा मे विवेक और श्रद्धा इन दो तत्वों का समन्वय होता है। विवेक अर्थात् दूरदर्शिता—श्रद्धा अर्थात् उच्चस्तरीय आस्थाओं में उल्लास भरी, सघन अभिरुचि। यह भाव-संवेदनाएं जिस चिन्तन और जिस अभ्यास से उभारी जाती हैं, उसे ऋतम्भरा प्रज्ञा कहते है। संक्षेप में इसी को प्रज्ञा कहा गया है। गायत्री मंत्र की अन्तरात्मा को "प्रज्ञा की प्रेरणा" माना गया है। प्रज्ञा जीवन्त तभी होती है, जब उसमें प्रेरणा देने—प्रवाह उत्पन्न करने की क्षमता हो। गायत्री महामंत्र में यही सब कुछ है। उसके चौबीस बीजाक्षरों में मान्यताओं, संवेदनाओं और प्रेरणाओं का सुनियोजित तारतम्य विद्यमान है। युग परिवर्तन के लिए—लोक मानस को उच्चस्तरीय बनाने के लिए इस एक महामंत्र के अतिरिक्त और कोई ऐसा कारगर उपाय नहीं खोजा जा

सका, जो मनुष्यों में देवोपम आस्थाऐं जगाने प्रेरणाऐं उभारने और सक्रियता अपनाने के लिए अभीष्ट लक्ष्य तक खींचता घसीटता चला जाय।

सामयिक विकृतियों से निपटने और उज्ज्वल भविष्य का सृजन करने के उभयपक्षीय प्रयोजन जिस एक ही युगान्तरीय, चेतना से संभव होने जा रहे हैं उसी के उदय-उद्भव का नाम है—प्रज्ञावतरण। इन दिनों इसी का उषा काल है। अरुणोदय सन्निकट है। नव प्रभात की संभावनाएँ प्रकट और प्रत्यक्ष होती जा रही हैं। विकृतियों की तमिस्रा का निराकरण और गतिशीलता उत्पन्न करने की ऊर्जा का सम्वर्धन जिस युग प्रभात में होने जा रहा है, उसी को अपने समय का अवतार कहना चाहिए। सामान्य मानवी प्रयास इतने बड़े अभियान में कम न पड़ जायें इसलिए महाकाल की युग-चेतना का सूक्ष्म जगत में विशिष्ट प्रादुर्भाव हो रहा है। प्रज्ञावतार का आलोक युग-समस्याओं के समाधान की महती भूमिका सम्पादित कर सकेगा इस पर विश्वास करने के ठोस कारण सामने ही विद्यमान है।

सतयुग अवतरण की अभिनव तैयारियाँ

पृथ्वी पर अनेकों बार संकट आए हैं और वह डूबते-डूबते उबरी है। एक बार हिरण्याक्ष उसे पाताल ले गया था। एक बार वृत्रासुर ने उसका अपहरण कर लिया था और इन्द्र समेत समस्त देव समुदाय को पलायन करना पड़ा था। भस्मासुर, महिषासुर ने भी विनाश की घड़ी समीप ला दी थी। ऐसे अनेकों प्रसंगों में दैवी शक्तियों ने ही इसका उद्धार किया था। देवों की करुण पुकार सुनकर प्रजापति ने कहा था—"तुम देव लोग उपेक्षा या अहंकार वश एकत्र नहीं हो पाते, इसलिए बलिष्ठ होने पर भी दैत्य समुदाय के सामने हार जाते हो।" उनकी संयुक्त शक्ति दुर्गा के रूप में विनिर्मित हुई और उनने असुरों के संकट से देवों को बचाया।

यह तो पौराणिक प्रसंग हुआ। वैज्ञानिकों के अनुसार पुरातन काल में एक ग्रह था—'फैथॉन'। उसकी सभ्यता आज से भी बढ़ी-चढ़ी थी और विज्ञान के महाघातक कुछ अस्त्र उस ग्रह के वासियों ने एकत्रित कर लिए थे। शक्तियाँ प्राप्त कर लेना एक बात है और उनका सदुपयोग करना दूसरी। वे अहंकारी सत्ताधारी परमाणु आयुधों से लड़ पड़े और न केवल जीव सत्ता का—पदार्थों का वरन् समूचे ग्रह का सर्वनाश कर दिया। फलस्वरूप उस ग्रह के छर्रे-छर्रे उड़ गए। उन्हीं टुकड़ों में से कुछ मंगल और वृहस्पति के बीच में एक उल्का माला के रूप में घूमते हैं। कुछ शनि के इर्द-गिर्द छल्ले के रूप में एवं कुछ प्लेटो, नेपच्यून तक उड़ गए। कहते हैं उसी कबाड़ से सृष्टा ने पृथ्वी की नूतन संरचना की। जो हो, सृष्टा के इस ब्रह्माण्ड में पृथ्वी सबसे सुन्दर कलाकृति है। जब जब भी इस पर विनाश संकट आते रहे, तब-तब उसकी रक्षा होती रही है। कोई न कोई उपाय निकलता रहा है। एक बार दधीचि की अस्थियों का वज्र बना था। एक बार संघ शक्ति दुर्गा ने विनाश की विपत्ति बचाई थी। इस बार भी ऐसा ही होने जा रहा है।

प्रस्तुत सङ्कट के सन्दर्भ में दिव्यदर्शी आत्मवेत्ता कहते रहते हैं कि चौदहवीं सदी, सेविन टाइम्स, खण्ड प्रलय, हिमयुग, समुद्री उफान के रूप में पृथ्वी पर ऐसी विपत्ति बरसेगी जिससे कुछ बचेगा नहीं। मूर्धन्य मनीषियों का भी यही कहना है कि प्रदूषण, पर्यावरण, विकिरण, अणुयुद्ध, जनसंख्या विस्फोट आदि के फलस्वरूप संसार तेजी से महाविनाश की ओर जा रहा है। तीसरे अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध की सम्भावना तो हर पल सामने है ही।

सृष्टा ने महाविनाश से पूर्व ही बचाव की व्यवस्था बनाई है। संसार में सृजन को जन्म देने वाली सबसे बड़ी शक्ति तप है। उसी ने ब्रह्मा को सृष्टि बनाने की शक्ति दी थी। उसी के बल से संसार में सुव्यवस्था स्थिर है। सारे ऋषिगण तपस्वी रहे हैं। उन्होंने तप विज्ञान से उत्तराखण्ड को देवलोक बनाने के लिए हिमालय के इस ध्रुव केन्द्र में प्रचंड तप किए और व्यास, वशिष्ठ, अत्रि, विश्वामित्र, भारद्वाज, जमदग्नि, कश्यप प्रभृति ऋषिगणो एवं ध्रुव, पार्वती इत्यादि साधकों ने इसे देवभूमि बना दिया। उन्होंने संसार को समुन्नत सुसंस्कृत बनाने वाले अपने नेक प्रयास तप शक्ति से इस प्रकार सम्पन्न किए जिनके कारण यह धरती समूचे ब्रह्माण्ड में मुकुटमणि बन गयी।

इस बार भी तप शक्ति को महाविनाश के सम्मुख जुटाया गया है और वह प्रयास व्यर्थ नहीं गया है। पृथ्वी के एक कोने से दूसरे कोने तक जो विनाश की घटाएँ उमड़ रही थीं, वे अब छँटने लगी हैं। स्थिति को अपनी दिव्य दृष्टि से देखने वाले कहते हैं कि अदृश्य वातावरण में रावण, कुम्भकरण, जरासन्ध, हिरण्यकश्यप जैसों की जो हुँकारें गरज रही थीं, वे अब शांत हो चली है। जो विभीषिकाएँ अभी शेष हैं, उनका भी समाधान होकर रहेगा। अब भयाक्रान्त होने की आवश्यकता नहीं रही। रामराज्य का ऊषाकाल समीप है। अब वह किसी कुहरे के नीचे देर तक छिपा नहीं रहेगा।

नई सृष्टि बनाने के लिए ब्रह्मा ने, विश्वामित्र ने जो तप किया था, उसका प्रयोग इन दिनों चल रहा है। अपने युग के इस तपस्वी से जन-जन परिचित है और यही विदित है कि अब तक जो काम उसने अपने हाथ में लिए हैं, वे पूरा करके दिखाए हैं। आर्ष ग्रन्थों को सर्व सुलभ करना, विशाल प्रज्ञा परिवार का असाधारण संगठन, सहस्त्र कुंडी गायत्री यज्ञ, लोक मानस के परिष्कार का युग साहित्य, विज्ञान और अध्यात्म के समन्वय के अभिनव प्रयास, परमार्थ प्रयोजनों के लिए जीवन दान देने वाले सहस्त्रों देवमानवों का निर्माण आदि-आदि ऐसे काम हैं जो आज की परिस्थितियों में किसी सामान्य मानवी शक्ति के बलबूते की बात नहीं है। ऐसे महान कार्य तप शक्ति के बिना और किसी प्रकार नहीं हो सकते। तप के प्रभाव से ऋषियों और देवताओं का अनुग्रह प्राप्त होता है और इन सबके संगठन से एक ऐसी शक्ति उत्पन्न होती है, जिसे अद्भुत अनुपम कहा जा सके। सामान्य मनुष्य जब कभी अद्भुत काम करते हैं, युग परिवर्तन जैसे काम हाथ में लेते है तो समझना चाहिए कि इसके लिए इन्होंने तप की शक्ति एकत्रित कर ली है। वस्तुतः ये काम साधारण व्यक्ति नहीं करते, उनके पीछे कोई परोक्ष महत्ती शक्ति काम कर रही होती है।

प्रज्ञा अभियान के मूल में तप शक्ति ही काम कर रही है, ऐसा तप जिसके बल पर शेषनाग धरती को अपने सिर पर उठाए हुए है, ऐसा तप जिसके कारण तपता हुआ सूर्य लोक-लोकान्तरों में आलोक और ऊर्जा का वितरण करता परिभ्रमण करता रहता है। इन दिनों इस तप शक्ति के सहारे ही मनुष्य में से विष निचोड़ा जा रहा है और उसकी आकृति वही बनी रहने पर भी प्रकृति में आमूल-चूल परिवर्तन लाया जा रहा है। इसे एक दैवी आश्वासन समझा जाना चाहिए कि कल तक जो महाविनाश के हजारों कारण और लक्षण दीख पड़ रहे थे, वे घट चले और हट भी चले।

युग परिवर्तन के इस पूर्वार्ध में विश्व को महाविनाश की चुनौती देने वाली प्रलय की घटाएँ अब किसी अदृश्य तूफान में उड़ गईं। इस आश्वासन के साथ एक दैवी अभिवचन यह भी प्रकट हुआ है कि अगले दिनों परिवर्तन प्रक्रिया के उत्तरार्ध में सतयुग के अभिनव सृजन में जिस स्तर के व्यक्तित्वों को कौशल साधनों की जरूरत है वे एकत्रित होते चले जाएँगे। मनुष्य को समझाया और यह मानने के लिए विवश किया जायगा कि, वह औसत नागरिक की तरह निर्वाह करने में सन्तोष व्यक्त करे। पतन और पाप के गर्त में जान-बूझकर न गिरे। सीमित आवश्यकताओं की पूर्ति में ही सन्तोष करे। परिवार के जो लोग सेवा-सहायता कर चुके हैं। उन्हीं का ऋण चुकाए। नये कर्जदार एकत्रित न करे जो देने से पहले ही वसूल करना आरम्भ कर दें। यदि इन विडम्बनाओं से आज के मानव समाज को बचाया जा सका तो समझना चाहिए कि स्वर्ग का राजमार्ग अपना लिया गया। दैत्यों को देवों में बदलना कठिन नहीं है। उसमें केवल उनकी मनःस्थिति बदलनी पड़ती है, उसके उपरान्त परिस्थितियाँ तो स्वतः बदल जाती है। नरक से स्वर्ग में प्रवेश पाना पूरी तरह मनुष्य के हाथों में है, दैवी शक्तियाँ तो परोक्ष वातावरण बनाती व प्रेरणा का शंख फूँकती भर हैं।

नवयुग का आगमन सुनिश्चित है। प्रज्ञा युग उसका नाम होगा। गंगा अवतरण का मन बना चुकी है। उसे स्वर्ग से जमीन पर ला उतारने वाले तप की आवश्यकता थी जो हो रहा है वह चलता रहेगा। कठिनाई हल करने के लिए शिवजी ने अपनी जटाएं बिखेर दी हैं। अब आवश्यकता भागीरथ जैसे राजपुत्र की रह गई हैं जो अग्रिम पंक्ति में खड़ा हो और अपने को भागीरथी का अवतरण कर्ता कहलाने का श्रेय भर लेने का साहस करे। अर्जुन को भी यही कहा गया है कि "धरती पर दिखाई देने वाले जीवितों का प्राण हरण किया जा चुका है। यदि इच्छा हो तो विजयश्री का वरण कर, अन्यथा चुप बैठ। तेरे बिना महाभारत अनजीता न पड़ा रहेगा।" यों भागीरथ न आते तो भी विधिचक्र ने गंगावतरण तो सुनिश्चित कर रखा ही था।

इन दिनों देव मानवों की पहली आवश्यकता अनुभव की जा रही है और उन्हें मनुहार-आग्रह-अनुरोध करके बुलाया भी जा रहा है। पर कोई यह न समझे कि हम नखरे दिखाएँगे, मनुज करेंगे, बहाने बनायेंगे तो गाड़ी रुकी पड़ी रहेगी। जो भवितव्यता है वह हमारे हाथ लगाए बिना रुकी रह जाएगी। युग परिवर्तन सुनिश्चित है। मनुष्य में देवत्व का उदय होगा और उस समुदाय का बहुमत हो जाने पर धरती पर स्वर्ग का वातावरण बनेगा। जो शक्ति भयंकर भवितव्यता को टाल सकती है, वह उर्वर भूमि मे हरे-भरे पौधे भी उगा सकती है।

युद्ध सैनिको में लड़े जाते हैं। सड़के मजूर बनाते हैं। पुल खड़े करने के लिए कारीगरों की जरूरत पड़ती है। साधन जुटाने में धन किसी का भी क्यों न लगा हो पर हर इन्जीनियर, कारीगर, मजदूर यही कहता है कि "यह पुल

हमने बनाया था।'' उसकी यह गर्वोक्ति सही भी है। नवयुग के अवतरण के लिए ऐसे ही शिल्पी कारीगर चाहिए—जीवन्त, प्राणवान, मनस्वी, योद्धा, देवमानव। उन्हीं को कभी साधु, ब्राह्मण कहा जाता था, पर जब वे रह नहीं गए तो दूसरा नामकरण करना पड़ रहा है।

अखण्ड ज्योति परिजनों में देवमानवों की एक बड़ी संख्या है। उन्हें ही सर्वप्रथम बुलाया गया है। गुरु गोविन्दसिंह ने अपने बच्चे बलि चढ़ा दिए तो दूसरों को मनुहार नहीं करनी पड़ी। वे सच्चाई देखकर प्रभावित हुए और बड़ी संख्या में ''सन्त-सिपाही'' रूप में भर्ती होते चले गए। लक्ष्य पूरा करके ही रुके। आज देवमानवों को बुलाया गया है व कहा गया है कि लोभ, मोह और अहंकार के जाल-जंजाल से सदा के लिए न छूट सकें तो कम से कम एक साल का समय निकालें। इतने समय का छोटा वानप्रस्थ छोटा संन्यास ग्रहण करें उस पुनीत कार्य में लगें जिसमें पुरातन काल के देवमानव लगा करते थे। ८६ हजार ऋषियों की टोली किसी समय इसी कार्य में प्रवृत्त थी। बुद्ध के लाखों भिक्षु और महावीर के असंख्यो श्रावक देश-देशान्तरों में भ्रम करते हुए जन-जन का सोया देवत्व जगाते थे और दुष्प्रवृत्तियो की जड़ों को बल पूर्वक उखाड़ फेंकते थे। ''सत्य के अनुयायी में हजार हाथी के बराबर बल होता है,'' इस युक्ति को उन्होंने प्रत्यक्ष सार्थक करके दिखा दिया।

आज से ही हमारा भविष्य निर्धारण आरम्भ होता है। भविष्य किसका ? समूचे धरातल का, समूचे मानव समुदाय का—समूचे प्राणि परिवार का। क्या यह सम्भव है ? इसके उत्तर में हमें एक ही शब्द कहना है—''हाँ''। क्योंकि भूत का अनुभव और वर्तमान की प्रगति हमें विश्वास दिलाती है कि भविष्य के बारे में जो सोचा गया है, वह बाल कल्पना नहीं है। उसके पीछे सच्चाई का गहरा पुट है। भविष्य के ये निर्धारण हैं—

(१) एक लाख देव ब्राह्मण उत्पन्न करना (२) युग साहित्य के माध्यम से जन-जन को समय के पक्ष में प्रशिक्षित करना (३) युग धर्म के प्रशिक्षण को २४०० पाठशालाएं खोलना (४) २४ हजार की संख्या में बाल संस्कार शालाएं स्थापित करना (५) भारत भूमि के कोने-कोने में छोटे-बड़े तीर्थ स्थापित करना (६) शान्ति कुञ्ज गायत्री तीर्थ के रूप में ऐसा आरण्यक विकसित करना, जहाँ से रत्नों की खदान की तरह धर्म प्रचारक निरन्तर निकलते रहें। बुद्ध काल में नालन्दा, तक्षशिला विश्व विद्यालयों ने विश्व के कोने-कोने में धर्मचक्र प्रवर्त्तन के लिए अगणित तपस्वी और तपस्विनियाँ उत्पन्न किए थे। साथ ही यह भी कहा था कि तीन दिन से अधिक एक जगह ठहरना मत। दो से अधिक एक साथ चलना मत। उन दिनों वातावरण ऐसा था कि यह अनुशासन भी बन पड़ा था एवं बुद्ध के धर्मचक्र प्रवर्तन के लिए अनेकों जीवन दानी बन गये थे, जिन्होंने सारे विश्व को झकझोर कर रख दिया था।

आज की हवा में वह ऊर्जा नहीं रही। फिर भी घोर दुर्भिक्ष नहीं है। भूमि में उर्वरता अभी भी जीवित है। उतनी शानदार फसल तो उगा न सकेगी, पर स्थिति ऐसी नहीं आएगी कि योजना को शेखचिल्ली के सपने कहकर उपहास उड़ाया जा सके। युग परिवर्तन की दिशा में तपश्चर्या का बल जो चमत्कार दिखा चुका है, उसे ध्यान में रखने पर यह पूरा विश्वास होता है कि भविष्य की सम्भावनाएँ भी सार्थक होकर रहेंगी।

युग अवतार-प्रज्ञावतार

भगवान के अवतार, समय की आवश्यकता के अनुसार अपने स्वरूप और कार्य क्षेत्र को विनिर्मित करते रहे हैं। जब जिस प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न हुई है तब उसी असंतुलन को सही करने के लिए सूक्ष्म जगत में एक दिव्य चेतना प्रादुर्भूत हुई है। अपने कौशल एवं पराक्रम से डगमगाती नाव को सँभालने और भँवरों वाले प्रवाह से उसे बचा ले जाने का लीला-उपक्रम ही अवतारो का चरित्र रहा है। सृष्टि के आदि में जब इस भूमि पर जल ही जल था और प्राणिजगत में जलचर ही प्रधान थे तब उस क्षेत्र की अव्यवस्था को मत्स्यावतार ने सँभाला था। जल और थल पर जब छोटे प्राणियों की हलचलें बढ़ीं, तो तदनुरूप क्षमता वाली कच्छप काया उस समय का संतुलन बना सकी। समुद्र-मंथन का पुरुषार्थ—प्रकृति दोहन की प्रक्रिया उन्हीं के नेतृत्व मे आरम्भ हुई। हिरण्याक्ष द्वारा जल में—समुद्र में छिपी सम्पदा को ढूँढ निकालने तथा तस्कर का दमन करने को वाराह रूप ही समर्थ हो सकता था, वही धारण भी किया गया।

उद्धत उच्छृंखलता का दमन प्रत्याक्रमण से ही हो सकता है इसके लिए ऐसे अवसरों पर शालीनता से काम नहीं चलता। तब नृसिंहों की आवश्यकता पड़ती है और उन्हीं का पराक्रम अग्रणी रहता है। भगवान ने उन दिनों की आदिम परिस्थितियों में नर और व्याघ्र का समन्वय आवश्यक समझा और दुष्टता के दमन तथा सज्जनता के संरक्षण का अपना आश्वासन पूर्ण किया।

संकीर्ण स्वार्थपरता और उससे प्रेरित संचय एवं उपभोग की पशु-प्रवृत्ति को तब उदार बनाने की आवश्यकता पड़ी, जब मनुष्य अपनी आवश्यकता से अधिक कमा सकने में समर्थ हो गया। वामन भगवान के नेतृत्व में छोटे, बौने, पिछड़े लोगों की आवाज बुलन्द हुई और बलि जैसे सम्पन्न लोगों को उदार वितरण के लिए स्वेच्छा सहमत किया गया। यही वामन अवतार है।

इसके बाद परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध के अवतार आते हैं। इन सबके अवतरण का लक्ष्य एक ही था—बढ़ते हुए अनाचार का प्रतिरोध और सदाचार का समर्थन—पोषण। सामन्तवादी आधिपत्य को परशुराम ने शस्त्रबल से निरस्त किया। लोहे से लोहा काटा। राम ने मर्यादाओं के परिपालन पर जोर दिया। कृष्ण ने छद्म से घिरी हुई परिस्थितियों का शमन करने में "विषस्य विषमौषधम्" का उपाय अपनाया। उनकी लीलाओं में कूटनीतिक दूरदर्शिता की प्रधानता है। तत्कालीन परिस्थितियों में सीधी उँगली घी नहीं निकलता होगा तो काँटे से काँटा निकालने के लिए टेढ़ी चाल से लक्ष्य तक पहुँचा गया होगा।

धर्म तत्व के श्रेयाधिकारी होते हुए भी उसमें विकृतियाँ भर जाने से साबुन का स्वरूप गन्दगी फैलाना जैसा बन गया था। "मद्य मांस व मीन व मुद्रा मैथुन मेवच" का अनाचार धर्म की आड़ लेकर लोक व्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर रहा था। उन दिनो बुद्ध ने धर्म व्यवस्था का सज्जनों के संगठन का और विवेक को सर्वोपरि मानने का प्रवाह बहाया था। 'धर्म शरणं गच्छामि—बुद्धं शरणं गच्छामि' का शंखनाद ही बुद्ध का लीला संदोह है। इस कार्य के लिए उनके आह्वान पर लाखों धर्म प्रचारक प्रव्रज्या पर निकले थे और विचार क्रान्ति का आलोक संसार के कोने-कोने तक पहुँचाया था।

बदलती परिस्थिति में बदलते आधार भगवान को भी अपनाने पड़े हैं। विश्व-विकास की क्रम-व्यवस्था के अनुरूप अवतार का स्तर एवं कर्म क्षेत्र भी विस्तृत होता चला गया है। मनुष्य जब तक साधन प्रधान और कार्य प्रधान था तब तक शास्त्र और साधनों के सहारे काम चल गया। आज की परिस्थितियों में बुद्धि तत्व की प्रधानता है। मन ही सर्वत्र छाया हुआ है। महत्वाकांक्षाओं के क्षेत्र में अनात्म तत्व की भरमार होने से सम्पन्नता और समर्थता का दुरुपयोग ही बन पड़ रहा है। महामारी सीमित क्षेत्र तक नहीं रही, उसने अपने प्रभाव क्षेत्र में समूची मानव जाति को जकड़ लिया है। विज्ञान ने दुनिया को बहुत छोटी कर दिया है और गतिशीलता को अत्यधिक द्रुतगामी। ऐसी दशा में भगवान का अवतार युगान्तरीय चेतना के रूप में ही हो सकता है। जन-मानस के सुविस्तृत क्षेत्र मे अपने पुण्य प्रवाह का परिचय देना इसी रूप में संभव हो सकता है, जिसमें कि 'प्रज्ञावतार' के प्रादुर्भाव की सूचना संभावना सामने है।

बुद्ध के बुद्धिवाद का स्वरूप 'विचार क्रांति' था। पूर्वार्द्ध में धर्म चक्र का प्रवर्तन हुआ था। धर्म धारणा सम्पन्न लाखों व्यक्तियों ने उसमें भाव भरा योगदान दिया था। आनन्द जैसे मनीषी, हर्षवर्धन जैसे श्रीमन्त, अम्बपाली जैसे कलाकार, अंगुलिमाल जैसे प्रतिभाशाली बड़ी संख्या में उस अभियान के अंग बने थे। इससे पिछले अवतारों का कार्यक्षेत्र सीमित रहा था, क्योंकि समस्यायें छोटी और स्थानीय थीं। बुद्धकाल तक समाज का विस्तार बड़े क्षेत्र में हो गया था। इसलिये बुद्ध का अभियान भी भारत की सीमाओं तक सीमित नहीं रहा और उन दिनों जितना व्यापक प्रयास संभव था उतना अपनाया गया। धर्मचक्र प्रवर्तक भारत से एशिया भर में फैला और उससे भी आगे बढ़कर उसने अन्य महाद्वीपों तक अपना आलोक बाँटा।

प्रज्ञावतार—बुद्धावतार का उत्तरार्ध है। बुद्धि प्रधान युग की समस्यायें भी चिंतन प्रधान होती हैं। मान्यतायें, विचारणायें, इच्छायें ही प्रेरणा केन्द्र होती हैं और उन्हीं के प्रवाह में सारा समाज बहता है। ऐसे समय में अवतार का स्वरूप भी तदनुरूप ही हो सकता है। लोकमानस को अवांछनीयता, अनैतिकता एवं मूढ़ मान्यता से विरत करने वाली विचार क्रांति ही अपने समय की समस्याओं का समाधान कर सकती है।

हर क्रांति का प्रतीक ध्वज रहा है। प्रवाह के स्वरूप और निर्माण का परिचय देने के लिए कोई सम्बल चिन्ह रखे जाते रहे है। धार्मिक क्षेत्र में मन्त्र, देवता, तिलक, ग्रन्थ आदि को आगे रखा गया है। राजनैतिक क्षेत्र में झण्डों का उपयोग होता रहा है। अपने युग में जो महाभारत लड़ा जायगा वह विशुद्ध चेतना-क्षेत्र का होगा। उसमें विचारणाएँ—मान्यताएँ—आस्थाएँ—आकांक्षाएँ ही उखाड़ी और जमाई जायेंगी। उसका प्रारूप क्या हो? उसका निर्धारण क्या हो चुका है। गायत्री महामन्त्र के अक्षरों में उन सभी तथ्यों का समावेश है जो सद्भाव सम्पन्न आस्थाओं के निर्माण एवं अभिवर्धन का प्रयोजन पूरा कर सके। व्यक्ति का चरित्र चिंतन और समाज का विधान प्रचलन क्या होना चाहिए, इसको ऐसी सुनिश्चित

निर्धारणा इस महामन्त्र के अंतराल में विद्यमान है जिसे सार्वभौम, सर्वजनीय, सर्वोपयोगी माना जा सके।

करने से पहले सोचना आवश्यक होता है। प्रयाण से पहले लक्ष्य निर्धारित होता है। नवयुग का प्रारूप सामने होने पर ही उस घोषणा-पत्र एवं संविधान को समझकर लोकमानस को उसे समझाने, अपनाने का प्रयास आरम्भ हो सकेगा। इसके लिए नये सिरे से कुछ नया ऊहापोह करना नहीं है। चिर पुरातन को चिर नवीन के साथ जोड़ देने से काम चल जायगा। सतयुग में मानवी चिंतन और कर्तृत्व का आधार गायत्री ही है। उसी को मानवी-धर्म-संस्कृति का उद्गम तथा प्रथा प्रचलन का सुनिश्चित आधार गुरुमन्त्र माना जाता रहा है। उस महान तत्वज्ञान को अपनाकर हमारेपूर्वज महामानव और नर-नारयण का जीवन जीते रहे है। देवता स्वर्ग में रहते हैं। उन देव मानवों की मनः स्थिति अपने इर्द-गिर्द स्वर्गीय परिस्थितियों का सहज सृजन करती है। वह नया प्रयोग नहीं है, चिरकाल तक परखा गया परीक्षण है। उसी पुरातन का नवीन संस्करण प्रस्तुत होने जा रहा है। अस्तु, देव-संस्कृति की जन्मदात्री देवमाता अगले दिनों अपना विशाल विस्तार वेदमाता के रूप में करेगी। वेदमाता अर्थात् सद्ज्ञान की अधिष्ठात्री सुसंस्कृत और समुन्नत विश्व का निर्माण उन्हीं के द्वारा होने जा रहा है। अतएव गायत्री की विश्वमाता भूमिका भी उज्ज्वल भविष्य के अनुरूप ही होगी।

युग शक्ति का अवतरण-श्रद्धा और विवेक का संगम

ऋतुम्भरा प्रज्ञा का संक्षिप्त उच्चारण 'प्रज्ञा' के रूप में होता है। ऋतुम्भरा वह है जिसमें विवेक और श्रद्धा का समुचित समावेश हो। विवेक उस निवारण को कहते हैं जिसमें तर्क, तथ्य और दूरदर्शिता का समुचित समावेश हो। श्रद्धा उस आस्था का नाम है जो उत्कृष्ट आदर्शवादिता को अत्यधिक प्यार करे और उस स्तर के चिंतन तथा कर्तृत्व से भाव भरे रसास्वादन का आनन्द प्रदान करे। विवेक को बुद्धि का उत्कृष्टतम स्तर माना गया है। श्रद्धा अन्तःकरण की श्रेष्ठतम उपलब्धि है। दोनों का जहाँ जितना सम्मिश्रण होता है, वहाँ उतनी ही महानता दृष्टिगोचर होती है। उसी उपलब्धि के सहारे सामान्य परिस्थितियों में जन्मे, पले व्यक्ति भी ऐतिहासिक महामानवों की भूमिका निभाते और विश्वनिर्माण मे असाधारण योगदान करते हैं।

अगले दिनों मनुष्य की सबसे बड़ी सम्पदा एवं उपलब्धि ऋतुम्भरा प्रज्ञा मानी जायगी। यों कथा, प्रसङ्गों में और धर्म प्रवचनों में प्रज्ञा की महिमा बहुत गायी जाती है और ब्रह्म विद्या का सुविस्तृत कलेवर में उसी का प्रतिपादन किया जाता है किन्तु उसे व्यवहार में कार्यान्वित करने का अवसर किन्हीं विरलों को ही मिलता है। सामान्य जीवन क्रम में उसका समावेश नहीं के बराबर होता है। जो बात व्यवहार में नहीं आती वह कठिन या असम्भव मानी जाती है प्रेरणा प्रदान करने में अनुकरण की परिस्थितियाँ ही प्रभावी होती है दूसरे की देखा देखी ही कुछ अपनाने और कुछ करने की मानवीय दुर्बलता ही सर्वत्र संव्याप्त है मौलिक चिंतन की प्रखरता और मौलिक निर्णय की साहसिकता किन्हीं विरलों में ही होती है बिना दूसरों का प्रभाव ग्रहण किए उच्चस्तरीय नीति अपनाने और उस पर अन्त तक दृढ़ बने रहने का आत्मबल तो कदाचित् ही किन्हीं मनस्वियों में दृष्टिगोचर होता है। प्रज्ञा के माहात्म्य की चर्चा करते रहना सरल है, पर उसे अपनाना कठिन है कठिन इसलिए नहीं कि व्यवहार में जटिल भी असंभव है। कारण मात्र इतना भर है कि अनगढ़ प्रचलनों से अच्छादित वातावरण में अनुकरण के उदाहरण न मिलने से सामान्य व्यक्ति उस दिशा में पग बढ़ाते हुए डरता है। यह डर ही वह बाधा है जो प्रज्ञा को अपनाकर मङ्गलमय जीवन यापन करने के आनन्द से मनुष्य को वंचित किये रहती है।

प्रज्ञावतार से उत्पन्न युगान्तरीय चेतना की विशेषता यह होगी कि अनायास ही जन-जन के मन में ऐसा उल्लास उत्पन्न करेगी जिसमें अन्तःप्रेरणा ही वह कार्य कर सके तो सामान्य व्यक्ति के लिए सामान्य परिस्थितियों मे सम्भव नहीं होता। असम्भव को संभव बना देना यही अवतार प्रक्रिया का प्रधान चमत्कार है।

रावण का आतंक दशों दिशाओं में संव्याप्त था। उसके विरोध प्रतिरोध की बात कोई सोचता तक न था। इतने दुर्दान्त दानव परिवार की शक्ति सामर्थ्य का अनुमान लगाने वाले बेतरह निराश और भयभीत हो जाते थे। अनीति सहते-सहते मरते तो असंख्यों थे, पर लड़ते हुए मरने का शौर्य,किसी मे भी जगता न था। सीता अपहरण जैसी हृदय द्रावक घटना हुई पर न अयोध्या से प्रतिरोध-प्रतिशोध का प्रयास हुआ और न मिथिला से। रघुवंशी भी चुप थे और राजा जनक के स्वजन परिजन भी। ऐसे आतङ्क को चीरते हुए अशिक्षित और अनगढ़ समझने जाने वाले रीछ वानरों

का शौर्य उभरा और वे प्रत्यक्ष मरण से लड़ने के लिए प्राण हथेली पर रखकर चल दिए। एक के पीछे अनेकों की सेना बनती बढ़ती चली गयी। अन्य प्राणियों पर भी प्रभाव पड़ा। गिद्ध ने शौर्य साहस का परिचय दिया और प्रत्यक्ष काल से लड़ने में सम्भावित मरण का उल्लासपूर्वक वरण किया गिलहरी उस धर्म युद्ध में सहायता करने के लिए बालों में भर-भरकर बालू लाई। घटनाएँ अत्यधिक महत्व की भले ही न हों, पर एक तथ्य स्पष्ट होता है कि आतंक को चीरते हुए जब सत्साहस अप्रत्याशित रूप से उभरे तो समझना चाहिए कि कोई दैवी चेतना काम कर रही है और बुद्धि द्वारा लगाये जाने वाले गणित को निरस्त करके असाधारण का परिचय दे रही है। अवतार की प्रक्रिया यही है। प्रेरक राम थे या हनुमान यहस इस बात की नहीं। तथ्य यह है कि अन्तरालों ने आदर्शवाद अपनाया और घाटेका सौदा स्वीकार करने वाले दुस्साहस का परिचय दिया।

कृष्ण काल में इन्द्र के आतंक से ब्रज जलमग्न हुआ जा रहा था। सामान्य बुद्धि भाग खड़े होने के अतिरिक्त और कोई उपाय सोच ही नहीं सकती थी। असम्भव को सम्भव बनाने वाला साहस उभरा। ग्वाल बाल शिला खण्ड को दूर-दूर से समेटकर हाथ और लाठियों के सहारे लाने लगे। विशालकाय बाँध बना। बाढ़ और वर्षा से होने वाली हानि टली। इन्द्र द्वारा मनुष्य जीता। असम्भव लगने वाला कार्य सम्भव हुआ। गोवर्धन उठ गया। सृजन से श्रम शक्ति के नियोजन का सत्परिणाम प्रत्यक्ष हुआ। सामान्यतया ऐसे बड़े कार्य किसी सुसम्पन्न शासनतन्त्र से ही बन पड़ता है। निहत्थे और निर्भय श्रमिक किशोरों में न इतना ज्ञान होता है न अनुभव। सामान्य क्षणिक बुद्धि इस प्रकार के दुस्साहसों में अनर्थ होने का ही निष्कर्ष निकालती है और ऐसे झंझट में उलझने से दूर रहने का ही परामर्श देती है। इसके विपरीत महान उद्देश्य के लिए जोखिम भरे दुस्साहस के लिए कटिबद्ध हो जाना असाधारण आदर्शवादिता का ही काम है। ऐसी प्रेरणा प्रज्ञा के अतिरिक्त और कोई दे नहीं सकता।

दुर्योधन के पास जन-शक्ति और साधन-शक्ति असीम थी। पाण्डव अज्ञात वास में जान बचाते फिर रहे थे। कोई सहायक न था। सहायता करने में किसी को अपनी खैर नहीं दीखती थी। पाण्डव अपने बलबूते न सेना खड़ी कर सकते थे न शस्त्र जुटा सकते थे। ऐसी दशा में निरीह पाण्डवों का कौरवों की अनीति से लडना सम्भव न था। फिर भी असम्भव सम्भव हुआ। न्याय पक्ष के समर्थन में महाभारत रचा गया और उसमे पराजय की सम्भावना को समझते हुए भी असंख्यों आदर्शवादी धर्म युद्ध लड़ने के लिए पहुँचे। साधनहीनता ने साधनों की विपुलता को पछाड़ा। इससे असमर्थों को साहसिकता देखते ही बनती है। यह चमत्कार मात्र अवतार ही कर सकता है। आदर्शों के लिए घाटा स्वीकार करते हुए लड़ मरने की साहसिकता का अनुदान अवतार के अतिरिक्त और किसी के पास होता ही नहीं।

युद्धकाल के दुर्दिनों में जन-मानस को कुत्साओं और कुण्ठाओं ने बेतरह पाप पंक में डुबो रखा था। पुरोहित वर्ग इस अनाचार का मूर्धन्य मार्ग दर्शन कर रहा था। ऐसी दशा में विचार क्रान्ति का शंखनाद दुहरे संकट से भरा था। वातावरण की प्रतिकूलता में समर्थकों और सहयोगियो की सम्भावना अत्यन्त क्षीण थी। विपक्षियों को निहित स्वार्थों में आँच आने से क्रुद्ध होना और घातक आक्रमण करना स्वाभाविक था। अंगुलिमाल ने प्राण हरण का बीड़ा उठाया और अम्बपाली ने चरित्र हनन का। ऐसे घोर निराशा भरे वातावरण में परिस्थितियों को उलट देने वाला उभार उमड़ पड़ना निश्चय ही अप्रत्याशित था। बुद्ध के अभियान को भरपूर सहायता मिली। लाखों व्यक्ति सुख सम्पदा को लात मारकर चीवरधारी परिव्राजक बने। सम्पन्नों से लेकर निर्धनों तक ने उसका सहयोग किया। न जन-शक्ति की कमी रही न धन शक्ति की। आदर्शवादी पराक्रम आँधी तूफान की तरह उफनता चला गया और प्रतिकूलताएँ इस प्रकार अनुकूल होती चली गईं मानों मनुष्य को निमित बनाकर भगवान ने सारा विधान पहले से रच पचकर तैयार रखा हो। बुद्ध की क्षमता और परिस्थितियों की विषमताओं का असन्तुलन रहते हुए भी जो परिणाम उत्पन्न हुए इन्हें अवतार लीला के अतिरिक्त और क्या कहा जाय? आदर्शवादी कथनीय कथन तो बहुत होते रहते हैं, पर ऐसे दुस्साहस कदाचित ही कभी फूटते हैं। जब लोग आदर्शों के परिपालन में अपना सर्वस्व समर्पण करने की बात सोच ही नहीं, वरन् हजार प्रतिकूलताओं के रहते हुए भी उसे कर ही गुजरें। आदर्शवादी दुस्साहस ही अवतार है। वह एक भावनात्मक प्रवाह के रूप में उत्पन्न होता है और असंख्यों को अनुप्राणित करता है। श्रेय किस व्यक्ति को मिला। प्रमुख किसे माना जाय, यह बात नितान्त गौण है। झण्डा लेकर आगे चलने वाले की ही छवि फोटो में आती है। यद्यपि उस सैन्य दल मे अनेकों का शौर्य पुरुपार्थ झण्डा धारी की तुलना में कम नहीं अधिक ही होता है।

गांधी युग में भी ऐसा ही चमत्कार उत्पन्न हुआ। अँग्रेजों की समर्थता और कुशलता पहाड़ जितनी ऊँची थी। उनके राज्य में सूर्य अस्त नहीं होता था। युद्ध कौशल में वे अपना शानी नहीं रखते थे। निहत्थे मुट्ठीभर सत्याग्रहियों की टोली उनका कुछ बिगाड़ सकेगी इसकी आशा अपेक्षा किसी को भी नहीं थी। हजार वर्ष की गुलामी से अस्त-व्यस्त जन समुदाय में ऐसा साहस भी नहीं था कि इतने सशक्त विपक्ष के साथ लड़ मरने के लिए अभीष्ट त्याग बलिदान का परिचय दे सके। ऐसी निराशा जनक परिस्थितियों में एक अप्रत्याशित उभार उमड़ा। स्वतन्त्रता संग्राम ठना और अन्ततः विजयी होकर रहा। जन साधारण ने उस सन्दर्भ में जिस पराक्रम का परिचय दिया, वह देखने ही योग्य है। असमर्थता की समर्थता और साधनहीनों के साधन असहायों की सहायता करने के लिए वे अनुकूलताएं न जाने कहाँ से आ उपस्थित हुईं। असम्भव लगने वाला लक्ष्य पूरा होकर रहा। यही है सूक्ष्म जगत में बहने वाली प्रचण्ड शक्तिधाराओं का प्रवाह जो ऊपर ही से शान्त और सामान्य दीखते हुए भी भीतर से ज्वालामुखी जैसी विस्फोट क्षमता छिपाये बैठा रहता है। जब फूटता है तो सब कुछ उलट देता है इसी बुद्धि के लिए अगम्य विलक्षणता को अवतार कहते हैं।

अवतार का दार्शनिक विश्लेषण उस ऋतुम्भरा प्रज्ञा की उमंग भरी हलचल के रूप में किया जाता है। जो मात्र अन्तःकरणों में अनायास ही उभरती है और अपनी प्रखरता के कारण मनुष्यों को आदर्शवादी दुस्साहस कर गुजरने के लिए विवश करती है। यह अवतरण एक पर नहीं अनेकों पर होता है। जो इस ऊर्जा के वाहन बनते हैं उनके पराक्रम असामान्य होते हैं। उनकी परिस्थिति और मनः स्थिति में कोई तालमेल नहीं रहता। असाधारण सोचना और असाधारण कर गुजरना सामान्य लोगों का काम नहीं। लोग तो संकीर्ण स्वार्थपरता से आगे की बात सोच ही नहीं पाते। उन्हें निकट का ही दीखता है दूर का नहीं, अस्तु न लोभ छोड़ते बनता है और न शौर्य अपनाते। अवतार इस प्रचलन से विपरीत सोचने और बिना समर्थन पाये एकाकी चल पड़ने की सामर्थ्य प्रदान करता है। इस आवेश में कितनी ही व्यक्ति वह कर गुजरते हैं जिसे दैवी पराक्रम के रूप में माना जाता है। इस प्रकार की चेष्टायें अपने कर्ता को धन्य बनाती हैं। वह असंख्यों के लिए उत्कृष्ट पराक्रम कर गुजरने का साहस अपने अनुकरणीय आदर्श द्वारा प्रदान करता रहता है। ऐसे व्यक्ति देवदूत कहलाते हैं। सामान्य भाषा में इन्हें महा मानव कहा जाता है। अवतार का प्रधान कार्य अपने लीलाकाल में देवदूतों में अदृश्य वातावरण की उच्चस्तरीय उमंगे भर देना भर होता है। शेष कार्य तो वे युग सृजेता स्वयं ही करते रहते हैं। सफलता सहज ही उन्हें भी नहीं मिल जाती। प्रतिकूलताओं से लड़ने का पराक्रम और अपने अनुदानों से लोक श्रद्धा उभारने वाला वरदान प्रस्तुत करते रहना ऐसे लोगों के लिए तनिक भी कष्ट साध्य नहीं होता। सामान्य लोग जिसे मुसीबत मोल लेना कहते हैं। मनीषियों के लिए वही कष्ट सहना, युग साधना के रूप में सम्मानित होता है। तत्वदर्शी इन्हीं अदृश्य हलचलों को जागृत आत्माओं के अन्तःकरणों में उछलती देखते हैं तो कहते है अवतार का आवेश असन्तुलन को सन्तुलन में बदलकर ही रहेगा।

अवतार क्या करता है? उसके लीला प्रसंग क्या होते हैं? इसका स्थिर निश्चय नहीं हो सकता। परिस्थिति के अनुरूप हर अवतार ने अपने क्रिया कलाप निर्धारित किये और आवश्यकतानुसार बदले है। लीलाओं का महत्व नहीं। उनमें पाई जाने वाली विलक्षणताओं एवं विसंगतियों का भी कोई महत्व नहीं। सारभूत तथ्य इतना ही है कि उस अदृश्य प्रेरणा से हर सुसंस्कृत अन्तरात्मा में कुछ ऐसा कर गुजरने का दुस्साहस उमड़ता है जिसको चरितार्थ होते देखकर आदर्शवादिता असम्भव नहीं लगती वरन् व्यवहार साध्य प्रतीत होती है। प्रवाह को उत्पन्न करने में भागीरथों को अग्रणी भर होना पड़ता है, आगे तो उसी धारा में असंख्य सामान्यों को अनायास ही बहते देखा जाता है।

प्रज्ञा अवतरण में उसी परम्परा का निर्वाह होने जा रहा है। श्रद्धा और विवेक का संगम युग शक्ति के रूप में प्रकट हो रहा है। श्रद्धा अपनाने में पूर्ण तथ्यों को खोजने और यथार्थता अपनाने के लिए विवेक का अवलम्बन लेना पड़ता है। अन्यथा अविवेक के रहते अन्ध श्रद्धा ही पनपती है और उससे लाभ के स्थान पर हानि होती है। बलिष्ठता शरीर की बुद्धिमत्ता मस्तिष्क की, श्रद्धा अन्तरात्मा की शक्ति है। यही चेतना क्षेत्र की सर्वोपरि क्षमता है। श्रद्धा ही मनुष्य को अनन्त सामर्थ्य प्रदान करती है। उत्कृष्टता को व्यवहार में उतारने वाला दुस्साहस उसी उदगम से प्रस्फुटित होता है। जिन्हें श्रद्धा की जितनी मात्रा मिल सकी उन्होंने उतने ही उच्चस्तरीय और उतने ही सुविस्तृत महान कार्य सम्पन्न किये हैं। गीताकार ने सच ही कहा है— "श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः" यह मनुष्य मात्र श्रद्धा का पुतला है। जिसकी अन्तः श्रद्धा जिस स्तर की है उसका जीवन स्वरूप ठीक उसी के अनुरूप बन

जाता है। ईश्वरीय प्रयोजन को पूरा करने में अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ की श्रद्धांजलि लेकर युग देवता के चरणों में उपस्थित होने वाले अवतार के सहधर्मी सहकर्मी माने जाते हैं। अनन्त श्रेय के स्वामी ऐसे ही लोग बनते हैं। युग शिल्पियों के स्तर को विस्तार होना इस तथ्य का प्रमाण है कि अवतार की तत्परता कब कितनी प्रखर हो रही है।

श्रद्धा से सामर्थ्य उत्पन्न होना सुनिश्चित तथ्य है। सामर्थ्य का आकर्षण साधनों और सहयोगियो को प्रचुर परिमाण में खींचकर बुला लेता है। उच्चस्तरीय उद्देश्यों की पूर्ति सदा इसी प्रकार सम्भव होती रही है। साधनों मे श्रद्धा उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं है। साधन सम्पन्न दृश्य खड़े करने और हलचलों का चलचित्रों जैसा प्रतिबिम्ब भर खड़ा कर सकते हैं। मात्र साधनों से विनिर्मित प्रयास लोगों को आकर्षित चमत्कृत तो करते है पर अनुकरण की प्रेरणा नहीं देते। यही कारण है कि धनिकों, कलाकारों, विद्वानों प्रचारकों द्वारा खड़े किये गये अभियान आन्दोलन अपनी उछल कूद का परिचय तो देते हैं पर कोई ठोस कार्य कर सकने में सफल नहीं होते। जहाँ तक मनुष्यो को दिशा धारा देने का प्रश्न है उनकी अन्तः स्थिति में उत्कृष्टता, अभिवर्धन का प्रश्न है वहाँ तक एक ही उपाय कारगर होता है .... श्रद्धा सिक्त व्यक्तित्वों का अनुकरणीय आचरण और साधन श्रद्धा के बिना और किसी प्रकार बन नहीं पड़ता श्रद्धा साधनों के अभाव में भी अपना चमत्कार प्रस्तुत करती है जब कि साधनों की प्रशंसा तक ही सीमित रहना पड़ता है वे श्रद्धा का संचार कर सकने में सदा असफल ही बने रहते हैं।

युग परिवर्तन बड़ा काम है लोक मानस को अवांछनीयता से विरत करके उत्कृष्टता के प्रति भावविभोर हो उठने की स्थिति को समष्टि व्यक्तित्व का कायाकल्प ही कहा जा सकता है। यह बड़ा काम है इसके लिए बड़ी शक्ति चाहिए। चेतना को प्रभावित करने वाली शक्ति एक मात्र श्रद्धा ही है। इसी को गँवा बैठने से अपने समय को दुर्दशा ग्रस्त होना पड़ा है। इसी अभाव के कारण साधनों की बहुलता भी सुख शान्ति को बनाए रहने तक में सफल नहीं हो पा रही है। समस्याओं और विपत्तियों का तथ्य मूल कारण आस्था संकट के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। श्रद्धा का सम्वर्धन ही प्रकारान्तर से नव युग का सतयुग का अवतरण है। सूर्य की किरणें पहले पहाड़ की चोटी पर दिखाई देती हैं पीछे नीचे उतर कर समस्त भूतल को आलोक प्रदान करती हैं। प्रज्ञावतार का प्रभाव सबसे पहले जागृत आत्माओं पर चमकेगा, तदुपरान्त जन-साधारण को उस दिव्य अनुदान से लाभान्वित होने का अवसर मिलेगा।

नवयुग का आधार-अश्रद्धा का उन्मूलन और श्रद्धा का सम्वर्धन

अश्रद्धा अर्थात् आदर्शवादिता की अवमानना। अन्ध श्रद्धा अर्थात् व्यक्तियों, क्रियाओं या देव भूतों की विलक्षणता मे आसक्ति। श्रद्धा अर्थात् उत्कृष्टता की सर्वोपरि उपलब्धि के रूप में अवधारणा। इस व्याख्या को समझ लेने पर उनकी लाभ-हानि का अनुमान लगा सकना भी सम्भव होता है। आदर्शों की अवमानना का अर्थ है—उस रिक्तता को पशु प्रवृत्तियों से भरना। जो भला नहीं होगा उसे बुरा होना चाहिए। जब दिन नहीं होता तब रात रहती है। अन्धकार और प्रकाश की मध्यवर्ती और कोई रेखा नहीं है। अश्रद्धा की प्रतिक्रिया चिन्तन की भ्रष्टता और आचरण की दुष्टता भयावह रूप धारण करती और श्मशान में होने वाले प्रेत पिशाचों के नृत्य जैसा जीवन क्रम एवं वातावरण विनिर्मित करती है। धर्म क्षेत्र में घुसी हुई विकृतियों तथा बुद्धिवाद के नाम पर पनपी भ्रान्तियो ने इन दिनों अश्रद्धा की भावनात्मक अराजकता उत्पन्न की है। परिणाम सामने हैं। मनुष्य क्रमशः नरपशु, नरकीटक, नर पिशाच बनता और पतन के गर्त में गिरता चला जा रहा है।

अन्ध श्रद्धा ने भ्रांतियों के जंजाल में चिन्तन को उलझाया और कष्टकारक भूलभुलैयों में भटकाया है। भोले भावुक व्यक्तियों को चतुर लोग अन्धश्रद्धा के रस्से बांधकर ही अनुपयुक्त मान्यताओं के गर्त में धकेलते हैं। निहित स्वार्थों का व्यवसाय अन्धश्रद्धा की अन्धेर नगरी में जिस सफलता के साथ चलता है उतना अन्यत्र कहीं नहीं। भीरुता और बौद्धिक अपंगता मिलकर एक ऐसा दलदल प्रस्तुत करती है जिसमें जादू-टोना, देवभूत ज्योतिष से लेकर सामाजिक कुरीतियों जैसी विकृतियाँ ही पल्ले पड़ती हैं। तथाकथित प्रगतिशीलता अश्रद्धा में और पिछड़ी मनःस्थिति अन्ध श्रद्धा में भटकती है। आस्था संकट इन्हीं

दोनों के समन्वय का नाम है। चेतना की क्षमता को अनर्थ में धकेलने और निरर्थक बनाने की दुरभिसंधि इन दोनों ने ही मिलकर रची है। भटकी और बौराई मनुष्य जाति को इन्हीं दोनों के अभिशाप सहने पड़ रहे हैं।

प्रज्ञा युग में श्रद्धा को मानवी अन्तरात्मा में प्रतिष्ठित होने का अवसर मिलेगा। इन उपलब्धियों से जो जितना सम्पन्न होगा उसे उसी अनुपात में अपने दृष्टिकोण एवं आचरण का स्तर ऊंचा उठाने का सुअवसर प्राप्त होगा। कहना न होगा कि इसी सौभाग्य के सहारे व्यक्तित्व में प्रखरता उत्पन्न होती है और भौतिक सफलताओं से लेकर आत्मिक विभूतियों की अनेकानेक सुसम्पन्नतायें उपलब्ध होती है। आत्मकल्याण और लोक कल्याण के दोनों ही जीवन-लाभ मात्र श्रद्धालु ही प्राप्त करते हैं।

श्रद्धालु अपने को आत्मा मानता है और उसके सन्तोष एवं कल्याण के लाभ को प्रमुखता देता है। शरीर उसे मात्र वाहन, उपकरण प्रतीत होता है। अतएव उसके भरण-पोषण का समुचित ध्यान रखते हुए भी शरीराध्याय की कीचड़ में कृमि-कीटकों की तरह आत्म सात नहीं करता। इन्द्रियों की अनुभूति क्षमता से जीवनचर्या में सहयोग तो लेता है पर ऐसी स्थिति नहीं आने देता कि इन्द्रियाँ ही अधिपति बन बैठें और उन्हीं की वासना तृप्ति के लिए शारीरिक मानसिक सन्तुलन ही नहीं नीति मर्यादा तक को गंवाना पड़े। श्रद्धालु मस्तिष्क की लगन काम में रहती है और उसे उच्छृङ्खल घोड़े जैसा आचरण नहीं करने देता। संग्रह की तृष्णा, बड़प्पन की अहंता, उपभोग की लिप्सा, परिजनों में आवश्यक आसक्ति, ईर्ष्या, द्वेष, मद, मत्सर जैसी व्याधियाँ, दिशाहीन भटकन जैसी वितृष्णाएँ निरन्तर मानसिक सन्तुलन को अस्त-व्यस्त करती रहती हैं। उद्विग्नता की अनेकानेक परतें मनः क्षेत्र को विक्षुब्ध बनाये रहती हैं। तनाव और खीज से विकृत हुआ मुख मण्डल कितना चमड़ी की सुन्दरता रहते हुए भी विद्रूप और कुरूप लगता रहता है। यह स्थिति शारीरिक रुग्णताओं का पहाड़ टूट पड़ने से भी अधिक दुःखदायी होती है। इसका समग्र उपचार, उन्मूलन, निराकरण श्रद्धा की रामबाण औषधि ही कर सकती है। गुण, ग्राहकता, सौन्दर्य दृष्टि, विधायक चिन्तन, उदार आत्मीयता, अभिनेता जैसी मनः स्थिति बन जाने पर हर परिस्थिति मे जी हलका रखा जा सकता है। ऐसा हलका मन रहने पर ही गुत्थियों के समाधान और प्रगति के निर्धारण सही रूप में सम्भव हो सकते हैं। कहना न होगा कि सौजन्य और सौमन्यस्य श्रद्धा तत्व के ही दो प्रतिफल हैं। मनीषी प्रकारान्तर से श्रद्धालु को ही कहते हैं। विवेक मात्र उन्हीं के मस्तिष्क में रहता है। दृष्टा एवं तत्वदर्शी उन्हीं को कहा जाता है।

श्रद्धा, संयम और अनुशासन द्वारा शरीर को स्वस्थ और दीर्घ जीवन प्रदान करती है। श्रद्धा में सद्विचारणा और सद्भावना का अभ्यास होता है। फलतः सामान्य स्तर का मस्तिष्क भी ऋषिकल्प मेधा का भरा रहता है। वे चन्दन की तरह मँहकते और वातावरण को शीतल सुव्यवस्थित बनाये रहते है। चिन्तन की उपयुक्त दिशा धारा मिलने से उनकी क्रियाधारा उत्कृष्टता की ओर प्रवाहित होती है। इसका परिणाम उस स्तर की सफलता बनकर सामने आता है जिसे सामान्यतया वरदान या चमत्कार की संज्ञा दी जाती है।

श्रद्धा की परिणित आत्मीयता और सुव्यवस्था में होती है। परिवारों का आनन्द और उत्साह, सहयोग और सौजन्य इसी मनःस्थिति में सम्भव रहता है। ऐसा वातावरण जिन कुटुम्बों में रहेगा उन्हीं में श्रेष्ठ नागरिक और नर रत्न पैदा होते हैं। धन से विलासिता और वैभव के साधन बन सकते हैं, पर उसमें उद्धत अहंकार का पोषण होने के अतिरिक्त और कुछ बनता नहीं, ऐसी सड़न में विकृत व्यकित्व ही जन्मते और पलते हैं। ऐसे कुटुम्ब बाहर से एक बाड़े में रहने की तरह इकट्ठे भले ही दीखें पर पारस्परिक स्वभाव और उपयुक्त वातावरण के अभाव में दुरभिसंधियाँ ही पनपती हैं। ऐसे कुटुम्ब मिलने की अपेक्षा एकाकी रहने वाले अपेक्षाकृत अधिक सुखी रह सकते हैं।

श्रद्धा ही वह तत्व है जो छोटे कुटुम्बों को आत्मीयता के सूत्र में बांधता है और विवेक उल्लास के साथ गरीबी में भी अमीरों से कहीं अधिक सन्तोष प्रदान करता है। पति पत्नी के बीच, भाई बहिन के बीच, अभिभावक संरक्षकों के बीच जो आत्मीयता और उदार सेवा साधना की भाव सम्वेदनाऐं मचलती रहती हैं उन्हीं पर कुटुम्ब का आनन्द और उत्थान टिका हुआ है श्रद्धा तत्व हटा देने के बाद कुटुम्बियों के बीच आपाधापी, खींचतान, उठक-पटक, रोष प्रतिशोध, घृणा ईर्ष्या के अतिरिक्त और कुछ बचता

ही नहीं। ऐसे कुटुम्बों को प्रतिदिन अनुभव में आने वाला तर्क ही माना जायेगा। परिवार संस्था की गरिमा श्रद्धा सद्भावना के अतिरिक्त किसी प्रकार न तो स्थिर रह सकती है और न बढ़ सकती है।

धन दुधारी तलवार है। उसका सदुपयोग बन पड़े तो व्यक्ति का भी कल्याण है और समाज का भी। दुरुपयोग होने लगे तो बढ़ी हुई सम्पदा के कारण उससे हर प्रकार हानि ही हानि होती है। दुर्व्यसन बढ़ने दुर्गुण पनपने और कुकृत्य बन पड़ने में दुर्जनों का आर्थिक सुविधा सम्पन्न होना भी एक बड़ा कारण है। धन एक शक्ति है। दुर्बुद्धि के हाथों उसका उपयोग अनाचरण एवं विनाश के लिए ही हो सकता है श्रद्धा तत्व अन्तःकरण में रहने पर धन के उपार्जन और उपयोग मे पूरी पूरी सावधानी बरतनी होती है। कठोर परिश्रम के द्वारा ईमानदारी के साथ मात्र उपयोगी कार्य करके ही आजीविका कमाई जाय, यह दृष्टि सर्व प्रधान है। इस प्रकार यदि स्वल्प उपार्जन होता है तो इतने में ही काम चलाने की तैयारी आरम्भ से ही करली जाती है। इसका एक मात्र उपाय है ब्राह्मण जीवन, सादगी का निर्वाह औसत भारतीय के स्तर पर गुजारा करने में गर्व गौरव की अनुभूति। मितव्यता, सादगी, श्रमशीलता और ईमानदारी इन चारों का समन्वय ही अर्थक्षेत्र में श्रद्धा का समन्वय है। ऐसे श्रद्धालु व्यक्ति न तो ठाटबाट बनाते हैं न सन्तान की संख्या बढ़ाकर अनावश्यक भार वहन करने की मूर्खता बरतते हैं। योग्यता बढ़ाने, मनोयोग पूर्वक श्रम करने और मितव्ययता बरतने की नीति अपना लेने पर किसी को भी आर्थिक तंगी नहीं भुगतनी पड़ती। ऋण लेने, याचना करने अथवा कुकृत्यों पर उतारू होने की उन्हें आवश्यकता ही नहीं पड़ती। ऐसे लोग सीमित आजीविका रहने पर भी यथा सम्भव दूसरों की मदद कर सकते हैं। कृपणता तो लोभ और मोह की मात्रा बढ़ जाने संग्रह एवं उपभोग की महत्वाकांक्षा अनियन्त्रित हो जाने पर ही अनीति उपार्जन का सिलसिला चलता है। सौम्य निर्वाह भर के साधनों में सन्तुष्ट रहने वाला न तो दरिद्र होता है न दुर्व्यसनी, न कुकर्मी। धन की औचित्य मर्यादा का निर्वाह महत्वपूर्ण है। संग्रह का परिमाण नहीं। उपार्जन उपयोग में ही न लगे वरन् उसमें पिछड़ेपन को दूर करने, असमर्थो को सहायता देने तथा सत्प्रवृत्तियों को सींचने का तथ्य भी सुनिश्चित रूप से जोड़ रखा जाय। खर्च की सामान्य मद में ही उदार दानशीलता को भी एक अनिवार्य आवश्यकता मानकर चला जाय। इन्हीं तथ्यों का समावेश अर्थ क्षेत्र में प्रयुक्त होने वाली श्रद्धा का रहता है। प्रज्ञावतरण की प्रेरणा अन्यान्य क्षेत्रों की तरह अर्थ क्षेत्र में भी श्रद्धा का समन्वय करने की रहेगी। फलतः अनेक दुष्प्रवृत्तियों की जननी दरिद्रता और उद्धतता का कहीं कोई अस्तित्व ही न रह जायेगा।

सामाजिक क्षेत्र की बुराइयाँ, कुरीतियाँ, अनैतिकतायें, मूढ़ मान्यतायें प्रकारान्तर से व्यक्तियों में भरी हुई निजी निकृष्टताओं का सामूहिक प्रदर्शन मात्र है। समाज का अलग से कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं। मनुष्यों की सामूहिकता ही समाज है। श्रेष्ठ नागरिकों के बिना समुन्नत समाज बन ही नहीं सकता। प्राचीन काल में पंचायतें समाज व्यवस्था बनाती थीं। आजकल सारी शक्ति सिमटकर शासन के हाथ में चली गई हैं। पंचायतें भी मुकदमा निपटाने अथवा सफाई जैसी छुट-पुट व्यवस्था बनाने में सीमित हो गई। शासन के कानून अपराधों को रोकने भर के लिए बने हैं। सत्परम्पराओं का प्रचलन करने की न तो उसमें आकांक्षा रह गई है और न सामर्थ्य। सुरक्षा, शिक्षा चिकित्सा, उद्योग, परिवहन जैसे कार्यों की साज संभाल ही उसके काबू से बाहर होती जा रही है। सहकारिता को उद्योगों में समाविष्ट करने तथा नीति शिक्षा को पुस्तकीय पाठ्यक्रम में जोड़ने, रेडियो, टेलीविजन आदि पर कुछ प्रचार कर देने जैसे बाल प्रयास ही शासन के द्वारा वर्तमान स्थिति में बन सकते हैं। पंचायतें भी शासन का अङ्ग भर रह गई हैं और भौतिक प्रयोजनों की ही यत्किंचित देखभाल कर पाती हैं। समाज व्यवस्था लड़खड़ाने का कारण ऐसे तन्त्र का अभाव है जो जन-समुदाय में आदर्शवादी आस्थाओं को उभार सके। साथ ही ऐसा वातावरण भी बना सके जिसमें दुष्प्रवृत्तियों को सहन करने तथा समर्थन देने वालों को लोकमत का तिरस्कार भाजन बनना पड़े। न्याय और औचित्य का समर्थन अनीति एवं उच्छृङ्खलता का मान-मर्दन करने की प्रखरता जन-जन में उत्पन्न होने पर ही स्वस्थ समाज की संरचना हो सकती है। श्रेष्ठ प्रचलनों की, सत्परम्पराओं की प्रतिष्ठा तभी सम्भव है जब व्यक्ति को निजी जीवन में आदर्शवादिता अपनाने की उत्कृष्ट श्रद्धा बनी रहे। इसके अभाव में वह अपने पापों पर पर्दा डालेगा। अवांछनीय तत्वों का

प्रत्यक्ष या परोक्ष समर्थन करेगा तथा हेय परम्पराओं से जूझने के स्थान पर उनके समर्थन का ही उपक्रम करता रहेगा।

वस्तुस्थिति समझ लेने के उपरान्त समाज की एक ऐसी सम्भावना आवश्यक हो जाती है जो सामाजिक प्रचलनों और वैयक्तिक आदर्शों को उत्कृष्टता की दिशा मे उछाल सके अनौचित्य के विरुद्ध असहयोग एवं विरोध का वातावरण बना सके ऐसा समाज, अध्यात्म दर्शन एवं धर्म प्रचलन जैसे उच्चस्तरीय आदर्शों के लिए बने संगठनों द्वारा ही विनिर्मित हो सकता है। जो व्यक्ति के अन्तराल को स्पर्श करेगा जो उस मर्मस्थल में सदाशयता का बीजारोपण कर सकेगा, उसी के लिए देव समाज की कल्पना कर सकना और तदनुरूप ढाँचा खड़ा कर सकना सम्भव होगा। समाज में सत्परम्पराओं का प्रवचन सृजन पक्ष है और दुष्प्रवृत्तियों का उन्मूलन निषेध पक्ष दोनों को मिलाने से ही समग्रता बनती है। धर्म तन्त्र का संगठन ऐसा होना चाहिए जो व्यक्ति और समाज के अन्तराल को झकझोरने में उत्कृष्टता के ढाँचे में ढाल सकने में भावना और क्रिया को साथ लेकर चल सके।

व्यक्ति और समाज में धर्म धारणा का बहुत बड़ा स्थान है। मनुष्य के आदिम प्रयत्नों से लेकर आधुनिकतम प्रतिपादनों मे धर्म तत्व का समावेश सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप होता रहा है। यह आत्मा की आवश्यकता और अन्तःकरण की पुकार है। इसका दमन न तो बुद्धिवाद कर सकता है, न प्रत्यक्षवाद न उपयोगितावाद, धर्म की, कर्तव्य की, उत्कृष्टता की आवश्यकता ईश्वरवादी अनीश्वरवादी सभी को समान रूप से अनुभव होती है। अस्तु नवयुग की साज सज्जा में धर्म धारण को प्रमुखता देने से हो काम चलेगा। देव समाज की परिकल्पना को मूर्तिमान करने में धर्म तन्त्र की पवित्रता प्रखरता और सङ्गठनों के तीनों ही पक्ष उच्चस्तरीय बनाये जाने चाहिये। जिस दिन इस आवश्यकता को गम्भीरता पूर्वक समझा जायगा और उसके लिए भावभरी तत्परता का उपयोग किया जायगा, उसी दिन से उज्ज्वल भविष्य का सुनिश्चित आरम्भ हो जायगा।

मोटी दृष्टि से अनेकों समस्यायें और विपत्तियां व्यक्ति एवं समाज के सम्मुख खड़ी दीखती हैं। वे परिस्थिति जन्य प्रतीत होती है। फलतः उनके उपाय भी उसी स्तर के होते रहते हैं। गरीबी, अशिक्षा, बीमारी, अपराध, विग्रह, आक्रमण जैसे बड़े कारण ही लोक नेताओं के मस्तिष्क पर छाये रहते हैं। वे उनके निराकरण का उपाय साधनों की सहायता से खोज निकालने का प्रयत्न करते हैं। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों की सारी शक्ति सरकारों के हाथ में केन्द्रित है। अस्तु उस मञ्च को हथियाने अथवा उसी आधार पर गुत्थियों को सुलझाने में मूर्धन्य वर्ग का सारा ध्यान और प्रयास केन्द्रीभूत बना रहता है। गुत्थियों को सुलझाने की वर्तमान पद्धति यही है। स्थूल दृष्टि उसमें अधिक न तो कुछ सोच सकती है और न कुछ कर ही सकती है। जो हो रहा है, होता रहा है वह कम नहीं है पर गुत्थियाँ सुलझाने के स्थान पर उलझती ही जा रही हैं। एक छेद सीने का काम पूरा नहीं हो पाता कि दस नये छेद नये सिरे से उभरते सामने आ खड़े होते हैं। यह क्रम चिरकाल से चल रहा है। बार-बार परखा अपनाया जाता है। फिर भी निराशा के और व्यग्रता बढ़ने के अतिरिक्त और कुछ हाथ नहीं लगता।

उपाय आज खोया जाय या हजार वर्ष बाद प्रयत्न आज किया जाय या हजार वर्ष बाद। इससे कुछ बनता विगड़ता नहीं। व्यक्ति और समाज के सम्मुख खड़ी हुई अनेकानेक समस्याओं, विपत्तियों और विभीषिकाओं का हल निकलेगा तभी तब मानवी अन्तःकरण में उत्कृष्ट आस्थाओं के बीजारोपण तथा परिपोषण का प्रयास युद्ध स्तरीय तत्परता के साथ आरम्भ होगा। इसके लिए न राजनीति से काम चलेगा न अर्थ तन्त्र के बलबूते कुछ ठीक काम हो सकेगा। उसे मात्र धर्म तन्त्र ही कर सकता है। आज धर्म का कलेवर उपहासास्पद और विद्रूप हो गया है, यह ठीक है। किन्तु यह भी ठीक है कि इसी को परिष्कृत, प्रखर एवं सुनियोजित बनाने पर भावनात्मक नव निर्माण करने के अतिरिक्त और कोई उपाय है नहीं। सम्पदा को अर्थ तन्त्र, शरीर को चिकित्सा तन्त्र, मस्तिष्क को शिक्षा तन्त्र व्यवस्था को शासन तन्त्र प्रभावित कर सकता है, परन्तु अन्तःकरण को प्रभावित करने की क्षमता धर्मतन्त्र के अतिरिक्त और किसी मे भी है नहीं। टूटे को सुधारा जाय या उसे नये सिरे से ढाला जाय यह तकनीकी प्रश्न है। मूल तथ्य जहाँ का तहाँ रहता है कि विपत्तियों से छुटकारा पाने और उज्ज्वल

ही नहीं। ऐसे कुटुम्बों को प्रतिदिन अनुभव में आने वाला तर्क ही माना जायेगा। परिवार संस्था की गरिमा श्रद्धा सद्भावना के अतिरिक्त किसी प्रकार न तो स्थिर रह सकती है और न बढ़ सकती है।

धन दुधारी तलवार है। उसका सदुपयोग बन पड़े तो व्यक्ति का भी कल्याण है और समाज का भी। दुरुपयोग होने लगे तो बढ़ी हुई सम्पदा के कारण उससे हर प्रकार हानि ही हानि होती है। दुर्व्यसन बढ़ने दुर्गुण पनपने और कुकृत्य बन पड़ने में दुर्जनों का आर्थिक सुविधा सम्पन्न होना भी एक बड़ा कारण है। धन एक शक्ति है। दुर्बुद्धि के हाथों उसका उपयोग अनाचरण एवं विनाश के लिए ही हो सकता है श्रद्धा तत्त्व अन्तःकरण में रहने पर धन के उपार्जन और उपयोग में पूरी पूरी सावधानी बरतनी होती है। कठोर परिश्रम के द्वारा ईमानदारी के साथ मात्र उपयोगी कार्य करके ही आजीविका कमाई जाय, यह दृष्टि सर्व प्रधान है। इस प्रकार यदि स्वल्प उपार्जन होता है तो इतने में ही काम चलाने की तैयारी आरम्भ से ही करली जाती है। इसका एक मात्र उपाय है ब्राह्मण जीवन, सादगी का निर्वाह औसत भारतीय के स्तर पर गुजारा करने में गर्व गौरव की अनुभूति। मितव्यता, सादगी, श्रमशीलता और ईमानदारी इन चारों का समन्वय ही अर्थक्षेत्र में श्रद्धा का समन्वय है। ऐसे श्रद्धालु व्यक्ति न तो ठाटबाट बनाते हैं न सन्तान की संख्या बढ़ाकर अनावश्यक भार वहन करने की मूर्खता बरतते हैं। योग्यता बढ़ाने, मनोयोग पूर्वक श्रम करने और मितव्ययता बरतने की नीति अपना लेने पर किसी को भी आर्थिक तंगी नहीं भुगतनी पड़ती। ऋण लेने, याचना करने अथवा कुकृत्यो पर उतारू होने की उन्हें आवश्यकता ही नहीं पड़ती। ऐसे लोग सीमित आजीविका रहने पर भी यथा सम्भव दूसरों की मदद कर सकते हैं। कृपणता तो लोभ और मोह की मात्रा बढ़ जाने संग्रह एवं उपभोग की महत्वाकांक्षा अनियन्त्रित हो जाने पर ही अनीति उपार्जन का सिलसिला चलता है। सौम्य निर्वाह भर के साधनों में सन्तुष्ट रहने वाला न तो दरिद्र होता है न दुर्व्यसनी, न कुकर्मी। धन की औचित्य मर्यादा का निर्वाह महत्वपूर्ण है। संग्रह का परिमाण नहीं। उपार्जन उपयोग में ही न लगे वरन् उसमें पिछड़ेपन को दूर करने, असमर्थों को सहायता देने तथा सत्प्रवृत्तियों को सींचने का तथ्य भी सुनिश्चित रूप से जोड़ रखा जाय। खर्च की सामान्य मद

अनास्था का विष घटने लगे और श्रद्धा का अमृत उमंगने लगे तो फिर व्यक्तित्व की गरिमा गगनचुम्बी होती चलती है। ऐसे लोगों के द्वारा जो भी काम होते हैं वे अपनी विशिष्टता और सुन्दरता का परिचय देते रहते हैं। निजी जीवन में वे स्वस्थ, प्रसन्न, सन्तुलित, आशान्वित एवं निश्चिन्त पाये जाते है। कौटुम्बिक जीवन मे सद्भावना, सहकारिता एवं सुव्यवस्था का वातावरण बना रहता है और छोटे घर घरोंदे स्वर्ग की प्रतिकृति प्रतीत होते रहते है। पारिवारिक जीवन में यों आवश्यकता तो सम्पन्नता और सुविधा की भी पड़ती है पर उसकी कमी भी सहन हो सकती है यदि शालीनता की कमी न पड़ने पाये। सम्पन्न परिवारों में भी दुरभि संधियाँ और दुर्भावनाएँ भरी रहती हैं जबकि विपन्नताजन्य कठिनाइयों का बाहुल्य रहते हुए भी स्नेह सौहार्द्रय के सहारे हँसता हँसाता जीवन सरलता पूर्वक जिया जा सकता है। इस रहस्य को श्रद्धासिक्त मनोभूमि ही समझने और अनुभव करने में समर्थ रहती है। अन्य लोग तो इस कर्म से अपरिचित रहने के लिए विपुल खर्च और कठिन श्रम करने पर भी पारिवारिक सद्भावना के लिए तरसते ही रहते हैं। पत्थर में भी प्रगति जगाने की क्षमता श्रद्धा में होती है। यह जग सके तो परस्पर स्वाभाविक स्वार्थ शृंखला में बंधे हुए परिजनों के बिखरने और विद्रूप रहने का कोई कारण ही नहीं रह जाता।

सजातियों को खींच बुलाने की क्षमता से मानवी अन्तःकरण सदा भरा पूरा रहा है। अपनी आकृति के तो नहीं पर प्रकृति के असंख्यो मनुष्य सहज ही सम्पर्क में आते और सरलतापूर्वक घनिष्ठ होते चले जाते है। सामाजिक अव्यवस्था से त्रास तो सभी को मिलता है पर साधारणतया होता यही है कि अपनी निकृष्टता ही अन्य निकृष्ट व्यक्तियों में कस लेती और घनिष्ठ बनाती है। फलतः आग से घनिष्ठता बढ़ाने पर झुलसने का खतरा उठाने की तरह अनेको दुष्परिणाम भुगतने पड़ते हैं। जमाना खराब होने की शिकायत आमतौर से ऐसे ही लोग करते हैं जिन्होने सम्पर्क बढ़ाने साथी सहयोगी चुनने में उत्कृष्टता की कसौटी पर कसने की आवश्यकता नहीं समझी और निकृष्ट स्तर से बचने की सावधानी नहीं बरती। सज्जनों को अपने स्तर के साथी ढूँढने में भी अधिक कठिनाई नहीं होती। ऐसा सम्पर्क निकटवर्ती न होने पर भी दूरस्थ रहने की स्थिति में भी सहायता करता रहता है यहाँ तक कि दिवंगत महामानवों के साहित्य और चरित्र से भी इतना लाभ उठाया जा सकता है जिनका निकटवर्ती सामान्यव्यक्ति बहुत घनिष्ठ रहने पर भी वे दे नहीं सकते। सत्संग कुसंग की महिमा सभी कहते और मानते हैं पर यह भूल जाते हैं कि सौभाग्य दुर्भाग्य किसी पर अनायास आकाश से नहीं टपकता, आग्रह, अनुरोध एवं प्रयत्न करने पर ही उपलब्ध होता है। मनः स्थिति ही परिस्थितियों के लिए उत्तरदायी होती है और सुनिश्चित तथ्य को अमान्य ठहराने की बिल्कुल भी गुंजायश नहीं है। श्रद्धालु के सगे सम्बन्धी सज्जन ही हो सकते हैं। अन्य प्रकार के या तो निकटस्थ होते ही नहीं; यदि किसी प्रकार हो भी जाँय तो वे देर तक साथ नहीं रहते। श्रद्धा ही स्वर्गीय वातावरण का सृजन करती है और इससे पहले सज्जनों का समुदाय अपने इर्द गिर्द जमा कर लेती है।

दूसरों की दृष्टि में किसी व्यक्ति के प्रति आकर्षण तो अनेक आधारों पर हो सकता है पर उसके प्रति सघन सम्मान का एक ही आधार है- चरित्र में प्रामाणिकता बनकर उछलने वाली आदर्शवादी श्रद्धा। यही है किसी व्यक्ति का सबसे बड़ा वैभव जिससे प्रभावित होकर लोग पूरा और पक्का विश्वास करते तथा सघन सहयोग प्रदान करते हैं। महामानवों की चमत्कारी सफलताओं का प्रधान कारण उन्हें उपलब्ध हुआ जन-सहयोग ही है। आरम्भ में परीक्षाकाल में श्रेष्ठ व्यक्ति को अपनी प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए कई प्रकार के अवरोधों का सामना करना पड़ता है। यही वह कसौटी है जिस पर किसी की आदर्शवादी श्रद्धा को कसा परखा जाता है। इसके बिना झूठे सच्चे का-नकली असली का भेद भी तो स्पष्ट नहीं हो सकता। जब कोई व्यक्ति लोभ और भय के दबावों को स्वीकार करके अपनी उत्कृष्टता पर अडिग बना रहता है तो जनसाधारण को वास्तविकता स्वीकार करनी पड़ती है। यही वह परिपक्वावस्था है जिसमें जन सम्मान और जन सहयोग का उदार अनुदान अजस्र रूप से प्राप्त होने लगता है। जन नेतृत्व करने वाले इतिहास के पृष्ठों पर अपने पद

भविष्य को मूर्तिमान करने में धर्मतन्त्र की सहायता लिये बिना काम किसी भी प्रकार नहीं चल सकता। बहस शब्द की नहीं विवेचना तथ्य की है। किसी को धर्म अध्यात्म से चिढ़ हो तो उनको सन्तुष्ट कराने वाले शब्द दूसरे शब्द कोष में ढूँढ निकाले जा सकते हैं। पर करना यह होगा कि व्यक्ति एवं समाज की अनेकानेक दिशाधाराओं को प्रभावित करने वाले अन्तःकरण की उत्कृष्टता को सम्पदा से सुसम्पन्न बनाया जाय। मानवी संस्कृति के अवमूल्यन का अन्त किया जाय। श्रद्धा और विवेक के समन्वय को दृष्टिकोण को आधारभूत तथ्य बनाया जाय।

प्रज्ञावतार का प्रयोजन यही है। उसका कार्यक्षेत्र जन-जन की आस्थाओं को अध्यात्म के आधार पर और आदतों को धर्म धारणा के सहारे परिष्कृत करना है। उत्कृष्टता के प्रति श्रद्धा सम्बर्धन उसका प्रधान कार्यक्रम है। यह गतिचक्र जितनी तेजी से परिभ्रमण करेगा नवयुग के दिव्य दर्शन की पुण्य बेला उतनी ही समीप आती चली आयेगी।

नवयुग की सुनिश्चित सम्भावना में श्रद्धातत्व की भूमिका

सम्पत्ति बढ़नी चाहिए और गरीबी का पूर्णतया अन्त होना चाहिए किन्तु यदि हम बढ़ सके और जो है उसी को मिल बाँटकर खाने की नीति अपना ली जाय तो उतने से भी निर्वाह भली प्रकार हो सकता है। शिक्षा बढ़नी चाहिए अशिक्षित एक भी न रहना चाहिए किन्तु यदि वर्तमान शिक्षित अपने शिक्षित होने का लाभ अपने को तथा अशिक्षितों को देने लगे तो इतने से भी काम चलता है। तब विद्या का अभाव किसी को अखरेगा नहीं। ज्ञान जहाँ भी संचित है उसका वितरण और उपयोग की सुविधा हर किसी को प्राप्त होने लगे तो प्राचीन काल की तरह थोड़े से सुविज्ञ व्यक्ति भी जन-साधारण को विद्या का लाभ सुविधापूर्वक मिलता रह सकता है। थोड़े से किसान अन्न उगाते हैं पर पेट सभी का भरता है। यही प्रयोग बुद्धिमत्ता के क्षेत्र में भी चल सकता है। प्राचीन काल के ब्राह्मण ऐसा ही करते भी रहे हैं।

थोड़े से चिकित्सक जन-साधारण के स्वास्थ्य की रक्षा कर सकते है। थोड़े से प्रहरी राष्ट्र की सीमा रक्षा कर सकते हैं। थोड़ी-सी पुलिस अपराधियों से निपटती है। थोड़े से कलाकार व्यापक क्षेत्र में विनोद और उल्लास का वातावरण बनाये रहते हैं। थोड़े से साहित्यकार जन-समाज को दिशा दे सकते हैं। थोड़े से ऋषि अपने समय में शालीनता का स्तर बनाये रहते हैं। थोड़े से राजनेता समूचे देश को सर्वतोमुखी प्रगति की ओर अग्रसर करते हैं। थोड़े से वैज्ञानिक अपने आविष्कारों से परिस्थितियां ही उलट देते हैं। सभी लोग श्रेष्ठ समुन्नत हों प्रयत्न यही होना चाहिए, पर यदि उतना न बन पड़े तो मूर्धन्य वर्ग के थोड़े से लोग भी समूचे समाज को समुन्नत बनाये रह सकने में समर्थ हो सकते हैं। एक गृहपति भी आखिर पूरे परिवार के भरण पोषण का उत्तरदायित्व सम्भालता ही रहता है।

प्रज्ञावतार का आलोक समस्त भूमण्डल के प्रत्येक मनुष्य को उपलब्ध होगा। प्राणि जगत का प्रत्येक सदस्य मानवी शालीनता के माध्यम से अपेक्षाकृत अधिक शान्ति और व्यवस्था का लाभ प्राप्त करेगा। किन्तु उसका आरम्भ पर्वत शिखरों पर सर्वप्रथम दृष्टिगोचर होने वाली प्रभात किरणों की तरह होगा। जागृत आत्माओं का अन्तःकरण ऋतम्भरा प्रज्ञा को भाव सम्वेदनाओं से उमगता दिखाई देगा। उनकी विचारणा संकीर्ण स्वार्थपरता में आबद्ध रहने से इन्कार करेगी। अण्डा पकता है तो उसको छिलका टूटता ही है। चिन्तन का लोभ मोह की कृपणता में बंधे रहना ही भव बन्धन है। विशाल हृदय होना ही जीवन मुक्ति है। श्रद्धा जगेगी तो मनुष्य स्वार्थी नहीं रहेगा। उनका आत्म गौरव अहंता के परिपोषण से नहीं उदात्त आदर्शवादिता अपनाने से ही परितृप्त होगा। ऐसे लोगों की गतिविधियां पीड़ा और पतन के उन्मूलन मे-सत्प्रवृत्तियों के सम्वर्धन में ही लगी रहती हैं। निर्वाह में सन्तोष करने के 'शम' को जिनने हृदयंगम कर लिया उनके पास महान कार्य सम्पादन के लिए ढेरों समय, श्रम, चिन्तन बच जाता है। इस बचत पूँजी से वे समाज का, ईश्वर का अनुग्रह प्रचुर परिमाण से प्राप्त कर सकते हैं। आत्म गौरव और आत्म सन्तोष को भी यदि महत्व मिलता हो तो श्रद्धासिक्त व्यक्ति को उसकी अनुभूति हर घड़ी होती रहती है।

अनास्था का विष घटने लगे और श्रद्धा का अमृत उमंगने लगे तो फिर व्यक्तित्व की गरिमा गगनचुम्बी होती चलती है। ऐसे लोगों के द्वारा जो भी काम होते हैं वे अपनी विशिष्टता और सुन्दरता का परिचय देते रहते हैं। निजी जीवन में वे स्वस्थ, प्रसन्न, सन्तुलित, आशान्वित एवं निश्चिन्त पाये जाते हैं। कौटुम्बिक जीवन में सद्भावना, सहकारिता एवं सुव्यवस्था का वातावरण बना रहता है और छोटे घर घरोंदे स्वर्ग की प्रतिकृति प्रतीत होते रहते हैं। पारिवारिक जीवन में यों आवश्यकता तो सम्पन्नता और सुविधा की भी पड़ती है पर उसकी कमी भी सहन हो सकती है यदि शालीनता की कमी न पड़ने पाये। सम्पन्न परिवारों में भी दुरभि संधियाँ और दुर्भावनाएँ भरी रहती हैं जबकि विपन्नताजन्य कठिनाइयो का वाहुल्य रहते हुए भी स्नेह सौहार्द्रय के सहारे हँसता हँसाता जीवन सरलता पूर्वक जिया जा सकता है। इस रहस्य को श्रद्धासिक्त मनोभूमि ही समझने और अनुभव करने में समर्थ रहती है। अन्य लोग तो इस कर्म से अपरिचित रहने के लिए विपुल खर्च और कठिन श्रम करने पर भी पारिवारिक सद्भावना के लिए तरसते ही रहते हैं। पत्थर में भी प्रगति जगाने की क्षमता श्रद्धा में होती है। यह जग सके तो परस्पर स्वाभाविक स्वार्थ शृंखला में बंधे हुए परिजनो के बिखरने और विद्रूप रहने का कोई कारण ही नहीं रह जाता।

सजातियों को खींच बुलाने की क्षमता से मानवी अन्तःकरण सदा भरा पूरा रहा है। अपनी आकृति के तो नहीं पर प्रकृति के असंख्यों मनुष्य सहज ही सम्पर्क में आते और सरलतापूर्वक घनिष्ठ होते चले जाते हैं। सामाजिक अव्यवस्था से त्रास तो सभी को मिलता है पर साधारणतया होता यही है कि अपनी निकृष्टता ही अन्य निकृष्ट व्यक्तियों में कस लेती और घनिष्ठ बनाती है। फलतः आग से घनिष्ठता बढ़ाने पर झुलसने का खतरा उठाने की तरह अनेकों दुष्परिणाम भुगतने पड़ते हैं। जमाना खराब होने की शिकायत आमतौर से ऐसे ही लोग करते हैं जिन्होने सम्पर्क बढाने साथी सहयोगी चुनने में उत्कृष्टता की कसौटी पर कसने की आवश्यकता नहीं समझी और निकृष्ट स्तर से वचने की सावधानी नहीं बरती। सज्जनों को अपने स्तर के साथी ढूँढने में भी अधिक कठिनाई नहीं होती। ऐसा सम्पर्क निकटवर्ती न होने पर भी दूरस्थ रहने की स्थिति मे भी सहायता करता रहता है यहाँ तक कि दिवंगत महामानवों के साहित्य और चरित्र से भी इतना लाभ उठाया जा सकता है जिनका निकटवर्ती सामान्यव्यक्ति बहुत घनिष्ठ रहने पर भी वे दे नहीं सकते। सत्संग कुसंग की महिमा सभी कहते और मानते हैं पर यह भूल जाते हैं कि सौभाग्य दुर्भाग्य किसी पर अनायास आकाश से नहीं टपकता, आग्रह, अनुरोध एवं प्रयत्न करने पर ही उपलब्ध होता है। मनः स्थिति ही परिस्थितियों के लिए उत्तरदायी होती है और सुनिश्चित तथ्य को अमान्य ठहराने की बिल्कुल भी गुंजायश नहीं है। श्रद्धालु के सगे सम्बन्धी सज्जन ही हो सकते हैं। अन्य प्रकार के या तो निकटस्थ होते ही नहीं; यदि किसी प्रकार हो भी जाँय तो वे देर तक साथ नहीं रहते। श्रद्धा ही स्वर्गीय वातावरण का सृजन करती है और इससे पहले सज्जनों का समुदाय अपने इर्द गिर्द जमा कर लेती है।

दूसरों की दृष्टि में किसी व्यक्ति के प्रति आकर्षण तो अनेक आधारों पर हो सकता है पर उसके प्रति सघन सम्मान का एक ही आधार है- चरित्र में प्रामाणिकता बनकर उछलने वाली आदर्शवादी श्रद्धा। यही है किसी व्यक्ति का सबसे बड़ा वैभव जिससे प्रभावित होकर लोग पूरा और पक्का विश्वास करते तथा सघन सहयोग प्रदान करते हैं। महामानवों की चमत्कारी सफलताओं का प्रधान कारण उन्हें उपलब्ध हुआ जन-सहयोग ही है। आरम्भ में परीक्षाकाल में श्रेष्ठ व्यक्ति को अपनी प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए कई प्रकार के अवरोधों का सामना करना पड़ता है। यही वह कसौटी है जिस पर किसी की आदर्शवादी श्रद्धा को कसा परखा जाता है। इसके बिना झूठे सच्चे का-नकली असली का भेद भी तो स्पष्ट नहीं हो सकता। जब कोई व्यक्ति लोभ और भय के दबावों को स्वीकार करके अपनी उत्कृष्टता पर अडिग बना रहता है तो जनसाधारण को वास्तविकता स्वीकार करनी पड़ती है। यही वह परिपक्वावस्था है जिसमें जन सम्मान और जन सहयोग का उदार अनुदान अजस्र रूप से प्राप्त होने लगता है। जन नेतृत्व करने वाले इतिहास के पृष्ठों पर अपने पद

भविष्य को मूर्तिमान करने में धर्मतन्त्र की सहायता लिये बिना काम किसी भी प्रकार नहीं चल सकता। बहस शब्द की नहीं विवेचना तथ्य की है। किसी को धर्म अध्यात्म से चिढ़ हो तो उनको सन्तुष्ट कराने वाले शब्द दूसरे शब्द कोष में ढूँढ निकाले जा सकते हैं। पर करना यह होगा कि व्यक्ति एवं समाज की अनेकानेक दिशाधाराओं को प्रभावित करने वाले अन्तःकरण की उत्कृष्टता को सम्पदा से सुसम्पन्न बनाया जाय। मानवी संस्कृति के अवमूल्यन का अन्त किया जाय। श्रद्धा और विवेक के समन्वय को दृष्टिकोण को आधारभूत तथ्य बनाया जाय।

प्रज्ञावतार का प्रयोजन यही है। उसका कार्यक्षेत्र जन-जन की आस्थाओं की अध्यात्म के आधार पर और आदतों को धर्म धारणा के सहारे परिष्कृत करना है। उत्कृष्टता के प्रति श्रद्धा सम्वर्धन उसका प्रधान कार्यक्रम है। यह गतिचक्र जितनी तेजी से परिभ्रमण करेगा नवयुग के दिव्य दर्शन की पुण्य बेला उतनी ही समीप आती चली जायेगी।

नवयुग की सुनिश्चित सम्भावना में श्रद्धातत्व की भूमिका

सम्पत्ति बढ़नी चाहिए और गरीबी का पूर्णतया अन्त होना चाहिए किन्तु यदि हम बढ़ सकें और जो है उसी को मिल बाँटकर खाने की नीति अपना ली जाय तो उतने से भी निर्वाह भली प्रकार हो सकता है। शिक्षा बढ़नी चाहिए अशिक्षित एक भी न रहना चाहिए किन्तु यदि वर्तमान शिक्षित अपने शिक्षित होने का लाभ अपने को तथा अशिक्षितों को देने लगे तो इतने से भी काम चलता है। तब विद्या का अभाव किसी को अखरेगा नहीं। ज्ञान जहाँ भी संचित है उसका वितरण और उपयोग की सुविधा हर किसी को प्राप्त होने लगे तो प्राचीन काल की तरह थोड़े से सुविज्ञ व्यक्ति भी जन-साधारण को विद्या का लाभ सुविधापूर्वक मिलता रह सकता है। थोड़े से किसान अन्न उगाते हैं पर पेट सभी का भरता है। यही प्रयोग बुद्धिमता क्षेत्र में भी चल सकता है। प्राचीन काल के ब्राह्मण ऐसा ... रहे हैं।

थोड़े से चिकित्सक जन-साधारण के स्वास्थ्य की रक्षा कर सकते हैं। थोड़े से प्रहरी राष्ट्र की सीमा रक्षा कर सकते हैं। थोड़ी-सी पुलिस अपराधियों से निपटती है। थोड़े से कलाकार व्यापक क्षेत्र में विनोद और उल्लास का वातावरण बनाये रहते हैं। थोड़े से साहित्यकार जन-समाज को दिशा दे सकते हैं। थोड़े से ऋषि अपने समय में शालीनता का स्तर बनाये रहते हैं। थोड़े से राजनेता समूचे देश को सर्वतोमुखी प्रगति की ओर अग्रसर करते हैं। थोड़े से वैज्ञानिक अपने आविष्कारों से परिस्थितियां ही उलट देते हैं। सभी लोग श्रेष्ठ समुन्नत हों प्रयत्न यही होना चाहिए, पर यदि उतना न बन पड़े तो *मूर्धन्य वर्ग* के थोड़े से लोग भी समूचे समाज को समुन्नत बनाये रह सकने में समर्थ हो सकते है। एक गृहपति भी आखिर पूरे परिवार के भरण पोषण का उत्तरदायित्व सम्भालता ही रहता है।

प्रज्ञावतार का आलोक समस्त भूमण्डल के प्रत्येक मनुष्य को उपलब्ध होगा। प्राणि जगत का प्रत्येक सदस्य मानवी शालीनता के माध्यम से अपेक्षाकृत अधिक शान्ति और व्यवस्था का लाभ प्राप्त करेगा। किन्तु उसका आरम्भ पर्वत शिखरों पर सर्वप्रथम दृष्टिगोचर होने वाली प्रभात किरणों की तरह होगा। जागृत आत्माओं का अन्तःकरण ऋतम्भरा प्रज्ञा को भाव सम्वेदनाओं से उमगता दिखाई देगा। उनकी विचारणा संकीर्ण स्वार्थपरता में आबद्ध रहने से इन्कार करेगी। अण्डा पकता है तो उसको छिलका टूटता ही है। चिन्तन का लोभ मोह की कृपणता में बंधे रहना ही भव बन्धन है। विशाल हृदय होना ही जीवन मुक्ति है। श्रद्धा जगेगी तो मनुष्य स्वार्थी नहीं रहेगा। उनका आत्म गौरव अहंता के परिपोषण से नहीं उदात्त आदर्शवादिता अपनाने से ही परितृप्त होगा। ऐसे लोगो की गतिविधियां पीड़ा और पतन के उन्मूलन में-सत्प्रवृत्तियों के सम्वर्धन में ही लगी रहती हैं। निर्वाह में सन्तोष करने के 'शम' को जिनने हृदयंगम कर लिया उनके पास महान कार्य सम्पादन के लिए ढेरों समय, श्रम, चिन्तन बच जाता है। इस बचत पूँजी से वे समाज का, ईश्वर का अनुग्रह प्रचुर परिमाण से प्राप्त कर सकते हैं। आत्म गौरव और आत्म सन्तोष को भी यदि महत्व मिलता हो तो श्रद्धासिक्त व्यक्ति को उसकी अनुभूति हर घड़ी होती रहती है।

अनास्था का विष घटने लगे और श्रद्धा का अमृत उमंगने लगे तो फिर व्यक्तित्व की गरिमा गगनचुम्बी होती चलती है। ऐसे लोगों के द्वारा जो भी काम होते हैं वे अपनी विशिष्टता और सुन्दरता का परिचय देते रहते हैं। निजी जीवन में वे स्वस्थ, प्रसन्न, सन्तुलित, आशान्वित एवं निश्चिन्त पाये जाते हैं। कौटुम्बिक जीवन में सद्भावना, सहकारिता एवं सुव्यवस्था का वातावरण बना रहता है और छोटे घर घरोंदे स्वर्ग की प्रतिकृति प्रतीत होते रहते हैं। पारिवारिक जीवन में यों आवश्यकता तो सम्पन्नता और सुविधा की भी पड़ती है पर उसकी कमी भी सहन हो सकती है यदि शालीनता की कमी न पड़ने पाये। सम्पन्न परिवारों में भी दुरभि संधियाँ और दुर्भावनाएँ भरी रहती हैं जबकि विपन्नताजन्य कठिनाइयों का बाहुल्य रहते हुए भी स्नेह सौहार्द्रय के सहारे हँसता हँसाता जीवन सरलता पूर्वक जिया जा सकता है। इस रहस्य को श्रद्धासिक्त मनोभूमि ही समझने और अनुभव करने में समर्थ रहती है। अन्य लोग तो इस कर्म से अपरिचित रहने के लिए विपुल खर्च और कठिन श्रम करने पर भी पारिवारिक सद्भावना के लिए तरसते ही रहते हैं। पत्थर में भी प्रगति जगाने की क्षमता श्रद्धा में होती है। यह जग सके तो परस्पर स्वाभाविक स्वार्थ शृंखला में बंधे हुए परिजनों के बिखरने और विद्रूप रहने का कोई कारण ही नहीं रह जाता।

सजातियों को खींच बुलाने की क्षमता से मानवी अन्तःकरण सदा भरा पूरा रहा है। अपनी आकृति के तो नहीं पर प्रकृति के असंख्यों मनुष्य सहज ही सम्पर्क में आते और सरलतापूर्वक घनिष्ठ होते चले जाते है। सामाजिक अव्यवस्था से त्रास तो सभी को मिलता है पर साधारणतया होता यही है कि अपनी निकृष्टता ही अन्य निकृष्ट व्यक्तियों में कस लेती और घनिष्ठ बनाती है। फलतः आग से घनिष्ठता बढ़ाने पर झुलसने का खतरा उठाने की तरह अनेकों दुष्परिणाम भुगतने पड़ते हैं। जमाना खराब होने की शिकायत आमतौर से ऐसे ही लोग करते हैं जिन्होंने सम्पर्क बढ़ाने साथी सहयोगी चुनने में उत्कृष्टता की कसौटी पर कसने की आवश्यकता नहीं समझी और निकृष्ट स्तर से बचने की सावधानी नहीं बरती। सज्जनों को अपने स्तर के साथी ढूँढने में भी अधिक कठिनाई नहीं होती। ऐसा सम्पर्क निकटवर्ती न होने पर भी दूरस्थ रहने की स्थिति में भी सहायता करता रहता है यहाँ तक कि दिवंगत महामानवों के साहित्य और चरित्र से भी इतना लाभ उठाया जा सकता है जिनका निकटवर्ती सामान्यव्यक्ति बहुत घनिष्ठ रहने पर भी वे दे नहीं सकते। सत्संग कुसंग की महिमा सभी कहते और मानते हैं पर यह भूल जाते है कि सौभाग्य दुर्भाग्य किसी पर अनायास आकाश से नहीं टपकता, आग्रह, अनुरोध एवं प्रयत्न करने पर ही उपलब्ध होता है। मनः स्थिति ही परिस्थितियों के लिए उत्तरदायी होती है और सुनिश्चित तथ्य को अमान्य ठहराने की बिल्कुल भी गुंजायश नहीं है। श्रद्धालु के सगे सम्बन्धी सज्जन ही हो सकते हैं। अन्य प्रकार के या तो निकटस्थ होते ही नहीं; यदि किसी प्रकार हो भी जाँय तो वे देर तक साथ नहीं रहते। श्रद्धा ही स्वर्गीय वातावरण का सृजन करती है और इससे पहले सज्जनों का समुदाय अपने इर्द गिर्द जमा कर लेती है।

दूसरों की दृष्टि में किसी व्यक्ति के प्रति आकर्षण तो अनेक आधारों पर हो सकता है पर उसके प्रति सघन सम्मान का एक ही आधार है- चरित्र में प्रामाणिकता बनकर उछलने वाली आदर्शवादी श्रद्धा। यही है किसी व्यक्ति का सबसे बड़ा वैभव जिससे प्रभावित होकर लोग पूरा और पक्का विश्वास करते तथा सघन सहयोग प्रदान करते हैं। महामानवों की चमत्कारी सफलताओं का प्रधान कारण उन्हें उपलब्ध हुआ जन-सहयोग ही है। आरम्भ में परीक्षाकाल में श्रेष्ठ व्यक्ति को अपनी प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए कई प्रकार के अवरोधों का सामना करना पड़ता है। यही वह कसौटी है जिस पर किसी की आदर्शवादी श्रद्धा को कसा परखा जाता है। इसके बिना झूठे सच्चे का-नकली असली का भेद भी तो स्पष्ट नहीं हो सकता। जब कोई व्यक्ति लोभ और भय के दबावों को स्वीकार करके अपनी उत्कृष्टता पर अडिग बना रहता है तो जनसाधारण को वास्तविकता स्वीकार करनी पड़ती है। यही वह परिपक्वावस्था है जिसमें जन सम्मान और जन सहयोग का उदार अनुदान अजस्र रूप से प्राप्त होने लगता है। जन नेतृत्व करने वाले इतिहास के पृष्ठों पर अपने पद

चिह्न छोड़ जाने वाले उच्चस्तरीय सफलताएँ पाने वाले व्यक्तित्वों में अन्य क्षमताएँ तो सामान्य मनुष्यों जितनी होती हैं पर जो असाधारण विशिष्टता पाई जाती है वह एक ही होती है- आदर्शों के प्रति अडिग श्रद्धा। भावना स्तर पर जो सुख है, मात्र उन्हीं के लिए अनुकरणीय चरित्र पर अन्त तक सुदृढ़ बने रहना सम्भव होता है। उथले उत्साह वालों का कुछ ही समय में आदर्शवादिता का जोश ठण्डा हो जाता है और ये फिर पुराने ढर्रे पर लौटकर गये बीते स्तर का निर्वाह करने लगते हैं।

लौकिक विशेषताएँ चमत्कृत करती तो हैं पर वह मात्र आकर्षण होता है। बल, रूप, धन, चातुर्य, कला, कौशल, प्रतिभा, प्रभाव आदि से जनसाधारण का आकर्षण भर होता है पर वह अन्तः करण की गहराई से निकलने वाला वह सम्मान प्राप्त नहीं होता जो महामानवों को देव पुरुषों को उपलब्ध होता है। नर्तकों, विभूषकों, गायकों, धनिकों, विद्वानों की ओर ध्यान घर जाता है और उनकी विशिष्टता देखकर मनोरंजन भी होता है। आकर्षण की परिधि इतनी ही उथली रह जाती है। मनुष्य की आन्तरिक इच्छा जन-सम्मान पाने की रहती है और उचित भी है और आवश्यक भी किन्तु इसका मूल्य आदर्शवादी श्रद्धा से भरा पूरा आचरण ही हो सकता है। इससे कम में उसे खरीदा नहीं जा सकता। उथली वाहवाही तो विदूषक भी प्राप्त कर सकते है। ख्याति प्राप्त करने में ही बहुत बार छद्म भी सफल हो जाता है। आततायी भी लोक चर्चा का विषय बन जाते हैं। इतने से किसी को न तो सन्तोष होता है और न कोई महत्वपूर्ण सहयोग मिलता है। सरकस में काम करने वाले नटों का करतब देखकर हैरत भी होती है और तालियाँ भी बजती हैं किन्तु किसी नट के संकट में फँस जाने पर उसकी सहायता के लिए कोई नहीं आता। स्मारक अभिनेताओं के नहीं उन लोक नेताओं के बनते हैं जिन्होंने उत्कृष्ट कर्तृत्वों के लिए बढ़ चढ़कर आत्म दान देने की भाव श्रद्धा का परिचय दिया। धन्य ऐसे ही व्यक्ति होते हैं। लोक मानस को दिशा प्रदान करने में मात्र ऐसे ही लोगों की चिरस्थायी भूमिका रहती है।

भौतिक उपलब्धियाँ प्राप्त करने में कई बार अनीति अपनाने वाले भी सफल होते देखे गये हैं; पर वह चिरस्थायी नहीं होतीं। वस्तुस्थिति विदित होते ही लोग सावधान हो जाते हैं और किनारा करने लगते है। उपेक्षा, अवज्ञा और असहयोग का दौर आरम्भ होता है और अनीति से प्राप्त सफलता घृणा तिरस्कार से आरम्भ होती विरोध, संघर्ष और दमन प्रतिशोध तक जा पहुँचती है। ऐसी दशा में अनीति की पगडन्डी से जो जितनी जल्दी पाया गया था वह तिरोहित भी उतनी ही तीव्र गति से हो जाता है। चिरस्थायी और उच्चस्तरीय सफलताएँ मात्र प्रामाणिक लोगों को ही मिलती हैं। सहयोग का हाथ बढ़ाने से पहले हर आदमी सोचता है कि सम्बन्ध उन्हीं के साथ सघन किये जाने चाहिए जिनके साथ खतरा न हो। यारवासी तो आवारागिर्द लोगों के बीच भी हो जाती है, पर न तो गहरी होती है, न स्थायी न फलवती। गोटी बिठाने में शतरंज की चाल ही इस उथली दोस्ती के सहारे चली जा सकती है। जड़ न होने के कारण उसके उखड़ने और बिखरने में भी देर नहीं लगती। कई बार तो ऐसी यारी जानी दुश्मनी तक में बदलती देखी गई है। जमाने का दौर दोस्ती की आड़ में दुश्मनी निभाने का है। समाधान कारक यश उथले तरीकों से नहीं प्रामाणिक एवं उदार चरित्र निष्ठा के आधार पर ही मिल सकता है। भौतिक वैभव उपार्जन करने की बात मन में हो तो भी बड़ी उपलब्धियों के लिए प्रामाणिकता और विश्वसनीयता सिद्ध करने के अतिरिक्त जन सहयोग पाने और महत्वपूर्ण सफलताएँ पाने का और कोई रास्ता नही है।

अतीन्द्रिय क्षमताएँ-सिद्धियाँ-उपार्जित करने में उथले कर्मकाण्ड सफल नहीं हो सकते। साधनो के पीछे श्रद्धा की शक्ति ही काम करती है। उसका अभाव रहने पर कर्मकाण्डों की रटन लकीर पीटने जैसी उपहासास्पद ही बनकर रह जाती है। उससे कुछ बनता बिगड़ता नहीं। अध्यात्म क्षेत्र की सिद्ध पुरुषों में से प्रत्येक की अन्तःभूमिका श्रद्धासिक्त होती है। स्वर्ग, मुक्ति, आत्म साक्षात्कार, ईश्वर दर्शन जैसी दिव्य सफलताओं के लिए किसी कृत्य विशेष का आश्रय लेने से काम नहीं चलता। उसके मूल में श्रद्धा की शक्ति ही काम करती है। इस उत्कृष्टता के रहते सामान्य से क्रिया-कृत्य भी योग साधना एवं तपश्चर्या का प्रतिफल प्रस्तुत करते हैं किन्तु यदि भीतर नीरसता छाई हो-भाव

सम्वेदनाएँ प्रसुप्त पड़ी हों-तो कितना ही काय कष्ट सहने तथा जप तप करने से भी कुछ बनता नहीं है । क्षेत्र चाहे भौतिक सफलताओं का हो चाहे आत्मिक विभूतियों का-हर हालत में श्रद्धा की सघनता अपेक्षित होती है । उसके बिना लौकिक पुरुषार्थ भी उस स्तर के नहीं बन पड़ते जो बड़ी-चढ़ी सफलताओं के लिए आवश्यक है । धुन के धनी, लगनशील, तन्मयता और तत्परता बरतने वाले स्वल्प साधनों और नगण्य सामर्थ्यों के रहते अनवरत प्रयत्नरत रहकर पर्वतों के शिखर पर जा पहुँचते हैं । इसके विपरीत चंचल चित्त, अस्थिर मति, आस्था रहित मनःस्थिति के व्यक्ति प्रचुर साधनों के रहते, अपनी बड़ी-चढ़ी क्षमता का भी कुछ लाभ नहीं उठा पाते ।

श्रेष्ठ और सुदृढ़ व्यक्तित्व बाह्य साधनों से विनिर्मित नहीं हो सकता । अभ्यास और शिक्षण से उथला शिष्टाचार भर पल्ले पड़ता है । गहराई तो अन्तः श्रद्धा में होती है । पेड़ उतना ही ऊँचा उठता और उतना ही फैलता फलता है जितनी उसकी जड़ें गहरी और मोटी होती हैं । जड़ें दीखती नहीं, दृष्टिगोचर तना ही होता है । इतने पर भी तथ्य अपने स्थान पर यथावत् ही बना रहता है । उथली जड़ वाले पौधे न तो अधिक दिन जीवित रहते हैं और न प्रतिकूल ऋतु प्रभाव ही सहन कर सकते हैं । इसी प्रकार उथली मनःस्थिति के लोग पिछड़ी और उथली जिन्दगी ही जी पाते हैं । आत्म-सन्तोष, जन-सम्मान और दैवी अनुग्रह दे सकने जैसी कोई ठोस सम्पदा उनके पक्ष में होती ही नहीं। फिर मूल्य चुकाये बिना बड़ी उपलब्धियों का आर्जन आखिर हो किस प्रकार ? व्यक्ति के अन्तराल में सन्निहित उसकी मूलभूत क्षमता एक ही श्रद्धा- इसी को गंवाने और बढ़ाने पर मनुष्य पतन के गर्त में गिरता और आकाश जितना ऊँचा उठता है ।

नव युग में संसार का समाज का सारा ढाँचा बदल देने की योजना है। निकृष्टता के आवरण उधारे और उत्कृष्टता के आच्छादित चढ़ाये जाते हैं । परिस्थितियाँ बदलने के लिए प्रबल पुरुषार्थ की आवश्यकता है, उसका निर्झर अन्तराल के मर्मस्थल से भाव श्रद्धा के रूप में फूटता है ।

परिवर्तन शब्द कहने और सुनने में सरल है । यह रुचिकर भी है और अभीष्ट भी । किन्तु कठिनाई एक ही है लगभग असम्भव नहीं तो अत्यधिक कष्टसाध्य उस कार्य को सम्पन्न करने के लिए न तो साधन जुटाने से काम चलता है और न प्रयास परिश्रम के पहाड़ खड़े करने से । इसके लिए आदर्शवादी श्रद्धा को उथला नहीं गहरा स्तर चाहिए । यह न तो समाज में, न साधनों में, न श्रम में और न चातुर्य में सन्निहित है यह मणि-माणिक व्यक्तित्व के गहन अन्तराल में समुद्र की तली में पाई जाने वाली सम्पदा है । यही है समर्थता का वह भण्डार जो अनिवार्य उपकरणों की तरह प्रचुर परिमाण में उत्पन्न किया जाना चाहिए ।

नव युग को श्रद्धा युग कहा जायगा । उसमें सम्पदा का नहीं-समर्थता का नहीं-श्रद्धा का मूल्यांकन है । इसी की मात्रा को नाप तौलकर किसी को क्षुद्र अथवा महान माना जायगा । इसी सामर्थ्य के बलबूते मनुष्य इतने समर्थ होंगे कि पर्वत जैसी अवांछनीयताओं को, उलट सकने और स्वाति वर्षा जैसी सत्प्रवृत्तियों को नन्दन वन उगा सकना सम्भव हो सके । समर्थ व्यक्ति ही ऐसे पुरुषार्थ कर सकते है जिन्हें असम्भव को सम्भव कर दिखाने जैसा चमत्कार माना जा सके । ऐसा चमत्कारी मनुष्य एक ही हो सकता है-श्रद्धालु । कहा जा चुका है कि विवेक और श्रद्धा का समन्वय ऋतम्भरा प्रज्ञा है। वही गायत्री-ब्रह्मविद्या अथवा संस्कृति की अन्तरात्मा है । इन दिनों उसी का अरुणोदय प्रज्ञावतार के रूप में हो रहा है । दूसरे शब्दों में इसे यों कहना चाहिए कि लोक मानस में विवेक युक्त श्रद्धा की प्राण प्रतिष्ठा होने जा रही है। इसी विभूति से सम्पन्न मनुष्यों को प्राचीन काल की तरह देव मानव कहा जायगा । उनका समुदाय और आदर्श-वादी क्रिया-कलाप धरती पर स्वर्ग जैसी परिस्थितियों का सृजन करेगा । यही है नव युग का आधार तत्व जिसे महाकाल का प्रबल पुरुषार्थ अदृश्य अन्तरिक्ष में प्रचुर परिमाण में बरसने के लिए कटिबद्ध हो रहा है । जो इस तथ्य और सत्य को देख समझ सकेंगे उन्हें नव युग को निकटतम देखने में कोई कठिनाई अनुभव न होगी ।

जागृत आत्माओं द्वारा आस्थाओं का उन्नयन

चेतना निराकार है और प्रकृति साकार। चेतना का परिचय प्रकृति पदार्थों की हलचलों में देखा जा सकता है, पर उसकी मूल सत्ता आकार रहित ही होती है। अवतार एक प्रकार की चेतन ऊर्जा है जिसका प्रभाव सम्बद्ध पदार्थों के बढ़े हुए तापमान के रूप में देखा जा सकता है। गर्मी व्यापक होने के कारण उसका निजी स्वरूप इन्द्रियातीत ही रहता है। प्रज्ञावतार का प्रभाव न्यूनाधिक मात्रा में अनेकों दिव्य आत्माओं में उभरता हुआ देखा जा सकेगा, पर वह स्वयं प्राणियों या पदार्थों के रूप में आकारवान नहीं बन सकती। प्रज्ञावतार का रूप देखना हो तो वह युगान्तरीय चेतना के रूप में ही देखा जा सकेगा। किसी व्यक्ति के रूप मे उसे सीमाबद्ध नहीं किया जा सकता। प्रज्ञा का जहाँ जितना उभार हो रहा हो समझना चाहिए कि वहाँ उतनी ही मात्रा,में युग देव ने अपना परिचय एवं दर्शन देना आरम्भ कर दिया।

स्पष्ट है कि अपने युग का 'असन्तुलन' आस्था संकट ने उत्पन्न किया है। इसलिए निवारण का केन्द्र बिन्दु भी वही होना चाहिए। इन दिनों ऐसा भावनात्मक प्रवाह जन-मानस में उत्पन्न होना है जिसके कारण यह प्रमाण परिचय मिलने लगे कि श्रद्धा तत्व की अभिवृद्धि का दौर चल पड़ा। आदर्शवादी गति विधियों का नया सूत्रपात हुआ। व्यावहारिक जीवन में आदर्शवादिता का समावेश कर सकना किन्हीं सन्त महन्तों का काम माना जाता था। इसके विपरीत प्रज्ञा का उभार उत्पन्न होने पर जन-जन में यह चेतना उत्पन्न होगी कि उसे अपने जीवन क्रम में श्रेष्ठता का अवधारण अधिकाधिक मात्रा में करना चाहिए, इसके लिए वह इतना साहस सँजोयेगा कि संकीर्ण स्वार्थपरता के लिए समर्पित इच्छा और चेष्टा नये सिरे से समीक्षा करे और उसमें भरी हुई क्षुद्रता को हटाकर उस स्थान पर महानता की स्थापना के लिए कुछ कहने योग्य कदम बढ़ाये। यह परिवर्तन किसी बाहरी दबाव से नहीं, वरन् स्वतः प्रेरणा से होगा।

आमतौर से लोभ, मोह और अहंकार के दैत्य ही जनसाधारण को कठपुतली की तरह नचाते है। यही प्रभाव सर्वत्र चल रहा है। समर्थ, असमर्थ-धनी, निर्धन-शिक्षित अशिक्षित इन दिनों सभी अपने तुच्छ स्वार्थों की सिद्धि में बुरी तरह संलग्न हैं। लिप्सा और लालसा की कीचड़ मे लोक चेतना गहराई तक धंसी हुई है। सामान्य प्रयत्नों से इसमें हेर-फेर होते दिखाई नहीं पड़ रहा है किन्तु प्रज्ञावतार की प्रेरणा नये आयाम प्रस्तुत करेगी। अन्तः प्रेरणा का उद्गम ही बदलने लगेगा। लोग अपना स्तर उत्कृष्टता की ओर उठाने और आदर्शवादिता की ओर बढ़ाने का प्रयत्न करेंगे। यह परिवर्तन बाहर से थोपा हुआ नहीं, भीतर से उभरा हुआ होगा। कहने सुनने को तो धर्म और अध्यात्म की- भक्ति और शान्ति की सज्जनता और उदारता की चर्चा आये दिन कहने, सुनने को मिलती रहती है। कइयों का विनोद विषय भी यही होता है। तथाकथित धर्म गुरु, लोक नेता, लेखक वक्ता उत्कृष्टता की चर्चा आये दिन करते रहते हैं किन्तु उन प्रतिपादनों को क्रियान्वित करते इनमें से कोई विरले ही देखे जाते हैं। फिर सर्व साधारण के लिए तो उन्हें आचरण में उतारना और भी अधिक कठिन होता है। उदाहरण तो केवल समझाने के लिए प्रचार प्रक्रिया अपनाने के रूप में ही हो सकता है। सो हो भी रहा है लेखनी और वाणी से आदर्शवादिता का प्रतिपादन भी कम नहीं हो रहा है किन्तु सफलता इसलिए नही मिलती कि लोक चेतना की अन्तः स्थिति उसे स्वीकारने और अपनाने को सहमत नहीं होती। कानों के सुनने या मस्तिष्क से समझने से काम बनता नहीं। व्यक्ति की स्थिति और कृति तो अन्तःप्रेरणा से ही बदलती है इन दिनों उसी क्षेत्र के ऊसर हो जाने से जो बोया जाता है वह निष्फल होकर रह जाता है। प्रज्ञावतार इस कठिनाई का समाधान करेगा। भीतर से 'हिय हुलसने' दिशा बदलने जैसी स्थिति उत्पन्न होगी। फलतः वह प्रयोजन सफलता पूर्वक पूरा होने लगेगा। जिसके आज प्रशिक्षण और दमन के सभी अस्त्र, शस्त्र निष्फल होते, निरर्थक जाते दीखते है।

अन्तः करण मूर्छित पड़ा रहे तो उच्चस्तरीय भाव सम्वेदनाएँ उसमें से उठती ही नहीं। धर्म धारणा के बीजांकुर जमते ही नहीं। यही है वह अपरिहार्य कठिनाई जिसके निराकरण का कोई मार्ग किसी को सूझता ही नहीं। मानवी प्रयास जहाँ असफल होते हैं वहाँ दैवी प्रयास बागडोर अपने हाथ मे सम्भालते हैं। प्रज्ञावतार की प्रेरणा मे यही कठिनाई हल होगी। लोग अपने भीतर कुछ नई उमँग उठती अनुभव करेंगे और देखेंगे कि उनका मस्तिष्क उत्कृष्टता में रुचि लेने लगा और शरीर ने सत्कर्मों में रस लेना आरम्भ कर दिया। युग परिवर्तन के बीजांकुर इसी रूप मे फूटेंगे। शुभारम्भ का अग्रगमन का श्रेय सदा सुसंस्कारी जागृत आत्माओं को मिलता है। सामान्य-जन क्रमशः उनके अनुगमन एवं अनुकरण का ही साहस

समयानुसार सँजोते रहते हैं। सेनापति की तत्परता के उपरान्त ही सैनिकों को युद्ध मोर्चे की ओर बढ़ते देखा जाता है।

गुजारे के लिए औसत भारतीय स्तर का निर्वाह स्वीकार लेने के उपरान्त विलासिता और तृष्णाओं की वह आग बुझ जाती है जिसके लिए मनुष्य की क्षमता और प्रतिभा का सर्वनाश होता रहता है। संकीर्ण स्वार्थपरता के स्थान पर आत्मीयता की परिधि जितनी ही विस्तृत होती है उतना ही परमार्थ प्रयोजनो में रस आने लगता है। कृपणता और निष्ठुरता तो संकीर्णता की सहेलियाँ हैं जहाँ उदारता का उद्भव हुआ वहाँ लोभ और मोह के नागपाश से छुटकारा प्राप्त करना भी कठिन नहीं रहता। खाने में मजा तो कृमिकीटकों और पशु-पक्षियों को भी आता है। मनुष्य जीवन के साथ जुड़े हुए आनन्द की अनुभूति तो दूसरों को खिलाने से ही मिलती है। परमार्थ प्रयोजनो में सामान्य बुद्धि घाटा ही देखती है किन्तु ऋतुम्भरा प्रज्ञा का उदय होने पर प्रतीत होता है कि जीवन सम्पदा की सबसे बड़ी सार्थकता एक ही कार्य में है और वह है शालीनता के सम्वर्धन में किया गया पुरुषार्थ। त्याग बलिदान ऐसे ही अनुदानों को कहा जाता है।

प्रज्ञावतार द्वारा मानवी सत्ता को इसी स्तर के अनुष्ठानों से विभूतिवान बनने का अवसर मिलेगा। श्रम, समय और साधनों की सम्पदा का न्यूनतम अंश अपने लिए रखने की बात सोचेगा और अधिकतम को ईश्वरीय प्रयोजनों में सत्प्रवृत्तियों के सम्वर्धन में नियोजित करने के लिए जब मनुष्य तत्पर होता है तो उसका स्तर देवोपम बनने में सन्देह नहीं रहता। अगले दिनों ऐसे ही देव मानवों की संख्या बढ़ेगी और अपने परम पुरुषार्थ इसी धरती को स्वर्गीय परिस्थितियों से परिपूर्ण करेंगी। ऐसी आत्माएँ कुटुम्ब बढ़ाने की मूर्खता नहीं करेंगी पिछली पीढ़ी को ही अभिभावकों का ऋण चुकाने को ही पर्याप्त समझेंगे। नित नये बच्चे उत्पन्न करके सिर पर अनावश्यक बोझ लादना और उसी को ढोने में हड्डी, पसली निचोड़ देना उन्हें रुचेगा ही नहीं। हलके रहने के कारण वे अधिक परमार्थ कर लेते हैं जिसके पास परिवार है वे उनके प्रति उचित कर्तव्य का पालन करने भर से सन्तोष कर लेते है और युग धर्म के निर्वाह मे कोई अड़चन उत्पन्न नहीं होने देते।

इन दिनों जागृत आत्माओ की संख्या कम है, पर जितनी भी कुछ है आरम्भ उसी से होना है। सबसे प्रथम उन्हीं को अभ्यास होगा और वे ही स्वत: प्रेरणा से प्रेरित होकर अपने आपको बदलने का साहस प्रदर्शित करेंगे। उनकी निजी आस्थाएं उभरेंगी। फलत: क्षुद्रता प्रेरित गतिविधियों में कटौती करने और उस बचत को महान प्रयोजनों में लगाने की नीति अपनाते दृष्टिगोचर होंगे। आत्म संयम ही परमार्थ बनता है इसलिए महा मानव सदा ही व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं में कटौती करते हैं। जो इतना कर सका वह दीखेगा कि परमार्थ प्रयोजनों में लगाने के लिए उसके पास श्रम, समय, मनोयोग एवं साधनों की तनिक भी कमी नहीं है। अच्छी स्थिति आने की प्रतीक्षा करने की बात उसे निस्सार प्रतीत होती है जो उपलब्ध है। वह भी कम प्रतीत नहीं होता। उतने का ही सदुपयोग बन पड़े तो इतनी समर्थता उभरती है कि सामान्य व्यक्ति भी असामान्य एवं आश्चर्यजनक मात्रा में सद्उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपने कर्तृत्व का परिचय दे सके।

आत्म कल्याण और लोक कल्याण की गंगा-यमुना जहाँ भी मिलेंगी वहाँ उस दिव्य संगम का एक ही रूप होगा। जन-जागरण के लिए अंशदान, श्रमदान, समय दान करने का भाव भरा उत्साह। यह जब आतुर होता है तो हजार कठिनाइयाँ रहने पर भी विरोध, असहयोग रहने पर भी एकाकी चल पड़ने की साहसिकता जगती है। इस अन्त: प्रेरणा को कोई बाहरी शक्ति रोक नहीं सकती। बाहरी प्रलोभन झुका नहीं सकता। वाक् चातुरता एवं मोह ममता भी उसे फुसला सकने में समर्थ नहीं हो सकती। धनुष से छूटा हुआ तीर लक्ष्य तक पहुँच कर ही रुकता है। जागृत आत्माएँ युगान्तरीय चेतना से अनुप्राणित होकर जब प्रज्ञावतार की सहचरी बनती है तो फिर उन्हें सोते जागते एक ही लक्ष्य अर्जुन की मछली की तरह दीखता है। जन मानस का परिष्कार ही अपने युग का सबसे महत्वपूर्ण काम है। आस्थाओं का पुनर्जीवन यही है। ज्ञान एवं विचार क्रान्ति अभियान इसी प्रक्रिया का नाम है। इस सन्दर्भ में क्या किया जा सकता है ? अपनी स्थिति इस दिशा में कितनी तेजी से कितनी दूरी तक चल सकने की है। इसी का ताना बाना उनका मस्तिष्क बुनता है चिन्तन और मंथन से हर स्थिति का व्यक्ति अपनी योग्यता और परिस्थिति के अनुरूप काम ढूँढ निकालने में सफल हो सकता है। विचार क्रान्ति अभियान ही प्रज्ञावतार की प्रमुख प्रक्रिया है समस्त क्रिया कलाप इसी क्षेत्र में नियोजित रहेंगे। आस्थाओं का कल्प वृक्ष उग पड़ने के उपरान्त उसके पत्र, पल्लव और फल-फूलों की सम्पदा इतनी बढ़ी-चढ़ी होगी कि उसके सहारे प्रस्तुत संकटों के निवारण में कोई अड़चन शेष न रहे।

युग परिवर्तन का केन्द्र बिन्दु एक ही है आस्थाओं का उन्नयन-चिन्तन का परिष्कार, सत्प्रवृत्तियों का अवगाहन। यह दीखते तो तीन है पर वस्तुतः एक ही तथ्य के तीन रूप है। सत्कर्म और सद्ज्ञान वस्तुतः सद्भावों का ही उत्पादन है। यही है जागृत आत्माओं के माध्यम से प्रज्ञावतार द्वारा कराया जाने वाला महा प्रयास। हर जागृत आत्माओं को अगले दिनों अपनी समस्त तत्परता और तन्मयता जन-मानस के परिष्कार पर केन्द्रीभूत करनी होगी।

धर्म श्रद्धा का सृजनात्मक सदुपयोग

आत्म-क्षेत्र तक पहुँच मात्र एक ही उपकरण की है—और वह है अध्यात्म। साधनों से सुविधाएँ बढ़ती हैं। बलिष्ठता से पराक्रम सम्भव होता है। बुद्धि से वैभव और वर्चस्व कमाया जाता है। इन तीन आधारों पर परिस्थिति बनती बिगड़ती है। सांसारिक सफलताओं में प्रायः इन्हीं तीन क्षमताओं का उपयोग होता रहता है। धन, बल और बुद्धि का चमत्कार सर्वत्र बिखरा पड़ा है। इनका महत्त्व समझा जाता है और उपार्जन का प्रयत्न चलता है। इतने पर भी यह तथ्य अपने स्थान पर अडिग है कि आस्थाओं का क्षेत्र स्वतन्त्र है और वह इन समस्त साधनों से भी प्रभावित नहीं होती। उच्च अन्तःकरण न धनिकों को मिलता है—न बलिष्ठों को—न बुद्धिमानों को। उनके आरोपण एवं अभिवर्धन जिसके माध्यम से हो सकता है। यह मात्र अध्यात्म दर्शन ही हो सकता है। आस्था संकट का निवारण सद्भावनाओं का सम्वर्धन यदि सचमुच ही अभीष्ट हो तो उसके चिन्तन के लिए ब्रह्म विद्या का और व्यवहार में धारणा का आश्रय लेना होगा।

प्रदर्शन एवं प्रशिक्षण की दृष्टि से कितने ही महत्वपूर्ण आयोजन आये दिन होते रहते है। साहित्य सृजा जाता है और प्रवचनों का उपक्रम बनता है। लेखनी और वाणी की शक्ति को नकारा नहीं जा सकता किन्तु यह भी सत्य है कि इनसे मात्र मस्तिष्क ही प्रशिक्षित होता है। बुद्धि कौशल के अनेक प्रकार हैं उन्हीं में से एक का नाम आदर्शवादिता भी हो सकता है। मस्तिष्क को आदर्शों की उपयोगिता स्वीकार करने के लिए तर्क और तथ्यो के सहारे सहमत किया जा सकता है इतने पर भी यह आवश्यक नहो कि उतने भर से आस्थाएँ भी प्रभावित परिवर्तित हो सके।

आस्थाओ की जड़ें शरीर और मस्तिष्क की निचली परतों मे नहीं अन्तःकरण की गहराई में जमी होती हैं। वहाँ श्रद्धा के अतिरिक्त अन्य किसी का प्रवेश निषिद्ध है। श्रद्धा भरे उपचारों से ही भाव सम्वेदनाओं को जगाने एवं जीवन को प्रभावित करने वाली मान्यताओं को जमाने की सम्भावनाएँ सन्निहित रहती हैं। अस्तु व्यक्ति के अन्तराल को बदलने के लिए धर्म श्रद्धा से भरे पूरे उपाय उपचारों का प्रयोग करना होता है। एक शब्द में इस तथ्य को यों भी कहा जा सकता है कि धर्मतन्त्र के माध्यम से वह लोक शिक्षण सम्भव है जो आत्माओ के उत्कर्ष का चमत्कारी परिवर्तन प्रस्तुत कर सके।

यों यह बात धर्म क्षेत्र के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है कि धर्मजीवी लोग भी कहाँ आस्थावान होते हैं। मस्तिष्क तक सीमित धार्मिकता भी अन्य प्रकार के छद्मों में से ही एक है। छद्म भी एक आक्रामक तत्त्व है वह भी अन्य दुष्टताओं की तरह अपने प्रथम चरण में ही कुछ समय के लिए सफलता जैसी चमक दिखाता है। वास्तविकता के अभाव में वह देर तक ठहर नहीं पाता और जादुई खिलवाड़ों की तरह अविश्वस्त एवं उपहासास्पद बन जाता है। धर्म कोरा छद्म नहीं है अपितु धारणा है। दोनों को एक नहीं कहा जा सकता। असत्य कितना ही विस्तृत क्यों न हो सत्य की प्रतिष्ठा अपने स्थान पर अक्षुण्ण ही बनी रहेगी भले ही उसका परिपालन करने वाले स्वल्प मात्रा में ही क्यों न हो। प्रज्ञावतार की गतिविधियाँ धर्म छद्म पर नहीं धर्म धारणा पर अवलम्बित होंगी। आर्य स्तर की ऋषि प्रणीत धर्म चेतना का दर्शन और व्यवहार आज नये सिरे से खोजना और क्रियान्वित करना होगा तो भी उसकी उपयोगिता पर किसी प्रकार का सन्देह करने की गुंजायश नहीं है। खिलौने की बन्दूकों से भी बाजार भरा पड़ा है फिर भी लड़ाई के मैदान में बन्दूक का प्रयोग करने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं। धर्म छद्म की तमिस्रा के रहते हुए भी धर्म धारणा का अवलम्बन लिये बिना प्रज्ञावतार का प्रयोजन, आस्थाओं का अभिवर्धन सम्भव नहीं हो सकता।

अध्यात्म चिन्तन है और धर्म व्यवहार। दोनों को मिलाने पर ही समग्र धर्मतन्त्र बनता है। यही है वह प्रक्रिया जो लोक मानस के अन्तराल तक पहुँचने उसे बदलने और उत्कृष्टता के चरम लक्ष्य तक पहुँचाने मे समर्थ हो सकती है। आस्थावान और धार्मिक एक ही होते हैं। प्रचलित धर्म परम्परा में भारी परिवर्तन करने की आवश्यकता है। वर्तमान प्रचलनों में से अनेकों के प्रति आक्रोश उत्पन्न करने की आवश्यकता है। इतने पर भी धर्म तत्त्व की आत्मा को अपनाये बिना देव मानवों की नई पीढ़ी उत्पन्न कर सकना

अन्य किसी उपाय से सम्भव नहीं हो सकता। आस्थाओ का उन्नयन बिना धर्म धारणा का आश्रय लिए सम्भव हो ही नहीं सकता।

जन-जन तक धर्म धारणा का आलोक पहुँचाना प्रज्ञावतार के क्रिया-कलापों का प्रमुख अंग है। इसके लिए प्रथम चरण गायत्री शक्तियों की स्थापना एवं प्रव्रज्या अभियान की परिपक्वता के रूप में महाकाल ने कदम उठाया है। इन दोनों को मिलाकर शरीर और प्राण मिलने से जीवन तत्व जैसी एक इकाई बनती है। प्रव्रज्या से लोक चेतना उत्पन्न होगी। जन-सम्पर्क उसी के द्वारा सधेगा। घर-घर पहुँचने और जन-जन को नवयुग का सन्देश सुनाने वाले सृजन के अग्रदूत आलोक वितरण का अपना प्रयास निरन्तर जारी रखेंगे। किन्तु उनकी गतिविधियाँ हवा में उड़ने वाले पत्तों की तरह अनिश्चित तो नहीं हो सकतीं। वे निराश्रित तो नहीं टिके रह सकते। प्राचीन काल में मन्दिर, मठ, धर्मशाला, आश्रम जैसे संस्थानों का निर्माण एक ही उद्देश्य से होता है कि—धर्म सेवा देवालयों के वहाँ निवास निर्वाह जैसी सुविधाओं का तथा सम्पर्क केन्द्र के माध्यम से बनने वाली सुव्यवस्था का लाभ मिलता रहे। आज धर्म संस्थानों की संख्या तो बहुत है पर उस उद्देश्य की पूर्ति कहीं भी होती दिखाई नहीं पड़ती जिसके लिए ऋषियों ने देवालयों की—स्थापना का आन्दोलन उठाया और उसे सफल बनाया था। आत्मा शरीर में आश्रय पाता है और उसे सुनियोजित रीति से कार्य संलग्न भी करता है। प्रव्रज्या को गायत्री शक्ति पीठों के आश्रय मिले और सुयोग संयोग से धर्म धारणा को जन-जन के मन में अपना आलोक पहुँचाने का अवसर मिलने लगेगा।

कर्मकाण्डों, उपासनात्मक, विधि-विधानों, कथा, प्रसंगों, धर्मानुष्ठानों के बाह्य स्वरूप का सीधा महत्व समझने समझाने में कठिनाई होती है। किन्तु जब उनमें सन्निहित प्रेरणाओं का भाव भरे वातावरण में हृदयंगम होने और चमत्कारी सत्परिणाम उत्पन्न करने की प्रतिक्रिया सामने आती है तब पता चलता है कि यह निरर्थक जैसी लगने वाली प्रक्रिया किन्तु मर्मस्पर्शी और कितनी प्रभावोत्पादक है।

दैनिक उपासना द्वारा दिव्य सत्ता के साथ घनिष्ठता और आदान-प्रदान का उपक्रम-योगाभ्यास और तप साधना द्वारा अति मानवी क्षमताओं का उन्नयन-षोडस संस्कारों के साथ उत्पन्न होने वाली ज्ञान गोष्ठियों द्वारा पारिवारिक वातावरण शालीनता का सम्बर्धन-पर्व त्योहारों में सन्निहित सामाजिक सत्प्रवृत्तियों का परिपोषण जैसे अनेकानेक उच्चस्तरीय उद्देश्य धार्मिक क्रिया-कृत्यों के सहारे भाव भरे वातावरण में सरलता पूर्वक सम्पन्न होते रह सकते हैं। कथा पुराणों में रोचक संस्मरणों के सहारे संस्कृति की महान परम्पराओं को बाल वृद्ध नर-नारी जिस प्रकार सुनते, समझते और अपनाते हैं उसे देखते हुए प्रतीत होता है। प्रत्यक्ष निर्देशन की अपेक्षा यह देव इतिहासों का कथन श्रवण अन्तरंग की गहराई तक अधिक अच्छी तरह प्रवृष्ट हो सकता है। आदर्शवादी अनुकरण प्रत्यक्ष न मिल सकें तो उस अभाव की पूर्ति ऐतिहासिक महापुरुषों के द्वारा अपनाई गई देव परम्पराओं के दृश्य मनःक्षेत्र में विचरते रहने पर भी एक बड़ा काम हो सकता है। अनुकरण का उत्साह उठ सकता है। जन-जागरण को घर-घर पहुँचाना और जन-जन से सम्पर्क साधना आवश्यक है। प्रभावशाली श्रेष्ठ सज्जन इस पुनीत कार्य में श्रद्धा पूर्वक जुट पड़ें तो यह वातावरण उत्पन्न करना तीर्थ यात्रा की पुण्य परम्परा में उत्साह भरने से सम्भव हो सकता है। यह सारे कार्य ऐसे हैं जो शासकीय अथवा दूसरे मन्चों से किये जाने वाले समाज कल्याण जैसे कार्यों द्वारा किये जाने वाले रचनात्मक प्रयासों की तुलना में कहीं अधिक गहरा एवं चिरस्थायी सत्परिणाम उत्पन्न करेंगे।

भारत धर्म प्रधान देश है। इसमे अशिक्षा, गरीबी एवं अन्धविश्वास का बाहुल्य होते हुए भी धर्म श्रद्धा की परम्परागत मात्रा अधिकांश लोगों में विद्यमान है। इसे सही मार्ग न मिलने से उमड़ती हुई धर्म भावना का निरर्थक एवं अनर्थ मूलक कार्यों में अपव्यय होता है। इस बर्बादी को बचाया और रचनात्मक प्रयोजनों में लगाया जाना आवश्यक है। भारत में ६० लाख के करीब भिक्षा व्यवसायी साधु सन्त है। यदि ७ लाख गाँवो के इस देश में इन्हें श्रमदान, समाज सुधार, प्रौढ़ शिक्षा जैसे कार्यो में लगाया जा सके तो हर गांव पीछे आठ सन्त स्वयं सेवक इतना काम कर सकते हैं जिससे देश का कायाकल्प ही हो सके। ६० लाख पूरा समय धर्म प्रयोजनों के लिए लगाने वाले और करोड़ो आधा अधूरा समय इन्हीं कृत्यों में लगाने वालों की जन-शक्ति का मूल्यांकन किया जाय तो उसका वजन लगभग उतना ही हो जाता है जितना कि सरकारी एवं अर्ध सरकारी संस्थाओं में काम करने वाले कर्मचारियों का। इतनी बड़ी जन-शक्ति को अव्यवस्था फैलाने से विरत करके रचनात्मक कार्यों में नियोजित करने का उद्देश्य उनसे-उनके पोषणकर्ताओं से सम्बन्ध मिलकर ही पूरा हो सकता है।

गायत्री शक्ति पीठों के माध्यम से लोक मंगल की सर्वतोमुखी योजनाओं को क्रियान्वित करने वाले परिव्राजकों का एक विशिष्ट प्रयत्न यह भी होगा कि धर्म क्षेत्र में सघनता उत्पन्न करके उसमे लगी जनशक्ति को समय की मांग पूरी करने के लिए सहमत करने का जी तोड़ प्रयास करें।

धर्म परम्पराओं के निर्वाह में कितनी धन शक्ति लगती है कि इसका अनुमान लगाने से प्रतीत होता है कि यह राशि लगभग सरकारी राजस्व जितनी बड़ी होती है। तीर्थ यात्रा का एक ही प्रसंग ऐसा है कि उसमे हर वर्ष १०० करोड़ से भी अधिक धन खर्च होता है। देवालयों पर, कर्मकाण्डो पर, आयोजन समारोहों पर खर्च होने वाली दान दक्षिणा की राशि इतनी बड़ी है कि उसे विवेकवान धर्म धारणा के लिये नियोजित किया जा सके तो संसार भर में होने वाले ईशाई मिशनों जितना काम भारतीय धर्मनिष्ठा द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है। धार्मिक साहित्य, धार्मिक प्रवचन का रुझान यदि थोड़ा सा बदला जा सके तो उतने भर से व्यक्ति, परिवार और समाज की अभिनव संरचना के लिए सहज ही आवश्यक वातावरण उत्पन्न हो सकता है। धर्म तन्त्र की समर्थता सर्व विदित है। भूतकाल में उसने मानव समाज को सुसंस्कृत एवं समुन्नत बनाने में भारी सफलता पाई है। अब फिर उसकी पुनरावृत्ति हो सकती है। धर्म का तत्वदर्शन और उसके द्वारा आकर्षित उत्पादित होने वाले भौतिक बल यदि मानवी उत्कर्ष का भाव परिस्कार पक्ष संभाल सके तो उसे इस धरती पर बरसा हुआ देव लोक का अजस्र वरदान ही माना जायेगा।

धर्म परायण अर्थात् चरित्र निष्ठ-व्यक्तित्व सम्पन्न, आदर्शवादी, प्रतिभाशाली, परमार्थ परायण। यही परिभाषा प्राचीन काल में समझी जाती थी। धर्म तत्व के प्रति अगाध निष्ठा अन्धविश्वास की तरह नहीं वरन् उसकी उपयोगिता एवं प्रतिक्रिया को देखकर ही उत्पन्न होती है। इस ढांचे का लड़खड़ा जाना, मनुष्य का एक अत्यन्त कष्टकारक दुर्भाग्य है। स्थिति को बदला जाना आवश्यक है। धर्म क्षेत्र पर छाई हुई प्रतिगामिता की प्रगतिशीलता में—अन्ध परम्परा को विवेक युक्त सत् श्रद्धा के रूप में परिवर्तित किया जाता है तभी वह युग परिवर्तन की उज्ज्वल भविष्य के निर्धारण की भूमिका निभा सकेगी।

प्रज्ञावतार के लीला भवन गायत्री शक्ति पीठों के रूप में विनिर्मित हो रहे हैं। उनमें न्यूनतम पाँच और अधिकतम दर्जनों परिव्राजक सुविस्तृत क्षेत्र में रचनात्मक प्रयास करेंगे। इन प्रयासों को धर्म तन्त्र के द्वारा लोक शिक्षण प्रक्रिया के अनुरूप क्रियान्वित किया जा रहा है। सच तो यह है धर्म तत्व का सर्वोपयोगी-सर्वमान्य स्वरूप खड़ा करने से लेकर धर्म श्रद्धा का युग सृजन के महान प्रयोजन में लगा देने की यह भूमिका है। इसकी सफलता सृजनात्मक सत्प्रवृतियों के समर्थ होने और नव सृजन की सुनिश्चित स्थिति उत्पन्न कर सकेगी। प्रस्तुत प्रयास में इसी महान सम्भावना के समस्त आधार विद्यमान देखे जा सकते हैं।

युग देवता की दो प्रत्यक्ष प्रेरणाएँ

प्रज्ञा का आरम्भिक उद्गम जागृत आत्माओं से आरम्भ होता है। इस ऊर्जा से अनुप्राणित व्यक्ति सर्व प्रथम अपने चिन्तन और चरित्र को बदलते है। उनकी चेतना नर कीटकों जैसा क्षुद्र जीवन जीने से स्पष्ट इन्कार करती है। पुरानी इच्छाएँ-रुचियों और आदतें बदलना आमतौर से सामान्य व्यक्तियों के लिए अति कठिन होता है। इसे समुद्र तैरने और पर्वत लाँघने जैसा दुर्गम बताया गया है। लोग श्रेष्ठता की दिशा में सोचते तो बहुत कुछ है पर संकल्प बल के अभाव में कर कुछ नहीं पाते। शेखचिल्ली जैसे सपने गढ़ते, दिवास्वप्न देखते और कल्पना लोक में उड़ते-उड़ते ही जिन्दगी बीत जाती है और सड़ी कीचड़ से निकलने की बात बनती ही नहीं। किन्तु प्रज्ञा पुरुष अन्तःप्रेरणा की प्रचण्डता से प्रेरित होकर असाधारण साहसिकता का परिचय देता है और पुराने ढर्रे को मकड़ी की तरह अपने बुने ताने-बाने को समेटकर अपने ही पेट में निगल लेते है। आत्म परिवर्तन सामान्य लोगों के लिए निसन्देह अति कठिन है, पर प्रज्ञा पुरुष अपनी दैवी साहसिकता के सहारे उसे इतनी अच्छी तरह सम्पन्न कर लेते हैं कि साथियों को उसे दाँतों तले उँगली दबा कर 'आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेव' की पुनरावृति खुली आँखो से देखनी पड़ती है।

दैवी अनुग्रह का प्रथम चिन्ह यही है कि सामान्य से असामान्य की दिशा में छलाँग लगाये। संसार के ऐतिहासिक महामानवों में से प्रत्येक को महानता का पहला पाठ यही पढ़ना पड़ा है कि साथी सम्बन्धियों के परामर्शों और अपने कुसंस्कारों की प्रत्यक्ष अवमानना करके ऐसा कदम उठाये जिसे अपने मतलब से मतलब रखने वाले—मोहान्ध में जकड़े हुए व्यक्ति अव्यावहारिक बताये और घाटे का सौदा ठहराये। प्रवाह मे तो हाथी तक बहते चले जाते है। धारा को चीरकर उलटा चलने का

साहस मछली वर्ग के असाधारण शक्ति सम्पन्न प्राणियों में ही होता है । महानता का जन्म इसी स्तर की साहसिकता के साथ होता है । वे लोभ मोह की महत्वाकांक्षाओं के बन्धन काटते हैं और लिप्सा, लालसाओं को ताक पर रखकर आदर्शवादिता के मार्ग पर चलते हैं, पर आने वाली कठिनाइयों को जान-बूझकर स्वीकार शिरोधार्य करते हैं।

देव मानव वे हैं जो आदर्शों के क्रियान्वयन की योजना बनाते और सुविधा की लोक लिप्सा को अस्वीकार करके युग धर्म के निर्वाह की काँटो भरी राह पर एकाकी चल पड़ते हैं । वही साहसिकता उन्हें आत्म कल्याण और लोक-कल्याण के दुहरे प्रयोजन पूरे कराती हुई पूर्णता के लक्ष्य तक पहुँचती है । प्रज्ञावतार की प्रथम प्रेरणा प्रथम प्रक्रिया देव मानवों के उत्पादन की होती है । वे आत्म-परिवर्तन का आदर्श उपस्थित करके अनेकानेकों के अनुगमन की प्रेरणा देता है । अग्रगमन ही साहसिकता है। यह पराक्रम देवमानवों के भाग्य में ही बढ़ा होता है । समयानुसार अनुगमन तो असंख्यों करने लगते हैं । आँधी के साथ उड़ने वाले पत्ते तो अपना रुख बदलते, ऊँचे उछलने, नीचे गिरने की हलचलें सहज ही करते रहते हैं।

अवतार के अनुयायी आरम्भ में थोड़े ही होते है पीछे वह समुदाय बढ़ता चला जाता है। राम के साथियों में सुग्रीव, हनुमान जैसे कुछ ही साथी थे । कृष्ण के प्रारम्भिक सहयोगी पाँच पाण्डव थे । बुद्ध की प्रथम दीक्षा में सात सम्मिलित हुए थे । ईसा के व्रतबद्ध शिष्य तेरह थे। अग्रगामियों के कंधों पर सेनापतियों जैसी योजना बनाने और व्यवस्था जुटाने का उत्तरदायित्व आता है । साधनों और सहयोगियों के अभाव मे भी पर्वत उठाने और समुद्र लाँघने जैसे असम्भव दीखने वाले कार्यों के लिए आत्म-बल और ईश्वरीय सहयोग पर विश्वास करते हुए कटिबद्ध हो जाना यही सिद्ध करता है कि इन आत्माओं पर दैवी आवेश अवतरित हो चला । कालान्तर में ऐसी ही आत्माओं के लोग अवतार या अवतार के उपकरण कहने लगते हैं। प्रथम चरण में ढलाई इन्हीं की होती है ।

अवतार के द्वितीय चरण में अनेक व्यक्ति आदर्शवादी साहस का परिचय देते दिखाई पड़ते हैं । कृपणों को उदारता अपनाते, डरपोकों को साहस करते, स्वार्थियों को परमार्थ अपनाते, पतितों को आदर्श अपनाते देखकर यही सिद्ध होता है कि हवा का रुख बदला और मौसम पलटा। वर्षा ऋतु आते ही सारा माहौल बदल जाता है । आसमान में छाई धूल और धुन्ध को धकेलकर सुहावनी घटाएँ अपना अड्डा जमाती हैं । तवे जैसी जलती भूमि पर जल भरा दीखता है । हरियाली उगती और सोये मेढ़कों की आवाज हर दिशा में सुनाई पड़ती है । जबकि हर व्यक्ति स्वार्थ सिद्धि के ताने-बाने बुनने के अतिरिक्त और कुछ सोचने करने से आगे बढ़ ही न पाये । तब कुछेक व्यक्तियों की परामर्श परायणता निस्सन्देह आश्चर्यवत् प्रतीत होती है और उसे किसी आवेश का चमत्कार कहा जाता है। आदर्शों को चर्चा का विषय और वाक् विलास का प्रसंग भर माना जाता है । उन्हे प्रत्यक्ष अपनाया जाने लगे तो समझना चाहिए कि कहीं से कुछ विशिष्ट उतरा और महान उभरा है । अवतार की चेतना जन-समाज में घुले मिले उत्कृष्ट तत्वों को ऐसे ही साधारण आचरण करने-उदास का परिचय देने एवं ऐसा कर गुजरने के लिए उकसाती है जिसे अभिनन्दनीय और अनुकरणीय कहा जा सके । अवतार काल में उन्हीं उदाहरणों की संख्या बढ़ती और परम्परा बनती चली जाती है ।

प्रज्ञावतार की इस पुण्य बेला में इस स्तर की अनुकृतियाँ द्रुतगति से बढ़ रही हैं । भविष्य में उनका विस्तार और भी तेजी से होगा । युग निर्माण परिवार में लाखों सदस्य अपना समय दान और अंशदान अन्त:प्रेरणा से अनुप्राणित होकर कर रहे है । उन बूँद-बूँद अनुदानों का समुच्चय नव युग के अनुरूप वातावरण बनाता चला जा रहा है । जागृत आत्माओं को युग देवता का आह्वान, सर्वत्र भाव श्रद्धा के साथ सुना गया है । आत्माहुतियाँ लेकर जीवनदानियो का एक समर्थ वर्ग शान्ति कुंज पहुँचा है और सृजन प्रयोजन में अदम्य उत्साह के साथ जुट गया है । प्रव्रज्या अभियान के विस्तार में ऐसे ही झरने झरते दृष्टिगोचर होते हैं । वरिष्ठ, कनिष्ठ और समयबानी वर्ग के परिव्राजकों के बादल जिस तरह उमड़ रहे है उनसे यह अनुमान लगाने में तनिक भी कठिनाई नहीं होती कि तवे-सी जलती धरती पर मखमली चादर बिछने और जीवनदात्री हरितमा उगने में अब बहुत विलम्ब नहीं रह गया है ।

अपने देव परिवार के परिजनों द्वारा नव सृजन के एक से एक बढ़कर उच्चस्तरीय आदर्श अनुदान उपस्थित करने में इन दिनों होड़-सी लग रही है । गायत्री शक्ति पीठों के निर्माण में कितनों ने अपनी सामर्थ्य को लाँघते हुए कितने बढ़े-चढ़े अनुदान प्रस्तुत किये हैं, इसका इतिहास अगले दिनों एक विशाल ग्रन्थ के रूप में सचित्र छपेगा। उसे पढ़ने वाले देखेंगे कि इस युग चुनौती को किस उच्चस्तरीय भाव श्रद्धा के साथ स्वीकार किया गया और

उस निर्माण में कितने साहस भरे त्याग बलिदान का नियोजन किया गया। इतिहास के पृष्ठों पर स्वर्णाक्षरों में अंकित भूतकालीन महामानवों के त्याग बलिदान चिरकाल से अनेकों पीढ़ियों को आदर्शवादी प्रेरणाएँ देते रहे हैं। उनसे अनुप्राणित होकर असंख्यों ने अपने जीवन की दिशा धारा बदली और अनुकरण की हिम्मत जुटाई है। अग्रगामी आदर्शवादी ही अन्तरिक्ष के ग्रह तारकों की तरह धरती वालों को प्रकाश देते और वस्तुस्थिति जताने से लेकर रास्ता दिखाने तक का महान प्रयोजन पूरा करते है।

मध्य काल में यह परम्परा शिथिल ही नहीं लगभग समाप्त हो गई थी। साधु, ब्राह्मण तक धर्म व्यवसायी बन गये थे। देश भक्ति, लोक सेवा, जन-कल्याण का आवरण तो अनेकों ने ओढ़ा और वाक् शक्ति के आधार पर धुएँ के बादल भी खड़े किये पर अपने निजी आचरण से ऐसी प्रेरणा प्रस्तुत न कर सके जिससे वे श्रद्धा के पात्र बनते और भाव भरी प्रेरणा देकर दूसरों को अनुकरण के लिए सहमत करते। प्राचीन काल में भारतीय देव मानवों की एक ही प्रमुख विशेषता थी कि वे उत्कृष्ट चिन्तन और आदर्श कर्तृत्व से अपने जीवन क्रम को पूरी तरह संजोते थे। उनके क्रिया-कलाप साहित्यिक परमार्थ प्रयोजनों से भरे रहते थे। त्याग बलिदान को ही वैभव और वर्चस्व मानते थे। यह परम्परा नष्ट हुई और धर्म का स्वरूप छद्म बनकर रह गया। ऐसी दशा मे विनिर्मित हुए वातावरण में महामानवों का उत्पादन बन्द हो जाना स्वाभाविक ही था। यही है वह महान क्षति जिसका दुष्परिणाम वर्तमान हेय परिस्थितियों और विकट विपत्तियों के रूप में अपनी पीढ़ी को भुगतना पड़ रहा है। युग बदलना है तो प्रवाह भी बदलेगा ही। महान् व्यक्तियों का उत्पादन-सामान्य लोगों द्वारा आदर्शवादी क्रिया-कृत्यों का सम्पादन यह दोनों ही कार्य ऐसे है जिनसे निराशा भरी परिस्थितियों में भी आशा की चमक उत्पन्न होनी है। सामान्य समझे जाने वाले लोगों को भी जब अन्तःप्रेरणा से प्रेरित होकर परमार्थ प्रयोजनों के लिए कोई अभिनन्दनीय कार्य करने के लिए अनायास ही कटिबद्ध पाया जाय तो समझना चाहिए कि युग देवता का चमत्कार सिर पर चढ़कर बोला।

युग सृजन के लिए प्रचुर साधनों की आवश्यकता पडेगी। कार्यक्षेत्र व्यापक है, उसकी परिधि समस्त भूमण्डल पर रहने वाले ४०० करोड़ मनुष्यों तक उससे सम्बद्ध असंख्य अन्य प्राणियों तक चली जाती है। इतने बड़े क्षेत्र एवं वर्ग की स्थिति को नीचे से उठाकर ऊंची उछाल देना निस्सन्देह बहुत बड़ा कार्य है। इसीलिए श्रम-बल, मनोबल एवं साधन-बल की प्रचुर परिमाण में आवश्यकता पड़ेगी। इस आवश्यकता को तो चन्दा संग्रह करके पूरा किया जा सकेगा और न शासन के लिए इतने बड़े लक्ष्य को पूरा करने की बात सोच सकना सम्भव होगा। इतनी बड़ी सम्पदा, जन-जन के मन-मन में उभरने वाली भाव श्रद्धा के कारण स्वेच्छा समर्पित अनुदानों से ही सम्भव होगी।

युग चेतना की प्रेरणा हर जागृत आत्मा के लिए यह है कि वह न केवल जीवन क्रम को उत्कृष्ट बनाये वरन् युग सृजन के छुटपुट नहीं ऐसे अनुदान प्रस्तुत करें जिनकी स्मृति से इतिहास के पृष्ठों को धन्य बनने का अवसर मिले। दुष्टता और भ्रष्टता पिछले दिनों एक दूसरे से आगे निकलने की होड़ लगाते रहे हैं। अब यह प्रतिस्पर्धा दूसरे स्तर की है। भीम ने ब्राह्मण के बालक को बचाने के लिए अपना प्राण देने का अधिकार माता तथा भाइयों से लड़ झगड़ कर प्राप्त किया था। गुरु गोविन्द सिंह के बच्चों में से प्रथम बलिदान होने वाले बालक ने अपने सौभाग्य को उच्च स्वर से सराहा था। अब प्रतिस्पर्धाएँ इसी स्तर की चलेंगी कि असंख्यों की प्रेरणा देने वाले आदर्शवादी त्याग, बलिदान में कौन-कौन किससे आगे निकलता है। दंगल मे कुश्ती पछाड़ने वाले पहलवान अपनी विजय ध्वज उड़ाते हुए हाट बाजारों में निकलते है। आदर्शवादी अनुदान प्रस्तुत करने में किसने अपने कितने साथियों को पछाड़ा और अपनी आन्तरिक बलिष्ठता का कितना भारी प्रमाण प्रस्तुत किया, यही प्रसंग लोक चर्चा का विषय बनेगा। इतिहास के पृष्ठ इन्हीं दिव्य संस्मरणों से रंगे और लिखे जायेंगे। यही वह आधार है जिससे युग निर्माण के लिए अभीष्ट शक्ति एवं सम्पदा प्रचुर परिमाण में सहज ही उपलब्ध होती चलेगी। अनुकरणीय आदर्शों का तांता लगते इन दिनों भी देखा जा सकता है। अगले दिनों इस दिशा मे और भी अधिक उत्साह उत्पन्न होगा। इसी को युग अवतार का सामयिक एवं समर्थ अनुदान कहा जायेगा।

प्रज्ञावतार का स्वरूप और क्रिया-कलाप

अवतारों का भी क्रमिक विकास हुआ है। उनकी कलाएँ क्रमशः बढ़ती आई हैं। कच्छ-मच्छ एक-एक कला के अवतार थे। वाराह और वामन दो-दो के। नृसिंह और परशुराम तीन-तीन कला के मानेजाते है। राम बारह के, कृष्ण सोलह के और बुद्ध बीस कला के माने गये है।

निष्कलंक के बारे में कहा गया है कि ये चौबीस कला के होंगे। यह क्रमिक विकास है। सम्पूर्ण कलाएँ चौंसठ मानी जाती हैं। सृष्टि क्रम में अवतारों की शृंखला अनवरत चलती रहती है और विश्व विकास के साथ-साथ उनकी कला सामर्थ्य भी बढ़ती रहेगी।

भूतकाल के अवतारों मे प्रारम्भिक का कार्य क्षेत्र भौतिक परिस्थितियों से जूझना भर था। उसके बाद वालों को अनाचारियों से लड़ना पड़ा। इसके बाद स्थापनाओं का क्रम चलता है। राम को मर्यादा पुरुषोत्तम-कृष्ण को पूर्ण पुरुष और बुद्ध को विवेक का देवता कहा जाता है। इनके चरित्र और कर्तृत्व मे उच्चस्तरीय स्थापनाओं का दौर है। अधर्म का नाश करने के लिए उनके जितने प्रयत्न हुए हैं, उनकी अपेक्षा स्थापनाओं पर गतिविधियाँ अधिक केन्द्रित रही हैं। कृष्ण का गीता प्रतिपादन और बुद्ध का बुद्धि की शरण में जाने का प्रचण्ड अभियान, जन-जीवन को दिशा और लोक-मानस को प्रेरणा देने में अपने पूर्ववर्तियों की तुलना में अधिक प्रयत्नशील रहे। प्रज्ञावतार का कार्य अपेक्षाकृत अधिक कठिन और अधिक व्यापक है। उसे सामयिक समस्याओं एवं व्यक्तिगत उद्दण्डताओं से ही नहीं जूझना है वरन् लोकमानस में ऐसे आदर्शों का बीजारोपण, अभिवर्धन, परिपोषण एवं क्रियान्वयन करना है जो सतयुग जैसी भावना और राम राज्य जैसी व्यवस्था के लिए आवश्यक अन्तः प्रेरणा व्यापक क्षेत्र में उत्पन्न कर सके। लक्ष्य और कार्य की गरिमा एवं व्यापकता को देखते हुए प्रज्ञावतार की कलाएँ चौबीस होना स्वाभाविक है।

समुद्र मन्थन से चौदह रत्न निकले थे। हृदय मंथन की वर्तमान भाव चेतना से अनेकानेक नर रत्नों का निकलना निश्चित है। समुद्र मन्थन से निकले रत्नों ने सृष्टि की आदिम स्थिति में उत्कृष्ट के साधनों का बाहुल्य उपस्थित किया था। लक्ष्मी (सम्पदा) सूर्य (ज्ञान) चन्द्रमा (सन्तुलन) अमृत (आत्म ज्ञान) धन्वंतरी (शमन) वज्र (अनुशासन) अश्व (उत्साह) एरावत (पराक्रम) रम्भा (कला) जैसी अनेको दिव्य सम्पदाएँ आविर्भूत हुईं तो समुद्र मन्थन ने तत्कालीन परिस्थितियों को कुछ से कुछ बना दिया था। इन दिनों भी ऐसा ही कुछ होने जा रहा है। अन्तःप्रेरणा से उत्पन्न हुआ आत्म ज्ञान और भावावेश मनुष्यो को कुछ उच्चस्तरीय सोचने और करने के लिए विवश करेगा। अग्रगामी सदा अपने अनुयायी उत्पन्न करते और परम्पराओं को जन्म देते हैं। जागृत आत्माओं द्वारा अपनाई गई युग साधना का प्रवाह जन-मानस को अनुकरण के लिए अनायास ही आकर्षित और प्रेरित करेगा। पिछले दिनो जहाँ आदर्शवादिता के दोनों आधार धर्म और अध्यात्म चर्चा एवं उपचार की विडम्बनाओ मे उलझकर रहते रहे है। इन दिनों उन्हें अपनी प्रखरता प्रकट करने का—प्रत्यक्ष कार्यरत होने का अवसर मिलेगा। इंजन चलता है तो डिब्बे अनायास ही पीछे लुढ़कने लगते है। तूफान उठता है तो पत्ते और तिनके साथ ही उड़ने लगते है। जल प्रवाह में जाने क्या-क्या साथ ही तैरता, डूबता, बहता चला जाता है। जागृत आत्माओं के अपने उदात्त दृष्टिकोण और उदार आचरण से सब लोक श्रद्धा उभरेगी तो अनेकों व्यक्तियों एवं सत्प्रवृत्तियों को प्रगति के पथ पर द्रुतगति से अग्रसर होते देखा जा सकेगा।

इस तथ्य को हजार बार समझा और लाख बार समझाया जाना चाहिए कि अपने युग की समस्याएँ परिस्थितिजन्य दीखती भर है। वस्तुतः उनका उद्भव विकृत मनः स्थिति से हुआ है। जड़ तक पहुँचने पर ही समाधान खोजा जा सकेगा। मनःस्थिति बदलने से ही परिस्थितियाँ बदलेंगी। नाली साफ करने पर ही मक्खी, मच्छरों और दुर्गन्ध फैलाने वाले विषाणुओं से छुटकारा मिलता है। रक्त शुद्धि का चिरस्थायी उपचार किये बिना निरन्तर उठते रहने वाले फोड़े-फुन्सियों से पिण्ड नहीं छूटता। समस्याएँ असंख्य हैं, उनके बाह्योपचार भी असंख्यों हो सकते हैं। यह प्रयत्न हो रहे हैं और होते भी रहे हैं। प्रतिफल और अनुभव भी सामने है। समाधान चाहे शासन तन्त्र ने ढूँढे हो, चाहे अर्थ तन्त्र ने। बात कुछ बनी नहीं है। एक हाथ जोड़ने के साथ ही दो हाथ टूटने का सिलसिला चलता रहे तो गुत्थियों को सुलझाना किस प्रकार सम्भव हो सकता है। बुद्धि और सम्पदा की, साधन और सामर्थ्य की इन दिनों कोई कमी नहीं। सृष्टि के आदि से लेकर अब तक के इतिहास में मनुष्य कभी इतना समृद्ध और सशक्त नहीं हुआ, जितना इन दिनों है। साथ ही यह भी सच है कि वर्तमान में उस पर जितनी विपन्नता छाई है उतनी भूतकाल में कभी भी सहन नहीं करनी पड़ी।

समस्याएँ सुलझेंगी तो एक-एक करके नही, वरन् एक साथ ही उनका समाधान निकलेगा। क्योंकि उनका उद्गम एक है। अस्वस्थता दूर होनी होगी तो उस पर मात्र संयम से-आहार-विहार सम्बन्धी अनुशासन के सहारे ही विजय प्राप्त की जा सकेगी। असंयम का दौर रहते, आहार को बहुमूल्य बनाने एवं चिकित्सा उपचार के पहाड़ जैसे साधन खड़े करने पर भी कोई हल न मिलेगा। नित नई

औषधियों का आविष्कार होगा और नित नूतन अस्पताल खुलेंगे किन्तु दुर्बलता और रुग्णता पर विजय प्राप्त करने का स्वप्न दिन-दिन दूर ही हटता जायगा।

मनुष्य की वितृष्णा, आन्तरिक समाधान, सन्तुलन, सन्तोष जैसे चिन्तन से ही शान्त होगी। अन्यथा तनिक-तनिक सी बातों पर उत्तेजना, उद्विग्नता के ज्वालामुखी फूटते रहेंगे। वस्तुओं का बाहुल्य और व्यक्तियों का अनुकूलन एक स्वप्न है जिसकी पूर्ति व्यावहारिक जीवन में सम्भव नहीं। हर किसी को ताल-मेल बिठाकर चलना पड़ता है। अधिकार के साथ कर्तव्य को—उपार्जन के साथ सन्तोष को—संघर्ष के साथ सहयोग को—उपभोग के साथ संयम को मिलाकर चलने से ही मानसिक सन्तुलन बनता है। किसी को मानसिक तनावों से छुटकारा पाना है तो अनुकूल परिस्थितियाँ प्राप्त होने तक की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है। चिन्तन में विधायक तत्वों को भर लेने—दृष्टिकोण को ऊँचा उठा लेने से ही काम चल जाता है। संव्याप्त विक्षोभ और असन्तोष का समाधान इसी प्रकार होगा। अनुकूल के लिए किया गया पुरुषार्थ तो दूसरा चरण है।

परिवार छोटे करने का प्रयोग पाश्चात्य देशों में व्यापक रूप से चला है। पति-पत्नी और न्यूनतम बच्चे यही है आधुनिक परिवार का स्वरूप। संयुक्त परिवार को तो आफत समझा गया और उनको विखण्डित किया गया, पर इतने से भी समस्या कहाँ सुलझी। छोटे परिवार भी आपाधापी के केन्द्र हैं और स्नेह सौजन्य की कमी का रोना उनमें भी रोया जाता है। जबकि कितने ही बड़े कुटुम्ब स्नेह सिक्त सहकारी संस्था के रूप में अपनी सार्थकता और सफलता सिद्ध करते हैं। पारिवारिक समस्याओं की गणना असंख्य है, किन्तु उनके मूल में भावनात्मक दरिद्रता ही प्रधान कारण रही होती है। परिवार का सुख, प्रचुर साधनो के, रूप यौवन के अथवा व्यवस्था उपचार के सहारे उपलब्ध होने की आशा की जाती है, किन्तु देखा यह गया है कि जहां इन सबकी प्रचुरता है वहाँ भी मनोमालिन्य कम नहीं है। तथ्य ढूँढने पर भावनाओं की दरिद्रता ही कुटुम्बों को विशृंखलित एवं विपत्र बनाती है। इसका निराकरण हो सके तो अभावग्रस्त घरोंदे में भी लोग देवोपम स्नेह सौजन्य का आनन्द लेते हुए दिन बिता सकते हैं।

समाज में अनेक कुप्रथाएँ प्रचलित हैं। इनमें परिपाटी उतनी घातक नहीं होती जितनी कि उनकी आड़ में नंगा नृत्य करने वाली दुष्टता। दहेज, समस्या नहीं है। बेटी की विदाई मे अभिभावक अपनी सम्पदा का एक अंश उपहार में देते हों तो उसमें कोई अनौचित्य नहीं है। द. ज ने कन्या भक्षी पिशाच का रूप तो उसके पीछे काम करने वाली निष्ठुर अहंकारिता और स्वार्थपरता ने उत्पन्न किया है। यदि इन तथ्यों को हटा दिया जाय तो नव परिणीता को, स्त्री धन के रूप में कुछ उपहार मिल जाने से निश्चिन्तता और प्रसन्नता ही रहेगी। यही बात अनेकानेक प्रचलनों से सम्बद्ध है। कुप्रथाएँ बदली जानी चाहिए यह आवश्यक है किन्तु स्मरण रखा जाय कि दुष्टता के रहते सुधार के नाम पर किये गये परिवर्तन भी सन्तोषजनक परिणाम उत्पन्न नहीं कर सकेंगे। बिना दहेज के तथाकथित आदर्श-विवाहों की आजकल धूम है। इनमें भी पर्दे के पीछे लेन-देन पनप रहा है। उसे सुधारवाद का दुर्भाग्य ही कह सकते हैं। समाज सुधार के बाह्य प्रयत्न कितने ही आवश्यक क्यों न हों उनकी सार्थकता सद्भावना के जीवन्त रहने पर ही हो सकती है। सद्भावना प्रथा परम्परा नहीं है। यह आध्यात्मिक उपलब्धि है। समाज में प्रचलित अनेकों कुप्रथाओं का उन्मूलन तो होना ही चाहिए, पर आत्यंतिक समाधान की तब तक प्रतीक्षा करनी चाहिए जब तक कि सद्भावनाओं की हरितमा अन्तः क्षेत्रों मे लहलहाने न लगे।

शासन सत्ता किस पार्टी के हाथ रहती है प्रश्न यह नहीं वरन् यह है जो शासन को चलाते हैं वे किस स्तर के हैं। घोषणा पत्रों और साइन बोर्डो के बदलने से व्यक्तियों की गोटें इधर से उधर बिठाने भर से स्वच्छ शासन की अपेक्षा नहीं की जा सकती। वोटर से लेकर नेताओं तक की नीयतें बदलें तभी कुछ काम चलेगा। उत्थान के लिए बनने वाली योजनाएं उपयुक्त संचालकों के अभाव में किस प्रकार असफल होती हैं इसका प्रमाण पग-पग पर मिल सकता है। अपराधों के नियन्त्रण में पुलिस, कचहरी, जेल आदि का ढाँचा अति स्वल्प मात्रा में ही कारगर सिद्ध होता है। अपराधी मनोवृत्ति का शमन करने एवं नियन्त्रण कर्त्ताओं के निर्लोभ एवं कर्तव्यपरायण होने से ही बात बनेगी। अन्यथा वे अपने ढंग से पनपते रहेंगे और नियन्त्रण का ढकोसला अपनी जगह खड़ा रहेगा। अनैतिकता के वैयक्तिक एवं सामाजिक रूप अनेकानेक हैं इन सभी पर अंकुश लगने का एक ही उपाय है, व्यक्ति के अन्तःकरण में धर्म धारणा का घनीभूत होना।

नेतृत्व की हर क्षेत्र में माँग है, पर उसे प्रतिभा और चतुरता के सहारे उपलब्ध करने का प्रयत्न किया जाता है।

फलतः वह अभिनेताओं जैसे कौतुक कौतूहल दिखाकर समाप्त हो जाता है। स्थायित्व उस गरिमा में है जो चिन्तन और चरित्र के हर घटक में छाई रहती है जिसमें भ्रष्ट चिन्तन और दुष्ट आचरण की छद्म एवं स्वार्थ साधन के लिए कहीं कोई गुंजायश ही नहीं रह जाती। ऐसे उच्चस्तरीय नेतृत्वों का उदय ही जब बन्द हो गया तो लोक चेतना क्यों न जगायें? पीढ़ी का मार्गदर्शन कौन करे ? भटकने और भटकाने वाले लोग ही मिल जुलकर नेता और अनुयायियों की मण्डलियाँ बना-बनाकर जन-कल्याण के नाम पर शालीनता का निर्माण करने मे लगे हुए हैं। यह परिस्थिति और किसी तरह दूर नहीं हो सकती। प्रज्ञावतार की प्रेरणा से उत्पन्न उत्कृष्टता सम्पन्न मनःस्थिति ही नेतृत्व के अभाव को पूरा कर सकने में समर्थ हो सकती है।

अर्थ सुविधा के लिए साधनों का बाहुल्य उतना आवश्यक नहीं जितना उपलब्धियों को मिल-जुलकर खाने और उन्हें मात्र औचित्य के लिए ही उपयोग करने की धारणा। श्रमशीलता, ईमानदारी, मितव्ययता जैसे सद्गुणों की कमी पड़ने पर ही दरिद्रता की विपत्ति सहन करनी पड़ती है। अन्यथा मनुष्य की आवश्यकताएँ ही कितनी हैं। उन्हें सरलता पूर्वक स्वल्प साधनों से ही पूरा किया जा सकता है और हर किसी को इतना समय साधन मिल सकता है जिसके सहारे आत्म-कल्याण एवं समाज-कल्याण के लिए बहुत कुछ कर सकना सम्भव हो सके।

दृष्टि पसार के वास्तविकता को ढूँढने पर समस्त समस्याओ का एक ही कारण दीखता है- आस्था संकट निकृष्ट चिन्तन। इसका निराकरण आज एक ही उपाय से हो सकता है। अन्तःचेतना का ऊर्ध्वगमन, उन्नयन, अभ्युदय, प्रज्ञावतार की तूफानी गतिविधियाँ जन-जन के अन्तःकरण को झकझोरेगी और उसे क्रमशः उस दिशा में धकेलती घसीटती ले चलेगी जहाँ उसे शालीनता और सदाशयता से बढ़कर और कुछ मूल्यवान प्रतीत ही न होता हो। मूर्धन्य देव-मानवों के माध्यम से प्रज्ञावतार आस्था संकट के निवारण का प्रयत्न कर रहा है। धर्म-क्षेत्र की नर्सरी में ही महामानवों के कल्पवृक्ष उत्पन्न होते रहेगे। इस समय भी उसी के प्रमाण में कल्प वृक्षों की नई पौध उग रही है।

कलंक और आक्रमण से निष्कलंक की सुरक्षा

प्रगति के मार्ग में अवरोध का—विशेषतया श्रेष्ठ सम्भावनाओं में अड़चनें आने का अपना इतिहास है, जिसकी पुनरावृत्ति अनादिकाल से होती रही है। जिस प्रकार आसुरी संक्रमणों को निरस्त करने के लिए दैवी सन्तुलन की सृजन शक्तियो का अवतरण होता है उसी प्रकार श्रेष्ठता की अभिवृद्धि को आसुरी तत्व सहन नहीं कर पाते। उसमें अपना पराभव देखते हैं और बुझते समय दीपक के अधिक तेजी के साथ जलने की तरह अपनी दुष्टता का परिचय देते हैं। मरते समय चींटी के पंख उगते है। पागल कुत्ता जब मरने को होता है तो तालाब में डूबने को दौड़ता है। पागल हाथी पर्वत पर आक्रमण करता है और उससे टकरा-टकराकर अपना सिर फोड़ लेता है। आसुरी तत्व भी जब अन्तिम साँस लेते है और एक बारगी मरणासन्न की तरह उच्छ्वास खींचकर अपनी शक्ति का प्रदर्शन करते है। अवतारों में पुण्य-प्रक्रिया भी निर्बाध रीति से बिना किसी अड़चन के सम्पन्न नहीं हो जाती, उसमें पग-पग पर अवरोध और आक्रमण आड़े आते हैं।

भगवान कृष्ण पर जन्म काल से ही एक के बाद एक आक्रमण हुए। वसुदेव जब उन्हें टोकरी में रखकर गोकुल ले जा रहे थे तो सिंह की गर्जन, घटाओ का वर्षण, सर्पो का आक्रमण जैसे व्यवधान उत्पन्न हुए। इसके बाद पूतना, वृत्तासुर, तृणावर्त, कालिया सर्प आदि द्वारा उनके प्राण हरण की दुरभिसन्धियाँ रची जाती रहीं। कंस, जरासन्ध, शिशुपाल जैसे अनेकों शत्रु बन गये। चारूड़, मुष्टिकासुर आदि ने उन पर अकारण आक्रमण बोले। अन्ततः भीलों से गोपियों का हरण-व्याध द्वारा प्रहार करने जैसी घटनाएं घटित हुई।

कृष्ण की चरित्र-निष्ठा और न्याय निष्ठा उच्चस्तरीय थी तो भी उन्हें रुक्मणि चुराने का दोष लगाया गया। चरित्र हनन की चोट भगवान राम को भी सहनी पड़ी। सीता जैसी सती को लोगों ने दुराचारिणी कहा और अग्नि परीक्षा देने के लिए विवश किया। अपवादियों के दोषारोपण फिर भी समाप्त नहीं हुए और स्थिति यहाँ तक आ पहुँची कि सीता परित्याग जैसी दुःखदायी दुर्घटना सामने आई। जयन्त ने सीताजी पर अश्लील आक्रमण किया। सूर्पणखाँ राम के स्तर को गिरा कर असुरो के समतुल्य ही बनाना चाहती है। चाहना अस्वीकार करने पर उसने जो विपत्ति ढाई वह सर्वविदित है। सत्यता और कर्तव्यों के प्रति राम के व्यवहार में कहीं कोई अनौचित्य नहीं था। फिर भी उसने वह षड़यन्त्र रचा जिससे उन्हें चौदह वर्ष के एकाकी वनवास में प्राण खो बैठने जैसा ही त्रास सहना पड़ा। खरदूषण, मारीच, अहिरावण, रावण, कुम्भकरण ने आक्रमण पर आक्रमण किये इनमें से किसी से भी राम की

ओर से पहल नहीं हुई थी। वे तो मात्र आत्म-रक्षा की ही लड़ाई लड़ते रहे।

ईसा को अपराधी ठहराया और शूली पर लटकाया गया। सुकरात को जहर का प्याला पीना पड़ा। दयानन्द को विष दिया गया। गाँधी को गोली से उड़ाया गया। व्याध ने कृष्ण के प्राण हरण किये। गुरु गोविन्द सिंह के अबोध बालकों को जल्लादों के सुपुर्द किया गया। मीरा निर्दोष होते हुए भी उत्पीड़न सहती रहीं। जहाँ तक अपराधों, आक्रमणों और प्रताड़नाओं का सम्बन्ध है वहाँ तक जो जितना उच्चस्तरीय आत्मवेत्ता हुआ है उसे उतना ही अधिक भार सहन करना पड़ा है। भगवान बुद्ध की जीवन गाथा पढ़ने से पता चलता है कि पुरातन पंथी और ईर्ष्यालु उनके प्राणघाती शत्रु बने हुए थे। उन्होंने अंगुलिमाल को आक्रमण के लिए उकसाया था। चरित्र हनन के लिए ढेरों दुरभिसंधियाँ रची थीं। समर्थकों में अश्रद्धा उत्पन्न करने के लिए जो षड्यन्त्र रचे जा सकते थे उसमें कुछ कसर नहीं छोड़ी गई थी। गाँधी का विरोध होता रहा। उन पर पैसा बटोरने और हड़पने का लाछन लगाने वालों की संख्या आरम्भ मे तो अत्यधिक थी, प्रताप बढ़ने के बाद ही वह घटने लगी थी। अन्तत: उन्हें गोली से ही उड़ा दिया गया। मध्यकाल के सन्तों में से प्राय: प्रत्येक को शत्रुओं की प्रताड़नाएं सहनी पड़ी हैं। आद्य शंकराचार्य, चैतन्य महाप्रभु, नामदेव, एक नाथ, तुकाराम, ज्ञानेश्वर, रामदास, गुरु गोविन्दसिंह, बन्दा बैरागी आदि इसके जीते-जागते प्रमाण हैं।

संसार के सुधारकों में प्रत्येक को प्राय: ऐसे ही आक्रमण न्यूनाधिक मात्रा में सहने पड़े हैं। संगठित अभियानों को नष्ट करने के लिए कार्यकर्त्ताओं में फूट डालने, बदनाम करने, बल प्रयोग से आतंकित करने, जैसे प्रयत्न सर्वत्र हुए हैं। ऐसा क्यों होता है यह विचारणीय है। सुधारक पक्ष को अवरोधों का सामना करने पर उनकी हिम्मत टूट जाने, साधनों के अभाव से प्रगति क्रम शिथिल या समाप्त हो जाने जैसे प्रत्यक्ष खतरे तो हैं, किन्तु परोक्ष रूप से इसके लाभ भी बहुत हैं। व्यक्ति की श्रद्धा एवं निष्ठा कितनी सच्ची और कितनी ऊँची है इसका पता इसी कसौटी पर कसने से लगता है कि आदर्शों का निर्वाह कितनी कठिनाई सहन करने तक किया जाता रहा। अग्नि तपाये जाने और कसौटी पर कसे जाने के क्रम में, सोने के खरे-खोटे होने का पता चलता ही नहीं। आदर्शों के लिए बलिदान से ही महामानवों की अन्त:श्रद्धा परखी जाती है और उसी अनुपात से उनकी प्रामाणिकता को लोक-मान्यता मिलती है। जिसे कोई कठिनाई नहीं सहनी पड़ी ऐसे सस्ते नेता सदा सन्देह और आशंका का विषय बने रहते हैं। श्रद्धा और सहायता किसी पर तभी बरसती है जब वह अपनी निष्ठा का प्रभाव प्रतिकूलताओं से टकरा कर प्रस्तुत करता है।

दुरभिसंधियों के रचने वाले हर सफलता के बाद दूने साहस के साथ अपने दुष्कर्मों को निर्द्वन्द होकर बढ़ाते हैं। निष्ठावानों से टकराने पर उनके दाँत खट्टे होते हैं। आक्रमण मँहगा पड़ता है और भविष्य के लिए उनकी हिम्मत टूट जाती है। लोक तिरस्कार के कारण वे मुँह दिखाने लायक नहीं रहते। यह उदाहरण दूसरों के सामने भी प्रस्तुत होता है और श्रेष्ठता से अकारण टकराने का प्रतिफल क्या होता है इसका पता न केवल आततायियों को वरन् उस वर्ग के अन्य लोगों का साहस तोड़ने के लिए भी पर्याप्त होता है। अपयश और तिरस्कार का दण्ड जेल फाँसी से भी मँहगा पड़ता है। ऐसी स्थिति श्रेष्ठ व्यक्तियों या आन्दोलनों से ही टकराने पर बनती है। सामान्य लोगों के बीच तो आक्रमण प्रत्याक्रमण के क्रम आये दिन चलते ही रहते हैं।

अन्ध श्रद्धाओं का समर्थन भी जोखिम भरा है। किसी के साथ अनगढ़ अधकचरे, अपरिपक्वो की मण्डली हो तो वह उसे जन-शक्ति समझने की भूल करता रहता है। किसकी श्रद्धा एवं आत्मीयता कितनी गहरी है, इसका पता चलाने का एक मापदण्ड यह भी है कि अफवाहों या आरोपों पर तो विश्वास कर लिया जाय, किन्तु सदाशयता की पक्षधर अनेकानेक घटनाओं को क्षण भर में भुला दिया जाय। जो अफवाहों की फूँक से उड़ सकते है वे वस्तुत: बहुत ही हलके और उथले होते हैं। ऐसे लोगो का साथ किसी बड़े प्रयोजन के लिए कभी कारगर सिद्ध नहीं हो सकता। उन्हें कभी भी, कोई भी, कुछ भी कहकर विचलित कर सकता है। ऐसे विवेकहीन लोगों की छँटनी कर देने के लिए कुचक्रियों द्वारा लगाये गये आरोप या आक्रमण बहुत ही उपयोगी सिद्ध होते हैं। योद्धाओं की मण्डली में शूरवीरों का स्तर ही काम आता है, शंकालु, अविश्वास, कायर प्रकृति के सैनिकों की संख्या भी पराजय का एक बड़ा कारण होती है। ऐसे मूढ़मतियों को अनाज में से भूसा अलग कर देने की तरह यह आक्रमणकारिता बहुत ही सहायक सिद्ध होती है। दुरभिसन्धियों के प्रति जन-आक्रोश उभरने से सहयोगियों

का समर्थन और भी अधिक बढ़ जाता है उस उभार से सुधारात्मक आन्दोलनों का पक्ष सबल ही होता है। कुसमय पर ही अपने पराये की परीक्षा होती है । इस कार्य को आततायी जितनी अच्छी तरह सम्पन्न करते है उतना कोई और नहीं । अस्थिर मति और प्रकृति के साथियों से पीछा छूट जाना और विवेकवानों का समर्थन सहयोग बढ़ना जिन प्रतिरोधों के कारण सम्भव होता है वह आक्रमणों की उत्तेजना उत्पन्न हुए सम्भव ही नहीं होता ।

प्रज्ञावतार ही निष्कलंक अवतार हैं । उसके प्रतिपादनों और समर्थकों को लोक श्रद्धा कैसे मिले ? इसके रचनात्मक आधार तो कितने ही हैं, पर एक निरोधात्मक आधार भी है- आसुरी आक्रमण । इसके पश्चात् ही किसी महान् व्यक्ति या आन्दोलन की प्रौढ़ता का पता चलता है। कलंक कालिका का दौर और अवरोध आक्रमणों का क्रम ही वह स्थिति उत्पन्न करेगा । जिससे निष्कलंक भगवान का सर्वत्र जय-जयकार होने लगे ।

यह क्रम अपने अभियान में भी निश्चित रूप से चलेगा । चलता भी रहा है । प्रतिगामी निहित स्वार्थों द्वारा तरह-तरह के आक्षेप लगाये जाते रहे हैं । बदनाम करने का कोई अवसर उन्होंने नहीं छोड़ा । अश्रद्धा उत्पन्न करने के लिए जो कुछ कहा जा सकता था—जो कुछ किया या कराया जा सकता था, उसमें कहीं कुछ कमी नहीं रहने दी गई है । यह सारा उत्पात उन आसुरी तत्वों का है जो अवांछनीयताओं की सड़ी कीचड़ में ही माँस, मच्छरों की तरह अपनी जिन्दगी देखते हैं । कुछ ईर्ष्यालु हैं, जिन्हें अपने अतिरिक्त किसी अन्य का यश वर्चस्व सहन ही नहीं होता। इसके अतिरिक्त सड़े टमाटरों का भी एक वर्ग है जो पेट में रहने वाले कीड़ों की-चारपाई पर साथ सोने वाले खटमलों की- आस्तीन में पलने वाले साँपों की तरह जहाँ आश्रय पाते हैं वहीं खोखला भी करते हैं । बिच्छू अपनी माँ के पेट का मांस खाकर ही बढ़तेऔर पलतेहैं, माता का प्राण हरण करने के उपरान्त ही जन्म धारण करते है । कृतघ्नों और विश्वासघातियों का वर्ग इस युग में जिस तेजी से पनपा है उतना सम्भवत: इतिहास भी इससे पहले कभी भी नहीं देखा गया ।

अवांछनीयता हर क्षेत्र मेंअड्डा डाले और जड़ जमाये बैठी है । युग परिवर्तन की प्रक्रिया भी उसे उखाड़ने को उसी क्रम अनुपात से चलेगी जिससे कि सृजनात्मक सत्प्रवृत्तियो का सम्वर्धन । ऐसी दिशा में दुष्प्रवृत्तियों के सामने जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित होगा । अभियान को जब तक दुर्बल समझा जायगा; तब तक उसे उपहास उपेक्षा का पात्र बने रहने दिया जायगा । व्यंग तिरस्कार बरसते रहेंगे । किन्तु जब उसकी समर्थता और सफलता का आभास होने लगेगा तो विरोध एवं आक्रमण का सिलसिला चल पड़ेगा । अन्तत: वह देवासुर संग्राम उतना ही प्रचण्ड हो जायगा जितना कि सृजन प्रत्यावर्तन । इसके लिए प्रत्येक सृजन शिल्पी को पहले से ही तैयार रहना होगा । किसान का मुख्य काम अन्न उपजाना है, विभुक्षा का समाधान करना है । तो भी उसे इस कार्य क्षेत्र में आये दिन सर्प, बिछुओं, दीमकों, सुअर, भेड़ियों से मुठभेड़ के साधन सँजोकर रखने होते हैं । स्वयं श्रेष्ठ कर्म से निरत है यह इस बात की गारंटी नहीं कि दुष्ट दुरात्माओं के आक्रमण होंगे ही नहीं । सज्जनता सामने से ही अनाक्रम दीखती है, पर परोक्ष रूप से उसमें भी दुष्टता की विघातक सामर्थ्य परिमाण में-भरी पड़ी है । असुर वस्तुस्थिति को समझता है इसलिए देय पर कुछ प्रत्यक्ष कारण न रहने पर भी आक्रमण करने से चूकता नहीं । प्रकाश के उदय में अन्धकार की मृत्यु है । इसलिए सूर्योदय से पूर्व एक बार सघन तमिस्रा जमा होती है और प्रकाश से जूझने का उपक्रम करती है, भले ही उसे अन्तत: मुँह की ही क्यो न खानी पड़े ।

युग निर्माण अभियान की प्रज्ञावतार प्रक्रिया उन समस्त सम्भावनाओं से भरी हुई है । सहयोग उसे प्रचुर परिमाण में मिलना है किन्तु ऐसी घटनाएँ भी कम नहीं होंगी जो प्रत्यक्ष आक्रमण में कठिनाई और परोक्ष दुरभिसन्धि रचने में सरलता देखकर उसी मार्ग को अपनाये। अन्त:क्षेत्र से उभरने वाले और बाहरी क्षेत्र से आक्रमण करने वाली दोनों ही स्तर की दुरभिसन्धियों से अभियान की सुरक्षा का प्रबन्ध करना चाहिए । इस संदर्भ में बरती जाने वाली जागरुकता, साहसिकता एवं शूर वीरता उतनी ही आवश्यक है जितनी कि सृजन प्रयोजनों के लिए बरती जाने वाली उदार-सेवा-साधना एवं भावभरी परमार्थ परायणता ।

उदात्त अनुदानों के लिये युग चेतना का आह्वान

प्रत्येक जागृत आत्मा को यह अनुभव करना चाहिए कि यह परिवर्तन की परम पुनीत साध्य वेला है । अवांछनीयता की तमिस्रा अब तब में समाप्त होने जा रही

है। ऊषा की अरुणिमा सम्मुख है। नवयुग का अरुणोदय होने में देर नहीं। उदीयमान आलोक प्रज्ञावतार है। इसके प्रकाश में हर किसी की आँखे वस्तुस्थिति को देख समझ सकने में समर्थ होंगी। अन्धकार में ही भ्रान्तियाँ और विकृतियाँ पनपती हैं। रात्रि में ही आलस्य छाया और अनौचित्य पनपता रहता है। निशाचरों की उसी स्थिति में बन आती है। प्रभात के उपरान्त कण-कण में चेतना उभरती है। सृजनात्मक हलचलों से प्रगति के चिन्ह हर दिशा में दृष्टिगोचर होते हैं। उदीयमान ऊर्जा कण-कण को नव जीवन प्रदान करती है। अन्धकार का प्रकाश मे प्रत्यावर्त्तन सब कुछ उलट पलट कर रख देता है। परिस्थितियाँ सर्वथा भिन्न स्तर की बन जाती हैं। इन दिनों भी ऐसा ही कुछ होने जा रहा है।

युगान्तरीय चेतना ऐसे आधार खड़े कर रही है, जिससे भ्रान्तियों और विकृतियों को देर तक पैर टिकाये रहना सम्भव न हो सकेगा। उनका पलायन निश्चित है। हर व्यक्ति को सत्य और तथ्य जानने की जिज्ञासा है। अनौचित्य निहित स्वार्थों को ही प्रिय हो सकता है। जन-जन मे उसके प्रति अश्रद्धा ही छाई रहती है। भले ही विवशता में कुछ भी सहन और वहन करना पड़ता हो। जागृति के युग में तथ्य उभरते हैं और लोक मानस को प्रभावित करते हैं। पानी और हवा के प्रवाह जब अपने साथ हलका भारी बहुत कुछ बहाते और उड़ाते रहते हैं तो कोई कारण नहीं कि युग प्रवाह में औचित्य का समर्थन करने वाले तत्व एक ही दिशा में न बहने लगें। जागृत आत्माओं की हर महत्वपूर्ण अवसर पर शानदार भूमिका रही है। प्रस्तुत युग संध्या में वे निष्क्रिय बने बैठे रहे, यह हो ही नहीं सकता। प्रत्येक देव मानव को इस पुनीत पर्व पर अपनी उपयुक्त भूमिका निभानी होगी। इसके लिए महाकाल की प्रेरणा उन्हें विवश करेगी। जो आनाकानी करेंगे वे आत्म ताड़ना का दुसह दुःख सहेंगे।

सन्ध्या काल को उपासना कृत्यों के लिए सुरक्षित रखा जाता है। अन्य समय अन्य कामों के लिए होते हैं पर प्रातःकाल तो आलस्य त्यागने, शौच शुद्धि मे लगने एवं आत्म चिन्त करने के लिए नियत रहता है। नव जागरण की पुण्य बेला ऐसे ही विशेष कर्तव्य और उत्तरदायित्वों के निर्वाह के परिपालन की प्रेरणा देती है। जागृत आत्माएँ तो उसके लिए एक प्रकार से महाकाल द्वारा बलात् प्रेरित की जाती हैं। इन दिनों भी ठीक वैसा ही हो रहा है। प्राणवानों को समय की माँग और पुकार को सुनने तथा तदनुकूल कार्यक्रम बनाने के लिए कटिबद्ध होते देखा जा रहा है।

युग निर्माण परिवार के प्राणवान परिजनों को इन दिनों सृजन शिल्पी की भूमिका निभानी चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि भौतिक ललक लिप्साओं पर नियन्त्रण किया जाय। लोभ, मोह के बन्धन ढीले किये जायें। सङ्कीर्ण स्वार्थपरता को हलका किया जाय। पेट और प्रजनन भर के लिए जीवन की सम्पदा का अपव्यय करते रहने की आदत को मोड़ा-मरोड़ा जाय। औसत भारतीय स्तर का निर्वाह पर्याप्त समझा जाय। महत्वाकांक्षाओं की दिशा बदली जाय। वासना, तृष्णा और अहंता के आवेश शिथिल किये जायें। युग धर्म के निर्वाह के लिए कुछ बचत इसी परिवर्तन से हो सकती है। परमार्थ तभी बन पड़ता है। जब स्वार्थ पर अकुंश लगाया जाय। ब्राह्मणत्व और देवत्व की गरिमा स्वीकार करने और उच्चस्तरीय आदर्शों को व्यवहार में उतारने के साहस जुटाने का यही अवसर है। उसे चूका नहीं जाना चाहिए। युग पर्व के विशेष उत्तरदायित्वों की अवमानना करने वाले जीवन्त प्राणवानों को चिरकाल तक पश्चात्ताप की आग में जलना पड़ता है। देव मानवों की बिरादरी में रहकर कायरता के व्यंग, उपहास सहना जितना कठिन पड़ता है उतना उच्च प्रयोजन के लिए त्याग बलिदान का जोखिम उठाना नहीं।

जिनकी अन्तरात्मा में ऐसी अन्तःप्रेरणा उठती हो वे उसे महाकाल प्रेरित युग चेतना का आह्वान उद्बोधन समझे और तथाकथित बुद्धिमानों और स्वजनों की उपेक्षा करके भी प्रज्ञावतार का अनुकरण करने के लिए चल पड़ें। इसमें इन्हें प्रथमतः ही प्रसव पीड़ा की तरह कुछ अड़चन पड़ेगी, पीछे तो सब कुछ शुभ और श्रेय ही दृष्टिगोचर होगा।

ज्ञानयज्ञ के लिए समयदान यही है—प्रज्ञावतार की जागृत आत्माओं से याचना। उसे अनसुनी न किया जाय। प्रस्तुत क्रिया-कलाप पर नये सिरे से विचार किया जाय उस पर तीखी दृष्टि डाली जाय और लिप्सा में, निरत जीवन क्रम में साहसिक कटौती करके उस बचत को युग देवता के चरणों पर अर्पित किया जाय। सोने के लिए सात घन्टे, कमाने के लिए आठ घन्टे, अन्य कृत्यों के लिए पाँच घन्टे लगा देना सांसारिक प्रयोजनों के लिए पर्याप्त होना चाहिए। इनमें २० घण्टे लगा देने के उपरान्त चार घण्टे की ऐसी विशुद्ध बचत हो सकती है जिसे व्यस्त और अभावग्रस्त व्यक्ति भी युग धर्म के निर्वाह के लिए प्रस्तुत कर सकता है। जो पारिवारिक उत्तरदायित्वों से निवृत्त हो चुके हैं-

जिन पर कुटुम्बियों की जिम्मेदारियाँ सहज ही हलकी है जिनके पास संचित पूँजी के सहारे निर्वाह क्रम चलाते रहने के साधन हैं, उन्हें तो इस सौभाग्य के सहारे परिपूर्ण समय दान करने की ही बात सोचनी चाहिए। वानप्रस्थों की- परिव्राजकों की—पुण्य परम्परा की अवधारणा है ही- ऐसे सौभाग्यशालियों के लिए। जो जिस भी परिस्थिति मे हों समयदान की बात सोचें और उस अनुदान को नव जागरण के पुण्य प्रयोजन में अर्पित करें।

प्रतिभा, कुशलता, विशिष्टता से सम्पन्न कई विभूतिवान व्यक्ति इस स्थिति में होते है कि अनिवार्य प्रयोजनों में संलग्न रहने के साथ-साथ ही इतना कुछ कर या करा सकते हैं कि उतने से भी बहुत कुछ बन पड़ना सम्भव हो सके। उच्च पदासीन, यशस्वी, धनी-मानी अपने प्रभाव का उपयोग करके भी समय की माँग पूरी करने में अपनी विशिष्ट भूमिका निभा सकते हैं। विभूतिवानों का सहयोग भी अनेक बार कर्मवीर समय दानियों जितना ही प्रभावोत्पादक सिद्ध हो सकता है।

नव सृजन के लिए साधनों की भी आवश्यकता रहेगी ही। भौतिक प्रयोजनों में तो अर्थ साधन ही प्रधान होते है किन्तु युग प्रवाह बदलने जैसे अध्यात्म अभियान के लिए भी अन्ततः साधन तो चाहिए ही। यों श्रम, समय मनोयोग, भाव सम्वेदन जैसे तत्त्वों की ही युग परिवर्तन में प्रमुखता मानी जायगी। फिर भी अर्थ साधनों के बिना उन्हें भी कार्य रूप में परिणित कर सकना सम्भव नहीं हो सकेगा। वस्तुएँ तो इस निमित्त भी चाहिए ही। सामान्य निर्माण कार्यों के लिए साधन जुटाने पड़ते हैं। फिर इस महानतम कार्य के लिए साधनों के बिना ही काम चलता रहे ऐसा सम्भव नहीं।

यह आवश्यकता भी जागृत आत्माओं को ही पूरी करनी होगी। वैयक्तिक कार्यों में कटौती करके ही युग धर्म के लिए समयदान की व्यवस्था बन सकती है। इसी प्रकार निजी खर्चों में कटौती करके ही युग की पुकार के निमित्त अर्थ साधन प्रस्तुत कर सकना सम्भव हो सकता है। उत्तराधिकारियों के लिए जो अनावश्यक धन सम्पदा छोड़ी जाती है, उस मोह ग्रस्तता पर अंकुश लगाने का तो हर दृष्टि से औचित्य है। निजी परिवार को ही सब कुछ मानते रहना और विश्व परिवार के लिए कुछ भी न करना, ऐसा व्यामोह है जो युग शिल्पियों के लिए अशोभनीय ही ठहरता है।

युग निर्माण परिवार के हर सदस्य को आरम्भ से ही एक घन्टा समय और दस पैसा नित्य ज्ञान यज्ञ के लिए देते रहने की प्रेरणा दी गई है। वह दिशा निर्धारण युग शिल्पि के लिए आरम्भिक एवं अनिवार्य कर्तव्य बोध की तर था। अब उसमें उदात्त अभिवृत्ति का समय आ गया। सम और धन दोनों ही अनुदानों का स्तर तथा परिमाण बढ़ चाहिए। जिसे अपने अन्तरंग में जितनी युग चेतना, हलच मचाती दिखाई पड़े उन्हें उतने से ही भाव-भरे अनुदा प्रस्तुत करने की तैयारी करनी चाहिए।

सुरक्षा साधना का समर्थ ब्रह्मास्त्र

अपने युग की व्यापक और भयानक समस्याअ के आधारभूत कारण दो हैं। एक चेतना क्षेत्र में बढ़ती हु असुरता और दूसरा भौतिक क्षेत्र में बढ़ती हुई विषाक्तत

(१) आत्मिक क्षेत्र में बुद्धि विपर्यय एवं आस्थ संकट। भ्रष्ट चिन्तन ने दुष्ट आचरण को बढ़ाया है औ अवांछनीयता को उच्छृङ्खलता के स्तर तक पहुँचने क अवसर मिला है। फलतः अनीति अपनाने में एक-दूस से आगे बढ़ना चाहता है। दुष्प्रवृत्तियाँ क्रमशः परम्पर बनती और मनुष्य स्वभाव में सम्मिलित होती जा रही हैं फलतः अनीति की क्रिया-प्रतिक्रिया में भयंकर विक्षोभ हो रहे हैं। उत्पीड़न और विग्रह के फलस्वरूप अनेकानेक प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष समस्याएँ उत्पन्न हो रही हैं। साथ ही ऐसा वातावरण भी बन रहा है कि जिसके फलस्वरूप दैवी विपत्तियों का टूटना और विनाश के अविज्ञात कारण बनना स्वाभाविक है, यह है चेतना क्षेत्र में बढ़ती हुई असुरता और उसकी प्रतिक्रिया।

(२) भौतिक क्षेत्र में विषाक्तता बढ़ने के कुछ तथ्य सर्वविदित हैं। वायु मण्डल में जिस तेजी से विघातक विष बढ़ता चला जा रहा है इसकी जानकारी जन साधारण को भले ही न हो, विश्व की परिस्थितियों पर बारीकी की दृष्टि रखने वाले बुरी तरह चिन्तित हैं। बढ़ते हुए औद्योगिक संस्थान, कल-कारखानों से विषैला धुआँ प्रचुर परिमाण में निकलता है। रेल मोटर आदि सवारियाँ इस कोढ़ में खाज बनकर उस विषाक्तता को बढ़ाने में और भी अधिक योगदान देती हैं। अब तक जो परमाणु विस्फोट हो चुके है उनका विकरण इतनी बड़ी मात्रा में मौजूद है जिनका मन्द प्रभाव अगली पीढ़ियों के लिए जीवन संकट उत्पन्न करेगा। नित नये विस्फोटों का सिलसिला रुक नहीं रहा है और अणु युद्ध की नंगी तलवार आये दिन मानवी अस्तित्व के सिर पर चमकती रहती है।

तीसरा नया सिलसिला अभी-अभी शुरू हुआ है। बारह मंजिली इमारत जितनी विशालकाय और ८५ टन

भारी एक अन्तरिक्षीय प्रयोगशाला 'स्काइ लेब' का मलवा जमीन पर गिरने का संकट लोक चिन्ता का विषय बना हुआ है। मलवा गिरने का स्थानीय संकट उतना बड़ा नहीं है जितना कि उसके कारण उत्पन्न हुआ प्रकृति गत असंतुलन । उल्कापातों का प्रभाव सारे वातावरण पर पड़ता है और दूरगामी दुष्परिणाम उत्पन्न करता है । उसे प्राचीन और अर्वाचीन, खगोलवेत्ता समान रूप से स्वीकार करते हैं । गिरने से तात्कालिक हानि कितनी हुई यह छोटा प्रश्न है । चिन्ता का विषय यह है कि पृथ्वी के वायु मण्डल में छेद और विक्षोभ उत्पन्न करने वाले ऐसे अन्तरिक्षीय प्रहार कैसी प्रतिक्रिया उत्पन्न करते है । इस प्रकार के उपद्रव पृथ्वी और सूर्य के मध्यवर्ती 'ओजने' जैसे उपयोगी आच्छदानो को अस्त-व्यस्त कर सकते हैं और धरती की जीवनोपयोगी परिस्थिति में भयानक उथल-पुथल कर सकते हैं । संकट टला नहीं आरम्भ हुआ है। स्काइलेब इस नई शृंखला का अन्त नहीं वरन् श्री गणेश है । ऐसी ही छोटी बड़ी प्रगोगशालाएँ प्राय: एक हजार की संख्या में पृथ्वी की परिक्रमा कर रही है । समयानुसार उनका बूढ़ा होना और मरना स्वाभाविक है । वे प्रेत अन्ततः धरती पर ही गिरेंगे और आये दिन स्काइलेब पतन की तरह चिन्ता का विषय बनेंगे । मृतक यान प्रेतों को धरती पर उतार-उतारकर लाने वाली अन्तरिक्षीय रेलगाड़ी कल्पना का विषय तो है पर जब तक नौ मन तेल जुटने पर राधा का नाच होगा तब तक इन प्रेतों का ताण्डव नृत्य विनाश की दिशा में इतना ताण्डव कर सकता है कि उसके सन्दर्भ में पश्चाताप करना ही शेष रह जाय ।

गुत्थियाँ सूक्ष्म जगत की हैं । चेतना क्षेत्र और प्रकृति क्षेत्र दोनों की ही अपनी अदृश्य परिधि है । उसका प्रभाव प्रत्यक्ष जगत पर पड़ता है । इन अदृश्य क्षेत्रों से विपत्ति बरसने लगे और उसका उपचार भौतिक उपायों एवं साधनों से बन नहीं पड़ेगा । अदृश्य जगत का सूक्ष्म क्षेत्रों का परिशोधन समाधान अदृश्य स्तर की आत्मिक ऊर्जा के सहारे ही बन पड़ना सम्भव है ।

इसी प्रक्रिया में अदृश्य प्रयत्नों की एक दूसरी कडी जुड़ती है । वह सूक्ष्म जगत के परिशोधन और अनुकूलन से सम्बन्धित है । पिछले दिनो गायत्री महा पुरश्चरण अभियान चला था । उसमें जप और हवन के धर्मानुष्ठान का व्यापक विस्तार हुआ । प्राय: २४ लाख व्यक्तियों ने उसमें भाग लिया । यो इनका रचनात्मक एवं भावनात्मक आधार भी था, किन्तु मूलतया उसे चेतना जगत के वातावरण और प्रकृति जगत के वायु मण्डल के परिशोधन की सूक्ष्म प्रक्रिया भी समझी जा सकती है । यज्ञ में वायुमण्डल की और जप ध्यान से वातावरण की शुद्धि होती है । इन अदृश्य आधारो को गणित की तरह कागज कलम से सिद्ध करना और घटनाक्रम की तरह प्रत्यक्ष दिखाना तो कठिन है, पर जो प्रतिक्रियाओं को देखकर तथ्यों का अनुमान लगाने पर विश्वास करते है उन्हे यह जानने और मानने मे कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि इन अदृश्य उपायों का अदृश्य जगत के अनुकूलन पर कितना उपयोगी प्रभाव हो सकता है, होता रहा है और हो रहा है । उन प्रयासों को अगले दिनों भी जारी रखा जाना है ।

आशा की जानी चाहिए कि प्रज्ञावतार का यह ब्रह्मास्त्र युग विभीषिकाओं को निरस्त करने और उज्वल भविष्य का अभिनव सृजन करने की दुहरी भूमिका सम्पन्न करेगा ।

बड़े प्रयोजन के लिए बड़े कदम

चुल्लू भर जल में से उत्पन्न हुआ मत्स्यावतार, विराट् विश्व पर छा जाने और अन्तर्धान होने तक एक ही रटन, एक ही ललक सँजोए रहा-विस्तार-विस्तार-विस्तार । यही आकांक्षा युग चेतना के रूप में अवतरित हुए आज के प्रज्ञावतार आन्दोलन की है । उसे सुविस्तृत हुए बिना चैन नहीं । अल्पमत को सदा हारती हुई पाली में बैठना पड़ा है । शासन सत्ता तक पर अधिकार जमाने मे केवल बहुमत ही सफल होता है । नरक उसी वातावरण को कहते है, जिसमे पिछड़े, प्रतिगामी और उद्दण्डों का बाहुल्य होता है । स्वर्ग और कुछ नहीं मात्र सज्जनों की, सत्प्रवृत्तियो की बहुलता उपलब्ध कर लेने की स्थिति भर है । सतयुग की बहुत सराहना की जाती है । उसमें एक ही विशेषता थी कि जन समुदाय का बहुमत, श्रेष्ठता और शालीनता से भरा-पूरा था । कलियुग के नाम पर इसलिए नाक-भौह सिकोड़ी जाती है कि उसमे दुर्जनों की, दुष्प्रवृत्तियों की बहुलता पायी जाती है। श्रेष्ठता के अभिवर्धन बिना संसार में सुख-शान्ति का वातावरण बन ही नहीं सकता । प्रतिगामिता की पक्षधर दुष्टता, भ्रष्टता का जितना भी विस्तार होगा, उतना ही पतन-पराभव प्रबल होता और अनेकानेक विपत्तियाँ, विभीषिकाएँ विनिर्मित करता चला जाएगा ।

सर्वप्रथम अवतरित हुए मत्स्यावतार का एक ही उद्देश्य था, कि श्रेष्ठता इतनी अधिक बलिष्ठ और सुविस्तृत हो कि संसार का कहीं कोई कोना भी उसके प्रभाव क्षेत्र

से बाहर न रह जाय। युग परिवर्तन की, उज्ज्वल भविष्य की संरचना का लक्ष्य भी यही है। सज्जनता न केवल अकेली हो, वरन् सुविस्तृत भी होती चले। इसी प्रयास में सृजन चेतना अपनी समर्थता समेट कर प्राण-पण से सलग्न रह रही है।

चुल्लू भर पानी मे उत्पन्न हुई मछली, अखण्ड-ज्योति परिकर को समझा जा सकता है। उसे उलट-पुलट कर देखने पर तो छपे कागजों का एक छोटा पैकिट भर ही समझा जा सकेगा और उसका प्रभाव विद्या-व्यसनियों का मनोरंजन, समय-क्षेप भर समझा जा सकता है; पर वस्तुतः बात इतनी छोटी है नहीं। कारण कि छपे कागज पढ़ते रहने वालों की जानकारी भर बढ़ सकती है। यह संभव नहीं कि इतने भर से उनकी उत्कृष्टता अनवरत रूप से समुन्नत होती चली जाय। यह अखण्ड ज्योति ही है, जिसने अपने पाठको को एक विशेष स्तर तक समुन्नत करने मे सफलता पायी है। यह परिकर अपनी विशिष्टता का परिचय चिंतन, चरित्र और व्यवहार में निरन्तर देता चला आया है। विगत आधी शताब्दी से वट-वृक्ष की तरह उसकी गरिमा हर दृष्टि से समुन्नत, सुविस्तृत ही होती चली आयी है।

यह कैसे संभव हुआ? इसका श्रेय उस अदृश्य ऊर्जा को ही जाता है, जो अपने लिए उपयुक्त एक केन्द्र विशेष पर अवतरित होती और अपनी गरिमा के अंचल में आश्चर्यजनक रीति से लाखों को समेटती चली जाती है। वही करोड़ों को अपनी छत्र-छाया में शान्ति और प्रगति से लाभान्वित होने के लिए आमंत्रित करने का दुस्साहस जैसा उपक्रम अत्यन्त उत्सापूर्वक सँजोती और क्रियान्वित करती चली जाती है।

पिछले पृष्ठों पर इस मिशन द्वारा जनमानस के परिष्कार एवं सत्प्रवृत्ति संवर्धन से संबंधित अनेकानेक क्रिया-कलापों का न्यूनतम परिचय प्रस्तुत किया गया है। जो कुछ बन पड़ा या प्रकाश में आया है, उसे किसी व्यक्ति विशेष का वर्चस्व या कर्तृत्व नहीं माना जा सकता। तत्वतः यह अखण्ड ज्योति परिवार के सदस्यों, घटकों का सामूहिक पुरुपार्थ-अनुदान है। व्यक्ति विशेष के लिए इतना कुछ कर दिखाना एक प्रकार से असंभव ही समझा जा सकता है।

श्रेय यदि मत्स्यावतार, प्रज्ञावतार को देना हो, तो इसी बात को यों भी समझा जा सकता है, कि टेलीविजन के बोलते दृश्य चित्रों का उच्चारण-प्रसारण किसी एक विशेष केन्द्र से होता है। उसे सशक्त एवं व्यापक बनाने हेतु ट्रान्समीटर उन तरंगो को फैलाते हैं और फिर उसी प्रेरणा-संवेदना को असंख्यकों टी. वी. सेट पकड़ लेते है और वही सब दिखाने लगते हैं, जो उद्गम स्टेशन में बना या चल रहा था। सतयुग के संचालक सूत्र भी यही करते थे। उन दिनों उत्कृष्टता को लोक व्यवहार में उतारने के लिए अनेकों देव मानव, अपना सृजन-प्रयास एक से एक बढ़कर अधिक सशक्त सिद्ध करने के लिए उत्साह भरी स्पर्धा जुटाये रहते थे। इतने भर से समूचा वातावरण और जन समुदाय उत्कृष्टता से अनुप्राणित हो जाता था और ऐसी परिस्थितियाँ बनती थीं, जिन्हें स्वर्गोपम कहने-मानने में किसी को कोई असमंजस नहीं होना चाहिए।

नये लक्ष्य-नये उद्घोष

अब फिर उसी पुराने स्वर्णिम काल का अभिनव संस्करण प्रस्तुत हो रहा है। सूत्र संचालक तो कोई शक्ति ही हो सकती है; पर उस उदीयमान अरुणोदय के प्रभाव से, दिशाओं से लेकर विद्याओं और वस्तुओं तक अपने को सुनहरी आभा से आच्छादित अनुभव कर रही है। बात को और भी स्पष्ट करना हो, तो यों भी कहा और समझा जा सकता है कि सृजन की प्रारंभिक ऊर्जा अखण्ड ज्योति के रूप में अवतरित हुई है। वह अपने सूत्रों के साथ जुड़े हुए अनेक घटकों, पाठको को तदनुरूप बढ़ने-ढलने के लिए बाधित एवं अनुप्राणित कर रही है। '२१वीं सदी उज्ज्वल भविष्य' का नारा इसी परिकर से उठा और दिग् -दिगन्त में प्रतिध्वनित हुआ है। 'नया इन्सान बनायेंगे, नया संसार बसायेंगे, नया भगवान उतारेंगे' के उद्घोष किसी आवेशग्रस्त केन्द्र से ही उभर सकते हैं, अन्यथा साधारण जनता के लिए तो ऐसी दावेदारी 'सनक' के अतिरिक्त और कुछ क्या कही-समझी जा सकती है?

विवेचना भर पर्याप्त नहीं, सोचना उस विस्तरण के संबंध में भी पड़ेगा, जो मत्स्यावतार का, प्रज्ञावतार का प्रमुख लक्ष्य रहा है। समुदाय जितना विस्तृत और जितना समुन्नत होगा, उसे इतना ही प्रखर, सशक्त एवं सक्षम स्तर का कहा जा सकेगा। अपना परिवार अभी स्थिति और आवश्यकता के अनुपात से बहुत छोटा है। ८० करोड़ की आबादी वाले भारत का, ६०० करोड़ आबादी वाले संसार का काया-कल्प जैसा पुरुषार्थ कर दिखाने के लिए मात्र पाँच लाख लोगों का समुदाय जलते तवे पर एक बूँद पानी की तरह नगण्य ही कहा जा सकता है। भयंकर अग्निकांड

के शमन में समर्थ फायर ब्रिगेडों की टीम ही अभीष्ट शान्ति की स्थापना में समर्थ हो सकती है। बड़े प्रतिफल पाने के लिए बड़े साधन भी तो चाहिए। बड़े मोर्चे फतह करने के लिए सैन्य दल का विस्तार करने और उनके क्रिया-कौशल बढ़ाने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं। साधनों को तो मनुष्य के संकल्प बल का चुम्बकत्व कहीं से भी खींच-घसीट लेता है।

अखण्ड ज्योति परिजन अभी मात्र पाँच लाख हैं। उस छोटी मंडली द्वारा युग का गोवर्धन उठेगा नहीं। संख्या और क्षमता अनेक गुनी बढ़ाने की आवश्यकता है। संसार भर की सैन्य शक्ति एक करोड़ सैनिकों से कम नहीं, जिनका काम लड़ना भर है; पर जिन्हें सृजन-प्रयोजन वहन करना पड़े, उनकी संख्या एवं क्षमता तो और भी अधिक होनी चाहिए। लक्ष्य और उसकी उपलब्धि को ध्यान में रखते हुए संतुलन तभी बैठता है, जब संसार में उतने सृजन-शिल्पी तो चाहिए ही, जितने कि सैनिक साज-सज्जा के साथ छावनियों में रहते हैं। सृजन शिल्पियों की संख्या एक करोड़ तक जा पहुँचे, तो समझना चाहिए कि 'नया संसार बसाने' की योजना का उपयुक्त आधार खड़ा हो गया।

दूर से देखने वालों को यह कार्य असंभव जैसा दिख तो सकता है। पर बात ऐसी है नहीं। साधनहीन अखंड-ज्योति पत्रिका बिना विज्ञापन छापे जी भी सकेगी? यह संदेह सभी करते थे। पूजा-पाठ के आधार पर खड़ा किया गया छोटा सा संगठन, किसी दिन जन समाज की कठिनतम समस्याओं के समाधान की स्थिति में जा पहुँचेगा, इसकी किसी को कल्पना भी नहीं थी। पर चेतना का चक्र घूमता है, तो अपने गर्भ में सँजोये हुए हर संकल्प को प्रत्यक्ष कर ही दिखाता है। सृजन-शिल्पियों का प्रचुर संख्या में उत्पादन भी इसी चेतना चक्र के गतिक्रम का एक चरण है, जो पूरा होकर ही रहेगा। अपने लक्ष्य तक पहुँचकर ही विश्राम लेगा।

बड़े काम भी प्रायः छोटे बीज के रूप में ही बढ़ते और क्रमशः विस्तार करते हुए, वर्षा के बादलों की तरह सुविस्तृत आकाश पर छा जाने की सफलता प्राप्त करते हैं। आरम्भ में अखण्ड ज्योति का प्रथम अंक ५०० की संख्या में छपा था। बाद में वह युग की आवश्यकता का पक्षधर सिद्ध होने के कारण, मानवी-गौरव गरिमा द्वारा मान्यता मिलने पर सहज विस्तार की गति पकड़ता गया और अब तक इतना विस्तार कर सका, जिसे अपनी शैली के क्षेत्र में अनुपम एवं अद्भुत ही कहा जा सकता है। क्या आगे यह प्रगति क्रम रुक जायेगा? क्या लम्बी मंजिल पार करने का लक्ष्य बनाकर चलने वाला कारवाँ कुछ मील पर ही थक कर, आगे न चल सकने की असमर्थता प्रकट करके पैर पसार देगा? आशंका ऐसी ही दीखने पर भी, किसी को यह विश्वास नहीं करना चाहिए कि जिस समर्थ सत्ता ने यह सरंजाम जुटाया है, वह पानी के बबूले की तरह अपने उत्साह का समापन कर बैठेगा। यह विस्तार क्रम रुकने वाला नहीं ही है। नियति के निर्धारण पूरे होकर ही रहेंगे।

समय की माँग के अनुरूप पुरुषार्थ

युग संधि की इस वेला में वातावरण क्रमशः अधिक गरम होता जा रहा है। सृजन-शिल्पियों का उत्साह, साहस और पुरुषार्थ किसी सशक्त फव्वारे की तरह उछल और मचल रहा है। निर्धारित गतिविधियाँ तीव्र से तीव्रतर और तीव्रतम होती जा रही हैं। ऐसी दशा में विस्तार का आरंभिक तंत्र भी बहुत गति से अग्रसर होना चाहिए। अखण्ड ज्योति परिजनों की संख्या बढ़ने का क्रम रुकना नहीं चाहिए। उसे संबद्धजनों को रुकने भी नहीं देना चाहिए।

इस दिशा में सीमित लक्ष्य यह है कि एक से पाँच, पाँच से पच्चीस बनने वाली गुणन-अभिवर्धन प्रक्रिया में कहीं कोई व्यवधान अड़ना नहीं चाहिए।

अखण्ड-ज्योति के पाठक इस परम्परा को निष्ठापूर्वक निभाते रहे हैं। पहुँचने वाला हर अंक कम से कम पाँच लोगों द्वारा पढ़ा जाता रहे। इसी आधार पर तो पाँच लाख के परिकर को अनुपाठकों समेत पच्चीस लाख गिना और अपने परिकर को इतना बड़ा कहा, माना और समझा जाता है। अब एक ऊँची छलाँग लगाने का दूसरा सोपान, नई चुनौती लेकर सामने आ खड़ा हुआ है। एक से पाँच का सिलसिला मुद्दतों से चलता रहा है। अब पाँच को पच्चीस होना चाहिए। वे अनुपाठक जो दूसरों से माँगकर अपनी जिज्ञासा शान्त करते रहे हैं, अब उन्हें बचपन वाली सहायता पर निर्भर रहने की प्रकृति छोड़नी चाहिए और तरुणों जैसी वह रीति-नीति अपनानी चाहिए, जिसमें देना और बढ़ाना ही कर्त्तव्य बन कर लद पड़ता है और बढ़े-चढ़े पुरुषार्थ की अपेक्षा करता है।

एक सदस्य पाँच अनुपाठकों की सहायता करता है। अब अनुपाठकों को एक कदम बढ़ाकर सघन आत्मीयता बनाने के अनुबंध में बँधना चाहिए। स्वयं पूर्ण सदस्य बनना चाहिए और अपनी-अपनी पत्रिका के पाँच-पाँच

अनुपाठक बनाकर पाँच से पच्चीस वाला विस्तार क्रम पूरा कर दिखाना चाहिए । इन दिनों अखण्ड ज्योति का हर सदस्य, और चार नये सदस्य बनाकर अपनी मंडली पाँच की गठित करे । इससे अनुपाठक तो पच्चीस सहज ही हो जायेंगे । इस अभिनव विस्तार के चरण को एक नियमित प्रज्ञा मंडल का गठन ही कह सकते हैं । पाँच सदस्य इस प्रकार चार-चार नये साथी बनाकर पच्चीस की मंडली के सूत्र संचालक बन सकते हैं । आज के सदस्य कल स्वयं ही एक प्रज्ञा मंडल के जन्मदाता कहलाने लगेंगे । इतने भर से मिशन एक ही छलांग-में एक ही वर्ष में अपना पाँच गुना विस्तार कर लेगा और अब तक जिस क्रम से सृजन-संकल्प पूरा होता रहा है, उसकी तुलना में अगले ही दिनों विकास उपक्रम में पाँच गुनी अभिवृद्धि हो जायेगी ।

इसी बात को दूसरे शब्दों में यों भी कहा जा सकता है कि जिस गति से पिछले दिनों गतिशीलता का उपक्रम रहा है, उसकी तुलना में अगले ही दिनों प्रगति का अनुपात पाँच गुना अधिक बढ़ जायेगा । वह सब एक वर्ष में ही बन पड़ेगा, जिसे पिछली सफलता की तुलना में पाँच गुनी अधिक तीव्र गति से चलने वाली प्रगति कहा जा सके । युग संधि के शेष दस वर्षों में ऐसी ही सहकारिता का परिचय देते हुए हम उस लक्ष्य तक पहुँच सकेंगे, जिसमें मनुष्य में देवत्व के उदय और धरती पर स्वर्ग के अवतरण की संभावना का प्रतिपादन किया गया है ।

एक से पाँच, पाँच से पच्चीस वाला विस्तार क्रम रखा जा सकेगा, तो कुछ ही छलांगों में हम मत्स्यावतार का उपक्रम अपनाने वाले, सच्चे अर्थों में युग साधक बन सकते हैं । नवसृजन के क्षेत्र में मिल-जुलकर वह चमत्कार कर दिखा सकते हैं, जिसे सुनने में तो सर्वसाधारण रुचि लेते है; पर व्यवहार में प्रत्यक्ष बन पड़ने की बात को संदेह एवं असमंजस जैसा ही कुछ मानते है ।

उपरोक्त निर्धारण के अनुसार वर्तमान सदस्य यदि चार नये सदस्य बना लेंगे, तो अपने प्रज्ञा मंडल के एक समर्थ सूत्र संचालक बन जायेंगे । उनमें से पाँच-पाँच अनुपाठक मिलाकर पच्चीस का एक समुदाय बन जायेगा और उसकी संयुक्त शक्ति से ऐसा कुछ बन पड़ने की संभावना उग सकती है, जिसे २४ अवतारों, २४ देवताओं, २४ ऋषियों, २४ देवियों ने मिल-जुलकर एक समग्र अध्यात्म-विज्ञान की संरचना की थी और नर-वानरों के समूह को मानवी गरिमा से सुसम्पन्न ईश्वर का राजकुमार बनाने का करिश्मा दिखाया था । हमें अपनी २५ की छोटी मंडली को भी ऐसा ही मान कर चलना चाहिए कि वन्दर जैसी दिख पड़ने पर भी, हनुमान जैसे पराक्रम कर दिखाने में समर्थ हो सकेगी ।

समझदारी शंका में नहीं-सहयोग में है

यहाँ किसी को भी चन्दन में दुर्गन्ध ढूँढ निकालने का भ्रम जंजाल नहीं सँजोना चाहिए । यह खुले पन्ने हैं कि अखण्ड ज्योति का मूल्य मात्र कागज, छपाई और पोस्टेज भर का है । किसी का पारिश्रमिक तक इसके मूल्य में नहीं जोड़ा जाता । ऐसी दशा में नफा कमाने जैसी बात तो किसी को स्वप्न में भी नहीं सोचनी चाहिए । मिशन स्तर की भावनाएँ यदि इस तंत्र के साथ जुड़ी हुई न होतीं, उसे व्यवसाय भर समझा और किया गया होता, तो निश्चय ही पाठकों में से किसी पर भी आदर्शवादी छाप पड़ने का सुयोग ही नहीं बन पड़ता । कहने वालों को तो क्या किया जाय ? इनके मुँह में पायरिया, पेट में अल्सर और आहार में लहसुन घुसा होता है । इनकी साँस से दुर्गन्ध ही उठती रहेगी । सदाशयता पर भी कुचक्र रचने जैसा आरोप लगाने वाले इस संसार में कम नहीं है । ईसाई मिशन, साम्यवादी प्रचारक, गीता प्रेस जैसे प्रकाशन प्रत्यक्ष हैं, जो नफा नहीं कमाते । युग साहित्य का प्रकाशन भी ऐसा ही समझा जा सकता है । अखण्ड ज्योति का आर्थिक ढाँचा तो आरंभ से ही ऐसा रहा है और अन्त तक ऐसा ही रहेगा ।

सज्जनों का संगठन ही दैवी शक्ति के रूप में प्रकट होता और लक्ष्य पर ब्रह्मास्त्र की तरह टूटता है । अखण्ड ज्योति परिजनों का संगठन क्रम, यों साप्ताहिक सत्संग के रूप में भी चलता है । पारस्परिक घनिष्ठता बढ़ाने पर भी मिल-जुल कर कुछ ठोस काम करने का अवसर मिलता है । जहाँ नवीनता न रहने पर उदासी आने लगे, वहाँ सम्मिलित शक्ति उत्पन्न करने का दूसरा उपाय यह है, कि हर सदस्य का जन्मदिवस मनाया जाय और आदर्शवादी प्रतिपादन के क्रियान्वयन का उपक्रम चलाया जाता रहे । इस अवसर पर अभ्यस्त बुराइयों में से एक को छोड़ने और एक नई सत्प्रवृत्ति बढ़ाने का अवलम्बन भी अपनाया जा सकता है ।

जन्मदिन मनाने में छोटा दीपयज्ञ, सामूहिक गायत्री पाठ, सहगान-कीर्तन के उपरांत, जिसका जन्मदिन मनाया जा रहा है, उसके ओजस्, तेजस् और वर्चस् के अभिवर्धन की कामना की जा सकती है । अभिनन्दन-आशीर्वाद का क्रम चल सकता है और यथासंभव पुष्प-वर्षा या उसके स्थान पर पीले चावलों का प्रयोग हो सकता है । बस हो

गई जन्मदिवस मनाने की प्रक्रिया। यदि अपने संगठन में पाँच सदस्य और पच्चीस अनुपाठक हों, तो इन सबको इकट्ठा करने पर एक अन्य समारोह हो सकता है। आतिथ्य सौंफ-सुपाड़ी तक सीमित रहे तो गरीब-अमीर किसी को भी विषमताजन्य संकोच का अनुभव न करना पड़ेगा। साल भर में पच्चीस आयोजन हो जाया करेंगे और उनकी एकरस विचारधारा, घनिष्ठता एवं सत्प्रवृत्ति संवर्धन की प्रवृत्ति के समन्वय से अनेकों रचनात्मक कार्य किसी न किसी रूप मे चलते रह सकते है।

हर सदस्य नियमित रूप से यथासंभव समयदान और अंशदान निकालता रहे, तो उस संचित राशि के सहारे वे रचनात्मक क्रिया-कलाप सरलतापूर्वक चलते रह सकते हैं, जिनके उत्पादन-अभिवर्धन की इन दिनों नितान्त आवश्यकता है।

भाव-शून्यों के लिए तो झपटना-हड़पना ही एकमात्र अभ्यास में रहता है, पर जिनमें भाव-संवेदनायें जीवित हैं, उनके लिए यह तनिक भी कठिन नहीं होना चाहिए कि चौबीस घंटों में से न्यूनतम दो घंटे निकालते न रह सकें। महीने मे एक दिन की कमाई खर्चने में दम घुटता हो, तो कम से कम बीस पैसे रोज का अंशदान तो किसी जीवित व्यक्ति के लिए तनिक भी भारी नहीं पड़ना चाहिए। इस राशि से, नव सृजन के उद्देश्य से, इन दिनों निरन्तर प्रकाशित होती रहने वाली वे पुस्तकें मँगायी जाती रह सकती हैं, जिनका मूल्य तो सस्तेपन की चरम सीमा जैसा रखा गया है, परन्तु जिनकी हर पंक्ति में वह प्राण-ऊर्जा लहराती और लपलपाती देखी जा सकती है, जो सड़न भरी मान्यताओं को बुहार कर किसी कोने में फेंक दे और उसके स्थान पर उस देवत्व की प्रतिष्ठापना कर दें, जिसे अमृत, पारस और कल्पवृक्ष की उपमा देने में अत्युक्ति जैसा कुछ भी ढूँढ़े नहीं मिल सकता।

शान्ति कुन्ज का अभिनव प्रकाशन सस्ते मूल्य की ऐसी पुस्तिकाओं के रूप मे इन दिनों निरन्तर हो रहा है, जो युग परिवर्तन की पृष्ठभूमि बनाने में असाधारण योगदान दे सके। अंशदान के पैसों से यह साहित्य मँगाने और समयदान को, उसे जन-जन को पढ़ाने या सुनाने में लगाया जा सकता है। अखण्ड ज्योति परिजनों से इन्हीं दिनों उपरोक्त छोटे कार्यक्रमों को सम्पन्न करने के लिए अनुरोध एवं आग्रह किया जा रहा है। इस अभियान के अन्तर्गत विस्तार का जो दायित्व हर परिजन पर आया है, उसे उल्लासपूर्वक निभाने में हममें से कोई भी पीछे न रहेगा, ऐसी आशा-अपेक्षा की गयी है।

वह जिसकी उपेक्षा नहीं हो करें

छोटे और थोड़े काम तो मनुष्य अपने हाथ-पैरों के सहारे ही कर लेता है; पर जब बड़े काम करने की आवश्यकता पड़ती है, तो बिजली, भाप आदि के माध्यम से ऊर्जा उत्पन्न करनी पड़ती है। चेतना क्षेत्र की इसी ऊर्जा को भगवान कहते हैं। समुद्र पार करने के लिए जलयान और आकाश में सैर करने के लिए वायुयान की जरूरत पड़ती है। मात्र शरीर सत्ता उसकी बड़ी महत्वाकांक्षाएँ पूरी कर सकने में असमर्थ ही रहती है।

आत्मा और परमात्मा के मिलन पर, साधारण परिस्थितियों वाले व्यक्ति भी देव-मानवों की भूमिका निभाने लगते है। शरीरधारी तो एक और एक मिलकर दो ही होते हैं, पर जीव और ब्रह्म की दो इकाइयाँ समता अपना लेती हैं, तब उनकी स्थिति ११ जैसी होने में देर नहीं लगती। युग परिवर्तन में देवोपम भूमिका निभाने के लिए व्यक्ति को समर्थ सत्ता का आश्रय लेना ही चाहिए। सुदामा, नरसी, विभीषण, जामवन्त आदि की निजी क्षमताएँ स्वल्प थीं; पर वे किसी बड़े का सहयोग प्राप्त कर लेने पर अतुलित बलधारी बन सकने में समर्थ हो गये।

बच्चे, हाथी-घोड़े-गाय आदि की कल्पना मानस मे जमाने के लिए, उनके खिलौने तथा चित्र देखने भर से काम चला लेते हैं। खिलौने प्राप्त करने में कुछ बड़ा खर्च भी नहीं करना पड़ता और उनके भरण-पोषण का दायित्व भी नहीं है; किन्तु इन्हीं प्राणियों को यदि असली रूप मे पाना-पालना हो, तो भारी-भरकम कीमत चुकाना और नित्य प्रति घास, पानी, छाया, आदि का प्रबंध भी करना पड़ता है। जीवन्त और वास्तविक भगवान को पाने के लिए भी कुछ बड़ा साहस अपनाना और उपयुक्त साधन जुटाना पड़ता है। प्रतिमाओं के सम्मुख उपहार रखने और गुणगान करने से उस सत्ता की स्मृति तो उभरती है, पर उसके अनुदान-वरदान प्राप्त कर सकना संभव नहीं होता। बच्चों के खिलौने वाली गाय न तो दूध देती है, न ही बछड़ा।

पूजा-उपासना की परिचर्या अति सरल है। उसे सामान्य क्रिया-कलापों से कहीं अधिक सरलतापूर्वक सम्पन्न किया जा सकता है; किंतु असली भगवान का मिलन तो तत्काल भारी हलचल और उठक-पटक आरंभ कर देता है। पति की सम्पदा और सत्ता पर अधिकार करने के लिए पत्नी को पितृ गृह छोड़ना और ससुराल में समर्पित भाव से रहना पड़ता है। भगवान मिलन को यदि अत्यन्त सशक्त बनाने की आवश्यकता पड़े, तो साथ ही इसी

सिलसिले में यह भी गिरह बाँध लेनी चाहिए, कि पैसा और वासना के लिए खपती रहने वाली जीवनचर्या से ऊँचा उठकर, अपने को ऐसा कुछ बनाना पड़ेगा, जिससे उत्कृष्टता और उदारता के दोनों तत्व प्रत्यक्ष परिलक्षित होते, उभरते, उफनते दृष्टिगोचर होने लगें।

युग सृजन के इन्जीनियरों को सामान्य जनों की तुलना में अधिक योग्यता अर्जित करनी पड़ती है और बड़ी जिम्मेदारी भी उठानी पड़ती है। पर्वतारोहियों को उच्च शिखर तक चढ़ने का श्रेय पाने के लिए, दुस्साहस कर सकने जैसा मानस बनाना पड़ता है। अपंग और आलसी तो मात्र ऐसी कल्पना ही करते रहते हैं।

ईश-चेतना से जुड़ें

ईश्वर का सबसे निकटवर्ती और सही स्थान अपना अन्तःकरण है। बाहर खोजने से तो दृश्यमान वस्तुएँ, जो जड़ पदार्थों की बनी हैं, वही मिलेंगी। देवालयों और तीर्थों में उनकी झलक झाँकी ही मिल सकती है, पर यदि वस्तुतः उसे पाना हो, तो कस्तूरी के मृग की तरह जहाँ-तहाँ भटकने की अपेक्षा यह उचित है कि अपनी नाभि को सूँघा जाय, अन्तःकरण टटोला जाय।

ईश्वर के मिलन और बिछुड़न की स्थिति को तुरंत परखा और प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। दैवी सत्ता किसी पर अनुग्रह करती है, तो उसके मानस एवं क्रिया-कलाप में अद्भुत-आश्चर्यजनक परिवर्तन करती है। उन्हें क्षुद्रता की कीचड़ से उबार कर, महानता की साज-सज्जा से सजाती है। माता अपने शिशु को तभी गोदी में उठाती है, जब उसकी मल-मूत्र से सनी स्थिति को धोकर साफ कर लेती है। यही बात शत-प्रतिशत भगवद्भक्ति के संबन्ध में भी है। आग के साथ यदि ईंधन घनिष्ठता स्थापित करेगा, तो उसका समूचा स्वरूप अग्निमय हुए बिना रहेगा नहीं। नर-कीटकों की तुलना में नर-नारायणों का दृष्टिकोण ही नहीं, क्रिया-कलाप भी कुछ ऐसा हो जाता है, जो औरों जैसे नहीं; वरन् अपने आप में कुछ विचित्र-विलक्षण, किन्तु उच्चस्तरीय दीख पड़ने लगता है। 'लोहा पारस को छूकर सोना बनता है' की उक्ति वस्तुतः आत्मा को परमात्मा के साथ जुड़ जाने पर ही सार्थक दृष्टिगोचर होती है।

परमात्मा जब भी आत्मा में मिलेगा, तो अपनी संवेदनाएँ शरणागत पर, उड़ेले बिना न रहेगा। उसका कथन-परामर्श-मार्ग-दर्शन भली प्रकार सुनाई देने लगता है। आदान-प्रदान में अनुशासन भी जुड़ा रहता है। कुछ खरीदना हो, तो उसका मूल्य भी चुकाया ही जाना पड़ता है। भगवान का स्मरण करते ही उसके परामर्श रूपी अनुदानों का प्रवाह आने लगता है। जागो और जगाओ, उठो और उठाओ, चलो और चलाओ, उभरो और उभारो, जियो और जिलाओ, उछलो और उछालो, जैसे दुहरे आदेशों की झड़ी लग जाती है और उन्हें पूरा किये बिना किसी प्रकार, किसी क्षण चैन ही नहीं पड़ता। ऐसी ही स्थिति में रहते देखे जाते हैं वे भगवद् भक्त जिन्हें तात्कालिक आदेश के रूप में नव सृजन का पर्वत अपने कंधों पर उठाकर चलना है। उन्हीं को युग पुरुष, युग देवता का युग सृजेता कहलाने का श्रेय एवं संतोष मिल सकता है। अच्छा हो, उस उपलब्धि को स्वीकार करने से इंकार न किया जाय। द्वार पर खड़े हुए सौभाग्य को ठोकर मार कर वापस न लौटाया जाय।

समय की कसौटी पर खरे सिद्ध होने के लिए इन दिनों एक ही तैयारी में जुटना चाहिए, कि किस प्रकार लोक मानस को परिष्कृत करने के लिए कटिबद्ध होकर, नियन्ता का हाथ बँटाया जाय और बदले में वैसा कुछ पाया जाय, जैसा कि धरती से स्वर्ग तक छलांग लगा सकने वालों को तत्काल ही प्राप्त हो सकता है।

सज्जनों का- सत्प्रवृत्तियों का विस्तार ही नवयुग के अवतरण का प्रधान लक्षण है। दुर्जनों की दुर्बुद्धि ने ही समय के साथ अगणित समस्याएँ जोड़ी हैं। उनका निवारण और निराकरण संयमशील उदारचेता ही अपने विस्तार-पुरुषार्थ से संभव कर सकते हैं। उन्हीं का उत्पादन, अभिवर्धन और प्रशिक्षण नवसृजन प्रक्रिया का प्रमुख और प्रधान अंग है। उसी को संभव बनाने, संपन्न करने के लिए हम सबको समुद्र सेतु बाँधने वाले वानरों की तरह, गोवर्धन उठाने में सहायक बने ग्वाल-वालों की तरह साहस सँजोना चाहिए; भले ही योग्यता, संपन्नता एवं सुविधा का अभाव ही क्यों न प्रतीत होता हो।

अपने समय का प्रज्ञावतार ही प्राचीनकाल का मत्स्यावतार है। उसकी रटन, लगन और ललक निरन्तर विस्तार पर ही केन्द्रित रही है। आज भी हममें से प्रत्येक को एक से अनेक बनने का व्रत लेना चाहिए और उसे पूरा करने के लिए, जिसकी जितनी श्रद्धा उमंगे, उससे कम पुरुषार्थ का परिचय नहीं ही देना चाहिए। प्रज्ञावतार के लक्ष्य को पूरा करने में कुछ ऐसा कर गुजरना चाहिए, जो अनुकरणीय और अभिनन्दनीय कहकर सराहा जा सके।

□□□

प्रज्ञावतार की विस्तार प्रक्रिया

युगसंधि-महान परिवर्तन की वेला

धरती मे दबे और ऊपर बिखरे बीज वर्षा आरंभ होते ही अंकुर फोड़ने लगते हैं । अंकुर पौधे बनते और पौधे बढ़ कर परिपक्व वृक्ष का रूप धारण कर लेते हैं । वृक्ष भी चैन से नहीं बैठते; वसन्त आते ही वे फूलों से लद जाते हैं । फूल भी स्थिर कहाँ रहते हैं; वे फल बनते हैं, अनेकों की क्षुधा बुझाते और उनमें से नये बीजों की उत्पत्ति होती है । उन्हे बाद में अंकुरित होने का अवसर मिले, तो एक ही पेड़ की परिणति कुछ ही समय में इतनी अधिक विस्तृत हो जाती है, जिनसे एक उद्यान बनकर खड़ा हो जाय ।

मत्स्यावतार की कथा भी ऐसी ही आश्चर्यमयी है। ब्रह्मा जी के कमण्डल में दृश्यमान होने वाला छोटा कीड़ा मत्स्यावतार के रूप में विकसित हुआ और समूचे भूमण्डल को अपने विस्तार में लपेट लिया । इन्हीं कथाओं का एक नया प्रत्यावर्तन इन्ही दिनों होने जा रहा है । संभव है २१ वीं सदी का विशालकाय आन्दोलन एक छोटे से शान्तिकुञ्ज आश्रम से प्रकटे और ऐसा चमत्कार उत्पन्न करे कि उसके आँचल मे भारत ही नहीं, समूचे विश्व को आश्रय मिले । दुनिया नया रूप धारण करे और विकृत विचार, परिष्कृत होकर दूरदर्शी विवेकशीलता के रूप में अपना सुविस्तृत परिचय देने लगे ।

यह बहुमत का युग है- संघ शक्ति का । मिल-जुलकर पक्षी एक साथ जोर लगाते है, तो मजबूत जाल को एक ही झटके में उखाड़ लेने और उड़ा ले जाने में सफल हो जाते हैं । ईंटें मिल कर, भव्य भवन खड़ा कर देती हैं । बूँद-बूँद से घड़ा भरता है । तिनके मिलकर हाथी बाँधने वाला रस्सा बनाते हैं । धूलिकण अन्धड़ बनकर आकाश पर छाते देखे गये हैं । रीछ-वानरों और ग्वाल-वालों के संयुक्त पुरुषार्थ की कथा-गाथा युग-युगो से कही-सुनी जाती रही है । इन दिनों भी यही होने जा रहा है ।

इन दिनों वैयक्तिक और सामूहिक जीवन में छायी हुई अतिवादी अवांछनीयता और कुछ नहीं, अधिकांश लोगों द्वारा अचिन्त्य-चिन्तन और अकरणीय क्रिया-कृत्य अपना लिये जाने का ही प्रतिफल है । यदि यह बहुमत उलट जाय, तो फिर परिस्थितियों के बदल जाने में देर न लगे । पुरातन सतयुग की वापसी के दृश्य पुन: मूर्तिमान होकर सामने या खड़े हों । यही होने भी जा रहा है । प्राचीन काल में ऋषि कल्प व्यक्तियों का बाहुल्य था । हर किसी की ललक समाज से, कम से कम लेने और अधिक से अधिक देने की रहा करती थी । वह बचत ही परमार्थ प्रयोजनो में लग कर ऐसा माहौल बना दिया करती थी, जिसका स्मरण अभी भी लोग सतयुगी परम्परा के रूप मे किया करते हैं; वह समय फिर वापस लौट आने की कामना किया करते हैं । दैत्य कोई आकार विशेष नहीं होता। वे भी मनुष्यों की ही शक्ल-सूरत के होते है । अन्तर केवल इतना होता है कि दैत्य दूसरों से, संसार से लूटते-खसोटते अधिक हैं और अपने समय, श्रम, चिन्तन तथा वैभव का न्यूनतम भाग सत्कर्मों में लगाते है । यही है वह अन्तर, जिसके कारण देवता पूजे जाते और दैत्य सर्वत्र भर्त्सना के भाजन बनते हैं ।

प्रस्तुत परिवर्तन इसी रूप में अवतरित होने वाला है कि दैत्य वर्ग अपनी हठवादिता से पीछे हटेंगे और देवत्व की सत्प्रवृत्तियों को अपनाने के लिए उन्मुख होंगे । यह हलचल असंख्यों के अन्तराल में अनायास ही उठेगी । उस चमत्कार को हम सब इन्ही आँखों से देखेंगे । दृष्टिकोण में सुधार-परिवर्तन होते ही परिस्थितियाँ बदलेंगी । वातावरण बदलेगा और प्रचलन में ऐसा हेर-फेर होना, जिसे युग-परिवर्तन के नाम से समझा, देखा और परखा जा सके ।

इस प्रयोजन के लिए एक सुनियोजित योजना दैवी चेतना के संकेतों पर इन्हीं दिनों अवतरित हुई है । उस साधना और प्रयास प्रक्रिया का नाम 'युग संधि महापुरश्चरण' दिया गया है। उसका विस्तार भी आश्चर्यजनक गति से हो रहा है । अमरकण्टक से नर्मदा की धारा के प्रस्फुटन की तरह शान्ति कुञ्ज हरिद्वार से युग-संधि-संकल्प उभरा है। निजी प्रयोजनों के लिए तो पूजा-पाठ के, प्रचार-प्रसार के अनेकों आयोजन आये दिन होते रहते हैं, पर इस साधना का संकल्प एवं लक्ष्य एक ही है- युग परिवर्तन के उपयुक्त

वातावरण एवं परिवर्तन प्रस्तुत करना। जिनको इस महान प्रयोजन में तनिक भी रुचि है, वे इस आत्मीय आमंत्रण का परिचय प्राप्त करते ही दौड़े चले आ रहे हैं और इस महाक्रांति के प्रवाह में उत्सुकतापूर्वक सम्मिलित हो रहे है।

पुरश्चरण की तप-साधना का प्रारंभिक रूप एक लाख दीपयज्ञो की साक्षी में, एक करोड़ प्रतिभाओं को यजमान के रूप मे सम्मिलित करने का था। पर अब लोगों की श्रद्धा, सद्भावना और आतुरता को देखते हुए उसे ठीक दूना कर दिया गया है; ताकि कम समय में अधिकाधिक प्रतिफल की उपलब्धि हो सके। इसी उद्देश्य से संकल्प जोशीला हो गया है। प्रारंभिक निश्चय था कि महापुरश्चरण की पूर्णाहुति सन् २००० मे बीसवीं सदी का अन्त होते होते होगी। पर अब लक्ष्य दूना हो जाने से संकल्प को दो हिस्सो में बाँट दिया गया है। एक अर्ध पूर्णाहुति सन १९९५ में होगी और दूसरी शताब्दी के अन्त होते-होते सन् २००० मे। अब ५-५ वर्ष करोड़ भागीदार बनाने का लक्ष्य है। दीप यज्ञायोजन भी एक लाख के स्थान पर दो लाख हो जायेंगे।

आरंभ में सोचा गया था कि यह आयोजन हरिद्वार या प्रयाग के कुंभ पर्व के स्थान पर सम्पन्न किया जाय और एक ही स्थान पर सभी भागीदार एकत्रित हों और उस समारोह को अभूतपूर्व समारोह के रूप में प्रस्तुत करें। पर अब अधिक क्षेत्रों की जनता को अपने-अपने समीपवर्ती केन्द्रों मे एकत्र होने की सुविधा रहेगी और दो स्थानों की अपेक्षा लाखो स्थानों पर एकत्रित होने का अवसर मिलेगा। सम्मिलित होने वालों को दूर जाने-आने का किराया-भाड़ा भी खर्च न करना पड़ेगा और समीपवर्ती स्थान में ठहरने की, भोजन आदि की व्यवस्था भी बन पड़ेगी। इस महा प्रयास की जानकारी अधिक व्यापक क्षेत्र में सुविधापूर्वक पहुँच सकेगी, जो इस पुरश्चरण का मूलभूत उद्देश्य है।

स्मरण रहे यह संकल्प महाकाल का है। केवल जानकारी पहुँचाने और आवश्यक व्यवस्था जुटाने का काम शान्तिकुन्ज के संचालकों ने अपने कंधों पर धारण किया है। मौलिक श्रेय तो उसी महाशक्ति का है, जिसने मनुष्य जैसी प्राणी को सीमित शक्ति से किसी भी प्रकार न बन पड़ने वाले कार्यों को करने की प्रेरणा दी है और काम में जुट जाने के लिए आगे धकेल कर बाधित किया है। वही इस प्रयोजन को पूर्ण भी करेगी, क्योंकि युग परिवर्तन का नियोजन भी उसी का है।

शान्तिकुञ्ज के संचालक प्रायः अस्सी वर्ष के होने जा रहे हैं। उनका शरीर भी मनुष्य जीवन की मर्यादा के अनुरूप अपने अन्तिम चरण में है। फिर नियन्ता ने उनके जिम्मे एक और भी बड़ा तथा महत्वपूर्ण कार्य पहले से ही सुपुर्द कर दिया है, जो कि स्थूल शरीर से नहीं, सूक्ष्म शरीर से ही बन पड़ेगा। वर्तमान शरीर को छोड़ना और नये सूक्ष्म शरीर में प्रवेश करके प्रचण्ड शक्ति का परिचय देना एक ऐसा कार्य है, जो सशक्त आत्मा के द्वारा ही पड़ सकता है। इतने पर भी किसी को यह आशंका नहीं करनी चाहिए कि निर्धारित "युग संधि महा पुरश्चरण" में कोई बाधा पड़ेगी। महाकाल ने ही यह संकल्प लिया है और वही इसे समग्र रूप में पूरा करायेगा; फिर उज्ज्वल भविष्य के निर्माण हेतु अगले दस वर्षों तक शान्तिकुञ्ज के वर्तमान संचालक भी आवश्यक व्यवस्था बनाने और तारतम्य बिठाते रहने के लिए भी तो वचनबद्ध हैं।

प्रयोजन के अनुरूप दायित्व भी भारी

अखण्ड ज्योति हिन्दी मासिक तथा अन्य भाषाओं में उसके संस्करणों के स्थायी सदस्यों की संख्या प्रायः पाँच लाख है। अखण्ड ज्योति के पाठकों के साथ विगत पचास वर्षों से सम्पर्क, विचार-विनिमय और परामर्श का क्रम चलता रहा है। इनमें से अधिकांश ऐसे है, जो कई-कई बार यात्राएँ करके यहाँ आते और घनिष्ठता सम्पादन करते रहे हैं। इस आधार पर इन्हें परिवार के सदस्य और परिजन माना जाता रहा है। शिक्षक भी अभिभावकों की गणना में आते है। गोत्र, वंश परम्परा से भी मिलते हैं और अध्यापक परम्परा से भी। इतना बड़ा परिवार अनायास ही कैसे जुट गया ? संभवतः पूर्व जन्मों के संचित किन्हीं संस्कारों ने यह मिलन संयोग स्तर का सुयोग बना दिया हो।

महत्त्वपूर्ण प्रसंगों पर स्वजन संबंधी ही याद किये जाते हैं। उन्हें ही हँसी-खुशी के, दुःख-दर्द के प्रसंगों मे याद किया जाता है। सहभागी भी प्रायः वे ही रहते हैं। बाहर के लोग तो कौतुक-कौतुहल भर देखने के लिए इकट्ठे हो जाते हैं। इसलिए उनसे कोई बड़ी आशा-अपेक्षा भी नहीं की जाती। महाभारत में कृष्ण का प्रयोजन पूरा करने के लिए पाँच पाण्डव ही आगे रहे। पंच प्यारे भी सिख धर्म में प्रसिद्ध है। महाकाल के सौंपे हुए नव सृजन प्रयोजन का दायित्व भी भारी है और उनमें भाग लेने वालों को श्रेय भी असाधारण मिलने वाला है। इसलिए हर किसी से बड़ी

आशा भी नहीं की जा सकती। पाँच में से एक उभर आये, तो बहुत है। पाँच लाख की स्थिति देखते हुए यदि एक लाख कदम-से कदम मिलाकर चल सके, तो बहुत है। इतनो के सहारे सौंपा हुआ दायित्व भी निभ जायेगा।

मनुष्य शरीर पाँच तत्वों का बना है। अन्य शरीरधारियों की तरह ही उसकी भी संरचना है। इसलिए अन्य प्राणियों की तरह शारीरिक दृष्टि से उसमें भी सीमित सामर्थ्य ही पायी जाती है। उच्चस्तरीय मनोबल तो केवल मनुष्य को ही प्राप्त है, जिसके बल पर गाँधी जैसे ५ फीट २ इन्च और ९६ पौण्ड वजन के व्यक्ति भी संसार को हिला देने वाले काम कर सकता है। बुद्ध, परशुराम जैसों में ऐसे ही लोगों की गणना होती है।

मनोबल कुछ तो शरीर में भी होता है, जिसके आधार पर वह थोड़ी हिम्मत दिखाता और किसी सीमा तक साहस का परिचय देता है। असाधारण मनोबल जो प्रवाह को उलट सके और वातावरण को उलट कर किसी नये ढाँचे में बदल सके, इतना अनुदान दैवी चेतना के विशेष अनुग्रह से ही प्राप्त होता है। उस प्रकार की उपलब्धि न होने पर मात्र कायिक पुरुषार्थ कुछ थोड़ा बहुत ही कर या चल पाता है। कंकड़-पत्थर जहाँ-तहाँ पड़े रहते है, पर सोना-चाँदी जैसी बहुमूल्य वस्तुओं को कीमती तिजोरियों मे संचित कर रखा जाता है। शरीरगत स्वल्प परिश्रम या पुरुषार्थ तो किसी सीमा तक हर किसी को प्राप्त होता है पर उसके सहारे बन प्राय: इतना ही पड़ता है कि शारीरिक आवश्यकताएँ या क्रियाएँ पूरी हो सकें। कान संगीत से लेकर चापलूसी भरी प्रशंसा सुनने भर के लिए लालायित रहता है। आँखों को सुन्दर-सुहावने दृश्यों में रुचि होती है। जीभ को नये-नये स्वाद चाहिए। जननेन्द्रिय का प्रवाह भी प्राय: अधोगामी होता है। मन को ग्यारहवीं इन्द्रिय माना गया है; उसे संग्रह की तृष्णा और बड़प्पन की प्रशंसा चाहिए। इतनी ही परिधि के पुरुषार्थ प्राय: शरीर कर पाता है, पर जिसमें आत्मबल की आवश्यकता पड़ती है, वह दैवी वरदान की तरह प्राप्त होता है। उसके लिए छिटपुट कर्मकाण्ड या विह्-पूजा जैसे उपहार-मनुहार प्रस्तुत करने से भी काम नहीं चलता, उसके लिए आवश्यक पात्रता चाहिए।

किसी बरतन में कितना पानी भरा जा सकता है, यह उसकी गहराई और चौड़ाई से विदित होता है। शरीर का बाहरी कलेवर तो इन्द्रियजन्य आवश्यकता तक के काम आकर समाप्त हो जाता है। जिसे तेजस्वी प्रतिभा कहा जाता है, वह तो मनोबल या आत्मल मे सग्रह होती है। उसे प्राप्त करने के लिए ऐसे आदर्शवादी पुरुषार्थ करने पड़ते है, जो शारीरिक सुविधा तक सीमित न हों, वरन् पुण्य-परमार्थ जैसे अभ्यासों मे अपना प्रयोजन सिद्ध कर सकें। यही अन्तराल की वह गहराई है, जिसे माप कर दैवी अनुग्रह बरसते हैं और ओजस्वी, तेजस्वी, मनस्वी स्तर की उच्च उपलब्धियाँ हस्तगत की जाती हैं।

रहने का छोटा सा घर बनाने के लिए कितना समय, श्रम और पैसा लगता है, इसे सभी जानते है, फिर विश्व का नव निर्माण करने के लिए कितना मनोयत्न, कितना श्रम, कितने साधन चाहिए, उसका अनुमान लगाना किसी के लिए भी कठिन नहीं होना चाहिए। इतना वर्चस्व किसी मनुष्य तन धारी में नहीं हो सकता। इसके लिए ईश्वरीय आत्मबल, सुसंस्कारिता द्वारा संचित मनोबल की बहुत बड़ी मात्रा चाहिए। यह प्राप्त कर सकना किसी के लिए भी कठिन नहीं होना चाहिए। आवश्यकता एक ही बात की है, और वह है—आदर्शों का परिपालन निष्ठापूर्वक किया जाय। आस्तिकता, आध्यात्मिकता और धार्मिकता के प्रति गहरी आस्था हो, अपना मूल्य और महत्त्व समझा जाय और जो क्षमता जन्मजात रूप से उपलब्ध है उसका समुचित उपयोग किया जाय।

मनुष्य के पूर्वसंचित संस्कारो का संग्रह तथा उनके फलित होने का अवसर मोटे तौर से हस्तरेखाओ का सूक्ष्म निरीक्षण करके जाना जा सकता है। अँगूठे की छाप व्यक्ति की हस्तरेखाओं की तरह भी भिन्न होती है। जिसको इन्हें समुचित जानकारी हैं, वे मनुष्य की भावी संभावनाओं, उनकी रोकथाम, तथा बढ़ोत्तरी करने के संबंध में भी बहुत कुछ जान सकते है। अनिष्टो को रोकने तथा अशुभ संभावनाओं की रोकथाम करने के संबंध में क्या उपाय किया जाय ? इस संदर्भ में भी अनुमान लगाने तथा उपाय खोजने में समर्थ हो सकते है।

फोटोग्राफी से मात्र आकृति संबंधी जानकारी नही मिलती, वरन् उसके गुण, कर्म, स्वभाव के संबंध में भी बहुत कुछ जाना-समझा जा सकता है। यह जानकारियाँ मात्र वस्तुस्थिति को ही नहीं बताती, वरन भावी संभावनाओं एवं बीते हुए घटनाक्रमो का भी आभास देती है। साधारणतया तो यह अंकन भिन्नतासूचक चित्र-विचित्र जानकारियाँ ही दे पाते है पर जिन्हे इनके सूक्ष्म दर्शन का ज्ञान है, वे यह पता भी लगा लेते हैं कि अगले दिनो क्या कुछ शुभ-अशुभ घटनाक्रम घटित होने जा रहा है। इस

आधार पर कठिनाइयों का निवारण-निराकरण ही नहीं, सुखद संभावनाओं को अधिक अच्छी तरह फलित होने के संबंध में भी मार्गदर्शन किए जा सकते हैं। कोई भी घटनाक्रम अनिवार्य या अकाट्य नहीं है। उन सभी के उपाय-उपचार हैं।

कई रोग असाध्य या कष्टसाध्य समझे जाते हैं; पर ऐसा नहीं है कि उनका उपाय-उपचार हो ही न सकता हो? मनुष्य को अपने भाग्य का विधाता इसी दृष्टि से कहा गया है कि वह जहाँ भवितव्यता से प्रेरित रहता है वहाँ उसमें उस क्षमता के बीज भी मौजूद हैं कि निवारण-निराकरण के उपाय खोज सके, भवितव्यता को टाल सके और प्रतिकूलता को अनुकूलता में बदल सके। इसी दृष्टि से इन सूक्ष्म-विधाओं की उपयोगिता भी है। यदि बदलाव संभव न हो, तो मनुष्य भाग्य-चक्र की कठपुतली मात्र बन कर ही रह जायेगा।

दैवी सहायता भी अपेक्षित

मनुष्य के अपने पुरुषार्थ, ज्ञान, सूझ-बूझ आदि का महत्त्व है। प्रायः उसी के आधार पर लोग ऊँचे उठते या कमी रहने पर नीचे गिरते हैं; पर कभी-कभी ऐसा भी होता है कि किन्हीं दूसरे समर्थों की सहायता से भी रुकी हुई गाड़ी चलने लगती है और कठिनाइयों का दबाव हल्का हो जाता है। जिनका व्यापार-व्यवसाय, पूँजी की कमी के कारण रुक गया है, उन्हें यदि बैंक आदि की तात्कालिक सहायता मिल जाय, तो रुका काम चलने लगता है और लिया हुआ ऋण ब्याज समेत चुक जाता है।

मित्र सहायक, सम्बन्धी भी कभी-कभी ऐसी सहायता कर देते हैं, जिसकी पहले से कोई संभावना या आशा न थी। दैवी अनुग्रह का तो कहना ही क्या ? कभी व्यापार-धन्धे के सहारे अकस्मात् किसी बड़े लाभ का सुयोग मिल जाने में, लाटरी खुल जाने आदि के रूप में भी ऐसे लाभ हस्तगत हो जाते हैं, जिनकी पहले से ऐसी कोई आशा न थी। जब वरदान फलता है, तो उसका लाभ विद्या, पौरुष आदि से भी बढ़कर लाभ मिल जाता है। उत्तराधिकार में एवं दान-दक्षिणा के रूप में मिली हुई उपलब्धियों को भी दैवी सहायता के रूप में ही गिना जाता है।

पुरुषार्थ हो या दैवी अनुग्रह, उनका मिलना-सुरक्षित रहना और किसी दुरुपयोग से नष्ट हो जाना परिस्थितियाँ भी कई बार मनुष्यों के सामने आती रहती हैं। यही बात कठिनाइयों, आपत्तियों से बचाव होने के सम्बन्ध में भी है। कई बार तो प्रयास, परिश्रम भी इसमें अपनी भूमिका निभाते हैं। कई बार ऐसा भी होता है कि बिना प्रयास के, या स्वल्प प्रयत्न से भी बड़े लाभ हस्तगत हो जाते हैं। समय विपरीत हो, तो सारी चालें उलटी पड़ जाती हैं और भरपूर मेहनत तथा अपनायी गयी सूझ-बूझ भी काम नहीं देती। कई बार तो की गयी आशा से विपरीत फल सामने आ खड़ा होता है। किसान का व्यवसाय एक बीज के बदले सौ दाने उत्पन्न करने जैसा लाभदायक है, पर उसमें भी कई बार अतिवृष्टि, अनावृष्टि, ओला, पाला कड़ी ठण्ड आदि ऐसे संकट बीच में ही आ जाते हैं कि जो संभावना गणित के आधार पर आँकी गयी थी, वह सीधी से उलटी पड़ जाती है। कई बार इससे ठीक उल्टा भी होता है। दाँव सीधा पड़ जाने पर ऐसी सफलता भी मिल जाती है, जिसके सम्बन्ध में न तो कोई आशा थी, न संभावना। यद्यपि ऐसा अपवाद स्वरूप जब-तब ही होता है, पर यदि कभी ऐसा बन पड़े, तो उसे असंभव नहीं कहा जा सकता है।

अपवाद भले ही कम होते हों, पर अवश्य होते हैं। ऐसे अपवादों को दैवी कृपा या अनुग्रह के नाम से जाना जाता है। अप्रत्याशित परिणामों को भाग्य या समय का फेर भी कहते हैं। किसी बालक का धनवान वर्ग में जन्म लेना और अनायास ही विपुल धन का स्वामी बन जाना, किसी सिद्धान्त विशेष पर आधारित नहीं है, इसे भाग्योदय ही कह सकते है। संसार में ऐसे भी अनेक मनुष्य हुए हैं, जिनके आरंभ में शिक्षा की, सम्पदा की, परिस्थितियों की सर्वथा प्रतिकूलता थी, पर एक के बाद एक ऐसे सुयोग मिलते और बनते गये कि वह अपने असाधारण कार्यों और प्रयासों में एक के बाद एक बड़ी सफलताएँ पाते गये और अन्ततः मूर्धन्य सौभाग्यवानों में गिने गये।

दुर्घटनाओं, विपत्तियों, हानियों, प्रतिकूलताओं के भी कभी-कभी ऐसे कुयोग आ धमकते है, जिनमें कोई दोष प्रत्यक्षतः दीखता नहीं, फिर भी न जाने कहाँ से और क्यों ऐसे संकट आ खड़े होते हैं कि सब कुछ चौपट हो जाता है। बनने जा रहे काम बिगड़ जाते है। ऐसे घटनाक्रमों को दुर्भाग्य, दैवी प्रकोप, भाग्य, पूर्वसंस्कार, भवितव्यता आदि कह कर मन को समझाया जाता है। पर वस्तुतः इस संसार में अनायास नाम की कोई चीज नहीं है। सृष्टि के नियमों की अकाट्यता प्रसिद्ध है। फिर भी अपवाद जैसे आकस्मिक बहुत कुछ होते रहते है। इसके पीछे भी कुछ

कारण होते हैं। भले हम उन्हें जानते न हों। जानने को तो हम बहुत सी बातें नहीं जानते, फिर भी वे अनायास ही हो गयीं—ऐसा नहीं कहा जाता। किसका असली पिता कौन है ? इसकी सही जानकारी अपने आप तक को नहीं होती, पर इस संबंध में माता के कथन को ही प्रामाणिक मान लिया जाता है। दूसरा कोई चारा भी तो नहीं।

आकस्मिक लाभ और आकस्मिक हानि के पीछे अक्सर भाग्य का फेर कहा जाता है, पर इसके पीछे भी कुछ नियम निर्धारण काम करते हैं। पूर्व जन्मों के संग्रहीत संस्कार समयानुसार फलित होते हैं। इसका समुचित विधान जान न पाने के कारण उसे भाग्य कह देते हैं। एक दूसरा विधान संसार में ऐसा भी है, जिसे उदार अनुदान कहते हैं। आकस्मिक सहायताएँ भी इसी श्रेणी में आती हैं। जिनके पास फालतू पैसा होता है, वे उसे बैंक में जमा कर देते हैं। नियत अवधि के उपरान्त वह व्याज समेत वापस मिल जाता है, यद्यपि जमा करने और निकालने के समय मे लम्बी अवधि का अन्तर होता है, पर वह है किसी नियम-व्यवस्था पर ही आधारित।

संसार में ऐसी आत्माएँ भी हैं, जिनके पास पुण्य फल का प्रचुर भण्डार भरा पड़ा है। धन को घर में रखना जोखिम भरा समझा जाता है, इसलिए सुरक्षा और निश्चिन्तता की दृष्टि से उसे बैंक मे जमा कर दिया जाता है। पुण्य-परमार्थ भी ऐसी ही विधा है, जिसे उदारचेता समय पर जरूरतमंदों को देते रहते हैं। इसमें दुहरा लाभ है- एक तो जिसका काम रुक गया था, उसका काम चल जाता है, दूसरा जिसने जमा किया था, उसे आवश्यकतानुसार वापस मिल जाता है। पुण्य-परमार्थ का, दान-अनुदान का यह क्रम भी उसी आधार पर चलता है, जिसके आधार पर बैंकों का, बीमा का, शेयरो का कारोबार चलता रहता है। अनुदान आदि के चक्र भी इसी आधार पर चलते हैं।

इक्कीसवीं सदी में दुहरे कारोबार बड़े रूप मे चलेंगे। एक यह कि जो अवांछनीयताएँ इन दिनों बुरी तरह छायी है, उन्हें उलट देना, ताकि छाये हुए संकटों को निरस्त किया जा सके। दूसरा यह कि नव निर्माण की दृष्टि से बहुत कुछ किया जाना है। क्षतिपूर्ति के लिए विशालकाय कारोबार खड़े किये जाने हैं। इसके लिए भी पूँजी एवं साधन-सामग्री चाहिए। यह सृजन कार्य किन्हीं व्यक्तियो के माध्यम से ही होगा। संकटों से जूझने के लिए कोई सशक्त योद्धा ही लड़ाई की अग्रिम पंक्ति में खडे होंगे। दोनो ही उद्देश्य इन्ही व्यक्तियो के किन्ही क्रिया-कलापों के माध्यम से ही सम्पन्न होगे। आवश्यक नही कि यह सारे कार्य उसी के हों, जिसे कि श्रेय मिला हो। मोर्चे पर लड़ते तो सैनिक ही हैं; पर उन्हें जो वाहन, हथियार रसद, आहार मिला है, वह उस सैनिक के स्वयं के नहीं, वरन् संचालक सूत्र से ही उपलब्ध होते हैं।

अगले दिनों भयंकर विभीषिकाओं को निरस्त होकर रहना है, साथ ही अभावों का जो भारी त्रास छाया हुआ है, उसे भी परास्त करना है। उस कार्य को सक्रिय परिजन कटिबद्ध होकर करेंगे ही, पर वस्तुतः इस प्रयोजन के लिए जितनी प्रचुर शक्ति, सूझ-बूझ और साधन-सामग्री चाहिए, उतनी पूँजी एकत्रित रूप में सीधी हस्तगत नहीं हो सकती, वरन बैंक जैसे किसी समर्थ माध्यम से उधार लेनी पड़ेगी। सभी जानते हैं कि ठेकेदारों को निर्माण की ठेकेदारी भर मिलती है। उस समूचे कार्य में लाखों-करोड़ों की पूँजी लगती है। उसका प्रबन्ध सूत्र-संचालक को ही करना पड़ता है।

भगवान के विशेष अनुग्रह और अनुदान की उपलब्धि

शरीर उन पंच तत्त्वों का बना है, जिन्हें जड़ कहा जाता है। चेतना ही उसमें प्राण रूप है। यदि वह निकल जाय, तो पाँच तत्त्वों का बना घोंसला निर्जीव बन कर रह जाता है। उसके लिए कुछ कर सकना तो दूर, अपनी रक्षा तक नहीं कर सकता। तुरन्त सड़ने-गलने लगता है और जीव जन्तुओं का आहार बन कर अपनी शक्ल-सूरत तक गँवा बैठता है। प्राण रहते ही किसी को जीवित कहा जाता है। जीवन, वायु की तरह व्यापक और अनन्त है। फेफड़ों में जितनी जगह होती है, वायु उतनी ही मात्रा में ग्रहण की जाती है। शरीर कलेवर के संबंध मे भी यही बात है। साँस लेते समय उसकी जितनी आवश्यकता पड़ती है, उतनी ही ग्रहण कर ली जाती है। शेष अनन्त आकाश में ही भरी रहती है। उसे अधिक मात्रा में ग्रहण-उपलब्ध करने की कला में प्रवीण लोग उसे 'प्राणायाम' से अतिरिक्त मात्रा में ग्रहण कर लेते हैं और आवश्यकतानुसार विशेष समय पर प्रयुक्त करते हैं। ऐसे ही लोग प्राणवान कहलाते हैं और उस संचय से अपना तथा दूसरों का भला करते हैं।

शरीर-बल प्रायः इतना ही होता है जितना सीमित मात्रा में प्राण शक्ति विद्यमान रहती है, पर जो आश्चर्यजनक-अद्‌भुत-असाधारण कार्य कर पाते हैं, उनकी चेतना ही विशेष रूप से सक्रिय होती और चमत्कार स्तर के काम करती देखी जाती है। शरीर मनुष्यकृत है। वह नर-नारी के गुण सूत्रो के माध्यम से विकसित होता है, किन्तु प्राण

देखता है। उसकी असीम मात्रा इस विश्व-ब्रह्माण्ड में भरी पड़ी है। यह अपने वर्ग के साथ असाधारण मात्रा में एकत्रित भी हो सकता है और एक से दूसरे में-प्रवेश करके अपनी दिव्य क्षमता का हस्तान्तरण भी कर सकता है। इस प्रकार के प्रयोगों को 'शक्तिपात' नाम से जाना जाता है। छाया पुरुष स्तर में भी उसी का विशेष कर्तृत्व देखा जाता है। मरणोपरान्त उसका स्वतंत्र अस्तित्व भूत-प्रेत आदि के रूप में बना रहता है। जीवित स्थिति मे भी अतीन्द्रिय क्षमताओं के रूप में उसके चमत्कारी करतब देखे जा सकते हैं। प्राणयोग के अभ्यास से इसका अतिरिक्त प्रवाह, शरीर से बाहर निकल कर भी सुषुप्ति, तुरीया, समाधि आदि में अपनी सत्ता बनाये रह कर, बिना शारीरिक साधनों के अपने अस्तित्व तथा सशक्त विशेषताओ का परिचय दे सकता है।

प्राण की सत्ता हस्तान्तरण के उपयुक्त भी है। कोई समर्थ व्यक्ति अपनी दिव्य क्षमता का एक भाग किसी दूसरे को देकर उसकी सहायता भी कर सकता है। आदि शंकराचार्य की कथा प्रसिद्ध है, जिसके अनुसार वे कुछ समय के लिए अपने शरीर से निकल कर किसी दूसरी काया मे प्रवेश कर गये थे और लम्बी अवधि तक उसी में बने रहे थे।

अन्य विशिष्ट शक्तियाँ भी मनुष्य के साथ अपने ताल-मेल बिठाती और उसके शरीर द्वारा अपने अभीष्ट प्रयोजन पूरे करती रही हैं। कुन्ती-पुत्र मनुष्य शरीरधारी होते हुए भी विशेष देवताओं के अंश थे। उसी स्तर के वे काम भी करते रहे, जैसे कि साधारण मानवी काया में रहते हुए कर सकना संभव नहीं है। रामायण काल में हनुमान, अंगद आदि के पराक्रमों को भी ऐसे ही देवोपम माना जाता है। मनुष्य शरीरधारी सामान्य प्राण वाले प्रायः वैसे कार्य नहीं ही कर सकते। अवतारी सत्ताएँ मनुष्य शरीर में रह कर ही अपने विशेष कृत्य करतीं और 'यदा यदा हि धर्मस्य' वाली प्रतिज्ञा की रक्षा करती हैं।

भगवान जिन्हें विशेष कार्यों के लिए चुनते, नियुक्त करते हैं, उनमें इस दिव्य प्राण की मात्रा ही अधिक होती है, जिसके सहारे वे नर-वानरों की परिधि से ऊँचा उठकर सोचने, ऐसा साहस करने और आदर्श उपस्थित करने में समर्थ होते है। भव-बन्धनों की रज्जुओं से जकड़े हुए सामान्य मनुष्य न तो वैसा सोच ही सकते है और न दिव्य आदर्शों को अपना पाते हैं। दैवी प्रयोजनो को सिद्ध करने के लिए अतिरिक्त आत्मबल का मनोबल का परिचय वे दे नहीं पाते। छिट-पुट विघ्न ही उन्हें पहाड़ जितने भारी दीखते हैं और जब कुछ कर गुजरने का समय आता है, तो भयभीत होकर किसी अनर्थ की आशंका करने लगते हैं। कायरता न जाने कहाँ से आकर दौड़ पड़ती है और कभी की हुई प्रतिज्ञाएँ-लिये हुए संकल्पों को एक प्रकार भूल ही जाते हैं।

दैवी अनुग्रह के संबंध में भी लोगों की विचित्र कल्पनाएँ हैं। वे उन्हीं छोटी संभावनाओं को दैवी अनुकम्पा मानते रहते हैं, जो सामान्य पुरुषार्थ से अथवा अनायास ही संयोगवश लोगों को उपलब्ध होती रहती है। मनोकामनाओं तक ही उनका नाम रगड़ना, गिड़गिड़ाना सीमित रहता है, जिसे वे दैवी अनुकम्पा मानते हैं। आत्मबल-आत्मविश्वास न होने से जो कुछ प्राप्त होता है, उसे पुरुषार्थ का प्रतिफल मान कर उनका मन संतुष्ट ही नहीं होता। उनके लिए हर सफलता दैवी अनुग्रह और हर असफलता दैवी प्रकोप मात्र प्रतीत होती है। ऐसे दुर्बल चेताओं की बात छोड़ दें, तो यथार्थता समझ में आ जाती है; पर अंततः एक ही तथ्य सामने आता है कि मनुष्य जब आदर्शवादी अनुकरणीय-अभिनंदनीय कर्मों को करने के लिए उमंगों-तरंगों से भर जाता है, तो वह असाधारण कदम उठाने लगता है। रावण की सभा में अंगद का पैर उखाड़ना तक असंभव प्रतीत होने लगा था। औसत आदमी को तो हर काम असंभव लगता है। ऐसे छोटे त्याग करना भी उसे पहाड़ उठाने जैसा भारी पड़ता है, जो वस्तुतः हलके-फुलके ही होते हैं और हिम्मत के धनी आदर्शवादी, जिन्हें आये दिन करते रहते है।

दैवी अनुग्रह का एक ही चिन्ह है-आदर्शवादिता की दिशा में साहसपूर्वक बड़े कदम उठाना और उस प्रयास में आने वाली कठिनाइयों को हँसते-हँसते दरगुजर कर देना। भगवान का अनुग्रह एक ही है-आदर्शों के परिपालन में बढ़ी-चढ़ी साहसिकता का प्रदर्शन करते रहना। कायरों और हेयजनों के लिए यही पर्वत उठाने जैसा अड़ंगा प्रतीत होता है; किन्तु जिनमें मनोबल की कमी नहीं, उनके लिए तो यह सब खेल-खिलवाड़ जैसा लगता है। संसार का इतिहास साक्षी है कि जिस किसी पर भगवान की प्राण चेतना-अनुकम्पा बरसी है, उनको एक ही वरदान मिला है, ऐसे सत्कर्म करने का साहस मिला है, ऐसा उत्साह मानस में विचरता रहा है कि अनुकरणीय और अभिनंदनीय कार्य सतत् करने की लगन उठती रहे। अवांछनीय और अभिनंदनीय कार्य सतत् करने की लगन उठती रहे। अवांछनीय और अनौचित्य जहाँ भी दीखता है, वहाँ लड़

पड़ने का इतना शौर्य-साहस उभरता है कि उसे चरितार्थ किये बिना व्यक्ति शांति से बैठ ही नहीं सकता ।

इक्कीसवीं सदी में ऐसी ही प्रतिभाएँ सर्वत्र उभरेंगी। जिनके पिछले किये क्रिया-कलाप देखने से निराशा होती थी, उनमे से भी कितने ही ऐसे उभरेंगे, जो अपने को धन्य बनायेंगे । अपने इर्द-गिर्द के लोगों को भी पार करके निहाल कर देंगे । पैसा, औलाद, स्वास्थ्य, बड़प्पन को बुरे लोग भी अपने बलबूते अर्जित कर लेते हैं, पर आदर्शों की दिशा में साहसपूर्वक चल पड़ना मात्र उन्हीं के लिए संभव होता है, जिन पर भगवान की विशेष अनुकम्पा बरसती है, जिसे परमपिता कृपापूर्वक अपने उच्चस्तरीय प्राण का वह भाग प्रदान करते हैं, जिसके सहारे नर-वानर को नर से नारायण बनने का अवसर प्राप्त होता है ।

यह समय चूकने का है नहीं

आमतौर से भक्तजन भगवान को पुकारते और उनकी सहायता के लिए विनय पूर्वक गिड़गिड़ाते रहते हैं। पर कभी-कभी ऐसे समय भी आते हैं, जब भगवान उन भक्त जनों से आवश्यक याचना करते हैं और बदले में उन्हें इतना महत्व देना पड़ता है, जो उनकी अपनी महत्ता से भी बढ़-चढ़ कर होता है ।

हनुमान की वरिष्ठता के संबंध में जानकारी प्राप्त करने पर राम-लक्ष्मण उन्हें खोजने ऋष्यमूक पर्वत पर पहुँचे थे और येन-केन प्रकारेण उन्हें सीता की खोज में सहायता करने के लिए सहमत किया था । गंगाघाट पार करने के लिए केवट की सहायता आवश्यक हो गई थी । इसलिए केवट को उन्होंने आग्रह पूर्वक सहायता करने के लिए किसी प्रकार मनाया । आड़े समय में काम आने वाले जटायु को छाती से लगाकर कृतज्ञता व्यक्त की; उसकी अनुभूति हर सुनने वाले को भाव विभोर कर देती है। समुद्र का पुल बाँधने में जिन निहत्थे रीछ वानरों ने सहायता की, उनकी उदार चेतना को हजारों लाखों वर्ष बीत जाने पर भी कथाकारों ने भुलाया नहीं है ।

महाभारत अभीष्ट था । उसकी बागडोर संभालने के लिए अर्जुन जैसे मनस्वी की आवश्यकता थी । अर्जुन से पूछा गया तो वह अचकचाने लगा । कभी भीख माँग कर खा लेने, कभी कुटुम्बियों पर हथियार न उठाने का सिद्धान्तवाद तर्क रूप मे प्रस्तुत करने लगा । भगवान ने उसके मन की कमजोरी पढ़ी और भर्त्सना पूर्वक कटु शब्दों में दबाव डाला कि उसे उस कठोर कार्य में उद्यत होना ही चाहिए । यों भगवान सर्व शक्तिमान होने से महाभारत को अकेले भी जीत सकते थे, पर अर्जुन को श्रेय देना था जो सच्ची मित्रता का तकाजा था । उसे यशस्वी भी तो बनाना था । इसलिए संग्राम के मध्य खड़े होकर अर्जुन को सुविस्तृत दर्शन शास्त्र समझाते हुए अपने प्रयोजन में भागीदार बनने के लिए सहमत करना ही पड़ा । अर्जुन घाटे में नहीं, नफे में ही रहा ।

सुदामा बगल में दबी चावल की पोटली देना नहीं चाहते थे, सकुचा रहे थे, पर उनने उस दुराव को बलपूर्वक छीना और चावल देने की उदारता परखने के बाद ही द्वारिका पुरी को सुदामा पुरी में रूपान्तरित किया । भक्त और भगवान के मध्यवर्ती इतिहास की परम्परा यही रही है । पात्रता जाँचने के उपरान्त ही किसी को कुछ महत्वपूर्ण मिला है । जो आँखें मटकाते आँसू बहाते, रामधुन की ताली बजाकर बड़े-बड़े उपहार पाना चाहते हैं, उनकी अनुदारता खाली हाथ ही लौटती है । भगवान को ठगा नहीं जा सकता है। वे गोपियों तक से छाछ प्राप्त किए बिना अपने अनुग्रह का परिचय नहीं देते थे । जो गोवर्धन उठाने में सहायता करने की हिम्मत जुटा सके, वही कृष्ण के सच्चे सखाओं में गिने जा सके ।

यह समय युग परिवर्तन जैसे महत्त्वपूर्ण कार्य का है। इसे आदर्शवादी कठोर सैनिकों के लिए परीक्षा की घड़ी कहा जाय, तो इसमें कुछ भी अत्युक्ति नहीं समझी जानी चाहिए । पुराना कचरा हटता है और उसके स्थान पर नवीनता के उत्साह भरे सरंजाम जुटते हैं । यह महान परिवर्तन की महाक्रांति की वेला है। इसमें कायर, लोभी डरपोक और भाँड़ आदि जहाँ-तहाँ छिपे हों, तो उनकी ओर घृणा, तिरस्कार की दृष्टि डालते हुए उन्हें अनदेखा भी किया जा सकता है । यहाँ तो प्रसंग हथियारों से सुसज्जित सेना का चल रहा है । वे ही यदि समय की महत्ता आवश्यकता को, न समझते हुए, जहाँ तहाँ मटरगस्ती करते फिरें और समय पर हथियार न पाने के कारण समूची सेना को परास्त होना पड़े तो ऐसे व्यक्तियों पर तो हर किसी का रोष ही बरसेगा, जिनने आपात स्थिति में भी प्रमाद बरता और अपना तथा अपने देश के गौरव का मटियामेट करके रख दिया ।

जीवन्तो, जागृतों और प्राणवानों में से प्रत्येक को अनुभव करना चाहिए कि यह ऐसा विशेष समय है जैसा कि हजारों-लाखों वर्षों बाद कभी एक बार आता है । गाँधी के सत्याग्रही और बुद्ध के परिव्राजक बनने का श्रेय, समय

निकल जाने पर अब कोई किसी भी मूल्य पर नहीं पा सकता। हनुमान और अर्जुन की भूमिका हेतु फिर से लालायित होने वाला कोई व्यक्ति चाहे कितने ही प्रयत्न करे, अब दुबारा वैसा अवसर हस्तगत नहीं कर सकता। समय की प्रतीक्षा तो की जा सकती है, पर समय किसी की भी प्रतीक्षा नहीं करता। भगीरथ, दधीचि और हरिश्चन्द्र जैसा सौभाग्य अब उनसे भी अधिक त्याग करने पर भी पाया नहीं जा सकता।

समय बदल रहा है। प्रभात काल का ब्रह्ममुहूर्त अभी है। अरुणोदय के दर्शन अभी हो सकते हैं। कुछ घण्टे ऐसे हैं उन्हें यदि प्रमाद में गँवा दिये जायें, तो अब वह गया समय लौटकर फिर किस प्रकार आ सकेगा? युग परिवर्तन की वेला ऐतिहासिक, असाधारण अवधि है। इसमें जिनका जितना पुरुषार्थ होगा, वह उतना ही उच्च कोटि का शौर्य पदक पा सकेगा। समय निकल जाने पर, साँप निकल जाने पर लकीर को लाठियों से पीटना भर ही शेष रह जाता है।

इन दिनों मनुष्य का भाग्य और भविष्य नये सिरे से लिखा और गढ़ा जा रहा है। ऐसा विलक्षण समय कभी हजारों लाखों वर्षों बाद आता है। इन्हें चूक जाने वाले सदा पछताते ही रहते हैं और जो उसका सदुपयोग कर लेते हैं, वे अपने आपको सदा सर्वदा के लिए अजर-अमर बना लेते हैं। गोवर्धन एक बार ही उठाया गया था। समुद्र पर सेतु भी एक बार ही बना था। कोई यह सोचता रहे कि ऐसे समय तो बार-बार आते ही रहेंगे और हमारा जब भी मन करेगा, तभी उसका लाभ उठा लेंगे, तो ऐसा समझने वाले भूल ही कर रहे होंगे। इस भूल का परिमार्जन फिर कभी कदाचित ही हो सके।

लोग अपने पुरुषार्थ से तो अपने अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न करते ही रहते हैं; पर भगवान के उपायों का श्रेय मनुष्य को अनायास ही मिल जाय, ऐसा कदाचित ही कभी होता है। अर्जुन का रथ एक बार ही कृष्ण ने चलाया था। वे उसके केवल, मात्र सारथी नहीं थे कि जब हुकुम चलाया, तभी उनसे वह काम करा लिया। भगवान राम और लक्ष्मण को कंधों पर उठाये फिरने का श्रेय हनुमान को एक बार ही मिला था। वे जब चाहते तभी हनुमान हठी बनकर उन्हें कंधों पर बिठाते और सैर कराते; ऐसे अवसर चाहे कभी भी मिल जाते रहेंगे, ऐसी आशा सदा सर्वदा किसी को भी नहीं करनी चाहिए।

ब्रह्मा ने सृष्टि एक बार ही रची थी। उसके बाद तो वह ढर्रा ज्यों-त्यों करके अपने ढंग से चलता ही आ रहा है। नए युग का सृजन इन्हीं दिनों हो रहा है। समुद्र मंथन एक बार ही हुआ और उसमें से १४ रत्न एक बार ही निकले थे। वैसी घटनाएँ जब मन आये तभी घटित कर दी जायेंगी, यह आशा नहीं ही करनी चाहिए।

अवांछनीयता के पलायन का, औचित्य की संस्थापना का ब्रह्म मुहूर्त, यह एक बार ही आया है। फिर कभी हम लोग इसी मनुष्य जन्म में ऐसा देख सकेंगे, इसकी आशा करना एक प्रकार से अवांछनीय ही होगा। अच्छा यही हो कि ऐसी पुण्य वेला का लाभ उठाने मे आज के विचारशील तो चूक करें ही नहीं।

अनायास ही मिलने वाला श्रेय

आग का सामान्य स्वभाव गर्मी और रोशनी है। जो वस्तु उसके जितनी निकट आती है, वह उसे प्रस्तुत परिस्थितियों के अनुसार जलाती है। जब तक जितना ईंधन जिस स्तर का रहता है, वह प्रज्ज्वलन भी उसी स्तर का होता है। वह बुझ जाय तो ईंधन के रहते हुए भी जलने का क्रम बन्द हो जाता है। इसी प्रकार ईंधन कितना ही क्यों न हो, यदि आग जल न रही हो, तो फिर सब कुछ जहाँ का तहाँ पड़ा रहेगा। जलन जैसा कोई उपक्रम दीख न पड़ेगा।

आग और ईंधन के मिलन से प्रज्ज्वलन होता है- यह तथ्य यथावत् रहते हुए भी उस सम्मिलन की प्रतिक्रिया में यही अन्तर रहता है। गीली वनस्पति जलाई जाय, तो उसमें से धुँधला धुआँ भर निकलेगा और जलता-बुझता रहेगा। इसके विपरीत सूखा ईंधन यदि भीतर तक हवा पहुँचाने की स्थिति का हो, तो तेज आग लगेगी, जल्दी फैलेगी और ज्वलन वेगवान होगी। इन भिन्नताओं के कारण आग और ईंधन के मिलने पर लपट उठने के सिद्धान्त मे बहुत कुछ अन्तर देखा और पाया जायगा।

पेट्रोल या गैस हवा के साथ मिलकर एक चिन्गारी भर से भक् जल जाते है और देखते-देखते बड़े क्षेत्र को अपने प्रभाव परिकर में लपेट लेते हैं। बारूद में मिले रसायनों के अपने गुण है। आतिशबाजी जलने पर अपने-अपने चित्र-विचित्र रंगरूप दिखाती और अपने ढंग के मनोरंजक स्वरूप प्रस्तुत करती है। आग्नेयास्त्रों के साथ सम्पर्क बनने पर उसकी प्रतिक्रियायें अलग-अलग तरह की होती हैं। बन्दूक के और तोप के कारतूसों की शक्ति अलग-अलग तरह की आँकी गई है। 'डायनामाइट' के कारतूस पहाड़ को, चट्टानों को उछालते हैं, मजबूत किले

के धुएँ बखेर देते है । मुर्दा जलाते समय वही आग अपनी परिधि को विषैले धुँए से भर देती है । इसके विपरीत यदि चन्दन या कपूर के चूर्ण को जलाया जाय, तो उसकी मनभावन सुगन्ध आती है । पुआल में लगने पर वह तेजी पकड़ जाती है और दूर-दूर तक देखते-देखते फैल जाती है, इसके विपरीत गीला और मटमैला ईंधन ज्यों-त्यो करके, थोड़ा-थोड़ा करके जलता और धुआँ बखेरता रहता है ।

आग के अपने गुण है, ईंधन के अपने । मोटी प्रतिक्रिया मिलने पर जलने की ही होती है, पर पदार्थों पर परिस्थितियों के अनुरूप उस ज्वलनशीलता में असाधारण स्तर का अन्तर पाया जाता है ।

मनुष्य के शरीर में एक तरह की और चेतना में दूसरी तरह की शक्ति रहती है । शरीर जीवनी शक्ति को धारण किये रहता है, जिसके सहारे अनेकों अंग-अवयव और कल-पुर्जे चलते और अपना काम करते है । गर्मी उसी के सहारे बनी रहती है और काम करने की क्षमता का उद्‌भव भी उसी से होता है । बलिष्ठता उसी पर निर्भर है । रोगों से लड़ने की शक्ति भी उसी में रहती है । इसमे कमी पड़ने पर अनेक प्रकार की दुर्बलता और रुग्णता आ घेरती है ।

चेतना क्षेत्र की शक्ति हिम्मत, साहस की जन्मदात्री है । ओजस्, तेजस् और वर्चस् उसी की देन है । यदि यह न रहे, तो जीवित रहना भी कठिन और असंभव हो जाय। बौद्धिक प्रखरता भी इसी के बल पर मिलती है । मनोबल, आत्मबल चेतना की ही प्रखरता के गुण है । दोनो उपरोक्त शक्तियाँ यदि अक्षुण्ण रहें, तो ही मनुष्य जीवित या सशक्त रह पाता है ।

यह शारीरिक और मानसिक प्रयोग है आध्यात्मिक शक्ति इससे आगे एवं ऊपर है । उसका संबंध न केवल शरीर एवं मस्तिष्क से है, वरन् अदृश्य जगत मे संव्याप्त दैवी सत्ता के साथ भी अपना संबंध जोड़ती है । देवी-देवताओ के नाम से भी उसी विशेषता की धारा-उपधाराओ को संबद्ध समझा जाता है । परब्रह्म यही है । ईश्वर, भगवान स्रष्टा आदि भी इसी के नाम है । विश्व ब्रह्माण्ड में समर्पित होने के कारण इसी को विश्व चेतना भी कहते हैं । यह थोड़ी मात्रा मे तो सभी में होती है, पर इसकी विशेष मात्रा योगी, तपस्वी अपनी विशेष साधना के बलबूते अर्जित करते हैं । उसी के अनुपात से कोई देवमानव, देवात्मा, महामानव, सिद्ध पुरुष आदि बन सकता है । जिस प्रकार पतंग के पतले धागे में भी कभी-कभी कारणवश विद्युत प्रवाह आ जाता है या उसे प्रयत्नपूर्वक आकर्षित अर्जित कर लिया जाता है, उसी प्रकार मनुष्यों में दैवी शक्तियों का उच्चस्तरीय नियोजन का संवर्धन भी हो जाता है । यह बड़ी मात्रा में होता है, तो उस व्यक्तित्व को असाधारण भूमिका मे देखा-पाया जाता है । दिव्य व्यक्तित्व इसी के ही सहारे उपलब्ध और विकसित होते हैं । किन्तु अतिरिक्त प्रयत्न करने पर दोनों के बीच घनिष्ठता भी उत्पन्न हो जाती है और परस्पर का आश्चर्यजनक आदान-प्रदान भी आरंभ हो जाता है ।

ब्रह्माण्ड में अगणित शक्तियों के भण्डार भरे पड़े हैं। उनमे से जितने अपने लिए पृथ्वी आवश्यक समझती है, उतनी ध्रुव केन्द्र के माध्यम से खींचती और धारण करती रहती है । जो आवश्यक है, वह बहिष्कृत करती जाती है। इस प्रकार जिस मनुष्य ने अपने सूक्ष्म अन्तःकरण को जितना परिष्कृत बना लिया है, वह उतना ही दैवी अंश अदृश्य जगत से अपने लिए आकर्षित कर लेता है । उसमें उतने ही बढ़े-चढ़े दैवी अंश पाये जाते हैं । उच्चस्तरीय शक्ति स्रोत यही है । इसकी तुलना में शारीरिक जीवनी शक्ति और मानसिक विलक्षणता नगण्य है । उसमें उतना ही अंश पाया जाता है, जितना कि अन्तराल मे धारण कर सकने की विशिष्ट क्षमता होती है । इसे प्रयत्नपूर्वक अर्जित करना पड़ता है । साधना इसी प्रयत्नशीलता को कहते है।

उच्चकोटि के साधकों में जो कतिपय दिव्य शक्तियाँ पाई जाती हैं, वह उनके अपने साधना प्रयत्नों द्वारा अर्जित की हुई होती है । तपस्वी इसी प्रयत्न में लगे रहते हैं । योगियों का पुरुषार्थ इसी उपार्जन-अर्जन के लिए होता है। ऋषि, ब्रह्मर्षि, राजर्षि, देवर्षि इसी स्तर की क्षमता अपने भीतर अत्यन्त कष्ट साध्य प्रयत्नो द्वारा अर्जित करते हैं । जो जितनी, जिस स्तर की सफलता प्राप्त कर लेता है, वह उतने ही बढ़े-चढ़े स्तर का सिद्ध पुरुष बन जाता है ।

मनुष्य कलेवर में सीमित मात्रा में विशेष शक्ति धारण की क्षमता है । शरीर की धारणा एक सीमा तक है। खेलो मे कीर्तिमान स्थापित करने वाले इसी का परिचय देते है । पहलवानों, बलवानो, योद्धाओ, बलिष्ठों में इसी का बाहुल्य देखा जाता है । मानसिक बल की भी एक सीमा है । बुद्धिमान, मेधावान, विशेषज्ञ, विद्वान, मनीषी इसी धन के धनी होते हैं । कभी-कभी उसमें अतीन्द्रिय क्षमतायें भी पाई जाती है । आधुनिक परामनोविज्ञान के अन्तर्गत दूरदर्शन, दूरश्रवण, भविष्य दर्शन, प्राण-प्रत्यावर्तन जैसी विशेषतायें इसी आधार पर अर्जित करते देखी गई हैं । मानवी विद्युत के कई प्रकार के चमत्कार कितने ही लोगो मे देखे गये है । यह भी इसी क्षमता का परिचय है ।

ऊपर आँख उठाकर देखने से नीला पीला आकाश दीख पड़ता है । इसकी परिधि कितनी बड़ी है, यह साधारण आँखों से या मोटी बुद्धि से नहीं समझा जा सकता। फिर भी वह इतना विस्तृत है कि उसे अकथनीय ही कह सकते हैं । साधारण समझ के अनुसार यह खाली दिखाई पड़ता है । जहाँ-तहाँ चाँद-तारे, गैस, ग्रह पिण्ड चमकते दिखाई पड़ते हैं । किन्तु उनकी भी एक सीमा है । जितने तारे दीखते हैं उससे करोड़ों गुने वे हैं, जो आँखों की पकड़ में नहीं आते और सदा अदृश्य ही बने रहते हैं । दीखने में पीला या खाली दीखने वाला यह आकाश भी सर्वथा शून्य नहीं है, इसमें एक से एक बढ़कर चमत्कारी शक्तियाँ भरी पड़ी हैं, यद्यपि वे खुली आँखों से प्रत्यक्ष दिखाई नहीं पड़तीं । एक्स रे, अल्ट्रावायलेट, अल्फा किरणें, लेसर, रेडियो, ईथर आदि का बड़ा शक्तिशाली भंडार इस पोले आकाश में भरा पड़ा है । यदि उसे नापा-तौला जा सके, तो उसका भार माप उससे भी कहीं अधिक बैठेगा जितना कि इस अपनी दृश्यमान पृथ्वी का देखा जा सकता है ।

जो वस्तुयें खुली आँखों से नहीं देखी जा सकतीं, उसे सामान्य बातचीत में सूक्ष्म कहते हैं । दृश्यमान पदार्थों में एक बहुत थोड़ा अंश ही आँखों से दीख पड़ता है । शेष ऐसे हैं, जिन्हें अत्यन्त सूक्ष्मदर्शी यंत्रों में से ही किसी मात्रा में देखा-समझा जा सकता है । यह अदृश्य प्रतीत होते हुए भी स्थूल जगत की परिधि में आते हैं । पदार्थ इस संसार में जितना दृश्य है, उससे करोड़ों-अरबों गुना अदृश्य है। इतने पर भी उसे हम कदाचित् ही किसी सीमा तक देख-समझ पाते है ।

सूक्ष्म पदार्थ जगत की तरह चेतना जगत का भी उससे भी विशाल सूक्ष्म जगत है-सचेतन । इस समस्त विश्व ब्रह्माण्ड में अदृश्य चेतना भी भरी पड़ी है । इसे सचेतन स्तर का सूक्ष्म जगत कहते हैं । यही विराट् ब्रह्म है । इसकी विशेषतायें और भिन्नतायें इतनी हैं कि उनकी आंशिक कल्पना कर सकना भी कठिन है । परब्रह्म या विराट् ब्रह्म यही है । इसी विशाल ब्रह्म के अन्तर्गत मनुष्य की प्राण-चेतना का भी एक बहुत छोटा अंश रहता है । जिस प्रकार विशाल समुद्र में छोटे-छोटे असंख्य जल-जन्तु रहते हैं, ठीक उसी प्रकार विराट् ब्रह्म के अन्तर्गत भी मनुष्य में विद्यमान चेतना भी अणु-परमाणुओं के रूप में किसी प्रकार अपनी सत्ता बनाए हुए हैं । आमतौर से उसमें से उतना ही छोटा अंश लोगों के परिचय में आता है, जो शरीर अथवा मस्तिष्क की हलचलों के निमित्त काम आता है । इसे सबसे भीतर अन्तःकरण या कारण सत्ता है । इसे जीव सत्ता या आत्म सत्ता भी कहते हैं । यों पृथक-पृथक लोगों में आत्मा के परमाणु अलग-अलग स्तर के हैं । इतने पर भी वे एक ही विराट् ब्रह्म के छोटे-छोटे घटक हैं । साथ ही परस्पर इतनी सघनतापूर्वक जुड़े हुए भी हैं कि एक-दूसरे को असाधारण रूप से प्रभावित करते हैं । एक-दूसरे को आवश्यक एवं अभीष्ट मात्रा में क्षमता का आदान-प्रदान भी करते हैं । जिस विशिष्ट क्षेत्र में यह हलचलें चलती हैं, उसे अदृश्य अथवा सूक्ष्म जगत कहते हैं । इसमें अनेकों अदृश्य स्तर के जीवधारी भी रहते हैं, जिन्हें भूत-प्रेत, देव-दानव आदि नामों से जाना जाता है । जिस प्रकार दृश्य जगत के प्राणी परस्पर सहयोग या विद्वेष करते हैं, उसी प्रकार जगत के सचेतन घटक भी परस्पर चित्र-विचित्र स्तर का संबंध बनाये रहते हैं । इस सचेतन सत्ता का जिसमें जितना अधिक अंश किसी प्रकार बढ़ जाता है, वह महामानव, दिव्यमानव बन जाता है । यदि यह शक्ति सात्विक स्तर की हो, तो उसे देवात्मा कहा जायेगा और यदि वह असुरता प्रधान है तो फिर उसे दैत्य और दानव स्तर का ही कहा जायेगा । दोनों में ही साधारण मनुष्यों की अपेक्षा अतिरिक्त स्तर की असाधारण शक्ति पाई जाती है। इसीलिए उनका कर्तृत्व भी जनसाधारण की तुलना में कहीं अधिक बढ़ा-चढ़ा और विशिष्ट, अद्‌भुत एवं चमत्कारी भी होता है ।

मनुष्य विशेष की तरह परब्रह्म सत्ता की भी समय-समय पर अपनी इच्छायें और योजनायें उभरती हैं । सृष्टि का संतुलन बनाये रहना उसका प्रधान उद्देश्य होता है । इस प्रयोजन के लिए वह कई प्रकार के निर्माण, अभिवर्धन एवं परिवर्तन भी करती रहती है, पर उस कर्तृत्व की प्रक्रिया विलक्षण होती है। उसके अंग-अवयव भी नहीं होते । इसके बिना कोई दृश्यमान क्रिया-प्रक्रिया बन कैसे पड़े । इसीलिए सूक्ष्म जगत के विशिष्ट कार्य भी जब दृश्यमान स्तर पर सम्पन्न करने होते हैं, तो उसके लिए परब्रह्म को भी मनुष्य शरीर का आश्रय लेना पड़ता है । इस विशाल विश्व में मात्र मनुष्य शरीर ही एक ऐसा है, जो दैवी चेतना के अनुरूप कोई क्रिया-प्रक्रिया कर सकने में समर्थ है । अन्य प्राणियों की शरीर-संरचना और बुद्धि-चेतना ऐसी नहीं है, जो उच्चस्तरीय प्रयोजनों को सम्पन्न करने में काम आ सके । अन्य प्राणी तो अपना शरीर-पोषण, वंश-वृद्धि, आक्रमण-प्रत्याक्रमण जैसे छोटे-छोटे कार्य ही सम्पन्न कर सकते हैं । इसी छोटी परिधि में वे जीवित रहते और

मरते है । मात्र मनुष्य शरीर ही एक ऐसा है, जो स्थूल और सूक्ष्म जगत का संचालन करने वाली परब्रह्म सत्ता की किसी इच्छा या अपेक्षा मे योगदान दे सके, उसकी इच्छानुसार कुछ निर्माण या परिवर्तन कर सकने में समर्थ हो सके ।

इस स्तर के मनुष्यों को देवात्मा कहते है । उनमे मानवी संरचना का समावेश तो होता ही है । इसके अतिरिक्त परब्रह्म की आशा एव योजना के अनुरूप आवश्यक प्रयोजन पूरे करने मे भी समर्थ होते हैं । ऐसी विशेष क्षमता सम्पन्न मनुष्यों में से जो उच्चस्तरीय समन्वित सृजनात्मक प्रयोजन पूरे कर सकने मे समर्थ होते हैं, उन्हें देवमानव कहते है । देवात्मा, दिव्य मानव अथवा सिद्ध पुरुष जैसे नामो से उन्हे ही जाना जाता है । ईश्वरीय इच्छाओं की पूर्ति के लिए उन्हीं के शरीर एवं मानस का प्रयोग होता रहता है । ऐसे ही लोगों को अवतार, देवदूत आदि नामो से भी संबोधित किया जाता है । ऐसी विशिष्ट आत्मायें मनुष्य शरीर मे ही अवतरित होती है । अवतारों की शृंखला मे विकसित विश्व में यह कार्य मनुष्यों द्वारा ही सम्पन्न होता है । जब तक मानव की सृष्टि नहीं हुई थी, तब तक यह कार्य मत्स्य, कच्छप, वाराह, नृसिंह आदि योनियों द्वारा भी पूरा होता रहा है, पर जब विकास क्रम मे मनुष्य स्तर की पूर्णता प्राप्त हो गयी, तो फिर परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध आदि जैसे अवतारी पुरुष द्वारा ही भगवान अपने सामयिक अभीष्ट प्रयोजन ऐसे ही शरीर से करते रहे हैं ।

ऋषि स्तर की आत्मायें भी यही प्रयोजन पूरा करती है । जिन दिनो पृथ्वी पर सतयुग का वातावरण था, उन दिनों सृष्टि संतुलन की अनेकानेक महत्वपूर्ण प्रक्रिया ऋषि स्तर के समर्थ व्यक्तित्वों द्वारा सम्पन्न होती रही है ।

इन दिनों असामान्य समय है । असंतुलन का बोलबाला है । मनुष्य का चिन्तन, चरित्र और व्यवहार ऐसा कुछ विचित्र बन पड़ा है, जिसे मानवी गरिमा और मर्यादा के प्रतिकूल ही कहा जा सकता है। सभी जानते है कि दुष्प्रयोजनों के भटकाव में विभ्रान्त हो जाने पर जो कुछ करते बन पड़ता है, वह समस्त संसार के लिए अनुपम और अनिष्टकारी होता है । सीधे रास्ते राजमार्ग पर चलने वाले ही यात्रा, सफलता और सरलतापूर्वक सम्पन्न करते है, किन्तु जो कटीली झाड़ियो में भटक जाते है, वे ऊबड़-खाबड़, खाई-खड्ड वाले टेढ़े-मेढे जाल-जंजाल मे भटकते है, उन्हें अनेक प्रकार के त्रास सहने पडते है । ऐसे

ही समय को दैत्य युग कहते हैं । जब असुरता यढ़ तो हर किसी के लिए विपत्रता खड़ी हो जाती है, समस उपजती, गुत्थियाँ उलझती, कठिनाइयाँ खड़ी होती विपत्रताओं की घटायें चढ़ दौड़ती है । इन दिनों जिधर दृष्टि पसार कर देखा जाय, उधर ही प्रतीत होता है अव्यवस्था और अस्त-व्यस्तता ही उपजती और बढ़त देखी जाती है । वैयक्तिक और सामूहिक जीवन अशान्त और अस्त-व्यस्तता से ही घिरता जा रहा है और प्रतीत होता है कि हम सब अशुभ एवं अप्रिय की ओर चल रहे है । अनर्थ को आमंत्रित कर रहे हैं । कई बार तो ऐसा लगने लगता है कि हम सब कहीं सामूहिक आत्महत्या की ओर तो नहीं बढ़ रहे है, महाप्रलय जैसी परिस्थितियो को आमंत्रित तो नहीं कर रहे हैं । प्रदूषण, संघर्ष, विद्वेष, अभाव, दरिद्रता जैसे पिछड़ेपन की परिस्थितियाँ तो दौड़ती नहीं चली आ रही हैं ।

संसार में ऐसी विपत्रताएँ अनेक बार आती रही है और अब लगता है कि वही महाविनाश तो कहीं निकट नहीं आ रहा है । ऐसी परिस्थितियों में सामान्य मनुष्य आवश्यक सुधार कर सकने में समर्थ नहीं हो पाते । स्रष्टा का ऐसे ही अवसरों के लिए उवाच है कि "जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की अभिवृद्धि होती है, तब-तब वे अपना प्रतिनिधि भेजकर असंतुलन को संतुलन में बदलते हैं ।"

पतनोन्मुख प्रवृत्ति होने के कारण मनुष्य दुष्कर्म तो अपनी इच्छापूर्वक कर लेता है । सब ओर छाये हुए कुसंस्कार अपने स्तर की शिक्षा हर किसी को देते रहते है। अतएव दुष्प्रवृत्तियों की ओर रुझान सहज ही होता है । कुकर्म भी बिना किसी प्रयत्न के अपने आप ही बन पड़ते हैं । गिरने-गिराने के लिए कोई अतिरिक्त प्रयत्न नहीं करना पड़ता है । यह सब स्वाभाविक रूप से चलता रहता है। परिश्रम ऊँचे उठाने और उठने में करना पड़ता है । अपने से नही बन पड़ता तो दूसरों से सहायता लेनी पड़ती है। विशेषतया जब कभी उत्कृष्ट आदर्शवादिता अपनाने और वैसा कुछ करने के लिए सौभाग्य से ही बन पड़ता है । उसमें दैवी सहायता का योगदान सम्मिलित होना एक प्रकार से आवश्यक या अनिवार्य बन जाता है । नेकी और भलाई अपनाने या दूसरो को सही दिशा मे अग्रसर करने के लिए दिव्य चेतना की परमात्म सत्ता की इच्छा, प्रेरणा और सहायता की अनिवार्य रूप से आवश्यकता है । जिनके कधो पर उच्चस्तरीय दायित्व है और बिना व्यवधान के

निभ भी जाते हैं, उन्हें सौभाग्यशाली दिव्य चेतना के कृपा पात्र ही समझना चाहिए। ऐसे कहीं कोई विरले ही मिलते हैं, जिन्हें इसके लिए चयन किया जाय, उन्हें विशेष रूप से दैवी अनुकम्पा का पात्र समझना चाहिए।

अगले दिन ऊँचे उठने और उठाने के हैं। उसमें जिनकी भूमिका हो सकती है, उन्हें देवदूत की गणना में सम्मिलित किया जाना चाहिए। यों ऐसे होते तो कम हैं, पर उसमें उनके निजी विवेक के अतिरिक्त ईश्वरीय अनुग्रह भी सम्मिलित होता है। इस समन्वय से उनकी शक्ति का पारावार नहीं रहता। इतनी शक्ति हाथ में हो तो श्रेय मिलने में कठिनाई नहीं पड़ती। भावना में प्रखरता हो, तो परिस्थितियाँ दुर्बल होते हुए भी सफलता का सुयोग बन पड़ता है। जो भगवान के प्रवाह से जुड़ने का प्रयत्न करते है, उनके साथ भगवान भी गज और ग्राह जैसी भूमिका निभाने के लिए स्वयं दौड़ आते हैं।

उठाने वाले के साथ जुड़ें

इन दिनों नव निर्माण प्रयोजन भगवान की प्रेरणा और उनके मार्गदर्शन मे चल रहा है। उसे एक तीव्र सरिता प्रवाह मान कर चलना चाहिए, जिसकी धारा का आश्रय पकड़ लेने के बाद कोई कहीं से कहीं पहुँच सकता है। तूफान के साथ उड़ने वाले पत्ते भी सहज ही आसमान चूमने लगते हैं। ऊँचे पेड़ का आसरा लेकर दुबली बेल भी उतनी ही ऊँची चढ़ जाती है जितना कि वह पेड़ होता है। 'नव निर्माण' महाकाल की योजना एवं प्रेरणा है। उसका विस्तार तो उतना होना ही है, जितना कि उसके सूत्र-संचालक ने निर्धारित कर रखी है। इस विश्वास को जमा लेने पर अन्य सारी समस्याएँ सरल हो जाती है। नव निर्माण का कार्य ऐसा नही है, जिसके लिए कि घर-गृहस्थी, काम-धन्धा छोड़कर पूरा समय साधु-बाबाजियों की तरह लगाना पड़े। यह कार्य ऐसा है, जिसके लिए दो घंटे नित्य लगाते रहने भर से असाधारण प्रगति संभव है। लगन हो तो कुछ घंटे ही परमार्थ प्रयोजन में लगा देने भर से, इतना अधिक परिणाम सामने आ उपस्थित हो सकता है, जिसे आदरणीय, अनुकरणीय और अभिनन्दनीय कहा जा सके।

इस युग धर्म के निर्वाह के लिए अपने परिवार को प्रेरित किया जा रहा है। आरंभ में विचार था अपने परिजनों के बलबूते ही सन् २००० में होने वाली पूर्णाहुति में एक करोड़ भागीदार बनाये जा सकेंगे। किन्तु परिजनों का उत्साह तथा समय की महत्ता और आवश्यकता देखते हुए गतिचक्र को दूना बढ़ा दिया गया है। अब पाँच-पाँच वर्ष में दो पूर्णाहुतियाँ होंगी; एक सन् १९९५ मे, दूसरी सन् २००० में। इन दोनों में एक-एक लाख वेदीयों के यज्ञ होंगे। इसी प्रकार एक करोड़ याजक इसमें सम्मिलित होंगे। लोगों के अन्तराल में जिस क्रम से उत्साह उभरा है, उसे देखते हुए प्रतीत होता है कि जितना संकल्प किया गया है, उससे कई गुनी गति बढेगी और लक्ष्य से कहीं अधिक आगे पहुँचेंगे।

यह मात्र कल्पना नहीं है। दिव्य संरक्षण में सक्रिय होने वाला उत्साह बूँद-बूँद से सागर की उपमा चरितार्थ करता है। अपने वर्तमान पाँच लाख परिजनों में से, एक लाख जीवन्त-वरिष्ठों को अग्रदूतों की भूमिका के लिए छाँटा जा रहा है। उन्हें एक हल्का सा काम सौंपा गया है। वे प्रतिदिन पाँच दस परिचितों को नव प्रकाशित इक्कीसवीं सदी सम्बन्धी पुस्तकें एक-एक करके पढ़ायें-सुनाये। घंटे दो घंटे समयदान देने वाले के लिए यह कार्य बहुत आसान है।

यदि औसतन १० दिनों में न्यूनतम ५ व्यक्तियों को भी यह सैट पढ़ाया जाय, तो एक माह में १५ तथा एक वर्ष में १८० व्यक्तियों तक एक ही परिजन नव चेतना का संदेह पहुँचा सकता है। इस प्रकार पाँच वर्ष में यह संख्या ९०० हो जायेगी। इस क्रम से एक लाख परिजनों द्वारा, पाँच वर्ष में ९ करोड़ व्यक्तियों को युग चेतना से अनुप्राणित किया जा सकेगा। यह संख्या आश्चर्यजनक लगती है- पर यह न्यूनतम के आँकड़े हैं। नैष्ठिक पुरुषार्थी १० दिन में १० व्यक्तियों को भी पढ़ा सुना सकता है। तब यह संख्या दो गुनी हो जायेगी—अर्थात् पाँच वर्ष में १८ करोड़। अगले पाँच वर्ष मे नैष्ठिकों की संख्या बढ़ेगी ही अस्तु उस पाँच वर्षीय पुरुषार्थ से और भी अधिक लोगों को अनुप्राणित किया जा सकेगा। सफलता का प्रतिशत कितना भी घटे, हर पाँच वर्ष में करोड़-दो करोड़ भागीदार खड़े कर लेना जरा भी कठिन नहीं है।

इस सम्बद्ध परिकर को दैनिक जीवन में कई काम सुपुर्द किये गये हैं। इनमें से एक है १०८ बार गायत्री मंत्र का जाप। उतने ही समय तक प्रातः कालीन सूर्योदय का ध्यान जिसमें अनुभव करना कि यह तेजस् अपने कण-कण मे, रोम-रोम में समाविष्ट होकर समूची काया को ओजस्वी, तेजस्वी और वर्चस्वी बना रहा है। यह अनुभव साधक के उत्साह एवं साहस को कई गुना बढ़ा देता है।

इसी साधना का एक पक्ष यह है कि उद्गम केन्द्र शान्तिकुञ्ज की एक मानसिक परिक्रमा लगा ली जाय और विगत ६५ वर्ष से अखण्ड लौ में जल रहे दीपक के समीप बैठकर उससे निःसृत होने वाली प्राण चेतना का अपने में अवधारण करते रहा जाय।

विचार क्रान्ति-ज्ञान यज्ञ है, इसका हर दिन अवगाहन किया जाय। इक्कीसवीं सदी संबंधी जो पुस्तकें हैं, जो इन दिनों छपती जा रही हैं, उप क्रम में हर महीने छः पुस्तकें छापने की योजना है। बीस पैसा नित्य का अंशदान निकालते रहने पर एक महीने में छः रुपये की राशि जमा हो जाती है। इसी पैसे से हर महीने का नया प्रकाशन एक लाख पाठकों को मिलता रहेगा। इन्हें एक से लेकर दस तक को पढ़ा देना या सुना देना ऐसा कठिन काम नहीं है, जिसे कि दो घंटे समयदान करने वाला पूरा न कर सके। यह पढ़ाने या सुनाने का क्रम नियमित रूप से चलता रहे, तो एक वर्ष में ही वह संख्या पूरी हो सकती है, जो पाँच वर्ष के लिए निर्धारित की गयी है। 'अधिकस्य अधिकं फलम्' की सूक्ति के अनुसार, युग चेतना का स्वरूप जितने अधिक लोग समझ सकें, हृदयंगम कर सकें और व्यवहारिक जीवन में उतार सकें, उतना ही उत्तम है।

सन् ९० की बसंत पंचमी से यह ज्ञान यज्ञ आरम्भ किया जा रहा है। सन् ९५ में इस महायज्ञ को अर्ध पूर्णाहुति होगी। उस निमित्त एक लाख वेदियों के यज्ञ बसंत पंचमी में सम्पन्न हो जायेंगे। इस प्रकार एक लाख दीप यज्ञ और एक करोड़ के ज्ञान-यज्ञ का, जप-यज्ञ का संकल्प तब तक भली प्रकार पूरा हो जायेगा।

यह प्रथम पाँच वर्ष की योजना हुई। सन् २००० में अभी पाँच वर्ष शेष हैं। इस अवधि में पाँच वर्ष का एक खण्ड पूरे हो जायेगा। एक लाख दीप यज्ञ और एक करोड़ ज्ञान यज्ञ सरलता से पूरे हो सकेंगे। वर्तमान परिजनों की बढ़ी हुई संख्या और उमंग को देखते हुए प्रतिफल उससे ज्यादा ही होने की संभावना है।

उपरोक्त बात क्रियाकृत्य से संबन्धित रही। निर्धारणों को जीवन में उतारने का प्रतिफल तो और भी अधिक प्रभावकारी होगा। शारीरिक स्फूर्ति, मानसिक उल्लास और भावनात्मक संवेदना की योग साधना हर किसी को नित्य-नियम के रूप में करनी होगी। मितव्ययता का अभ्यास और बचे हुए समय तथा पैसे को जीवनचर्या में युग चेतना का समावेश करने के क्रम में लगाये रहने वाला पुण्यात्मा और अधिक धर्मपरायण बनता चला जायेगा। जलता हुआ दीपक दूसरे बुझे दीपकों को जलाता है। एक लाख से आरंभ हुआ युग चेतना अभियान, पाँच-पाँच वर्षों में करोड़ों को अपने प्रभाव से प्रभावित कर डाले तो उसे कुछ भी असाधारण नहीं मानना चाहिए। यह क्रम आगे भी बढ़ता रहे, तो वह दिन दूर नहीं, जब समूची मनुष्य जाति इस प्रभाव क्षेत्र में होगी, प्रगतिशीलता का माहौल बनता दीख पड़ेगा, मानवी गरिमा के अनुरूप उत्कृष्ट आदर्शवादिता अपनाते हुए जन-जन दिखाई देंगे।

पिछली एक शताब्दी में कुविचारों और कुकर्मों की बाढ़ जैसी आ गयी। लोग भ्रष्ट चिन्तन और दुष्ट कर्मों के अभ्यासी बनने लगे। पतन का क्रम कहाँ से कहाँ जा पहुँचा? लोग गिरने और गिराने में प्रतिस्पर्धा मानने लगे। इसी प्रवाह को यदि उलट दिया जाय तो अगली एक शताब्दी में सदाशयता की उत्साहवर्धक अभिवृद्धि भी हो सकती है। गिरने और गिराने वाले यदि अपनी गतिविधियों को उलटकर उठने और उठाने में लगा दें तो उज्ज्वल भविष्य की संभावनाओं को मूर्तिमान बनने में कुछ भी संदेह न रह जायेगा।

मर्यादा पुरुषोत्तम-श्रीराम

"भगवान् का अवतार सृष्टि संतुलन के साथ-साथ लोक शिक्षण के लिए होता है। जड़ और चेतन के समन्वय से ही यह सृष्टि भी बनी है और मानवी सत्ता भी। शरीर जड़ और आत्मा-चेतन दोनों का ही पोषण अभीष्ट है। शरीर को अन्न, वस्त्र की और चेतना को आदर्शवादी उत्कृष्टता की आवश्यकता होती है। अन्न, वस्त्र की आवश्यकता जुटाने के लिए उपार्जनात्मक श्रम होना चाहिए और आत्मा को पोषण देने के लिए परमार्थ पुरुषार्थ किया जाना चाहिए। शरीर तुच्छ है उसकी आवश्यकताएँ भी इतनी हैं जो थोड़े से श्रम से पूरी हो सकती है। आत्मा महान है विस्तार के अनुरूप उसे पोषण भी अधिक चाहिए। इसलिए सन्तुलित जीवन में शरीर साधन जुटाने की तुलना में आत्मिक उपलब्धियों में रुचि और तत्परता का अनुपात बढ़ा-चढ़ा होना चाहिए। यही है सन्तुलित जीवन नीति। इसे धारण किये रहने से मानव जीवन की सुख समृद्धि स्थिर रह सकती है और लक्ष्य की दिशा में प्रगतिशीलता बनी रह सकती है।

असंतुलन तब बनता है, जब शरीर ही सब कुछ व आत्मा कुछ नहीं की नीति अपनाई जाती है। इसी अदूरदर्शिता को माया कहते हैं। जब इन्द्रिय सुखो को

प्रधानता मिलती है और वासना को पूजा होती है, जब अहंता का गर्व पोसा जाता है तो तृष्णा का वर्चस्व बढ़ता है । इसी अदूरदर्शिता में फँसे प्राणी लोभ और मोह के भवबन्धनों में बँधते हैं और कर्तव्य का राजमार्ग छोड़कर उपभोग और संग्रह के मोह में भटकते हैं । जीवन के असन्तुलन का बिन्दु यही है । सामान्य भटकन तक तो जीवन का स्वरूप नरपशु जैसा रहता है । उसका प्रयास पेट और प्रजनन तक सीमाबद्ध रहता है, पर जब भटकन मृगतृष्णा जैसी प्रचण्ड हो उठती है तो मनुष्य कुकर्म करने पर उतारू हो जाता है। मर्यादाओं के उल्लंघन में निरत शोषण, उत्पीड़न, अपहरण और आतंक की स्थिति को पहुँची हुई मनःस्थिति को असुरता कहते है । असुरताग्रस्त मनुष्यों को असुर कहते हैं । उनकी संख्या और आतंकवादिता बढ़ती है तो समाज की सुव्यवस्था छिन्न भिन्न हो जाती है और सर्वत्र हाहाकार मच जाता है । उस स्थिति में न व्यक्ति को सुख मिलता है न समाज को शान्ति ।

ऐसा असन्तुलन जब भी उत्पन्न होता है तो सृष्टि कर्ता की दिव्य चेतना सन्तुलन समर्थक तूफान के रूप में प्रकट होती है । यही अवतार है । अवतार को एक अवाँछनीयता विरोधी सुधारात्मक अन्धड़ कह सकते हैं । उसे देव समर्थक एवं असुर विरोधी अभियान आन्दोलन भी कह सकते हैं । सृष्टि के अन्तराल में ऐसे तूफान समय-समय पर प्रकट होते रहते हैं जिनका उद्देश्य असन्तुलन का निराकरण एवं अधर्म का समाधान करना होता है । इन अभियानों का नेतृत्व करने वाले अवतारी महामानव कहलाते हैं । नेतृत्व करने वाले को श्रेय मिलना स्वाभाविक है । इतिहासकार राजाओं एवं सेनापतियो की विजय पराजय का उल्लेख करते हैं जबकि यथार्थतः युद्ध में प्राण होमने वाले कट-कटकर मरने वाले बहुसंख्यक सैनिकों ने ही उस विजय पराजय की भूमिका बनाई होती है । राजा और सेनापति तो सूत्र संचालन का उत्तरदायित्व निबाहने के कारण ही श्रेयाधिकारी बनते हैं ।

मानव समाज में असुरता की वृद्धि तब होती है जब जन मानस में व्यक्तिवाद को, वासना तृष्णा को, लोभ मोह को प्रमुखता मिलती है और उत्कृष्ट आदर्शवाद की अपेक्षा अवज्ञा होने लगती है । स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में न मनुष्य सुखी रहेगा और न समाज में स्थिरता रहेगी । यह असन्तुलन सृष्टिकर्त्ता को अभीष्ट नहीं । उन्हें असुरता पर अंकुश लगाने और उपेक्षित देवत्व को प्रखर बनाने के लिए सूक्ष्म जगत से एक तूफानी चेतना प्रवाह प्रेरित करना पड़ता है । उसका नेतृत्व ऐसे महामानव सम्हालते हैं जो जनमानस में सुधारात्मक चेतना उत्पन्न करने की ईश्वरीय इच्छा को पूर्ण करने के लिए अपने चरित्र को माध्यम बना सकें ।

यदि केवल वाणी से ही कार्य हो जाये तब तो उसे कोई भी कर ले, किन्तु आचरण के माध्यम से शिक्षण के लिए तो श्रेष्ठ व्यक्तित्व सम्पन्न महामानव ही सफल होते हैं । इस तथ्य को सन्त तुलसीदास जी ने इस प्रकार कहा है :-

पर उपदेश कुशल बहुतेरे, जे आचरहिं ते नर न घनेरे ॥

वाणी से उपदेश तो कोई भी कर सकता है । शैतान भी बाइबिल सुनाया करता था । रावण भी वेद ज्ञानी था । ऐसों के द्वारा किये गये लोकशिक्षण सदा उपहासास्पद बनते है और असफल बनकर रह जाते है । अन्तःकरण पर उत्कृष्टता अपनाने की छाप छोड़ना तो अनुकरणीय चरित्र के माध्यम से ही सम्भव होता है । अवतारी महामानव लोकचेतना उत्पन्न करते हैं उनकी शिक्षण पद्धति अपने आदर्श चरित्र का प्रत्यक्ष स्वरूप प्रस्तुत करते हुए लीला क्षेत्र में उतरती है ।

भगवान लीला करने आते हैं । इस उक्ति का तात्पर्य यह है कि युग पुरुषों का चरित्र ऐसा होता है जो जन-साधारण में आदर्शवादी अनुकरण का साहस उत्पन्न कर सके । परिवर्तन तो लोक चेतना का ही करना होता है। अवाँछनीयता तो उसी में उत्पन्न होती है । उसकी सड़न के छोटे बड़े विस्फोट अमुक नाम के प्रतिभाशाली कुकर्मियों के रूप में देखे जाते है वस्तुतः यह चेचक रक्त की व्यापक अशुद्धि की ही प्रतिक्रिया होती है । वातावरण में अवाँछनीयता भर जाने से ही आये दिन नई-नई आकृति प्रकृति के नये-नये नाम रूप मे असुर प्रकट होते हैं । भगवान की लीलाओं में अमुक असुर को मारने के घटनाक्रम जुड़े रहते हैं । यहाँ मारने का तात्पर्य पराजित करने से है । आवश्यक नहीं कि हर असुर का प्राणहरण करना पड़े । असुरता का प्राणहरण करने से भी काम चल जाता है । अवतार कुछ को तो मारता भी है पर अधिकतर तो उसे तुच्छता और निष्कृष्टता को निरस्त करके उस स्थान पर महानता की स्थापना करनी होती है । इन्हीं सब क्रिया कलापों को अवतारों की लीला कहते है । इन लीलाओं का प्रभाव तात्कालिक समस्याओं का समाधान तो करता ही है साथ ही उस मार्गदर्शन का प्रभाव चिरकाल तक भी बना रहता है। उस आलोक में कितनी ही पीढ़ियों के लोग

अपनी असुरता का निराकरण और देवत्व का अभिवर्धन करने में स्वयमेव ही लगे रहते है ।

भगवान के जन्म के साथ इन सब उद्देश्यों के जुड़े होने के तथ्य की घोषणा करते हुए रामचरित मानस में लिखा है :-

असुर मारि थापहिं सुरन्ह, राखहिं निज श्रुति सेतु ।
जग विस्तारहिं विपद जस, राम जनम कर हेतु ॥

अवतारी पुरुषों के साथ उनके महान कार्य मे सहयोग देने के लिए विकसित आत्मायें—देवात्मायें भी अवतरित होती हैं । देवात्माओं के मानव जन्म का एक ही उद्देश्य होता है—अधर्म नाश और धर्म स्थापना के ईश्वरीय प्रयोजन मे सहायता करना । भगवान के अवतार की प्रार्थना करने के लिए एकत्रित देवताओं को ब्रह्माजी द्वारा यह आदेश दिया गया था कि वे भी अवतार लें और अवतार के कार्यों में सहायक बनें ।

निज लोकहिं विरंचि गे देवन्ह इहइ सिखाय ।
बानर तनु धरि धरि महि, हरिपद सेवहु जाय ॥

भगवान के अवतार के साथ जुडे लीला प्रसंगों में ऐसे दिव्यात्मा पुरुषों के प्रसंग भी अनिवार्य रूप से सम्मिलित रहते हैं और भगवद् भक्त कहलाने वालो को कैसा जीवन अपनाना चाहिये यह बोध कराते है ।

भगवान की लीलाओं का कथन और श्रवण पुण्य फलदायक माना गया है । पुराणों में प्रधानतया अवतारों की कथाओं का ही वर्णन है । उन्हें सुनने और सुनाने का माहात्म्य अति आकर्षक रूप से आलंकारिक भाषा में गाया बताया जाता है । यह इसलिए कि उसमें लोकरुचि उत्पन्न हो । अवतारों की संख्या भारत में २४ गिनी जाती है । इन चौबीस अवतारों में भगवान राम और भगवान कृष्ण की चर्चा अधिक होती है । वे नवीनतम भी है और उनकी चरित्र चित्रण में मनुष्य जाति के समस्त वर्तमान समस्याओं का समाधान अधिक है । रामायण में रामचरित्र और भागवत में कृष्णचरित्र का वर्णन है । तुलसीकृत रामचरित मानस का प्रचलन अधिक है पर उसका उद्गम वाल्मीकि रामायण है । इसी प्रकार कथाएँ तो अधिक होती हैं पर उसके प्रसंग महाभारत से लिये गये हैं । अपनी बहु प्रचलित गीता स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं हैं । महाभारत के अधिक उपयोगी १८ अध्यायों का पृथक संकलन है। रामायण भागवत के कथा आयोजनों का उद्देश्य भगवान राम और कृष्ण के चरित्र द्वारा लोक शिक्षण के इस प्रयोजन की पूर्ति करता है जिससे अधर्म का, असुरता का विनाश एवं धर्म का, देवत्व का अभिवर्धन होता है ।

कथाओं के अतिरिक्त दृश्य अभिनय के रूप में उन प्रसंगों को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए रामलीला, कृष्णलीला आदि के आयोजन समारोह भी होते रहते हैं। संवाद के रूप में कथा और अभिनय के रूप में लीला होती है उनका मूल उद्देश्य एक ही है । जन मानस में पशु-प्रवृत्तियों की मात्रा बढ़ जाने से उत्पन्न हुई अवांछनीयता ही समस्त कठिनाइयों और विपत्तियों का एकमात्र कारण होती है । स्वार्थपरता पर अंकुश और परमार्थ परायणता में उत्साह उत्पन्न करके ही व्यक्ति की गरिमा और समाज की महिमा को जीवन्त रखा जा सकता है । भगवान के चरित्रो द्वारा यह प्रकाश उपलब्ध किया जाता है ।

भगवान का अवतार उनकी प्रतिज्ञानुसार अधर्म के शमन और धर्म के अभिवर्धन के लिए होता है । व्यक्तिगत क्षेत्र में यदि अपनी भीतरी और बाहरी दुर्बलताओं और दुष्प्रवृत्तियों के विरुद्ध आन्तरिक विद्रोह उत्पन्न हो गया है और निकृष्टता को उत्कृष्टता में परिवर्तित करने का प्रबल प्रयास चल पड़ा तो समझना चाहिए उस व्यक्ति में ईश्वरीय अवतरण की पुण्य प्रक्रिया चल पड़ी ।

[illegible]

तो समझना चाहिए कि इस चेतना के पीछे ईश्वरीय प्रेरणा काम कर रही है । जो अभियान अनौचित्य के उन्मूलन में कटिबद्ध और औचित्य की प्रतिष्ठापना में तत्पर दिखाई पड़े उसे ईश्वरीय इच्छा का प्राकट्य समझा जा सकता है और उसके पीछे ईश्वर का अवतरण झाँकता अनुभव किया जा सकता है ।

भगवान व्यक्ति नहीं शक्ति है । इसलिए उनके अवतरण भी उस प्रचण्ड चेतना के रूप में होते हैं जो सामान्यतया अति कठिन समझे जाने वाले अधर्म समर्थक असुर प्रवाह को रोकने की प्रखरता के रूप में होते है । यह अवतार व्यक्ति के भीतर व्यक्तित्व को उत्कृष्ट बनाने के लिए और समष्टि के भीतर व्यापक वातावरण को परिष्कृत करने के लिए लोक चेतना के रूप होते है । अन्य सभी अवतारों की तरह राम का अवतार भी तत्कालीन परिस्थितियों में घुसे हुए अनाचार का उन्मूलन करके स्वस्थ परम्पराएँ स्थापित करने के लिए हुआ था । यदि राम का अवतार किसी भक्त के अन्तःकरण में होगा तो वहाँ भी मनःस्थिति में समुद्र मन्थन चल पड़ेगा और उसके

फलस्वरूप उत्कृष्ट गुण, कर्म, स्वभाव की चौदह अथवा असंख्य विभूतियाँ उपलब्ध होती चली जा रही होगी।

राम अवतार को यदि इसी दृष्टि से देखा जाय और राम भक्ति का यही अर्थ लिया जाय तो लक्ष्य की वास्तविकता समझने में हम समर्थ हो सकते हैं। राम कथा श्रवण और रामलीला आयोजन का यदि उत्कृष्टता वादी अभियान के लिए प्रोत्साहन एवं मार्ग दर्शन प्राप्त करना समझा जा सके तो ही हमारी ईश्वर भक्ति अवतार चर्चा सार्थक मानी जा सकती है।

भगवान राम का जैसी दिव्य आत्मा के अवतरण का प्रथम प्रयास उनके जन्मदाताओं को करना पड़ा था। स्वायम्भू मनु और उनकी पत्नी शतरूपा ने विचारा कि विश्वमानव को अपनी श्रद्धाञ्जली सुसन्तति के रूप में देकर प्रजनन की सार्थकता सिद्ध करनी चाहिए। जानते थे कि संतान अभिभावकों की अनुभूति मात्र होती है। ठप्पे में ढालकर गीली मिट्टी के खिलौने बनते है। अभिभावकों के आत्मिक मानसिक एवं शारीरिक स्थिति ही बालकों में स्थानान्तरित होती है। अस्तु सुसन्तति का निर्माण अभिभावकों को अपने व्यक्तित्वो का परिष्कार करने के रूप में प्रारम्भ करना चाहिए। तपश्चर्या सर्वतोमुखी आत्म परिष्कार का ही नाम है। मनु और शतरूपा ने यही प्रयत्न चिरकाल तक किया और आत्मशोधन के लिए कष्टसाध्य गतिविधियाँ अपनाई। इसी का प्रतिफल था कि वे दशरथ और कौशिल्या बने और राम जैसी अवतारी आत्मा को अपनी गोदी में खिलाकर प्रजनन के कष्ट सहन को सार्थक सिद्ध कर सके।

राम जन्म से पूर्व यज्ञीय वातावरण बनाया गया था। पुत्रेष्टि यज्ञ से राम जनम होने की कथा सर्वविदित है। बच्चों को सुसंस्कारी वातावरण में रखे जाने पर ही उनके परिष्कृत व्यक्तित्व की अपेक्षा की जा सकती है। बालकों का निर्माण स्कूलों में नहीं घर की पाठशाला में ही होता है। यहाँ का वातावरण उनके चरित्र गुणों का आधार बनता है। यज्ञ प्रक्रिया में यज्ञीय वातावरण बनाये जाने का निर्देश है। रानियों ने यज्ञ—चरु सेवन किया था और राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न जैसी संतानों को जन्म दिया था।

ईमानदारी की कमाई यज्ञ—चरु के समान पवित्र होती है। अभक्ष्य से दुष्ट मन की उत्पत्ति होने की बात सर्व विदित है। तमोगुणी अभक्ष्य का यज्ञीय घर में प्रचलन रहेगा तो वहाँ के लोगों की मन:स्थिति में असुरता भरी रहेगी और उस प्रभाव को लेकर उत्पन्न हुए बच्चे श्रवण कुमार नहीं हो सकते। वे असुरता की विरासत जन्मजात रूप से लेकर उत्पन्न होंगे और अभिभावकों समेत पूरे परिवार और समाज को त्रास देंगे। सुसन्तति के निर्माण में अभिभावकों की तपस्वी जैसी चरित्रनिष्ठा—आदर्श वादी वातावरण और सतोगुणी आहार विहार की—त्रिविधि आवश्यकताएँ समझी जा सके तो उन्हें जुटाने का समुचित प्रयत्न किया जा सके तो हर परिवार नररत्नों की खदान बन सकता है और वहाँ जन्मे पले बालक-महामानवों की पंक्ति में बैठ सकने योग्य बन सकते हैं। शकुन्तला, मदालसा, सीता, जीजाबाई, कुन्ती, सुभद्रा, आदि ने ऐसे ही साधन जुटाकर सुसंतति को जन्म देने का श्रेय प्राप्त किया था। सर्वविदित है कि विनोबा की माता ने अपने तीनों पुत्रों को ब्रह्मज्ञानी बनाने का श्रेय प्राप्त किया है।

अभिभावकों की कृति और प्रकृति के अनुरूप ही संतान बनती है। जिस स्तर की संतान अपेक्षित हो उसके अनुरूप पहले माता-पिता को वैसा बनना चाहिए। जनक और दशरथ को श्रेष्ठ संतानें आत्म निर्माण के अनुरूप ही प्राप्त हुई थी।

जनक सुकृत मूरति वैदेही। दशरथ सुकृत राम धरे देही॥

बच्चों की शिक्षा व्यवस्था प्रेरणाप्रद वातावरण में होनी चाहिए शिक्षक और किशोरावस्था में ही संस्कारों का बीजारोपण होते हैं। प्रौढ़ावस्था में तो वे परिपक्व भर होते रहते हैं। अबोध बालक का पालन तो घर के वातावरण में ही होता है पर बड़े होने पर उन्हें विद्यालयों का आश्रय लेकर ज्ञान वृद्धि करनी पड़ती है। बच्चे क्या पढ़ते है इससे भी अधिक महत्वपूर्ण यह है कि वे कहाँ पढ़ते हैं? वहाँ का वातावरण कैसा है? प्राचीन काल में गुरुकुलों के तपस्वी वातावरण में बालकों का प्रशिक्षण होता था। भगवान राम की प्रतिभा का विकास विश्वामित्र के आश्रम में हो सका। वे मात्र किताबें ही नहीं घोटते रहे वरन् व्यक्तित्व के लिए विकास के नितान्त आवश्यक सत्प्रयोजनों के लिए प्रचण्ड साहस का अभ्यास भी उन्होंने महर्षि की छत्रछाया में रहकर ही सम्पन्न किया। गणित, भूगोल, इतिहास, साहित्य आदि भी पढ़ा साथ ही असुरता से जूझने की साहसिकता भी हृदयङ्गम की जाती रही। ताड़का, सुबाहु, मारीच जैसे दुर्दान्त दुष्टों के साथ जूझने से खतरे की आशंका अनुभव नहीं की गई वरन् महगे मोल मिलने वाली साहसिक प्रखरता को खरीदने में छात्रों ने, अध्यापकों ने, अभिभावकों ने किसी प्रकार का संकोच नहीं किया। प्रतिभाशाली व्यक्तित्वों के निर्माण में शिक्षा,

पद्धति में इस प्रकार के साहसिक तत्वों का समावेश होना भी अपेक्षित है ।

उदार सहकारिता की शिक्षा मार्गदर्शन बाल्यकाल से ही होना चाहिए । गेंद खेलते समय बड़े होने पर भी राम जीतने का श्रेय नहीं लेना चाहते वरन् उपक्रम यह करते है कि भरत जीते और उत्साह प्राप्त करें । जब अयोध्या में कैकेयी की दुर्बुद्धि के कारण विग्रह खड़ा हो जाता है तो भरत जी श्रीराम की उसी रीति-नीति का स्मरण करके प्रेरणा प्राप्त करते है । वे कहते है :-

मैं प्रभुकृपा रीति जिय जोही, हारेहु खेल जितावहिं मोही॥

घटना की दृष्टि से ऐसे प्रसंग महत्वहीन माने जा सकते है, किन्तु पारस्परिक सद्भाव के विकास में इस प्रकार की मनोवृत्ति को जितना सराहा जाय उतना ही कम है । आगे चलकर यही प्रवृत्ति राम परिवार के चारो भाईयों में विकसित हुई और वे एक दूसरे का उदार सहयोग करने के लिए स्वयं कष्ट सहने का बढ़ा चढ़ा आदर्श उपस्थित करते रहे । राज्य लेने के प्रसंग मे राम और भरत दोनों—मेरे लिए नहीं आपके लिए की नीति अपनाते है । लक्ष्मण को बनवास नहीं हुआ था पर वे भी आदर्श भ्रातृप्रेम का परिचय देने में तपस्वी जीवन जीने के लिए कटिबद्ध हो गये । भरत ने भी तापस वेष बनाया और राम की खड़ाऊ सिंहासन पर प्रतिष्ठापित कर दी । आदर्श के लिए वैभव को छोड़ देने की प्रवृत्ति रामायण के अन्य पात्रों मे भी दिखाई देती है। माता सुमित्रा अपने पुत्र को अवध की सुख-सुविधायें छोड़कर आदर्श पालन के लिए श्रीराम के साथ वन जाकर कष्टसाध्य जीवन अपनाने की प्रेरणा देती है :-

जो पै सीय राम बन जाहीं, अवध तुम्हार काज कछु नाहीं।

माँ का निर्देश और स्वयं लक्ष्मण की रुचि दोनो एक ही प्रकार की हैं । उन्हीं के साथ उर्मिला भी अपना समर्थन जोड़ देती हैं । ऐसी ही आदर्शवादी मान्यताओं और गतिविधियों की स्थापना घर-घर हो सके तो परिवारो में स्वर्ग के अवतरण की कल्पना को मूर्तिमान हुआ देखा जा सकता है ।

दुनियाँ श्रेय लूटने के लिए आतुर फिरती है । किन्तु श्रेष्ठ पुरुषो का क्रम इससे भिन्न होता है । वे पुरुषार्थ तो आगे बढ़कर करते हैं किन्तु श्रेय के समय अन्यो को आगे कर देते हैं । श्रीराम के जीवनक्रम में यह गुण सर्वत्र बिखरा दिखाई देता है । उनमें सबसे मार्मिक प्रसंग लंका विजय के बाद अयोध्या लौटने के अवसर पर सामने आता है । श्रीराम अयोध्यावासियों के बीच विजय का श्रेय स्वयं नहीं लेते—गुरु वशिष्ट और अपने सहयोगी वीरों को देते हैं । वानरों को गुरुदेव का परिचय देते हुए वे कहते है—

गुरु वशिष्ठ कुल पूज्य हमारे ।
इनकी कृपा दनुज हम मारे ॥

और इसी प्रकार सुग्रीव हनुमान आदि का परिचय देते हुए वे गुरु वशिष्ट से कहते हैं :-

ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे,
भये समर सागर महँ बेरे ।
मम हित लागि जनम इन्ह हारे,
भरतहुँते मोहिं अधिक पियारे ॥

अपनी नम्रता, निरहंकारिता बनाये रखने वाले दूसरों को श्रेय सम्मान देने वाले दूसरों का मन जीतते हैं, सम्मान और सहयोग पाते है । इस सज्जनता को राम के चरित्र से सहज ही सीखा जा सकता है ।

अपने अधिकारों की उपेक्षा और कर्तव्यों का पालन, दूसरों की भूलों की उपेक्षा और उसके सहयोगों का स्मरण इस उदार मान्यता से रामायण के प्रत्येक वरिष्ठ पात्र का जीवन क्रम भरा हुआ है । यही कारण था कि साधनहीन परिस्थितियों में भी मिल जुलकर धर्म की स्थापना और अधर्म के विनाश का अति महत्वपूर्ण कार्य इतने बड़े परिमाण मे इतनी सरलता एवं सफलता के साथ सम्पन्न कर सके । राम परिवार के, वानर परिवार के किसी भी सदस्य पर दृष्टि डालें तो उनकी यह विशेषता उभरती और राम कथा को 'भव तारिणी' का पद प्रदान करती हुई दिखाई पड़ेगी ।

रामकथा की आदर्श परायणता एकांगी नहीं है । बड़ो की आज्ञा मानने के साथ ही औचित्य पर अटल रहने के महत्व को भुलाया नहीं जाता । उनका आदर्श है कि बड़ों की सेवा सुविधा का तो ध्यान रखा जाय उन्हें समुचित सम्मान भी दिया जाय पर उनकी अनुचित आज्ञाएँ मानने से स्पष्ट इन्कार किया जा सकता है । भरत ने अपनी माता का कहना नहीं माना । विभीषण ने अपने बड़े भाई का परित्याग कर दिया । स्वयं राम ने भी पिता के इस संकेत की अवहेलना कर दी जिसमे आज्ञा के रहते हुए भी वन न जाने के लिए उकसाया गया था ।

राय राम राखन हितलागी,
बहुत उपाय किए छल त्यागी ।
लखी राम रुख रहत न जाने,
धरम धुरंधर धीर सयाने ॥

अपने-अपने उचित कर्तव्य पर डटे रहने और औचित्य के समर्थन के लिए सहयोग करने की प्रवृत्ति परिवार और समाज के लिए बहुत उपयोगी है । रामकथा में यह आदर्श हर स्थल पर दिखाई देता है । राम का विवाह स्वयंवर प्रथा के अनुकूल हुआ । यह विवाह किसी बच्चे पर थोपा नहीं गया । सीता ने स्वेच्छापूर्वक वर चुना और वरमाला पहनाई । विवाह जैसे प्रसंगों में अभिभावक खोजवीन करने और परामर्श देने की सहायता तो कर सकते हैं पर इच्छा के विरुद्ध दबाव देने की नीति उन्हें नहीं अपनानी चाहिए । राम और सीता का सम्बन्ध दशरथ जी की जानकारी के बिना ही हो जाता है । किन्तु वे उसे अपनी उपेक्षा नहीं मानते । विश्वामित्र जी के मार्गदर्शन में हुऐ संबन्ध का औचित्य समझते हुए प्रसन्नता व्यक्त करते हैं और अपने कर्तव्यों का पालन पूरी तत्परता से करते है । विवाह संस्कार भी विवेकपूर्वक पवित्र यज्ञीय वातावरण में सम्पन्न होता है । यही नहीं उसे सामूहिक संस्कार का रूप भी दे दिया जाता है । स्वयंवर केवल सीता का हुआ था किन्तु जब देखा गया कि उर्मिला, माण्डवी, श्रुति कीर्ति भी लक्ष्मण, भरत एवं शत्रुघ्न के अनुरूप हैं तो दोनों पक्षो के अभिभावक तथा पुरोहित बिना किसी झिझक के तुरन्त ही उनके विवाह की भी सहमति दे देते है । चारों भाइयों के विवाह एक साथ सम्पन्न हो जाते हैं, उनमें कोई भेद नहीं रखा जाता :-

जस रघुवीर ब्याह बिधि बरनी,
सकल कुँअर ब्याहे तेहि करनी ।

विवाह होने के बाद बहुएँ घर आने पर दशरथ ने कौशिल्या को समझाया कि पराई लड़कियाँ अपने घर मे बहू बनकर आई है । इन्हे इतना दुलार दिया जाय, जितना पलक अपनी छत्रछाया से आँख की पुतली को देते हैं—

वधू लरिकनी पर घर आईं,
राखेहु नयन पलक की नाईं ।

वैसा ही किया भी गया । फलतः राम के साथ बन जाने के समय सीता विलख कर रोने लगी । कारण पूछने पर उनने बताया कि मै साँस की अति श्रद्धापूर्वक सेवा करके अपने और अपने पति के प्रति किये गये उपकारो से कुछ उऋण होना चाहती थी पर विधाता ने वैसा अवसर नहीं मिलने दिया । अपने इसी दुर्भाग्य पर सीता को रोना आ गया—

सेवा समय दैव बन दीन्हा,
मोर मनोरथ सफल न कीन्हा ।

इस प्रसंग का यह निष्कर्ष है कि सास द्वारा बहू के प्रति यदि उदार भरा व्यवहार होता है तो उसकी प्रतिक्रिया श्रद्धा और सेवा-सम्मान के रूप में सहज ही उपलब्ध हो सकती है ।

राम, सीता और लक्ष्मण सहित बन चले जाते हैं, किन्तु वहाँ भी उनकी प्रसन्नता में कमी नहीं आती । जहाँ जाते हैं वहां प्रसन्नता की लहर पैदा करते चलते हैं । वन मे भी अपने क्षात्रधर्म का पालन बड़ी तत्परता से करते है। राक्षसों के विरुद्ध खुलकर संघर्ष का मोर्चा खोल देते हैं और उस प्रकरण में अपने शौर्य, साहस तथा पराक्रम का अद्भुत परिचय देते हैं । खरदूषण जैसे दुर्दम्य राक्षस भारी सेना लेकर आक्रमण करते हैं तो राम अविचल भाव से मुकाबले के लिए अकेले खड़े हो जाते है । राक्षसों का दूत उन्हें भय दिखाकर उनसे आत्म-समर्पण के लिए कहता हैं तो वे आत्म-विश्वास भरी वाणी में चुनौती देते हुए कहते हैं—

हम क्षत्रिय मृगया बन करहीं,
तुम सम खल मृग खोजत फिरहीं ।
रिपु बलवान देखि नहिं डरहीं,
एक बार कालहु सन लरहीं ।

असुरता निवारण के अगले मोर्चे के लिए वे सिद्धान्त निष्ठ व्यक्तियों को संगठित कर लेते हैं । सामूहिकता की महत्ता सर्वविदित है । छोटे-छोटे व्यक्ति भी मिलकर आश्चर्यजनक काम कर दिखाते हैं । अपने उद्देश्य के प्रति लगनशील उन रीछ, वानरों से समुद्र पर पुल बनाने जैसा असम्भव लगने वाला कार्य सम्भव कर दिखाया । उनके इस सामूहिक व्यवस्थित श्रमदान का वर्णन करते हुए तुलसी दास जी लिखते है—

अति उतंग गिरि पादप, लीलहि लेहिं उठाय ।
आनि देहि नल नीलहिं, रचहि ते सेतु बनाय ।

रीछ वानरों द्वारा इस प्रकार पुल बना लिए जाने से रावण के राक्षसी मनोबल को भारी धक्का लगा था । आदर्श परायण व्यक्तियों की सामूहिकता का चमत्कार इस प्रकरण से प्रकट होता है ।

आदर्शवाद अपना कर तुच्छ समझे जाने वाले व्यक्ति कितने महान, कितने शक्तिशाली बनते है इसका प्रमाण सुग्रीव के नगण्य से कर्मचारी हनुमान द्वारा पर्वत उखाड़ने, समुद्र लाँघने जैसे पराक्रमों के रूप में देखा जा सकता है। जब वालिपुत्र अङ्गद रावण की सभा में दूत बनकर जाते

हैं तो हनुमान के पराक्रम की प्रशंसा स्वयं रावण भी करता है। उसे सुनकर अङ्गद जी कहते हैं—

जो अति सुभट सराहेहु रावन,

सो सुग्रीव केर लघु धावन।

रावण के दरबार में स्वयं अंगद के प्रदर्शन से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। सत्य में हजार हाथियों का बल होता है, यह गलत नहीं है। रावण के सामने देवता भी नहीं टिक पाते थे किन्तु अंगद ने वहाँ अडिग रहकर दिखा दिया। इसे आदर्शनिष्ठा की महिमा बतलाते हुए तुलसीदास जी दोहावली में लिखते हैं—

तासु समारोप्यो चरन, जेहि तोल्यो कैलाश।
स्वामी की महिमा कहँु, सेवक को विश्वास॥

आदर्शनिष्ठा की चमत्कारी क्षमता के ऐसे उदाहरण हर युग में मिल सकते हैं तथा उन्हें व्यक्तिगत जीवन में अपनाकर कोई भी व्यक्ति लाभ उठा सकते हैं। गाँधी जी जैसे दुर्बलकाय व्यक्ति अंग्रेजी शासन को हिला सके और उसे बिस्तर बाँधकर चले जाने के लिए विवश कर दिया, तो कोई कारण नहीं कि संसार के अनेकानेक आदर्शवादियों द्वारा सम्पन्न किये गये महान कार्यों की तरह, अपनाई गई उत्कृष्टता किसी के भी सामर्थ्य को आश्चर्य चकित कर देने वाले कार्य कर सकने योग्य न बना सके। हनुमान आदि ने व्यक्तिगत स्वार्थपरता से मुँह मोड़कर न्याय और औचित्य के समर्थन में अपने आप की बाजी लगाई। समझदारों की दृष्टि में इस प्रकार का जोखिम उठाना मूर्खतापूर्ण माना जायगा। किन्तु रामायण साक्षी है कि सत्प्रयोजनों मे संलग्न होने वाले जो खोते हैं उससे कहीं अधिक पाते हैं। हनुमान आदि को जीवनकाल में भी श्रेय मिला और अनन्त काल तक उन पर भावभरी श्रद्धा दशों दिशाओं से बरसती रहेगी।

जटायु ने अनीति के विरुद्ध संघर्ष विशुद्ध कर्तव्य भाव से किया। सीता को रावण के पंजे से छुड़ाने में उनकी कोई व्यक्तिगत लाभ-हानि नहीं थी। फिर भी उन्होंने समझा कि अनीति भले ही किसी व्यक्ति विशेष के प्रति बरती गई हो, यह समूची मानवता के प्रति आक्रमण है। उसे रोका ही जाना चाहिए। अन्यथा स्वच्छन्द उद्दण्डता निर्भय होकर और भी बड़े-बड़े कुकृत्य करने के लिए अग्रसर होगी और उससे भयङ्कर विनाश उत्पन्न होगा। हर व्यक्ति का कर्तव्य है कि अपने ऊपर आक्रमण होने की प्रतीक्षा न करके अनीति का आतङ्क जहाँ भी बढ़ रहा है वहाँ पहुँचकर उसका अवरोध करें। जटायु वृद्ध और पक्षी था शस्त्र रहित था तो भी उसने हार-जीत की परवाह न करके प्राणों की बाजी लगा दी और रावण को ललकारते हुए कहा—

रे रे दुष्ट ठाढ़ किन होही,

निर्भय चलेसि न जानेसि मोही।

जटायु ने वेग से आक्रमण करके रावण को अस्त-व्यस्त कर दिया। शस्त्रधारी रावण के सामने बूढ़ा निहत्था जटायु टिक न सका और आदर्श की बलिवेदी पर शहीद हो गया। उसका बलिदान इतना शानदार रहा कि स्वयं भगवान राम ने उसके ऊपर अश्रुओं की श्रद्धाञ्जलि चढ़ायी, पिता से भी अधिक सम्मान के साथ उसकी अन्तिम क्रिया की। इस सन्दर्भ में रामाज्ञा प्रश्न में तुलसी दास जी ने लिखा है :-

दशरथ ते दस गुन भगति सहित तासु करि काज।
सोचत बन्धु समेत प्रभु, कृपा सिन्धु रघुराज॥

जटायु के लिए ऐसा व्यवहार होना आश्चर्य की बात नहीं है। सन्त, सुधारक और शहीद ये तीनों भगवान का अनुग्रह पाने में एक से एक बड़े अधिकारी माने जाते हैं। जटायु ने शहीदों के अनुरूप सत्साहस किया था वे रामायण के परम श्रद्धास्पद पात्रों में मूर्धन्य स्थान पाने के अधिकारी बने सके।

अनीति के प्रतिकार के लिए सर्वस्व की बाजी लगा देने का बड़ा प्रेरक उदाहरण निषादराज गुह का भी मिलता है। राम चित्रकूट पर पहुँचते है। भरत उनसे मिलने और वापिस लाने के लिए पुरवासियों समेत वहाँ के लिए चल पड़ते है। सेना भी साथ है। गंगा पार करने का अवसर आता है। नावो की आवश्यकता पड़ती है। केवट विचार करते हैं कि सम्भवतः भरत सेना समेत राम से युद्ध करने और उन्हें समाप्त करके निष्कंटक राज्य की व्यवस्था बनाने जा रहे हैं। कैकेयी की तरह उनका भी दुष्ट उद्देश्य है। सेना का साथ रहना इसका प्रमाण है। अपनी इस आशंका को केवटों ने सच समझा और तदनुसार अपना कर्तव्य तत्काल सुनिश्चित कर लिया। नावों को डुबो देना और प्राण संकट के लिए तैयारी करना इनका निश्चय था। केवटराज गुह इस अवसर पर अपने संकल्प और नीति की घोषणा करते हुए अपने साथियों से कहते हैं :-

होहु संजोयल रोकहु घाटा,

ठाठहु सकल मरै के ठाटा।

सनमुख लोह भरत सन लेऊँ,

जियत न सुरसरि उतर न देऊँ॥

अनीति समर्थन के लिए यदि विवशता सामने हो यही निश्चय प्रत्येक मानवतावादी का होना चाहिए। बड़े से बड़ा खतरा उठाकर भी नीति को असफल बनाने की नीति ही निर्धारित की जानी चाहिए।

अधिक खोज बीन करने पर निषादराज के इस तथ्य का पता चलता है कि भरत अनीति का प्रायश्चित करने और राम को वापिस लाने जा रहे हैं तो भी निषादराज चुप नहीं बैठते वरन् दूसरी तरह का अपना कर्तव्य निश्चित करते हैं। भरत की मंडली को भोजन का साधन जुटाते हैं और पार लगाने के लिए नाव खेने में जुट जाते है। अनीति के विरोध की तरह ही नीति का सहयोग भी मनुष्य का कर्तव्य है। जो हो रहा है उसे होने देने और मूकदर्शक बने रहने में तो जड़ निष्प्राणता का ही परिचय मिलता है। किसी जीवन्त व्यक्ति के लिए आवश्यक है कि केवटों की तरह यथा अवसर अपना विरोध और सहयोग प्रस्तुत करने में अपनी जागरुकता का परिचय देता रहे।

धर्म निष्ठा की प्रामाणिकता-परीक्षा की कसौटी पर कसे जाने से ही सिद्ध होती है। धर्म मात्र कल्पना तक सीमित नहीं हो सकता। पूजा पाठ एवं कथा प्रसङ्गों तक धर्म धारणा को सीमित नहीं रखा जा सकता। वह—अपनी प्रखरता प्रमाणित करने के लिए मचलती रहती है और समय की पुकार पर आदर्शों के लिए दुस्साहस भरे कदम उठाने में नहीं चूकती। विभीषण ने भाई का विरोध किया, प्रताड़ना सही और अपने को खतरे में डाला। हनुमान ने समुद्र लाँघने, पर्वत उठाने और लङ्का दहने के लिए अपनी पूँछ में आग लगाने देने जैसे जोखिम उठाये, गिलहरी जैसे क्षुद्र प्राणी को अपने बालों में बालू भर भरकर समुद्र पाटने जैसी उपहासास्पद किन्तु भाव भरा योगदान देना पड़ा। धर्मनिष्ठा कितनी गहरी है इसकी परख यही है कि वह ईश्वरीय प्रयोजन पूरे करने में अनीति के विरोध और नीति के समर्थन के लिए किस सीमा तक अग्नि परीक्षा में प्रवेश करने का साहस भरा परिचय प्रस्तुत करता है।

सीता सोने का मृग पाने के लिए ललचाती हैं और उसे पाने का आग्रह करके पूरे परिवार को विपत्ति में डालती है। आवश्यकता पूर्ति के लिए उपार्जन उचित है पर जब वैभव का लोभ लालच सिर पर सवार होगा तो शक्तियाँ निरर्थक दिशा में खर्च होंगी। संग्रह के लोभ में असुर उद्दंडता रावण बनकर आत्मा की सीता शालीनता को चुरा ले जायेंगी। लोभवश मनुष्य विवेकहीन हो जाता है और ऐसे काम कर बैठता है जो बाद में स्वयं को भी भयंकर मूर्खता भरे लगते हैं। ऐसे व्यक्ति को सारा संसार अपना उपहास उड़ाता हुआ लगता है। स्वर्णमृग के लोभ में सीता को खो देने का पश्चात्ताप प्रकट करते हुए श्रीराम वन में अपनी मनःस्थिति लक्ष्मणजी से व्यक्त करते हैं :-

नारि सहित सब खग मृग वृंदा,
मानहु मोरि करत हसिं निन्दा।
हमहिं देखि मृग निकर पराहीं,
मृगी कहहिं तुम्ह कहँ भय नाहीं॥
तुम आनंद करहु मृग जाये,
कंचन मृग खोजन ए आये॥

लोभ वश मनुष्य क्या-क्या कुकृत्य नहीं करता। यदि प्रत्यक्ष मे कुछ अनुचित न भी करे तो भी यही क्या कम दुर्भाग्य है कि सुरदुर्लभ जीवन सम्पदा उस जंजाल को जमा करने में लगी रहे जो अधिक मात्रा में जमा होने पर अनेकानेक दुष्प्रवृत्तियों को जन्म देता है। अपनी संतान का और समाज का अहित ही अहित करता है। स्वर्ण आकर्षण में फँस कर राम-सीता तक विपत्ति में फँस सकते हैं तो फिर हमारे जैसे सामान्य मनुष्यों की दुर्गति तो अकल्पनीय ही हो सकती है। इसी सिद्धान्त को ध्यान में रख कर रामायण के आदर्श पात्र लोभ लालच से दूर रहते हैं। अपने नियत पारिश्रमिक के अतिरिक्त रिश्वत उपहार आदि को भी अस्वीकार किया जाता है। जनक के दूत विवाह सन्दर्भ मे अयोध्या पहुँचते हैं और उपहार प्रस्तुत किये जाते हैं। दूत उन्हें लेने से इनकार करते हैं। इनकी इस नीति-निष्ठा को धर्म सम्मत माना जाता है और सम्मान किया जाता है—

कहि अनीति ते मूँदहि काना,
धरम बिचारि सबहिं सुख माना।

अनीति मार्ग पर चलने से होने वाली का सुन्दर चित्रण सीता हरण प्रसंग में मिलता है। रावण सीताजी को चुराने चलता है। इसके लिए उसे छद्म वेश बनाना पड़ता है और आशंका-ग्रस्त धड़कते मन से भिक्षुक जैसा आचरण करना पड़ता है। जिसके पराक्रम से सभी सुर असुर डरते थे उसी ने जब कुमार्ग पर पैर रखा तो तेज, बल, बुद्धि आदि सभी तिरोहित हो गये। मानस में लिखा है :-

जाके डर सुर असुर डेराहीं।
निशि न नींद दिन अन्न न खाहीं॥
सो दससीस स्वान की नाईं।
इत उत चितइ चला भड़िहाईं॥
इमि कुपंथ पग देत खगेशा।
रह न तेज तन बुधि बल लेशा॥

५.२१ सूक्ष्मीकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का अवतरण

अनीति के पथ पर चलने के कारण रावण का पतन होता चला गया। इधर राम अनीति से कोसों दूर रहे। वे जीवन भर आदर्शवादी और एक पत्नीव्रती रहे। सीता के बाल्मीकि आश्रम में चले जाने के बाद उन्होने एकाकी जीवन बिताने का ही निश्चय किया। अश्वमेघ यज्ञ में पत्नी की आवश्यकता पड़ने पर उन्होने सीता की धातु की प्रतिमा बनवाकर रख ली, किन्तु दूसरा विवाह किसी भी दबाव अथवा अभाव के कारण स्वीकार नहीं किया। उन्होंने अपने मन को प्रारम्भ से ही इस दिशा में साध रखा था। अशोक वाटिका में सीता को देखने के बाद अपने मन की प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए वे लक्ष्मण जी से कहते हैं :-

मोहि अतिसय प्रतीत मनकेरी।
जेहि सपनेहु पर नारि न हेरी॥

राम की आदर्श निष्ठा के अनुरूप ही सीता का भी आचरण बनता है। सीता ने भी रावण के दवाव और बाल्मीकि आश्रम के अभाव में रहते हुए भी अपनी पतिनिष्ठा अक्षुण्य बनाये रखी और पतिव्रत निवाहा। इसके विपरीत दुराचारी रावण की पत्नी मन्दोदरी ने रावण के मरते ही नये राजा विभीषण से विवाह कर लिया। पति ने अपना अवाँछनीय आदर्श प्रस्तुत किया उसी का अनुसरण पत्नी ने कर दिखाया। पतिव्रत की आवश्यकता समझी जाय तो समाज में पत्नीव्रत धर्म के लिए भी उतनी ही निष्ठा उत्पन्न की जानी चाहिए और उतनी ही अनिवार्यता मानी जानी चाहिए। रावण जैसी स्वच्छन्दता और सीता जैसी शालीनता का समन्वय हो ही नहीं सकता।

असुरों को अनीति रत देखकर भगवान राम पृथ्वी को निशिचर हीन करने का साहस भरा संकल्प करते है। इसी को दूसरे शब्दों में अधर्म के विनाश और धर्म के संस्थापन की अवतार प्रतिज्ञा कह सकते हैं। उन परिस्थितियों में सफलता अति कठिन लगती थी। राम लक्ष्मण साधनहीन समर्थ लोगों का साथ देने में इन्कार, रावण की प्रचण्ड शक्ति, यह सब देखने से सामान्यतया किसी को विश्वास नहीं होता था कि लक्ष्य की प्राप्ति हो सकेगी। पर सदुदेश्य में दैवी सहायता मिलने का तथ्य सामने आया। रीछ वानरों की सेना सहायक बनी, समुद्र लाँघा और लम्बा पुल बनाया गया। लङ्का का दुर्ग ढह गया और साधन हीन सदुद्देश्य जीत गया, यह तथ्य सर्वत्र स्मरण रखना चाहिए असत्य कितना ही साधन सम्पन्न एवं बलिष्ठ क्यों न दिखता हो अन्ततः वह हारता ही है। पाप अपनी मौत मरता है और विजय सत्य की ही होती है।

मनुष्य के अपने ही दोष उसे ले डूबते हैं इस तथ्य का प्रतिपादन राम-कथा मे बड़ी स्पष्टता से मिलता है। रावण युद्धभूमि में मरा पड़ा है। एकत्रित समूह ने देखा कि मृत शरीर में हजारों छिद्र हैं और उन सबसे रक्त बह रहा है। राम ने तो एक ही बाण उसके अमृत कुम्भ में मारा था और उसी से उसकी मृत्यु हो गई थी फिर इतने छिद्र किस प्रकार हो गये? इस प्रश्न के उत्तर में बताया गया है कि यह अनेक छिद्र उसके दुष्कर्मों के फलस्वरूप स्वयमेव फूट निकले है। तात्पर्य यह है कि कुकर्मी को बाह्य दण्ड से जितनी क्षति पहुँचती है उससे असंख्य गुनी हानि दुष्प्रवृतियों की आन्तरिक प्रतिक्रिया से ही उत्पन्न होती रहती है। आग जहाँ रहती है उस स्थान को जलाती चली जाती है। घुन जहाँ रहता है उसी स्थान को पोला करता है। पाप की प्रतिक्रिया भी आग की तरह जलाने वाली और घुन की तरह—खोखला करने वाली होती है। रावण के शरीर में देखे गये अनेक घावों को उसके दुष्कर्म—जनित स्वसंचालित—प्रतिफल के रूप मे देखा गया।

रामचरित मानस में भी रावण को क्षत विक्षत स्थिति में समरभूमि में पड़ा देखकर देवता यही भाव प्रकट करते हुए कहते है :-

विश्व द्रोह रत यह खल कामी।
निज अघ गयउ कुमारग गामी॥

असुरता का उन्मूलन हो जाना ही पर्याप्त नहीं जन स्तर पर सत्प्रवृत्तियों की स्थापना भी की जानी चाहिए। रामराज्य में यही किया गया। वहाँ पत्नीव्रत की मर्यादाएँ पुरुष और नारियों को समान रूप से पालन करनी पड़ती थीं।

एक नारि व्रत रत सब झारी।
ते मन वच क्रम पति हितकारी॥

श्रेष्ठ समाज की स्थापना के लिए रामराज्य में सन्तान की सीमा बन्धन कठोरता पूर्वक पालन किया जाता था। राम परिवार ने दो से अधिक सन्तान उत्पन्न न करने की मर्यादा पालन की ओर उसी का अनुसरण प्रजाजनों ने भी किया।

दुइ सुत सुन्दर सीता जाये।
लव कुश वेद पुरानन गाये॥
दुई,दुई सुत सब भ्रातन केरे।
भये रूप गुन शील

सीमित सन्तान को ही सुयोग्य बनाया जाना ही सम्भव है। अभिभावक इससे अधिक उत्तरदायित्व ठीक तरह निभा भी नहीं सकते। इस सम्बन्ध मे अति तो अदूरदर्शी ही बरतते हैं। मर्यादा हीन सन्तान पैदा— करना रामायण में असुरों का ढङ्ग माना गया है। बढ़ी हुई सन्तानें समाज में सङ्कट उत्पन्न करती और उसे दुर्बल बनाती हैं। लङ्का के निशाचरों ने सन्तानोत्पादन के क्षेत्र में भी अन्धेर मचा रखी थी। इसी का दुष्परिणाम लङ्का नाश के रूप में सामने आया।

सुत समूह जन परिजन नाती।
गिनै को पार निशाचर जाती॥

राक्षसों की बढ़ी संख्या अपने कुल का कुछ हित न कर सकी और ये सब कुसंस्कारों की ज्वाला में नष्ट हो गये। संस्कारवान सन्तानें- अङ्गद, हनुमान आदि अकेले ही अपने तथा अपने कुल का गौरव बढ़ाने में सफल हुए। राम कथा में सुलक्षिणी कन्याओं का महत्व पुत्रों से कम नहीं है। पार्वती और सीता अपने पितृवंश का यश भी पुत्रों से अधिक बढ़ाती है। पुत्र पुत्री के बीच का भेद कहीं दिखाई नहीं देता।

पुत्र पुत्री के भेद की तरह ही जाति—पाँति का भेद भी राम कथा में नहीं है। राम निषादराज गुह से भाई जैसा व्यवहार करते हैं। भीलनी शबरी तथा वनवासी भीलों के साथ उनका खान-पान तथा व्यवहार सर्वथा भेद रहित चलता है। वे वेष या वंश नहीं भावना देखकर उसके अनुसार ही सबसे व्यवहार करते हैं। वे ही नहीं वशिष्ठ जैसे श्रेष्ठ विद्वान ब्राह्मण भी वैसा ही करते हैं। चित्रकूट में निषादराज अपनी नम्रता दिखाता हुआ उन्हें प्रणाम करने को झुकता है किन्तु वशिष्ठ जी उसे बरबस हृदय से लगा लेते हैं। लिखा है :-

राम सखा ऋषि बरबस भेंटा।
जिमि महि लुठत सनेह समेंटा॥

मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम का जीवन श्रेष्ठतम आदर्शो से भरा पूरा है। यदि विवेकपूर्वक उनकी कथा का अध्ययन श्रवण किया जाय तो आज भी हर तरह की समस्या के समाधान और हर स्तर के व्यक्ति के उत्कर्ष का मार्गदर्शन उससे पाया जा सकता है। राम—भक्तों को उनके अनुयायी कहलाने की शर्त भी वास्तव में यही है कि उनके जीवन आदर्शों को माना और अपनाया जाय। राज्याभिषेक के बाद स्वयं श्रीराम ने प्रजाजनों से कहा है।

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई।
मम अनुशासन मानै जोई॥

अच्छा हो कि हम केवल बातूनी जमा खर्च छोड़कर, प्रभु की लीलाओं को देख समझकर, उनके आदर्शों और निर्देशों का पालन करें। उनके अनुशासन में चलकर उनके दिव्य प्रेम तथा जीवन की सार्थकता के अधिकारी बनें।

पूर्णपुरुष-श्रीकृष्ण

भगवान निराकार हैं। उनकी अनुभूति दिव्य चेतना के रूप में ही की जा सकती है। सद्विचार सद्भावों की प्रखरता से ईश्वरीय आलोक का दर्शन किया जा सकता है। संसार में जब विकृतियाँ बढ़ती है तो उनकी प्रतिक्रिया अनेकानेक समस्याओं और संकटों की घटाटोप सामने ला खड़ा करती हैं। उनके निराकरण के छुटपुट समाधान भी चलते रहते हैं पर व्यापक शोक-संताप का निराकरण जनमानस में उत्कृष्ट आदर्शवादिता को पुनः हृदयगंम कराये बिना और किसी प्रकार संभव नहीं हो सकता।

विकृति-विरोधी प्रचंड अभियान को ईश्वर का अवतरण कहते हैं। पतनोन्मुख दुष्प्रवृत्तियो के दुष्परिणामो को जब प्रत्यक्ष समझा जाता है तो मानवी विवेक अवाँछनीयता के प्रति विद्रोह खड़ा करता है। इस विद्रोह का उद्देश्य सदाशयता की स्थापना होता है। इसके लिए तात्कालिक अवरोधों का उन्मूलन आवश्यक हो जाता है। इसलिए धर्म की स्थापना के साथ-साथ अधर्म का उन्मूलन भी जुड़ जाता है। तूफानी वर्षा मे जहाँ वातावरण की शुद्धि और भूमिसिंचन का रचनात्मक लाभ मिलता है वहाँ उसका एक और पहलू ध्वंसात्मक प्रक्रिया के रूप में भी सामने आता है। पुराने जीर्ण-शीर्ण वृक्ष उस तूफानी दबाव में उखड़ कर गिर पड़ते हैं और जहाँ तहाँ जमे हुए कूड़े कचरे के ढेर बहाव में पड़कर कहीं से कहीं चले जाते हैं। पेड़ों का उखड़ना और कचरे का बहना प्रत्यक्ष दृष्टि से ही हानि के रूप में ही देखे जायेंगे पर दूरदर्शी उससे भी हित ही देखते हैं। कुरूपता, जीर्णता और अनुपयुक्तता हो गई हो तो उससे उस घिरे हुए स्थान का अच्छा उपयोग होने की समीपता तो बन गई।

अधर्म उन्मूलन और धर्म संस्थापन का उद्देश्य लेकर प्रकट हुए ईश्वसरीय अवतरण व्यापक होते हैं। उनसे जन-मानस अनायास ही प्रभावित होता है और उस दिशा मे लोक समर्थन का प्रवाह सहज ही बहने लगता है। कहना न होगा कि संसार की सबसे बड़ी शक्ति 'लोकशक्ति' है। अवाँछनीयताओं के प्रति और व्यापक विद्रोह उठ खड़ा हो

तो उसका टिके रहना सभव नही हो सकता । इसी प्रकार सत्प्रवृत्तियो की स्थापना के लिए तीव्र उत्कंठा हो तो उस लक्ष्य की पूर्ति भी किसी न किसी प्रकार संभव हो ही जाती है । इसी तथ्य को युग संधियो में घटनाक्रमों के रूप मे प्रकट होते हुए देखा जा सकता है । इन्हीं प्रसगों को अवतार की लीलाओं का नाम दिया जाता है ।

अवतार वस्तुत: लोकचरित्र के रूप मे होता है । अदृश्य की दिव्य प्रेरणाओ का स्वरूप सही हो सकता है। उस प्रवाह का नेतृत्व करने का श्रेय उस व्यक्ति को मिलता है जो अग्रिम मोर्चे पर रहने और व्यवस्थानुकूल बनाने की अपनी विशिष्टता सिद्ध करता है। किस अवतरण का श्रेय किसको मिला यह कोई महत्वपूर्ण बात नहीं है क्योकि उतना व्यापक प्रयोजन एक व्यक्ति पूरा नही कर सकता । लोक समर्थन एवं जन सहयोग से ही इतनी विशालकाय प्रक्रिया सम्पन्न हो सकती है। सदैव ऐसा ही होता रहा है। हर अवतार की सफलता विवेकवान्, निष्ठावान्, श्रेष्ठ सत्साहसी व्यक्तित्वो के सम्मिलित प्रयासो से ही संभव हुई है । युगान्तर प्रस्तुत करने वाली चेतना को ही तथ्यत: अवतारी प्रक्रिया कहा जा सकता है ।

अवतारी महामानव ही उस परिवर्तन के कर्ता धर्ता हर्ता नहीं होते । वे तो मार्गदर्शन और सूत्र संचालन मात्र करते हैं । असली लड़ाई तो सैन्य शक्ति को, प्रबुद्ध जन शक्ति को ही लड़नी पड़ती है। राम, कृष्ण, गान्धी आदि अवतारों को श्रेय इसलिए मिला कि वे अग्रिम पंक्ति मे थे और अपनी आदर्श चरित्रनिष्ठा को मूर्तिमान करने में एकाकी दुस्साहस जुटा सके थे । प्रवाह में तो कई बहने लगते है पर समुद्र की हिलोरों के बीच प्रकाश स्तम्भ की तरह एकाकी खड़े हो जाना और असंख्य जलयानों का मार्गदर्शन करना हर किसी का काम नही होता । वैसा दुस्साहसी ही कर पाते हैं । इन अग्रिम विशेपताओं के कारण उनकी पूजा होना स्वाभाविक है । सघन अन्धकार की अमावस्या में प्रकाश का शुभारम्भ करने वाले दौज के चन्द्रमा की भी तो पूजा होती है। प्रभातकाल का—अरुणोदय ही तो हमारी श्रद्धाञ्जलि का अधिकारी रहता है ।

यह अवतार प्रक्रिया भारत में समय समय पर होती रही है । इनमें २४ की विशेप चर्चा है । राम और कृष्ण के दो नाम सामयिक होने के कारण चर्चा के क्षेत्र में प्रधान स्थान पाये हुए है । संसार के अन्यान्य क्षेत्रों में भी वहाँ के स्थानीय सन्तुलन को वनाने के लिए महामानव अवतरित हुए है । ईसा मुहम्मद, जरथुस्त्र ताओ, आदि के नाम इसी श्रेणी में आते हैं । यह व्यापक नैतिक क्षेत्र के विशिष्ट अवतारों की वात हुई । सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक, वैज्ञानिक क्षेत्रो मे भी ऐसे ही दिव्य अवतरण होते रहे हैं। साहित्य, कला, और विज्ञान के क्षेत्रो मे भी ऐसे दिव्य अवतरण हुए हैं जिन्होंने समय की माँग को पूरा करने के लिए अवाँछनीयताओं के निराकरण के लिए आदर्शवादी रीति नीति अपनाई और अपने अनुकरणीय कर्तृत्व से व्यापक क्षेत्र में उपयोगी प्रकाश उत्पन्न किया । इन सभी देवात्माओं को—उनके महान क्रिया कलापो को उनकी प्रतिक्रियाओं को अवतार संज्ञा दी जा सकती है ।

उदाहरण के लिए हम भगवान श्रीराम व श्रीकृष्ण के कर्तृत्व को उनके लीला प्रसङ्ग को सामने रखते हैं तो धर्म के प्रति चढ़ी हुई ग्लानि का निराकरण करके धर्म के अभ्युत्थान का प्रयास स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है । दुष्कृतों के विनाश और साधुता के परित्राण की ईश्वरीय प्रतिज्ञा चरितार्थ होती दिखाई पड़ती है । प्रगतिशील चेतना अभियान के रूप में व्यक्तिगत चरित्र निष्ठा के रूप में यह अवतरण अन्यत्र भी दृष्टिगोचर हो सकता है। जहाँ कहीं भी ऐसा देव दर्शन होता है वहाँ वहाँ हमारा मस्तक सहज ही श्रद्धावान होना चाहिए । ऐसे प्रसङ्गों की चर्चा को सदा प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए । राम-कथा या कृष्ण-कथा और रामलीला या कृष्णलीला को हम इसी दृष्टि से मानते और महत्व देते हैं ।

यहाँ स्मरण रखने योग्य तथ्य एक ही है कि चर्चा मात्र को ही पुण्य फलदायक मानकर सन्तोष न कर लिया जाय । उन प्रेरणाओं को हृदयङ्गम करने और व्यवहारिक जीवन में उतारने की चेष्टा होनी चाहिए । अन्यथा लकीर पीट देने से साँप नहीं मरेगा । आज की रूढ़िवादिता यहाँ केन्द्रित हो गई है कि राम नाम लेने राम कथा सुनने या राम लीला देखने मात्र से पुण्यफल मिल जायगा । यह सम्भव नहीं । औषधि का नाम लेने, गुणगान सुनने या उसकी शीशी देखने से रोग नहीं कटता औषधि तो सेवन करनी पड़ती है। ठीक इसी प्रकार अवतार चर्चा से लाभान्वित होने के लिए भी उन देवताओं लीला प्रसङ्गों एवं प्रतिपादनों से हमें इतना प्रकाश ग्रहण करना चाहिए कि प्रस्तुत गतिविधियों को प्रभावित कर सके । लीला वर्णन की सार्थकता तभी है जब वह हमारे अन्त:क्षेत्र को झकझोर सके और अवाँछनीयता के परित्याग करने एवं आदर्शवादिता अपनाने का प्रखर उत्साह और प्रचण्ड साहस उत्पन्न कर सके । गाँधीजी ने बचपन मे राजा हरिश्चन्द्र का नाटक देखा

तो श्रद्धा उमड़ पड़ी और उन्होंने प्रतिज्ञा की कि अपना जीवन भी सत्यवादी हरिश्चन्द्र जैसा ही बनायेंगे। कथा सुनने की सार्थकता इसी में है कि हममें से प्रत्येक के मन में वैसी ही प्रखरता और आदर्शवादिता का अनुकरण करने के लिए अदम्य उत्साह उमड़ पड़े।

अन्य अवतारों की अपेक्षा भगवान कृष्ण हमारे निकट वर्ती समय में हुए हैं। कृष्ण अवतार का समय इतिहासकारों के अनुसार अब से पाँच हजार वर्ष का है। राम अवतार को दस हजार वर्ष हुए बताये जाते हैं। हर युग को अपनी समस्याएँ होती है उनका समाधान सामयिक नीति अपनाने से ही सम्भव होता है उनका समाधान सामयिक नीति अपनाने से ही सम्भव होता है। अभी हमारे अति निकटवर्ती अवतारों में महात्मा गाँधी भगवान बुद्ध आदि की गणना की जा सकती है। पौराणिक काल के अवतारों में समीपता की दृष्टि से कृष्ण एवं राम आते है। अस्तु उनकी लीलाएँ पिछले कच्छ, मच्छ, वराह, वामन आदि की तुलना में अधिक उपयोगी सिद्ध होती है। राम, कृष्ण को अपने समय में इसीलिए अधिक महत्व मिला है।

अवतारों की लीला प्रसङ्गों की चर्चा द्वारा ही यह समझा जा सकता है कि उन्होंने अपने चरित्र द्वारा किस प्रकार का शिक्षण दिया है और किस मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी है। स्पष्ट है कि वचन की अपेक्षा कर्म की शक्ति असंख्य गुनी होती है। किसी को प्रभावित करने के लिए वाणी से उपदेश पर्याप्त नहीं होता वरन् उपदेशक को अपने अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत करने पड़ते हैं। महामानव इसी मार्ग को अपनाकर लोक चेतना की दिशा देते रहे है। राम अथवा कृष्ण चरित्र की चर्चा और गवेषणा का तात्पर्य यही हो सकता है कि उनके क्रियाकलापों से हम प्रेरणा ग्रहण करें और ऐसी नीति अपनायें जो व्यक्ति और समाज को अवाँछनीयता के चंगुल से छुड़ा सकें और सुख शान्ति का पथ प्रशस्त कर सकें।

राम और कृष्ण का युग्म मिलकर अवतार प्रक्रिया के दोनो पक्षो को पूरा करता है। यों धर्म की स्थापना एवं अधर्म के निराकरण का मुख्य प्रयोजन प्रत्येक अवतार द्वारा सम्पन्न किया गया है पर व्यापक समस्याओं के समाधान में हर अवतार का सीमित क्षेत्र ही सम्भव होता है। कुछ प्रसँग छूट ही जाते है जिन्हें अन्य महामानवों से सीखने की आवश्यकता पड़ती है। राम चरित्र की अपनी विशेषताएँ है पर उसमें से जो पक्ष छूट गया है अथवा कम उभर सका है, उस प्रकाश को कृष्ण-चरित्र मे से लेकर जीवन दर्शन के प्रशिक्षण में एक और भी अति महत्वपूर्ण नया अध्याय जुड़ता है।

राम को मर्यादा पुरुषोत्तम कहा जाता है और कृष्ण को पूर्ण पुरुष। राम ने मर्यादा पालन को अत्यधिक महत्व दिया है और उस उत्साह में कहीं किसी पक्ष को अनीति पूर्वक पीड़ित होना पड़ा है तो उसकी उपेक्षा की है। वे सोचते रहे होंगे कि यदि मर्यादा के प्रति श्रद्धा को अक्षुण्य बनाये रखा जाय तो अनीति सहने के अवसर घटते और समाप्त होते जायेंगे। यह पक्ष एक सीमा तक ही सराहा जा सकता है। दूसरा पक्ष यह भी है कि अनीति को आग की चिनगारी माना जाय और उसे बुझाने में तत्काल पूरी सतर्कता बरती जाय। मर्यादा पालन के आदर्शों की स्थापना की जाय पर साथ ही अनौचित्य छोटा होते हुए भी असह्य समझा जाय। इस पक्ष का प्रतिपादन जितनी अच्छी तरह कृष्ण चरित्र में सम्पन्न हुआ है उतना राम चरित्र में नहीं।

युद्ध के लिए शक्ति और साधनों की आवश्यकता पड़ती है। यदि वह न जुट सके तो क्या करना चाहिए इस प्रश्न का उत्तर रामचरित्र में उतना स्पष्ट नहीं है जितना कृष्ण चरित्र में। कृष्ण छापा मार लड़ाई का—जैसे को तैसा बनने का समर्थन करते हैं और काँटे से काँटा निकालने के आपत्ति धर्म को भी मान्यता देते है। राम तप और त्याग के प्रतीक हैं, कृष्ण ने एक पक्ष और जोड़ा है कि वैभव का अभिवर्धन और प्रखर उपयोग भी तप और त्याग की तरह ही उपयोगी सिद्ध हो सकता है। ऐसे ऐसे अनेक पक्ष है, जिनके लिए राम और कृष्ण अवतारों की विशेषताओं का समन्वय गंगा और यमुना के संगम की तरह करना पड़ेगा। हमारे साँस्कृतिक आकाश में सूर्य और चन्द्रमा के तरह राम और कृष्ण के दोनों अवतार अपनी-अपनी विशेषताओं के साथ एक दूसरे के पूरक बन कर चमकते हैं। इसी से कीर्तनों मे "हरे राम हरे कृष्ण" की ध्वनि गूँजती सुनी जाती है।

राम पिता के आदेश, विमाता के निर्देश को महत्व देते हैं और उनके द्वारा बरते गये अनौचित्य को सहन कर लेते है। इसी प्रकार से भाई के प्रति उदारता बरतने की स्नेह भावना को सर्वोपरि मानते हुए किसी प्रकार का विरोध तो करना दूर, राज्य को आग्रहपूर्वक भाई को ही देते है। इसमें आदर्शवाद की चरम सीमा है। कृष्ण ऐसे अवसरों पर सन्तुलित और व्यावहारिक नीति अपनाये जाने की बात कहते है। कर्तव्य पालन को वे एक पक्ष और अधिकारों की रक्षा को उसी का अविछिन्न अङ्ग मानते हैं। अस्तु भाई अपना राज्याधिकार भाई को सदा उदारतापूर्वक ही सौंपता

रहे, यह आवश्यक नहीं, परिस्थिति के अनुसार प्रतिकार भी हो सकता है। इसका उत्तर कृष्ण ने महाभारत की उग्र व्यवस्था बनाकर दिया है। यों धीमे रूप में यह प्रसंग बालि, सुग्रीव और रावण विभीषण के विरोध मे उभरे हैं पर वे उतने प्रखर और व्यापक नहीं जितने महाभारत प्रसंग में स्पष्ट रूप से सामने आये हैं।

कृष्ण जन्म जेल में अर्थात् ऐसी परिस्थितियों में होता है जहाँ विकास की कोई सम्भावना नहीं। किन्तु यदि अपना सङ्कल्प सबल है ताले खुल जाते हैं, अवरोध हट जाते हैं और पहरेदार अर्थात् बाधक व्यक्ति भी सो जाते हैं। जेल जैसे प्रतिबन्धों के रहते हुए भी निकल सकना, गरजती वर्षा और उमड़ती नदी को पार कर सकना वसुदेव के लिये सम्भव हो सका। सदुद्देश्य के लिए उभरा हुआ प्रचंड सङ्कल्प बल ऐसे मार्ग निकालता है जिस पर चलकर नैपोलियन की वह मान्यता सही सिद्ध की जा सकती है जिसके अनुसार वह असम्भव शब्द को ही अस्वीकार करता है। महामानवों द्वारा साधनहीन परिस्थितियों मे भी सदुदेश्य के लिए साहसपूर्वक चल पड़ने और उसमें सफल होने के अनेकानेक प्रमाणों में इस तथ्य की भली प्रकार पुष्टि होती है।

शिशुपालन में वात्सल्य के विकास की आवश्यकता हो सकती है पर स्नेह मात्र अपने ही बच्चों को दिया जा सकता है दूसरों के बालकों को नहीं। इस संकीर्णता को देवकी और यशोदा ने झुठला कर दिखाया है। यशोदा ने देवकी का पुत्र पाला और देवकी ने यशोदा की कन्या को उतना ही वात्सल्य दिया। यदि आज यह आदर्श ध्यान मे रखा जा सके तो उदार लोग नित नये बच्चे उत्पन्न करने की आवश्यकता अनुभव न करें और पिछड़ी परिस्थितियों में जन्में बालको को सुयोग्य बनाने में अपने वात्सल्य और साधनों को लगा कर उदार सद्भावना को मूर्तिमान करने के नये आधार प्रस्तुत कर सकें।

विपत्तियों की चुनौती हर किसी के जीवन में आती है। उनके प्रहार से भगवान तक नहीं बचते। श्रेष्ठ सज्जन भी उनकी चपेट से नहीं बचते फिर सामान्य—मनुष्यो की तो बात ही क्या? सम्पदा मे उत्साह बढ़ता है और सुविधा रहती है किन्तु विपत्ति से टकराने पर कौशल और साहस की जो प्रखरता उपलब्ध होती है वह भी कम मूल्यवान नहीं है। महानता का अभिवर्धन प्रायः कठिनाइयों के वातावरण में ही सम्भव होता है। भगवान कृष्ण को आरम्भ से ही पूतना, तृणावर्त, मत्सासुर आदि असुरों का सामना करना पड़ा। वे न घबराये, न डरे वरन् साहस पूर्वक उनसे संघर्ष करते रहे। न्याय पक्ष दीखने में दुर्बल होते हुए भी साहसी किस प्रकार दुर्दान्त असुरता को पछाड़ सकता है इसे कृष्ण की बाल लीलाओं के साथ जुड़े हुए दैत्य दमन को देखकर सीखा जा सकता है।

घर में भरी सम्पन्नता को सीमाबद्ध अधिकार मे न रहने देकर उसे मिल बाँटकर उपयोग में लाने की प्रक्रिया हर उदार आत्मा द्वारा अपनाई जानी चाहिए। कृष्ण के यहाँ बहुत गोधन था। उनके भण्डार भी दूध से भरे रहते थे। पर उसका उपयोग कृष्ण परिवार ही करता था। पड़ौस के गरीब ग्वाल बाल उससे वञ्चित रहते कृष्ण ने समान वितरण और सहउपभोग का आदर्श—अपनाया और साथ ही घर के लोग इस प्रकार वितरण के पक्ष में थे और बात भी स्पष्ट थी। अस्तु कृष्ण ने बच्चों को इकट्ठा करके एक की पीठ पर एक चढ़ने की चतुरता अपनाकर टँगा हुआ मक्खन उतारने और मिल बाँटकर खाने की नीति अपनाई। यह कार्य खुले—खुले न हो सकने की कठिनाई को समझते हुए लुका छिपी की नीति अपनाई और मिल बाँटकर मक्खन खाया।

इस प्रसङ्ग में कई तथ्य उभर कर आते है एक यह कि मिल बाँटकर खाने का औचित्य और संग्रह करने का अनौचित्य हर किसी के ध्यान में रहना चाहिए। दूसरा यह कि सदुद्देश्य की पूर्ति के लिए तथाकथित कथनों की इच्छा के विरुद्ध 'लुक—छिप' की नीति भी अपनाई जा सकती है। तीसरी यह कि छोटे लोग भी मिलजुल कर काम करें तो उस सहयोग के बल पर बड़े काम हो सकते हैं। छोटे बच्चों के लिए यह कठिन है कि वह ऊँचे टँगे मक्खन के घड़े को उतार सकें पर वे एक के कन्धे पर एक चढ़ने की सहकारिता अपना कर किसी युवा व्यक्ति से भी ऊँचे बन गये और अपने उद्देश्य में सफल हो गये।

कृष्ण द्वारा ऐसी ही नीति गोपियों को मथुरा दूध दही बेचने जाने से रोकने में अपनायी गयी। कंस की रानियाँ दूध, दही से स्नान करती थीं। उनके लिए कंस ऊँची कीमत का लोभ देकर सारा दूध दही खरीद देता था इस दुरुपयोग के कारण बच्चो को पोषण तथा रोगियो के पथ्य के लिए भी गोरस दुर्बल होता जा रहा था। धन के लोभ में गोपियाँ सदुपयोग की उपेक्षा करके दुरुपयोग के लिए ही वह सब दे आती थीं। कृष्ण ने इस अनीति का—विरोध किया। जब बड़े बूढ़ों ने कंस के भय या अपने प्रमादवश उनकी बात पर ध्यान नहीं दिया तो उन्होंने सीधे ही सत्याग्रह प्रारम्भ

कर दिया। वाल सङ्गठन की ओर से घोषणा कर दी गयी कि जो इस अनीति की राह पर बढ़ेगा उसका दूध दही मार्ग में ही नष्ट कर दिया जायगा। यही किया भी गया और दूध दही जैसे द्रव्यों के सदुपयोग की परिपाटी पुन: स्थापित हो सकी।

समाज में ऐसी स्थितियाँ बहुधा आती है जब लोग लोभवश वस्तुओं के दुरुपयोग के समर्थक बन जाते हैं। बहुत से ऐसे भी होते हैं जो समझाने से नहीं समझते और जनहित की उपेक्षा करते चले जाते हैं। ऐसे लोग स्वार्थ पूर्ण लालच वश ही ऐसा करते हैं। उस अनुचित लाभ के रास्ते रोक देना ही उनका इलाज हो सकता है। उसमें छल बल से काम लेना पड़े तो भी जनहित के लिए उसे कर लेना अनुचित नहीं कहा जा सकता।

बच्चों को यदि सुयोग्य बनाना हो तो उन्हें बचपन से ही श्रमशील बनाया जाना चाहिए। कोई भी काम छोटा नहीं। श्रम मे कोई अप्रतिष्ठा नहीं। यही तथ्य कृष्ण के बचपन से ही गौएँ चराने के अपने पैतृक उद्योग में हाथ बटाने की अभिरुचि के साथ लिपटा हुआ है। अभिभावक धनी होते हुए भी बच्चे को आराम तलब न बनायें, उन्हे कठोर जीवन पद्धति अपनाने के लिए प्रोत्साहित करें। सम्मिलित श्रमनिष्ठा ही किसी समाज के सर्वतोमुखी विकास की आधार हो सकती है। दुलार का तरीका बच्चों को सजे हुए गुड़िया-गुड्डे बनाने में नहीं वरन् उन्हें कठोर जीवन से परिचित और अभ्यस्त बनाने में है। नन्द-यशोदा के कृष्ण के प्रति असीम प्यार का यह अच्छा नमूना है कि उन्हें आरम्भ से ही गौ-चराने की श्रमनिष्ठा सिखाई।

यहाँ गोपालन और गौसम्वर्धन की महत्ता एवं उपयोगिता का प्रतिपादन भी है। सिक्कों और धातुओं को ही धन नहीं माना जाना चाहिए वरन् यह समझा जाना चाहिए कि जीवनोपयोगी वस्तुओं का संवर्धन अधिक वास्तविक धन है। भारत जैसे कृषि प्रधान देश में गौ-संवर्धन अन्नोत्पादन के लिए नितान्त आवश्यक है। अपने देश की छोटी जोतों और निर्धन परिस्थितियों में बैल ही सस्ते टैक्टर का काम कर सकता है। गोबर से बढ़ कर भूमि की उर्वरता बढ़ाने वाली और कोई खाद नहीं हो सकती। स्वास्थ्य रक्षा के लिए गौ दुग्ध से बढ़कर और कोई पोषक पदार्थ नहीं। अस्तु गौ संवर्धन में प्रत्येक व्यक्ति की रुचि को प्रोत्साहित करने के लिए भगवान ने अपने को गोपाल गोविन्द बनना ही उचित समझा। गान्धीजी ने भी स्वदेशी सादगी और श्रमनिष्ठा की भावनाओ को प्रोत्साहित करने के लिए चर्खे के प्रचलन पर जोर दिया था और उसे अपने दैनिक कृत्य में सम्मिलित किया था।

गायें चराने के दिनों में अन्य बालकों के साथ जाति-पाँति का भेदभाव न करना और रोटियाँ मिल बाँटकर खाना बताता है कि धन, वंश आदि के नाम पर प्रचलित विषमता के प्रति कृष्ण का दृष्टिकोण कितना स्पष्ट था। सखा गोपबालक अन्य जाति-वंशो के थे पर उनके बीच आज जैसे भेदभाव को कहीं भी स्थान नहीं मिलता था। उनके परस्पर स्नेह व्यवहार और आत्मीयता में उनके माता पिता के स्तरों का भेद कभी बाधक न हो सका। वे एक दूसरे के सुख दुख विनोद आदि में बराबरी के हिस्सेदार रहते रहे।

रासलीला में बालकों में बिना लड़की-लड़के का भेदभाव किये सह-शिक्षा और विनोद का समर्थन है। नर और नारी मनुष्य जाति के दो वर्ग नहीं दो पक्ष हैं। उनके कार्यक्षेत्र अलग रहें और शील सदाचार की मर्यादा भी अक्षुण्य रखी जाय किन्तु उन्हें इतना दूर एवं इतना पृथक [illegible] ऊँची दीवार खड़ी की जाय। रासलीला में बालक कृष्ण का पड़ौस की बालिकाओं के साथ खेल-कूद और आमोद-प्रमोद का प्रमाण मिलता है। इसमें नर और नारी के बीच शील रक्षा के साथ सघन सहयोग की परिस्थितियाँ बनाने का समर्थन है।

कृष्ण की कलाप्रियता जीवन में सरसता के समन्वय की समर्थक है। वे रुचिपूर्वक वंशी बजाते थे और अन्त:करण को हुलसित करने वाली संगीत शक्ति को मानवी उत्कर्ष में प्रयुक्त किये जाने के पक्ष में थे। नृत्य अभिनय और हास परिहास के अनेक प्रसंगों से कृष्ण का बचपन भरा पूरा है। गेंद खेलना, कालियादह जैसे खतरों में कूदना उनकी खिलाड़ी और उत्साही प्रकृति का परिचायक है। वस्तुत: खिलाड़ी की मनोवृत्ति रखकर ही शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को अक्षुण्य रखा जा सकता है। कृष्ण की बाल लीलायें इस आवश्यकता की ओर जनसाधारण का ध्यान आकर्षित करती है।

कृष्ण सम्पन्न परिवार में जन्मे थे। अमीरी ठाटबाट से पढ़ने और मास्टर नौकर रखने की उनकी स्थिति थी तो, पर अभिभावकों ने यही उचित समझा कि उन्हें व्यक्तित्व हर दृष्टि से परिपुष्ट करने का अवसर दिया जाय। वे मथरा

से बहुत दूर उज्जैन में स्थित संदीपन ऋषि के गुरुकुल में पढ़े। सुदामा जैसे निर्धन छात्रों की तरह ही उन्हें भी रहना होता था। आश्रम के लिए लकड़ी काट कर लाने जैसे कार्य वे प्रसन्नतापूर्वक करते थे। हमारी शिक्षा पद्धति ऐसी ही होनी चाहिए। पिता के बड़प्पन से बेटा बड़ा कहला सकता है यह मान्यता बच्चों को अपनी योग्यता और क्षमता बढ़ाने के प्रति उदासीन बना देती है। अपने अन्दर बड़प्पन के गुण विकसित करके ही व्यक्ति बड़ा बने यह मान्यता शिक्षण काल में तो विशेषरूप से हर शिक्षार्थी में गहराई से बिठायी जानी चाहिए। इसके लिए अभिभावकों की सम्पन्नता या निर्धनता का भूत उतारकर हर शिक्षार्थी को समान जीवनचर्या की व्यवस्था बनाई जानी आवश्यक है। श्रम के प्रति निष्ठा, किसी भी कार्य को छोटा न मानना, सौंपे गये कार्य को करने में कठिनाईयों से भयभीत होकर छोड़ न देने जैसी प्रवृत्तियाँ अध्ययन काल में ऐसी ही जीवनचर्या अपनाकर विकसित की जा सकती है।

अपने अज्ञानवश लोग ईश्वर की इच्छा और प्रकोप की व्याख्यायें करने लगते है। ब्रज में बाढ़ का कारण इन्द्र की नाराजी मानकर उन्हें प्रसन्न करने के लिए मात्र पूजा कर्मकाण्डों का सहारा लिया जाता था। सम्पन्नता बढ़ाने के लिए तथा हानि से बचने के लिए कोई अन्य प्रयास न करके लोग अपने सारे शक्ति साधनों को झोंक रहे थे। कृष्ण ने उन प्रचुर शक्ति और साधनों को सही दिशा दी। इन्द्र पूजन में लगने वाले धन को गौसंवर्धन में लगाने की प्रेरणा दी। उन्होंने लोगो को बतलाया कि ऐसे कार्यों से देव शक्तियाँ अप्रसन्न नहीं प्रसन्न ही होती हैं। बाढ़ से होने वाली हानि को इन्द्र के प्रकोप के कारण नहीं—अकर्मण्यता के कारण होना सिद्ध किया तथा सामूहिक श्रम की महत्ता समझकर उससे ही समस्या का समाधान निकाल दिया।

सामूहिक श्रमदान से सत्परिणाम की सिद्धि के उदाहरणस्वरूप भगवान ने गोवर्धन पर्वत बनाने का कार्य सम्पन्न किया। इन्द्र के कोप से वर्षा एवं बाढ़ के प्रकोप से उस क्षेत्र को बचाने के लिए गोवर्धन नामक बाँध बनाने की व्यवस्था की। कृष्ण की उँगली के इशारे पर सभी गोपगण अपने लाठी जैसे स्वल्प साधन लेकर जुट गये और समतल भूमि पर ऊँचा गोवर्धन बाँध बनकर तैयार हो गया। सामूहिक संकटों के समाधान से सामूहिक प्रयत्नों की कितनी महत्ता है यह गोवर्धन धारण प्रसंग से सिद्ध होता है। इसी प्रयत्न से जमुना की बाढ़ जैसी कठिनाई से उस क्षेत्र की जनता ने आत्मरक्षा की थी। ऐसे प्रयासों को भगवान की प्रेरणा कहा जा सकता है उन योजनाओं के पीछे ईश्वर का अँगुलि निर्देश माना जाय।

सत्य में हजार हाथी के बराबर बल होता है। साधनों की तुलना में साहस की सामर्थ्य अधिक है। इस तथ्य का परिचय कृष्ण द्वारा अनेक संघर्ष लोगों की सफलता के रूप में सामने आता है। कंस दरबार में वे निर्भयतापूर्वक बढ़ते चले गये और कुवलियापाड़ हाथी, चाणूर, मुष्टिकासुर आदि बलवानों से लड़कर विजयी बने। कालयवन और जरासन्ध की लड़ाई में भी साहसी कृष्ण प्रचुर साधनों को परास्त करने में सफल हुए। सत्यपक्ष यदि साहस का परिचय दे तो प्रहलाद की तरह समुद्र पाटने में संलग्न टिटहरी की तरह अन्ततः विजयी ही होती है। "सत्यमेव जयते नानृतं" का प्रतिपादन महामानवों के जीवनक्रम में चरितार्थ हो होता रहता है।

कृष्ण ने कंसवध करके शासन तो पलटा, पर स्वयं राज्याधिकारी न बने। सिंहासन पर उपयुक्त पात्र उग्रसेन को बिठाया। इसमें बड़े से बड़े और कठिन से कठिन काम करने किन्तु पद लोलुपता से दूर रहने की नीति का प्रतिपादन है। गाँधीजी ने कोई पद नहीं लिया था। उन्हें, मात्र स्वयंसेवक रहने में ही गौरव अनुभव हुआ। आज हर क्षेत्र में आत्मविज्ञापन और पदलोलुपता की बढ़ती हुई ललक पर अंकुश रखने के लिए कृष्ण का यह उदाहरण बहुत ही प्रेरणाप्रद है। महाभारत का सूत्र संचालन भी उन्होंने स्वयं किया पर श्रेय दूसरे को ही दिया।

कृष्ण अपने बड़े भाई बलराम का अतिशय आदर करते थे पर जहाँ सैद्धान्तिक मतभेद सामने आया तो उन्होंने भाई की इच्छा के विरुद्ध भी कदम उठाये। सुभद्रा विवाह जैसे अनेक प्रसंगो में मतभेद के अवसर पर बड़ों के सम्मान को आड़े न आने देने और औचित्य का समर्थन करने का साहस उन्होने दिखाया।

उच्च उद्देश्य के लिए जन्मस्थान को छोड़ कर अन्यत्र जाना पड़े तो इसमें स्थान मोह नहीं होना चाहिए। कुटुम्बियों के पास ही रहने का आग्रह करके उपयोगी संभावनाओं को उपेक्षित नहीं करना चाहिए। कृष्ण जहां जन्मे वहाँ पले नहीं—जहाँ पले, वहाँ रहे नहीं। जिनके बीच खेले, उन्हीं के साथ बँधकर रहने का उनका आग्रह नहीं हुआ। आवश्यकतानुसार वे मथुरा से नन्दगाँव, वृन्दावन, पुनः मथुरा और फिर द्वारिका जाने बसने के उपक्रम करते रहे। सभी संसार अपना है। घर और सारा मानव समाज अपना परिवार मानने और जहाँ भी अधिक उपयोगिता समझी जाय वहीं जाकर डेरा डालने की नीति

अपनाने में मनुष्य की व्यापक दृष्टि का परिचय मिलता है। धन लोभ को स्थान-स्थान और परिवार के सीमित क्षेत्र में ही जकड़ जाने और उस घेरे से बाहर निकलने मे डरने की नीति अपनाई नहीं जानी चाहिए। कृष्ण की मोह उपेक्षा में अपनों के प्रति अवज्ञा का नहीं, व्यापकता के समर्थन का भाव है। यही दृष्टिकोण लोकोपयोगी हो सकता है।

गीता सुनाकर भगवान ने अर्जुन के कर्मयोग का उपदेश दिया और औचित्य की रक्षा के लिए कठोर कर्म में प्रवृत्त होने के लिए उसे विवश कर दिया। कृष्ण का प्रतिपादन कर्तव्य कर्म पालन करने में योगाभ्यास के सभी सत्परिणामों के समन्वय का प्रतिपादन है। यहाँ ज्ञान संवर्धन के लिए स्वाध्याय, सत्संग, मनन, चिन्तन के ज्ञान योग का और उपासना एवं दार सेवा साधना के भक्ति योग का निषेध नहीं है। गीता में इन दोनों की उपयोगिता भी स्वीकार की गई है पर आत्मिक प्रगति का केन्द्र बिन्दु, कर्मयोग को मानकर उसे प्रधानता दी गई है। कर्तव्य बुद्धि से नैतिक मर्यादाओं का पालन करते हुए खिलाड़ी की सन्तुलित मन:स्थिति में किये गये सत्कर्मों को कर्मयोग में गिना गया है और उस पर आरूढ़ रहने वाले को आत्मिक और भौतिक प्रगति में सफल होने की बात कही गई है। कर्मयोगी को श्रेष्ठतम भक्त कहा गया है जन समाज को कर्तव्य परायण बनाने की प्रेरणा देने के लिए ही भगवान ने गीता का उपदेश दिया है।

कृष्ण की अति महत्वपूर्ण अवतार चेतना महाभारत में प्रकट हुई है। उपद्रव की प्रत्यक्ष हानियों से डरकर अनीति को सहन कर लेने की तथाकथित उदारता का उन्होंने निषेध बताया है कि अनीति का विरोध न करना प्रकारान्तर से उसका मौन समर्थन सिद्ध होता है और उससे अन्यायी का ही नहीं दर्शकों को भी वैसी ही सस्ती सफलता पाने की उत्साह बढ़ता है। इस शृंखला से जो अनाचार फैलता है उसकी हानि संघर्ष के लिए खड़े किये गये उपद्रव में होने वाली हानि को तुलना में कहीं अधिक होती है। अस्तु अनीति के विरुद्ध संघर्ष को उन्होने अनिवार्य माना और उसका सूत्र संचालन करने को स्वयं कटिबद्ध हो गये। अर्जुन को उकसाया उसके साथ रथ चलाया तथा समर्थकों का सैन्य दल खड़ा किया और तभी चैन लिया जब कौरवी असुरता पूरी तरह निरस्त हो गई। अनीति को दर गुजरने दिया जाय उससे लड़ा जाय यह है भगवान कृष्ण की नीति जो द्वापर की तरह आज भी अपनाये जाने योग्य है।

भाई भाई के साथ कैसा व्यवहार करें यह विवेक से ही किया जाना चाहिए। राम ने देखा भरत के हाथ में राज्य जाने पर उसका सदुपयोग ही हो सकता है इसलिए अपना हक छोड़कर भाई को राज्य सौंपना उचित समझा गया। कौरव उस शक्ति का दुरुपयोग कर रहे थे इसलिए उनसे शक्ति छीनने के लिए पाण्डवों को प्रेरित किया गया। प्रश्न भाई या अमुक सम्बन्धी का नहीं उपयोग का है। अपना समर्थन सहयोग एवं अनुदान किसे मिले इससे किसी वंश, वर्ग या रिश्तेदारी को महत्व नहीं दिया जाना चाहिए वरन् साधनों के उपयोग की सम्भावना पर ही सारा ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। भरत और कौरवों के लिए भिन्न प्रकार की नीतियाँ इसी आधार पर अपनाई गई थीं। भरत जैसे भाइयों के लिए राम की तरह त्याग तथा कौरवों जैसे भाइयों के प्रति पाण्डवों को युद्ध के लिए तैयार कराने का कृष्ण जैसा आदर्श अपनाया जाना उचित है।

कृष्ण ने शान्ति और क्रान्ति की उभय पक्षीय नीति द्रोणाचार्य शस्त्र और शास्त्र दोनों का ही उपयोग करते थे वे कन्धे पर धनुष लेकर चलते थे और हाथ में शास्त्र। महाभारत में इस स्वरूप की चर्चा इस प्रकार हुई है :-

अग्रतः चतुरो वेदाः पृष्ठतः सशरं धनु।
इदं ब्राह्मं इदं क्षात्रं, शास्त्रादपि शरादपि॥

आगे चारों वेद, पीठ पर धनुषबाण। आगे वाला ब्राह्मण पीछे वाला क्षत्रिय। आवश्यकतानुसार दोनों का ही उपयोग किया जाना चाहिए। धर्मशिक्षण प्रथम कर्तव्य है पर जहां पशुता बढ़ी चढ़ी हो और उसे समझ नहीं पा रही हो वहाँ सुधारात्मक दंडनीति का अपनाया जाना भी आवश्यक है।

कृष्ण ने कौरवों को समझाने में कोई कमी नहीं रखी थी। उन्होंने शान्ति दल की भूमिका पूरी तरह निबाही किन्तु जब देखा कि इतने से काम नहीं चलता तो महाभारत की व्यवस्था बनाई। भगवान राम ने भी अंगद को लंका में शान्तिदूत बनाकर भेजा था पर उससे जब सफलता न मिली तो लंकाकाण्ड रचा गया। किसी पर कोप करने और कठोर नीति का प्रयोग करने से पूर्व उसे शान्तिपूर्वक समझाये जाने की नीति को सदा ही प्रश्रय दिया जाना चाहिए। किसी को सद्भावना उभार कर उसे सन्मार्ग पर लाना श्रेष्ठ ढंग है किन्तु यदि वह पशुता को न छोड़े तो उसके लिए शक्ति प्रयोग की व्यवस्था बनाने में भी झिझकना नहीं चाहिए।

संधिदूत के रूप में श्रीकृष्ण के चरित्र की निस्पृहता और प्रखरता एक साथ उभर कर आती है। वे सर्वपूज्य होते

हुए भी सदुद्देश्य के लिए दूत बनकर जाने में अपना असम्मान नहीं मानते। दूत बनकर जाते तो हैं किन्तु कौरवों का आतिथ्य स्वीकार नहीं करते। उसके भोग वैभव भरे बनावटी आतिथ्य की अपेक्षा विदुर के भाव भरे कंदमूल प्रसन्नता से स्वीकार करते हैं। संधिवार्ता के लिए बुलायी गई सभा मे अपने ओजस्वी भाषण से दुर्योधन के समर्थकों मे से अधिकांश को अपने पक्ष में कर भी लेते है। किन्तु दुर्योधन अपनी हठधर्मी न छोड़कर उन्हें बलपूर्वक अपने पक्ष में करने की सोचता है तो उनका वह रौद्ररूप प्रकट होता है जिसे देखकर दुष्टो के दिल दहल जाते हैं। सौम्यता, स्नेहभावना तथा पराक्रम का ऐसा समन्वय ही उल्लेखनीय कार्यों का आधार बन सकता है।

भगवान राम ने जिस प्रकार माता कौशल्या और भक्त काकभुशुण्डि को अपना विराट रूप दिखाया था उसी प्रकार श्रीकृष्ण अनेक स्थलों पर भक्तों को अपना विश्वरूप दिखलाते है। बाल्यकाल मे मुँह खोलने का आग्रह करते समय माता यशोदा को तथा गीता उपदेश के समय अर्जुन को विश्वरूप दर्शन के प्रसंग सर्वविदित हैं। इनके अतिरिक्त ब्रह्महृद में स्नान कराकर अपने भक्त गोपों को तथा मथुरा जाते समय मार्ग में उद्धव को भी विराट रूप के दर्शन कराने का प्रसंग मिलता है। यह दर्शन भक्तो की मोह बुद्धि दूर करने के लिए कराये जाते है। भगवान की चेतना अवतारियों के शरीरो के माध्यम से कार्य तो करती है किन्तु वह वहीं तक सीमित नहीं होती भगवान का प्रत्यक्ष रूप देखना हो तो उसे इस ब्रह्माण्ड में संव्याप्त देखा जाय और वस्तुओं का श्रेष्ठतम सदुपयोग सभी प्राणियों के साथ श्रेष्ठतम सद्व्यवहार की नीति अपनाई जाय, शिवलिंग और शालिग्राम की गोल मटोल प्रतिमाएँ भी गोलाकार विराट ब्रह्म की मान्यता को परिपुष्ट करने के लिए तत्ववेत्ताओं ने विनिर्मित की है।

योगेश्वर ने गीता उपदेष्टा जैसी उच्च मन:स्थिति मे होते हुए भी छोटे से छोटे काम को भी हेय नहीं समझा और उसे अपने हाथों सम्पन्न किया। वे अर्जुन के सारथी बने और अपने हाथो घोड़े चलाये। पाण्डवों के राजसूय यज्ञ में उन्होंने प्रथम पूज्य का सम्मान पाते हुए भी अभ्यागतों के पैर धुलाने का कार्य अपने हाथों में लिया। योग्यता और क्षमता में अद्वितीय होते हुए भी अहंकार को पास न फटकने देना महानता के प्रमुख चिन्ह के रूप में श्रीकृष्ण के जीवन से सीखा जा सकता है।

कार्य और शक्ति का मूल्यांकन इस दृष्टि से किया जाना चाहिए कि उसका उपयोग किस प्रयोजन के लिए हुआ। उद्देश्य के अनुरूप ही किसी की उत्कृष्टता निकृष्टता आँकी जानी चाहिए यह निष्कर्ष कृष्ण अवतार का है। सामान्यतया व्यक्तित्व की प्रशंसा उसकी निजी विशेषताओं की न्यूनाधिकता को देखकर की जाती है, यह मापदंड कृष्ण ने अमान्य ठहराया। उनके व्यक्ति अथवा कार्य का महत्व इस बात पर आधारित माना जाना चाहिए कि उसके द्वारा किस प्रयोजन की पूर्ति होने जा रही है।

कौरवों के पक्ष में कर्ण जैसे दानी, भीष्म जैसे सिद्धान्तवादी, द्रोण जैसे सन्त थे पर उन सबका उपयोग अनीति संवर्धन में होता था। कृष्ण ने पाण्डवों से झूठ बुलवाया, छल करवाया। अश्वत्थामा मरण की घोषणा जयद्रथ वध आदि की घटनाएँ ऐसी ही है जो अनैतिक लगती हैं पर वे नैतिकता को विजयी बनाने के लिए की गई, इसीलिए कृष्ण उनके समर्थक रहे। कृष्ण नीति यह थी कि किसी वस्तु या व्यक्ति की श्रेष्ठता निकृष्टता उसके प्रत्यक्ष स्वरूप को देखकर नहीं उसके द्वारा हो रहे काम एवं उद्देश्य की पूर्ति को ध्यान में रखकर की जानी चाहिए। नियम और सिद्धान्त व्यक्ति तथा समाज में औचित्य की स्थापना के लिए बनाये जाते हैं। यदि किन्हीं नियमों की आड़ में अनैतिकता को प्रश्रय मिलने लगे तो उन्हें आपत्ति धर्म मानकर तोड़ देने में कोई हानि नहीं समझी जानी चाहिए।

अकर्म का घनघोर विरोध करते हुए भी व्यक्ति के प्रति सद्भावना बनाये रहना संभव हो सकता है इसका प्रमाण कृष्ण के व्यवहार में मिलता है। भीष्म और कर्ण को उन्होंने युद्ध में परास्त कराया किन्तु अन्य सदगुणों की प्रशंसा भी कृष्ण ने मुक्तकंठ से की। शरसैय्या पर लेटे हुए भीष्म के पास वे स्वयं भी गये तथा पाण्डवो से भी उनका आशीर्वाद तथा उपदेश ग्रहण करने का आग्रह किया। कर्ण के शरीर त्याग के पूर्व भी वे स्वयं युद्धभूमि में उसके पास गये तथा उसे अपनी करुणा का प्रसाद देकर धन्य बनाया।

अभिमन्यु मरण के उपरान्त सुभद्रा को शोक की निरर्थकता समझाने में कृष्ण की सफलता देखने ही योग्य है। गीता में जैसी कर्मयोग की शिक्षा सखा अर्जुन को दी है वैसा ही उन्होंने हानि और वियोग से उत्पन्न शोक का समाधान करके संतुलन बनाये रहने की शिक्षा अपनी बहिन सुभद्रा को भी दी है। स्वजनों की—सम्पर्क क्षेत्र की मन:स्थिति को यथार्थ अनुगामी बनाने का प्रयत्न प्रत्येक विवेकशील को करना ही चाहिए।

भगवान कृष्ण ने सुसंतति की आवश्यकता पूर्ति के लिए रुक्मिणी समेत बारह वर्ष बद्रीनाथ रहकर तप किया था। इसके बाद ही उनको प्रद्युम्न नामक पुत्र हुआ था। श्रेष्ठ सन्तान के लिए आवश्यक है कि माता पिता अपनी स्थिति हर दृष्टि से इतनी उत्कृष्ट बनाये कि उनके व्यक्तित्व की प्रतिच्छाया संतान में प्रकट हो सके। शारीरिक और मानसिक अधोगति के रहते सन्तान के लिए विपत्ति मोल लेना और संसार का भार बढ़ाना ही कहा जा सकता है।

सुदामा की गुरुकुल संस्था की उपयोगिता और आवश्यकता को कृष्ण ने समझा और उसे समुन्नत करने के लिये अपना सारा कोष खाली कर दिया। सुदामापुरी को द्वारिकापुरी के समकक्ष ही बना दिया।

कृष्ण की प्रत्यक्ष विशेषताओं और विभूतियों को देख कर उन्हें योगेश्वर पूर्णपुरुष आदि के नाम से पुकारा जाता था और सर्वत्र असीम सन्मान मिलता था। कृष्ण ने सुदामा के आगमन पर उनके चरण पखारे। ऐसा करके उन्होंने यह सिद्धान्त जन मानस में उतारा कि सर्वोपरि सन्मान के अधिकारी वे लोग हैं जो व्यक्तिगत जीवन में संयमी, अपरिग्रही रहकर अपनी विभूतियों का उपयोग परमार्थ प्रयोजन के लिए नियोजित रखे रहे।

कृष्ण का जीवन इस तथ्य का प्रमाण है कि मनुष्य लम्बी आयु प्राप्त करके भी शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से पूर्ण समर्थ रह सकता है। श्रीकृष्ण जीवन के अन्तिम क्षणों तक समर्थ और सशक्त बने रहे। जब उनके पुत्र और पौत्र भी युवा हो गये तब भी अनेक अवसरों पर उन्होंने बड़े-बड़े वीरों के लिए भी दुर्दम्य समझे जाने वाले असुरों को अकेले पराजित किया। इस प्रकार उन्होंने अपने जीवन के उदाहरण से सिद्ध कर दिया कि मनुष्य मे शारीरिक एवं मानसिक दुर्बलतायें आयुवृद्धि के कारण नहीं असंयम और असंतुलन के कारण आती है।

अनीति निवारण के उनके दृढ़ संकल्प और सिद्धान्त निष्ठा का परिचय अनुशासनहीन यदुवंशियो के विनाश के प्रसंग में मिलता है। उन्होने समाज में व्याप्त अवाँछनीय तत्वों का उन्मूलन हर क्षेत्र में किया। वैसे कुछ तत्व यदुवंशियों में भी पनप गये थे। कृष्ण के प्रभाव के कारण वे उभर नहीं पाते थे—किन्तु कृष्ण ने समझ लिया कि उनके शरीर त्याग के बाद वे लोग समाज को हानि पहुँचाने लगेंगे। इसीलिए उन्होंने किसी प्रकार का मोह किए बिना दृढ़ता के साथ अपने महाप्रयाण के पहले उन्हें समाप्त कर दिया। सामाजिक हित साधन में बाधक अपने निकटतम व्यक्तियों को भी कठोरतम दण्ड देने का यह आदर्श दुर्लभ ही कहा जा सकता है।

कर्मफल की अनिवार्यता सिद्ध करने में कृष्ण का अन्त काल साक्षी है। बहेलियें का तीर उनके पैर में लगा और वे स्वर्गवासी हुए। कहा गया है कि यह बहेलिया पिछले जन्म का बालि था। जिसे रामजन्म में उन्होंने छिप कर मारा था। उसी प्रकार छिप कर बहेलिये के बाण से उन्हें भी मरना पड़ा। कर्मफल से भगवान तक नहीं बच सकते। भगवान से भी कर्म बड़ा है। इस तथ्य को समझा जाना चाहिए और सत्कर्म परायण रहकर सुख शान्ति का पथ प्रशस्त करना चाहिए। अनीति का मार्ग अपनाते रहे तो पूजा-पाठ के सहारे से बच निकलने की बात सोचे तो यह ईश्वरीय व्यवस्था का उपहास ही होगा।

भगवान कृष्ण के चरित्रों में उनके जीवनोद्देश्य की झाँकी मिलती है। दुर्भाग्यवश न जाने कहाँ से ऐसे प्रसंग उनके साथ जोड़ दिये गये हैं। जिनमें उन्हें शील सदाचार में शिथिल बताने की धृष्टता की गई है। गोपियों के वस्त्र चुराने, रासलीला, बहुपत्नी वरण जैसे कितने ही आरोपण ऐसे है जो अनैतिकता-समर्थकों ने अपने कुकृत्यों का औचित्य सिद्ध करने के लिए उन्हें भगवान के चरित्र में भी ठूँस दिये हैं। वस्तुतः पूर्ण पुरुष योगेश्वर नैतिक और सामाजिक मर्यादाओं का पालन करने वाले महान अवतार थे। उन्होंने मन, वचन, कर्म से ऐसे आदर्श उपस्थित किये जो हमारे लिए आज की स्थिति में भी अनुकरणीय हैं। इन प्रेरक प्रसंगों में से जो आज है और उपयोगी है उन्हें अपनाने का प्रयत्न किया जाय तो श्रद्धा और कृष्ण भक्ति सार्थक हो सकती है।

प्रज्ञा-भक्ति इसका अगला चरण है। जिसने राम की मर्यादा और कृष्ण की प्रखरता समझ और अपना ली, वही प्रज्ञा को धारण करने की सामर्थ्य अर्जित कर सकता है और प्रज्ञावतार का वास्तविक सहयोग सहचर बन सकता है। हम अपनी योग्यता सिद्ध करें या अवतार प्रक्रिया का अंग बनें, इसी मे इस जन्म की सार्थकता है।

❑❑❑

सतयुग की वापसी

सतयुग का आरम्भ और आधार

स्वर्ग के सम्बन्ध में उसका स्वरूप जैसा कुछ बताया जाता है वैसा इस पृथ्वी पर कहीं दीख नहीं पड़ता। इसलिए यह मानकर संतोष कर लिया जाता है कि वह धरती से ऊपर किसी ग्रह उपग्रह जैसे स्थान में अवस्थित है। खगोल वेत्ताओं ने सौर मंडल का कोना-कोना छान मारा है, पर वहाँ न कहीं जीवधारी मिले और न सुख सुविधा के साधन। ब्रह्माण्ड में अवस्थित इन नक्षत्रों के सम्बन्ध मे यह कल्पना तो की जाती है कि इस विशाल विस्तार में कहीं स्थूल या सूक्ष्म शरीर धारी प्राणियों का अस्तित्व संभव है। पर वहाँ तथाकथित स्वर्ग जैसी परिस्थितियाँ साधन सुविधाएँ होगी ही, यह नहीं कहा जा सकता। यही बात नरक के सम्बन्ध में भी है। धरती पर मरने वाले उन लोगो तक कैसे पहुँच पाते होंगे यह विषय बड़ा दुरूह है। उस मान्यता पर प्रत्यक्षवादी दृष्टिकोण रखते हुए विश्वास करना कठिन है।

वैज्ञानिकों की कल्पना है कि शरीर त्यागने के उपरान्त प्राणी कुछ समय पृथ्वी के ही अन्तरिक्ष में सूक्ष्म शरीर से भ्रमण करता रहता होगा और पीछे संचित स्वभाव संस्कार के अनुसार नई काया धारण करने का अवसर मिलता होगा। दार्शनिकों की अवधारणा है कि मनःस्थिति के अनुरूप परिस्थितियाँ बनती है। उदात्त दृष्टिकोण और शालीनता सम्पन्न व्यवहार को अपनाकर जो सुव्यवस्थित आदर्शवादी जीवन जीता है उसे स्वल्प साधनों एवं सामान्य साथियो, काम चलाऊ परिस्थितियों में ही संतोष भरा उत्साह उल्लास मिल जाता है। उसी भाव भरी मनःस्थिति का नाम स्वर्ग है। यह घर घरोंदो मे रहते हुए स्वल्प साधनों से भी स्वयं के लिए विनिर्मित किया जा सकता है। वस्तुस्थिति क्या है ? इसका निश्चित उत्तर देने के लिए प्रत्यक्ष प्रमाणों का संग्रह करने में अभी देर है। तब तक इस सम्बन्ध में मान्यताओं के आधार पर ही कुछ अनुमान लगाना और विश्वास करना पड़ेगा।

परलोक वाले स्वर्ग की तरह ही यह भी मान्यता है कि कभी इसी धरातल पर सतयुग था। सतयुग की स्थिति भी स्वर्ग के समतुल्य ही समझी जाती है अन्तर इतना ही है कि स्वर्ग में विलासिता की राजसी सुविधा का बाहुल्य माना गया है, जबकि धरती वाले सतयुग में व्यक्ति और वातावरण में सात्विकता, सद्भावना, सहकारिता, सुव्यवस्था से भरी पूरी परिस्थितियाँ रहती हैं। उस प्रचलन का लाभ सभी को मिलता था। वस्तुओं को स्वाभाविक निर्वाह के लिए थोड़ी-सी आवश्यकता होती है। उन्हें मध्यवर्ती पुरुषार्थ और कौशल के सहारे उपार्जित किया जा सकता है संतोष और सुख पर्यायवाची है। उत्कृष्ट जीवन जीने वालों को उत्साह भी रहता है और आनन्द भी। ऐसी हँसती-हँसाती हिल मिलकर रहने वाली परिस्थितियाँ जिन दिनों धरती पर रही होगी उन दिनों धरती पर सतयुग की प्रतिष्ठापना रही होगी।

प्रत्यक्ष साक्षियों पर आधारित अति पुरातन काल का सतयुग काल का समाधान परक विवरण नहीं मिला। फिर भी श्रुति और स्मृति के आधार पर सुनते आने और परम्परागत विवरणों के सहारे इतना पता चलता है कि कभी वैसा समय रहा अवश्य है। इस अवधि को देव परम्परा अथवा ऋषि परम्परा से प्रभावित परिचालित अवधि कह सकते हैं। सतयुग के समय की प्रामाणिक काल गणना उपलब्ध नहीं है और न उस समय का आभास कराने वाले पदार्थ परक प्रमाण ही उपलब्ध है। फिर भी उपलब्ध कथा पुराणों के आधार पर यह संगति बिठाई जा सकती है कि ऋषि युग हजारों वर्ष पूर्व से आरम्भ होकर रामायण काल तक चलता रहा होगा। उस अति प्राचीनकाल की इमारतें, वस्तुएँ, शिलालेख आदि का अस्तित्व ऋतु प्रभाव और काल प्रवाह से बचा नहीं रह सका। किन्तु जो इतिहास श्रुति स्मृति के आधार पर हाथ लगता है उससे मनुष्यों की विचारणा एवं कार्य पद्धति का अनुमान अवश्य लगता है। इस आधार पर यह निष्कर्ष भी निकलता है कि मानवी गरिमा के अनुरूप चिन्तन, चरित्र और व्यवहार की अवधारणा रखने वाले परिश्रमी पुरुषार्थी रहे होंगे। संयम अपनाते और उदात्त सेवा साधना में निरत रहते हुए सहकारी जीवन जीते होंगे। यह प्रयोग तो अभी भी किया जा सकता है कि सज्जनों का समुदाय सद्भाव पूर्वक जहाँ रहेगा, मर्यादाओं का पालन करने और वर्जनाओं से बचने की रीति अपनायेगा वहाँ स्वल्प साधनों में प्रसन्न रहने और प्रगति के पथ पर आगे बढ़ते चलने की स्थिति बनती और टिकती रहेगी।

सतयुग ऋषि परम्परा से तात्पर्य है कि उन लोगों का वर्चस्व जिन्होंने अपने दृष्टिकोण और जीवनयापन की प्रक्रिया में दूरदर्शी विवेकशीलता, पुरुषार्थ, परायणता और उदात्त सह जीवन की क्रिया प्रक्रिया को अपने जीवन मे भली प्रकार उतारा और दूसरों के लिए अनुकरण का पथ प्रशस्त किया। ऋषि उन्हें कहा जाता था जो 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावनाओं को निरन्तर क्रियान्वित करते रहते थे। ऐसे लोगों का प्रतिभाशाली होना स्वाभाविक है। लोक नेतृत्व करने की कुंजी सहज ही उनके हाथ आ जाती है। वरिष्ठों की छत्र छाया में रहना सभी पसन्द करते हैं। वरिष्ठ ही सार्थक रूप से समर्थ होते हैं। शारीरिक दृष्टि से बलिष्ठ, आर्थिक दृष्टि से समर्थ भी दूरदर्शी क्रिया कुशल ही होते हैं। वे निजी जीवन में संयम साधते हैं। सादा जीवन उच्च विचार की देव परम्पराओं को व्यावहारिक जीवन में उतारते हैं। ऐसी दशा में निर्वाह की न्यूनतम आवश्यकताओं को सरलता पूर्वक जुटा लेने के अतिरिक्त इतना समय साधन बना भी लेते हैं जो दूसरों को उठाने, बढ़ाने के काम आ सके। इस स्तर के लोग जब भी बहु संख्यक होंगे और अपने प्रभाव वैभव का उपयोग जन-कल्याण के निमित्त करेंगे तब ऐसी परिस्थितियाँ अनायास ही बनती चली जायेंगी जिनमें हर किसी को समुचित सुविधा रहे, किसी को भी अज्ञान, अशक्ति और अभाव के कारण दु:खी न रहना पड़े। जहाँ छेद दीखा वहाँ उसे भरने के लिए सब ओर से समर्थता दौड़ पड़े तो उस उलझन का समाधान हुए बिना नहीं रह सकता। सद्भावना और सेवा साधना को खाद पानी की तरह समझना चाहिए जिसके उपलब्ध होते रहने से विश्व उद्यान का हर कोना हरा भरा और फला-फूला ही दृष्टिगोचर होता है। जब भी ऐसी परम्परा व्यापक रूप से चल रही होगी। जब भी परिस्थितियों में सात्विकता का समुचित समावेश रहा होगा। तब समूचा वातावरण ऐसी सुख-शान्ति और प्रगति से भरापूरा रहा होगा जिसे सतयुग का नाम नि:संकोच दिया जा सके।

ऐसी परिस्थितियाँ कभी रही हैं। यह विश्वास करने में कोई अड़चन नहीं पड़ती। इतिहास को कालगति के अनुरूप लिखने की परम्परा प्राचीन काल में नहीं रही। उसकी आवश्यकता भी नहीं समझ गयी। श्रुति और स्मृति ही दो आधार ऐसे थे जो पूर्वजों के स्वरूप की चर्चा का विषय बनते और पीढ़ी दर पीढ़ी स्मृति में अंकित करते चले जाते थे। भाषा और लिपि का विकास भले ही पीछे हुआ हो। कागज स्याही का उपयोग भले ही बाद में जाना गया हो पर श्रुति और स्मृति की परम्परा पीढ़ी दर पीढ़ी चलती रही है और जानकारियों की धारा अखण्ड प्रवाह की तरह बहती रही है। इस प्रवाह का अवगाहन करने पर हम इतिहास के प्रथम प्रमुख काल की टोह लेने में समर्थ हो जाते हैं। सतयुग की रूपरेखा इसी आधार पर टुकड़ों को मिलाकर एक समूची प्रतिमा के रूप में खड़ी की जा सकती है। सतयुग की परिणितियों और परिस्थितियों की रूपरेखा इसी आधार पर उभरती है।

हर युग की अपनी-अपनी वरिष्ठता और महत्वाकांक्षा होती है। आज हर व्यक्ति सम्पन्नता, साजसज्जा की बहुलता इसलिए चाहता है कि उसे अधिकाधिक सुविधा एवं ख्याति मिले। यही मनोवृत्ति अनेक प्रकार के काम कराती और अनेक दिशाओं में घुमाती है। इसी प्रवाह में परिवर्तन होने पर युग बदलते हैं। इच्छा और आकांक्षाओं से ही व्यक्तित्व विकसित होता है और वातावरण बदलता है। समझने को तो इस प्रकार समझा जाता है कि किन्हीं वैज्ञानिकों, शासकों, सम्पन्नों, विद्वानों से ये परिस्थितियाँ विनिर्मित परिवर्तित होती हैं। वह वस्तुत: ऐसा है नहीं। लोक प्रवाह के बीजांकुरों को ही वे सोचते, विकसित एवं पल्लवित करते हैं। यह लोक प्रवाह मूलत: आता कहाँ से है? इस प्रश्न का उत्तर एक ही है वरिष्ठ आत्म शक्ति सम्पन्नों द्वारा ऐसा तूफान चलाना जिससे तिनके पत्ते ही नहीं उड़ते फिरें वरन् पेड़ पौधे भी हिलने उखड़ने लगें। जिन दिनों उत्कृष्ट स्तर की आत्म शक्ति विकसित होती है उन दिनों जनसाधारण की मन:स्थिति और परिस्थिति उसी दिशा को पकड़ती जाती है। जब उस स्तर के लोग नहीं रहते, कम या दुर्बल हो जाते हैं तो गये गुजरे स्तर के लोग उभर आते हैं और जन समुदाय में अपना प्रभाव प्रेषित करते है। यह सूक्ष्म प्रक्रिया स्थूल गतिविधियों में प्रकट होती है। बसन्त में फूल खिलते हैं, वर्षा में पौधे उगते है, शीत में पत्ते झड़ते है और गर्मी में तालाब तक सूखने लगते है। ऋतु प्रभाव की तरह वरिष्ठ व्यक्तित्वों के द्वारा चलाया गया प्रवाह भी काम करता है। फलत: परिस्थितियाँ बदलती रहती है। लोग चालू दिशा का अवलम्बन करने लगते है। सम्पर्क से छूत की बीमारी की तरह अन्दर की आस्था और बाहर की चेष्टा में भी अन्तर आता है। ऋषि युग के मूर्धन्य महामानव अपने निजी व्यक्तित्वों को इस स्तर तक सशक्त और परिष्कृत बनाते थे कि अपने प्रभाव से जनसाधारण को अपने अनुरूप ढालने में सफलता प्राप्त कर सकें।

६.३ सूक्ष्मीकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का अवतरण

यह संसार पदार्थों से भरा पड़ा है उसमे से एक सीमा तक ही संग्रह कर सकना सम्भव है। वासना और तृष्णा का कोई अन्त नहीं। अहंता की पूर्ति के लिए जितने प्रपंच रचने पड़ते हैं उनका ठिकाना नहीं। इन सबका समुच्चय जब मूर्धन्य लोगों की देखा देखी छोटों पर सवार होता है तो उनकी गतिविधियो में भी निकृष्टता, चंचलता, उच्छृंखलता बढ़ने लगती है यही है उत्थान का अधः पतन। युग भी इसी प्रकार सूर्य की तरह ढलने और अन्त में अन्धकार के अस्ताचल में जा छुपते हैं। कलियुग ऐसी ही पतनोन्मुख स्थिति का नाम है। क्षीणकाय जर्जर वृद्धावस्था में मनुष्य की जो दुर्गति होती है वह युग प्रवाह के अन्तिम चरण में देखी जाती है।

बचपन कोमल, भावुक और निश्छल होता है। उठती उम्र में चंचलता आतुरता दीख पड़ती है। प्रौढ़ता मे अहंकार का बोलबाला रहता है और अन्त में जराजीर्ण अवस्था अपनी मौत मरती है। इसके उपरान्त नया जन्म होता है। चार युग जीवन की चार अवस्थाओं की तरह हैं। इन दिनों हम मरण की तैयारी कर रहे है। पर वह दिन दूर नहीं जब उज्ज्वल भविष्य का नये सिरे से निर्माण होगा। इक्कीसवीं सदी से ऐसा ही शुभारम्भ-ऊषा पर्व का अरुणोदय होने जा रहा है।

चक्र घूमते हुए बार-बार अपने आरम्भिक स्थान पर आता है। वस्त्र पुराना होने पर नये की अवधारणा ऐसी आवश्यकता है जो पूरी हुए बिना रह ही नहीं सकती। देखना इतना भर है कि इस शुभारम्भ का श्री गणेश का नव निर्धारण किस प्रकार होगा। होता वही है जो हर सतयुग के आरम्भ में होता रहा है। ऋषि परम्परा जीवित हुई है। वही अंकुरित होकर फली फूली है और समस्त जन समुदाय ने उसका समग्र लाभ उठाया है। दृष्टिकोण बदलने से वातावरण का परिवर्तन होता है। उत्थान के बाद जिस प्रकार पतन देखा जाता है उसी प्रकार पतन के उपरान्त अभ्युदय का विधान भी निश्चित है।

सतयुग का उद्भव और विस्तार

विगत सतयुग के आरम्भ में प्रत्येक वरिष्ठजन की महत्वाकांक्षा एक ही होती थी कि वह उत्कृष्ट आदर्शवादिता की कसौटी पर खरा उतरे। श्रेष्ठता को अपनाये और इस स्तर तक परिपक्व हो कि उसकी गरिमा हर किसी को प्रभावित करे और अनुकरण की ऐसी परम्परा चल पड़े जो समूचे वातावरण को नन्दनवन की तरह सुगन्धित सुसंस्कृत बना दे। लोक और परलोक दोनों ही इस आधार पर सधते हैं।

अब सतयुग की वापिसी का प्रश्न उठता है और उसका समय आता है तो देखना यही है कि उसका आरम्भ और विकास होगा किस प्रकार।

प्रागैतिहासिक काल के श्रुति और स्मृतियो के आधार पर प्रमाणित सतयुग का उद्‌भव ऋषि परम्परा के कारण बीज रूप में उद्‌भूत हुआ और वट-वृक्ष की तरह फैला और फूला-फला था। उसकी छत्र-छाया में प्रायः समूची मानव जाति ने आश्रय प्राप्त किया था। बीज के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह जिस वृक्ष पर परिपक्व हुआ है वह वहीं अपने भावी निवास की बात सोचे, वहीं जमकर रह जाय। उसे अन्यत्र चले जाने का उत्साह भी होता है और नियति प्रवाह भी।

संकीर्णता में लोभ-मोह से भरे-पूरे स्वार्थ की ही गणना नहीं होती वरन् छोटे क्षेत्र में ही रहने और परिचितो के साथ दिन गुजारने, उन्हीं के लिए मरते-खपते रहने की प्रक्रिया भी जुड़ती है। स्वार्थी कूप-मंडूक की तरह, गूलर के भुनगे की तरह एक छोटी परिधि में रहकर ही सन्तुष्ट रहता है। उसे बादलों जैसा परिभ्रमण स्वीकार नहीं। सूर्य-चन्द्र की तरह अपनी आभा जन-जन पर बिखेरने की न तो उसे हिम्मत होती है न इच्छा-आकांक्षा। इस प्रकार का साहस तो उदारचेता ही कर पाते हैं। ऋषियों को अपने विशाल दृष्टिकोण का परिचय विशाल क्षेत्र का उत्तरदायित्व सम्भालते हुए ही देना पड़ता था। वे अपनी क्रिया-प्रक्रिया के लिए सुविस्तृत क्षेत्र चुनते थे। ऋषियों की जीवनचर्या ऐसी ही रही। उनने जहाँ भी—पिछड़ापन देखा वहीं उससे निपटने के लिए दौड़ते चले गये। अकाल-बाढ़, बीमारी, दुर्जनता, विपत्ति, अग्नि-काण्ड, भूकम्प आदि कारणों से जहाँ विपत्ति उभरती है वहीं उससे निपटने के लिए उदारचेता बिना किसी आमन्त्रण की प्रतीक्षा किये स्वयं ही अनायास जा पहुँचते है। विश्व-वसुधा को ऋषियो ने अपना कार्यक्षेत्र बनाया। यों उपजते वे भारत की देवभूमि में ही थे। मानसरोवर में जन्मने वाले हंस सुदूर आकाश में उड़ते और समूचे संसार की यात्रा करते हैं।

ऋषि परम्परा दो भागों में विभाजित होती है। एक पुरोहित दूसरे परिव्राजक। पुरोहित वे जो एक स्थान पर रहकर आश्रम परिपाटी चलायें। निकटवर्ती क्षेत्रो मे जनजागृति का, धर्मधारणा का उत्तरदायित्व सम्भालें। छात्रों का प्रशिक्षण गुरुकुल पद्धति से चलायें। आध्यात्मिक

क्षेत्र की शोधों की प्रयोगशाला हेतु तत्पर रहें। पुरोहित का विवाहित रहना आवश्यक समझा गया था ताकि अर्धांगिनी की सहायता से आश्रम की भोजन—निवास आदि की क्रम-व्यवस्था चलती रहे। परिव्राजक वे जो सदा भ्रमण करते रहें। जनसम्पर्क साधें। प्रतिभाओं को उभारें, उन्हें परमार्थ प्रक्रिया के लिए अग्रगामी बनायें। उन्हें बादलों की तरह बरसना पड़ता था जबकि ब्राह्मण स्थान विशिष्ट पर रहकर सरोवर की तरह क्षेत्रीय अभ्युदय का सूत्र संचालन करते थे। दोनों के कार्यक्रमों में थोड़ा अन्तर दिखाई पड़ता है पर लक्ष्य सर्वथा एक था। उन्हें एक दूसरे का पूरक समझा जाना चाहिए।

सतयुग में सम्पूर्ण धरातल पर मनुष्यों का निर्बाध आवागमन था। छोटे-छोटे गणतन्त्र शासन तो थे, उनकी सीमायें भी थीं पर ऐसा कुछ न था जिससे आवागमन में बाधा पड़े अथवा वस्तुओं को कहीं से कहीं लाने ले जाने पर प्रतिबन्ध हों। नागरिकता ऐसी प्रतिबन्धित न थी कि एक देश का व्यक्ति अपनी रुचि या सुविधा के अन्य किसी देश में-क्षेत्र में निर्बाध रूप से बस न सके। आवागमन करता न रह सके, इसी मानव जीवन की सार्वभौम स्वतन्त्रता ने यह अवसर प्रदान किया कि वीरान क्षेत्र बसते और सरसब्ज होते चले गये।

आरम्भिक मानवी उद्भव तथा विकास गंगा-यमुना के दोआब में हुआ। इसी को आर्यावर्त, ब्रह्मवर्त आदि नामों से पुकारा जाता था। जिस प्रकार मध्यकालीन सामन्तों को अपने राज्य बढ़ाने की महत्त्वाकांक्षा रहती थी उसी प्रकार आरम्भिक दिनों में कहीं मनुष्य समुदाय का एक अच्छा झुण्ड बना वहीं यह अभिलाषा उगी कि कहीं अन्यत्र चलकर वहाँ के वीरान स्थिति को सुविकसित बनाया जाय। उसमें बसने वाले वन्य मानवों को सभ्य बनाकर, उत्पादन बढ़ाकर अभावग्रस्तता के संकट से उबारा जाय। इन्हें शिक्षित, सुसंस्कृत बनाया जाय। कृषि, उद्योग, व्यवसाय, पशुपालन आदि के अतिरिक्त नीतिमत्ता एवं समाज संरचना की व्यवस्था बनाकर उसे परम्परा के रूप में प्रचलित किया जाय। यही वह काम था जिसके लिए विभिन्न समूहों के लोग घर परिवार छोड़कर बाहर निकल पड़ते थे और चुने हुए क्षेत्र को पूर्ण विकसित करने तक वहीं डटे रहते थे। पूर्ववर्ती स्वजन सम्बन्धी भी उनका हाथ बटाने के लिए जब तब पहुँचते रहते थे एवं सामयिक सहयोग करते अथवा वहीं जाकर बस जाते थे। इस प्रकार वहाँ फिर एक विकसित समुदाय बस जाता था। जंगलों से घिरी भूमि को कृषि योग्य बनाया जाता था। उसी में पशु पालते थे खनिज खोदे जाते और उनसे प्रयोग में आने वाले उपकरण बनते थे। इस प्रकार बिखरे हुए वनवासी एक केन्द्र पर केन्द्रित हो जाते थे और अपनी आयु तथा कार्य-शैली का निश्चित विभाजन कर लेते थे। अपनी नियत जिम्मेदारी को पूरा करने के लिए इतनी प्रवीणता प्राप्त करते थे कि अपनी सीमा मे प्रवीण पारंगत समझे जाने लगें। वर्णाश्रम धर्म इसी का नाम था। इसे विभाजन नहीं अपने स्तर का कौशल कहना चाहिए। इससे पारस्परिक व्यवहार में कोई अन्तर नहीं पड़ता था। मनुष्य की एक ही जाति है फिर जाति-पाँति क्या? व्यावसायिक भिन्नता एवं क्रिया कौशल में प्रवीणता विकसित करने की दृष्टि से पर्दा तान सकते है। पर ऐसे वर्ण नहीं बन सकते जिनके कारण पारस्परिक रोटी-बेटी के व्यवहार में कोई अन्तर पड़े। उन दिनों क्रिया-कलाप के आधार पर अनायास ही बन जाने वाले वर्ग वर्णों के नाम से पुकारे जाते थे। उन दिनों तक जन्म जाति के आधार पर इन दिनों दीख पड़ने वाली जाति विरादरियों जैसी किसी ने कल्पना तक न की थी। जलवायु की भिन्नता से विभिन्न क्षेत्रों के लोगों में आकृति-प्रकृति का थोड़ा अन्तर अवश्य आता था पर इस कारण विलगाव की बात नही सोचते। गर्म देशों में त्वचा काली और ठण्डे क्षेत्र के व्यक्ति गोरे होने चाहिए। यह प्रकृतिगत अन्तर है। ऐसा भेद-उपभेद पशु-पक्षी तक में पाया जाता है। देश विशेष के कारण वहाँ रहने वाले प्राणियों में रंग-रूप की कुछ भिन्नता आ जाती है। फूलों के स्वरूप और फलों के स्वाद मे भी इस आधार पर अन्तर हुआ देखा जा सकता है। पर यह मात्र प्रकृति संरचना का कौतूहल भर है। इससे जाति विभाजन नहीं होता। घोड़े, बैल, बन्दर आदि की अपनी-अपनी सार्वभौम बिरादरियाँ हैं। भले ही क्षेत्रगत जलवायु के कारण उनके स्वाभावों में यत्किंचित अन्तर दीख पड़ता है। इस तथ्य को समझने वाले परस्पर किसी प्रकार का ऊँच-नीच जैसा भेद भाव बरतें और विलगाव-बिखराव का, मान-अपमान का विष-बीज बोयें ऐसा हो ही नहीं सकता था। सतयुग के आरम्भ से अन्त तक मनुष्यों के बीच सघन सौहार्द बना रहा और वह घनिष्ठ सहकार के रूप में विकसित होता रहा।

इन दिनों प्रत्येक समर्थ और सुसंस्कृत व्यक्ति की महत्वाकांक्षा एक ही रहती थी कि वह वीरान क्षेत्रों को उर्वर कैसे बनायें। बिखरे हुओं को समेटकर एकता के समस्वरता के सूत्र में कैसे बाँधे? इसके लिए आवश्यक

था कि पुराने जमे हुए निवास को बिना किसी प्रकार की क्षति पहुँचाये छोड़कर अन्यन्त्र चले जाने की नये प्रदेशों को सुविकसित कर दिखाने की चुनौती को किस प्रकार योजनाबद्ध रूप से पूरा कर दिखाया जाय।

प्रतिस्पर्धा इसी प्रयोजन के लिए लगी रहती थी। लक्ष्य सभी का एक था कि धरती माता का कोई कोना ऐसा न रहे जहाँ प्रगति का प्रकाश न पहुँचा हो। जहाँ उत्कर्ष के आधार खड़े हुए न हों। सूनी—वीरान भूमि पड़े रहना तो मनुष्य के पुरुषार्थ को चुनौती है। इसके लिए वन्य प्रदेशों को काटना न पड़ा। वे बहुत सुविस्तृत थे साथ ही अत्यन्त सघन भी। उनके बीच-बीच में थोड़ी-थोड़ी दूरी पर मनुष्य के निवास-निर्वाह वाली बस्तियाँ बस जाने से धरातल की शोभा ही बढ़ती है। एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में जाने के लिए मार्ग बनता था। जलाशयों का पशुपालन तथा कृषि विस्तार के लिए सदुपयोग होता था। यातायात मार्गों की सुविधा हो जाने से एक स्थान के अभावों को दूर करने के लिए अन्यत्र से लाने ले जाने में सुविधा का क्रम चल पड़ा। अभावजन्य संकट दूर हुआ और व्यापार व्यवसाय का नया क्षेत्र खुला। इतना सब मात्र इसी आधार पर सम्भव हो सका कि जितना समय एक समुदाय को समूचे धरातल को सुविकसित करने में लगना चाहिए उससे कहीं कम में वह कार्य अतीव सफलता के साथ सम्पन्न हो गया।

उन दिनों जीवन के प्रत्येक पक्ष की सुव्यवस्था धर्म के नाम से जानी जाती थी। इसी एक विधा के अन्तर्गत उपार्जन, निर्माण, उपयोग, स्वास्थ्य, शिक्षा, चिकित्सा, परम्परा, नीति, न्याय आदि सभी विषय आ जाते थे। इस सबका केन्द्र-बिन्दु आस्तिकता को स्वीकारा गया था। उसकी सुविस्तृत परिधि में मानवी गरिमा से सम्बन्धित सभी विषय आ जाते हैं। अस्तु जो भी निर्धारण किये जाते थे उनमें धर्म की मुहर लगती थी। जो कहा जाता था उसे धर्म की आस्तिकता की भूमिका में प्रस्तुत किया जाता था। यह सरल भी था और प्रभावी भी। लोक का सम्मान सहयोग भी इसी आधार पर बनता था और परलोक की स्वर्गीय सद्गति का भी निश्चय होता था। नरक, भव बन्धन, योनियों में परिभ्रमण, रोग-शोक दुर्गति का भय बना रहने से लोग सहज विश्वास के आधार पर कुकर्मों से बचते थे और जीवन को सर्वतोमुखी प्रगति सुव्यवस्था में जुटाये रहते थे। इस प्रकार धर्मधारणा के सहारे लौकिक सुनियोजन भी सहज ही बन पड़ता था।

ऋषि युग के मनीषियों ने धर्मशास्त्रों की संरचना की। राजकीय अनुशासन शिथिल स्तर का रहने के कारण देवताओं का अदृश्य अनुशासन जन मानस पर प्रतिष्ठापित किया गया। देवताओं के वरदान मिलने और उपयुक्त न होने पर अभिशाप की प्रताड़ना करने का भय बना रहता था। यही वह आधार था जिसके कारण पुलिस, फौज, न्यायालय, जेल आदि के लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता। धर्मपरायण व्यक्ति ऐसा कुछ करता ही नहीं जिसके लिए प्रताड़ना का, रोकथाम का अनुबन्ध रखना पड़े। धर्मशास्त्र उन दिनों से सम्बन्धित था जिसे श्रद्धापूर्वक अपनाया और निष्ठापूर्वक जीवन के हर पक्ष में उतारा जाता था। सतयुगी वातावरण इसी प्रकार बन पड़ा।

सूर्य पूर्व से उदय होता है। उसकी एक दिशा नियत प्रतीत होती है। ऊषा अवतरण और अरुणोदय सदा एक ही क्षेत्र से होता है। ठीक ऐसी ही प्रक्रिया देव मानवों का समुदाय उभरने, विकसित होने समर्थ बनने के सम्बन्ध में भी है। भारतभूमि को भूमण्डल का पूर्व समझा जा सकता है। यहाँ की मृत्तिका की यह विशेषता रही है उसमें नन्दनवन उगते और लहलहाते रहे हैं। चन्दन तरुओं से मलयानिल प्रवाहित होती रही है। चन्दन अपने समीपवर्ती झाड़-झंखाड़ों को भी सुवासित करता है। भारतभूमि पर उत्पन्न हुए नर नारायणों ने भी ऐसा ही कर दिखाया और अपनी गतिविधियों से इस धरित्री को सर्वोत्तम कहलाने का श्रेय सौभाग्य दिलाया है।

सतयुग में जनसंख्या सीमित थी पर उनके सामने समस्त धरातल को समुन्नत सुसंस्कृत बनाने का लक्ष्य था। सर्वतोमुखी प्रगति की सुव्यवस्थित योजना उन्हें बनानी थी। इस दायित्व को ईश्वरीय आदेश—अनुशासन समझा और उसे पूरा करने में प्राणप्रण से लगे रहे। इस दिशा को अपनाने के लिए यह आवश्यक होता है कि मार्गदर्शन करने वाले नेतृत्व के निमित्त कदम बढ़ाने वाले अपने आपको अन्यान्यों की अपेक्षा अधिक सुसंस्कृत बनायें, कर्मठता की कसौटी पर पूरी तरह खरे उतरें। सांचा सही होने पर ही उससे खिलौने, पुर्जे सही ढलते हैं। नेतृत्व यदि अपने आचरण—व्यक्तित्व को आदर्श बनाकर उसे अनुकरण के निमित्त प्रस्तुत करे तो ही उपदेश का सही प्रभाव पड़ता है और तो ही उनके अनुगमन का क्रम जनसाधारण द्वारा अपनाया जाता है।

चूँकि जड़ धरित्री पर सुसंस्कृत स्तर के सचेतन तत्वों को उगाया, बढ़ाया, फैलाया जाता था। इसका दायित्व नर नारायणों को, देवमानवों को संभालना था। अस्तु सृजेता की, उपार्जक संयोजक की भूमिका निभानी थी। इसलिए

आवश्यक समझा गया कि दायित्वों को ओढ़ने वाले सर्वप्रथम अपनी वरिष्ठता विकसित करें। इस प्रयोजन की पूर्ति तप साधना से ही हो सकती थी। इसलिए वरिष्ठों को अपनी प्रतिभा बढ़ाने के लिए सर्वप्रथम अपनेआप को ही तपाना पड़ा। हर कसौटी पर खरा सिद्ध हो सकने योग्य बनाना पड़ा। आत्मनिर्माण—आत्मविकास ही अध्यात्म तत्व ज्ञान का सार संक्षेप है। इस तथ्य एवं रहस्य को समझने वाले ऋषि—मनीषियों ने अपना विवेक विकसित किया। तत्वज्ञान का गहन मंथन किया। अन्तःकरण को देव स्तर का बनाने के लिए आकांक्षाओं, भावनाओं, मान्यताओं, विचारणाओं, क्रियाकलापों को आदर्शों से सराबोर बनाया। संयम बरतने और परमार्थ में संलग्न रहनेकी दिशाधारा को अपनाया। इसके लिए भजन-पूजन से लेकर व्रत, नियम पालन करने में सहायता देने वाले कर्म-काण्ड भी अपनाये जा सकते हैं। सो उनके अपनाने-अभ्यास में उतारने के लिए भी संकोच न किया जाय। खरे सोने जैसे—तराशे हुए हीरे जैसे चमकदार बहुमूल्य व्यक्तियों का नाम ही ऋषि था। वे ही अथक प्रयासों में संलग्न रहकर धरती पर सतयुग उतारने की कठिन अग्नि परीक्षा में उत्तीर्ण हुए।

सतयुग का स्वरूप और अनुभव

मानवी उद्भव और विकास का क्रम भारत से आरम्भ होता है। उसका केन्द्र बिन्दु आर्यावर्त रहा। आर्यावर्त अर्थात् गंगा यमुना का दुआव। पौराणिक कथानकों में अवतारों का एवं कार्य क्षेत्र यही रहा है। हिमालय को देवभूमि माना जाता है। उसका हृदय प्रवेश उत्तराखण्ड में ही है। इसी प्रयोगशाला में ऋषि तपस्वी अपनी आत्म शक्ति को विकसित करके उसके दिव्य भण्डार बनते रहे हैं। स्वर्ग का संबंध इसी क्षेत्र से बनता है। स्वर्ग वासिनी गंगा यहीं धरातल पर अवतरित हुई थी। सुमेरु शिखर पर देवताओं का वास बताया गया है। उसका प्रतीक भी हिमालय में विद्यमान है। नन्दनवन कैलाश वाला हिमाच्छादित शिवलिंग अभी भी सर्वसाधारण की पहुँच में है। स्वर्गारोहण के लिए पाण्डव उसी क्षेत्र में गये थे। सप्तऋषियों की तपश्चर्या के लिए इसी भूमि को अपनाये जाने का इतिहास है। विश्वव्यापी अध्यात्म चेतना का केन्द्र इसी को माना गया है। दिव्य वातावरण की विशेषता को देखते हुए 'ऋषि तपस्वी' यहीं डेरा डाले रहे है। ऋद्धि-सिद्धियों का प्रकटीकरण यहाँ सरलतापूर्वक संभव होता रहा है। सतयुग के अवतरण का योजनाबद्ध कार्यक्रम यहीं बना है। उसे अदृश्य से दृश्य के रूप में परिवर्तित कर सकने में समर्थ प्रतिभाओं का उद्भव परिपाक इसी क्षेत्र में होता रहा है। इसीलिए सतयुग का आरम्भिक केन्द्र बिन्दु तलाशने वालों को सभी प्रमाण इसी क्षेत्र में मिलते हैं। स्वर्ग और सतयुग का मध्यवर्ती आदान-प्रदान सूत्र यहीं जुड़ता है। दशरथ का, अर्जुन का, नारद का स्वर्ग से आवागमन प्रसिद्ध है। इसका श्रेय किस भूमि को मिलना चाहिए। इस हेतु हिमालय के ध्रुव केन्द्र को मान्यता देने से बात बनती है।

भगवान के दस अवतार आर्यावर्त में ही हुए हैं। पिछले तीन तो स्थानीय स्मृतियों, भवन, अवशेषों के रूप में भी विद्यमान हैं। अयोध्या राम की, मथुरा कृष्ण की, कपिलवस्तु बुद्ध की जन्मभूमि थी। इससे पूर्व वाले भगवान परशुराम उत्तर काशी में जन्मे। वहीं महर्षि जन्मदग्नि का आश्रम था। सप्त ऋषियों की तपस्थली 'सप्तसरोवर' के नाम से हरिद्वार में प्रख्यात् है।

गोमुख से लेकर बद्रीनाथ तक ऊपरी चोटियों वाला भाग स्वर्गोपम माना जाता है। इसी के इर्द गिर्द यक्ष, गन्धर्व, किन्नरों के वंशज बसते हैं। नंदनवन गंगा के उद्गम गोमुख से कुछ ही ऊपर है। वास्तविक कैलाश शिवलिंग के रूप में यहीं दृष्टिगोचर होता है। गंगा ग्लेशियर का उद्गम यही है। इसे शिव का निवास माना जाता है। ब्रह्मकमल और संजीवनी बूटी जैसी दिव्य वनौषधियाँ यही उगती हैं। सोमबल्ली भी यहीं पाई जाती है जिसका सोमरस पीकर देवत्व का आवेश चढ़ता था।

हिमालय का उत्तराखंड भाग देवताओं की लीला भूमि रहा है। ऋषियों ने तपस्थली, इस स्थान को सूक्ष्म आध्यात्मिक शक्तियों से सराबोर देखकर चुना था। तीर्थों ने भी यहाँ प्रतिनिधि स्थलियाँ स्थापित की थीं। पंच प्रयाग, पंचकाशी, पंचशक्तिपीठों, पंचज्योतिर्लिंग यहाँ पुरातन काल से अवस्थित हैं। गंगा-यमुना का दोआब, हरिश्चन्द्र, वशिष्ठ, दधीचि, अर्जुन-हनुमान आदि का जन्मस्थल रहा है। चक्रवर्ती भरत शकुन्तला के गर्भ में कण्व आश्रम में जन्मे थे। राम के समकक्ष उनके दोनों पुत्र लवकुश इसी प्रदेश में जन्मे थे। अन्यान्य अवतारों, देवपुरुषों, महामानवो, मुनिमनस्वी शास्त्रकारों का उदय विकास इसी क्षेत्र में होता रहा है। अनादिकाल के अध्यात्म वर्चस के धनी-व्यक्तियों को इसी उर्वर भूमि में जन्मते विकसित होने का सौभाग्य मिला है। इन्हीं सबने अपने-अपने ढंग से

अपने-अपने हिस्से के दायित्व निवाहते हुए समस्त संसार में सतयुगी वातावरण विनिर्मित करने में असाधारण योगदान दिया।

पौधशाला में पौधे उगाये जाते हैं। जड़ पकड़ने योग्य हो जाने पर उन्हें उखाड़कर अन्यान्य उद्यानों में लगाया जाता है। वहां वे आरोपित होते, बढ़तेऔर पल्लवित होकर विशाल वृक्ष के रूप में परिणित होते हैं। आर्यावर्त का क्षेत्रीय वातावरण ऐसा उर्वर समझा जा सकता है, जहाँ संसार भर से अधिक भारी भरकम विद्वता फूलती-फलती रही है। काशी, प्रयाग, नैमिषारण्य, चित्रकूट, सारनाथ, श्रावस्ती और अगणित तीर्थों का दर्शन इस क्षेत्र मे थोड़ी-थोड़ी दूर पर होता है। त्रिवेणी संगम को तीर्थराज कहा जाता है। जिस प्रकार सब पावन तीर्थों की भरमार इस प्रदेश में है, इसी प्रकार महामानवों की, नर रत्नों की खदान भी इस क्षेत्र को समझा जा सकता है। दक्ष, नागार्जुन, विश्वकर्मा, धन्वन्तरि आदि की यह भूमि है। कुन्ती ने देव पुत्र जने थे। अंजनी के हनुमान की जन्म कथा भी इसी प्रकार की है। यहाँ देवताओं और मनुष्यों के बीच सघन समागम रहा है।

यह चर्चा उद्‌गम केन्द्र की है। उसकी विशिष्टता और वरिष्ठता मानी जा सकती है। पर उनके क्रिया कलापों को इतने ही क्षेत्र में सीमाबद्ध नहीं किया जा सकता। वे समस्त विश्व में पृथ्वी के एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैले हुए देखे जा सकते हैं।

विविध विधि विकासों का विश्व इतिहास खोजा जाय तो प्रतीत होगा कि सभ्यता इसी क्षेत्र से जहाँ तहाँ गई है और क्षेत्र तथा वातावरण के अनुरूप अपने विशिष्ट ढंग से विकसित होती रही। फिर पुरातन काल में विभिन्न क्षेत्रों में जो भाषायें बोली जाती थीं वे संस्कृत के शब्द भंडार से ही क्षेत्रीय स्वरूप में विकसित हुई हैं। कला कौशल का जो विश्व इतिहास खोजा गया है उसका स्थानीय रूप कुछ भी रहा हो, उद्‌गम एक ही है। विज्ञान उद्योग का स्वरूप कहीं सामयिक आवश्यकता के अनुरूप कुछ भी क्यों न रहा हो उनकी मूल निर्धारणाएँ एक ही है। विभिन्नता में झाँकती हुई एकता पाई जाती है। यह उद्‌गम की एकता पर ही निर्भर दिखती है। विलम्ब से विभिन्न धाराएँ विभिन्न रूपों में विभिन्न व्यक्तियों द्वारा आविष्कृत हुई दीखती हैं। पर वस्तुतः उसका आधार ऋग्वेद और अथर्ववेद है। आयुर्विज्ञान के मूलभूत सिद्धान्त आयुर्वेद से ही निकले हैं और सुश्रुत वाणभट्ट प्रभृति वैज्ञानिकों द्वारा सुविधाओं, आवश्यकताओं एवं उपलब्धियों के आधार पर विभिन्न रूपों में गढ़े गये हैं।

इस प्रकार संसार भर से उपलब्ध तत्व धर्म, अध्यात्म, नीति, सदाचार प्रथा-प्रचलन से लेकर दैनिक जीवन में उपयुक्त होने वाले साधनों तक की एक सुनिश्चित शृंखला है जिसका तारतम्य इस अस्त-व्यस्त स्थिति में भी उद्‌गम की एकता सिद्ध करता है। निश्चित रूप से यह सब प्रसार भारत में उपजा और परिस्थितियों के अनुरूप जहाँ-तहाँ फैलता चला गया है। क्षेत्रीय रीति-रिवाजों में आज भारी भिन्नता पाई जाती है पर उन प्रचलनों के आधारभूत कारण एक ही प्रतीत होते हैं। एक ही मान्यता का प्रयोग व्यवहार थोड़े अन्तर के साथ होने लगे तो इसे परिस्थितियों की भिन्नता ही समझा जा सकता है। किसी भी प्रसंग को लें। उसके विश्वव्यापी प्रभावों का निरीक्षण-परीक्षण करें और मूलभूत कारण आधार तलाश करें तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि वह पसारा एक ही बीज का बहुमुखी विस्तार है। बीज क्या है? उसके उत्तर में स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि भारतीय तत्वदर्शन दैवी निर्धारण से भरा-पूरा ज्ञान और विज्ञान है एक ही पिता के बच्चों में आकृति-प्रकृति की यत्किंचित भिन्नता अवश्य पाई जाती है। विश्व व्यापी प्रथा-प्रचलनों एवं प्रणालियों में अन्तर दीख पड़ने पर भी उनका आरम्भ एक ही परम्परा से उपजा और अग्रगामी हुआ सिद्ध होता है।

प्रस्तुत भिन्नता और पृथकता मूलतः एकात्मता के साथ जुड़ी हुई क्यों है? इसे जानने के लिए यह समझना होगा कि सभ्यता की आरम्भिक स्थापना जिन लोगों ने की उन्होंने उसे विभिन्न क्षेत्रों में उगाया, फैलाया। ये विस्तारकर्ता, उत्प्रेरक कौन थे? इसका परिचय प्राप्त करने के लिए हमें सतयुग काल तक पहुँचना होगा और उस समय की ऋषि परम्परा को समझना होगा। भारतीय तत्व ''ज्ञान एकोहं बहुस्याम'' की आकाँक्षा से होता है। परब्रह्म ने एक से अनेक बनना चाहा और आकाँक्षा ने प्रेरणा और प्रवृत्ति का रूप धारण करके इस विश्व ब्रह्माण्ड के स्थूल और सूक्ष्म परिकर को रच दिया है। परब्रह्म की मानवी चेतना ब्रह्मवर्चस होकर मनुष्यों में अवतरित होती है। ब्राह्मण वही वर्ग है। पुरोहित और परिब्राजक उसी के दो स्वरूप हैं उनमें यदि धर्म धारणा और भौतिक प्रगति की महत्वाकाँक्षा उदय होती है तो वह स्वाभाविक ही है। उस उभार मे यदि व्यापक बनने की व बनाने की महत्वाकांक्षा उमगी हो और विश्वव्यापी सुनियोजन के लिए मचल पड़ी हो तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

धरती का इतिहास तो चिर पुरातन है । उसे अनादि भी कह सकते हैं । उसका प्रारूप निश्चित करना कठिन है । उसे कल्प कल्पान्तरों की तरह भी सोचा जा सकता है पर निकटवर्ती सतयुग के सम्बन्ध में यह अनुमान सार्थक है कि वह ऋषि परम्परा को प्रधानता देने वाला समय रहा होगा । वह लम्बी अवधि रामायण-महाभारत काल पर आकर त्रेता-द्वापर के परिवर्तन पर समाप्त हुई होगी ।

त्रेता शासन प्रधान था । द्वापर में अर्थ व्यवस्था का दौरा रहा । कलियुग में उच्छृंखलता आदर्श के प्रति अनास्था का बोलबाला है । छूत की बीमारी एक से दूसरे को लगती है। ऋतु प्रभाव सभी को प्रभावित करता है । प्रचलन की चपेट में देखा देखी अनेकों आते हैं । अमर बेल का एक टुकड़ा किसी पेड़ पर डाला जाता है तो वह फैलकर समूचे वृक्ष पर छा जाता है। युग परम्परा का विस्तार भी इसी प्रकार होता है । वह कुछेक प्रतिभाशालियों के द्वारा आविर्भूत होते हैं और फिर अपना कलेवर बढ़ाते हुए समूचे वातावरण को अपने शिकंजे में कस लेते हैं । सतयुग का विकास विस्तार भी इसी प्रकार हुआ । इस अवधि में सभी भावनाशील थे । संयमी और उदात्त, संकीर्ण स्वार्थ परता किसी को छू नहीं पाती थी । सादा जीवन उच्च विचार का सबमें समावेश था । संतोषी और परिश्रमी अपनी आवश्यकतायें स्वयं पूरी कर लेते हैं । इसके उपरान्त भी उनके पास इतना कुछ बच जाता है कि दूसरों की सेवा सहायता कर सकें, गिरों को उठा सकें और पिछड़ों को बढ़ा सकें । प्रतिभावानों की उदारता और पिछड़ों की कृतज्ञता मिलकर सहज ऐसी स्थिति उत्पन्न करते हैं जिसे समता एवं एकता का समन्वय कहा जा सके ।

सतयुग में सभी सम्पन्न थे । इसका अर्थ यह नहीं कि उनके यहाँ सोने चाँदी के भंडार भरे पड़े थे । न्यूनतम आवश्यकता को पूरा करने के लिए सम्भव साधन जुट सके और उतने भर से संतोष हो सके तो समझना चाहिए कि परिपूर्ण सम्पन्नता की उपलब्धि हो गई । संतोष की अनुभूति इस सार्थक सम्पन्नता की कसौटी है । अपव्ययी असंतोषी कुबेर भी अपनी सम्पदा को अपर्याप्त कहता और दुर्भाग्य का रोना रोता रह सकता है।

सतयुग मे सभी को जहाँ साधनों के प्रति संतोष था वहाँ आकाश-पाताल छू लेने वाली महत्त्वाकांक्षाओं पर संयम भी था । वासना तृष्णा का मदोन्मत्त हाथी संयम अपनाये बिना और किसी प्रकार काबू में नहीं आता । इंद्रिय, संयम, अर्थ संयम, समय संयम और विचार संयम अपनाते ही मनुष्य इतना सशक्त हो जाता है कि अपव्यय के रुकते ही वैभव का पर्वत सामने खड़ा हो सके ।

हँसते-हंसते जीना, दु:खों को बँटा लेना सुखों को बाँट देना, हिलमिल कर रहना, उदार-सहकारिता को चरितार्थ करना ऐसा निर्धारण है जिसे अपनाते ही सतयुग सामने खड़ा हो सकता है। और दूरदूर तक उसका विस्तार हो सकता है । ऐसी ही थी चिर पुरातन काल की सतयुगी अवधि ।

सतयुगी महामानव बादलों की तरह भ्रमणशील रहें और बरसें

पुरातत्व वेत्ता भूगर्भ के नक्षत्रीय गोलकों के, पर्वतों के अनुसार अति प्राचीनकाल की स्थितियों का पता लगाते हैं। पर वह पता सीमित पुरातन काल का ही होता है । समय बीतने के साथ वे चिह्न भी अस्त-व्यस्त होते जाते हैं और किसी पुरातन काल की सही संगणना सम्भव नहीं रहती। खुदाई से जो पात्र उपकरण मिलते हैं वे भी दो-चार वर्ष तक ही अपनी पुरातन स्थिति का सामान्य सा परिचय देते रहे हैं । शिलालेख और ध्वंसावशेष तो अपनी स्थिरता का प्रमाण-साक्षी प्रस्तुत कर सकने में समर्थ होते हैं । सतयुग का समय अनुमान तीस हजार वर्ष से दस हजार वर्ष तक का किया गया है । पदार्थों से प्रत्यक्ष स्थिति का ही अनुमान होता है । पर सतयुग भावना-प्रधान थी । भावना के उतार-चढ़ावों का परिचय प्राप्त कर सकना और भी कठिन है । इन सब कारणों से सतयुग की खोज में वस्तु प्रधान प्रमाण सहायक नहीं हो सकते ।

इस सन्दर्भ में भावनात्मक आनुवंशिकता को टटोलना पड़ेगा । वंश परम्परा की परम्परागत आकृति प्रकृति एवं भली-बुरी स्थिति गुण सूत्रों से लिपटी रहती है । वंशजों की गतिविधियाँ देखकर पूर्वजों के स्तर का पता लगता है। यह भी प्रमाण खोजने की शृंखला मानी जा सकती है ।

कोई व्यक्ति अपने को सर्वथा हटाकर स्थिति की कल्पना नहीं कर सकता । परलोक में, मुक्ति में, समर्पण में भी वह अपने पृथक अस्तित्व की मान्यता बसाये रहता है । इस भावनात्मक तथ्य को देखते हुए आत्मा की अमरता सिद्ध होती है ।

सतयुग की छाया भी हर किसी के मन पर किसी न किसी रूप में विद्यमान है । कुकर्मी भी प्रत्यक्षत: सदाशयता को सराहता देखा गया है । यहाँ तक कि लांछन लगाने पर भी वह अपने को निर्दोष ही कहता रहता है । पाखण्डी

अपराधी भी पूछने पर सदाशयता की प्रशंसा करते हैं और अपने को सज्जन सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। संसार में झूठे दुराचारियो का ही बाहुल्य क्यों न हो पर सबके समक्ष उनसे भलाई और बुराई के सम्बन्ध में पूछा जाय तो सराहते भलाई को ही पाये जायेंगे। इसीलिए कहा जाता है कि सत्य में हजार हाथी के बराबर बल होता है। यह समस्त संसार के विरुद्ध हो जाने पर भी अपनी गरिमा को एकाकी खड़ा रहकर भी सिद्ध कर सकता है। बुरे से बुरा आदमी भी अपने साथ-अपने स्वजनों के साथ भलाई करता है। इस मानसिकता को देखते हुए प्रतीत होता है कि पूर्वजो से आनुवंशिकता के रूप में उसने सदाशयता की वरिष्ठता का अवधारण किसी न किसी अंश में किया हुआ है। इससे प्रतीत होता है कि सतयुगी परम्परा ही मनुष्यों में बीज रूप से विद्यमान है। उसका प्रचलन भी भूतकाल मे कभी न कभी रहा अवश्य है।

सतयुग का विश्लेषण करने पर सिद्ध होता है कि शारीरिकता भले ही आधुनिक मानवों जैसी रहती रही हो पर मानसिकता मे, स्वभाव प्रयास में भारी अन्तर रहता है। उन दिनों मनुष्य अधिक परिश्रमी और साहसी होता था। यदि ऐसा न होता तो अनगढ़ प्रकृति को कैसे सुव्यवस्थित समतल सुविकसित बना सका होता। खड्ड-टीलों को काटकर किस प्रकार खेत बनाये होते। झाड़ियों को हटाकर किस प्रकार उद्यान लगाये होते। वन्य पशुओं में से गाय, भैंस, घोड़ा, गधा, ऊँट, हाथी जैसों को पकड़ कर किस प्रकार वशवर्ती किया होता। भेड़-बकरी, कुत्ते-बिल्ली आदि को सहयोगी किस प्रकार बनाया होता। प्रतिकूल प्रकृति वाले मनुष्यो तक को जब अनुकूल नहीं बनाया जा सकता तब जिनने भूखण्डों, सघन वनों, अनगढ़ पशुओ को अपना सहयोगी बनाने में सफलता प्राप्त की, वे कितने धैर्यवान् कितने बलवान और कितने बुद्धिमान रहे होगे, इसका सहज ही अनुमान लग जाता है। समय और उदार सहकारिता उनके स्वभाव बन गये होंगे तभी तो वे परिवार बसाने और समाज का सुव्यवस्थित प्रचलन करने में समर्थ हुए होंगे। धर्म-दर्शन, तत्वज्ञान, अध्यात्म जैसे विषयों की संरचना और निर्धारणा कितनी कठिन है इस बात का पता तब चलता है जब किसी को परम्परा से हटकर नया तत्वज्ञान नये सिरे से सृजन करने को कहा जाय। सतयुगी महामानव वैज्ञानिक भी थे। अन्यथा अग्नि का प्रज्वलन, कृषि, वस्त्र निर्माण की कला, यन्त्र, आयुध, भवन आदि का बन सकना उन दिनों कितना दुरूह रहा होगा जिन दिनों आदिम मनुष्य बन्दरों की तरह निर्वाह करता और गुफाओं में सिर छिपाने के लिए जगह ढूँढता था। पक्षियों के घोंसलों, मक्खियों के छत्तों से प्रेरणा लेकर उसने वास्तुकला का विकास किया होगा। बोलना और लिखना सृष्टि का अन्य कोई प्राणी नहीं जानता जबकि मनुष्य चिरकाल पूर्व इन कलाओं में प्रवीण हो चुका है। सामूहिक रूप से बसने में उत्पन्न होने वाली भलाई-बुराई को सम्मानित-प्रताड़ित करने की जो शासन व्यवस्था बनी होगी उसके लिए कितनी दूरदर्शिता का समावेश हुआ होगा? उत्पादन की तरह विनिमय भी कठिन है। इस हेतु वाणिज्य की शाखा-प्रशाखाओं का विकास और यातायात के थलीय और जलीय साधन विनिर्मित करने में कितनी समझ और कितनी मेहनत करने को साधन जुटाने की आवश्यकता पड़ी होगी। उन सबके सम्पन्न होने सफल बनने में कितने समाधान सोचने और कितने प्रचण्ड पुरुषार्थ करने पड़े होंगे इसकी आज तो सर्वत्र सरलता से भरे-पूरे युग में कल्पना तक करनी कठिन है। पर इतना तो सहज अनुमान लगता है कि अभावो और विपन्नताओं के वातावरण मे जिनने सुविधा साधनों का निर्माण-निर्धारण किया होगा वे कितने बड़े पराक्रमी, पुरुषार्थी, तत्पर, तन्मय प्रकृति के रहे होगे। कितना उच्चस्तरीय धैर्य और साहस दिखाया होगा। आरम्भिक कौशल प्रकट करने की कितनी बड़ी क्षमता उनमें रही होगी। अपने समय के हमारे पूर्वज निश्चय ही महामानव रहे होंगे अन्यथा इतनी समृद्धि और सुव्यवस्था का ढाँचा किस प्रकार खड़ा करना सम्भव रहा होगा।

सतयुगी पूर्वजों की प्रयास परायणता की सराहना ही पर्याप्त नहीं होगी वरन् उनकी संयमशीलता एवं उदारता को और भी अधिक श्रेय देना होगा। स्वार्थ का तकाजा है कि जो कमाये सो खाये। जिसमें बल हो वह अधिकार जमाये। वन्य जीवों में जंगल का कानून चलता है। समर्थों में-'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली कहावत चरितार्थ होती रही है। मध्यकालीन लुटेरों, आक्रमणकारियों, सामन्तों में यह प्रवृत्ति बड़े विकृत रूप में तत्कालीन इतिहासकारों ने भी पाई है। ठग और डाकू अपनी चतुरता का ऐसा ही घिनौना उपयोग करते रहे हैं। किन्तु चिर पुरातन काल मे सतयुगी प्रचलन सर्वथा दूसरी तरह के रहे हैं। उनने उत्पादन तो असाधारण किये पर उनके उपयोग में संकोच ही करते रहे। कम से कम में अपना काम चलाया और बचत के सम्बन्ध में यही सोचते रहे कि इससे पिछड़े

ठाने-बढ़ाने का, अनगढ़ों को सुयोग्य बनाने का कार्य क्या जाय। ऐसा सोचा ही नहीं गया वरन् उस सोच को ार्यरूप में परिणत करके भी दिखाया गया। उपार्जन की फलता, अनुग्रह, अनुदानों पर निछावर की जाती रही। हाँ रहे मिल-बांटकर खाया। पिछड़ों को उठाने में विशेष यास किया और असमर्थों की सहायता करने के लिए णों की बाजी लगाते हुए तनकर खड़े रहे। तभी मानवी रिमा, सभ्यता और संस्कृति का वह विकास बन पड़ा सके कारण उस काल के प्रतिभावानों को देवमानव हलाने के लिए भरपूर श्रेय उपलब्ध हो सका।

मनुष्य एक जगह बसता है तो उसके सहयोगी-म्बन्धी बन जाते हैं। उत्पादन का जो सिलसिला ठिनतापूर्वक चलाया जाता है उसका सुविधाजनक तिफल कालान्तर में ही मिलता है। इन सब बातों को नते हुए भी जिनका मन यह करे कि सुविधाओं से भान्वित दूसरों को होने दिया जाय और स्वयं नई जगह ाकर नया घोंसला बनाया जाय, नयों को इकट्ठा किया ाय और नये सिरे से प्रगति का-संस्कृति का प्रारंभ कराया ाय, उनकी उच्च मानसिकता की भूरि-भूरि प्रशंसा ही रनी पड़ती है। सिंह बच्चों के बड़े हो जाने पर उस क्षेत्र ो उनके लिए छोड़ देता है और स्वयं अपने लिए किसी जनवी प्रदेश को अधिकार क्षेत्र बनाता है। इसी परम्परा ो अपनाकर सतयुग की अवधि में महापुरुष भी अपनी ति-नीति का निर्धारण करते रहे। उन्हें सर्वश्रेष्ठ मनोरंजन रा पुरुषार्थ इस उद्देश्यपूर्ण प्रव्रज्या में ही दीखा, इसलिए न्होने इस प्रक्रिया को तीर्थ यात्रा का नाम देकर बड़े त्साह एवं श्रद्धा सम्वेदनापूर्वक अपना भी लिया। इस रम्परा को कुछ दिन पूर्व बिहार प्रान्त के एक हजारी मिक किसान ने अपनाया था। उसने समूचे क्षेत्र में गाँव-ाँव जाकर के आम के बगीचे साथ रहकर लगवाये। वह ारा इलाका आम्र-उद्यान बन गया। उस इलाकेका नाम जारीबाग पड़ा। सतयुग की परम्परा का यही एक छोटा-ा उदाहरण इन दिनों दीख पड़ता है। ढूँढने पर अन्यत्र भी से उदाहरण इसी समय के या पिछले दिनों के जहाँ-तहाँ ष्टिगोचर हो सकते हैं। उन दिनों तो यह आम बात थी। मायण काल में सुमित्रा माता और उर्मिला पत्नी ने अपने क्ष्मण को वनवास के लिए खतरों से भरे क्षेत्र में भेज दिया ा। उन दिनों प्रत्येक परिवार में से न्यूनतम एक सदस्य माज सेवा के लिए समर्पित किया जाता था। मध्यकाल ं यही परम्परा शासन के आह्वान पर हर घर से एक सैनिक भर्ती कराने की भी रही। अपने क्षेत्र को सम्भालने के उपरान्त अन्यान्य पिछड़े क्षेत्रों को खोजना और वहाँ जाकर तब तक के लिए बस जाना जब तक कि वहाँ प्रगति और समृद्धि के लक्षण प्रत्यक्ष न दीख पड़ें। यही वह पद्धति थी जिसके चरितार्थ होते रहने के कारण आर्यवर्त्त में उगे छोटे उद्यान के बीज संसार भर में फैले और वहाँ उग कर विशाल वृक्ष के रूप में फूले-फले।

धरातल के प्रत्येक क्षेत्र में ऐसे प्रमाण परिचय मिलते हैं जिनसे प्रतीत होता है कि वहाँ मानवों का अस्तित्व रहा है। साथ ही उनका पारस्परिक व्यवहार भी उदारता एवं सहकारिता की रीति-नीति को अपनाते हुए चला है। इसने बिखरे मनुष्यो को एकत्रित किया। संघबद्ध बनाया। निर्वाह के लिए आवश्यक सुविधा साधनों को बढ़ाया। साथ ही ऐसा भी बहुत कुछ किया जिसके आधार पर नीति, धर्म, तत्वज्ञान, तप साधन, संयम सहकार जैसी भावनात्मक उत्कृष्टताओं की अभिवृद्धि होती रही।

चिर पुरातन काल की परिस्थितियों का परिचय जहाँ-तहाँ पाये गए ऐसे ध्वंसावशेषों से मिलता है जो अच्छी स्थिति मे तो नहीं मिले पर जो कुछ सामग्री खोजी जा सकी वह यही सिद्ध करती है कि सतयुग में मनुष्य का पराक्रम और बुद्धि कौशल चरम सीमा तक पहुँचा था। इतना ही नहीं उसकी उदारता और सहकारिता भी बढ़ी-चढ़ी रही थी। प्रतिभावानों की महत्वाकांक्षा एक ही केन्द्र पर केन्द्रित थी कि वे वीरान क्षेत्रों को आबाद किस प्रकार कर दिखायें और अपनी समूची प्रतिभा को इसी प्रयोजन की पूर्ति के लिए किस प्रकार लगायें। उनकी तीर्थयात्रा इसी उद्देश्य के लिए गतिशील रहती थी। उनकी सम्पदा-प्रतिभा इसी निमित्त उत्सर्जित होती थी। इसी आधार पर संसार भर के विभिन्न क्षेत्र विकसित देश के रूप में समुन्नत हुए।

अन्धकार बढ़ा और अनाचार स्तर तक पहुँचा

छद्म प्रचलन में समाविष्ट होकर बढ़ता—पनपता है। असली में नकली मिला देने की धूर्तता आम बात है। दूध मे पानी, मिर्च में गेरू, घी में मूंगफली का तेल आदि की मिलावटों द्वारा नकली को असली के समकक्ष बनाकर बेचा जाता है। अभिनय मंच के नट कभी राजा कभी संत बनते देखे गये है। ठग सज्जनों जैसी चाल-ढाल बनाते और चेले को धोखे में डालकर अपना उल्लू सीधा करते है।

६.११ सूक्ष्मीकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का अवतरण

सतयुग के ढलान पर भी ऐसा ही हुआ । ऋषि जब दुर्बल पड़े, अपना वर्चस्व खो बैठे तो सशक्तों ने मिलकर भेड़ियों जैसा गिरोह बना लिया और मिल जुलकर आक्रमण करने, शिकार दबोचने का खेल खेलने लगे ।

सामन्तों ने डाकुओं जैसे गिरोह बना लिए और समवर्ती शासकों से युद्ध में जीतने तथा प्रजाजनों को लूटने का व्यवसाय करने लगे । जो अधिक सफल बना उसने राजमुकुट पहने । छुटभैयों ने जमींदार, जागीरदार बनकर संतोष किया ।

वे अल्पसंख्यक थे, प्रजाजनों का विशाल सागर था। लुटेरों को भय रहा कि कहीं प्रजाजन गठित संगठित न हो जायँ और अनीति के विरुद्ध उठ खड़े न हों । इसलिए प्रत्यक्ष लूटपाट के साथ-साथ यह प्रयत्न भी किया गया कि धर्म-तन्त्र को भी सामन्तवादी बनाकर अपने ही समुदाय में मिला लिया जाय । लोक चिन्तन को ऐसे साँचे में ढाला जाय जिसमें प्रतिरोध के लिए गुंजायश ही न रहे। जो कुछ होता है ईश्वर की इच्छा से होता है । विधाता अटल भाग लिखता है और फिर वह किसी के टाले नहीं टलता जैसी मान्यताएँ अनेक कथा पुराणों के द्वारा मस्तिष्क में ठूंसी गईं ताकि अनीति के विरुद्ध आक्रोश उभरने न पाये । हर किसी को अपना उत्पीड़न दुर्भाग्य मान कर चुप रहना पड़े । ऐसा दर्शन उन ब्राह्मण वेश धारियों ने गढ़ा जो आवरण तो ऋषियों जैसा पहनते थे पर काम सामन्तों के लिए करते थे । उनने अनेक ऐसे कथा पुराण गढ़े और उन्हें सुनने का महात्म्य बताते हुए उस दुष्प्रचार के भी पैसे वसूल किये ।

जन संगठन का, एकता समता का अवसर रहने पर कभी भी शोषकों के लिए विपत्ति खड़ी हो सकती थी । इसलिए पुरानी उपयोगी प्रथाओं से जोड़कर नई विकृतियाँ गढ़ी गईं । जाति-पाँति का सिलसिला चला और वह उपजातियों में विभक्त होते-होते इस स्थिति में पहुँच गया कि लोग अपने को एक छोटे समुदाय का सदस्य मान लें और एकता-एकात्मता का स्वप्न भी न देखें ।

कुरीतियों का सिलसिला बढ़ा सो बढ़ता ही चला गया । सयानी कन्याओं का सामन्त गाजे-बाजे के साथ एक सैनिक टुकड़ी के सहारे अपहरण करते थे । उस कन्या-परिवार को लूट भी लाते थे । डरपोकों ने यह स्थिति स्वेच्छा से स्वीकार कर ली । झगड़े को प्रतिरोध के रूप में न पहुँचाने में ही भलाई समझी । जब बड़े बहकाने वाले कदम बढ़ाने लगे तो छोटों ने उसे प्रथा प्रचलन के रूप में स्वीकार कर लिया, आज भी धूमधाम वाली लम्बी चौड़ी बारात वाली शादियाँ उसी कुप्रचलनों का ध्वंसावशेष है ।

अनेक देवी देवताओं के अनुसार अनेक सम्प्रदायों में विभाजित लोगों की मानसिकता ऐसे ढाँचे में ढल गई कि प्रत्येक मनुष्य अपने को एक छोटे समुदाय का व्यक्ति समझने लगा । समग्रता तो कल्पना से बाहर हो गई ।

नारी की आधी जनसंख्या तो मानवी मौलिक अधिकारों से सर्वथा वंचित कर दी गई । उसे घर के पिंजड़े में घूँघट पहनाकर कैद कर दिया गया । वह चौकीदारिन, रसोईदारिन, प्रजनन जैसे कार्यों तक सीमित कर दी गई । फलतः समाज अर्धांग पक्षाघात पीड़ित की तरह आधे अंग को ही घसीट-घसीट कर किसी प्रकार काम चलाने लगा ।

जाति-पाँति का कुचक्र अपने ढंग का अनोखा था। उसने मनुष्यों के एक बड़े भाग को अछूत बना कर रख दिया । एक प्रकार से समाज द्वारा बहिष्कृत-तिरस्कृत । ऐसी दशा में समाज की विच्छिन्नता-विपन्नता स्वाभाविक ही थी ।

कुरीतियों का सिलसिला जब चला तो उसे समर्थों की शह मिलने पर विस्तार ही विस्तार होता चला गया । अपहरण किये गये, प्रजाजन दास-दासी रहे और सरेआम खरीदे -बेचे जाने लगे । उनकी स्थिति मालिकों द्वारा वशवर्ती किये गये पशुओं जैसी हो गई । विलासी अनेकानेक दासियाँ, रखैलें रखने लगे । इसके ठीक विपरीत स्त्रियों को बाधित किया गया कि वे पतियों के साथ सती हो जाया करें ।

मृतक भोज, भिक्षा व्यवसाय देवताओं को प्रसन्न करने के लिए खर्चीले कर्मकाण्डों द्वारा पुरोहितों को बड़ी-बड़ी दान-दक्षिणा, तीर्थ मंदिरों के पुजापे अपना विस्तार करते हुए निर्धारकों के लिए अच्छा खासा व्यवसाय बन गये । इन कुप्रचलनों ने समाज को आर्थिक दृष्टि से निर्धन और सामाजिक दृष्टि से दीन-हीन बनाकर रख दिया । व्यक्तिगत रूप से लोग आस्तिक भी थे । पूजा पाठ भी करते थे । धर्म परम्पराएँ जैसी भी कुछ उन दिनों चल रही थीं । उन्हें पालते भी थे । पर उसका ढलान व्यक्तिवाद की ओर था । समूह के प्रति उपेक्षा ही बरती जाने लगी । यह जातीय दुर्बलता का प्रधान कारण था । सामाजिकता के प्रति अभिरुचि न हो तो अन्ततः उस समुदाय का पतन ही होता है ।

हुआ भी यही । विदेशी आक्रमणों का सिलसिला चल पड़ा । प्रतिरोध की तैयारियाँ ही नहीं । अहंकार के वशीभूत

होकर छोटे-छोटे राज्य आपस में लड़ने लगे जो हर दृष्टि से जर्जर हो गये। पड़ोसियों से लड़ने की घात लगाना तो आता था पर बाहरी प्रति-आक्रमणों से संगठित मुकाबला कर सकना उनके बलबूते की बात न थी। ऐसी दशा में आक्रमणकारियों को जड़ें जमाने का अधिकार मिलता ही चला गया।

धार्मिक क्षेत्र की दुर्दशा और भी बढ़ी-चढ़ी थी। देवताओं को प्रसन्न करने के लिए विशालकाय कर्मकाण्डों द्वारा विपत्ति टलने और समृद्धि बढ़ने सफलता मिलने की बात सोचने लगे। देव प्रतिमाओं के सामने पशु बलियों का सिलसिला चला तो वह यज्ञों में भी उपयोगी पशु होने तक बढ़ता चला गया। आध्यात्मिकता का तत्वदर्शन मायाचार में बदल गया। अपने को देवताओं का प्रतिनिधि या दलाल बताने वाले लोग 'मद्यं माँसं च मीनं च मुद्रा मैथुन एव च' का क्रूराचार अपनाने लगे। हित साधन करने के स्थान पर उन्होंने अपने आसुरी शक्ति का आक्रोश होने तथा मारण मोहन, उच्चाटन, सम्मोहन जैसी आक्रामक क्रिया प्रक्रियायें कर गुजरने का मानसिक आतंक और आक्रमण इतना बढ़ाया कि जनता उनसे भयभीत रहने लगी और उनके उचित अनुचित सभी आदेशों को पालने लगी।

इस व्यापक अनाचार ने जनमानस को ऐसा दिग्भ्रान्त कर रखा था कि सर्वसाधारण के लिए उचित अनुचित का, कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्धारण करते नहीं बन पड़ता था। निशाकाल आया तो अंधकार की सघनता क्रमशः बढ़ती ही चली गई। व्यक्ति और समाज में वह वरिष्ठता-शालीनता न रही जो सतयुग की अवधि में थी। अब से कोई तीन हजार वर्ष पूर्व भारतीय गरिमा के सूर्य चन्द्र पर राहु-केतु जैसा आक्रमण हुआ और कलंक-कालिमा से भरा पूरा ग्रहण लग गया।

कलियुगी अनाचार का अभिशाप

पतन सरल और उत्थान कठिन है। छत पर चढ़ने में साधन ढूँढना और परिश्रम करना पड़ता है। किन्तु ऊपर से नीचे गिराने के लिए एक हल्का धक्का पर्याप्त है। इतने भर से किसी को लुढ़कते हुए गहरे गर्त में जा पड़ने की दुर्गति हाथ लगती है। साधन चिरकाल में कठिनाई के साथ जुटाए जाते हैं पर उन सबको भस्मसात करने में एक चिनगारी का छप्पर छू जाना सर्वनाश का कारण बनता है। गंगा गोमुख का जल भी यदि निम्नगामी प्रवाह क्रम अपना ले तो उसकी गति खारे खड्ड में ही जाकर रुकती है। ऐसा समुद्र जिसका जल पशु पक्षी तक के काम नहीं आता। पतन का क्रम ही ऐसा है। स्वर्ग तक पहुँचना कठिन है पर वहाँ पहुँचने वाला यदि कुकृत्य करने लगे तो उसके नरक जैसी दुर्गति में जा गिरने का पथ प्रशस्त हो जाता है।

सतयुग का बुढ़ापा आया तो उससे विषाणुओं को आक्रमण करने का अवसर मिला। दमा, खाँसी, अनिद्रा, बहुमूत्र, रक्त चाप आदि अनेक रोग अनायास ही आ धमकते हैं जिनका जवानी की अवधि में कहीं अता-पता तक न था। प्रकृति का नियम ही कुछ ऐसा है कि प्रकाश के उपरान्त अन्धकार का साम्राज्य छाए। प्रकाश में पुरुषार्थ सहज होता है पर अन्धकार में काम चलाऊ स्थिति बनाए रहने के लिए दीपक जलाने से लेकर चौकीदारी का प्रबन्ध करने जैसी अनेक सतर्कताएँ अपनानी पड़ती हैं। एक रूपता इस संसार का नियम नहीं है। वस्तुएँ बदलती रहती हैं। काया भी जन्मती, बढ़ती, ढलती और मृत्यु के मुख में चली जाती है। युगों का परिवर्तन भी ऐसे ही होता रहा है। जन्म के समय प्रसव काल में सिर पहले बाहर निकलता है। पैर वाला कम महत्वपूर्ण अंग बाद में दीख पड़ता है।

सतयुग स्रष्टा का आरम्भिक विकास क्रम रहा है। उसमें उत्कृष्टताएँ ऊर्ध्वगामी, समुन्नत रही है। मानवी गरिमा का वह स्वर्णिम प्रभात काल रहा है। उसमें मनुष्य उन सब विभूतियों से, सत्प्रवृत्तियों से लदा हुआ था जिसके कारण उसे सृष्टा का ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, वरिष्ठ युवराज कहलाने का अवसर मिला। प्रभात काल का उदीयमान सूर्य स्वर्णिम होता है वह सविता कहलाता है और अर्घ्यदान के लिए, ध्यान-धारणा के लिए उसी का आश्रय लिया जाता है। सराहना सतयुग की होती है। क्योंकि उसमें परिस्थितियाँ अनुकूल रहती हैं और अन्तः स्थिति उत्कृष्टता के अनुरूप। सात्विकता, सौम्यता, सज्जनता मनुष्य की विचारणा में, क्रिया प्रक्रिया में भरी पूरी रहती है। इसीलिए उस काल को सराहा और देवयुग कहा जाता है।

प्रकृति चक्र गतिशील है। वह ऊपर से नीचे भी आता है और नीचे से ऊपर भी उभरता है। फव्वारे का पानी ऊपर उछलता है। किन्तु थोड़ा, ऊँचा उठकर वह नीचे गिरने लगता है। यह गिरावट यदि चलती ही रहे तो उछलने वाला शीतल जल गन्दी नाली तक जा पहुँचता है और दुर्गन्धित अस्पर्शय बनता है। सत्संग जिस गति से उत्कर्ष का द्वार खोलता है। कुसंग उससे अधिक तेजी अपनाकर पतन के गर्त में गिराता है। सतयुग जिस क्रम से फला-फूला उससे कहीं अधिक तेजी के साथ त्रेता और द्वापर की पतनोन्मुख

प्रक्रिया तेज हुई। भगवान को जल्दी-जल्दी अवतार उन्हीं दिनों लेने पड़े हैं। अधर्म के उन्मूलन और धर्म के संस्थापन का कार्य जब मनुष्यों के लिए कठिन हो गया तब उनकी सहायता के लिए दिव्य अवतरण का सिलसिला चला। धर्म का साम्राज्य सतयुग में रहता है। इसलिए मनुष्य ही देवत्व की रक्षा कर लेता है। अवतारी दिव्य अवतरण तो असन्तुलन को सन्तुलन में बदलने के लिए ही होता है। जब सरकार अपना काम ठीक तरह नहीं कर पाती तो उन्हें भंग कर दिया जाता है और राष्ट्रपति शासन लागू होता है। अवतार यही है। हिरण्याक्ष, हिरण्यकश्यपु, वृत्तासुर, महिषासुर, रावण, कंस आदि का प्रादुर्भाव इस मध्यकालीन गए गुजरे समय में ही हुआ है। अवांछनीयता, विविध छिद्रों से इसी काल में फूलती रही है और उसका समय-समय पर दमन भी होता रहा है।

मध्यकाल के सामन्ती अन्धकार युग का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करना यहाँ अभीष्ट नहीं है। उस संदर्भ में इतना ही कहा जा सकता है कि उसमें विग्रह विनाश, अनाचार, पतन, पीड़ा जैसी दुष्प्रवृत्तियों का ही दौर बहुलता के साथ रहा है। यों सत्य का सर्वनाश कभी भी नहीं होता। आदर्श पुरुष अन्तरिक्ष में सितारों की तरह टिमटिमाते रहते हैं और अँधेरे की स्थिति भी ऐसी बनाए रखते हैं जिसमें सघन तमिस्रा का दौर रहते हुए भी काम चलाऊ प्रकाश बना रहे और यात्री को उस दुष्काल में भी रास्ता ढूँढ सकने का सुयोग बनता रहे। त्रेता और द्वापर की स्थिति ऐसी ही रही है जिसमें निशाकाल मे भी चन्द्रमा की चांदनी छिटकती रहे और सदाशयता का अस्तित्व जहाँ-तहाँ दृष्टिगोचर होता रहे।

सघन तमिस्रा का घटाटोप तो इन दिनों कलिकाल मे छाया है। जिसमें संकीर्ण स्वार्थपरता का सर्वतोभावेन बोलबाला है। अनास्था संकट ने हर दिशा में घेरा डाला है। जन साधारण में दुहरे व्यक्तित्व की उपज बढ़ चली है। बाहर से मनुष्य भलमनसाहत की वाणी बोलता है और विडम्बना रचता है। पर भीतर ही भीतर बहिरंग से सर्वथा प्रतिकूल अपना स्वरूप बनाता है। मन, कर्म, वचन की एकरूपता नहीं रहती। वरन् वे त्रिधाराएँ संगम नहीं बनातीं। तीन दिशाओं में फूटती हैं। आदर्शों की व्यवस्था विवेचना होती रहती है पर उन्हें कार्य रूप में परिणित करने वाले बहुत खोजने पर कोई बिरले ही मिलते हैं। मर्यादाओं का पालन और वर्जनाओं का तिरस्कार कोई-कोई कभी-कभी ही करते हैं। चतुरता इस सीमा तक बढ़ी है कि अनीति और अनाचार के पथ में भी तर्क तथ्य कारण गढ़े और जोर-शोर से प्रतिपादित किए जाते हैं। सत्य को निरूपित करने वाली बहस में ऐसा लगता है कि वाचालता जीतेगी और यथार्थता हारेगी। बाद इतने अधिक प्रकार के उभरे हैं कि उनकी भूल भुलैयों मे भटकाव ही भटकाव हाथ रह जाता है। सही मार्ग को खोजने की बात नहीं बन पड़ती।

सताए या ठगे हुए व्यक्ति अनाचारी के लिए विपत्ति बनकर उभरते हैं। क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। पापों का दुष्परिणाम होना निश्चित है। यह तत्काल का लाभ कालान्तर में अनेक गुना संकट लेकर उभरता है और प्रकृति की क्रम व्यवस्था के अनुरूप सताने को सताया जाना देखा जाता है। अनाचार से शारीरिक रोग, मानसिक सन्ताप, पारिवारिक विग्रह, सामाजिक प्रतिशोध और दंगे अभिशाप बनकर सामने आते है। तब प्रतीत होता है कि कर्म फल मिलने में देर भले ही लगे पर सुनिश्चित विश्व व्यवस्था में अंधेर नहीं है।

बढ़ते हुए अनाचार का नाम ही कलियुग का विस्तार है। इससे राजकीय सामाजिक दंड तो मिलते ही है। शारीरिक मानसिक सन्ताप भी कम त्रास नहीं देते। इसके अतिरिक्त कुपित प्रकृति विश्व विधि अप्रत्याशित अदृश्य की वर्षा करती है। भूकम्प, दुर्भिक्ष, बाढ़, दुर्घटना, महामारी, विग्रह, उपद्रव, युद्ध जैसे संकट इस प्रकार बढ़ते हैं कि अनाचारियों के अतिरिक्त वे लोग भी पिसते हैं जो दुष्टता की रोकथाम के लिए संघर्ष करने में डरते, कतराते हैं। जिस प्रकार अनीति करना पाप है उसी प्रकार उसका सहना भी अनर्थ है। दैवी विपत्तियाँ जन-जन को आगाह करती है कि समूची मानव जाति एक सूत्र में बंधी हैं तो एक चिनगारी के उच्छृंखल होने पर समूचा मकान जलने की तरह अनाचार करने और सहने वाले, मूकदर्शक रहने वाले समूचे समुदाय का सर्वनाश होता है। यही सब इन दिनों हो भी रहा है। कलियुगी विनाश लीला को हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं।

बुद्ध का धर्म-चक्र प्रवर्तन

सघन अन्धकार और गर्वीले घटाटोप को चीरकर भी बिजली तड़कती है। अन्धकार के बीच भी दीपक जलता है। क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। रात्रि का समापन दिनमान के अरुणोदय से होता है। इसी प्रकार मध्यकालीन संव्याप्त अनाचार की प्रतिक्रिया हुई और उसके प्रतिरोध, उन्मूलन का प्रभावशाली माध्यम अवतीर्ण हुआ।

जब अव्यवस्था चरम सीमा पर होती है तो उसे नियंत्रित परिवर्तित परिष्कृत करने के लिए दैवी प्रभाव उभरते और तूफान की तरह काम करते हैं ।

जब-जब अधर्म की असाधारण अभिवृद्धि और धर्म सदाचार की अवमानना हुई है और मनुष्यों के प्रयास से नियमन नहीं हो सकता है तब-तब सृष्टि की सुव्यवस्था को पुनः सन्तुलित करने के लिए विशिष्ट प्रतिभाओं का अवतरण होता रहा है । होते तो वे भी सामान्यों जैसी आकृति के ही हैं पर उनके व्यक्तित्व और कर्तव्य ऐसे होते हैं जिसकी प्रभावशीलता समूचे वातावरण को झकझोरती और जनमानस को प्रसुप्ति से उभार कर जागृति के लिए झकझोरती है । उठाकर खड़ा करती है और सृजन प्रयोजनों में जुट पड़ने के लिए आवेश भरती है । सामूहिक प्रयत्नों में से ही सामुदायिक प्रयत्न पूरे होते हैं । हर अवतार ने यही किया है । उसके प्रत्यक्ष क्रिया कलाप भले ही आकर्षक उत्तेजक होने के कारण जनता की स्मृति में रहते हों पर होता यह है कि उस अवतरण ऊर्जा से हर किसी को अभीष्ट चेतना प्रेरणा उपलब्ध होती है और उत्कर्ष की दिशा में प्रवाह चल पड़ता है।

अवतारों की शृंखला में नवम् अवतार बुद्ध का माना जाता है । इसी का उत्तरार्द्ध अगले दिनों निष्कलंक के रूप में दूरदर्शिता भरे विवेक के रूप में परिलक्षित होने जा रहा है । इस प्रकार अवतारों की शृंखला पूर्ण होगी और परिवर्तन चक्र के अनुसार सतयुग की वापिसी का नया माहौल बनेगा ।

अब से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व जब भगवान बुद्ध का प्रादुर्भाव हुआ था, उस समय भी आज की ही तरह जन मानस का चिन्तन एवं कर्तृत्व बहुत ही निकृष्ट स्तर का हो चला था । तान्त्रिक एवं वाममार्गी साधनाओं के नाम पर सर्वत्र भ्रष्टाचार फैला हुआ था । लोग निकृष्ट एवं भ्रष्ट जीवन जीते हुए भी अमुक कर्मकाण्डो, पूजा-विधानों आदि बाह्योपचारों के बहाने स्वर्ग मुक्ति आदि की आशा किया करते थे । तन्त्र में अलंकारिक रूप में वर्णित पंचमकार मद्य, माँस, मीन, मुद्रा मैथुन को खुली छूट मान लिया गया । चरित्र एवं सदाचरण जैसे शब्दों को उपहासास्पद मूर्खता समझा जाता था । यज्ञों के बहाने मद्य, माँस का भरपूर सेवन होता था । देवी-देवताओं के नाम पर बलि-प्रथा का खूब जोरों पर प्रचलन था । भैरवी चक्र ने व्यभिचार को पूरी तरह छूट दे रखी थी । उस अनाचार दुराचरण का परिणाम वही हो रहा था जो होना चाहिए । लोग रोग-शोक, पाप-ताप, क्लेश-कलह, दुःख-दारिद्रय में बुरी तरह डूबे हुए थे । सर्वत्र अशान्ति का हाहाकार था ।

ऐसी भीषण, प्रतिकूल एवं चारों ओर उद्विग्नता से भरी परिस्थितियों में गौतम बुद्ध जन्में । यों जन्मे तो लुम्बिनी के समीप साल वृक्षों के सघन वन में थे । माता ने मायके जाते हुए उस बालक का प्रसव वहीं कर दिया था। वे राजकुल में पले-बढ़े और प्रव्रज्या लेकर जन जागरण के महान प्रयोजन में जुट गये । अस्सी वर्ष की आयु पूरी करके वे उन्हीं साल वृक्षों के नीचे दिवंगत भी हुए । इस स्थान पर अभी भी अशोक द्वारा विनिर्मित स्मारक बने हुए हैं ।

बुद्ध ने युवावस्था में प्रवेश करते ही जीवन लक्ष्य को समझा और उसे पूरा करने के लिए व्रत लिया । छोटे परिवार के लिए भरण पोषण की व्यवस्था थी, आवश्यक नहीं था कि उन्हीं के लाड़ दुलार में अपना वह बहुमूल्य जीवन खपाये जो विश्व कल्याण की महती आवश्यकता पूर्ण कर सकने में भली प्रकार समर्थ हो सकता है ।

घर से चलकर उनने सर्वप्रथम आत्म बोध और आत्म परिष्कार की साधना की । उससे पूर्व जन्मों के सभी संचित कुसंस्कारों का समापन हुआ और नये सिरे से ब्रह्मवर्चस की तेजस्विता निखरी । अब उच्चस्तरीय कार्यक्रमों में ही संलग्न होना था । यही उन्होंने संकल्पपूर्वक व्रतशील होकर किया भी ।

करने के लिए दो कार्य ही प्रधान थे । एक अधर्म का उन्मूलन दूसरा धर्म का संस्थापन, इसी को दूसरे शब्दों में यों भी कहा जा सकता है दुष्प्रवृत्तियों को उखाड़ फेंकने वाला प्राणवान संघर्ष और दूसरा तात्विक ऋषि परम्परा की गतिविधियों को नव जीवन से पुनर्जीवन प्रदान करना ।

चारों ओर जो हो रहा था, उसे आँख पसार कर देखा और सोचा कि गलाई के बिना ढलाई नहीं हो सकती । कपड़े धोये बिना उस पर रंग नहीं चढ़ सकता । जोते बिना खेत बोया नहीं जा सकता । इसके लिए सर्वप्रथम टूट-फूट की मरम्मत करने का काम हाथ में लेना चाहिए । यही उन्होंने किया भी ।

शास्त्र के नाम पर, ईश्वर के नाम पर, ईश्वर निर्देश के नाम पर, आप्त प्रतिपादन के आधार पर कुप्रचलनो का समर्थन करने की प्रथा चल रही थी । कुरीतियों को पूर्वजों का मार्ग समझकर अपना लिया गया था । लोक आचरण को वरण न करके देवता की प्रसन्नता के लिए मनुहार करने और उपहार देने में लगे थे । ऋषि परम्परा का आवरण

ओढ़कर वह कर रहे थे जिसे छद्म पाखण्ड एवं अनाचारी स्वार्थ साधन ही कहा जा सकता था। बुद्ध ने उस समूचे जाल जंजाल को एक ही झटके में तोड़ फेंका और त्रिपदा गायत्री जैसा—त्रिवेणी संगम जैसा तीन सूत्री आस्था संकल्प का उद्‌भव किया। यह था। (१) बुद्धं शरणं गच्छामि (२) धर्मं शरणं गच्छामि (३) संघं शरणं गच्छामि अर्थात्- विवेक को सर्वोच्च मानता हूँ नीति अपनाने और सदाचरण की प्रतिज्ञा लेता हूँ। संघ के समाज के हित साधन को प्रधानता दूँगा। इन तीन को दूसरे शब्दों में आस्तिकता का, आध्यात्मिकता का, धार्मिकता का, भक्ति, ज्ञान और कर्म का सार तत्त्व कहा जा सकता है। उनकी शिक्षा प्रेरणाओं का यही सार था। इसी चेतना से उनने जन-जन को अनुप्राणित किया और लकीर पीटते रहने की अपेक्षा औचित्य को कार्यान्वित करने के लिए सहमत किया।

इन तीन सिद्धान्तों में मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन को धर्ममय बनाने की, विवेकको सर्वोपरि स्थान देने की, संघशक्ति को प्रबल बनाने की प्रेरणा है। यह तीनों ही आदर्श ऐसे हैं, जिनके बिना न व्यक्तिगत जीवन सुख-शान्तिमय बन सकता है और न जन समाज की प्रगति एवं समृद्धि की अभिवृद्धि हो सकती है। इन तीन सिद्धान्तों को जीवन में अपनाकर ही मनुष्य स्वर्गीय परिस्थितियाँ प्राप्त कर सकता है। इन्हें छोड़ देने पर उसे पतन एवं नारकीय यन्त्रणाओं का उत्पीड़न सहना पड़ता है।

अधर्म का आचरण करने वाले असंयमी, पापी, स्वार्थी, कपटी, धूर्त और दुराचारी लोग शारीरिक, मानसिक स्वास्थ्य एवं धन-सम्पत्ति, यश-वैभव आदि सब कुछ खो बैठते है। उन्हें बाह्य जगत में घृणा और तिरस्कार तथा अन्तरात्मा में धिक्कार ही उपलब्ध होते हैं। ऐसे लोग भले ही उपभोग के कुछ साधन इकट्ठे कर लें पर अनीति का मार्ग अपनाने के कारण उनका रोम-रोम अशान्त एवं आत्म-प्रताड़ना की आग में झुलसता रहता है। चारों ओर उन्हें घृणा-तिरस्कार एवं असहयोग ही मिलता है। आतंक के बल पर यदि वे कुछ पा भी लेते हैं तो उपभोग के पश्चात् उनके लिए विपतुल्य दुःखदायक ही सिद्ध होता है। आत्म-शान्ति पाने, सुसंयमित जीवन व्यतीत करने वाले मनुष्य को धर्ममय जीवनक्रम अपनाने के ही लिए तत्पर होना पड़ता है। नैतिकता, मानवता एवं कर्तव्य परायणता को ही अपने जीवन में समाविष्ट करना होता है। इस प्रवृत्ति का व्यापक प्रसार करने के लिए किये गये प्रयत्नों को नैतिक क्रान्ति की संज्ञा दी जाती है। बुद्ध धर्म के प्रथम मन्त्र 'धर्मं शरणं गच्छामि' में इसी नैतिक क्रांति की चिनगारी निहित है। इस मन्त्र को लोकव्यापी बनाने के लिए जो प्रयत्न बौद्ध-धर्मावलम्बियों ने किया था-उसे विशुद्ध नैतिक क्रान्ति ही कहा जायेगा।

दूसरे मन्त्र 'बुद्धं शरणं गच्छामि' में विवेक बुद्धि को सर्वोपरि महत्व दिया गया है। कालान्तर में पुरानी अच्छी प्रथा-परम्परायें भी रुढ़ियों और अन्धविश्वासों से दब जाती हैं, तब उनका सुधार और परिवर्तन अनिवार्य हो जाता है। उस जमाने में अनीतिपूर्ण असंख्यो कुप्रथायें पनप रही थीं। लोग उनका समर्थन और अनुकरण इसलिए करते थे कि यह बातें पूर्वकाल से चली आ रही हैं। बुद्ध ने बताया कि पूर्वकाल से चली आने के कारण ही कोई प्रथा-परम्परा या विचारधारा मान्य नहीं हो सकती। विवेक का स्थान सर्वोपरि है। जो बातें विवेक सम्मत न हों, वे किसी की भी कही हुई क्यों न हों, कितनी ही पुरानी क्यों न हों, उन्हें स्वीकार नहीं किया जा सकता। जब लोगों ने तांत्रिकी हिंसा को वेद सम्मत बताया तो उन्होंने वेद को मानने से भी इन्कार कर दिया। उनने कहा- विवेक से बढ़कर वेद नहीं हो सकता। यदि वेद अनाचार का प्रतिपादन करता हो तो वह कितना ही प्राचीन और किसी का भी बनाया हुआ हो—माना जाने योग्य नहीं। पंडित लोग वेदो के जैसे गलत अर्थ करते थे, उन्हें देखते हुए बुद्ध को उन प्रतिपादनों को अस्वीकृत करना पड़ा। उन्होंने अपने समय की अनेकों कुरीतियों और अनुपयुक्त रूढ़ियों-प्रचलनों एवं मान्यताओं को तोड़-मरोड़कर रख दिया। इसे बौद्धिक क्रान्ति ही कहा जा सकता है। बुद्ध ने नैतिक क्रान्ति ही नहीं बौद्धिक क्रान्ति भी की।

बुद्ध धर्म के तीसरे मन्त्र 'संघं शरणं गच्छामि' में प्रत्येक व्यक्ति को संघबद्ध, अनुशासित रहने की प्रेरणा है। उच्छृंखलता, व्यक्तिवाद, संकीर्ण स्वार्थ परायणता, अनुशासनहीनता, अनुदारता की महामारी जिस समाज में भी लग जाती है, अन्ततः विनष्ट ही हो जाता है। विशृंखलित लोग पारस्परिक सहयोग के अभाव में न तो प्रगति कर पाते हैं और न सुखी रह पाते हैं। इसलिए संघबद्धता सामूहिकता को बौद्ध धर्म में एक आवश्यक सद्‌गुण माना गया है। अलग-अलग गुफाओं में दूर-दूर रहने की अपेक्षा बौद्ध भिक्षुओं का निवास एवं कार्यक्रम विशाल संघारामों में ही रहने का होता था। एकाकी रहने वाले व्यक्ति संकीर्णताग्रस्त होते हैं और इस फक्कड़पन के कारण वे जन-सेवा के लाभ

से वंचित रहने पर आध्यात्मिक दृष्टि से भी पतित ही माने जाते हैं।

सत्पुरुषों, श्रेष्ठ व्यक्तियों का सामूहिक रूप से संघबद्ध रहना भी आवश्यक है क्योंकि जनमानस के पतनोन्मुख प्रवाह को रोकने के लिए एकाकी व्यक्ति का प्रयत्न पर्याप्त नहीं होता चाहे वह कितना ही प्रतिभा सम्पन्न क्यों न हो। इसके लिए संघशक्ति-संगठित प्रयासों की ही आवश्यकता एवंअपेक्षा रहती है। त्रेता में भगवान राम ने रीछ-वानरों का संघबद्ध सहयोग प्राप्त करके आसुरी प्रवाह को रोकने का संघर्ष किया व सफलता पायी। बुद्ध ने यह भली-भाँति समझ लिया था कि जन-शक्ति के सहयोग से ही अभीष्ट उद्देश्य में सफल होना सम्भव है। उन्होंने त्यागी, लोकसेवी और सदाचारी जागृत आत्माओं की एक विशाल सेना खड़ी की थी। उनके व्यापक एवं प्रबल प्रयासों ने समाज की अवाँछनीय स्थिति को बदल कर रख दिया। आसुरी तत्वों को कुचल-मसलकर परे कर दिया। इस दृष्टि से बुद्ध धर्म को सामाजिक क्रान्ति का सूत्रधार कहा जा सकता है।

बुद्ध अपने तीन प्रमुख मन्त्रों को-तीन उद्देश्यों को पूर्ण करने में आजीवन प्रयत्नरत रहे। नैतिक, बौद्धिक और सामाजिक क्रान्ति के उनके सत्प्रयास निष्फल नहीं गए अपने समय में जन-समाज की उन्होंने सच्ची सेवा की जिससे लोककल्याण का महान कार्य सम्पन्न हुआ।

अपने द्वारा अपनाई गई रीति-नीति का अनुसरण करने के लिए असंख्यों को तैयार किया। उनने अपनी प्रचार प्रक्रिया वाराणसी से छै मील आगे सारनाथ से आरम्भ की। तब उनके प्रभाव से मात्र पाँच-छै व्यक्ति प्रभावित हुए और दीक्षित बने। इसके बाद वह चिनगारी दावानल के रूप में विकसित होती चली गई। डेढ़ लाख पुरुष और एक लाख महिलाएँ उनके धर्म चक्र प्रवर्तन कार्यक्रम में आत्मदानी सहभागी बने। इन्हें भिक्षु भिक्षुणी कहा जाता था। उनके निवास निर्वाह और प्रशिक्षण की व्यवस्था के लिए चैत्यों बिहारों की स्थापना हुई। परिपक्व मनोभूमि विकसित होने पर उन्हें जन सम्पर्क के लिए परिव्राजक रूप में प्रवास पर भेज दिया जाता था। यही उनकी तप साधना और योगाभ्यास शैली थी। नित्यकर्म के रूप में वे जप, ध्यान जैसे पूजा प्रयोजनों को भी पूरा करते थे। शेष समय में उन्हें साहित्य सृजन, गोष्ठी, आयोजन, प्रचार प्रशिक्षण में लगा रहना पड़ता था।

पूर्व से ही सूर्य उदय होता है और सायंकाल अंधेरा भी उसी क्षेत्र में पहले होता है। भारत को जगद्गुरु-चक्रवर्ती, स्वर्ग सम्पदाओं का स्वामी, तत्वदर्शन का जन्म दाता, भौतिक विज्ञान का सृजेता श्रद्धास्पद नामों से कभी जाना माना और सम्बोधित सम्मानित किया जाता था। पर बुरे दिन जब आये तो भ्रांतियाँ, कुरीतियाँ, अनैतिकता भी अराजकता स्तर तक बढ़ी फैली। इन विडम्बनाओं का क्षेत्र बड़ा था। इसलिए आवश्यक समझा गया कि इस समूचे भू भाग को योजनाबद्ध रूप से सुधारा उबारा जाय। भिक्षुओं ने पुरुषों में और भिक्षुणियों ने महिला वर्ग में विचार क्रान्ति का आलोक उभारने के लिए अपनी सेवा साधना को नियोजित किया। क्षेत्रों में डेरे डाले गये। इसके लिए स्थान-स्थान पर धर्मालय विनिर्मित हुए और उनके माध्यम से जीवनोपयोगी सुविधाएँ उपलब्ध कराते हुए योजना बद्ध रूप में क्षेत्र विभाजन के अनुरूप कार्य करने का निर्धारण हुआ। एक शताब्दी के भीतर परिवर्तन का स्वरूप निखरने लगा। शासकों, सम्पन्नों, विद्वानों, कलाकारों ने उस युग परिवर्तन योजना में भाव-भरा सहयोग दिया और ऐसी व्यवस्था बनी जिसके आधार पर देश में ही नहीं देशान्तरों में भी धर्मचक्र प्रवर्तन की योजना गति पकड़ने लगी। इस विस्तार ने निकटवर्ती यूरेशिया क्षेत्र को ही नहीं समूचे विश्व के हर क्षेत्र को अपने अंचल में लपेट लिया।

वह कार्य शैली जिसने सतयुग का बीजारोपण किया

विशेषतया भारतवर्ष में और साधारणतया संसार भर में अगणित ध्वंसावशेष अभी भी उपलब्ध होते हैं। इनमें से बहुत कम ऐसे हैं जिन्हें किले या राजमहलों के खण्डहर कहा जा सके। इनमें से अधिकांश ऐसे हैं जिन्हें धर्मस्थानों की आकृति के कहा जा सकता है। मंदिर उनमें से थोड़े हैं क्योंकि तब उनकी संख्या अधिक न थी। न अनेक देवी देवता थे और न उनके लिए बनाये गये पूजा गृहों का बाहुल्य। इसलिए उनके प्रतीक चिह्न भी कम ही पाये जाते हैं।

धर्मालयों में ऋषि, पुरोहित वर्ग के लोग जन कल्याण की अनेकानेक प्रवृत्तियाँ चलाते थे। ऋषि काल का लम्बा समय बीत गया फिर उस समय चिर स्थायी वास्तुकला का विकास भी नहीं हुआ था। जो निर्माण होते थे वे स्वल्प काल में ही ढह जाते थे। उनका प्रमाण, परिचय देने वाली साक्षियाँ अब उपलब्ध नहीं होतीं। पर चैत्यों बिहारो और धर्म संस्थानों के खण्डहर अभी भी जहाँ तहाँ उपलब्ध है। वे पुरातत्व वेत्ताओं ने बौद्ध काल के बताये हैं क्योंकि ऋषि

परम्परा का भारतीय संस्कृति की अन्तरात्मा का पुनर्जीवन उन्हीं दिनों संभव हुआ था। सामन्तकाल में अपनी भौतिक रक्षा के लिए किले बनाते थेऔर उचित, अनुचित हर काम संरक्षण देने वाले वरण किये गये देवताओं के भव्य मंदिर। उनके अवशेष जहाँ तहाँ अभी भी पाये जाते है। दुर्ग जिस प्रयोजन के लिए बनाये जाते थे वह समय परिवर्तन के साथ ही बदल गया। देवता मनोकामना पूरी करने भर के लिए थे। अब कर्मवाद की प्रधानता फिर उभर आने और एकेश्वरवाद की मान्यता पनपने से बहुमुखी देवताओं की भी उपेक्षा अवज्ञा होने लगी। इन परिस्थितियों का बदलाव उपलब्ध खण्डहरों को आकृति और प्रकृति देखने से विदित होता है।

मध्यकाल में पूजा, उपासना, मनोकामना की पूर्ति अथवा स्वर्ग मुक्ति- ऋद्धि-सिद्धि के निमित्त होती थी। उसके पीछे विशुद्ध लाभ था। उसी में से हिस्सा बंटाने के लिए भावुक भक्तजन इन पुजारियों की झोली भेंट पूजा से भरा करते थे। किन्तु धर्मचक्र परिवर्तन ने सर्वसाधारण का दृष्टिकोण ही बदल दिया। वह विघटनकारी परिवर्तन था जिसमें लोकोपयोगी धर्म संस्थानों में देवताओं को मात्र कतिपय विडम्बनाओ के सहारे वशवर्ती करने का प्रयत्न किया जाने लगा। जबकि उनका आरंभ लोक शिक्षा में धर्मधारणा का समावेश करने का सफल प्रयोग करते रहने के लिए किया गया था। वस्तुतः वे धर्म प्रचारकों की व्यक्तिगत निर्वाह व्यवस्था तथा सार्वजनिक क्रिया-कलापों को सम्पन्न करते रहने के लिए क्षेत्रीय व्यवस्था के रूप में किया गया था। हर गाँव में उतने बड़े निर्माण नहीं हो सकते हैं न उनमें आवश्यक साधन सुविधाएँ जुट सकती थीं। ''गाँव का जोगी जोगना—अन्य गाँव का सिद्ध'' होने की उक्ति के अनुसार दूर के ढोल सबको सुहावने लगते थे और धर्म प्रयोजन के लिए एक स्थान से दूसरे तक आने जाने का निमित्त कारण बनते थे। उस क्षेत्र के लोगों का आपस में सम्पर्क सधता था और वह बहुमुखी सहयोगिता मे परिवर्तित होता था।

पुराणों का अवगाहन करने से पता चलता है कि जिस प्रकार पके फल पेड़ से अलग होकर अन्यत्र जहाँ जरूरत होती है वहाँ चले जाते हैं इसी प्रकार ऋषि मनीषियों ने भी यह परम्परा अपनाई हुई थी कि वे अपने जन्म स्थान में ही सदा नहीं बने रहते थे वरन् वानप्रस्थ संन्यास आश्रम की पुरातन परम्परा के अनुसार पिछड़े क्षेत्रों को उभारने और जो उभर चुके हैं उन्हें अन्यान्यों की सेवा सहायता करने के लिए प्रोत्साहित करने हेतु निरन्तर परिभ्रमण करते थे। जहाँ भी पिछड़ापन दीखता था वहाँ डेरा डालकर रम जाते थे। जहाँ थोड़े उपदेश परामर्श से काम चल सकता था वहाँ थोड़ा ठहर कर आगे बढ़ जाते थे। यही थी वह सारगर्भित प्रक्रिया जिसने चिरकाल तक सतयुगी वातावरण बनाये रखा और सभी को भौतिक, आत्मिक प्रगति का समुचित अवसर मिलता रहा।

पुराणों मे ऐसे अनेकानेक प्रसंगों का वर्णन है। जिसमें भारत भूमि की प्रतिभा से अपनी योग्यता के अनुरूप लोग जन सेवा करने के निमित्त सुदूर यात्राओं पर निकले और लक्ष्य पूरा होने में समय लगने की बात ध्यान में रखते हुए वहाँ समय साध्य योजनाएँ बनाकर बस गये। पीछे वे वहीं के स्थायी निवासी बन गये। इनकी पीढियां अपने पूर्वजों की व्रतशीलता को रखे रहीं। लोक सेवी की विशेष पहचान बनाये रहीं। ऐसे अनेक यात्रा अभियानों और यत्र-तत्र केन्द्र बनाकर रहने के संबन्ध में सुविस्तृत उल्लेख हैं।

इन दिनों भारत विशाल भारत था। समूचा एशिया उसकी परिधि में आता था। जम्बू द्वीप में यूरोप और एशिया दोनों आते थे। एशिया की भाषाये भी संस्कृत से उत्पन्न होने के कारण समझने सीखने में सरल थीं। यूरोप उन दिनों वीरान पड़ा था। उसके निवासी आदिवासियों की तरह जहाँ तहाँ वन प्रदेशो मे छोटे-छोटे समुदायों के रूप में गुजारा करते थे। उन्हें एकत्रित करना और सहयोग पूर्वक रहना एक ऐसा बड़ा काम था कि जोड़ बटोर ने ही बहुत सारा समय ले लिया। इसके उपरान्त ही सह निवास की और समाज शासन की, कृषि, व्यवसाय शिक्षा, सभ्यता आदि की स्थापना हो सकी। इस ऐतिहासिक काल का वर्णन खण्डहरो, शिलालेखों में तो नहीं मिलता पर स्थान परिवर्तन के कारण पुराने छूटे हुए स्थानों की जो स्थिति होती है उसका आभास अभी भी मिलता है। सतयुग के भारतीयों को प्रमुख कार्य यही करते रहना पड़ा कि वे बिखराव को एकत्रीकरण में और अनगढ़पन को सुसंस्कारिता में बदलते रहे। साथ ही मानवी गरिमा के रूपों को हृदयंगम कराते हुए प्रगतिशील सभ्यता का वातावरण बनाये रहे।

यह कार्य सर्वप्रथम समीपवर्ती क्षेत्र से आरंभ करने की प्रथा रही। आर्यावर्त से लगा हुआ क्षेत्र कार्य शिक्षण की दृष्टि से सरल पड़ता था यातायात भी सरल था। भाषा संबन्धी कठिनाई भी न थी। लोगों में संचित धर्म चेतना भी थी इसलिए उनके बीच रहकर काम करना सरल पड़ता

था। इसलिए पुरोहित परिव्राजकों की गतिविधियाँ जितनी इस समीपवर्ती क्षेत्र में दीख पड़ीं उसकी तुलना में अन्यत्र उनका अनुपात कम ही रहा। फिर भी उसे नगण्य नहीं कहा जा सकता यह उदार सेवा भावना से भरा-पूरा विश्व कल्याण के निमित्त अपनाया गया क्रिया कलाप ऐसा था जिसका ऐतिहासिक तारतम्य अभी भी बैठता है।

सतयुग काल की परिस्थितियों की साक्षी देने वाली इमारतों के ध्वंसावशेष मिल सकना अब कठिन है। क्योंकि इतने लम्बे समय तक प्रकृति प्रवाह उन्हें असाधारण रूप में बदल देता है। उनका अता पता मनुष्यों द्वारा प्रयुक्त की गई और बाद में छोड़ दी गई भूमियों को देखकर ही लगता है। लोक गाथाओं के वर्णनों में भी इस स्थिति का आभास मिलता है। विभिन्न क्षेत्रों में जो लोक-गाथाएँ जन श्रुतियों के रूप में चली आती हैं उनका मध्यवर्ती तारतम्य बिठाने से भी यह अनुमान लगता है कि एक ही मानसरोवर से यह छोटी-मोटी अनेकानेक सरिताएँ निकली हैं। जीवनयापन की पद्धतियों में उपकरणों के निर्माण और उपयोग में भी समता रही है। इन सबका निष्कर्ष यही निकलता है कि किन्हीं कुशल मालियों ने योजनाबद्ध रूप से विभिन्न भूभागों में उद्यान लगाये हैं। वे विश्व विकास के रूप में—मानवी प्रगति के रूप में फलित होते रहे है।

भारतीय सभ्यता का विकास बीजारोपण तो हिमालय के उत्तराखण्ड से लेकर गंगा यमुना के दुआवों के मध्य में दृष्टिगोचर होता है पर उसका विस्तार क्रमशः समीपवर्ती क्षेत्रों में प्रभावित करते-करते निरन्तर आगे बढ़ता चला गया। उसने समूचे भूमंडल को प्रभावित किया। एशिया में अगणित खण्डहर अभी भी मौजूद हैं। साथ ही प्रथा प्रचलनों, मान्यताओं, दिशा धाराओं का स्वरूप ऐसा बना हुआ है कि उन टहनियों को देखते हुए तने का-जड़ों का परिचय सहज ही प्राप्त किया जा सकता है।

जहाँ पहुँचने में समुद्र बाधक नहीं होते थे वहाँ लम्बी यात्राएँ पैदल ही कर ली जाती थीं। जहाँ संभव था वहाँ माल असबाब ढोने के लिए घोड़े, गधे, ऊँट आदि का प्रयोग किया जाता था। बैल गाड़ियाँ भी विनिर्मित रास्तों पर चल लेती थीं, पर दलदलों और हिमशिखरों को पार करने के लिए पैदल चलने, आवश्यक सामग्री साथ ले जाने का दुस्साहस करना पड़ता था। समुद्र मार्ग से लम्बी यात्राएँ करने के लिए छोटी नावों ने बड़े जहाजों के रूप में विकास कर लिया। निकटवर्ती छोटी यात्राओं में डोंगियों को चप्पू के सहारे धकेल कर इधर-उधर ले जाया जाता था। पर लम्बी दूरी तक समुद्र पार करने की प्रक्रिया बड़े जलयानों से ही होती थी। उन्हें मजबूत पतवारें बाँधकर हवा का रुख मोड़ते हुए चलाया जाता था। इस प्रकार उन भूखण्डों मे भी भारतीय पहुँचे जिनकी दुरूहता से निपटने के लिए इन दिनों विशालकाय यंत्र चालित जलयानों और वायुयानो से काम लिया जाता है किन्तु प्राचीनकाल में यह सुविधा न थी तब उन्हें खतरनाक समुद्री यात्राएँ करनी पड़ती थीं। समस्त विश्व को एक परिवार की तरह सुविकसित करने का लक्ष्य जो था।

इन दिनों महाद्वीपों में (१) यूरोप (२) एशिया (३) अफ्रीका (४) अमेरिका (५) आस्ट्रेलिया की गणना होती है। न्यूजीलैण्ड है तो छोटा पर उसे भी एक कोने में पड़ा होने के कारण एक महाद्वीप मान लेते हैं। समुद्र के बीच असंख्य छोटे बड़े टापू है। इनमें से कुछ तो अभी तक वीरान पड़े हैं पर कुछ ही में अच्छी बसावट हो गई है। एशिया में जापान, इण्डोनेशिया, मलेशिया आदि द्वीप इसी प्रकार के है जो हैं तो छोटे पर उनमें निकटवर्ती द्वीपों को मिलाकर ऐसा जंजीरा बन गया है कि उसका संयुक्त रूप किन्हीं बड़े देशों के समतुल्य ही शक्तिशाली हो गया है। इन सबको मिलाकर बहुत बड़ी संख्या में देश हो गये हैं। उन सबमें तो संभवतः भारतीय परिव्राजकों का पहुँचना नहीं हुआ है। पर एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्रों में वह हवा चलती और अपनी लपेट में उन सबको लेती रही है। जैसे चीन पहुँचे हुए प्रचारकों ने उस क्षेत्र में इतने कार्यकर्त्ता तैयार कर दिये थे जो जापान, कोरिया, साइबेरिया जैसे क्षेत्र का उत्तरदायित्व अपने कंधों पर उठाने में सफल होते रहे।

ऋषिकाल के उपरान्त पुरोहित काल आया। वे प्रचार प्रक्रिया के लिए दूरगामी यात्राएँ तो करते रहे पर उन्होने देव मंदिर बनाने पर ही अधिक जोर दिया। मात्र बौद्ध धर्म ही ऐसा था जिसने परिस्थितियों मे तथ्यपूर्ण सुधार, परिष्कार करने के लिए प्राण प्रण से प्रयत्न किया।

लेने के देने क्यों पड़ रहे हैं ?

क्रौंच पक्षी को आहत-विलाप करते देखकर वाल्मीकि की करुणा जिस क्षण उभरी, उसी समय वे आदि कवि के रूप में परिणत हो गये। ऋषियो के अस्थि-पंजरों की पर्वतमाला देखकर राम की करुणा मर्माहत हो गई और उनसे भुजा उठाकर यह प्रण करते ही बन पड़ा कि 'निशचर हीन करौं महि'। बाढ़, भूकम्प, दुर्भिक्ष, महामारी जैसे

६.११ सूक्ष्मीकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का अवतरण

आपत्तिकाल में जब असंख्यों को देखा जाता है, तो निष्ठुर भले ही मूकदर्शक बने रहे, सहृदयों को तो अपनी सामर्थ्य भर सहायता के लिए दौड़ना ही पड़ता है। इसके बिना उनकी अन्तरात्मा आत्म-प्रताड़ना से व्याकुल हो उठती है। निष्ठुरों को नर-पिशाच कहते हैं, उनका मनुष्य समुदाय में भी अभाव नहीं है।

विकास की अन्तिम सीढ़ी भाव-संवेदना को मर्माहत कर देने वाली करुणा के विस्तार में ही है। इसी को आन्तरिक उत्कृष्टता भी कहते हैं। संवेदना उभरने पर ही सेवा-साधना बन पड़ती है। धर्म-धारणा का निर्वाह भी इससे कम में नहीं होता। तपश्चर्या और योग-साधना का लक्ष्य भी यही है कि किसी प्रकार संवेदना जगाकर उस देवत्व का साक्षात्कार हो सके, जो जरूरतमंदों को दिये बिना रह ही नहीं सकता। देना ही जिनकी प्रकृति और नियति है, उन्हीं को इस धरती का देवता कहा जाता है। उन्हीं का अनुकरण और अभिनंदन करते विवेकवान भक्तजन देखे जाते हैं।

देने की प्रकृति वाली आत्माओं का जहाँ संगठन-समन्वय होता रहता है, उसी क्षेत्र को स्वर्ग के नाम से संबोधित किया जाने लगता है। इस प्रकार का लोक या स्थान कहीं भले ही न हो, पर सत्य है कि सहृदय, सेवाभावी, उदारचेता न केवल स्वयं देवमानव होते है, वरन् अपने कार्य क्षेत्र को भी ऐसा कुछ बनाये बिना नहीं रहते, जिसे स्वर्गोपम अथवा सतयुग का सामयिक संस्करण कहा जा सके।

अपने समय को, अभूतपूर्व प्रगतिशीलता का युग कहा और गर्वोक्तियों के साथ बखाना जाता है। इस अर्थ में बात सही भी है कि जितने सुविधा-साधन इन दिनों उपलब्ध हैं, इतने इससे पहले कभी भी हस्तगत नहीं हो सके। जलयान, वायुयान, रेल, मोटर जैसे द्रुतगामी वाहन, तार, रेडियो, फिल्म, दूरदर्शन जैसे संचार साधन, इससे पूर्व कभी कल्पना मे भी नहीं आये थे। कल-कारखानों का पर्वताकार उत्पादन, सर्जरी-अंग प्रत्यारोपण जैसी सुविधाएँ भूतकाल में कहाँ थीं ? कहा जा सकता है कि विज्ञान ने पौराणिक विश्वकर्मा को कहीं पीछे छोड़ दिया है।

बुद्धिवाद की प्रगति भी कम नहीं हुई है। ज्ञान, पुरातन एकाकी धर्म शास्त्र की तुलना में अब अर्थशास्त्र, राजनीति-शास्त्र तर्कशास्त्र, समाज शास्त्र, मनोविज्ञान शास्त्र जैसे अनेकानेक कलेवरों में असाधारण रूप से बढ़ा और भविष्य में और भी अधिक खोज लेने का दावा कर रहा है। शोध संस्थानों की, प्रयोगशालाओं की उपलब्धियाँ घोषणा कर रही है कि निकट भविष्य में मनुष्य इतना अधिक ज्ञान, विज्ञान, खोज लेगा कि पुरातन काल की समस्त उपलब्धियों को उसके सामने बौना ठहराया जा सके।

इस तथाकथित प्रगति ने इतना तक कहना शुरू कर दिया है कि ईश्वर मर गया है, या उसे मार दिया जाना चाहिए। धर्म के सम्बन्ध में नई व्याख्या-विवेचना यह है कि वह अंधविश्वासो का जमघट मात्र है। उसे यथास्थिति स्वीकार करने के लिए, गले के नीचे उतारी जाने वाली अफीम की गोली भर कहा जाना चाहिए।

यहाँ उपलब्धियों-आविष्कारों के सदुपयोग-दुरुपयोग की विवेचना नहीं की जा रही है, यह स्पष्ट है कि इन दिनों विभिन्न क्षेत्रों में जो प्रगति हुई, वह असाधारण एवं अभूतपूर्व है। विकास-विस्तार तो हर भले-बुरे उपक्रम पर लागू हो सकता है। इन अर्थों में आज की प्रगतिशीलता की दावेदारी को स्वीकार करना ही पड़ता है। फिर भी एक प्रश्न सर्वथा अनसुलझा ही रह जाता है कि यह तथाकथित प्रगति, अपने साथ दुर्गति के असंख्यों बवण्डर क्यों और कैसे घसीटती-बटोरती चली जा रही है ?

प्रदूषण, युद्धोन्माद, खाद्य-संकट, अपराधों की वृद्धि आदि समस्याएँ समस्त तटबन्ध तोड़ती चली जा रही है-अस्वस्थता, दुर्बलता, कलह, विग्रह, छल-प्रपंच जैसे दोष, व्यवहार तथा चिन्तन को धुआँधार विकृतियो से भरते क्यों चले आ रहे हैं ? निकट भविष्य के सम्बन्ध में मूर्धन्य विचारक यह भविष्यवाणी कर रहे है, कि स्थिति यही रही, रेल इसी पटरी पर चलती रही, तो विपन्नता बढ़ते-बढ़ते महा प्रलय जैसी स्थिति मे पहुँचा सकती है। वे कहते है हवा और पानी में विषाक्तता इस तेजी से बढ़ रही है कि उसे धीमी गति से सर्वभक्षी आत्महत्या का नाम दिया ज़ा सकता है। बढ़ता हुआ तापमान यदि ध्रुवो की बर्फ पिघला दे और समुद्र में भयानक बाढ़ ला दे, तो उससे थल निवासियो के लिए डूब मरने का संकट उत्पन्न कर सकता है। वनों का कटना, रेगिस्तान का द्रुतगामी विस्तार, भूमि की उर्वरता का ह्रास, खनिजो के बेतरह दोहन से उत्पन्न हुआ धरित्री-असंतुलन, मौसमों में आश्चर्यजनक परिवर्तन, तेजाबी मेघ-वर्षण, अणु-विकिरण, बढ़ती हुई जनसंख्या के अनुरूप जीवन-साधन न बढ़ पाने का संकट जैसे अनेकानेक जटिल प्रश्न हैं। इनमे से किसी पर भी विचार किया जाय, तो प्रतीत होता है कि तथाकथित प्रगति ही उन

समस्त विग्रहों के लिए पूरी तरह उत्तरदायी है। वह प्रगति किस काम की, जिसमें एक रुपया कमाने के बदले सौ का घाटा उठाना पड़े ?

आश्चर्य इस बात का है कि आखिर यह सब हो क्यों एवं कैसे रहा है? इसे कौन करा रहा है ? आखिर वह चतुराई कैसे चूक गयी, जो बहुत कुछ पाने का सरंजाम जुटाकर अलादीन का नया चिराग जलाने चली थी। पहुँचना तो उसे प्रकृति विजय के लक्ष्य तक था; पर यह हुआ क्या कि तीनों लोक तीन डगों में नाप लेने की दावेदारी, करारी मोच लगने पर सिहर कर बीच रास्ते में ही पसर गयी। उसे भी आगे कुआँ पीछे खाई की स्थिति में आगे पग बढ़ाते नहीं बन रहा है। साँप-छछून्दर की इस स्थिति से कैसे उबरा जाय, जिसमें न निगलते बन रहा है न उगलते।

फूटे घड़े में पानी भरने पर वह देर तक ठहरता नहीं है। चलनी में दूध दुहने पर दुधारू गाय पाने वाला भी खिन्न-विपन्न रहता है। ऐसी ही कुछ भूल मनुष्य से भी बन पड़ी है, जिसके कारण अत्यन्त परिश्रमपूर्वक जुटायी गयी उपलब्धियों को हस्तगत करने पर भी, लेने के देने पड़ रहे हैं। परन्तु स्मरण रहे कि असमंजस की स्थिति लम्बे समय तक टिकती नहीं है। मनुष्य की बुद्धि इतनी कमजोर नहीं है कि वह उत्पन्न संकटों का कारण न ढूँढ सके और शान्तचित्त होने पर उनके समाधान न ढूँढ सके।

बड़प्पन को कमाना ही पर्याप्त नहीं होता, उसे सुस्थिर रखने और सदुपयोग द्वारा लाभान्वित होने के लिए और भी समझदारी, सतर्कता और सूझ-बूझ चाहिए। भाव-संवेदनाओं से भरे-पूरे व्यक्ति ही उस रीति-नीति को समझते हैं, जिनके आधार पर सम्पदाओं का सदुपयोग करते बन पड़ता है। अपने समय के लोग इन्हीं भाव संवेदनाओं का महत्त्व भूल बैठे और उन्हें गिराते-गँवाते चले जा रहे है। यही है वह कारण, जो उपलब्धियों को भी विपत्तियों में परिणत करके रख देता है।

विभीषिकाओं के पीछे झाँकती यथार्थता

वैभव को कमाया तो असीम मात्रा में भी जा सकता है; पर उसे एकाकी पचाया नहीं जा सकता। मनुष्य के पेट का विस्तार थोड़ा-सा ही है। यदि बहुत कमा लिया गया है, तो उस सब को उदरस्थ कर जाने की ललक-लिप्सा कितनी ही प्रबल क्यों न हो; पर वह संभव हो नहीं सकेगी। नियत मात्रा से अधिक जो भी खाया गया है, वह दस्त, उलटी, उदरशूल जैसे संकट खड़े करेगा, भले ही वह कितना ही स्वादिष्ट क्यों न लगे।

शारीरिक और मानसिक दोनों ही क्षेत्र, भौतिक पदार्थ-संरचना के आधार पर विनिर्मित हुए है। उनकी भी अन्य पदार्थों की तरह एक सीमा और परिधि है। जीवित रहने और अभीष्ट कृत्यों में निरत रहने के लिए सीमित ऊर्जा, सक्रियता एवं साधन-सामग्री ही अभीष्ट है। इसका उल्लंघन करने की ललक तटबंधों को तोड़कर बहने वाली बाढ़ की तरह अपनी उच्छृंखलता के कारण अनर्थ ही अनर्थ करेगी। उस उन्माद के कारण पानी तो व्यर्थ जायेगा ही, खेत-खलिहानों, बस्तियों आदि को भी भारी हानि उठानी पड़ेगी। यों चाहे तो नदी इसे अपने स्वेच्छाचार और अहंकार दर्प-प्रदर्शन के रूप में भी बखान सकती है; पर जहाँ-कहीं, जब-कभी इस उन्माद की चर्चा चलेगी, तब उसकी भर्त्सना ही की जायेगी।

उपयोग की दृष्टि से थोड़े साधनों में भी भली प्रकार काम चल सकता है, पर अपव्यय की कोई सीमा मर्यादा नहीं। कोई चाहे तो लाखों के नोट इकट्ठे करके उनमें माचिस लगाकर, होली जलाने जैसा कौतूहल करते हुए प्रसन्नता भी व्यक्त कर सकता है, पर इस अपव्यय को कोई भी समझदार न तो सराहेगा और न उसका समर्थन करेगा। बेहद चाटुकार तो कुल्हाड़ियों से अपना पैर काटने के लिए उद्यत अतिवादी की भी हाँ-में हाँ मिला सकते हैं।

वासना और तृष्णा की खाई इतनी चौड़ी और गहरी है कि उसे पाटने में कुबेर की सम्पदा और इन्द्र की समर्थता भी कम पड़ती है। तृष्णा की रेगिस्तानी जलन को बुझाने के लिए साधन-सामग्री का थोड़ा सा पानी, कुछ काम नहीं करता। अतृप्ति जहाँ की तहाँ बनी रहती है। थोड़े से उपभोग तो उस ललक को और भी तेजी से, आग में ईधन पड़ने की तरह भड़का देते है।

मन के छुपे रुस्तम का तो कहना ही क्या ? वह यक्ष-राक्षस की तरह अदृश्य तो रहता है; पर कौतुक-कौतूहल इतने बनाता-दिखाता रहता है, कि उस व्यामोह में फँसा मनुष्य दिग्भ्रान्त बनजारे की तरह, इधर-उधर मारे-मारे फिरने में ही अपनी समूची चिन्तन-क्षमता गँवा घुमा दे। तृष्णा तो समुद्र की चौड़ाई और गहराई से भी बढ़ कर है। उसे तो भस्मासुर, वृत्तासुर, महिषासुर जैसे महादैत्य भी पूरी न कर सके, फिर बेचारे मनुष्य की तो विसात क्या है-जो उसे शान्त करके संतोष का आधार प्राप्त कर सके ?

दिग्भ्रान्त मनुष्य अपने आपे को शरीर तक सीमित मान बैठा है, क्योंकि प्रत्यक्ष तो इतना ही कुछ दीख पड़ता है। मन यद्यपि अदृश्य है, पर वह भी शरीर का एक अवयव है। इसे ग्यारहवीं इन्द्रिय भी कहा जाता है। वासना, तृष्णा इन्हीं दोनों का मिला-जुला खेल है जो अनन्त काल तक चलते रहने पर भी कभी समाप्त नहींहो सकता। इसी उलझन के भव-बंधनों में बँधा हुआ जीव, चित्र-विचित्र प्रकार के अभाव अनुभव करता, असंतुलित रहता और उद्विग्नता, चिन्ता, आशंका के त्रास सहता रहता है। आश्चर्य इस बात का है कि अवांछनीय जाल-जंजालों से अपने को उबारने के लिए कुछ करना तो दूर, सोचने तक का मनुष्य प्रयास नहीं कर पाता; उलटे अनाचारों पर उतारू होकर दूसरों को भी वैसा ही करते रहने के लिए उकसाता रहता है, भले ही वह अनर्थ स्तर का ही घृणित क्यों न हो?

यही है अपने समय के मनुष्य का तात्विक पर्यवेक्षण। मूर्खता को कहने सुनने में तो उपहासास्पद बताया जाता है, पर वस्तुत: वह इतनी प्रबल एवं आतुर होती है, कि उसके आवेश को रोक सकना अच्छे-अच्छों के लिए भी कठिन हो जाता है। यह उन्माद जब सामूहिकता के साथ जुड़ जाता है, तो फिर स्थिति उस विशालकाय पागलखाने जैसी हो जाती है, जिसमें रोगी एक दूसरों को उकसाने, भड़काने, गिराने, सताने जैसी विडम्बनाओं में ही लगे रहते हैं। वे सभी मात्र हानि ही हानि उठाते है।

गीताकार ने सच कहा है कि जब दुनियाँ सोती है, तब योगी जागते है। यह अनबूझ पहेली तभी प्रामाणिक सिद्ध हो सकती है, जब यह सोचा जाय कि असंख्यों अवांछनीयताओं की लहरें उठाते चलने वाले प्रस्तुत प्रवाह के साथ-साथ बढ़ते रहने की अपेक्षा, कोई आश्रय दे सकने वाला किनारा खोजा जाय। प्रचलनों से हटकर नये तौर-तरीके अपना कर, यथार्थता का आश्रय लेने वाली उमंग उमगे; अन्यथा अच्छे-भले नदी-नालों वाली जल सम्पदा, खारे समुद्र में गिर कर अपेय ही बनती चली जायेगी।

वर्तमान में तो सर्वत्र कुहासा छाया दीखता है। पतझड़ की तरह सर्वत्र ठूँठों ही ठूँठों का जमघट दीख पड़ता है। पतन और पराभव का नगाड़ा बजता सुनाई देता है। भविष्य अन्धकारमय प्रतीत होता है और लगता है कि मनुष्य समुदाय अब सामूहिक आत्महत्या करने पर ही उतारू आवेश से बुरी तरह ग्रसित हो रहा है। चूहों और खरगोशों की संख्या जब असाधारण रूप से बढ़ जाती है और उनके लिए, खाने,पीने रहने के लिए सहारा शेष नहीं रहता, तो वे किसी बड़े जलाशय में डूब मरने के लिए बेतहाशा दौड़ लगाते देखे जाते हैं। चल रही गतिविधियों की समीक्षा करने पर लगता है मानो एक ऐसा तूफान उभर रहा है, कि मानवी सत्ता-महत्ता, सम्पदा और प्रगति जैसे संचय में से कुछ भी उसकी चपेट से बच कर रह नहीं सकेगा।

अहंकारी यदुवंशी आपस में ही लड़ मर कर खप गये थे। उन पर बाहर से कोई वज्रपात नहीं हुआ था। आग सबसे पहले उसी स्थान को जलाती है, जहाँ से वह प्रकट होती है। उद्दीप्त वासना, अनियंत्रित तृष्णा और उन्माद जैसी अहंकारिता का त्रिदोष, जब महाग्राह की तरह मानवी गरिमा को निगलता गटकता चला जा रहा हो, तब बच सकने की आशा यत्किंचित् ही शेष रह जाती है। वर्तमान में उफनते तूफानी अनाचार को देखते हुए लगता है, कि सचमुच हम महाविनाश की प्रलय-प्रक्रिया की ओर सरपट चाल से दौड़े चले जा रहे हैं।

प्रचण्ड प्रवाह को रोक सकने वाला बाँध विनिर्मित करने, जल- धारा को नहरों के माध्यम से खेत-बगीचे तक पहुँचाने का काम तो निश्चय ही बड़ा कष्टसाध्य और श्रमसाध्य है। पर करने वाले जब प्राण-पण से अपने पुरुषार्थ को सृजन की सदाशयता के साथ सम्बद्ध करते हैं, तो उनकी संसाधना भी कम चमत्कारी परिणाम उत्पन्न नहीं करती। फरिहाद, शीरी को पाने के लिए पहाड़ खोदकर लम्बी नहर निकाल सकने में, एकाकी प्रयासों के बलबूते ही सफल हो गया था। गंगा को स्वर्ग से घसीट कर जमीन पर बहने के लिए बाधित करने में भगीरथ अकेले ही सफल हो गये थे। व्यापक अन्धकार पर छोटा दीखने वाला सूरज ही विजय प्राप्त कर लेता है, अस्तु यह आशा भी की जा सकती है, कि मनुष्य में उत्कृष्टता का उदय होगा, तो यह वातावरण भी बदल जाएगा जो हर दृष्टि से भयंकर ही भयंकर दीख पड़ रहा है।

भ्रान्तियों के घटाटोप में रह रहे हम सब

कसाई के खूँटे से बंधा हुआ बकरा तब तक घास खाता और मस्ती करता रहता है जब तक उसकी गरदन कड़क्के में फँसा नहीं दी जाती। पिंजड़े में घुसते समय तक चूहे भी यह कहाँ सोच पाते हैं कि अगले ही क्षण उन पर क्या बीतने वाली है? अदूरदर्शिता को एक अभिशाप ही कहना चाहिए जो तात्कालिक लाभ को ही सब कुछ मानती है और यह सोच नहीं पाती कि जो किया जा रहा है, उसका

कुछ अनिष्टकर परिणाम तो नहीं होने जा रहा है। पिछली कुछ शताब्दियों से एक पर नहीं, समुदाय के विशिष्ट माने जाने वाले वर्ग पर ऐसा उन्माद बढ़ा है, जिसमें एक सोने का अण्डा रोज देने वाली मुर्गी का पेट चीर कर एक ही दिन में सारे अण्डे निकाल लेने और देखते-देखते धन कुबेर बन जाने की ललक ही चरितार्थ होती देखी जा सकती है।

इसी शताब्दी में दो बड़े विश्व युद्ध हुए हैं और सैकड़ों स्थानीय क्षेत्रीय। इनके कारण बताने में बहाने जो भी बनाये जाते रहे हों, पर मूल कारण आर्थिक साम्राज्य स्थापित करने की प्रतिद्वन्द्विता ही रही है। इन युद्धों में जन-धन का कितना विनाश हुआ, उसका विवरण पढ़ने से लगता है कि वह इतना असाधारण था कि यदि उसे रोका जा सका होता और बर्बाद हुई शक्तियों को सर्वतोमुखी अभ्युदय में लगाया जा सका होता तो वह स्थिति बन पड़ी होती, जिसे स्वर्गोपम कहा जाता और अपनी धरती को ही ब्रह्माण्ड का एकमात्र सुसम्पन्न ग्रह कहा जाता है। कटु अनुभवों के बाद भी समझदारी वापस कहाँ लौट रही है ? मिल जुलकर रहने और मिल बाँट कर खाने के लिए समर्थता कहाँ सहमत हो रही है ? उसने आक्रमण की नीति अभी भी छोड़ी नहीं है। एक से एक भयंकर प्रलंयकार अस्त्र धड़ाधड़ बनते चले जा रहे हैं। वे इतने अधिक जमा हो गये हैं कि कोई पगला इस बारूद में एक चिनगारी फेंक दे तो इस धरातल का सारा वैभव आतिशबाजी की तरह जल कर भस्म हो सकता है। तैयारियों में अभी भी कमी नहीं है। सुलह-सफाई की वास्तविक इच्छा अभी भी जगी नहीं है। मात्र कूटनीतिक दाँवपेच ही चल रहे हैं और शतरंज के खेल में सामने वाले को मात देने भर की नीति सोची-अपनायी जा रही है। इन दिनों जिनका धन युद्धोन्माद की बलिवेदी पर स्वाहा हो रहा है, यदि उसे बचाया जा सकता है तो सैन्य प्रयोजनों में लगी हुई जनशक्ति, धनशक्ति, विज्ञान और कौशल अपनी दिशा बदलते ही उन कार्यों में जुट सकते हैं जिनके कारण संसार के अधिकांश लोगों को अभावग्रस्त एवं पिछड़ेपन की स्थिति में रहना पड़ रहा है, पर यह सब बन कैसे पड़े ? समझदारी तो वापस लौटने का नाम ही नहीं लेती। शक्ति और दुर्बुद्धि एक दूसरे के साथ इस बुरी तरह गुंथ गई हैं कि पूछने का नाम तक नहीं लेती। तीसरा युद्ध हुआ तो उसके बाद जो कुछ बच रहेगा, उसे श्मशान से कम वीभत्स न देखा जा सकेगा। छिटपुट आक्रमण भी कहाँ कुछ कम भयंकर है ? इससे भी तनाव और विद्वेष की विषाक्तता दिनों दिन बढ़ रही है।

अणु शक्ति का नया उद्भव अगले दिनों क्या कुछ करने जा रहा है, इसका अनुमान लगाने से ही दिल दहलने लगता है। जापान पर गिरे दो छोटे बमों का दृश्य ऐसा है जिसे मनुष्य कभी भुला न सकेगा। अब उसी शक्ति के निर्माण से जो विकिरण वातावरण में फैल रहा है, उसका अनुमान समय-समय पर होते रहने वाले "चैर्नोबिल काण्ड" जैसे लीकेजों से लगाया जा सकता है। वैज्ञानिक कहते हैं अब तक जितना रेडियो धर्मी विकिरण फैल चुका है और जितना खतरनाक कचरा जमा हो चुका है, उससे भुगतना भी टेढ़ी खीर है। फिर आगे इस उपक्रम के चलते आगे क्या कुछ होकर रहेगा, इसकी तो कल्पना भी दहला देती है।

विज्ञान का अर्थ क्षेत्र में प्रवेश हुआ तो उसने औद्योगीकरण के सब्ज बाग दिखाये। विशालकाय कल कारखाने लगे। सुविधा की दृष्टि से उनके लिए बड़े शहर चुने गए। कच्चे माल व उत्पादन के पहाड़ जमा होते चले गए। इनमें कुछ व्यक्तियों को नया काम तो अवश्य मिला पर प्रतिद्वन्द्विता में कुटीर उद्योग न ठहर सके और बेकारी-गरीबी का व्यापक माहौल बन गया। कुछ लोग समृद्ध जरूर हुए पर उन्हें खारे जल से भरे समुद्र में जहाँ तहाँ उभरे हुए टापू ही कह सकते है। अमीरों को अधिक अमीर और गरीबों को और अधिक गरीब बनाने का सारा श्रेय प्रस्तुत वैज्ञानिक औद्योगीकरण को ही जाता है। दुष्परिणामों को देखते हुए भी उन्हें छोड़ने या बदलने की कहीं कोई योजना नहीं बन पा रही है। विशालकाय कल-कारखाने घट नहीं बढ़ ही रहे हैं। इनके कारण शहरों की आबादी पिचपिच होती चली जा रही है और गाँवों से प्रतिभा पलायन बुरी तरह जारी है। इसके दुहरे संकट खड़े हो रहे हैं। एक ओर शहर गाँव से उमड़ते जन प्रवाह का बोझ सहन नहीं कर पा रहे। उनकी स्वास्थ्य, सफाई, आवास समस्या बुरी तरह चरमरा रही है। बीमारियों से लेकर अपराधी प्रवृत्ति को पनपने की छूट मिल रही है। उनसे निबटना कैसे संभव हो? बाढ़ का उफान रेत की पोटली डालने से किस प्रकार रुक सके ? दूसरी ओर गाँव जिनकी प्रतिभाएँ शहरों में जा बसने से छूंछ बनकर रह गयी हैं। इच्छा होते हुए भी विकास की दिशा में वे उतना कुछ नहीं कर पा रहे जितना कि सुयोग्य प्रतिभाओं द्वारा वहाँ बसे रहने पर हो सकता था। प्रगति की आकांक्षा कितनी ही बढ़ी चढ़ी क्यों न हो, पर अवगति से तो पहले पल्ला छूटे ?

प्रदूषण अपने समय की ऐसी समस्या है, जिसे औद्योगीकरण की, अतिशय सुविधा पाने की अदम्य

लालसा का प्रतिफल ही कहा जा सकता है। पर्यावरण का प्रदूषण से भरते जाना एक ऐसा संकट है जिसे अनदेखा करना वैसा ही है, जैसे शिकारी को पीछे आते देखकर शुतुरमुर्ग का बालू में मुँह छिपा लेना। चूँकि यह समूची विडम्बनाएँ हर मनुष्य के सामने प्रत्यक्ष खड़ी नहीं होतीं इसलिए उनका महत्व नहीं समझा जाता और ध्यान भी नहीं दिया जाता। फिर भी अन्यत्र घटित होने वाले प्रभावों से एक जगह बैठा रहने वाला सुरक्षित भी कहाँ रह पाता है? सर्दी, गर्मी, वर्षा के कारण जो भी हो, उनका मूल सिलसिला जहाँ से भी चलता हो, पर उसका प्रभाव तो हर किसी पर पड़ता है। वातावरण के साथ छेड़खानी का परिणाम वैसा ही हो सकता है जैसा कि बर्रों के छत्ते में हाथ डालने का।

ऊर्जा का अतिशय उपयोग और बढ़ते प्रदूषण के दबाव से अंतरिक्षीय तापमान बढ़ रहा है। उसने ध्रुवों के पिघल जाने और समुद्र में भयंकर बाढ़ आने से जल प्रलय की चेतावनी समय से पहले ही भेज दी है। उसका दूसरा पक्ष हिम प्रलय भी है। पृथ्वी का रक्षा कवच जिसे ''ओजोन'' नाम से जाना जाता है, ताप के दबाव से फटता, उखड़ता जा रहा है। इन छिद्रों से होकर ब्रह्माण्डीय किरणे घर-घर बरस सकती हैं और यहाँ जो कुछ भी सजीव, सरस व सुन्दर है, उसे देखते-देखते विस्मार कर सकती है। यह सब प्रकृति के साथ अनावश्यक छेड़खानी करने की प्रतिक्रिया भर है।

कोढ़ में खाज की तरह बढ़ती आबादी की अपनी अलग समस्या है, जिस अकेली को ही प्रकृति रूपी शेरनी की पूँछ मरोड़ने से कम भयंकर नहीं समझा जा सकता। कोई समय था, जब बड़ी आयु में विवाह होते थे। आयु का उत्तरार्ध वानप्रस्थ में बिताते थे। कामुकता को अश्लील और हेय समझा जाता था। फलतः संतानें भी सीमित होती थीं और जनसंख्या बढ़ने का संकट खड़ा नहीं होने पाता था। लाखो करोड़ों वर्षों से यह संख्या संतुलन अपनी सीमा में बना हुआ था पर अब तो कामुकता भड़काने में साहित्य, सिनेमा, चित्र, प्रचलन, कला, संगीत सभी कुछ तो मदद देकर स्वच्छन्द विलासिता को प्रोत्साहन दे रहे है। ऐसी दशा में बहुप्रजनन का बाँध टूटे तो आश्चर्य ही क्या? इन दिनों जनसंख्या की अभिवृद्धि वैसा ही संकट बनकर सामने आई है जैसा कि विज्ञान ने उद्योगों के साथ साझेदारी गाँठ कर विपत्ति के बादल खडे किए हैं।

बढ़ती जनसंख्या व उद्योगों से निवास, कृषि, ईंधन आदि से जुड़ी समस्याएँ भी बढ़ी और वन वृक्ष बुरी तरह कटते चले गए हैं। इससे वायु शोधन की प्रक्रिया तो रुकी ही है। साथ ही भूक्षरण की नई विपत्ति सामने आई है। नदियाँ हर साल बाढ़ के साथ उपजाऊ मिट्टी ले जाती हैं। वर्षा का पानी देखते-देखते समुद्रों में पहुँचा देती हैं और जल का अभाव भूमि, वनस्पतियों तथा प्राणियों को सहन करना पड़ता है। रेगिस्तान बुरी तरह बढ़ते चले आ रहे हैं। इन सभी समस्याओं को इकट्ठा करके देखा जाय तो प्रतीत होगा कि वे सभी कारण बनते जा रहे हैं जो सर्वनाश की पूर्व भूमिका के रूप में प्रस्तुत होते और पुरानी फसल को काटकर नये सिरे से जोतने की आवश्यकता बताकर नई सृष्टि का सृजन करते हैं।

उपरोक्त विपत्तियाँ प्रकृति के साथ दुराचरण करने की परिणतियाँ हैं। इससे भी बड़ी बात यह है कि मनुष्य ने अपनी गरिमा को भुला दिया है। मर्यादाओं को तोड़ने और वर्जनाओं की उपेक्षा करने की उसकी सहज प्रवृत्ति हो गई है। असंयम को स्वभाव में सम्मिलित कर लिया गया है। अनीतिपूर्वक कमाना और दुर्व्यसनों में उसका दुरुपयोग करना कभी असुरता का चिन्ह माना जाता था पर अब तो उसे सामान्य प्रचलन में सम्मिलित कर लिया गया है। इतना ही नहीं, अनाचारी उच्छृंखलताओं को बरतते हुए लोग अपनी शेखी भी बघारते हैं और कुकृत्यों पर शर्माने के स्थान पर मूँछे ऐंठते देखे जाते है।

स्नेह सौजन्य, सहकार-सद्भाव अब मात्र धर्म-चर्चा का विषय बनकर रह गया है। व्यवहार में उन्हे उतारने की आवश्यकता नहीं समझी जाती। फलतः पारस्परिक विश्वास को बुरी तरह आघात लगा है। निश्चिन्तता और निर्भयता की स्थिति प्राप्त करने के लिए लोग तरसते है पर विलास साधनों और उथली चाटुकारिता के अतिरिक्त ऐसा कुछ कदाचित् ही कही दीख पड़ता है जिसके सहारे आशान्वित और निश्चिन्त रहा जा सके। प्रचलन ऐसा ही चल पड़ा है जिसमें फूँक-फूँक कर कदम रखने से कम में काम चलता ही नहीं।

असंयम अपनाकर अपने पैरों कुल्हाडी मारने का उन्माद न जाने लोगों ने क्या भलाई सोचकर अपना लिया है। उदाहरण के लिए नशेबाजी को लिया जा सकता है। वह तेजी से बढ़ रही और शरीर, मन, धन, परिवार, सम्मान सभी को चौपट करती चली जा रही है। फिर भी लोग उसे अपनाने के लिए इस बुरी तरह आतुर है, मानो मरते समय चींटी के पंख उग रहे हों।

चटोरेपन ने स्वास्थ्य खा लिया। कामुकता ने मानसिक विशिष्टता को समाप्त कर दिया। गरीबी के कारणो में मात्र

आलस्य अकर्मण्यता ही नहीं, अपव्यय भी एक बड़ा कारण बना हुआ है । उच्छृंखलता बढ़ रही है और शालीनता उसे रोकने के लिए एक जुट नहीं हो पा रही है। ऐसे-ऐसे अनेक कारण हैं, जिनकी वजह से वैयक्तिक जीवन अशांति, अशक्तता एवं अस्तव्यस्त परिस्थितियों से घिर गया है । ऐसे लोग कठिनाई से ही ढूँढे मिलेंगे जो चैन से रहने और रहने देने का, जियो और जीने देने का आदर्श अपना कर निर्वाह कर रहे हों । ऐसे जीवनों को यदि प्रेत पिशाच के स्तर का कहा जाय तो कुछ अत्युक्ति न होगी। नरक ढूँढना हो तो उसे अपने ही इर्द गिर्द बहुलता के साथ फैला बिखरा देखा जा सकता है ।

यह है बढ़ती सभ्यता के अभिशाप जिन्हें भौतिक क्षेत्र में असीम लिप्साओं ने और आत्मिक क्षेत्र में उस चिन्तन ने उत्पन्न किया है जो प्रत्यक्षवाद की दुहाई देता और मात्र आज के लाभ को देखता है। कल की हानियों पर विचार करने की उसे फुरसत है, न रुचि । यही है वह महा व्याधि जिससे व्यक्ति और समाज को किसी भी कीमत पर छुड़ाया जाना चाहिए । मात्र आत्मिकी ही यह चिकित्सा उपचार कर सकती है ।

बुद्धि विपर्यय से विचारक्रान्ति निपटेगी

संसार में अनेक प्रकार के घटना क्रम घटित होते रहते, परिवर्धन और परिवर्तन का क्रम चलता रहता है । इनकी जानकारियाँ आँख, कान जैसी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा मस्तिष्क को मिलती रहती है । मस्तिष्क उनके संबन्ध में गहराई या उपेक्षापूर्वक सोचता है । मन का काम भी कल्पनाएँ करते रहना है; पर घटनाक्रमों से वह भी प्रभावित होता है। यह सामान्य प्रक्रिया अनवरत चलती रहती है; पर किस संदर्भ में क्या किया जाय ? इसका निर्णय बुद्धि ही करती है। उसके समर्थन बिना न तो मन बहुत देर उछल कूद कर सकता है और न शरीर असमंजस छोड़कर कुछ कर गुजरने के लिए तत्पर होता है ।

शरीर और मन दोनों को ही अन्तिम निर्णय के लिए बुद्धि के निर्धारणों की ही अपेक्षा रहती है, यह बुद्धिमत्ता ही मनुष्य की आत्यंतिक विशेषता है । इसलिए उसका अपना निजी स्तर ऐसा रहना चाहिए जो मानवी गरिमा के अनुरूप एवं उपयुक्त हो । इसलिए बौद्धिक तीक्ष्णता ही नहीं, उसके साथ नीतिमत्ता का जुड़ा रहना भी आवश्यक समझा जाता है, कारण कि उसी के आधार पर जीवन की दिशा धारा निर्धारित होती है । संसार के बाजार में जो कुछ भला-बुरा बिकता है, उसमें से क्या चुनना और खरीदना चाहिए, इसका निर्धारण भी बुद्धि तत्व पर निर्भर रहता है। इसलिए उसे सही स्थिति में रहने पर ही महामानवों जैसा सार्थक जीवन जिए जाने की आशा बँधती है । गायत्री महामंत्र में आत्मा ने परमात्मा से एक ही प्रमुख प्रार्थना की है कि उसकी बुद्धिक्षमता को सदाशयता के साथ नियोजित कर दिया जाय । इतने भर से सर्वतोमुखी प्रगति का द्वार खुल जायेगा ।

जीवन के किस पक्ष को समग्र अभ्युदय का श्रेय दिया जाय और किसे अनर्थ करने के लिए दोषी ठहराया जाय- इसका विश्लेषण करने पर एक ही बिन्दु सामने आता है- बुद्धि का । वही किसी को भला-बुरा करने के लिए प्रोत्साहित करती है । प्रचलनों को व्यापक बनाने और वातावरण में उत्कृष्टता-निकृष्टता के तत्व भरने के लिए उसी की भूमिका को प्रमुख माना जा सकता है । उसी का स्तर गिरना व्यक्ति और समाज के अधः पतन का एक मात्र कारण है । पदार्थ और प्राणी उसी के संकेतों की प्रतीक्षा करते और अपनी स्थिति बदलते रहते हैं ।

इस तथ्य को समझ लेने के उपरान्त आज की समस्याओं के साथ जुड़ी हुई जटिलता पर विचार करने पर एक ही निष्कर्ष निकलता है कि उसकी बुद्धिमत्ता का स्तर गिरा है । दूरदर्शी, विवेकशीलता का आश्रय लेने की अपेक्षा उसने उस मार्ग को अपना लिया है, जिसे नर पशु या नर पिशाच स्तर के जीव अपनाया करते हैं । उन्हीं को यह चाव रहता है कि तात्कालिक लाभ उठाने के लिए भावी परिणामों की अनदेखी की जाती रहे, अन्यथा जिसकी चिन्तन चेतना में मानवोचित उत्कृष्टता जीवित होगी, वह मात्र उसी को चुनेगा, जो सर्वसाधारण के लिए श्रेयस्कर है, जिसमें अपना ही नहीं, दूसरों का हित साधन भी जुड़ा हुआ है । शोषण, उत्पीड़न की रीति-नीति अपनाना लिप्सा, तृष्णा और अहंता की आपूर्ति के लिए आकुल-व्याकुल हो जाना उससे कभी बन ही नहीं पड़ता ।

वर्तमान अनपयुक्त परिस्थितियों को देखते हुए उनका कारण ढूँढते समय तात्कालिक कारण तो अनेक प्रतीत हो सकते और उसके निराकरण उपाय भी अनेकानेक सोचे जा सकते हैं । इतने पर भी तथ्य जहाँ का तहाँ रहता है कि विपत्तियों के उत्पादन में दुर्बुद्धि की ही खुराफातें अपने बाजीगरी चमत्कार दिखाती हैं । आज का आस्था संकट ही सबसे बड़ा संकट है । आदर्शों के प्रति श्रद्धा गँवा कर मनुष्य का कौशल एवं वैभव बढ़ा-चढ़ा रहने पर भी वह

वनमानुष स्तर पर उतर आया है और अपनी क्षमता को विनाशकारी संरचनाओं मे लगा दिया है। भले उसे इसमें तात्कालिक लाभ का बढ़ा-चढ़ा लालच प्रोत्साहित करता रहा हो। भले ही उसे उस मदान्ध स्थिति में भावी दुष्परिणामों का भान न हुआ हो।

वस्तुस्थिति समझने और चिरस्थायी उपाय-उपचार सोचने के लिए हमें तह तक उतरना होगा और उस उद्गम को खोजना होगा, जहाँ एक ही कीचड़ के ढेर से चित्र-विचित्र आकृति-प्रकृति के कृमि कीटक, विषाणुओं और दुर्गन्ध भरी गैसों का निर्माण होता है। यह उद्गम और कुछ नही, व्यापक और बलिष्ठ बना हुआ दुर्बुद्धि का साम्राज्य ही है, जो इन दिनों दसों दिशाओं में अपना अधिकार जमाये बैठा है। जूझना इसी से पड़ेगा। घटाना, हटाना और मिटाना इसी को पड़ेगा। मूर्धन्यों को इसी के विरुद्ध धर्म युद्ध छेड़ना होगा। लोक मानस के परिष्कार को युग धर्म मानना होगा और उन अस्त्र-शस्त्रों को खोजना होगा, जो परशुराम के काल कुठार की तरह अनौचित्य को उखाड़कर उसके स्थान पर मानवी गरिमा के उपर्युक्त प्रज्ञा, श्रद्धा एवं निष्ठा को प्रतिष्ठापित कर सकें, यही है वह विचार क्रांति अभियान, जिसे समय की सबसे बड़ी माँग और युग धर्म भी कहा जा सकता है।

पागल हाथी को सधे हुए बलिष्ठ हाथ ही जंजीरों से कसते और उसे सही तरह रहने के लिए बाधित करते हैं। सरकस वाले जानते हैं कि जंगली खूँखार जानवरों को किस प्रकार कलाकारों जैसे कौतुक-कौतूहल दिखाते रहने के लिए प्रशिक्षित किया जाता है। सपेरे और मदारी तक इस संदर्भ में बहुत कुछ जानते हैं। प्राय: इसी स्तर का कौशल युग मनीषा को भी सीखना और बरतना पड़ेगा। काँटे से काँटा निकालने के अतिरिक्त और कोई मार्ग है भी तो नहीं। होम्योपैथी वाले "विष को विष से शमन करने" का सिद्धान्त अपनाते हुए ही अपने प्रतिपादनों की सार्थकता सिद्ध करते हैं।

मनुष्य एक भटका हुआ देवता है कमी इतनी ही है कि हवा के झोंको के कारण वह अनिच्छापूर्वक भी जिधर-तिधर उड़ने लगता है। यदि गरिमा का बोध और दिशाधारा का निश्चय करते बन पड़े तो उसकी अजस्र क्षमताएँ इस विश्व उद्यान को सुरम्य, सुविकसित बनाने में ही प्रयुक्त होती रह सकती है। किया वही जाना चाहिए। प्रमुखता इसी उपचार को मिलनी चाहिए।

समझने और समझाने के लिए बहुत बड़ा क्षेत्र सामने खाली पड़ा है जो इस प्रतीक्षा में बैठा है कि झाड़ झंखाड़ों को उखाड़कर यह सुरम्य उद्यान खड़ा कर सकने वाले कब और कहाँ से आये ? युद्धोन्माद, साम्राज्यवाद, पूँजीवाद, जातिभेद, लिंगभेद, आर्थिक विषमता,, अभावग्रस्तता, बेकारी, बेरोजगारी, बीमारी आदि की समस्याएँ कम भयावह नहीं हैं। आलस्य, प्रमाद, पिछड़ापन, अविवेक अपनाये रहने के लिए दुराग्रह जैसे अनेकों व्यवधान हैं, जो प्रगति पथ की भारी भरकम चट्टान कहे जा सकते है। अपव्यय, दुर्व्यसन, अनाचार के अपने-अपने प्रकोप हैं। समता और एकता को छिन्न-भिन्न करते रहने वालों की तूती बोलती है। वह सब ऐसा है, जिसे घटाने से नहीं, मिटाने से ही काम चलेगा। नैतिक, बौद्धिक और सामाजिक क्षेत्र में घुसी अवांछनीयताओं को एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक बुहारना होगा।

विचार क्रान्ति ही अपने समय की सबसे बड़ी आवश्यकता है। इसी एक मास्टर चाबी से वे सभी ताले खुल सकते हैं, जिनमें सुखद, संभावनाओं के मणि माणिक्य तिजोरी बंद स्थिति में जकड़े पड़े हैं। यह धर्म क्षेत्र कुरुक्षेत्र में लड़े जाने वाले महाभारत की तुलना में अधिक व्यापक, अधिक सूक्ष्म और अधिक महत्त्वपूर्ण है-यह कौरव पाण्डवों का ही नहीं, समूची विश्व वसुधा पर फैली हुई मानव जाति के भाग्य भविष्य का निर्धारण करेगा। महाविनाश की दौड़ती चली आ रही विभीषिका अपनी विजय दुंदुभी बजाये या फिर विकास को धरती पर परमार्थ उतारने जैसी सफलता मिले इसका निर्णय इन्हीं दिनों होना है।

युग-संधि की द्विधा नियति-परिणति

गत शताब्दियों में मनुष्य ने विज्ञान की उद्धत दर्शन की सहायता पाकर अपने को ऐसा कुछ बना लिया है, मानो नशेबाज सड़क पर लाठियाँ घुमाने और गालियाँ बकने के लिए स्वतंत्र हो गया हो। गिलहरी का मुँह कपास के गुच्छे से भर जाता है। कपड़े की गाँठ पर बैठा हुआ झींगुर अपने को कपड़ा बाजार का नगर सेठ मानने लगता है'। क्षुद्रता हैसियत से अधिक कुछ पा जाने पर आपे से बाहर होती हुई और न करने योग्य कर गुजरने के लिए उतारू होती है। विज्ञान की ऐसी शक्ति मनुष्य के हाथ लगी जैसी उसके बाप दादे देख भी नहीं सके। ऐसी दशा मे इतराना और इठलाना कुछ आश्चर्यजनक भी नहीं लगता। प्रत्यक्षवाद के प्रतिपादन पहले भी आस्था संकट पैदा करते रहे हैं। नास्तिकता पहले भी थी उसे तर्कों के साथ सहारा

देने वाला दर्शन जो हाथ लग गया है। ऐसी दशा मे "जिसकी लाठी उसकी भैंस" वाले जंगली कानून को यदि अहमन्यता मुखर होकर उचित ठहराने का दुराग्रह अपनाये तो उसे अनगढ़पन के अतिरिक्त और क्या कहा जाय? पिछले दिनों से यही होने लगा है। नीति और मर्यादा को तिलाञ्जलि देकर जो मिले उसी को हड़प जाने की वितृष्णा यदि अनर्थ करती चले तो उसे पुरातन असुरता की नये ढांचे में नई आवृत्ति ही माना जायेगा।

पर यह सब सदा के लिए चलता तो नहीं रह सकता। आखिर इस संसार का नियमन करने वाली कोई उच्च सत्ता भी तो है। यह न रही होती तो आकाश के ग्रह गोलक और पृथ्वी के जलाशय सभी मर्यादा तोड़कर कुछ भी कर गुजरे होते और इस विश्व में कहीं भी व्यवस्था टिक न पाती। बच्चों का अनगढ़पन एक सीमा तक ही अभिभावक सहन करते हैं। अति अपनाने पर उनके भी कान उमेठे-जाते हैं, भले ही कभी उन्हें राजा बेटा कह कर दुलराया भी जाता रहा हो।

कर्म फल का चक्र अपनी धुरी पर नियमित रूप से घूमता है। वहाँ देर हो सकती है, पर अंधेर नहीं चल सकता। जो बोया है वही काटना पड़ेगा। अनीति पर चलने वाले समाज या शासन की पकड़ से बच सकते हैं, किन्तु आत्मा और परमात्मा दोनों में से कोई भी किसी के साथ रियायत बरतने को तैयार नहीं होता। प्रकृति के व्यवस्था विधान में भले-बुरे से यथावत निपटने का विधान अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। प्रस्तुत दो शताब्दियों में जो कुछ हुआ है उसे प्रगति का नाम दिया जाता है। इस कथन में मात्र इतनी ही सच्चाई है कि विज्ञान के क्षेत्र में चमत्कारी आविष्कार हुए। सुविधा साधन बढ़े। कुछ लोगों को अधिक सम्पन्न बनने का अवसर मिला। आकर्षक सज्जा ने लोगों को अधिक लुभाने में सफलता पाई। किन्तु साथ ही यह भी सही है कि उस नीति-निष्ठा का बुरी तरह ह्रास हुआ, जो सर्वतोमुखी स्वस्थता के लिए उत्तरदायी है। शरीर बीमार, मन बेजार और अधिक पाने, यहाँ वहाँ से बटोरने के लिए आतुर हाहाकार। वस्तुतः यही है वह उपलब्धि जो प्रस्तुत प्रगति के साथ-साथ ही बढ़ती चली आई है। उसने मनुष्य और मनुष्य के बीच अविश्वास की, दुर्भाव की, उपेक्षा की गहरी खाई खोद दी है। समझदारी, ईमानदारी, जिम्मेदारी और बहादुरी में इतनी कमी पड़ी है कि उनके बिना सम्पन्नता होते हुए भी दीन हीन की तरह रहना पड़ रहा है। मरघट में रहने वाले भूत-प्रेतों जैसा अनगढ़ जीवन जीना पड़ रहा है। अपच, अनिद्रा, शरीर के एवं आवेश-अविश्वास मन के सहचर बन कर रह रहे हैं।

यह स्थिति अधिक दिनों नहीं रहने दी जा सकती अन्यथा व्यक्ति तनावग्रस्त रह कर टूट जायगा, साथ ही वैभव का भी दुरुपयोग करके आत्मघात करेगा जो अनीति अपनाकर कमाई गई है। सज्जा और अर्हता आकर्षक तो हैं, पर उनमें ऐसा कोई सार तत्व है नहीं जो उल्लास उत्साह, संतोष, आनन्द एवं गौरव-गर्व प्रदान कर सके। इसके अभाव में वह न केवल स्वयं विपन्न बनेगा वरन् अपने सम्पर्क क्षेत्र मे भी विपन्नता भर देगा। ऐसा जीना भी क्या, जो अन्यायों को खिन्नता की, अर्द्धमृत स्थिति में धकेल दे।

यह भली भाँति समझ लिया जाना चाहिए कि इन दिनो जो विपत्तियाँ-विभीषिकाओं के घटाटोप घिरे दिखाई देते हैं, वे कहीं आसमान से नहीं उतरे हैं, धरती फोड़कर भी नहीं उछले है। यह सब मनुष्य का ही बोया व बिखेरा हुआ है। शक्ति का दुरुपयोग भी हो सकता है और सदुपयोग भी। चाकू से कलम भी तराशी जा सकती है और किसी का प्राणान्त भी किया जा सकता है। यह सद्बुद्धि और दुर्बुद्धि के ही परस्पर विरोधी चमत्कार हैं। यहाँ करने और भरने की सनातन प्रक्रिया अनवरत रूप से चलती आ रही है। प्रकृति भी उसी आधार पर अपने तेवर बदलती रहती है। पतन और उत्थान के क्रम में वातावरण की प्रतिकूलता, अनुकूलता भी सहभागी होती है। पर उन सबका उद्गम मनुष्य का व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व ही है। स्रष्टा की कर्मफल व्यवस्था भी उसी आधार पर अपने को नियति बनाकर प्रकट करती है।

भूलें होती हैं पर उनका सुधार परिमार्जन भी होता रहता है। कपड़े मैले होते हैं पर उनकी धुलाई होते रहने की क्रिया भी बन्द नहीं होती। ठोकरें लगती है पर उन चोटों का उपचार भी क्रियान्वित होता है। बीमारियाँ स्थाई नहीं होती। उनको भगाया भी जाता रहता है। पापों के प्रायश्चित की भी व्यवस्था है। टूट-फूट की मरम्मत भी की जाती है। राह भूल जाने वाले अटक-भटक कर सही दिशा भी प्राप्त कर लेते हैं। उद्दण्डताओं का दौर कभी-कभी पागल हाथी की तरह बहुत कुछ तोड़-फोड़ तो कर डालता है पर अन्ततः कुशल महावत उसे सही तरीके से रहने के लिए बाधित भी कर देता है।'

शोक संताप आते तो हैं। पर वे चिर स्थाई नही रहते। आतंकवादी कभी-कभी हमले तो बोलते है और तोड़-फोड़ भी बहुत करते हैं इतने पर भी जीवन के सामान्य क्रम

का सदा के लिए अन्त नहीं हो जाता। ग्रीष्म काल में बहुत कुछ सूखता, जलता, तपता तो है पर ऐसा नहीं होता कि सदा वही स्थिति बनी रहे और मूसलाधार बरसने वाली मेघमाला का आगमन ही समाप्त हो जाय। कल का तपता धरातल परसों हरीतिमा के मखमली फर्श से सुसज्जित भी होता है।

मनुष्य पर बहुत बार आवेशों के उन्माद आते हैं। इस दशा में वह ऐसे कृत्य कर डालता है जिनकी क्षति पूर्ति बहुत दिनों में बड़ी कठिनाई से ही हो पाती है। क्रोध में पागल कई बार स्वजनों तक की हत्या कर डालते है। आवेश उतरने पर ये समझ पाते हैं कि उनने अपने ही हाथों अपना कितना बड़ा अनर्थ कर डाला। देखने वालों को लगता है कि अब इस क्षति की पूर्ति न हो सकेगी। पर वस्तुत: ऐसा होता नहीं। समय घावों को भरता रहता है। मरने वालों की संख्या नित्य ही बहुत बड़ी होती है। लगता है कि यही क्रिया चलती रही तो संसार सूना हो जायगा। पर वस्तुत: वैसा होता नहीं। नये जन्मने वाले उस घाटे की भरपाई करते रहते हैं। अन्धड़ आते है, तूफान बहुत कुछ उखाड़ पछाड़ कर रख जाता है। चक्रवातों की करतूत कितनी भयावह होती है, ओले, टिड्डी दल, चूहे, पक्षी फसल को बर्बाद करने में कुछ कोर कसर नहीं छोड़ते फिर भी ऐसी स्थिति नहीं आती है कि अन्न का सर्वथा अभाव हो जाय और लोग भूखे मर जायँ। दुष्ट, दुरात्मा अपने कुकृत्यों में कोई कमी नहीं रहने देते फिर भी नियति की व्यवस्था ऐसी है कि शान्ति और सज्जनता अपना अस्तित्व बनाए रह सके। भूकम्पों, ज्वालामुखियों, दुर्भिक्षों, बाढ़ों, महामारियों का अपना इतिहास है। उनके द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाला महा विनाश सुनने वालों तक के रोमांच खड़े कर देता है। फिर भी भूमि की समस्वरता समाप्त नहीं हुई है। विनाश की चुनौतियों को स्वीकार करने में विकास पूरी तरह समर्थ है। निराशा जन्य परिस्थितियों की विकरालता से सभी परिचित हैं। तमिस्रा की व्यापकता किसी से छिपी नहीं है किन्तु आशा का आश्वासन देने वाली ऊषा अपने समय पर उदित होती रही है एवं परिवर्तन लाती रही है।

रात्रि के उपरान्त प्रभात आता है, अवांछनीयताओं का साम्राज्य देर तक टिकता नहीं। समय चक्र ऐसी परिस्थितियाँ भी लाता है जिसमे विपन्नताओं से उबर सकना संभव हो सके। इक्कीसवीं सदी ऐसा ही संदेश लेकर आ रही है। उसे सर्वतोमुखी अभ्युदय का समय भी कह सकते हैं, "सतयुग" भी। इक्कीसवीं सदी इसी की प्रतीक बन कर आ रही है :

युग संधि को द्वन्द्व और संघर्ष की अवधि कह सकते हैं। अब से लेकर बीसवीं सदी के अन्त तक ऐसी ही द्विधा छाई रहेगी। रात्रि के अन्तिम प्रहर में तमिस्रा अत्यधिक सघन हो जाती है। दीपक जब बुझता है तो ऊँची लौ दिखाता है। चींटी मरने को होती है, तब पंख उगाती है। मरते समय गहरी सांसे चलने लगती हैं। यही सब देखकर यह उक्ति बनी है कि "मरता क्या न करता।" आत्मरक्षा के लिए कौन हाथ पैर नहीं पीटता ? यदि अनौचित्य की प्रस्तुत परम्परा भी ऐसा ही कुछ करे तो क्या आश्चर्य ?

सड़े फोड़े का गहरा मवाद यदि एक साथ ही निकलेगा तो अधिक घिनौने दृश्य उपस्थित करेगा। इस संभावना को देखते हुए अदृश्य द्रष्टाओं ने रोमांचकारी भविष्यवाणियाँ की है जो प्राय: इस युग संधि पर लागू होती हैं। ईसाई धर्म में सैविन टाइम्स एवं एण्टीक्राइस्ट इस्लाम धर्म में चौदहवीं सदी में कयामत तथा भविष्य पुराण में खण्ड प्रलय की चर्चा है। अन्य पूर्वात्य और पाश्चात्य दिव्य-दर्शियों ने भी इसी स्तर की भविष्यवाणियाँ की है जिनसे प्रतीत होता है कि कुसमय का अन्त होते-होते कहर बरसेगा। किन्तु इसके बाद ऐसा समय आयेगा जिसमें पिछले समस्त घाटे की पूर्ति हो जायगी ताकि गहरी खाई पाटकर समतल ही नहीं वरन् पुष्पोद्यान के रूप में भी छटा दिखाने लगे।

एक ही समय में दो काम हो सकते है। खेत की जुताई से खुदाई होती है किन्तु साथ ही बुवाई का क्रम भी चलता है और देखते-देखते खेत पर हरियाली लहलहाने लगती है। इस भारी परिवर्तन में एक सप्ताह से भी कम समय लगता है। प्रसव वेदना में जहाँ प्रसूता को कष्ट सहना पड़ता है वहाँ शिशु जन्म की खुशियाँ मनाने के सरंजाम भी साथ ही जुट जाते है। जरा जीर्ण काया इधर मृत्यु का वरण करती है, उधर दूसरे जन्म का नया सुयोग भी बन जाता है। जुआरियों में से एक हार पर उदास होता है तो दूसरा जीत पर मुसकाता है। खिलाड़ी और व्यापारी भी आपस में हारने जीतने के परस्पर विरोधी अनुभव करते है। युग संधि में देवासुर संग्राम मचे-विनाश और विकास का मल्लयुद्ध ठने तो उसे नियति की विचित्रता ही कहना चाहिए। संध्या काल में दिन और रात्रि दोनों का समन्वय देखा जा सकता है। प्रायश्चित करते समय जहाँ कठिनाई का सामना करना पड़ता है वहाँ भार उतर जाने और उज्ज्वल भविष्य की

संभावना बनने की प्रसन्नता भी होती है । युग संधि के इन बारह वर्षों को ऐसे ही खट्टे मीठे स्वाद का सम्मिश्रण समझा जा सकता है । अशुभ की विदाई और शुभ की अगवानी का मिश्रित माहौल इन दिनों देखने को मिलेगा । एक ओर आपरेशन की छुरी-कैंची संभाली जायगी तो दूसरी ओर घाव सीने और मरहम पट्टी के सरंजाम भी इकट्टे होंगे । वधू को विदा करते समय जहाँ एक घर में आँसू टपकते हैं वहीं दूसरे घर में गृह लक्ष्मी के आगमन पर सभी के चेहरे खिलते हैं । ऐसी ही द्विधा लेकर आ रही है युग संधि की वेला। इन बारह वर्षों में ऐसे ही ज्वार भाटे आते रहेंगे ।

भ्रष्ट चिन्तन और दुष्ट आचरण के कारण जो अनर्थ उपजे हैं उन्हें कोई दावानल भस्मसात करके रख दे, यह संभव है । ऐसा समय असाधारण रूप से कष्ट कारक भी हो सकता है। विपत्तियाँ और बढ़ सकती हैं । संकट और भी अधिक गहरा सकते हैं, किन्तु साथ ही यह भी निश्चित है कि उज्ज्वल भविष्य का सृजन भी इन्हीं दिनों होगा । प्रतिभाएं इन्हीं दिनों उभरेंगी और उनके द्वारा बहुमुखी सृजन की ऐसी योजनाएँ भी बनेंगी जो चरितार्थ होने पर ऐसा वासंती वातावरण बना दे जिसकी इक्कीसवीं सदी के रूप में आशा, अपेक्षा चिरकाल से की जाती रही है ।

अगली मंजिल कौन-सी होगी ?

मनुष्य जाति एक के बाद एक प्रगति की मंजिलें पार करती हुई चली आ रही हैं । आदिम मनुष्य की भारी प्रगति वह थी, जब उसने खड़े होकर चलना सीखा और उँगलियों के सहारे अनेकानेक क्रिया-कलापों को अपनाते हुए अपनी सूझबूझ का परिचय दिया । जिस दिन उसने दो पत्थर लड़ाकर आग जलाना और उसके अनेकानेक उपयोग करना सीखा । उसी दिन वह पशु बिरादरी से अलग हो गया। प्रगति का अभिनव सूत्र हाथ लगा उस दिन, जिस दिन उसने कुछ उच्चारणों के सहारे अपने मनोभाव प्रकट करना सीखा । परिवार बसाकर, झोंपड़े बनाकर रहना उसी आदिम युग की प्रगति है ।

दूसरा अध्याय उस समय जुड़ता है जब कृषि करना और पशु पालना अपनी विशिष्टता में सम्मिलित कर लिया। धातुओ का उपयोग, शस्त्र और पात्र बनाना उसी दूसरे चरण का उत्कर्ष है । कपड़े बनाना और पाक विद्या की जानकारी मानवी उत्कर्ष का दूसरा सोपान है ।

चिकित्सा, वाहन, शिक्षा, संचार उसके बाद की स्थिति है । इस सबको मिलाकर पुरातन युग कह सकते हैं ।

जलयानों ने पृथ्वी के बिखरे हुए खण्डों की दूरियाँ कम करके पारस्परिक सहयोग शृंखला में जोड़ा । कागज पर लेखन इस मध्य युग की देन है । युद्ध कला की अनेकों कुशलतायें हस्तगत हुयीं और बड़े कबीलों ने छोटे समुदायो को अपना बशवर्ती बनाकर राजा-प्रजा का सिलसिला आरम्भ किया । सिक्कों को वस्तु विनिमय के रूप में प्रयुक्त करके गणित का विकसित आधार अपनाते हुए अर्थशास्त्र का एक नया रूप सामने आया । इस प्रगति में हजारों लाखों साल लग गए । इस प्रगति की गति भी धीमी थी और मनुष्य सन्तुष्ट भी था ।

दूसरी लहर विज्ञान के विकास की आरम्भ हुई । इसमें पाँच वर्ष भी नहीं लगे कि आविष्कारो पर आविष्कार होते गए । उसके कारण सुविधा-साधनों की अतिशय बहुलता हुई और मनुष्य इतनी समृद्धि अनुभव करने लगा जितनी कि पूर्वजों ने कल्पना भी नहीं की होगी ।

इसी के साथ औद्योगिक युग आ गया । मनुष्य जो काम करने में ढेरो समय और श्रम लगाता था वह कम समय में ही बड़े-बड़े यन्त्रों से होने लगा । जिनने यह कल-कारखाने लगाये, वे धन-कुबेर होते गये । इनमें काम करने वाले श्रमिकों को वेतन मिलने लगा और वे कारीगर कहलाने लगे । किन्तु एक कठिनाई यह हुई कि थोड़े लोगों द्वारा यन्त्रों की सहायता से उत्पादन कर लेने पर शेष असंख्यों को बेकार रहना पड़ा । बेकार आदमी पेट तो किसी प्रकार भरना ही चाहेगा । उचित-तरीका न मिले तो अनुचित अपनायेगा । औद्योगिक प्रगति कहें या मशीन युग, उसमें विज्ञान की विजय दुन्दुभी तो बजी परन्तु साथ ही कितनी ही समस्यायें विकराल रूप मे सामने आ गयीं। बेकारी, अपराध, धनिकों की धींगा मुश्ती । इससे सामाजिक कलह बेहिसाब बढ़ने लगे ।

तीसरी लहर जो इन दिनों चल रही है इसे प्रगति की चरम सीमा के साथ-साथ अध:पतन के संकट का समावेश भी कह सकते है । कल-कारखानो और द्रुतगामी वाहनों के लिए कोयला, तेल और लकड़ी की बहुलता से आवश्यकता पड़ी । इसके धुएँ ने वायु मण्डल को विषाक्त किया । कारखानों का कचरा नदी-नालों में बहाया गया तो वे दूषित होते चले गए । अणु युग का युद्ध और ईंधन के निमित्त आरम्भ हुआ, उसने विकिरण उत्पन्न करके समूचे वातावरण को ही ऐसा बना दिया जिसकी विषाक्तता से मनुष्य का जीवन कठिन हो चला ।

इसी दुर्भाग्य में एक ओर बड़ी जनसंख्या वृद्धि की अति के रूप में सामने आई । उसके कारण पानी और

वनस्पति की आवश्यकता बढ़ी । धरती ने जबाव देना आरम्भ कर दिया कि लाखों वर्ष का संचय अब समाप्त होने जा रहा है । पृथ्वी की उर्वरता, पेयजल की आवश्यकता, खनिज पदार्थों में धातुयें, तेल तथा कोयला मुख्य रूप से आते हैं । इनका भण्डार अब समाप्त होने ही जा रहा है । मुश्किल से ५० वर्ष अवशेष के सहारे कट सकें । इसके उपरान्त मानवी आवश्यकता की हर वस्तु का दुर्भिक्ष पड़ता स्पष्टतया दिखाई पड़ रहा है ।

औद्योगीकरण की लहर चले हुए तीन सौ वर्ष नहीं हुए कि उसने इतनी समस्यायें पैदा कर दीं, जितनी कि पिछले तीन हजार वर्षों में भी उत्पन्न नहीं हुई थी । शहरों में यातायात और परिवहन की दृष्टि से कारखाने लगे । वहाँ रोजी, रोजगार की सुविधायें बढ़ीं, साथ-साथ मनोरंजन के अनेक माध्यम बढ़े । इस कारण देहाती जनता अपने परम्परागत स्थान छोड़कर शहरों की ओर दौड़ पड़ी । स्थान की कमी और आगन्तुकों की भरमार से उत्पन्न हुई पिच-पिच ने गन्दगी, बीमारी और अपराधी वृत्ति की भरमार कर दी । शहर वस्तुतः स्व. विनोबा के शब्दों में 'भारत के शरीर पर उठे हुए कैन्सर के फोड़े हो गए ।'

अत्यधिक विलासी उत्पादन बढ़ने के कारण आवश्यकता उन्हें खपाने की मण्डियों की पड़ी । उत्पादक देश अपने यहाँ तो दैनिक उपयोगिता की चीजें ही खपा सकते थे । उनकी सीमित मात्रा ही बनाई गयी । निरर्थक आकर्षक वस्तुओं में लाभ भी अधिक है और उन्हें सम्पन्न लोग अन्धाधुन्ध भी खरीद सकते हैं । इस एक नयी आवश्यकता ने आर्थिक उपनिवेशवाद को जन्म दिया और उसमें देशों की प्रतिस्पर्द्धा चल पड़ने से युद्धों का सिलसिला चल पड़ा । दो महायुद्ध हो चुके हैं, तीसरे की तैयारी है । यह जब होगा और अस्त्रों का स्थान अणु आयुध लेगे । उसकी परिणति विश्व विनाश के रूप में सामने होगी ।

इस तीसरे युद्ध में कठिनाई एक ही है कि अब यह आयुध अनेक देशों के पास है । जापान पर हमले के समय यह अस्त्र मात्र अमेरिका के पास ही थे । उनका प्रयोग जापान पर हुआ और प्रतिरोध के अभाव में एक पक्षीय विजय का श्रेय मिल गया । अब बात ऐसी नहीं है । अब प्रायः एक दर्जन देश हैं, जिनने अणु आयुध बना लिए हैं। इसमें इसकी गणना की आवश्यकता नहीं कि किसके पास एटम बम अधिक हैं, किसके पास कम । कम वाला भी यदि प्रथम प्रहार पर उतर आये तो जिसके पास जखीरा जमा है उसे भी नीचा दिखा सकता है । साथ ही प्रतिरोध का खतरा भी स्पष्ट है । आज की परिस्थितियों में यदि अणु यु[illegible] छोटे रूप में भी कोई पक्ष आरम्भ कर दे तो प्रतिहिंसा औ[illegible] प्रतिरोध के वातावरण में उस पहल करने वाले की भी खैर नहीं । किस भूमि पर यह युद्ध लड़ा जाय, इसके लिए अन्तरिक्ष को अधिक उपयुक्त माना जा रहा है और उसी क्षेत्र में मार करने वाले या बचाव की काट करने वाले माध्यमों का अन्वेषण एवं विस्तार किया जा रहा है ।

समस्त संसार में इन दिनों यह भय बुरी तरह संव्याप्त है कि ऐसा युद्ध छिड़ने पर खैर अपनी भी नहीं । लड़ाई छेड़ने में बुद्धिमत्ता तभी है जब अपनी भी सुरक्षा बन पड़े। इसका कोई मार्ग दीख नहीं रहा है । इसलिए तैयारियाँ चरम सीमा तक जा पहुँचने पर भी किसी की हिम्मत शुरू करने की नहीं पड़ रही है । प्रतिरक्षी को डराने के निमित्त ही एक से एक प्रभावशाली हथियार बन रहे है ।

भूतकाल से लेकर मानवी प्रगति का अद्यावधि लेखा-जोखा यही है । इन दिनों चारों ओर भय का साम्राज्य संव्याप्त है । जिनके पास आयुधों के पहाड़ जमा हैं, वे भी जानते हैं कि आगामी युद्ध में संख्या बल की जरूरत नहीं है, एक का प्रयोग करने पर उसकी हल्की प्रतिक्रिया मात्र से अपना-प्रतिद्वन्द्वी का-तथा निरपेक्ष लोगों का सफाया हो सकता है । ऐसी दशा में पहल करते हुए सभी डर रहे हैं।

यह बुरी और भयानक स्थिति है । इसका लेखा-जोखा लेने वाले इसी मोटे निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विनाश की बेला निकट है और मानवी दुर्बुद्धि का नग्न नृत्य होने में अब कुछ ही विलम्ब रह गया है । इस निष्कर्ष से इस धरती पर रहने वाले प्रत्येक मनुष्य को भयाक्रान्त देखा जा सकता है, भले ही उसका युद्ध से सीधा सम्बन्ध कुछ भी न हो ।

अगली लहर क्या आने वाली है ? भावी प्रगति या प्रचलन क्या होने जा रहा है इस सन्दर्भ में तथ्यों की गहराई तक पहुँचने वाले और वातावरण की प्रतिक्रिया समझने वाले मन ही मन समझते हैं कि मनुष्य की बुद्धिमानी अब इस सीमा तक पहुँच गयी है कि वह विनाश पर उतारू होने की अपेक्षा चैन से रहना और रहने देना पसन्द करेगा । महामरण किसी को भी पसन्द नहीं । कोई समय था जब दुराग्रह को अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाकर मनुष्य कुछ भी कर बैठता था, पर अब वह स्थिति नहीं रही। कल नहीं तो परसों सभी सशक्तों और बुद्धिमानों की इसी बात पर सहमति होगी कि विनाश की धमकियों को विराम दिया जाय और ऐसा रास्ता खोज निकाला जाय जिससे संचित सभ्यता को गँवाकर आदिमकाल के पिछड़ेपन की ओर वापिस न लौटना पड़े । विश्वास किया जाना चाहिए कि

सद्विवेक जागेगा और न आने वाले दशकों का मनुष्य आत्मघाती कदम न उठाकर सृजन की दिशा में उन्मुख होगा। अभी तक की स्थिति तो यही बताती है कि विनाश का सरंजाम जुटा लेने पर भी मानवी प्रगति की अगली मंजिल नव निर्माण की दिशा में चल पड़ने की होगी। यही नियन्ता की इच्छा भी है और इसके लिए परोक्ष जगत् में अनुकूल वातावरण भी बन रहा है। चौथी लहर यही होगी।

उत्कर्ष का एक ही मार्ग-आदर्श

यह तथ्य सर्व सम्मत और सुप्रमाणित है कि मनःस्थिति ही परिस्थितियों के रूप में विकसित होती है। सामान्य बुद्धि ही यह सोचती है कि साधन सुविधाओं के आधार पर मनुष्य को उन्नति करने का अवसर मिलता है। यह कथन किसी हद तक तभी-सार्थक होता है जब साधनों के साथ-साथ उच्चस्तरीय सूझ-बूझ भी हो। अन्यथा वह तथाकथित प्रगतिसम्पदा उपलब्धकर्ता तथा उसके सहयोगियों साथियों के लिए अनेकानेक विपत्तियों का कारण ही बनती है। दुष्ट, दुर्जन जितने ही अधिक साधन सम्पन्न होते हैं उतनी ही अधिक दुष्प्रवृत्तियाँ अपनाते और अपने सम्पर्क क्षेत्र के लिए संकट खड़ा करते हैं।

इसका प्रत्यक्ष प्रमाण इन दिनों की परिस्थितियों को देखकर समझा जा सकता है। पूर्वजों की तुलना में हम सुविधा साधनों में कहीं अधिक सम्पन्न हैं। शिक्षित भी हैं और समर्थ मंभ्रान्त भी। इस पर भी हमारी गतिविधियाँ इस स्तर की नहीं बन पाती जिन्हें सन्तोष जनक, सुख चैन से युक्त या भविष्य को उज्ज्वल बनाती दीख पड़ें। इसके विपरीत उन असंख्य महामानवों का इतिहास साक्षी है जो साधारण परिस्थितियों में जन्मे और अपने गुण, कर्म, स्वभाव की उत्कृष्टता से निजी चरित्र और सम्पर्क क्षेत्र का सम्मान प्राप्त करते-करते उन्नति के उच्च शिखर तक पहुँचे।

साधन—सम्पदा की उपयोगिता से कोई इन्कार नहीं करता पर उसके साथ एक शर्त जुड़ी हुई है कि चिन्तन और चरित्र की उत्कृष्टता सुसम्पन्नता के साथ जुड़ी रहनी चाहिए। उसके अभाव में बौद्धिक तीक्ष्णता, कुशलता की बहुलता एवं विपुल सम्पदा मनुष्य को अहङ्कारी, अनाचारी बनाने में ही नियोजित होगी। फलतः परिणति उससे भी बुरी होगी जो अभावग्रस्तता की स्थिति में हो सकती थी। आज के विश्व व्यापी वातावरण और क्रियाकलाप का तारतम्य जोड़ते हुए इस तथ्य को भली प्रकार प्रत्यक्ष होते देखा जा सकता है।

भविष्य को उज्ज्वल बनाना चाहिए, बनाना है। इक्कीसवीं सदी को सतयुगी वातावरण का शिलान्यास होने की प्रभात बेला माना गया है। यह एक सचाई है जिसे समय के परिवर्तन चिह्न को सूक्ष्म दृष्टि से देखते हुए सहज ही माना जा सकता है।

नवजीवन का नव निर्माण यदि होना है तो उसका आधारभूत कारण एक ही होगा—लोक मानस का परिष्कार। जन-जन को समझदारी-ईमानदारी—जिम्मेदारी और बहादुरी का पाठ पढ़ना होगा। चिन्तन—चरित्र और व्यवहार में आदर्शों का समावेश करना होगा। मानवी गरिमा को अक्षुण्य रख सकने वाली रीति-नीति को अपनाना होगा। यह प्रयास सीमित क्षेत्रों तक परिमित नहीं रखा जा सकता वरन धरती पर रहने वाले ५०० करोड़ जनसमुदाय को इसी ढाँचे में ढालना होगा।

इसका शुभारम्भ कैसे हो ? क्रिया कलाप कहाँ से? किस प्रकार आरम्भ किये जाँय ? इन प्रश्नों के उत्तर में सतयुग के पुरातन इतिहास का गहराई के साथ अध्ययन करना होगा। उन दिनों भावनाशील प्रतिभाओं ने अपने निजी संकीर्ण स्वार्थों को तिलाञ्जलि दी थी और महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति का एक ही केन्द्र पर नियोजन किया था कि जन-मानस को सद्गुणी—सुसंस्कृत कैसे बनाया जाय। जन-जन को पुरुषार्थी-कर्मयोगी-समाज निष्ठ और उदारचेत्ता बनाने के लिए जो कुछ किया जा सकता था वह सब कुछ उनने कर दिखाया था। इस हेतु सर्वप्रथम उनने अपनी जीवनचर्या को ऐसे ढाँचे में ढाला था जो सर्वसाधारण को अनुप्राणित कर सके। अनुसरण की श्रद्धा उत्पन्न कर सके उसके साथ ही वे लोक सेवा की साधना को सर्वोपरि ईश्वर भक्ति मानकर उसके निमित्त सर्वतोभावेन जुट गये। धर्मतन्त्र का उनने आश्रय लिया। क्योंकि अन्तःकरण की गहराई तक प्रवेश कर सकने की क्षमता उसी में है। आकांक्षा, आस्था, भावना, विचारणा की उत्कृष्टता के साथ जोड़ने की क्रिया अन्तःकरण के क्षेत्र में सम्पन्न होती है। जले हुए दीपक ही बुझों को जलाने में समर्थ होते हैं। सुयोग्य ही अयोग्य को सुयोग्य बना सकते हैं। ऋषियुग का प्रचलन इसी प्रकार हुआ। सतयुग इसी प्रकार उगा और फल-फूल कर विशाल कल्प वृक्ष के रूप में परिणित हुआ।

इस भूत कालीन प्रचलन को वर्तमान में अपनाया जाना चाहिए और इसी आधार पर उज्ज्वल भविष्य का स्वप्न संजोया जाना चाहिए। विगत को आगत के रूप में इसी प्रकार अवतरित किया जा सकता है।

इस हेतु ब्राह्मण और साधु परम्परा को पुनर्जीवित करना होगा। पुरोहितो और परिव्राजकों का नया वर्ग खड़ा करना होगा। वंश और वेश के आधार पर तो ये दोनो ही इतने अधिक है कि उनकी गतिविधियाँ देखकर एक बार तो गहरी निराशा होती है। उनका स्वरूप अपने उत्तरदायित्व के साथ सगति नहीं खाता। ऐसी दशा में पुराने खण्डहरों के साथ बड़ी आशा संजोने की अपेक्षा नये झोपडे खड़े करने होंगे। जाति, वंश की प्रक्रिया किसी को ऊँचा, नीचा नहीं बनाती। प्रश्न भावना और क्रिया का है। जो अपना क्रिया-कलाप जन-मानस के परिष्कार मे नियोजित कर सकें, जो ब्राह्मणों की तरह गृहस्थ अथवा विरक्त रहकर परिव्राजक की भूमिका निभा सकें उन्हें कहीं से ढूँढना, उभारना और पुरातन विधि व्यवस्था के अनुरूप कर्तव्य पथ पर आरूढ़ करना होगा।

धर्म के नाम पर ईसाई मिशनों ने कुछ कहने लायक काम किया है। सेवा को आगे रखकर अपना सम्प्रदाय बढ़ाने की यो उनकी बेतुकी नीति है। फिर भी पादरियों का चरित्र देखते बनता है। गिरजे खपरैलों के बने होते हैं। पादरी घर-घर जन सम्पर्क के लिए जाते हैं। और जो कहना है भावनापूर्वक कहते हैं। फलस्वरूप दो हजार वर्ष में दुनिया की आधी जनसंख्या उनके धर्म में दीक्षित हो गई। प्राचीनकाल में ऋषि भी यही करते थे। ढाई-हजार वर्ष पूर्व बुद्ध धर्म इसी रीति-नीति को अपनाकर विश्व व्यापी बना था। स्याम (अनाम) में यह प्रथा थी कि हर व्यक्ति को एक वर्ष तक परिव्राजक बनकर बुद्ध विहार में रहना पडता था। साधना स्वाध्याय, संयम की व्यक्तिगत आचार संहिता का पालन करते हुए अधिकांश समय लोक सेवा के निमित्त नियोजित रखना पड़ता था। यह प्रचलन जिनने भी जब भी अपनाया है तभी उन्हें उतने अंश मे जन सहयोग मिला है और अभीष्ट प्रगति का पथ प्रशस्त हुआ है। अध्यात्म को धर्म की जन्मभूमि भारत में जब स्वार्थ सिद्धि हेतु विकृत विडम्बना का माध्यम बना लिया गया तो वैसा कुछ शेष न रहा जैसा कि पुरातन काल में था। समर्थो के प्रति कोई विद्रोह खड़ा न हो इसलिए भाग्यवादी साहित्य सृजा जाता रहा और जन साधारण में भक्ति के नाम पर दीनता का, परावलम्बन का पक्षधर मानस छला जाता रहा। यही कारण था कि लम्बी विदेशी गुलामी का अभिशाप सहना पड़ा।

गिनती गिनना भूल जाने पर उसे नये सिरे से गिना जाता है। आवश्यकता इस बात की है कि वर्तमान विकृतियों से जूझने और सत्प्रवृतियों का नये सिरे से अभिवर्धन करने के लिए धर्म सेवी समुदाय का नये सिरे से उत्पादन किया जाय। देश में श्रद्धा भक्ति का मूल तत्व अभी भी कम नहीं हुआ है। यदि घटा होता तो धर्म जीवियो का इतना बड़ा समुदाय गुलछर्रे किस प्रकार उड़ाता। इतने विशालकाय देवालय किस प्रकार खड़े होते। धार्मिक कर्मकाण्डो में, तीर्थ यात्राओ में लगने वाली इतनी बड़ी राशि कहाँ से आती। जड़ जीवित है। पत्ते और टहनियाँ भर सूखी हैं। यदि जड़ को नई भावना और नई योजना के साथ सींचा जा सके तो इस पतझड़ जैसे ठूँठ बने उपवन में फिर से नया बसन्त आ सकता है।

पुराने ठूँठ यदि परिवर्तन के लिए सहमत न हों तो उनके साथ नई पौध लगाई और नई हरियाली उगाई जा सकती है। ऐसे भावनाशील लोग ढूँढने पर कहीं न कहीं अवश्य मिल जायेंगे जो जीवन्त धर्मधारणा की सेवा साधना के लिए अपने जीवन समर्पित करें और उसी कार्य पद्धति को अपनाएँ जो सतयुग के देव मानवों ने अपनाई तो ऐसे असंख्य व्यक्ति भी निकल पड़ेंगे जो उनके निर्वाह का भार कितने ही दरिद्र होने पर भी सहन करते रहें। इस नवनिर्मित देव समुदाय का एक ही कार्य होना चाहिए जन साधारण के चिन्तन, चरित्र और व्यवहार को उच्च-स्तरीय बनाना, हर किसी में लोक सेवा की, आदर्शवादी प्रतिस्पर्धा के लिए महत्वाकांक्षा जगाना।

आवश्यकता ऐसे गोताखोरों की है जो गहरी डुबकी लगाकर मणिमुक्ताओं को खोज सकें। इन्हें एक सूत्र में पिरोकर शोभायमान हार की तरह देव संस्कृति का सुशोभित मुकुट बना सकें।

साथ ही अन्य क्षेत्रों की प्रतिभाओ से भी अपने ढङ्ग से अपने-अपने स्तर का लोकोपयोगी कार्य करा सकें। साहित्यकार, कलाकार, धनवान, विद्वान, प्रतिष्ठित, अधिकारी, वरिष्ठ लोग अपने-अपने समय प्रभाव एवं कौशल का ऐसा उपयोग कर सकते हैं जिससे लोक चेतना को उत्कृष्टता की दिशा मिले। जिस मानवी गरिमा को सूखा कुम्हलाया देखा जाता है वह वर्षा और बसन्त के अनुदान पाकर सुषमा से सज उठे। प्रतिभावान वरिष्ठ जन अपनी विशेषता का उपयोग इन दिनों प्रायः धन संचय में, अहंकार जताने वाला ठाट-बाट जुटाने में करते रहते है। यदि उनकी दिशा बदले तो ऐसे आधार खड़े हो सकते हैं जो युग का काया-कल्प कर सकें। साहित्यकार ऐसा साहित्य सृजें, कलाकार ऐसा संगीत अभिनय प्रस्तुत करें। लेखनी और

वाणी का इन्हीं प्रयोजनों के लिए उपयोग हो। सम्पदा उस व्यवसाय या अनुदान में लगे जिससे हरिश्चन्द्र और भामाशाह की कथाएँ नया संस्करण बनकर उभरें।

शासन, वैभव, कौशल, विज्ञान एवं पराक्रम का अपना-अपना महत्व है। वे सब केवल सुविधा सम्पन्नता बढ़ा सकते हैं। इतना भी तय बन पड़ता है जब उन क्षेत्रो मे क्रियाशील व्यक्ति अपने ईमान को सावधान रखें। उत्कृष्टता का निर्वाह करें। यदि वे विचलित होते हैं तो लाभ की अपेक्षा हानि का, उत्कर्ष की अपेक्षा अपकर्ष का माहौल विनिर्मित करेंगे। आदर्श एकांकी भी बहुत कुछ कर सकता है। छोटी स्थिति वाला भी बड़ी भूमिका निभा सकता है। किन्तु सर्व समर्थ होते हुए भी व्यक्ति पतनोन्मुख रहा हो तो दुर्दान्त असुरों की तरह सर्वत्र संकट ही खड़ा करेगा। आवश्यकता आदर्शवादिता के अभिवर्धन की है। इसी को धर्मधारणा आस्तिकता या मानवी गरिमा के नाम से भी पुकारा जा सकता है।

महान प्रयोजन के श्रेयाधिकारी बनें

गिरने-गिराने की, मिटने-मिटाने की ध्वंसात्मक योजनाओं में, अनेकों मनचले साथ देने-सहायता करने के लिए सहज तैयार हो जाते है। होली जलाने के कौतूहल हेतु, छोटे बच्चों से लेकर किशोर युवकों तक का एक बड़ा समूह लकड़ियाँ बीनते देखा जाता है। जब उस ढेर में आग लगती है, तो तालियाँ बजाने और हुल्लड़ मचाने वालों की भी कमी नहीं रहती। कठिनाई तब पड़ती है, जब छप्पर छाने की आवश्यकता पड़ती है। बुलाने पर भी पड़ौसी तक आना-कानी और बहानेबाजी करते देखे गये हैं। तब काम अपने बलबूते ही आरम्भ करना पड़ता है। कवि टैगोर ने ठीक ही कहा था कि यदि सत्प्रयोजन की दिशा में कुछ करना सँजोना हो तो-'एकला चलो रे' की नीति अपनानी और तदनुरूप साहसिकता जुटानी चाहिए। गीताकार के परामर्शानुसार, सारा संसार जब मोह निद्रा में लम्बी तान कर सो रहा हो, तब भी योगी को प्रचलन के विपरीत जागते रहने की, जन-सुरक्षा की हिम्मत जुटानी चाहिए।

निविड़ अन्धकार से निपटने के लिए जब माचिस की एक तीली अपने को जलाने का साहस सँजोकर प्रकट होती है, तो दीपक उस तीली के बुझने से पहले ही अपने को ज्योतिर्मय कर लेते हैं। इतना ही नहीं, दीवाली जैसे विशेष पर्वों पर प्रज्वलित दीपकों की विशालकाय-वाहिनी तक स्थान-स्थान पर जगमगाती दृष्टिगोचर होती है। अकेले चल पड़ने वालों का उपहास और विरोध आरम्भ में ही होता है, पर जब स्पष्ट हो जाता है कि उच्चस्तरीय लक्ष्य की दिशा में कोई चल ही पड़ा, तो उसके साथी-सहयोगी भी क्रमशः मिलते और बढ़ते चले जाते हैं।

निष्ठा भरे पुरुषार्थ में अद्‌भुत आकर्षण होता है। उसका प्रभाव भले-बुरे दोनों तरह के प्रयोगों में दिखाई देता है। जब चोर, उचक्के, लबार-लफंगे, दुराचारी, व्यभिचारी, नशेबाज, धोखेबाज मिल-जुलकर अपने-अपने सशक्त गिरोह बना लेते है, तो कोई कारण नहीं कि सृजन-संकल्प के धनी, प्रामाणिक और प्रतिभाशालियों को अन्त तक एकाकी ही बना रहना पड़े। भगीरथ ने लोक मंगल के लिए सुरसुरि को पृथ्वी पर बुलाया, तो ब्रह्मा-विष्णु ने गंगा को प्रेरित करके भेजा। धारण करने के लिए शिव जी तत्काल तैयार हो गये थे। नव सृजन में संलग्न व्यक्तियों की कोई सहायता न करे, यह हो ही नहीं सकता। जब हनुमान, अंगद, नल-नील जैसे रीछ-वानर मिलकर राम को जिताने का श्रेय ले सकते हैं, तो कोई कारण नहीं कि नव सृजन के कार्य क्षेत्र में जुझारू योद्धाओं की सहायता के लिए अदृश्य सत्ता, दृश्य घटनाक्रमों के रूप में सहायता करने के लिए दौड़ती चली न आये?

विपन्नताएँ इन दिनों सुरसा जैसा मुँह बनाये खड़ी दीखती हैं। आतंक रावण स्तर का है। प्रचलनों के चक्रवात, भँवर, अन्धड़, तूफान अपनी विनाश-क्षमता का नग्न प्रदर्शन करने में कोई कसर रहने नहीं दे रहे हैं। वासना, तृष्णा और अहंता का उन्माद महामारी की तरह जन-जन को भ्रमित और संत्रस्त कर रहा है। नीति को पीछे धकेल कर अनीति ने उसके स्थान पर कब्जा जमा लिया है। यह विपन्नता संसारव्यापी समूचे जन-समुदाय पर अपने-अपने आकार-प्रकार में बुरी तरह आच्छादित हो रही है। ऐसी स्थिति में ६०० करोड़ मनुष्यों का विचार परिष्कार (ब्रेन वाशिंग) कैसे संभव हो? गलत प्रचलनों की दिशाधारा उलट देने का सुयोग किस प्रकार मिले? जब अपना छोटा सा घर-परिवार सँभाल नहीं पाते, तो नया इन्सान बनाने, नया संसार बसाने और नया भगवान बुलाने जैसी असंभव दीख पड़ने वाली सृजन प्रक्रिया को विजय श्री वरण करने की सफलता कैसे मिले?

निःसंदेह कठिनाई बड़ी है और उसे पार करना भी दुरूह है। पर हमें उस परम सत्ता के सहयोग पर विश्वास करना चाहिए, जो इस समूची सृष्टि को उगाने, उभारने,

बदलने जैसे क्रिया-कलापों को ही अपना मनोविनोद मानता और उसी मे निरन्तर, निरत रहता है। मनुष्य के लिए छोटे काम भी कठिन हो सकते है; पर भगवान की छत्र-छाया मे रहते कोई भी काम असभव नहीं कहा जा सकता। विपम वेलाओ मे अपनी विशेप भूमिका निभाने के लिए तो ''सभवामि युगे-युगे'' के संबंध मे वह वचनवद्ध भी है । फिर इन दिनों समस्त संसार पर छाई हुई विपन्नता की वेला में उसके परिवर्तन प्रयास गतिशील क्यो न होंगे ? जराजीर्ण मरणासन्न में नवजात जैसा परिवर्तन-प्रत्यावर्तन करते रहना जिसका प्रिय विनोद है, उसे इस अंधेरे को उजाले में बदल देने जैसा प्रभात पर्व लाने में क्यों कुछ कठिनाई होगी ?

युग परिवर्तन मे दृश्यमान भूमिका तो प्रामाणिक प्रतिभाओं की ही रहेगी, पर उसके पीछे अदृश्य सत्ता का असाधारण योगदान रहेगा । कठपुतलियो के दृश्यमान अभिनय के पीछे भी तो वाजीगर की उँगलियों से बँधे हुए तार ही प्रधान भूमिका निभाते है । सर्वव्यापी सत्ता निराकार है, पर घटनाक्रम तो दृश्यमान शरीरों द्वारा ही बन पड़ते हैं। देवदूतों में ऐसा ही उभयपक्षीय समन्वय होता है। शरीर तो मनुष्यो के ही काम करते है, पर उन श्रेयाधिकारियों का पथ-प्रदर्शन, अनुदानों का अभिवर्पण उसी महान सत्ता द्वारा होता है, उपनिपद् जिसे 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' कहकर उसका परिचय देने का प्रयास करते है।

हवाई जहाज के लिए उपयुक्त हवाई पट्टियाँ पहले से ही विनिर्मित करनी होती हैं । शासनाध्यक्षों के लिए साफ-सुथरे, सुरक्षित और उपयुक्त स्थान की पहले से ही व्यवस्था करनी पड़ती है । जिस महान प्रयोजन मे इन दिनों परमेश्वर की महती भूमिका सम्पन्न होने जा रही है, उसका श्रेय तो उन जागरूकों, आदर्शवादियो और प्रतिभा-सम्पन्नो को ही मिलेगा, जिनने अपने व्यक्तित्व को परम सत्ता के साथ जुड़ सकने जैसी स्थिति का विनिर्मित कर लिया है। इसी आवश्यकता की पूर्ति को कोई चाहे तो युग-साधना भी कह सकता है ।

शरीर और उनकी शक्तियों के भले-बुरे पराक्रम, आये दिन देखने को मिलते रहते हैं । समर्थता, कुशलता और सम्पन्नता की जय-जयकारें होती हैं; पर साथ ही यह भी मानना ही पड़ेगा, कि इन्हीं तीन क्षेत्रों में फैली अराजकता ने वे संकट खड़े किये हैं, जिनसे किसी प्रकार उबरने के लिए व्यक्ति और समाज छटपटा रहा है ।

इन तीनो से ऊपर उठकर एक चौथी शक्ति है- भाव संवेदना । यही दैवी अनुदान के रूप में जब मनुष्य की स्वच्छ अन्तरात्मा पर उतरती है, तो उसे निहाल बना कर रख देती है । जब यह अन्तःकरण के साथ जुड़ती है, तो उसे देवदूत स्तर का बना देती है। वह भौतिक आकर्षणो प्रलोभनों एवं दबावों से स्वयं को बचा लेने की भी पूरी-पूरी क्षमता रखता है । इस एक के आधार पर ही साधक में अनेकानेक दैवी तत्व भरते चले जाते हैं ।

युग परिवर्तन के आधार को यदि एक शब्द में व्यक्त करना हो, तो इतना कहने भर से भी काम चल सकता है, कि अगले दिनों निष्ठर स्वार्थपरता को निरस्त करके, उसके स्थान पर उदार भावँ संवेदनाओं को अन्तःकरण की गहराई में प्रतिष्ठित करने की, उभारने की, खोद निकालने की अथवा बाहर से सराबोर कर देने की आवश्यकता पड़ेगी ।

संवेदना का सरोवर सूखने न दें

संग्रह और उपभोग की ललक—व्याकुलता इन दिनो ऐसे उन्माद के रूप में लोकमानस पर छाई हुई है कि उसके कारण धन ही स्वार्थ-सिद्धि का आधार प्रतीत होता है । ऐसी दशा मे यदि उलटा मार्ग अपनाने का निर्णय करते बन पड़े, तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?

मानवी दिव्य चेतना के लिए इस प्रचलन को अपनाना सर्वथा अवांछनीय है । ऐसा कुछ तो कृमि-कीटक और पशु-पक्षी भी नहीं करते । वे शरीरचर्या के लिए आवश्यक सामग्री प्राप्त करने के उपरान्त, प्रकृति के सुझाये उन कार्यों में लग जाते है, जिसमें उनका स्वार्थ भले ही न सधता हो; पर विश्व-व्यवस्था के सुनियोजन में कुछ तो योगदान मिलता ही है । संग्रह किसी को भी अभीष्ट नहीं, उपभोग में अति कोई नहीं बरतता । सिंह, व्याघ्र तक जब भरे पेट होते है, तो समीप में ही चरने वाले छोटे जानवरो के साथ भी छेड़खानी नहीं करते ।

मनुष्य का दर्जा ऊँचा इसलिए नहीं है कि वह अपनी विशिष्टता को साधनों के संग्रह एवं उपभोग की आतुरता पर विसर्जित करता रहे। उसके लिए कुछ बड़े कर्तव्य निर्धारित हैं । उसे संयम-साधना द्वारा ऐसा आत्म परिष्कार करना होता है, जिसके आधार पर विश्व-उद्यान का माली बनकर वह सर्वत्र शोभा-सुषमा का वातावरण विनिर्मित कर सके । जब सभी प्राणी अपनी प्रकृति के अनुरूप अपनी गतिविधियाँ अपनाते हैं, तो मनुष्य के लिए ऐसी क्या विवशता आ पड़ी है, जिसके कारण उसे अनावश्यक संग्रह और उच्छंखल उपभोग के लिए आकुल-व्याकुल होकर पग-पग पर अनर्थ सम्पादित करते फिरना पड़े ।

गहरी डुबकी लगाने पर इस उलटी रीति का निमित्त कारण भी समझ में आ जाता है। भाव-संवेदनाओं का स्रोत सूख जाने पर सूखे तालाब जैसी शुष्कता ही शेष बचती है। इसे चेतना क्षेत्र की निष्ठुरता या नीरसता भी कह सकते हैं। इस प्रकार उत्पन्न संकीर्ण-स्वार्थपरता के कारण, मात्र अपना ही वैभव और उपभोग सब कुछ प्रतीत होता है। उससे आगे भी कुछ हो सकता है, यह सूझता ही नहीं। दूसरों की सेवा-सहायता करने में भी आत्म-संतोष और लोक सम्मान जैसी उपलब्धियाँ संग्रहीत हो सकती हैं, इसका अनुमान लगाना-आभास पाना तक कठिन हो जाता है। आँख खराब हो जाने पर, दिन में भी मात्र अंधकार ही दीख पड़ता है। कान के पर्दे जवाब दे जायें, तो कहीं से कोई आवाज आती सुनाई ही नहीं पड़ती। ऐसी ही स्थिति उनकी बन पड़ती है, जिनके लिए अनर्थ स्तर की स्वार्थपूर्ति ही सब कुछ बन कर रह जाती है।

शरीर से चेतना निकल जाने पर मात्र लाश ही पड़ी रह जाती है, जिसे ठिकाने न लगाया जाय, तो स्वयं सड़ने लगेगी, घिनौना वातावरण उत्पन्न करेगी। जब तक कि शरीर में चेतना विद्यमान थी, वह जीवित शरीर को समर्थ एवं सुन्दर बनाये हुए थी। निर्जीव तो नीरस और निष्ठुर हो ही सकता है। मुर्दा तो समीप बैठे आश्रितों या स्वजनों का विलाप भी नहीं सुनता, उस पर कुछ ध्यान भी नहीं देता। मानो उन सबसे उसका कभी दूर का संबन्ध भी न रहा हो। भाव संवेदनाओं का स्रोत सूख जाने पर मनुष्य भी ऐसा ही घिनौना हो जाता है। अपना हित-अनहित तक उसे नहीं सूझता, तो दूसरों की सेवा-सहायता करने की उत्कंठा उठने का तो प्रश्न ही कहाँ उठता है?

जीवितों और मृतकों की अलग-अलग दुनियाँ हैं। मुर्दे श्मशान, कब्रिस्तान में जगह घेर कर जा बैठते हैं और उधर से निकलने वालों को भूत-प्रेतों की तरह डराते-भगाते रहते है। जीवितों में से भला कोई ऐसी हरकत करता है? उन्हें तो आवश्यक प्रयासों में ही निरत देखा जाता है। इन दिनों संवेदनाहीनों को प्रेतों जैसी और संवेदनशीलों को जीवितों जैसी गतिविधियाँ अपनाये हुए प्रत्यक्ष देखा जा सकता है।

करुणा उभरे बिना दूसरों की स्थिति और आवश्यकता का भान ही नहीं होता। इस अभाव की स्थिति में लकड़ी चीरना और किसी निरपराध की बोटी-बोटी नोच लेना प्रायः एक जैसा ही लगता है। किसी के साथ अन्याय बरतने में, सताने-शोषण करने में कुछ भी अनुचित प्रतीत नहीं होता। भावना के अभाव में मनुष्य का अंतराल चट्टान की तरह नीरस-निष्ठुर हो जाता है। संवेदना-शून्यों को नर-पशु भी तो नहीं कहा जा सकता; क्योंकि पशुओं की भी अपनी मर्यादाएँ होती हैं, जो प्रकृति-अनुशासन के विपरीत एक कदम भी नहीं उठाते; भले ही मनुष्य की तुलना में उन्हें असमर्थ-अविकसित माना जाता रहे।

लगता है भाव-श्रद्धाविहीनों के लिए नर-पिशाच, ब्रह्म-राक्षस, मृत्युदूत, दुर्दान्त दैत्य जैसे नामों में से ही किसी का चयन करना पड़ेगा; क्योंकि उन्हीं की आपा-धापी उस स्तर तक पहुँचती है, जिसमें दूसरों के विकास-विनाश से-उत्पीड़न एवं अभिवर्धन से कोई वास्ता नहीं रहता। उनके लिए "स्व" ही सब कुछ बनकर रह जाता है। बस चले तो वे हिरण्याक्ष दैत्य की तरह, दुनियाँ की समूची सम्पदा समेट कर ले उड़ें; भले ही उसे समुद्र में छिपाकर निरर्थक बनाना पड़े। जिनके लिए सभी वीराने हैं, वे किसी का कुछ भी-अनर्थ कर सकते हैं। ऐसा ही पिछले दिनों होता भी रहा है। स्वार्थान्धों से इतना भी सोचते न बन पड़ा कि इस सृष्टि में दूसरे भी रहते है और उन्हें भी जीवित रहने दिया जाना चाहिए। सब कुछ अपने लिए समेट लेने, हड़प जाने को ही अपनी विशिष्टता का फलितार्थ नहीं मान बैठना चाहिए।

प्रस्तुत समस्याएँ अगणित हैं। उलझनों, संकटों, विग्रहों का कोई अन्त नहीं। यह सब कहाँ से उत्पन्न होते है और क्यों कर निपट सकते हैं? इसकी विवेचना करने पर इसी एक निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि मात्र अपने आप तक, गिने-चुने अपनों तक सीमित रहने वाला किन्हीं अन्यों की चिन्ता नहीं कर सकता और न उदार न्यायनिष्ठा का ही परिचय दे सकता है। ऐसी दशा में अनाचार के अतिरिक्त और कुछ बन ही न पड़ेगा और उसका प्रतिफल अनेकानेक विग्रहों के रूप में ही आकर रहेगा, यही दुष्प्रवृत्ति जब बहुसंख्यक लोगों द्वारा अपनायी जाती है तो उसका परिणाम वातावरण को विक्षुब्ध किये बिना नहीं रहता।

संवेदना आत्मीयता के रूप में विकसित होती है, तब मनुष्य दूसरों के दुःख को अपना दुःख और अन्यो के सुख को अपना सुख मानने लगता है। सहानुभूति के रहते ऐसा व्यवहार करना संभव नहीं होता है, जिनसे किसी के अधिकारों का अपहरण होता हो, अथवा किसी को शोषण का शिकार बनना पड़ता हो। जब प्रचलन इसी प्रकार का रहेगा, तो न दुर्व्यवहार ही बन पड़ेगा और न किन्हीं को अकारण त्रास सहना पड़ेगा।

आमतौर से अपना, अपनों का हित-साधन को अभीष्ट रहता है। यदि यह आत्मभाव सुविस्तृत होता चला जाय, जन-समुदाय को अपने अचल मे लपेट ले, अन्य प्राणियों को भी अपने कुटुम्बी जैसा माने, अपने जैसा समझे, फिर वैसा ही सोचते-करते बन पड़ेगा, जिससे सुख-शान्ति का पथ-प्रशस्त होता हो। मात्र आतुरता और निष्ठुरता ही ऐसी दुष्प्रवृत्ति है, जो अनाचार के लिए उकसाती हैं और उसके फलस्वरूप अगणित संकटों का परिकर विनिर्मित करती है। यदि भाव-संवेदना जीवन्त और सक्रिय बनी रहे, तो सृजन और सहयोग के आधार पर उत्थान और कल्याण का सुयोग ही सर्वत्र बन पड़ेगा।

समस्याओं की गहराई में उतरें

इन दिनों की सबसे बड़ी तात्कालिक समस्या यह है कि समाज परिकर में छाई विपन्नताओं से किस प्रकार छुटकारा पाया जाय और उज्ज्वल भविष्य की संरचना के लिए क्या किया जाय, जिससे निरापद और सुविकसित जीवन जी सकना संभव हो सके ?

समाज विज्ञानियों द्वारा प्रस्तुत कठिनाइयो का कारण अभावग्रस्तता को मान लिया गया है। इसी मान्यता के आधार पर यह सोचा जा रहा है कि साधन-सुविधाओं वाली सम्पन्नता की अधिकाधिक वृद्धि की जाय, जिससे अभीष्ट सुख-साधन उपलब्ध होने पर प्रसन्नतापूर्वक रहा जा सके। मोटे तौर पर अशिक्षा, दरिद्रता एवं अस्वस्थता को प्रमुख कारणो में गिना जाता है और इनके निवारण के लिए कुछ नये नीति-निर्धारण का औचित्य भी है; पर देखना यह है कि वस्तुस्थिति समझे बिना वास्तविक व्यवधानों की तह तक पहुँचे बिना जो प्रबल प्रयत्न किये जा रहे है या किये जाने वाले हैं वे कारगर हो भी सकेंगे या नही ?

दरिद्रता को ही लें। मनुष्य की शारीरिक, मानसिक समर्थता इतनी अधिक है कि उसके सहारे अपना ही नहीं, परिकर के अनेकों का भली प्रकार गुजारा किया जा सके; और बचत को सामयिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकने वाले पुण्य परमार्थ में भी लगाया जा सके। प्रगतिशील जनो में से असंख्यो ऐसे है, जिनके पास न तो कोई पैतृक सम्पदा थी और न बाहर वालों की ही कोई कहने लायक सहायता मिली; फिर भी वे अपने मनोबल और पुरुषार्थ के आधार पर आगे बढ़ते और ऊँचे उठते चले गये; सफलता के उस उच्च शिखर पर जा पहुँचे, जो जादुई जैसा लगता है।

वस्तुतः उन सफलताओं के पीछे एक ही रहस्य काम कर रहा होता है कि उनने अपनी उपलब्धियों का सुनियोजन किया और बिना भटके, नियत उपक्रम अपनाये रहे। जन सहयोग भी उन्हीं के पीछे लग लेता है, जिनमें सद्‌गुणों का, सत्प्रवृत्तियों का बाहुल्य होता है। इसी विधा का अनुकरण करने के लिए यदि तथाकथित दरिद्रों को भी सहमत किया जा सके, तो वे आलस्य-प्रमाद की, दीनता-हीनता की केंचुल उतारकर, अभीष्ट दिशा में अपने बल-बूते ही इतना कुछ कर सकते हैं, जिसे सराहा और संतोषप्रद माना जा सके।

इसके विपरीत यदि बाहरी अनुदानों पर भी निर्भर रहा जाय, तो जो मिलता रहेगा, वह फूटे घड़े में पानी भरते जाने की तरह व्यर्थ रहेगा और कुछ पल्ले पड़ेगा नहीं। दुर्व्यसनों के रहते, आसमान से बरसने वाली कुबेर की संपदा भी, अनगढ़ व्यक्तित्वों के पास ठहर न सकेगी। अनुदानों का वाञ्छित लाभ न मिल सकेगा।

अशिक्षा का कारण यह नहीं है कि पुस्तकें, कापियाँ, कलमें मिलना बन्द हो गई हैं, या इतनी निष्ठुरता भर गई है कि पूछने पर कुछ बता देने के लिए कोई तैयार नहीं होता, वरन् वास्तविक कारण यह है कि शिक्षा का महत्व ही अपनी समझ में नहीं आता और उसके लिए उत्साह ही नहीं उमँगता। पिछड़े क्षेत्रों मे खोले गये स्कूल प्रायः छात्रों के अभाव मे खाली पडे रहते हैंऔर नियुक्त अध्यापक रजिस्टरों में झूठी हाजिरी लगाकर, खाली हाथों वापिस लौट जाते हैं। यदि उत्साह उमँगे, तो जेल में लोहे के तसले को पट्टी और कंकड़ को कलम बनाकर विद्वान बन जाने वालों का उदाहरण हर किसी के लिए वैसा ही चमत्कार प्रस्तुत कर सकता है। उत्कंठा की मनः स्थिति रहते, सहायकों की सहायता की कमी भी रहने वाली नहीं है।

समर्थता, व्यायाम शालाओं में या टॉनिक बेचने वालों की दुकानों में नहीं पायी जा सकती। उसके लिए संयम, साधना और सुनियोजित दिनचर्या अपनाने से ही अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है। दूसरों का रक्त अपने शरीर मे प्रवेश करा लेने पर भी उस उपलब्धि का अन्त थोड़े ही समय में हो जाता है। अपने निजी रक्त उत्पादन के सुव्यवस्थित हो जाने पर ही काम चलता है।

अधिक उत्पादन, अधिक वितरण के लिए किये गये बाहरी प्रयास तब तक सफल न हो सकेंगे, जब तक कि मनुष्य का विश्वास ऊँचे स्तर तक उभारा न जाय। मूल यही

होती रहती है कि मनुष्य को दीन-दुर्बल, असहाय असमर्थ मान लिया जाता है और उसकी अनगढ़ आदतों को सुधारने की अपेक्षा, अधिक साधन उपलब्ध कराने की योजनाएं बनती और चलती रहती है । लम्बा समय बीत जाने पर भी जब स्थिति यथावत् बनी रहती है, तब प्रतीत होता है कि कहीं कोई मौलिक भूल हो रही है।

एक भ्रम यह भी जनसाधारण पर हावी हो गया है कि सम्पदा के आधार पर ही प्रगति हो सकती है। यह भ्रम इसलिए भी पनपता और बढ़ता गया है, कि धनियों को ठाट-बाट से रहते गुलछर्रे उड़ाते देखकर यह अनुमान लगा लिया जाता है, कि वह सुखी और समुन्नत भी हैं । पर लबादा उतार कर जब इस वर्ग को नंगा किया जाता है, तो पता चलता है कि उसके भीतर एक अस्थि-पंजर ही किसी प्रकार सांसे चला रहा है। प्रसन्नता के नाम पर उन्हें चिन्ताएँ ही खाये जा रही हैं । ईर्ष्या, आशंका से लेकर अपने एवं अपनों के दुर्गुण-दुर्व्यसन स्थिति को पूरी तरह उलट कर रख दे रहे हैं । यह स्थिति उन्हें औसत नागरिक की तुलना में कहीं अधिक उद्विग्न, रूग्ण और चिन्तित बनाये रहती है । जीवन के आनन्द का बुरी तरह अपहरण कर लेती है।

मुड़कर देखने पर प्रतीत होता है कि जब तथाकथित शिक्षा का, सम्पदा का, विज्ञान स्तर की चतुरता का इतना अधिक विकास नहीं हुआ था, तब मनुष्य अपेक्षाकृत अधिक स्वस्थ, सुखी, संतुष्ट और हिल-मिलकर मोद मनाने की स्थिति में था । बढ़ी हुई समृद्धि ने तो वह सब भी छीन लिया, जिसे मनुष्य ने लाखों वर्षों के अध्यवसाय के सहारे, सभ्यता और सुसंस्कारिता के उच्च स्तरीय संयोग से दूरदर्शिता के साथ अर्जित किया था ।

यहाँ सुविधा-साधनों को दुर्गति का कारण नहीं बताया जा रहा है; वरन् यह कहा जा रहा है कि यदि उनका सदुपयोग बन पड़ा होता, तो स्थिति उस समय की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छी होती, जिस समय साधन कम थे । तब विकसित भाव-चेतना के आधार पर स्वल्प उपलब्धियों का भी श्रेष्ठतम उपयोग कर लिया जाता था और अपने साथ समूचे समुदाय को, वातावरण को, सच्चे अर्थों में समृद्ध-समुन्नत बनाये रहने में सफलता मिल जाती थी । ऐसे ही वातावरण को सतयुग कहा जाता रहा है।

तथाकथित प्रगति का विशालकाय सरंजाम जुट जाने पर भी, भयानक स्तर की अवगति का वातावरण क्यों कर बन गया ? इसका उत्तर यदि गंभीरता से सोचा जाय, तो तथ्य एक ही हाथ लगेगा कि बुद्धि-भ्रम ने ही यह अनर्थ सँजोए है । फिर क्या बुद्धि को कोसा जाय ? नहीं, उसका निर्धारण तो भाव-संवेदनाओं के आधार पर होता है। भावनाओं में नीरसता-निष्ठुरता जैसी निकृष्टताएँ घुल जायँ, तो फिर तेजाबी तालाब में जो कुछ गिरेगा, देखते-देखते अपनी स्वतंत्र सत्ता को उसी में जला-घुला देगा । भाव-संवेदना में विषाक्तता का घुल जाना, उस क्षेत्र में विकृतियों का जखीरा जम जाना ही एकमात्र ऐसा कारण है, जिसके रहते समृद्धि और चतुरता का विकास-विस्तार होते हुए भी, उलटी सर्वतोमुखी विपन्नता ही हाथ लग रही है । सुधार तलहटी का करना पड़ेगा । सड़ी कीचड़ के ऊपर तैरने वाला पानी भी अपेय होता है । दुर्भावनाओं के रहते दुर्बुद्धि ही पनपेगी और उसके आधार पर दुर्गति के अतिरिक्त और कुछ हाथ लगेगा नहीं ।

समग्र समाधान मनुष्य पर देवत्व के अवतरण से

पदार्थ-सम्पदा की उपयोगिता और महत्ता कितनी ही बढ़ी-चढ़ी क्यों न हो, पर यदि उसका दुरुपयोग चल पड़े, तो अमृत भी विष बनकर रहता है। कलम बनाने के काम आने वाला चाकू किसी के प्राण-हरण का निमित्त कारण भी बन सकता है। बलिष्ठता, सम्पदा, शिक्षा के सम्बन्ध में भी यही बात है। उनके सत्परिणाम तभी देखे जा सकते हैं, जब सदुपयोग कर सकने वाली सद्बुद्धि सक्रिय हो । यहाँ इतना और भी समझ लेना चाहिए, कि नीति-निष्ठा और समाज-निष्ठा का अवलम्बन लेना भी पर्याप्त नहीं है, उसमें भाव-संवेदनाओं का पावन-प्रवाह ही भले-बुरे लगने वाले ज्वार-भाटे लाता रहा है।

मस्तिष्क आमतौर से सभी के सही होते हैं । पागलों और सनकियों की संख्या तो सीमित ही होती है। फिर अच्छे खासे मस्तिष्क, आदर्शवादी उत्कृष्टता क्यों नहीं अपनाते ? उन्हें अनर्थ ही क्यों सूझता रहता है? उनसे सुविधा, प्रसन्नता और प्रगति जैसा कुछ बन पड़ना तो दूर, उलटे संकटों, विपन्नताओं, विभीषिकाओं का ही सृजन होता रहा है । इस तथ्य का पता लगाने के लिए हमें भाव-संवेदनाओं की गहराई में उतरना होगा । यह तथ्य समझना होगा कि अन्तःकरण में श्रद्धा, संवेदना की शीतलता, सरसता भरी रहने पर ही सदाशयता का वातावरण बनता है । मानसिकता तो उस चेरी की तरह है, जो अन्तः श्रद्धा रूपी रानी की सेवा में हर घड़ी हुक्म बजाने के लिए खड़ी रहती है ।

स्पष्ट है कि देव-मानवों में से प्रत्येक को अपनी सुविधाओं, मनचली इच्छाओं पर अंकुश लगाना पड़ा है और उससे हुई बचत को उत्कृष्टताओं के समुच्चय समझे जाने वाले भगवान के चरणों पर अर्पित करना पड़ा है। लोक मंगल के लिए, आत्म परिष्कार के लिए अपनी क्षमता का कण-कण समर्पित करना पड़ा है। इसी मूल्य को चुकाने पर किसी को दैवी अनुग्रह और उसके आधार पर विकसित होने वाला उच्चस्तरीय व्यक्तित्व उपलब्ध होता है। महानता इसी स्थिति को कहते हैं। इसी वरिष्ठता को चरितार्थ करने वाले देवमानव या देवदूत कहलाते हैं। उन्हीं के प्रबल-पुरुषार्थों के आधार पर शालीनता का वातावरण बनता और समस्त संसार इसी आधार पर सुन्दर-समुन्नत बन पड़ता है।

तात्त्विक दृष्टि से यह प्रगतिशीलता, कुटिलता की पक्षधर बुद्धिवादी मानसिकता को तनिक भी नहीं सुहाती। इसमें उसे प्रत्यक्षतः घाटा ही घाटा दीखता है। अपना और दूसरों का जो कुछ भी उपलब्ध हो, उस सब को हड़प जाना या बखेर देना ही उस भौतिक दृष्टि का एक मात्र निर्धारण है, जो जनमानस पर प्रमुखतापूर्वक छाई हुई है। संकीर्ण स्वार्थपरता, स्वच्छन्द उपयोग की ललक उभारती है। उसी की प्रेरणा से वह निष्ठुरता पनपती है, जो मात्र हड़पने की ही शिक्षा देती है, जिसके लिए भले ही किसी भी स्तर का अनाचार बरतना पड़े। निष्ठुरता इसी स्थिति की देन है। वही है जो अनावश्यक संचय और अवांछनीय उपभोग के लिए हर समय उकसाती उत्तेजित करती रहती है। यही है वह मानसिकता जिसकी छाप जहाँ भी पड़ी है, वहीं चित्र-विचित्र संकट एवं विग्रह उत्पन्न होते चले गये हैं। इसी मानसिकता को दूसरे शब्दों में कुटिलता, नास्तिकता, अथवा शालीनता को पूरी तरह समाप्त कर देने में समर्थ ओले की वर्षा के समतुल्य भी समझा जा सकता है।

प्रदूषण, विकिरण, युद्धोन्माद, दरिद्रता, पिछड़ापन, अपराधों का आधार ढूँढने पर एक ही निष्कर्ष निकलता है कि उपलब्धियों को दानवी स्वार्थपरता के लिए नियोजित किये जाने पर ही यह संकट उत्पन्न हुए हैं। शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को चौपट करने में असंयम और दुर्व्यसन ही प्रधान कारण हैं। मनुष्यों के मध्य चलने वाले छल, छद्म, प्रपंच एवं विश्वासघात के पीछे भी यही मानसिकता काम करती है। इनमें जिन अवांछनीयता का आभास मिलता है, वस्तुतः ये सब विकृत मानसिकता की ही देन है।

दोष न तो विज्ञान का है और न बुद्धिवाद का। बढ़ी-चढ़ी उपलब्धियों को भी वर्तमान अनर्थ के लिए दोषी नहीं ठहराया जा सकता। यदि विकसित बुद्धिवाद का, विज्ञान का, वैभव का, कौशल का उपयोग सदाशयता के आधार पर बन पड़ा होता, तो खाई-खंदकों के स्थान पर समुद्र के मध्य प्रकाश स्तंभ बनकर खड़ी रहने वाली मीनार बनकर खड़ी हो गई होती। कुछ वरिष्ठ कहलाने वाले यदि उपलब्धियों का लाभ कुछ सीमित लोगों को ही देने पर आमादा न हुए होते, तो यह प्रगति जन-जन के सुख-सौभाग्य में अनेक गुनी बढ़ोत्तरी कर रही होती। हँसता-हँसाता, खिलता-खिलाता जीवन जी सकने की सुविधा हर किसी को मिल गई होती। पर उस विडम्बना को क्या कहा जाय, जिसमें विकसित मानवी कौशल ने उन दुरभिसंधियों के साथ ताल-मेल बिठा लिया, जो गिरों को गिराने और समर्थों को सर्वसम्पन्न बनाने के लिए ही उतारू हो।

विकृतियाँ दीखती भर ऊपर हैं, पर उनकी जड़ अन्तराल की कुसंस्कारिता के साथ जुड़ी रहती हैं। यदि उस क्षेत्र को सुधारा, सँभाला, उभारा जा सके, तो समझना चाहिए कि चिन्तन, चरित्र और व्यवहार बदला और साथ ही उच्चस्तरीय परिवर्तन भी सुनिश्चित हो गया।

भगवान असंख्य ऋद्धि-सिद्धियों का भण्डागार है। उसमें संकटों के निवारण और अवांछनीयताओं के निराकरण की भी समग्र शक्ति है। वह मनुष्य के साथ संबन्ध घनिष्ठ करने के लिए भी उसी प्रकार लालायित रहता है, जैसे माता अपने बालक को गोदी में उठाने, छाती से लगाने के लिए लालायित रहती है। मनुष्य ही है, जो वासना-तृष्णा के खिलौने से खेलता भर रहता है और उस दुलार की ओर से मुँह मोड़े रहता है, जिसे पाकर वह सच्चे अर्थों में कृत-कृत्य हो सकता था। उसे समीप तक बुलाने और उसका अतिरिक्त उत्तराधिकार पाने के लिए यह आवश्यक है कि उसके बैठने के लिए साफ-सुथरा स्थान पहले से ही निर्धारित कर लिया जाय। यह स्थान अपना अन्तःकरण ही हो सकता है।

अन्तःकरण की श्रद्धा और दिव्य चेतना के संयोग की उपलब्धि दिव्य संवेदना कहलाती है, जो नये सिरे से, नये उल्लास के साथ उभरती है। यही उसकी यथार्थता वाली पहचान है, अथवा मान्यता तो प्रतिभाओं में भी आरोपित की जा सकती है। तस्वीर देख कर भी प्रियजन का स्मरण किया जा सकता है; पर वास्तविक मिलन इतना उल्लास भरा

होता है कि उसकी अनुभूति अमृत निर्झरणी उभरने जैसी होती है । इसका अवगाहन करते ही मनुष्य कायाकल्प जैसी देवोपम स्थिति में जा पहुँचता है । उससे हर किसी में अपना आपा हिलोरें लेता दीख पड़ता है और समग्र लोक चेतना अपने भीतर घनीभूत हो जाती है । ऐसी स्थिति में परमार्थ ही सच्चा स्वार्थ बन जाता है । दूसरों की सुविधा अपनी प्रसन्नता प्रतीत होती है और अपनी प्रसन्नता का केन्द्र दूसरों की सेवा-सहायता में घनीभूत हो जाता है । ऐसा व्यक्ति अपने चिन्तन और क्रिया-कलापों को लोक-कल्याण में, सत्प्रवृत्ति संवर्धन में ही नियोजित कर सकता है। व्यक्ति के ऊपर भगवत सत्ता उतरे, तो उसे मनुष्य में देवत्व के उदय के रूप में देखा जा सकता है । यदि यह अवतरण व्यापक हो, तो धरती पर स्वर्ग के अवतरण की परिस्थितियाँ ही सर्वत्र बिखरी दृष्टिगोचर होंगी ।

बस एक ही विकल्प-भाव संवेदना

काँच को हथौड़े से तोड़ा जाय, तो वह छर-छर होकर बिखर तो सकता है, पर सही जगह से इच्छित स्तर के टुकड़ों में विभाजित न हो सकेगा । चट्टानों में छेद करना हो, तो सिर्फ हीरे की नोक वाला बरमा ही काम आता है। पहाड़ में सुरंगे निकालने के लिए डायनामाइट की जरूरत पड़ती है। कुदालों से खोदते-तोड़ते रहने पर तो सफलता संदिग्ध ही बनी रहेगी ।

वर्तमान में संव्याप्त असंख्यों अवांछनीयताओं से जूझने में प्रचलित उपाय पर्याप्त नहीं है । दरिद्रता को सभी संकटो की एक मात्र जड़ बताने से तो बात नहीं बनती । समाधान तो तब हो, जब सर्वसाधारण को मनचाही संपदाओं से सराबोर कर देने का कोई सीधा मार्ग बन सके। यह तो संभव नहीं दीखता । इसी प्रकार यह भी दुष्कर प्रतीत होता है कि उच्च शिक्षित-चतुर कहलाने वाला व्यक्ति अपनी विशिष्टताओं का दुरुपयोग न करेगा और उपार्जित योग्यता का लाभ सर्वसाधारण तक पहुँचा सकेगा । प्रपंचों से भरी-पूरी गतिविधियाँ अपनाकर जन-साधारण के लिए अनेकों कठिनाइयाँ खड़ी न करेगा । संपदा के द्वारा मिलने वाली सुविधाओं से कोई इनकार नहीं कर सकता; पर यह विश्वास कर सकना कठिन है कि जो पाया गया, उसका सदुपयोग ही बन पड़ेगा । उसके कारण दुर्व्यसनों का, आतंकवादी अनाचार का जमघट तो नहीं लग जायेगा ?

वर्तमान कठिनाइयों के निराकरण हेतु आमतौर से सम्पदा, सत्ता और प्रतिभा के सहारेही निराकरण की आशा की जाती है; इन्हीं तीनों का मुँह जोहा जाता है। इतने पर भी इनके द्वारा जो पिछले दिनों बन पड़ा है, उसका लेखा-जोखा लेने पर निराशा ही हाथ लगती है । प्रतीत होता है कि जब भी, जहाँ भी वे अतिरिक्त मात्रा में संचित होती है, वहीं एक प्रकार का उन्माद उत्पन्न कर देती है । उस अधपगलाई मनोदशा के लोग सुविधा-संवर्धन के नाम पर उद्धत आचरण करने पर उतारू हो जाते हैं और मनमानी करने लगते हैं । अपने अपनों के लाभ के लिए उनकी उपलब्धियाँ खपती रहती है । प्रदर्शन के रूप में ही यदा-कदा उनका उपयोग ऐसे कार्यो में लग पाता है, जिससे सत्प्रवृत्ति संवर्धन में कदाचित् कुछ योगदान मिल सके । वैभव भी अन्य नशों की तरह कम विक्षिप्तता उत्पन्न नहीं करता; उसकी खुमारी में अधिकाधिक उसका संचय और अपव्यय के उद्धत आचरण ही बन पड़ते हैं । ऐसी दशा में निश्चय पर पहुँचना अति कठिन हो जाता है कि उपरोक्त त्रिविध समर्थताएं यदि बढ़ाने-जुटाने को लक्ष्य मानकर चला जाय, तो प्रस्तुत विपन्नताओं से छुटकारा मिल सकेगा।

सच तो यह है कि समर्थता का जखीरा हाथ लगने पर तथाकथित बलिष्ठों ने ही घटाटोप की तरह छाये हुए संकट और विग्रह खड़े किये हैं । प्रदूषण उगलने वाले कारखाने सम्पन्न लोगों ने ही लगाये हैं । उन्हीं ने बेरोजगारी और बेकारी का अनुपात बढ़ाया है । आतंक, आक्रमण और अनाचार में संलग्न बलिष्ठ लोग ही होते हैं । युद्धोन्माद उत्पन्न करना खर्चीले माध्यमों के सहारे उन्हीं के द्वारा बन पड़ता है । प्रतिभा के धनी कहे जाने वाले वैज्ञानिकों ने ही मृत्यु किरणों जैसे आविष्कार किये हैं । कामुकता को धरती से आसमान तक उछाल देने में तथाकथित कलाकारों की ही संरचनाएं काम करती हैं । अनास्थाओं को जन्म देने का श्रेय बुद्धिवादी कहे जाने वालो के पल्ले बँधा है । नशेबाजी को घर-घर तक पहुँचाने में चतुरता के धनी लोग ही अपने स्वेच्छाचार का परिचय दे रहे हैं । इस प्रकार आँकलन करने पर प्रतीत होता है कि मूर्धन्यों, बलिष्ठों, सम्पन्न और प्रतिभाशालियो की छोटी सी चौकड़ी ने अनर्थ थोड़े समय में खड़े किये हैं ।

यहाँ साधन-सम्पन्नता की निन्दा नहीं की जा रही है और न दुर्बलता के सिर पर शालीनता का सेहरा बाँधा जा रहा है । कहा इतना भर जा रहा है कि पिछड़ेपन को हटाने-मिटाने का एक मात्र यही उपाय नहीं है ।

इस तथ्य को हजार बार समझा और लाख बार समझाया जाना चाहिए कि मनःस्थिति ही परिस्थितियों की

जन्मदात्री है। इसलिए यदि परिस्थितियों की विपन्नता को सचमुच ही सुधारना हो, तो जन-समुदाय की मनःस्थिति मे दूरदर्शी विवेकशीलता को उगाया उभारा और गहराई तक समाविष्ट किया जाय। यहाँ यह बात भी ध्यान रखने की है कि मनःक्षेत्र एवं बुद्धि संस्थान भी स्वतंत्र नहीं हैं; उन्हें भावनाओं, आकांक्षाओं, मान्यताओं के आधार पर अपनी दिशा-धारा विनिर्मित करनी होती है। उनका आदर्शवादी उत्कृष्ट स्वरूप अन्तःकरण में भावसंवेदना बनकर रहता है। यही है वह सूत्र, जिसके परिष्कृत होने पर कोई व्यक्ति ऋषिकल्प, देव मानव बन सकता है। यह एक ही तत्त्व इतना समर्थ है कि अन्यान्य असमर्थताएँ बने रहने पर भी मात्र अकेली विभूति के सहारे न केवल अपना, वरन् समूचे संसार की शालीनता का पक्षधर काया-कल्प किया जा सकता है। इक्कीसवीं सदी के साथ जुड़े उज्ज्वल भविष्य का यदि कोई सुनिश्चित आधार है, तो वह एक ही है कि जन-जन की भाव-संवेदनाओं को उत्कृष्ट, आदर्श, उदात्त बनाया जाय। इस सदाशयता की अभिवृद्धि इस स्तर तक होनी चाहिए कि सब अपने और अपने को सबका मानने की आस्था उभरती और परिपक्व होती रहे।

सम्पदा संसार में इस अनुपात में ही विनिर्मित हुई है कि उसे मिल-बाँटकर खाने की नीति अपनाकर सभी औसत नागरिक स्तर का जीवन जी सकें। साथ ही बढ़े हुए पुरुषार्थ के आधार पर जो कुछ अतिरिक्त अर्जन कर सकें, उसे पिछड़े हुओं को बढ़ाने, गिरते हुओं को उठाने एवं समुन्नतों को सत्प्रवृत्तियों के संवर्धन हेतु प्रोत्साहित कर सकें।

अनावश्यक सम्पन्नता की ललक ही बेकाबू होने पर उन अनर्थकारी संरचनाओं में प्रवृत्त होती है, जिनके कारण अनेकानेक रंग रूप वाले अनाचारों को व्यापक, विस्तृत और प्रचंड होते हुए देखा जा रहा है। लिप्साओं मे किसी प्रकार कटौती करते बन पड़े; तो ही वह जुझारूपन उभर सकता है, जो अवांछनीयताओं से गुँथे और पटकनी देकर परास्त कर सके। जिन अभावों से लोग संत्रस्त दीखते हैं, उनसे निपटने की प्रतिभा उनमें उभारी जाय; ताकि वे अपने पैरों पर खड़े होकर-दौड़कर स्पर्धा जीतते देखे जा सकें।

आर्थिक अनुदान देने की मनाही नहीं है और न यह कहा जा रहा है कि गिरों को उठाने में सहयोग देने में कोताही बरती जानी चाहिए। मात्र इतना भर सुझाया जा रहा है कि मनुष्य अपने आप में समग्र और समर्थ है। यदि उसका आत्म-विश्वास एवं पुरुषार्थ जगाया जा सके, तो इतना कुछ बन सकता है, जिसके रहते याचना का तो प्रश्न ही नहीं उठता; इतना बचा रहता है, जिसे अभावों और अव्यवस्थाओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त मात्रा में लगाया जा सके।

इक्कीसवीं सदी भाव-संवेदनाओं के उभरने-उभारने की अवधि है। हमें इस उपेक्षित क्षेत्र को ही हरा-भरा बनाने में निष्ठावान माली की भूमिका निभानी चाहिए। यह विश्व-उद्यान इसी आधार पर हरा-भरा, फला-फूला एवं सुषमा सम्पन्न बन सकेगा। आश्चर्य नहीं कि वह स्वर्ग लोक वाले नन्दन-वन की समता कर सके।

दानव का नहीं, देव का वरण करें

सृजन और विनाश की, उत्थान और पतन की शक्तियाँ इस संसार में निरन्तर अपने-अपने काम करती रहती हैं। इन्हीं को देव और दानव के नाम से जाना और उनकी प्रतिक्रियाओं को स्वर्ग नरक भी कहा जाता है। मनुष्य को यह छूट है कि दोनों में से किसी का भी वरण अपनी समझदारी के आधार पर कर लें और तदनुरूप उत्पन्न होने वाली सुख-शान्ति अथवा पतन-पराभव की प्रतिक्रिया सहन करे। उठने या गिरने का निश्चय कर लेने पर तदनुरूप सहायता-सुविधा भी इसी संसार में यत्र-तत्र बिखरी मिल जाती है, इच्छानुसार उन्हें बीना-बटोरा अथवा धकेला-भगाया भी जा सकता है। इसी विभूति के कारण मनुष्य को अपने भाग्य का निर्माता एवं भविष्य का अधिष्ठाता भी कहा जाता है। अपने या अपने समुदाय, संसार के लिए विपन्नता अथवा सम्पन्नता अर्जित कर लेना उसकी अपनी इच्छा-आकांक्षा पर निर्भर है।

आम आदत पायी जाती है कि मनुष्य सफलताओं का श्रेय स्वयं ले, किन्तु हानि या अपयश का दोषारोपण किन्हीं दूसरों पर मढ़ दे। इतने पर भी यथार्थता तो अपनी जगह पर अटल ही रहती है। यह आत्म-प्रवंचना भर कहला सकती है, पर सुधार-परिवर्तन कर सकने जैसी क्षमता उसमे है नहीं।

प्रसंग इन दिनों की परिस्थितियों के संदर्भ में उनका कारण जानना और समाधान निकालने का है। गहरी खोज-बीन इसी निष्कर्ष पर पहुँचाती है कि जनमानस ही है, जो अपने लिए इच्छित स्तर की परिस्थितियाँ न्यौत बुलाता है। कोई क्या कर सकता है, यदि हानि को लाभ और लाभ को हानि समझ बैठने की मान्यता बना ली जाय? कुरूप चेहरा दर्शाने के लिए दर्पण को आक्रोश का भाजन

बनाया जा सकता है, पर इससे चेहरे पर छायी कुरुपता या कालिख को भगाया नहीं जा सकता । अच्छा हो, हम कठिनाइयों के कारण-समाधान अपने ही भीतर ढूँढ़ें । और यदि उत्कर्ष अभीष्ट हो, तो इसकी तैयारी के रूप में आत्मसत्ता को तदनुरूप बनाने के लिए अपना पुरुषार्थ नियोजित करें ।

क्रियाएँ शरीर के माध्यम से बन पड़ती हैं । उनके सम्बन्ध में सोचने की खिचड़ी मस्तिष्क में पकती है, किन्तु इन दोनों को आवश्यक प्रेरणा देने, ऊर्जा प्रदान करने की प्रक्रिया अन्तराल की गहराई से आरंभ होती है । ज्वालामुखी फूटने, धरती हिलने जैसी घटनाओं का उद्गम स्रोत वस्तुतः भूगर्भ की गहराई में ही कहीं होता है । बादल बरसते तो अपने खेत या आँगन में ही हैं, पर वस्तुतः उनका उद्गम समुद्र से उठने वाली भाप है ।

भली-बुरी परिस्थितियों के संबंध में भी ऐसा ही सोचा जा सकता है। क्रिया करने और योजना बनाने में शरीर एवं मस्तिष्क को बहुत कुछ करते देखा जा सकता है, पर यह सारा तंत्र कहाँ से खड़ा हुआ, यह जानने की उत्कंठा हो तो अन्तःचेतना में अवस्थित आकांक्षाओं को ही सूत्रधार मानना पड़ेगा ।

विज्ञान ने प्रदूषण उगलने वाले विशालतम कारखाने बनाये सो ठीक है, पर उसके द्वारा उत्पन्न होने वाली विपन्नता और बेरोजगारी के संबन्ध में भी तो विचार किया जाना चाहिए था । यह प्रश्न उभरा न हो, सो बात नहीं, पर उस योजना को कार्यान्वित करने वालों के अन्तराल में अधिक कमाने की ललक ही प्रधान रही होगी । हानिकारक प्रतिक्रिया के विचार उठने पर उन्हें यह कह कर दुत्कार दिया गया होगा कि सर्वसाधारण से हमें क्या लेना देना ? अपने लाभ को ही सब कुछ मान लेने में ही भलाई है।

जिन्होंने साहित्य सृजा और फिल्में बनाईं, उनको अपना लाभ प्रधान दिखा होगा, अन्यथा प्रचार साधनों में अवांछनीयता का समावेश करते समय हजार बार विचार करना पड़ता कि निजी लाभ कमाने के अत्युत्साह से लोकमानस को विकृत करने का खतरा उत्पन्न नहीं किया जाना चाहिए ।

युद्धोन्माद का वातावरण बनाने और सरंजाम जुटाने में किसी वर्ग विशेष को लाभ ही लाभ सूझा होगा, अन्यथा उस आक्रमण-प्रत्याक्रमण के माहौल से असंख्यों मनुष्यों की-परिवारों की भयंकर बर्बादी सूझ ही न पड़ती, ऐसी [illegible] अपने को सेठ-समर्थ सर्व [illegible] बनाने के लिए उभरे उन्माद ने शोषण से लेकर आक्रमण तक के अनेकों कुचक्र रचे है । इतना दुस्साहस तभी बन पड़ा, जब उसने अपनी चेतना को इतना निष्ठुर बना लिया । अन्यान्यों को इस त्रास से भारी कष्ट सहना पड़ सकता है, इसको दर गुजर करने के उपरान्त ही अपराधी, आक्रामक एवं आतंकवादी बना जा सकता है ।

नशों का उत्पादक एवं व्यवसायी-तस्कर आदि यदि अनुमान लगा सके होते कि उनका व्यक्तिगत लाभ किस प्रकार असंख्य अनजानों का विनाश करेगा; यदि ऐसी संवेदना उनके अन्तराल में उमँगी होती, तो निश्चय ही वे इस अनर्थ से हाथ खींच लेते और गुजारे के लिए हजार साधन ढूँढ़ लेते ।

पशु-पक्षियों को उदरस्थ करते रहने वालों के मन में यदि ऐसा कुछ सूझ पड़ा होता कि उन निरीहों के तरह हम इतनी भयंकर पीड़ा सहते हुए जान गँवाने के लिए बाधित किये गये होते, तो कैसी बीतती ? उस छटपटाहट को निजी अनुभूति से जोड़ सकने वाला कदाचित् ही छुरी का निर्दय प्रयोग कर पाता ।

नारी पर प्रजनन का असाधारण भार लादने वाले तथाकथित पति महोदय, यदि अपनी सहचरी के प्रति किये जा रहे उत्पीड़न को भी ध्यान में रख सके होते, तो उन्हें अपने इस स्वेच्छाचार पर अंकुश लगाना ही पड़ता । निजी मस्ती उतारने से पूर्व उसका भावी परिणाम क्या होगा, यह भी विचारना पड़ता । अपनी आर्थिक बर्बादी और बच्चों की अनगढ़ जिन्दगी के लिए भी अपने को उत्तरदायी ठहराते हुए स्वेच्छाचार पर अंकुश लगाने के लिए सहमत होते ।

दोष घटनाओं को ही देकर निश्चिन्त नहीं हो जाना चाहिए । सोचना यह भी चाहिए कि यह अवांछनीयताओं का प्रवाह, प्रचलन, जिस भावना क्षेत्र की विकृति के कारण उत्पन्न होता है, उस पर रोक-थाम के लिए भी कुछ कारगर प्रयत्न किया जाय ।

संवेदनाओं में करुणा का समावेश होने पर दूसरे भी अपने जैसे ही दीखने लगते है । कोई समझदारी के रहते, अपनों पर आक्रमण नहीं करता, अपनी हानि सहन नहीं करता । इसी प्रकार यदि वह आत्मभाव समूचे समाज तक विस्तृत हो सके, तो किसी को भी हानि पहुँचाने, सताने की बात सोचते ही हाथ-पैर काँपने लगेंगे । अपने आपे को

दैत्य स्तर का निष्ठुर बनाने के लिए ऐसा कोई व्यक्ति तैयार न होगा, जिसकी छाती में हृदय नाम की कोई चीज है। जिसने अपनी क्रिया को, विचारणा को मात्र मशीन नहीं बनाया होता, वरन् उसके साथ उस आत्म-सत्ता का भी समावेश किया होता, तो आत्मीयता करुणा, सहकारिता और सेवा-साधना के लिए निरन्तर आकुल-व्याकुल रहती।

समस्याओं का तात्कालिक समाधान तो नशा पीकर बेसुध हो जाने पर भी हो सकता है। जब होश-हवाश ही दुरुस्त नहीं, तो समस्या क्या ? और उसका समाधान ढूँढने का क्या मतलब ? पर जब मानवी गरिमा की गहराई तक उतरने की स्थिति बन पड़े, तो फिर माता जैसा वात्सल्य हर आत्मा में उभर सकता है और हित-साधना के अतिरिक्त और कुछ सोचते बन ही नहीं पड़ता। तब उन उलझनों में से एक भी बच नहीं सकेगी, जो आज किसी को उद्विग्न-आतंकित किये हुए है।

आरम्भ इस प्रकार करें

भारतीय संस्कृति नाम इसलिए पड़ा क्योंकि वह भारत में उत्पन्न हुई। वस्तुत: वह विश्व संस्कृति है। उसे सच्चे अर्थों मे देव सस्कृति कहा जाना चाहिए। तत्वदर्शन की प्रधानता अवश्य है पर वह विशुद्ध पारलौकिक नहीं है। उसमें प्रत्येक जीवन को स्पर्श करने वाली समस्त दिशा धाराओं का समावेश है। विचार परिष्कार से लेकर चरित्र निष्ठा, समाज निष्ठा के सभी वे तत्व मौजूद हैं जो मानवी गरिमा को अक्षुण्ण रखे रह सकने में सर्वतोभावेन समर्थ हैं।

संक्षेप मे इसी विस्तार को थोड़े से शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि "मनुष्य में देवत्व का उदय और धरती पर स्वर्ग के अवतरण" की समस्त सम्भावनायें इस प्रक्रिया में सन्निहित हैं। वे चिन्तन, चरित्र और व्यवहार में उच्चस्तरीय उत्कृष्टता का समावेश कर सकने में समर्थ है। उसमें समझदारी, ईमानदारी, जिम्मेदारी, बहादुरी के चारो तत्व इस प्रकार समाविष्ट हैं कि उन्हें अपनाने वाला सच्चे अर्थों में महामानव, देवपुरुष बन सकता है। तत्वज्ञान और प्रथा प्रचलन का समग्र स्वरूप आदर्शों से भरा पड़ा है। इसमें वह सब कुछ है जिससे व्यक्ति समर्थ, समुन्नत, सुविकसित, सुसंस्कृत बन सकता है। पुरातन इतिहास साक्षी है कि इस भूमि को स्वर्गादपि गरीयसी और यहाँ के निवासियों को संसार भर ने देव मानवों की संज्ञा दी। ज्ञान और विज्ञान में अग्रणी होने के कारण उसे जगद्गुरु, चक्रवर्ती आदि नामों से सम्मानित किया गया था।

आज की विकृत परिस्थितियों में सर्वतोमुखी सुधार परिष्कार के लिए जिस राम बाण ओषधि की संजीवनी बूटी की आवश्यकता है उसे अभी भी भारतीय देव संस्कृति के रूप में उभारा और कार्यान्वित किया जा सकता है। सतयुग की वापिसी का यही सुनिश्चित तरीका है कि जिस आधार को देव पुरुषों ने अपनाया था उसे फिर से खोजा, सुधारा और कार्यान्वित किया जाय।

मध्यकाल के अन्धकार युग में ऐसी गड़बड़ हुई है कि खोखला कलेवर मात्र ही दिखावटी प्रतिमा की तरह किसी प्रकार बनाये रखा गया है। उसमें से समूचे प्राण तत्त्व का अपहरण कर लिया गया है। धर्म के नाम पर हम देवताओं के गुलाम और उनके एजेन्टों के भ्रम जंजाल में जकड़े हुए शिकार मात्र रह गये है। कुरीतियाँ हमारे गले में फाँसी के फन्दे की तरह फंसी हुई है। उन्हीं के कारण झूठी मान्यतायें, अनैतिकतायें, अवांछनीयताएँ अनेक कुप्रचलनो के रूप में हमें शूलती, हूलती रहती हैं। इनमें आवश्यक परिवर्तन लाया जाना, सुधार परिवर्तन किया जाना आवश्यक है। यह कार्य छुटपुट रूप से व्यक्तिगत हलके फुलके प्रयासों से नहीं हो सकता, इसे विशाल परिमाण में योजना बद्ध एवं संघबद्ध रूप में करना होगा। आरम्भ कहाँ से किया जाय? इसके लिए नये सिरे से नया कुछ खोजने या सोचने की आवश्यकता नहीं है। पुरातन मार्ग ही इतना सुरक्षित है कि उसे देख समझ और अपना लिया जाय तो उसी लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता है। जिस पर कि हमारे महान् पूर्वज पहुँचे थे।

आवश्यकता है ऐसे पुरोहित और परिव्राजक उत्पन्न करने की जो निजी जीवन में औसत नागरिक स्तर का निर्वाह स्वीकार करे। सादा जीवन, उच्च विचार की रीति-नीति अपनायें। तृष्णाओं को त्यागें और परमार्थ के लिए अपनी समग्र महत्वाकांक्षायें नियोजित करें, इतने भर से जो उभार अन्तःकरण में से उभरता है वह योग्यताओं की कमी कुछ ही समय मे पूरी कर देता है।

विदेशों में जहाँ प्रवासी भारतीयों के सहारे बैठने की, खड़ा होने की, काम करने की सुविधा मिल सकती है। वहाँ जाने की बात उन्हें सोचनी चाहिए जिन्होंने लालच और अहंकार जीत लिया हो, जिन्होंने नम्रता अपनाने और कठिन काम करने में अभिरुचि उत्पन्न कर ली हो, जो वहाँ की भाषाओं का अभ्यास करने जन सम्पर्क के लिए अपने को सुयोग्य सिद्ध कर सके। जल्दी ही वापिस लौट आने,

पैसा कमाकर घर भरने, अखबारों में नाम छपाने, नेता बनने की ओछी आकांक्षाओं से घिरे हुए न हों उन्हीं को आशाजनक सफलता मिल सकेगी और उन्हीं की सतयुग की वापसी में बड़ा कदम उठाने वालों में गणना हो सकेगी।

इससे पूर्व हमें अपना घर सुधारना, बुहारना होगा। बाहर उन्हीं का प्रभाव पड़ता है जो अपना समीपवर्ती वातावरण परिष्कृत कर चुके होते हैं। घर का दीपक जला कर बाहर प्रकाश उत्पन्न करने के लिए कदम उठाया जाता है। जो अपना शरीर, मन, घर स्वच्छ कर लेते हैं, उन्हीं को बाहर की सफाई करने का प्रयास शोभा देता है।

अपने देश की स्थिति अब अन्यत्र की तुलना में अधिक गई गुजरी हो गई है। इसलिए पहले घर के बीमारों को दवा देनी चाहिए। घर के भूखों के लिए रोटी का प्रबन्ध करना चाहिए। इसके बाद ही बाहर का क्षेत्र सम्भालना शोभा देगा।

करने योग्य कामों में सर्वप्रथम यह है कि लोक सेवा के लिए अपने को समर्पित करने वाले चरित्रवान, विचारशील, कर्मठ कार्यकर्ता उत्पन्न हों, आज की इच्छा, आकांक्षाओं, आवश्यकताओं का बोझ हल्का रखें ताकि दूर-दूर तक सम्पर्क क्षेत्र को ऊँचा उठाने का दायित्व उठाया जा सकना सम्भव हो सके।

प्रस्तुत व्यक्तिगत और सामूहिक समस्याएँ घटिया दृष्टिकोण और चरित्र व्यवहार अधोगामी होने के कारण ही विभीषिकाएँ खड़ी हुई हैं। इसके निराकरण का एक ही उपाय है जनमानस का परिष्कार। इस प्रयोजन की पूर्ति लेखनी, वाणी और सत्प्रवृत्ति सम्वर्धन के रचनात्मक कार्यों द्वारा हो सकती है। इसके लिए विभिन्न क्षेत्रों में विविध विधि क्रिया कलापों का निर्धारण कार्यान्वयन करना होगा, किया जा रहा है।

भव्य भवन का छोटा मॉडल

भौतिक प्रगति के लिए तीन उपाय अपेक्षित होते है (१) अभावों को पूरा करना, (२) भावी प्रगति का सरंजाम जुटाना, (३) अनाचार व्यवधानों से निबटना। लक्ष्य वेध के लिए धनुष बाण और सही निशाना लगाने के लिए क्षमता अपेक्षित होती है। युग की महती आवश्यकता के लिए मनीषा को तीन प्रयास अनिवार्य रूप से करने होंगे। (१) युग चेतना को जन मानस के अन्तराल तक पहुँचाने वाली महाप्रज्ञा की पक्षधर लेखनी (२) जन मानस को झकझोरने और उलटे को सीधा कर सकने मे समर्थ परिमार्जित वाणी, (३) अपनी प्रतिभा, प्रखरता और प्रामाणिकता को पग-पग पर खरा सिद्ध करते रहने में समर्थ पुरोधाओं का परिकर। युग क्रान्तियों में सदा यह तीनों तथ्य अपनी समर्थ भूमिका निभाते रहे हैं। अनाचार को आदर्शवादी प्रवाह में परिवर्तित कर सकने वाले महान कायाकल्प इन्हीं तीन अमोघ शक्तियों द्वारा सम्पन्न होते रहे हैं।

युगसन्धि में अशुभ का समापन और शुभ का आगमन नियोजित किया जाने वाला है। इसमें अवांछनीयताओं से जूझने और औचित्य को लोक मान्यता मे सिंहासनारूढ़ होने की क्रिया प्रक्रिया चलेगी। इसके लिए ऐसी प्रतिभाओं को खोजना-निखारना और कार्य क्षेत्र में उतारना होगा जो प्रचारात्मक, रचनात्मक और सुधारात्मक तीनों ही क्षेत्र में अपने-अपने स्तर की मोर्चे बन्दी कर सकें। लक्ष्य की ओर सनसनाती हुई बढ़ सकें।

क्या ऐसा सम्भव है ? इस पर सहज विश्वास नहीं होता। कारण कि इन दिनों आदर्शवादिता मात्र कहने सुनने की चीज बनकर रह गई है। वह व्यावहारिक जीवन में उतर सकती है इस पर भरोसा नहीं किया जाता, क्योंकि उत्कृष्टता के प्रवर्तक निजी जीवन में—"कथनी और करनी" की एकता सिद्ध नहीं कर पाते। इससे लगता है कि वे स्वयं उस पर विश्वास नहीं करते जिसकी कि दूसरों से आशा करते है जो स्वयं असफल रहा है उसे देखकर कौन यह विश्वास करेगा कि उच्च सिद्धान्तों की बात बताने और उनको चरितार्थ करने की सम्भावना को साकार करना जैसा इस आधार पर बन भी पड़ता है या नहीं ?

फिर किया क्या जाय ? इसके लिए एक ही उपाय सोचा गया कि इतने विशाल आयोजन के लिए एक विश्वस्त परिचय देने वाला मॉडल खड़ा किया जाय। ताज महल जैसी बड़ी इमारतें बनती हैं, तो उनके लिए आर्चीटेक्ट इंजीनियर मात्र नक्शा खींचकर निश्चिन्त नहीं हो जाते वरन् उसी आकार-प्रकार का एक साईज के अनुरूप मॉडल खड़ा करते है। उसे देखने पर हर किसी का दिमाग साफ होता है और समझ में आता है कि किस स्तर पर क्या तैयारियाँ करनी होंगी। इस आधार पर प्रज्ञा अभियान की रूपरेखा किस प्रकार कार्यान्वित की जा सकती है, इसका एक छोटा किन्तु अनुपातिक मॉडल बनाकर खड़ा किया है। कृषि फार्मों में यही होता रहता है कि छोटे अनुपात में अनेकों प्रयोग करते रहते हैं और जो सफलताएं मिलती है उन्हें सर्वसाधारण को दिखाकर यह हृदयगम कराते है कि इस प्रकार यह करने से इतनी

उपलब्धि हस्तगत हो सकती है। विभिन्न प्रयोगशालाएँ भी यही करती रहती हैं । पायलट प्रोजेक्ट्स में यही होता है।

शान्तिकुञ्ज की विचार क्रान्ति योजना के तीनो तथ्य अपने-अपने ढग से प्रयोग परीक्षण के क्षेत्र में उतारे गए हैं और उसे निकट से, गंभीरता से देखने के लिए हर किसी को अवसर दिया गया है । कारण कि कई बार बढ़-चढ़ कर दावे किए जाते है और विज्ञापन छपाए जाते हैं । अब जाँच परख पर ही निर्भर है कि किसी बड़ी योजना के सम्बन्ध में उसकी सम्भावना का निश्चय करने के लिए आवश्यक विश्वास पैदा किया जा सके ।

विचार क्रान्ति के अन्तर्गत सर्व साधारण को यह बताया जाना है कि मनुष्य की भावी गतिविधियो का स्वरूप क्या होगा ? अभीष्ट बदलाव के लिए विधि निर्धारणो को लोक व्यवहार में सम्मिलित करना पड़ेगा ? इस सम्बन्ध मे कुछ निर्धारण इस प्रकार है ।

''समझदारी, ईमानदारी, जिम्मेदारी, बहादुरी, दयानतदारी को स्वभाग का अंग बनाना होगा । वह अपनाना होगा जो हम दूसरों से अपने लिए अपेक्षा करते है ।'' सादा जीवन उच्च विचार का सिद्धान्त सर्वग्राही बनाना होगा । संयमशील बन अनुशासन में रहा जायगा । एकता और समता के सार्वभौम सिद्धान्तो के आधार पर समाज की अभिनव संरचना की जाएगी । सत्प्रवृत्तियों को बढ़ाया और कुप्रचलनो को हटाया जाएगा । औसत नागरिक स्तर का निर्वाह स्वीकार होगा । नीति का उपार्जन ही स्वीकार होगा । समय, श्रम, साधन, कौशल आदि का जितना अश बन सकेगा, पिछड़ों को उठाने और उठों को उभारने मे लगाया जायगा । शालीनता को संगठित किया जायगा और उसे सामुदायिक उत्कर्षो के लिए पूरी तरह नियोजित किया जायेगा ।

दृष्टि दौड़ाने पर इन दिनों मानवी गरिमा के अनुरूप आचरणों में भारी व्यतिरेक दिखाई पड़ता है। अवांछनीयता अपनाने वालों को अपनी भूल का अहसास कराना होगा और जिनके विश्वास आदर्शवादिता के सम्बन्ध मे असमंजसग्रस्त है, उन्हे तर्कों, तथ्यों, प्रमाणों, उदाहरणों के आधार पर यह स्वीकारने के लिए बाधित किया जाएगा कि श्रेय का वरण करने में ही अपना और सबका कल्याण है। विचार कान्ति के अन्तर्गत ऐसा ही प्रबल प्रयास करना होगा जिससे विश्वव्यापी लोक मानस को भटकाव से विरत करना और सन्मार्ग पर चला सकना सम्भव हो सके।

थोड़ा हेर-फेर करना होता तो यह छुटपुट स्थानीय प्रयत्नों से भी सम्भव हो सकता था पर जब ६०० करोड़ से भी अधिक मनुष्यों की भौतिक गतिविधियों [illegible] आन्तरिक चिन्तन चेतना को बदलना है तो उसे स[illegible] करने की योजना भी असाधारण स्तर की और उप[illegible] माध्यमों और साधनो से सम्पन्न करनी होगी । वही कि[illegible] भी जा रहा है ।

इस संदर्भ में प्राथमिकता युग साहित्य के सृजन को देनी होगी । प्रजातंत्र, साम्यवाद जैसी युग चेतनाएँ उन प्रतिपादनों के पक्षधर साहित्य से ही उद्भूत हुई है । सामाजिक कुरीतियों और अन्य प्रतिगामिताओं के निराकरण मे भी इसी माध्यम ने आश्चर्यजनक परिवर्तन कर दिखाये हैं । युग साहित्य की व्यवस्था भी अभीष्ट परिवर्तन के लिए करनी ही होगी । यह कैसे किया जाय, इसका एक छोटा प्रयास ''युग निर्माण योजना'' के अन्तर्गत हुआ है। उसने बहुत कुछ सृजा छापा और करोड़ों तक अपने प्रतिपादनों को पहुँचाया है। यह आगे बढ़कर बनायी गई एक पगडंडी है, जिसे समर्थ मनीषा अपने अनुरूप बड़ा बनाकर राजमार्ग के रूप में विकसित कर सकती है ।

हुआ यह कि एक सामान्य व्यक्ति ने युग चिन्तन में निमग्न निरत रहना अपना लक्ष्य बनाया । जो सूझा, उस पर अनेकों बार विचार किया और फिर प्रकाशन की दिशा में कदम बढ़ाया । साधनों के अभाव में हर प्रकाशन को ५०० की संख्या से छपाते रहने का निश्चय करके रुका हुआ कदम आगे बढ़ाया गया । प्रतिपादन इतने सारगर्भित थे कि समर्थकों और विरोधियों ने समान रूप से उन्हें पढना, समझना और अपने जैसे अन्य विचारशीलों को पढ़ने के लिए आग्रहपूर्वक सहमत करना आरंभ किया । क्रमशः माँग बढ़ती गई और लेखक का उत्साह ही नहीं कार्यान्वयन का प्रयास भी बढ़ता गया । पचास वर्ष के इस प्रयास की उपलब्धि देखकर लोगों को इस बात का आश्चर्य करना पड़ता है कि एक नितान्त सामान्य स्थिति में युग साहित्य का इतना सृजन और उसका असाधारण विस्तार कैसे संभव हो सका ? इसका एक ही उत्तर मे समाधान बन पड़ता है कि दैवी चेतन सत्ता ने अन्तराल के प्रवाह को उच्च उद्देश्यों की ओर कदम बढ़ाते हुए देखा, प्रेरणा दी एवं ये प्रयास आँधी के साथ उड़ने वाले तिनके तथा पत्तों की तरह कहीं से कहीं पहुँचते चले गये ।

अखण्ड-ज्योति पत्रिका मे विज्ञापनों की कोई आमदनी नहीं है । सहायता के लिए भी याचना नहीं की जाती । बिना लाभ और बिना नुकसान के निर्माण नीति का अवलम्बन लिया गया है । इसी का परिणाम है कि विगत पचास वर्षों

मे पत्रिका की सदस्य संख्या ५०० गुनी हो गई। अगला निश्चय है कि कुछ ही दिनों में एक हजार गुने होने का कीर्तिमान संस्थापक के जीवित रहते बनकर रहेगा। एक हिन्दी मासिक से सत्प्रवृत्ति संवर्धन का काम नहीं चला तो विषयों के विभाजन को ध्यान में रखते हुए दूसरी पत्रिका "युग निर्माण योजना" निकाली गयी। इसके गुजराती, मराठी, उड़िया, तमिल, तेलुगू संस्करण छपने लगे। इन सबकी ग्राहक संख्या प्राय: पाँच लाख और पाठक संख्या पच्चीस लाख है। एक प्रति को न्यूनतम पाँच व्यक्ति पढ़ते हैं। बिना पढ़े इन प्रतिपादनों को चाव पूर्वक सुनते है। इस प्रकार एक से अनेक होने की श्रुति चरितार्थ हुई।

पत्रिकाएं सामयिक महत्त्व की होती है महीना बीतते ही वे पुरानी पड़ जाती हैं और उपेक्षित बनती हैं। इसलिए पुस्तकाकार साहित्य का सृजन भी साथ-साथ आरंभ हुआ। अब तक ५०० से भी अधिक अनेकानेक विषयों पर प्रेरणाप्रद पुस्तकें छप चुकी हैं। उनके कितने ही संस्करण बिक चुके हैं। अन्य भारतीय भाषाओं में और अंग्रेजी में उनके अनुवाद धड़ल्ले से छपते चले जाते हैं।

विकट प्रश्न है विक्रय का। पुस्तक विक्रेता को, सरकारी पुस्तकालयों को बड़ी एवं आकर्षक कलेवर की पुस्तकें चाहिए, जिनका मूल्य भी अधिक हो और बेचने वालों को इस मँहगाई में उपयुक्त कमीशन का लाभ भी मिले। इस कथन का औचित्य हो सकता है कि गरीब देश का गरीब पाठक ऐसे रूखे समझे जाने वाले साहित्य को मँहगे मोल में किस प्रकार खरीदें ? और जन-जन तक पहुँचाने का उद्देश्य कैसे पूरा हो ? इस असमंजस का हल पाठकों ने अपने बलबूते से निकाला। जिसे उनने उपयुक्त पाया उसे दूसरों तक पहुँचाने का प्रयत्न स्वयं आगे बढ़ कर किया। बिना मूल्य घर-घर जाकर पढ़ाने और वापस लेने की योजना बहुत सफल एवं लोकप्रिय बनी। साथ ही अधिक पसंद करने वाले उनमें से कुछ खरीदने भी लगे। धकेल गाड़ियों के रूप में "ज्ञान रथ" गली-गली इसी प्रयोजन के लिए नियमित रूप से घूमने लगे और वह प्रचार प्रसार बन पड़ा ? जिसकी अब तक कल्पना भी नहीं की जा सकी है। ऐसा कुछ ईसाई मिशनों और साम्यवादी क्षेत्रों मे ही होता रहा है। उसी प्रकार का यह भी एक अपने ढंग का अनोखा प्रयोग है।

उच्चस्तरीय लेखक जुटाना भी, कम कठिन नहीं, जो ऐसे जटिल विषयों पर लेखनी उठा सके उनकी संख्या गिनी चुनी है। वे व्यस्त भी पाये जाते है और लेखन शुल्क, कापी राइट आदि की भी उचित अपेक्षा रखते हैं। पर उस भार के बढ़ने पर तो साहित्य का मूल्य बढ़ता है जबकि आवश्यकता इस बात की है कि युगक्रान्ति सम्पन्न करने के लिए सस्ते से सस्ता सत्साहित्य पाठकों के हाथ तक पहुँचे। यही झंझट व्यवसायी प्रकाशकों के साथ में भी है। उनका लाभांश सस्ता साहित्य उपलब्ध कराने में अड़चन उत्पन्न करता है। इन सभी तथ्यों को ध्यान में रखते हुए लेखन, प्रकाशन, प्रचार, विक्रय आदि के बहुमुखी प्रयासों को एक ही तंत्र के अन्तर्गत केन्द्रित करना पड़ा।

युग साहित्य का लेखक इस संस्था का संस्थापक, निजी सम्पत्ति का बहुत पहले विसर्जन कर चुका है। रोटी, कपड़ा और मकान की शरीर यात्रा पर उसे पूरा संतोष रहा है। चार घंटा नियमित और एकाग्र रूप से प्रस्तुत ज्ञान यज्ञ में उसका शरीर और मस्तिष्क समर्पित भाव से निरत रहा है। फलत: उसका यह व्रत निभ गया कि कलम की कमाई किये बिना ही काम चलाया जाय। अन्य संस्थानों के लिए कभी लिखा है तो लिखाई का एक पैसा भी स्वीकार नहीं किया। कापी राइट नाम से कोई चीज सोची ही नहीं गई। जब लाभांश ही नहीं तो कापी राइट किस बात का। यह कारण है कि मिशन के लेखन-प्रकाशन को कोई भी छाप लेता है। लेखों को अनेक पत्रिकाएँ छापती हैं, पर उन्हें उद्धरण का हवाला देने की आवश्यकता नही पड़ती।

यह उदाहरण इसलिए प्रस्तुत करना पड़ा कि अगले दिनों लोकमानस को ब्रेन वाशिंग की प्रक्रिया से होकर गुजरना है तो उसके लिए उपयुक्त साहित्य सृजन प्रकाशन विक्रय का क्या प्रबंध करने की आवश्यकता पड़ेगी ? जो हुआ है, हो रहा है, उसका प्रकाश कुछ लाखों की परिधि में ही अपना प्रकाश फैला सका है। जबकि संसार की प्रमुख चौबीस भाषा में ६०० करोड़ मनुष्यों को बेतरह झकझोरने और शीर्षासन तक के लिए तैयार करने, हर स्थिति में कमर कसने हेतु प्रस्तुत प्रयास की तुलना में हजारों लाखो गुनी योजनाएँ बनानी पड़ेंगी। जो लोग समझते हैं कि यह नीरस विषय है, जन सहयोग न मिलेगा, साधनों के अभाव में इतना बड़ा तंत्र कैसे खड़ा हो सकेगा, उन्हें जानना चाहिए कि उच्चस्तरीय साधना में असाधारण बल होता है और यदि वह प्रचंड हो सके तो सहयोग, समर्थन लेने का सुधारने तक का सारा सरंजाम जुट सकता है। शर्त एक ही है कि निर्धारण और क्रियान्वयन पूरी ईमानदारी से समर्पित भाव से किया गया हो। लेखनी का यह चमत्कार अगले दिनो विश्व चिन्तन एवं प्रवाह को मोड़ने में किस प्रकार

सफल हो सकता है, इसकी बड़ी योजनाएँ बनाने वाले यदि सूत्र संकेत भर प्राप्त कर सकें, तो अच्छा ही होगा। विश्वास किया जाना चाहिए कि युग चेतना अपनी आवश्यकता किसी अदृश्य प्रेरणा के आधार पर पूरा करेगी और सफलता के चरम लक्ष्य तक जा पहुँचेगी।

विचार परिवर्तन का दूसरा माध्यम है वाणी। प्रवचन, समारोह, आयोजन, गोष्ठियाँ, विचार विनिमय आदि इसी प्रयोजन के निमित्त होते हैं। इनमें प्रवक्ता क्या प्रतिपादन करें, इसके लिए उन्हें अलग से कुछ सीखना समझना नहीं है। कोई पाठ्यक्रम पूरा करना नहीं है। युग साहित्य के अन्तर्गत वह सब कुछ मिल जायेगा जो विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न प्रयोजनों के लिए विभिन्न शैलियों में कहा जाता है। मात्र बात भाषण कला की रह जाती है। वह अन्य कलाओं की तरह कुछ दिन के अभ्यास से सीखी जा सकती है। जितना साइकिल चलाना सरल है, उतना ही वाणी को मुखर करना, जीभ चलाना और सुगम और मनोरंजक है, उसे सीखा जा सकता है। शान्तिकुञ्ज में इसी कौशल को सिखाने का, एक-एक महीने वाले सत्रों में अभीष्ट अभ्यास करने का अवसर निरन्तर मिलता रहता है।

आदर्शवादिता के क्षेत्र में प्रवेश करने के लिए भाव संवेदनाओं की शुष्कता को सरसता में बदलना आवश्यक है। यह कार्य भाषणों की अपेक्षा संगीत माध्यमों से अधिक अच्छी तरह हो सकता है। भाषण ज्ञानयोग का समर्थक है और संगीत भक्ति भावना का पक्षधर। वाणी विनियोग में युग चेतना ने भाषण और संगीत दोनों का समन्वय किया है। यहाँ संगीत का तात्पर्य लोक गायन, सुगम संगीत से समझा जाना चाहिए जिसमें वाद्य यंत्र भी कम मूल्य के प्रयुक्त होते हैं और वे कम समय में अधिक आसानी से अभ्यास में उतर जाते हैं।

एक महीने वाले शान्तिकुञ्ज सत्रों में वाणी शक्ति को भाषण और संगीत माध्यम से काम चलाऊ सफलता मिलती रहती है। अभी इस स्तर के पाँच सौ शिक्षार्थी हर महीने प्रशिक्षण प्राप्त करते रहते हैं। उनके निवास, भोजन, प्रशिक्षण उपकरण आदि की भी तो आवश्यकता पड़ती है। इस वर्ग में यांत्रिक प्रचार उपकरणों का प्रयोजन भी सम्मिलित है। स्लाइड प्रोजेक्टर, टेप-रिकार्डर, लाउडस्पीकर आदि यंत्र भी ऐसे हैं जो प्रचार कार्यों में आये दिन काम आते है। एक महीने की कक्षाओं में इन सबका अभ्यास हो जाता है। इसके साथ-साथ ये सभी वातावरण के सूक्ष्म परिशोधन की महापुरश्चरण साधना के भागीदार भी बनते हैं एवं अपने यहाँ जाकर प्रज्ञामण्डल बनाकर साप्ताहिक सत्संग-स्वाध्याय-उपासना का क्रम चलाते हैं।

पाँच सौ हर मास के शिविरों से एक साल में छः हजार हो जाते हैं। युग संधि के आगामी वर्षों में युग प्रवक्ताओं की संख्या एक लाख तक पहुँचती है। इसलिए स्थान की, निःशुल्क भोजन की कुछ ही समय में व्यवस्था बन जायेगी तो युग प्रवक्ताओं के निर्माण की जो गति आज है, वह अगले दिनों न रहेगी। ईसाई मिशनों के पास संसार भर में प्रायः एक लाख प्रशिक्षित पादरी है। साम्यवाद जैसे प्रचंड आन्दोलन को सिर पर उठाये फिरने वाले लोक सेवी कार्यकर्ताओं की संख्या भी प्रायः इतनी ही होगी। भारतीय संस्कृति मे उद्‌भूत आध्यात्मिक ऊर्जा को विश्व के कोने-कोने तक पहुँचाने के लिए भी इससे कम व्यक्ति नहीं लगेंगे।

अनुमान लगाया जाना चाहिए कि शान्तिकुञ्ज जैसा स्वल्प सामर्थ्य सम्पन्न तंत्र जो कर सकता है, उसी काम को यदि समर्थ प्रतिभाएँ और मनीषीगण मिलकर अपने कंधों पर उठाएँ तो उसकी कितनी बड़ी परिणति हो सकती है। इसका सहज अनुमान लगाया जा सकता है।

निजी निर्माण कितने कठिन पड़ते हैं, इसे सभी जानते हैं। निजी समस्याओं का समाधान कितना उलझन भरा होता है, इससे कौन परिचित नहीं ? फिर शताब्दियों से संगृहीत विकृतियों से व्यापक स्तर पर निबटना कितना कठिन हो सकता है, इसकी गंभीरता पर दो मत नहीं हो सकते। इतने पर भी प्रस्तुत मॉडल को देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि मानवी प्रतिभा और प्रयत्नशीलता नगण्य नहीं है। वह जब कुछ करने पर उतारू होती है तो समुद्र लाँघने और गोवर्धन उठाने जैसे बड़े काम सम्पन्न करती है। इस चर्चा में एक चरण और जोड़ा जा सकता है कि विचार क्रान्ति की दिशा में एक छोटे ''एकलव्य'' ने लेखनी और वाणी के जो धनुष बाण उठाये, वे अपने अब तक की सफलता और भावी संभावना का संकेत देते हुए निराशा के माहौल में भी आशा की उमंगे उत्पन्न कर सकते हैं।

नवयुग का त्रिपक्षीय तत्व-दर्शन

युग परिवर्तन में चेतना का स्तर ऊंचा उठेगा और प्रवाह क्रम की दिशा धारा में विशिष्ट परिवर्तन होगा। चेतना के तीन स्तर है—स्थूल, सूक्ष्म और कारण। स्थूल अर्थात्

शरीर और उस पर आधारित क्रिया कलाप। सूक्ष्म अर्थात् चिन्तन अर्थात् विचारणा का रुझान और अभ्यास। कारण अर्थात् अन्तःकरण—अर्थात् आस्था, आकाँक्षा और रसानुभूति। इन त्रिविधि धाराओं में बहने वाली गंगा, यमुना, सरस्वती का समन्वय ही वह आध्यात्मिक संगम है जिसमें स्नान करने से आकृति का तो नहीं पर प्रकृति का उच्चस्तरीय परिवर्तन सम्भव होता है। देवयुग की स्थापना में यही परिवर्तन आधारभूत कारण बनेगा। इसी के लिए महाकाल की प्रेरणा है और यही प्रयत्न जागृत आत्माओं के सामयिक उत्तरदायित्वों में सम्मिलित किया गया है।

जिस ईश्वर की उपासना नवयुग में आस्तिकता का आधार मानी जायेगी वह उच्च स्तरीय आस्थाओं का समुच्चय होगा, उसे चेतना जगत में भरी हुई उत्कृष्टता समझा जायेगा। उपासना-परमात्मा यही है। इष्ट लक्ष्य इसी को माना गया है और उसके साथ एकत्व, तादात्म्य स्थापित करने के लिए उपासना विज्ञान का विस्तार किया गया है। ईश्वर की उपलब्धि का स्वरूप अति मानव, अतिमानस, विराट्, विश्व मानव, परमात्मा आदि शब्दों में मिलने वाले आभास से भली प्रकार समझा जाता है। भक्ति आत्मीयता से ओत-प्रोत सेवा साधना को कहते हैं। परिष्कृत व्यक्तित्व ही ईश्वर प्राप्ति का प्रत्यक्ष स्वरूप है। समुन्नत व्यक्तित्व ही भौतिक सिद्धियाँ और आत्मिक ऋद्धियाँ प्राप्त करते हैं। उनके लिए अर्न्तजगत और प्रत्यक्ष संसार के दोनों क्षेत्रों में असाधारण सफलता का द्वार खुलता है। बल वर्धन के लिए व्यायाम शाला का, ज्ञानवर्धन में पाठशाला का आश्रय लिया जाता है। अन्तस् की उत्कृष्टता उभारने के लिए उपासना से बढ़कर अन्य कोई सरल और चिर परीक्षित मार्ग नहीं, इसके पीछे तर्क, तथ्य और अनुभव की सुनिश्चित पृष्ठभूमि है।

विश्व मानव की उपासना पद्धति एक होगी। इस कसौटी पर प्रचलित साधनाओं में गायत्री मन्त्र की उपयुक्तता सर्वोपरि सिद्ध होगी। आज किसी का हठ आग्रह भी हो सकता है, किन्तु कल जबकि तत्वान्वेषी दृष्टि की प्रधानता होगी तब विवेक को गायत्री की उपयोगिता और उत्कृष्टता हर कसौटी पर खरी उतरती दीखेगी। प्रज्ञावतार इस युग की प्रमुख आवश्यकता है। विचार क्रान्ति-भाव परिष्कार इसी का प्रत्यक्ष रूप है। मानवी तत्व दर्शन एवं दृष्टि कोण में उत्कृष्टता का समावेश करने के लिए गायत्री मन्त्र का उपयोग करके आज भी उसकी समर्थता का चमत्कार देखा जा सकता है।

कल तो वह विशिष्टता और भी अच्छी तरह परखी जा सकेगी। जब सर्वोत्तम का चुनाव अथवा सर्वश्रेष्ठ का अभिनव निर्धारण होगा तो चिर पुरातन और चिर नवीन का समन्वय गायत्री के केन्द्र बिन्दु पर ही जा टिकेगा।

व्यक्ति को साधनों के आकर्षण से बचाकर आदर्शवादी उत्कृष्टता का रसास्वादन कराने वाले श्रद्धा विज्ञान को आस्तिकता कहा गया है। इसे युग धर्म का अविच्छिन्न अंग माना जायेगा। व्यक्तित्व की गहनतम परत का परिष्कार करने के लिए ईश्वर भक्ति का आश्रय लिये जाने से व्यक्ति के अन्तराल को ऊँचा उठाने में, क्षुद्र से महान् बनाने में प्राचीनकाल की तरह अगले युग में भी सफलता मिलेगी। इस विश्वास के लिए युग परिवर्तन के प्रयास में ईश्वर विश्वास और तादात्म्य की प्रमुखता दी गई है।

इसके उपरान्त व्यक्तित्व की दो पर्तें और रह जाती हैं। एक सूक्ष्म और दूसरी स्थूल। कारण शरीर अर्थात् अन्तःकरण। सूक्ष्म शरीर अर्थात् विचारणा। स्थूल शरीर अर्थात् क्रिया कलाप। इन तीनों क्षेत्रों को क्रमशः आस्तिकता, आध्यात्मिकता और धार्मिकता के आधार पर समुन्नत बनाया जाता है। भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग की संरचना इन्हीं तीनों क्षेत्रों में उत्कृष्टता का समावेश करने के लिए की गई है।

सूक्ष्म शरीर-विचार क्षेत्र को सुसंस्कृत बनाने के लिए अक्लमंदी चतुरता एवं बहुज्ञता के सहारे कुछ काम नहीं चलता। वह तो लौकिक क्षेत्र में ही अपने जादू चमत्कार दिखाती है। विचारणा को परिष्कृत करने के लिए दूरदर्शिता, विवेकशीलता और आदर्शवादिता के समन्वय से विनिर्मित होने वाली प्रज्ञा की आवश्यकता है। ऋतुम्भरा प्रज्ञा, ब्रह्म विद्या, तत्व दर्शन, अध्यात्म विज्ञान आदि का प्रयोग सूक्ष्म शरीर की विचार क्षमता को ऊँचा उठाने के लिए किया जाता है।

नवयुग में आध्यात्मिकता का तत्व दर्शन लोक चिन्तन का निर्धारण और नियमन कर सकने में समर्थ होगा। लोगों को मानव जीवन की उत्कृष्टता और उसके पीछे छुपी हुई ईश्वर की अपेक्षा को समझना होगा। अन्य प्राणियों की तुलना में मानव को जो गरिमा उपलब्ध है उसके साथ जुड़ी हुई जिम्मेदारी को भी अनुभव करना होगा। परिष्कृत जीवन ही आत्मिक प्रगति का एक मात्र उपाय है। आत्म कल्याण ही सच्चा स्वार्थ साधन है, जब यह अनुभव किया जायेगा तो आज की लोलुपता का पलायन होने और उसके स्थान पर उदारता, सदाशयता को अपनाने में देर न लगेगी।

शरीर और आत्मा की भिन्नता, उनकी तुलनात्मक गरिमा, मन:स्थिति की परिस्थितियों में परिणति, जीवन की गरिमा जिम्मेदारी, आत्मबल की प्रचंड शक्ति, उसके उपार्जन मे सत्प्रवृत्तियो का अवलम्बन, व्यक्तित्व के परिष्कार में उत्कृष्ट दृष्टिकोण का योगदान, असंख्य समस्याओं का एक ही उद्गम और एक ही समाधान है। प्रगति और प्रसन्नता की कुंजी अपनी जेब में नहीं। दूरदर्शिता की प्रतिक्रिया शालीनता की परिणित दृश्य और अदृश्य जगत का सहयोग सम्पादन जैसे अगणित प्रसंग ऐसे है जिनसे अनजान रहने वाले व्यक्तित्व दृष्टि मे हेय और परिस्थितियों की दृष्टि से विपन्न ही बने रहते है। प्रस्तुत विपत्तियो और विभीषिकाओं के लिए वस्तुत: दार्शनिक विकृतियाँ ही जिम्मेदार है, उस उपेक्षित एवं विकृतियों से भरे क्षेत्र की नये सिरे से सफाई करने और उस रिक्तता को उत्कृष्ट चिन्तन प्रवाह से भरने का प्रयास अगले दिनों तूफानी वेग से चलेगा। इसे भौतिकता पर आध्यात्मिकता की विजय कहा जायेगा। विचार क्रान्ति अभियान को प्रकारान्तर से अध्यात्मवाद का पुनरुत्थान कहा जा सकता है।

स्थूल जगत या काय कलेवर चेतना का तीसरा क्षेत्र है—व्यवहार-कर्म, जिसे शरीर एवं साधन उपकरणों की सहायता से सम्पन्न किया जाता है। इस क्षेत्र में बरती जाने वाली दूरदर्शिता और शालीनता की संयुक्त परिणत धार्मिकता कहलाती है। धर्म अर्थात् उत्तरदायित्वों का निर्वाह, कर्तव्य का परिपालन। उसमे अनुपयुक्तता से बचने और औचित्य अपनाने का साहस अपनाना होता है। विधि निषेध को समझना ही पर्याप्त नहीं उसे अपनाये रहने में जिस निष्ठा का परिचय देना होता है उसे ही धार्मिकता कहते हैं। नवयुग का तीसरा आधार यही होगा। चेतना के स्थूल क्षेत्र मे अपनाई गई नीतिमत्ता—शालीनता से भरी पूरी व्यवहार कुशलता को ही प्राचीन काल में धार्मिकता कहा जाता था। अगले दिनों उसे इसी रूप में समझा देखा और अपनाया जायेगा।

अग्रदूतों का अवतरण अधर्म का विनाश और धर्म संस्थापन का उद्देश्य लेकर होता है। भगवान् ने जब भी अवतार लिए है तब उनकी समस्त गतिविधियाँ इन्हीं दो प्रयोजनों के लिए नियोजित रही हैं। बड़े संघर्ष और बड़े प्रतिष्ठापन के लीला संदोह में प्रमुख रूप से सम्मिलित रहे हैं। लङ्का दहन और रामराज्य की स्थापना की उभय पक्षीय गतिविधियाँ परस्पर भिन्न प्रकार की दीखते हुए भी एक दूसरे की पूरक है। अधर्म का नाश अर्थात् गतिविधियों में सम्मिलित अवांछनीयताओं का उन्मूलन। धर्म का संस्थापन अर्थात् सत्प्रवृतियो और सत्परम्पराओ का परिपोषण, अभिवर्धन। इन्हीं दो प्रयोजनों का लोक व्यवहार में इन दिनों समावेश होना है। उनके प्रयोग एवं प्रकार तो अनेको होगे पर प्रयोजन एक ही रहेगा— धार्मिकता का पुनरुत्थान, पुनर्जीवन तथा कायाकल्प जैसा सर्वतोमुखी परिवर्तन।

आस्तिकता, आध्यात्मिकता और धार्मिकता का जीवन दर्शन में जितना समावेश होगा उसी अनुपात से व्यक्तित्व उभरेगा। आस्था सङ्कट का निवारण इसी त्रिवेणी संगम के अवगाहन में सम्भव हो सकेगा। आस्था संकट ही आज की समस्त विकृतियों और विभीषिकाओं के लिए जिम्मेदार है। अस्तु निवारण और निराकरण उसी का होना चाहिए। समस्याओं का आत्यन्तिक समाधान और किसी प्रकार नहीं हो सकेगा।

युग परिवर्तन का श्रीगणेश आस्था क्षेत्र में उत्कृष्टता की प्रतिष्ठापना के साथ होता है। व्यक्तित्व वस्तुत: आस्था समुच्चय का ही दूसरा नाम है। उसी स्तर के अनुरूप आकांक्षाएँ उभरती है। आकांक्षाएं विचारणा को दिशा देती हैं। विचारणा के दबाव में शरीर की गतिविधियां चलती हैं। गतिविधियो के अनुरूप परिस्थितियाँ ही स्वर्ग, नरक, उत्थान, पतन, विकास, विनाश आदि नामों से निरूपित होती रहती हैं।

पतन को उत्थान मे बदलना हो—नरक को स्वर्ग बनाना हो तो तदनुरूप परिस्थितियाँ बननी चाहिये। परिस्थितियाँ गतिविधियों की परिणति हैं। गतिविधियाँ शरीर की कार्यपद्धति को कहते है। शरीर पर मन का परिपूर्ण नियन्त्रण है। मन:क्षेत्र का सूत्र संचालन इच्छायें करती हैं। इच्छायें अन्तराल के आस्थापरक स्तर के अनुरूप उठती हैं। यही तत्वदर्शन का खुला रहस्य है। जो इसे जानते है वे पत्ते धोने की अपेक्षा जड़ को सींचते है। फुन्सियों की मरहम पट्टी की अपेक्षा रक्त शोधन पर अधिक ध्यान देते है। मच्छर मारते फिरने का श्रम करने की अपेक्षा गन्दी नाली साफ कर डालने की आवश्यकता अनुभव करते है।

सामयिक परिस्थितियों पर दृष्टिपात करने से उनमें उभरी हुई विकृतियों और विभीषिकाओं के अनेकानेक रूप दिखाई पड़ते हैं। वे एक दूसरे से भिन्न भी दिखाई पड़ती हैं उनके समाधान भी स्थिति के स्वरूप को देखते हुए भिन्न-भिन्न प्रकार के सोचे जाते हैं। प्रत्यक्षवाद के आधार पर समाधान इसी प्रकार सम्भव दिखाई पड़ता है।

शारीरिक दुर्बलता का निवारण—पौष्टिक आहार और रुग्णता का निराकरण चिकित्सा उपचार से ही सम्भव प्रतीत होता है। किन्तु परोक्ष तक पहुँचने वालों को इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि यह सारा बखेड़ा असंयम की दुष्प्रवृत्ति ने उत्पन्न किया है। असंयम के रहते हुए भी पुष्टाई और दवाई का खिलवाड़ तो चलता रह सकता है, पर उनसे दुर्बलता एवं रुग्णता का स्थायी निवारण कदापि सम्भव न हो सकेगा। तात्कालिक उपचार से जादुई लाभ तो मिल भी सकता है। किन्तु स्थिर स्वास्थ्य की अपेक्षा रखने वालों को संयम-साधना को जीवन नीति बनाकर चलना होगा। भौतिकवाद और अध्यात्मवाद के दृष्टिकोण का यह स्तर हर क्षेत्र में समझा जा सकता है। प्रत्यक्ष कितना ही प्रभावी क्यों न हो, आत्यंतिक समाधान परोक्ष के आधार पर ही निकलता है।

मानसिक विक्षोभ से जन-जन को तनावग्रस्त, खिन्न, उद्विग्न, निराश एवं नीरस भारभूत जीवन जीते पाया जाता है। मनोविकारों की प्रबलता से अनुकूलताएँ प्रतिकूलताएँ बनती है। सामान्य परिस्थितियाँ विकृत चिन्तन के कारण तिल जैसी होते हुए भी ताड़ जितनी भयानक प्रतीत होती है। लोग परिस्थितियाँ बदलना चाहते है। पर जिस अनुपयुक्त दृष्टिकोण के कारण वे उत्पन्न होती है, उसके बदलने की बात तक नहीं सोचते। झरना झरता रहे और बहाव को मेड़ बाँधकर रोकने में श्रम किया जाता रहे तो थकान और निराशा के अतिरिक्त और कुछ पल्ले पड़ने वाला नहीं है। स्वस्थता की तरह प्रसन्नता भी आवश्यक है पर उसे परिष्कृत दृष्टिकोण के मूल्य पर ही खरीदा जा सकता है। शरीर सुख-संयम पर निर्भर है और मानसिक सन्तोष चिन्तन के सन्तुलन पर। यह तथ्य भले ही आज न सही हजार वर्ष बाद समझा जाए, किन्तु समाधान सही निष्कर्ष पर पहुँचने और सही उपाय अपनाने पर ही सम्भव हो सकेगा।

आज व्यक्ति और समाज के सामने अगणित समस्याएँ और विभीषिकाएं मुँह बाये खड़ी है। उनका निराकरण बुद्धियोग द्वारा प्रत्यक्ष उपचारों, सामयिक उपायों के आधार पर सोचा जाता है। मस्तिष्क की दौड़-धूप इतनी ही है। विग्रहों को साम, दाम, दण्ड, भेद जैसे कूटनीतिक उपायों से हल करने का बरताव ही उसने देखा समझा है। उन्हें क्रियान्वित करने में भी कोई कसर नहीं रखी जाती। आर्थिक सुधार के लिए गरीबी हटाओ अभियान के अन्तर्गत गृह उद्योगों से लेकर विशालकाय कारखाने लगाने तक का प्रावधान, पंचवर्षीय योजनाओं में है। निजी क्षेत्र भी इस संदर्भ में कुछ उठा नहीं रख रहा है। पर कठोर श्रम और मितव्ययिता की तपश्चर्या का सिद्धांत जन-जीवन में उतर न पाने के कारण बड़ा हुआ उपार्जन दुर्व्यसनों की बढ़ोत्तरी तक को पूरा नहीं कर पाता और दरिद्रता जहाँ की तहाँ बनी रहती है। इस कुचक्र में से निकल सकना अर्थोपार्जन और व्यय व्यवस्था में आदर्शवादी सिद्धान्तो का समावेश किये बिना सम्भव ही नहीं हो सकता। प्राचीनकाल में उपार्जन बहुत सीमित था और आज की तुलना में सुविधा साधन कहीं कम थे। फिर भी यह देश स्वर्ण सम्पदाओं का स्वामी और विदेशियों की दृष्टि में सोने की चिड़िया बना हुआ था। गरीबी चाहे आज मिटे चाहे सौ वर्ष बाद अर्थ क्षेत्र में आदर्शवादिता का समावेश किए बिना और कोई स्थायी हल नहीं। अमेरिका सबसे ज्यादा समृद्ध होते हुए भी आर्थिक उद्विग्नता का जितना शिकार है उतना आदिवासी क्षेत्र भी असन्तुष्ट दिखाई न पड़ेगा।

परिवारों की स्थिति का यदि सही मूल्यांकन किया जाय तो स्थिति सराय से अधिक उपयुक्त न मिलेगी। भेड़ें बाड़ों में रहती हैं और कैदी जेलों में। सद्भाव और सहकार के अभाव में होटलो में की जाने वाली चटक-मटक भी कितनी कृत्रिम, कितनी नीरस और कितनी कुरूप कर्कश लगती है, उसे सभी जानते है। आर्थिक अभाव रहते हुए भी परिवारों में स्नेह-सौजन्य के सहारे स्वर्गीय आनन्द का रसास्वादन किया जा सकता है। इसके लिए साधनों की जितनी आवश्यकता है, उससे कहीं अधिक सुसंस्कारिकता की। यह उपलब्धि बाह्य व्यवस्थाओं के सहारे ही सम्भव हो सकती है।

समाज मे अनेकानेक मूढ़ मान्यताओं, कुरीतियों, अवाछनीयताओं, अनैतिकताओं की भरमार है। अपराध बेहिसाब बढ़ रहे है। प्रामाणिकता दिन-दिन घट रही है। सज्जनता का प्रतिपादन तो है पर प्रचलन नहीं। सहकारिता का समर्थन जोरो से होता है और आर्थिक क्षेत्र में उसका लँगड़ा-लूला कलवर भी बना है। किन्तु पारस्परिक व्यवहार में सहकारिता एवं उदारता को खोज निकालना अति कठिन है। आपाधापी की शतरंज का नशा बुरी तरह चढ़ा है। हर कोई दूसरे को मात देने और अपनी गोटी लाल करने में सारी अक्लमन्दी निचोड़े दे रहा है। ऐसी दशा में समाज सच्चे अर्थों में समाज कैसे बने और किसी जनसंकुल क्षेत्र को सच्चा राष्ट्र कैसे कहा जाय?

कलह और विग्रहों के असंख्य क्षेत्र हैं। सबके अपने-अपने कारण हैं। भाषा, प्रान्त, धर्म, वर्ग, वर्ण आदि में निहित स्वार्थों को लेकर परस्पर टकराव की इतनी अधिक घटनाएं होती हैं कि उनका निराकरण कानून और पुलिस के द्वारा अत्यन्त स्वल्प मात्रा में ही निकल पाता है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर चलने वाले दाव-पेचों और कुटिल कुचक्रों से शीत युद्धों की भरमार बढ़ती जा रही है। गरम युद्ध की, अणु आयुधों से लड़े जाने वाले तृतीय एवं अन्तिम युद्ध की सम्भावनाएं तेजी से समीप आ रही हैं। घटना चक्र पर दृष्टिपात करने से महा प्रलय का दिन दूर दिखाई नहीं पड़ता। इस विग्रह से निपटने में तो कानून और पुलिस जैसे अनुबन्ध भी कुछ काम करते नहीं दीखते।

समस्याओं की यह मोटी झाँकी है। इस स्तर के अगणित कारण हैं जो व्यक्ति और समाज को सुखी समुन्नत बनाने वाले सभी प्रयत्नों को व्यर्थ करते चले जाते हैं। इन विग्रहों के रहते आर्थिक, वैज्ञानिक, बौद्धिक उपलब्धियाँ कोई समाधानकारक हल खोजने मे अपनी असमर्थता प्रकट कर रही हैं। इन परिस्थितियों में पीछे मुड़कर देखना होगा और वस्तुस्थिति समझने के लिए गहराई में उतरना होगा। परिस्थितियों का उत्तरदायित्व मन:स्थिति पर लदा हुआ है। मन:स्थिति का भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं, वे आस्थाओं एवम् आकांक्षाओ पर आधारित हैं अन्त:करण ही वह क्षेत्र है जो व्यक्तित्व के स्तर को उठाता गिराता है। मनुष्य ने स्वयं अपना इतिहास सृजा है। वर्तमान की परिस्थितियों के लिए भी वही पूरी तरह उत्तरदायी है। भविष्य को उज्ज्वल या अन्धकारमय बनाना पूरी तरह उसी के हाथ मे है।

युग परिवर्तन के प्रत्यक्ष आधार अनेक हैं। व्यक्ति और समाज का जीवनक्रम अनेकानेक क्षेत्रो में विभाजित है। उन सभी में घुसी हुई दुष्प्रवृत्तियों का निराकरण और सत्प्रवृत्तियों का उन्नयन आवश्यक है। इसके लिए अनेकों कार्यक्रम बनाने और साधन जुटाने पड़ेंगे! इतने पर भी मूल तथ्य जहाँ का बना रहेगा। आस्था क्षेत्र का उन्नयन व्यक्तित्व के तीनों क्षेत्रों में करने के लिए अगले दिनों प्रबल में इन्हीं तीनों प्रवाहों को जन-जीवन में समन्वित करने के लिए प्रधान रूप से ध्यान दिया जाना है और इसके लिए प्रबल पुरुषार्थ किया जाना है।

जागृत आत्माओं का अग्रगमन

आध्यात्मिकता और आदर्शवादिता एक ही तथ्य के दो परोक्ष और प्रत्यक्ष पक्ष हैं। जिसके अन्तराल में आत्मवादी तत्व दर्शन को स्थान मिल चुका होगा उसे आदर्शवादी रीति-नीति अपनाने के लिये विवश होना पड़ेगा। प्राचीन काल की साधु और ब्राह्मण परम्परा इसकी साक्षी है कि जिनने भी आत्मवादी सिद्धान्तों को हृदयंगम किया वे नर पशुओं जैसी संकीर्ण स्वार्थ परायणता और नर पामरों जैसी अनीति लिप्सा के दल-दल में नहीं फँसे। वे लोभ और मोह के भव बन्धनों में जकड़े जाने के लिये सहमत नहीं हुये।

शरीर को वाहन और आत्मा को देवत्व का प्रतिनिधि मानने वाले के लिये यह सम्भव ही नहीं हो सकता कि लालची और व्यामोह ग्रस्त लोगों जैसा हेय स्तर अपना कर हेय जीवन जिये और वासना, तृष्णा के लिये मानव जन्म के सुयोग्य सौभाग्य को कौड़ी मोल लुटा दें। सामान्य जनों की तुलना में ऊँचा सोचना और ऊँचा करने के लिये उसकी अन्त:प्रेरणा निरन्तर दबाती है, फलत: उसे अपनी गतिविधियों को उस स्तर की बनाना होता है जैसी कि महामानव अपनाते है।

अन्तराल से क्षुद्रता हटाने पर व्यवहार में महानता का प्रकटीकरण हुये बिना रह ही नहीं सकता। यह अध्यात्मवाद नहीं उसका भोंड़ा प्रतिबिम्ब भर है। जिसमें कोई पूजा पाठ तो बहुत करे और कथा सत्संग में भी आगे रहे किन्तु व्यवहार में संकीर्ण स्वार्थपरता के व्यामोह में ही जकड़ा पड़ा रहे। कर्मकाण्डों तक सीमित रह जाने वाली तथा चिन्तन और चरित्र को उदात्त बनाने में असमर्थ रहने वाली आध्यात्मिकता को वास्तविक नहीं उसकी छाया भर कह सकते हैं। ऐसी छाया जिसमें सामर्थ्य तनिक भी नहीं होती, मुखौटा भर पहन कर मात्र दिखावा उत्पन्न करती है।

नव युग का आधार अध्यात्म है। परिवर्तन का केन्द्र-बिन्दु आस्था क्षेत्र है। अन्तराल में उत्कृष्टता का तत्व दर्शन प्रतिष्ठित होने पर उसका सबसे प्रथम और सबसे अधिक प्रभाव जीवनयापन की दिशाधारा निर्धारित करने के निर्णय पर पड़ेगा। आकांक्षा में आस्तिकता के प्रति सरसता उत्पन्न होते ही आत्म गरिमा को जीवन्त और समुन्नत बनाने में ही सर्वोपरि सफलता और बुद्धिमता प्रतीत होगी। बुद्धि को उसी दिशा में चल पड़ने का ताना बाना बुनना पड़ेगा और शरीर को उसी स्तर की गतिविधियाँ अपनाने का आदेश अपनाना और अभ्यास करना होगा। यही है दिव्य-जीवन।

उत्कृष्टता के इस स्तर का उदय ही मनुष्य में देवत्व का उदय है। यह तत्वदर्शन जब बहुसंख्यक लोगों द्वारा अपनाया जाता है तो समाज क्षेत्र में शालीनता और सहकारिता की पुण्य परम्पराएँ सहज ही चल पड़ती हैं। इसी प्रचलन से उत्पन्न सुखद परिस्थितियों को धरती पर स्वर्ग का अवतरण कहते हैं।

नव युग किस प्रकार बोया जायेगा—किस प्रकार उगेगा और बढ़ेगा ? उसकी फसल कैसे कटेगी, इसका तारतम्य जानने वालों को आस्था, विचारणा और क्रिया में विकसित होने वाली आध्यात्मिकता के उन्नयन की युग योजना को समझना होगा। महाकाल ने उसका राजमार्ग निश्चित किया है और उस पर अग्रगामियो के प्रत्यक्ष जत्थे को अविलम्ब चल पड़ने का निर्देश दिया है।

जागृत आत्माओं के अन्तःक्षेत्र में नवयुग की दिव्य किरणों का अवतरण

जागृत आत्माओं पर ऊर्ध्वगामी उल्लास की तरह उतरने वाले प्रेरणा पर्व-बसन्त का शुभारम्भ अब निकट है। परिवार के अधिकांश व्यक्तियों को एक ही प्रकार की आन्तरिक अनुभूतियां हो रही हैं कि उन्हें मूर्छितों की तरह अस्त-व्यस्त स्थिति में नहीं पड़े रहना चाहिए वरन् ऐसी रीति-नीति अपनानी चाहिए जिसे जागृतों और जीवितों के अनुरूप कहा जा सके।

लगता है कोई भीतर से उमडता-घुमड़ता है और बन्दीगृह में पड़े रहने से इनकार करता है। बन्धनों से छूटना चाहता है ? यह कौन है ? प्रतीत होता है यह अपनी ही अन्तरात्मा है जिसे नर पशु की स्थिति अपने लिए छोटी और असह्य प्रतीत हो रही है। गर्भ भ्रूण भी जब परिपक्व हो जाता है तो उदरदरी में सीमाबद्ध रहने से इनकार कर देता है। इस इनकारी में उसे प्राण हथेली पर रखकर—अविज्ञात परिस्थिति में रहने का दुस्साहस करना पड़ता है। इस दुस्साहस के कारण न केवल उसे स्वयं को एवं संबद्ध जन्मदात्री को भी प्रसव पीड़ा सहनी पड़ती है। किन्तु किया क्या जाय ? यथास्थिति बनी रहने में भी खैर नहीं उसका फलितार्थ और भी अधिक दुखद है। उस स्थिति में अधिक चिन्ता और अधिक संकट का सामना करना पड़ता। प्रसव संघर्ष कष्ट कर ही है, उसकी उथल-पुथल भी असाधारण है इतने पर उज्ज्वल भविष्य की सम्भावना को स्पष्ट देखते हुए भ्रूण की, उसकी जन्मदात्री की अन्तरात्मा निश्चिन्त रहती है कि जो होने जा रहा है, वह कष्टकर भले ही हो, अनिष्टकारक नहीं है।

इन दिनों युग निर्माण परिवार के परिजनों की अन्तःभूमिका मे प्रायः ऐसी ही खिचड़ी पक रही है। लगता है कोई समर्थ सत्ता उन्हें झकझोर रही है और कह रही है कि अरुणोदय की इस पुण्य बेला में वही किया जाना चाहिए जो जागृतों के लिए शोभनीय है। वह नहीं होते रहना चाहिए जिसे मूर्छित और अविकसित मनोभूमि के—पिछड़े व्यक्तित्व के लोग अपनाये रहते है। क्या करना चाहिए ? इसका उत्तर अपने ही भीतर से प्रतिध्वनित होता है परिवर्तन। ढर्रे का परित्याग और नव जीवन का शुभारम्भ यही वह हलचलें है जो इन दिनों हममें से अधिकांश के अन्तःकरणों में उठ रही हैं। यह घटनाक्रम नहीं है। जिसे आँखों से देखा जा सके किन्तु अन्तःजगत की हलचलें भी प्रकारान्तर से घटनाओं की सृजन कर्त्री होती हैं इसलिए उनका महत्व भी कम नहीं समझा जा सकता।

जागृत आत्माओं के अन्तर्जगत में चल रहा वर्तमान मंथन उन्हें तीन प्रेरणायें दे रहा है। इन्हें गंगा, यमुना, सरस्वती का मिलन संगम कहा जा सकता है। प्रेरणा पर्व पर अवतरित होने वाली त्रिपदा गायत्री की इन्हे तीन प्रकाश किरणें भी कहा जा सकता है। ऐसी प्रकाश किरणें भी कहा जा सकता है। ऐसी प्रकाश किरणें—जिनके आलोक में वर्तमान को समझ सकना और भविष्य का निर्माण कर सकना संभव हो सके।

जिस प्रकार शाखा संगठन अपनी रचनात्मक गतिविधियों के समाचार भेजते है उसी प्रकार अपनी आन्तरिक हलचलों का व्यक्तिगत विवरण भी लिखने और परामर्श प्राप्त करने लगे है। इन विवरणों से विदित होता है कि महाकाल परिवार की जागृत आत्माओं को बेतरह झकझोरना आरंभ कर दिया है और सोते-जागते अन्धकार से प्रकाश की ओर—मरण से अमृतत्व की ओर—असत् से सत् की ओर—चल पड़ने के लिए असाधारण रूप से दबाव डाल रहा है। वे अनुभव करते हैं कि परिवर्तन की घड़ी निकट आ पहुँची है अब उसे अधिक समय टाला न जा सकेगा। कायाकल्प की बेला को ऐसे ही झुठला देने—टरका देने की छलना प्रयास तो बहुत करती है पर उसकी दाल इस बार कदाचित् ही गल सके, ऐसा प्रतीत होता है। सर्प भी अनुकूल ऋतु में केंचुली बदल लेता है। नर जीवन पर छाई हुई पशु प्रवृत्तियों की केंचुली सम्भवतः कितनों को ही इन्हीं दिनो उतारनी पड़ेगी।

नवयुग के अनुरूप नव जीवन की तीन प्रेरणायें है (१) जीवन व्यवसाय में ईश्वर की साझेदारी को कारगर

बनाया जाय । (२) युग धर्म का परिपालन अन्य दैनिक आवश्यकताओं की तरह नित्य कर्म में सम्मिलित रखा जाय । (३) जीवन का उत्तरार्ध इतना शानदार बनाया जाय जिसमें आत्म शान्ति, ईश्वरीय अनुकम्पा और लोक श्रद्धा का समन्वित वरदान मिल सके ।

देवता प्रेरणायें देकर अपनी अनुकम्पा पूर्ण कर देते हैं। इसके उपरान्त मनुष्य का कर्तव्य आरम्भ होता है। दिव्य प्रेरणाओं का स्वभाव अभ्यास मे उतारने के लिए जो पुरुषार्थ करना पड़ता है उसी का नाम तप साधना है। विभूतियां साधना से मिलती है । देवता सीधे किसी पर सम्पत्ति नहीं बरसाते । यदि वे ऐसा किया करें तो फिर मनुष्य बुरी तरह अकर्मण्य हो जाय । फिर पुरुषार्थ और पात्रता की कोई आवश्यकता ही न रहे और सर्वत्र भयंकर अन्धेर मच जाय । न कभी देवता ने किसी के घर छप्पर फाड़कर अशर्फियां का घड़ा गिराया है और न किसी विचारशील को वैसी आशा ही करनी चाहिए । देवता की प्रेरणा—मनुष्य की तदनुरूप साधना दोनों का समन्वय ही उपयुक्त प्रतिफल प्रस्तुत करता है। बीज की समर्थता, धरती का अनुदान, बादलों का अनुग्रह उपलब्ध होते हुए भी किसान को प्रबल पुरुषार्थ की आवश्यकता रहती ही है । उसके बिना फसल का लाभ कहां मिल पाता है। साधना का शुभारम्भ भर उपासना से होता है। उसे फलित होने के लिए उपासना का तत्वज्ञान जीवन व्यवहार के साथ पूरी तरह समन्वित करना होता है । सस्ते मोल में मंहगी उपलब्धियाँ पाने के लिए लालायित बाल-बुद्धि के लोगों को यह कठिन प्रतीत हो सकता है पर इससे क्या, तथ्य तो अपनी जगह अडिग ही रहेंगे । दिव्य प्रेरणाओं को—जीवन साधना के रूप में विकसित किये बिना महत्वपूर्ण वरदान पाने का अन्य कोई रास्ता है ही नहीं । इस तथ्य को युग निर्माण परिवार के परिजनों ने हजार बार सुना और सौ बार समझा है, सो वे आध्यात्मिक उपलब्धियाँ प्राप्त करने के लिए कल्पना—जल्पना से आगे बढ़कर जीवन साधना की अनिवार्य आवश्यकता को समझ भी चुके है । इन दिनों इसके लिए वे साहस भरी तैयारियाँ करने में भी लग रहे है।

जीवन व्यवसाय में ईश्वर की सार्थक साझेदारी से मिलने वाली उपलब्धियाँ कहीं अधिक हैं । जीवन में ईश्वर की—चेतना की, कितनी बड़ी पूंजी लगी है, कितनी अनुकूलतायें उसने उत्पन्न की हैं, कितना श्रम सहयोग उसका बरस रहा है। इतने पर भी प्रतिफल में से उसका लाभांश न देने की बेईमानी जैसी नीति अपनाते रहना अनुचित है । इसमे लाभ सोचा तो जाता है पर वस्तुतः हानि अधिक है । बैंक की पूंजी से बड़े-बड़े मिल व्यवसाय चलते हैं । इस तरह एक प्रकार से बैंक भी परोक्ष रूप से उस व्यवसाय में साझीदार बन जाती है । बैंक से ऋण लेने वाले—नियत अवधि पूरी होने पर पैसा वापिस भी लौटाते हैं और ब्याज भी देते है । यदि इस व्यवस्था में व्यतिरेक उत्पन्न किया जाय न तो पूंजी लौटाते रहने का क्रम चलाया जाय और न ब्याज दी जाय तो फिर गतिरोध उत्पन्न होगा। नया ऋण मिलना बन्द हो जायगा । और पिछली देनदारी वसूल करने के लिए कड़ाई बरती जाने लगेगी । जीवन व्यवसाय में ईश्वरीय अनुदान को बैंक ऋण माना जाय । लूट का माल नहीं । बैंक को इस बात से ही आपत्ति होगी कि ऋण जिस काम के लिए लिया गया था उसे न करके दुर्व्यसनों और फिजूल खर्चियों में उड़ा दिया जाय। ऐसे कर्जदारों का नाम भी बैंक अपनी व्यवहार सूची मे से काट देती हैं। और आदान-प्रदान बन्द हो जाता है।

यह तथ्य दर्पण की तरह स्पष्ट है कि जीवन व्यवसाय में ईश्वर की साझेदारी का क्रम सुव्यवस्थित चल पड़ने से इतना अधिक लाभ है जितना संसार के और किसी व्यापार व्यवसाय मे हो ही नहीं सकता । झूठे धर्म व्यवसाइयों और ईश्वर प्रवंचकों की बात दूसरी है पर सच्ची ईश्वर भक्ति तो ऐसी उद्योग नीति है जिससे लौकिक और पारलौकिक दोनों ही क्षेत्र के असीम लाभों की संभावना विद्यमान है। सुदामा, नरसी, अर्जुन, हनुमान, ध्रुव, प्रहलाद, विभीषण, ईसा, गान्धी, बुद्ध, महावीर, नानक, कबीर, विवेकानन्द, दयानन्द आदि ने सच्ची ईश्वर भक्ति का मार्ग अपनाया । वे स्वयं धन्य बने और असंख्यों को समुन्नत बनाने में योगदान देकर श्रेय सम्मान पाया ।

साझेदारी का सिद्धान्त पाने लौटाने—'गिव एण्ड टेक'—आदान और प्रदान के ऊपर टिका हुआ है। बीज बोने और फसल उगाने—पूंजी लगाने, लाभ कमाने का तथ्य सर्वविदित है । ईश्वर की प्रसन्नता एवं अनुकम्पा प्राप्त करने के लिए सस्ता खिलवाड़ करते रहने से नहीं शालीनता के उच्चस्तरीय नियमों का परिपालन आवश्यक है । ईश्वर भक्ति का शुभारम्भ उपासना अनुष्ठानों के साथ बहुत पहले कराया जा चुका है। इस उपक्रम में आत्मिक प्रगति के मार्ग पर चलते हुए परम लक्ष्य परमेश्वर तक पहुँचने के समस्त सिद्धान्त और कार्यक्रम समझाये जा चुके हैं । अब आगे का पुरुषार्थ आरम्भ होना चाहिए । पट्टी पूजन, बीजारोपण, उद्घाटन समारोह, शिलान्यास आदि

का महत्व सभी जानते हैं । पर बात उतने मात्र से ही हो तो समाप्त नहीं हो जाती । श्री गणेश के बाद भी बहुत कुछ करना पड़ता है। नवजात शिशु को प्रौढ़ बनाने तक माता-पिता को क्या-क्या करना पड़ता है यह समझा जा सके तो यह तथ्य भी हृदयंगम हो सकेगा कि पूजा-अर्चा के शुभारम्भ से लेकर ईश्वर की प्रसन्नता अनुकम्पा पाने की मंजिल कितनी लम्बी है और उसमें जीवन साधना के रूप में क्या-क्या करना होता है।

ईश्वर की जीवन व्यवस्था में साझीदारी के लिए उपासना के शुभारम्भ के उपरान्त अब (१) साधना (२) स्वाध्याय (३) संयम और सेवा के चार कदम आगे बढ़ाने की आवश्यकता है। परमार्थ प्रयोजनों में हमारे अंशदान की मात्रा बढ़नी चाहिए । शरीर परिवार की तरह ही आदर्शों के परिपालन और परिपोषण के लिए भी कुछ किया जाना चाहिए और ऐसा किया जाना चाहिए जो जागृत आत्माओं की जीवन चर्या के अनुरूप हो । सिद्धान्त निश्चित हो जाने पर उसका व्यवहार हर कोई अपनी मनःस्थिति और परिस्थिति के अनुरूप बना सकता है। जो इस दिशा में जितना साहस करेंगे, जितने उदार बनेंगे उन्हें सच्चे ईश्वर भक्तों की पंक्ति में खड़े होने और उन्हीं जैसा लाभ प्राप्त करने का अवसर मिलेगा, यह सुनिश्चित है ।

वसन्ती प्रेरणा की दूसरी किरण है—युग धर्म का परिपालन। तत्वदर्शी जानते हैं कि आज की विभीषिकाओं का एकमात्र कारण मानवी गतिविधियों में पशु प्रवृत्तियों की मात्रा बढ़ जाना ही है। संतुलन को संभाले बिना प्रस्तुत समस्याओं के समाधान और कठिनाइयों के निराकरण का और कोई मार्ग है नहीं । जनमानस का भावनात्मक परिष्कार ही आज की अगणित विपत्तियों और विभीषिकाओं के निवारण का एकमात्र उपाय है। पत्ते पोंछने की अपेक्षा जड़ सींचने से ही मुरझाये पेड़ को हरा बनाने का उद्देश्य पूरा होगा । फुन्सियों पर मरहम लगाना ही पर्याप्त नहीं, रक्तशोधन का उपचार भी होना चाहिए । मक्खी, मच्छर, कृमि, कीटक, विषाणु और दुर्गन्ध को हटाने में सफलता प्राप्त करनी हो तो वह गन्दगी हटानी चाहिए जहाँ से वे अवांछनीय तत्व उत्पन्न होते हैं । युग धर्म की माँग है कि इन दिनों परमार्थ आकाँक्षा को अस्त-व्यस्त न किया जाय। उसे ध्रुव केन्द्र पर नियोजित किया जाय—वह केन्द्र है-ज्ञानयज्ञ । विचार-क्रान्ति को युग-परिवर्तन का आधार माना जाय । हमारे चिन्तन और प्रयासों को इन दिनों अर्जुन के मछली की आंख भर देखने की तरह ज्ञानयज्ञ के एक ही लक्ष्य पर नियोजित रहना चाहिए । अन्य समयों में पुण्य परमार्थ के और अनेक उपाय भी उपयुक्त समझे गये होंगे पर आज के आपत्तिकाल में जलते हुए छप्परों पर पानी डालने की एक ही प्रक्रिया में हमें पूरी तत्परता के साथ लगना चाहिए । जन मानस का परिष्कार इन दिनों जागृत आत्माओं का एक ही कार्यक्रम रहना चाहिए । इसी पर हमारी समस्त विचारणा और क्रियाशीलता को केन्द्रीभूत रहना चाहिए । आज का युग धर्म-आपत्ति धर्म यही समझा जाना चाहिए ।

तीसरी प्रेरणा—जीवन की महान पूर्णाहुति के रूप मे जागृत आत्माओं को, वानप्रस्थ परम्परा को पुनर्जीवित करने मे अपना अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए । भारतीय के गौरव भरे अतीत की रीढ़ यह वानप्रस्थ परम्परा ही रही है । प्रखर और परिपक्व लोक सेवी इसी नर-रत्नों की खदान मे से निकलते रहे हैं । सार्वजनिक जीवन को पवित्र और प्रखर बनाये रहने वाले शिल्पी और प्रहरी इसी क्षेत्र में उत्पन्न होते रहे हैं । नवयुग का निर्माण बड़ा काम है । जन मानस का परिष्कार उच्चस्तरीय लोगों द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है। वे न तो पैसा देकर खरीदे जा सकते है और न यश सम्मान का लालच देकर बुलाया जा सकता है । पैसे और मान के लोभी अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए सावर्जनिक क्षेत्र को उलटा विकृत करके रखेंगे । ओछे लोगों द्वारा भावनात्मक नव-निर्माण की अपेक्षा करना व्यर्थ है। उनके अभिनय से तो उलटी अश्रद्धा उत्पन्न होगी। नव युग के अवतरण का तप करने के लिए भागीरथों, दधीचों, ध्रुव, प्रहलादों की आवश्यकता पड़ेगी। यह उपार्जन वानप्रस्थ की उर्वर भूमि में ही सम्पन्न हो सकता है। विश्व के भविष्य और मनुष्य के भाग्य का निर्माण इन्हीं दिनों हो रहा है । अस्तु उसके लिए उपयुक्त व्यक्तियो की आवश्यकता जितनी आज है उतनी पहले कभी नहीं रही। इसकी पूर्ति के लिए दूसरों से आगे आने को कहने के लिए वाणी में तभी बल आ सकेगा जब उसके लिए अपना उदाहरण पहले प्रस्तुत करें । व्यस्त लोगों को वर्ष में एक दो महीने का समय निकालने वाले कनिष्ठ वानप्रस्थ—और परिस्थिति अनुकूल हो तो समग्र वानप्रस्थ के रूप में अपने आत्मिक स्तर की पदोन्नति का प्रयत्न किया ही जाना चाहिए । ब्रह्मवर्चस् प्रशिक्षण प्रायः इसी मनोभूमि के लोगो के लिए है ।

इन दिनों परिजनों के अन्तःक्षेत्र मे जो आदर्शवादी उमंगें उमड़ रही है उनके पीछे उपरोक्त ईश्वरीय प्रेरणाओं

के सन्देश भरे रहते है । साहस की कसौटी पर प्रखरता की परख अपने आप हो रही हैं। इन दिनों युग शिल्पियो के अन्तर्गत में उभरती हुई इन भाव संवेदनाओं मे नवयुग के अवतरण की प्रथम किरणों का दिव्य दर्शन सहज ही किया जा सकता है।

जिनकी चेतना में दिव्यता का तनिक भी प्रकाश उगा है उन सब महामानवो के भीतर एक ही स्तर की विचार तरंगे उमड़ रही है । घटायें घुमड़ रही है, बिजली चमक रही है अब घनघोर वर्षा मे अधिक विलम्ब नहीं हैं । विश्व मानव का उत्कृष्ट चितन जब सक्रिय रूप धारण करगा—सृजन मेघ बनकर बरसेगा तो आज की तपन कल जल थल को एक करने वाले सुषमा—शीतलता और हरितिमा का दृश्य ही चारो ओर बिखरा दिखाई देगा । इस परिवर्तन के लिए अब अधिक प्रतीक्षा नही करनी पडेगी।

भावनात्मक स्तर पर बदला हुआ मनुष्य—प्रस्तुत परिस्थितियो मे समग्र परिवर्तन उपस्थित करेगा । देखने में शरीर, मकान, नदी, पर्वत, यही सब रहेंगे पर इन कलेवरों के अन्तर्गत प्राण दूसरा ही होगा । तब लोग अपने दुख से पड़ौसी के दुख को और अपने सुख से दूसरों के सुख को कम नही अधिक ही मानेगे । तव संकीर्ण स्वार्थपरता के लिए चिन्तन मे कोई स्थान न होगा. हर व्यक्ति यही सोचेगा कि जिस समाज के अनुदान से उसका व्यक्तित्व विनिर्मित और विकसित हुआ है उसे सुविकसित समुन्नत बनाने के लिए अधिक से अधिक योगदान करना चाहिए । ऐसी मन:स्थिति मे हर मनुष्य स्नेह और सौजन्य का प्रतीक होकर रहेगा । शालीनता और सज्जनता उसकी नीति होगी। अपने लिए कम दूसरो के लिए अधिक की प्रतिस्पर्द्धा मे लोग अधिकार के लिए नही लड़ेंगे वरन् कर्तव्य पालन में कौन अग्रणी रहा इसकी प्रतिस्पर्द्धा करेंगे । तब मनुष्य मनुष्य का शत्रु नहीं मित्र बनकर रहेगा । एक दूसरे को सन्देह अविश्वास और आशंका की दृष्टि से नहीं देखेंगे। एक दूसरे पर विश्वास करके चलेंगे भी और उस मान्यता की यथार्थता भी सिद्ध करेंगे । न कटुता की आवश्यकता पड़ेगी न कर्कशता की । न्याय और विवेक की प्रधानता के कारण न कहीं अनैतिकता दिखाई देगी और न कहीं भ्रम द्वेष के लिए स्थान रहेगा । लोग सीधा-सादा सरल और हर्षोल्लास भरा जीवन जियेंगे ।

इसी की पूर्व भूमिका इन दिनों आदर्शवादी उमगों के रूप में प्रज्ञा परिजनों के अन्त:करणों में उठती-उछलती दिखाई पड रही है जिसे आज हर कोई स्पष्ट रूप से अनुभव कर रहा है ।

मनुष्य का भावी स्वरूप

मनुष्य कैसा था ? क्या बन गया ? और क्या बनने जा रहा है ? इन प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए चिरकाल से ऊहापोह चल रही है । स्वर्ग से आदम हव्वा धरती पर धकेल दिए गए और उन्होंने यहाँ आकर जो सन्तानें उत्पन्न कीं वे मनुष्य बन गईं । ब्रह्मा ने सृष्टि उत्पन्न की और उसी समय श्रेष्ठ प्राणी के रूप में मनुष्य को सृजा । इन आख्यानो से मानवी बुद्धि सन्तुष्ट नहीं होती । खोज बीन करने वाला वैज्ञानिक मन इस सन्दर्भ मे तर्क व प्रमाणों को आधार मान कर खोजें करता रहा है ।

मानवीय विकास के कालक्रम के अनुरूप उसकी सभ्यता का स्वरूप देखने पर स्पष्ट होता है कि प्रारम्भिक स्तर में मानव शरीर की दृष्टि से तो विशालकाय था पर कल्पना व विचारणा की दृष्टि से मन्द था । इस समय प्रधानता भी शरीर बल की थी । परिवर्धित प्राण सुस्पष्ट शरीर की विकसित होने की पहचान थी । पी. लिबर मैन मोर ऑन हयूमेन इवाल्यूशन में कहते हैं कि इस काल में शारीरिक वीरता ही सर्वश्रेष्ठ गुण था । आवश्यकता भी इसी की थी । मनुष्य को शरीर बल के सहारे ही सिंह, व्याघ्र तथा अन्य इन्हीं जैसे हिंसक प्राणियों से लड़ना पड़ता था । एम. स्टैनफोर्ड ने लिंग्विस्टिक, एन एनालिटिकल अप्रोच मे वरच्यू शब्द की उत्पत्ति 'विर' से बताई है जो संस्कृत के वीर शब्द से बना है । इसके विश्लेषण में उनका कहना है सभ्यता के उदय काल में वीरता का स्थान सर्वोपरि था । शरीर बल की ही प्रधानता है । प्रतिभा पुरुषार्थ का यही अकेला क्षेत्र था ।

इसके बाद मानसिक संकल्पना व भावना का उदय हुआ । प्रकृति का सिद्धान्त है कि जिस तत्व की उपयोगिता समझी जायेगी आवश्यकता अनुभव की जाएगी और प्रयोग में लाई जाएगी वह बढ़ेगी, मजबूत होगी । मनुष्य के सम्बन्ध में यही हुआ । शारीरिक बल को गौं चिन्तन को श्रेष्ठ माना जाने लगा । भावनाएँ उदय हुई । परिवार व्यवस्था पनपी, समाज सुसंगठित हुआ । इसी समय प्रथम काव्य मुखरित हुआ, वेदों की ऋचाएँ गूँजी । यह था धरती का प्रथम सतयुग, अथवा यों कहे भावनामय युग । आत्मीयता इसी युग में पहले पहल पनपी समाज को सुव्यवस्थित रखने के लिए शासन व्यवस्था गूंजी गई । कर्तव्य कर्म की मीमांसाएँ हुईं । स्मृतियाँ प्रकाश मे आयीं। के. एन. गप्तनेन "इंडियन कल्चर एंड" मे इसी मन का प्रतिपादन किया है । मन का विकास होने पर शरीर

कहीं चला गया हो ऐसा नहीं, उसका अस्तित्व बरकरार रहा पर आवश्यकतानुरूप। एक चीज अवश्य घटित हुई शरीर को मन का अनुगामी बनना पड़ा। पहले जहाँ शारीरिक शक्तियों का ही गुणगान होता था अब मानसिक शक्तियों का ही वर्चस्व स्वीकारा गया। सुव्यवस्था आत्मीयता व भावना से ओत-प्रोत वातवरण की दृष्टि से उस सतयुग को अभी भी सराहा जाता है।

इस विकास के आयाम में एक नया आयाम आया-बौद्धिक विकास का। इस काल मे तरह-तरह के अन्वेषण हुए। सभ्यता ने नया रूप लिया। काव्य के स्थान पर विज्ञान प्रकाश में आया। भावना के स्थान पर बुद्धि का वर्चस्व हुआ। पुरानी मान्यताएँ टूटीं, नए आधार गढे गए। ऐसा लगने लगा कि पुराना सतयुग ढह गया। कुछ ने इसे घोर अनर्थ कहा अब क्या होगा ? बुद्धि अपने रंग बिरगे रूपों में सामने आयी। भावना-मय युग की मान्यताएँ एक-एक करके अस्वीकृत होने लगीं वही है वह काल जिसे हम वर्तमान कह सकते हैं और जिसमें हम जी रहे हैं।

आज की स्थिति भले हमें कष्टप्रद लगे, दयनीय प्रतीत हो। पर वास्तविकता कुछ और है जिन्हें पहले के दिव्यदर्शी ऋषियों ने जिन्होंने मानवीय चेतना के आयामो को जाना था उल्लेख किया है। भगवान कृष्ण गीता मे स्पष्ट करते हैं "मनसस्तु पराबुद्धे" अर्थात् मन के बाद बुद्धि। तो यह समय भी अपने विकास का अनिवार्य चरण है, इसे आना ही था। किन्तु यह अन्तिम नहीं है। यह तो केवल बीच की एक कड़ी भर है।

अब प्रश्न यह बचता है कि क्या बनने जा रहा है मनुष्य ? इसका उत्तर बहुत आसान है। गीता की भाषा में कहें "बुद्धे परतस्तु स:" अर्थात् बौद्धिक सभ्यता के बाद आध्यात्मिक सभ्यता। यह आध्यात्मिक सभ्यता शब्द बिलकुल नवीन है। पिछले सतयुग मे अथवा वर्तमान तक व्यक्ति आध्यात्मिक हुआ करते थे। सभ्यता आध्यामिक हुई हो, ऐसा कभी सुना नहीं गया और सुना नहीं जा सकता था। शारीरिक प्राणिक युग में कोई आध्यात्म का नाम तक नहीं जानता था। भावनामय युग अथवा सतयुग में व्यक्ति आध्यात्मिक हुए। व्यक्ति को आध्यात्मिक बनाने के लिए तरह-तरह की प्रणालियाँ खोजी गई। जिनका अवलम्बन करके व्यक्ति आध्यात्मिक हो सकता था। पर पूरा समाज आध्यात्मिक हो यह अभी तक के मानव के लिए नयी बात है पर है सत्य।

श्री अरविंद "लाइफ डिवाइन" में भावी युग अथवा अध्यात्म युग का वर्णन करते हुए कहते हैं कि यह सतयुग पिछले से भिन्न होगा। इन्हीं मनुष्यों में से एक नवीन प्रजाति जन्म लेगी। एक ऐसी प्रजाति जो अभी से पूर्णतया भिन्न होगी। यह भिन्नता शक्ल सूरत की दृष्टि से नहीं अपितु आचार व्यवहार सामाजिक संरचना की दृष्टि से होगी। फिर मनुष्य की बुद्धि, मन व शरीर का क्या होगा ? इस प्रश्न के उत्तर में वह कहते हैं कि ऐसा नहीं होगा कि मनुष्य इन सबसे विहीन हो। पिछले युगों मे भी ऐसा नहीं हुआ।

मन का विकास होने पर शरीर लुप्त नहीं हुआ। वरन् उसे मनका अनुगामी बनना पड़ा। बुद्धि के विकास पर मानव शरीर लुप्त नहीं हुए पर उनकी क्रिया विधि मे व्यापक फेर बदल हुई। इस स्थिति में बरबस बुद्धि की आज्ञाकारित स्वीकारनी पड़ी। मन व शरीर दोनों बुद्धि के सेवक हो गए। अब बारी बुद्धि के सेवक बनने की है। उसे आत्मा का सेवक बनना होगा। मन व शरीर भी इसी का अनुगमन करेंगे। दूसरे शब्दों मे इसे यह भी कह सकते हैं कि समूची मानवी सत्ता आत्मा की अनुगामिनी बनेगी। यह स्थिति किसी अकेले व्यक्ति की नहीं वरन् पूरे समाज की होगी।

डॉ. राधाकृष्णनन "आइडियलिस्टिक व्यू आफ लाइफ" में कहते हैं कि "अध्यात्म के सम्बन्ध में लोगों की मान्यताएँ भ्रमात्मक हैं।" वस्तुत: अध्यात्म कोई अजूबा न होकर एक जीवन दृष्टि है। जिसके अनुसार जीवन जीने का अर्थ है सबमें अपनत्व। भावी युग में मानवीय जीवन का व्यवहार केन्द्र बिन्दु यही रहेगा। सहयोग-सहकार, प्रेम-स्नेह सहृदयता के रूप मे मानसिक गुण बुद्धि के गुणों मे विवेक, परिष्कृत विचारणा, प्रखर चिन्तनशीलता किसी व्यक्ति तक सीमित न रह कर समूचे समाज, सारी सभ्यता को आप्लावित कर लेंगे। उन्हीं को स्वाभाविक मानकर जीना पड़ेगा। यद्यपि प्रवाह से कोई बचेगा नहीं। किन्तु बच निकलने की कोशिश वाले उसी तरह पिछड़ जायेंगे जैसे अपने विकास में बन्दर पिछड़ गया। भावी युग के मनुष्य की तुलना में आज का अनगढ मानव कुछ इसी प्रकार का होगा।

इस आध्यात्मिक सभ्यता का प्रसव काल पूरा होने को है। अच्छा यही है कि हम भी भावी युग के अनुरूप गुणों को अपने मे तेजी से विकसित करें ताकि हमें पिछड़ना व चिरकाल के लिए पछताना न पड़े।

सतयुग आने ही वाला है

कलियुग समाप्ति और सतयुग के आरंभ के संबन्ध में स्थूल दृष्टि से देखने पर काम न चलेगा वरन् इस सम्बन्ध में सूक्ष्म तत्वों पर दृष्टिपात करना पड़ेगा। इसके लिये इस चतुर्युगी पर विचार करना पर्याप्त न होगा, बल्कि और भी पीछे का हिसाब देखना होगा। इस समय श्री श्वेतवाराहकल्प चल रहा है, इसमें ६ मन्वन्तर और २८ चतुर्भुजी बीत चुकीं। ७२ चतुर्युगी का एक मन्वन्तर होता है, इस प्रकार ६ मन्वन्तरों में ४३२ चतुर्युगी और इस सातवें वैवस्वत मन्वन्तर में २८ चतुर्युगी, इस प्रकार वर्तमान कल्प में ४६० चतुर्युगी व्यतीत हो चुकीं।

जिस प्रकार ऋतुओ के परिवर्तन तथा प्रातः, मध्याह, सन्ध्या और रात्रि आदि के समय पृथ्वी का निकटवर्ती वातावरण बदलता रहता है उसी प्रकार सूर्यमण्डल में ईश्वरेच्छा से युगों का वातावरण परिवर्तित होता रहता है। अदृश्य लोकों में सत, रज, तम में से जिनकी न्यूनाधिकता होती रहती है उसी के अनुसार युगों का आविर्भाव होता है। यद्यपि युगों की अवधि निर्धारित है तो भी प्रकृति जड़ होने के कारण वह चैतन्य सत्ता द्वारा शासित है। अतएव जब कोई दिव्य चेतना में जागृत आत्माएँ उसमें परिवर्तन करना चाहती हैं तो कर लेती है। बीच-बीच मे यह समय घट बढ़ जाता है पर कल्प का पूरा हिसाब अन्ततः ठीक ही बैठता है। सत् के कारण १७ लाख २८ हजार वर्ष सतयुग, सत रज के कारण १२ लाख ९६ हजार वर्ष त्रेता, रज तम के कारण ८ लाख ६४ हजार वर्ष द्वापर, एवं तम के कारण ४ लाख ३२ हजार वर्ष कलियुग होता है। कई बार उच्च योग्यताओ में जागृत आत्माएँ जब अवतीर्ण होती है तो युग धर्म को हटा कर अपनी इच्छानुसार नवीन वातावरण भी बना डालती है। स्वायम्भूमन्वन्तर के त्रेता युग में राम ने अवतार लेकर उस समय सतयुग की ही सृष्टि कर दी थी। द्वापर का कृष्णावतार बीच में ही सतयुग को बहुत दिनों तक प्रकट करने में समर्थ हुआ है।

इसी प्रकार कुछ तम प्रधान, आत्माएँ भी समय पर अवतीर्ण हुई हैं। रावण, कुम्भकरण, मेघनाद, सरीखी तामसी चेतनाओं ने त्रेता मे कलियुग उपस्थित कर दिया। कई बार तो वृत्तासुर, त्रिपुर आदि तामसी आत्माएँ लगातार कई चौकड़ी तक तम का वातावरण बनाये रहीं हैं और अविचल रूप से कलिकाल छाया रहा है।

उच्च कोटि की, ईश्वरीय सत्ता में जागृत आत्माएँ अपने निजी अनुभव से बताती हैं, कि इन ४६० चतुर्युगियों ६८ करोड़ वर्ष तम में व्यतीत हो चुके हैं। जबकि एक कल्प में रहने वाले तम की अपेक्षा भी कुछ काल अधिक व्यतीत हो गया। अब और अधिक समय तम में व्यतीत होना किसी प्रकार बाँछनीय नहीं है। योग दृष्टि से देखने पर विदित होता है कि अदृश्य जगत् में दिव्य आत्माएँ इस बात के लिये प्रबल प्रयत्न कर रही हैं कि अब तुम को अधिक स्थान न मिलना चाहिये। तदनुसार युगान्तर आरम्भ हो रहा है। पिछले कुछ वर्षों से तम की समाप्ति और सत का आगमन आरम्भ हो गया है और यह कार्य बहुत जल्द पूरा होने वाला है। अब वह युग दूर नहीं है जिसमे सत् का साम्राज्य होगा। वह सतयुग आरम्भ हो गया है, उसका पूरा-पूरा आविर्भाव होने मे कुछ समय भले ही लगे, अब सतयुग का आगमन सुनिश्चित है।

सतयुग कैसे आवेगा ?

अब कलियुग समाप्त होकर सतयुग आरम्भ हो रहा है, ऐसा अनेक तर्कों, प्रमाणो, युक्तियो, अनुभवों और भविष्यवाणियों से प्रकट है। पापो का नाश होकर धर्म का उदय होगा। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि सतयुग कैसे आवेगा ? यह कार्य एक दिन मे पूरा नही हो जावेगा, वरन् इसके लिए कुछ समय लगेगा। यह समय एक सौ वर्ष का हो सकता है। इस एक शताब्दी में कलियुग के अस्त और सतयुग के आरम्भ की सन्ध्या रहेगी। बुराई क्रमशः घटती जायँगी और भलाई क्रमशः बढ़ती जायँगी। यह भी सम्भव है कि इस बीच में कभी-कभी पाप कर्मो के कुछ बड़े-बड़े कार्य दीख पड़ें। क्योकि जब दीपक बुझने को होता है; तो उसकी लौ एक बार जोर से बढ़ती है, फिर वह बुझ जाती है। रोगी मरने से पूर्व जोर की हिचकी लेता है और प्राण त्याग देता है। सूर्योदय से पूर्व जितना अँधेरा होता है, उतना रात्रि के और किसी भाग में नहीं होता। वर्षा से पहले बड़े जोर की गर्मी पड़ती है या यों कहिये कि अधिक गर्मी पड़ना ही वर्षा का कारण होता है। जब चींटी के पर आते हैं, तो कहते हैं बस, अब बेचारी का अन्त आ गया। गरदन कटते समय बकरा जितना शोर मचाता और पाँव पीटता है, उतना जीवन भर में कभी भी नहीं करता। कलियुग की गर्दन अब सत्य की छुरी से कटने जा रही है, हो सकता है कि वह इन अन्तिम दिनों में खूब चिल्लाये, फड़फड़ाये और पाँव पीटे।

सन् दो हजार आते ही एकदम सतयुग फट नहीं पड़ेगा और न यह धरती आसमान बदल जायेंगे। सब यही रहेगा।

मनुष्य भी यही रहेंगे । डरना या घबड़ाना न चाहिये, यह कल्पान्त नहीं है, युगान्त है । इस समय युद्धो, महामारियो और दुर्भिक्षों का जोर रहने से जनसंख्या घट जायगी, पर प्रलय नहीं होगी । गत महायुद्ध में जितने मनुष्य मरे थे, इस युद्ध में उससे अधिक मरेंगे पर यह संहार रुपये में दो आने भर, अष्टमांश से अधिक न होगा । इतनी जनसंख्या घटने बढ़ने से सामूहिक दृष्टि से कोई बड़ा भारी अनिष्ट नहीं समझना चाहिए । यह कमी अगली एक शताब्दी में ही पूरी हो जायगी ।

सतयुग आरम्भ में स्वः लोक में आवेगा, फिर भुवःलोक में तत्पश्चात् भूलोक में दृष्टिगोचर होगा । स्वः लोक का अर्थ मन, भुवः लोक का अर्थ वचन, भुः लोक का अर्थ कर्म है । सबसे प्रथम जनता के मनों में शुभ संकल्पों के प्रति आकर्षण उत्पन्न होगा । बुरे कर्म करने वाले भी सत्य की प्रतिष्ठा करेंगे, आदतों के कारण कोई चाहे चोरी करता रहे पर उसका मन अवश्य ही धर्म की महत्ता को समझेगा । कुकर्मी लोग मन ही मन पछताते जायेंगे और कभी-कभी एकान्त में दुखी हृदय से भगवत् प्रार्थना करते रहेंगे कि हे प्रभो ! हमें सद्‌बुद्धि दो हमें दुष्ट कर्मों के पंजे से छुड़ाओ । दूसरों को शुभ कर्म करते देख कर मन में प्रसन्नता होगी । ज्ञान चर्चा सुनने को जी चाहेगा। छोटे बालक भी हरि कथा, कीर्तन और सत्संग से प्रेम करेंगे। घर और कमरे आदर्श वाक्यों, आदर्श चित्रो से सजाये जायेंगे, फैशन में कमी हो जायगी, बाबू लोग मामूली पोशाक पहनने लगेंगे, प्रभुता और ऐश्वर्य प्राप्त लोगों को भोगों से अरुचि होकर धर्म में प्रवृत्ति बढ़ेगी । मन ही मन लोग सत्य-नारायण की उपासना करेंगे, झूठे और पाखण्ड देख कर मन ही मन चिढ़ेंगे । असत्य द्वारा चाहे अपना ही हित होता हो, पर लोग उससे घृणा करेंगे। सत्य पक्ष द्वारा यदि अपना अहित हुआ हो तो भी बुरा न मानेंगे । जब इस प्रकार के लक्षण दिखाई देने लगें तो समझना चाहिए कि सतयुग स्वः लोक में ब्रह्म लोक में आ गया । पूरा सतयुग तो कभी भी नहीं आता क्योंकि सृष्टि की रचना सत, रज, तम तीनों गुणों से हुई है । यदि एक भी गुण समाप्त हो जाय तो सृष्टि का ही नाश हो जाय । युगों में तत्वों की न्यूनाधिकता हुआ करती है । सतयुग के आरम्भ में सत् की अधिकता होगी । स्वः लोक में मनों में, मस्तिष्कों में, सत् की झाँकी मिलेगी । कहीं-कहीं वचन और कर्म में भी दिखाई देगा, पर बहुत कम । वचन और कर्म तो वैसे ही रहेंगे । स्वः लोक में सतयुग का आगमन उच्च आध्यात्मिक भूमिका में जागृत हुए मनुष्यों को दिखाई देगा । सर्व साधारण को उसका पहिचानना कठिन होगा ।

स्वः लोक में नीचे उतर कर जब सत् युग भुवः लोक मे आवेगा तो मन और वचन दोनों में सत्यता प्रकट होने लगेगी । केवल मन में ही सत्य के प्रति आदर न रहेगा वरन् वाणी से भी प्रशंसा होने लगेगी । आजकल जैसे धर्म के लिए कष्ट उठाने वाले और तपोनिष्ठ लोगों को मूर्ख कहा जाता है, इस समय वैसा न कहा जायगा । तब खुलेआम सत्कर्मियो की प्रशंसा की जायगी । लेखनी और वाणी से प्रेस और प्लेट-फार्म द्वारा सत्य का खूब प्रचार होगा । यद्यपि करने वालों की अपेक्षा कहने वाले ही उस समय भी अधिक होंगे, पर कोई-कोई अपने विचारों को कार्य रूप में भी प्रकट करेंगे । उपदेश करने वालों की संख्या में वृद्धि होगी । धार्मिक पत्र-पत्रिकाओं को आदर मिलेगा। मामूली व्यापारिक काम-काजों में भी सत्य को स्थान मिलेगा । दुकानदार और ग्राहक "एक दाम" की कीमतें पसन्द करेंगे । झूठे, चुगलखोर, बकवादी, जगह-जगह दुत्कारे जायेंगे । तब चालाकी से बातें करने वाले बुद्धिमान नहीं, मूर्ख समझे जायेंगे । सत्यवक्ताओं का समाज में आदर होगा । आत्म-ज्ञान सम्बन्धी पुस्तकें खूब छपेंगी, उनके पढ़ने पढ़ाने का क्रम बढ़ेगा । कठोर, अप्रिय, उद्धत, अश्लील वचन बोलना क्रमशः कम होता जायगा और विनय, नम्रता, मधुरता लिये हुए बातें करने का प्रचार बढ़ेगा। अश्लील गालियों के विरोध में ऐसा आन्दोलन होगा कि यह प्रथा बिलकुल बन्द हो जायगी ।

भूःलोक में जब सतयुग उतरेगा तो दृश्य ही दूसरे दिखाई देंगे । सत्य, प्रेम और न्याय को आचरण में प्रमुख स्थान मिलेगा । आज कल झूठ बोलने का रिवाज संमाज की बिगड़ी हुई दशा के कारण है, जब समाज की आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, शारीरिक और मानसिक दशाऐं सुधर जावेंगी, तो झूठ बोलने से कुछ प्रयोजन न रहेगा । मनुष्य जीवन की सभी आवश्यकताऐं जब सरलता पूर्वक पूर्ण हो जाती हैं, तो झूठ बोलने का पाप कौन करेगा ? फिर लोक मत झूठ के विरोध में हो जायगा, इसलिए बलात् सबको सत्य का मार्ग ग्रहण करना होगा । हर काम को करते समय मनुष्य सोचेगा, इसमें प्रेम और न्याय है या नहीं । कर्म और अकर्म की तब एक ही कसौटी होगी, वह यह है कि—किया जाने वाला कार्य प्रेम और न्याय से पूर्ण है या नहीं । अपने हित की अपेक्षा जब दूसरे के हित को अधिक

ध्यान मे रखने की मनोवृत्ति बन जायगी तो सच्चा सतयुग प्रकट होगा। राजगद्दी का प्रश्न आवेगा तो उसे भरत राम को और राम भरत को देना चाहेंगे। कैकेयी की प्रसन्नता के लिए कौशिल्या अपने पुत्र को खुशी खुशी वन जाने की आज्ञा देगी। सुमित्रा आज्ञा कहेगी कि हे लक्ष्मण, तुम्हार लिए अवध वहीं है जहाँ राम रहें। इसलिए बड़े भाई के साथ वन को जाओ। सीता जी अपने को कष्टो के कण्टकों मे घिसटाना पसन्द करेंगी, किन्तु पति की सेवा का लोभ न त्यागेगी। उस सतयुग में ऐसे परिवार हो जायेगे। भाई, माता, विमाता, पत्नी, इस प्रकार के प्रेम सूत्रो में बँधे होंगे। राजा प्रजा को पुत्र के समान समझेंगे। जब प्रजा कहेगी कि हम राजा की ऐसी पत्नी पसन्द नही करते, जिसे कलंकित समझा जाता है, तो राम अपनी छाती पर पत्थर बाँध कर और सीता कलेजे को वज्र बनाकर प्रजा की इच्छा पर अपने को तिल-तिल करके विरह वेदना की भट्टी मे जलाने के लिए भी तत्पर हो जायेंगे। प्रजा के लिए राम का यह सर्वोत्कृष्ट त्याग है, भावना को दृष्टि से देखा जाय, तो इस त्याग की उपमा इतिहास मे मिलना कठिन है। जब भूःलोक मे सतयुग आ जायगा, तो ऐसी घटनाओं का मिलना भी कठिन न होगा। एक दो नही, हर जगह अनेक घटनायें ऐसी घटित होगी, जिनमें प्रेम और न्याय का ऊँचा आदर्श झिलमिल करता हुआ दिखाई देगा। फिर भी दुष्ट-कर्मी थोड़ी बहुत मात्रा में बने रहेगे, क्योंकि प्रकृति त्रिगुण-मयी है।

लोको की सूचना आयु के हिसाब से भी मिलेगी। बालकपन सात्विकी अवस्था ह। युवा राजसी और वृद्धावस्था तामसी। भू.लोक का सतयुग पहले २५ वर्ष से कम उम के, प्रथम अवस्था वाले किशोर बालको मे उतरेगा। २५ वर्ष से कम अवस्था वालो के हृदयो में सबसे अधिक सत्य की प्रेरणा होगी। उनके निर्मल हृदयों पर वैसे ही सतयुग झलकेगा, जैसे निर्मल जल में किसी वस्तु की परछाईं साफ-साफ दिखाई देती है। इन नवयुवकों के हृदय में स्वभावतः श्रद्धा और भक्ति होगी। वे कलियुगी बड़े उम्र वालों के क्रोध के भाजन बनेंगे, डाँट फटकार और दुख-दण्ड सहेगे, पर युग का प्रभाव उन्हें विचलित न होने देगा। प्रहलाद की तरह यह बालक बड़े दृढ़, निर्भीक और सत्यनिष्ठ होंगे, ध्रुव की तरह ये तपस्या करेंगे और हकीकतराय की तरह प्राणों को तुच्छ समझेंगे पर सत्य की ही रट लगावेंगे। असुरों के घरों में से ऐसे देव बालको की सेना की सेना निकल पड़ेगी और संसार को आश्चर्य से चकित कर देगी। सतयुग की पहली तिहाई मे ही दिखलाई देने लगेगा। संवत् दो हजार से लेकर संवत् २०३३ विक्रमी तक इन बालको का ही प्रचंड आन्दोलन रहेगा। यद्यपि कर्म में बहुत ही कम परिवर्तन दिखाई देगा। कोई कोई मूर्ख इसे बालक्रीड़ा समझ कर उपहास करेंगे और बालकों के हृदय परिवर्तन को कुछ महत्त्व न देगे, पर उन्हें शीघ्र ही अपनी भूल प्रतीत हो जायगी।

जब सतयुग भुवः लोक में उतरेगा तो सत्य का प्रकाश बढ़ेगा और तरुण पुरुषों को २५ से ५० वर्ष की आयु वालों को भी इसमें सम्मिलित होना पड़ेगा, वे सत्य, प्रेम और न्याय का विरोध करने का साहस न करेंगे एवं वाणी द्वारा उसका समर्थन करने लगेंगे। बालक और तरुण मिल कर इस आन्दोलन का नेतृत्व करेगे। मन और वचन सत्य गुञ्जित हो जावेगा। किन्तु कर्म फिर भी अधूरे रहेंगे। मरणोन्मुख कलियुग बार बार जीवित हो जायगा। उसकी चिता में से बार बार दुःखद चिनगारियां उड़ेगी, कभी कभी तो सतयुग के आगमन पर लोगो को अविश्वास तक होगा, पर भविष्य उनके भ्रम का निवारण कर देगा। सत्य की हमेशा विजय ही होती है।

वृद्ध लोग अपने पुराने धुराने, सड़े गले, गन्दे, सन्दे विचारों की चहारदीवारी में ही बन्द पड़े-पड़े बड़बड़ाते रहेंगे। आरम्भ में वे बालकों के हृदय परिवर्तन का उपहास करेंगे, जब तरुण भी उनके पक्ष में आ जावेंगे, तो वे अपने स्वभाव के कारण उनका विरोध करेंगे, किन्तु अन्त में युग का प्रभाव उन पर भी पड़ेगा। मृत्युलोक मे जब सतयुग आवेगा, तो उन्हें भी अपने विचार बदलने पड़ेंगे और असत्य को तिलांजलि देकर सत्य की शरण में आ जावेगे। कलियुग जब बिलकुल ही निरस्त हो जायगा, तो वृद्धों की भी मनोदशा बदल जायेगी। फिर वे अधिक उम्र के कारण अर्ध विक्षिप्त न होगे, रोग शोकों के घर न रहेंगे। अपमान के स्थान पर सर्वत्र उनका मान होगा। "साठा सो पाठा" वाली उक्ति कहावत चरितार्थ होगी। आज जैसे वृद्धो को "रिटायर्ड" कह कर एक कोने में पटक दिया जाता है, तब ऐसा न होगा। उस समय वयोवृद्ध अपने सद्ज्ञान के कारण बहुत ही उन्नत दशा में होगे, सतयुग का मर्म समझ जायेंगे और अपने पुत्र-पौत्रों को सत्य-मार्ग मे प्रवृत्त होने का उपदेश देगे। सम्वत् २१०० में यह पूरा हो जायगा। उस समय सतयुग भूःलोक में प्रकट हुआ समझा जायगा।

स्त्रियाँ बुद्धि जीवी नहीं होतीं, उनमें भावना ही प्रधान है। इसलिए वे सतयुग के आगमन की चर्चा को आश्चर्य के

साथ सुनेंगी। उनके कान पुराने संस्कार वश इस बात को स्वीकार न करना चाहेंगे, पर हृदय में भीतर ही भीतर कोई उन्हें प्रेरणा करता हुआ प्रतीत होगा कि यह सब सत्य है। सतयुग अब आ गया है। स्त्रियों का सतीत्व, पतिव्रत जागृत रहेगा। उनका हृदय दया, क्षमा, करुणा और प्रेम से भर जायगा। पति और पुत्रों के लिए बहुत आत्म त्याग करेंगी। दीन-दुखियों को देख कर उनके हृदय पसीज जावेंगे। ऐसी स्त्रियाँ बहुत देखने में आवेंगी, जो पुरुषों के कठोर होते हुए भी दान, धर्म में श्रद्धा रखेंगी। सत्य, प्रेम और न्याय की भावना स्त्रियों में बड़ी आसानी से प्रविष्ट हो जायेंगी और वे पुरुषों की अपेक्षा जल्दी सतयुगी बन जावेंगी।

ऐसा नहीं है कि आयु के उपरोक्त-प्रतिबन्ध सभी पर लागू हों। यह तो साधारण श्रेणी के अचेतन जीवों की बात कही गई है। जाग्रत, नैष्ठिक, उन्नत और जिनको भगवान ने इसी निमित्त भेजा है एवं जिनके भाग्य में सतयुगी अवतार बनना लिखा है, वे बहुत पहले, सतयुग के आदि मे ही, सम्वत् दो हजार के आसपास से ही वरन् इससे भी बहुत पूर्व सावधान हो जायेंगे और नवीन युग के स्वर्ण रथ को स्वर्ग से भूमण्डल पर लाने के लिए अपना सर्वस्व त्याग कर उस रथ में जुत कर सूर्य के सतमुखी घोड़ों के समान कार्य करेंगे। सतयुग तो आने ही वाला है, वह किसी के रोकने से किसी भी प्रकार रुक नहीं सकता, पर इस स्वर्ण अवसर से लाभ उठाने का, अपनी कीर्ति को अमर कर जाने का सौभाग्य उन्हें ही मिलेगा, जो बड़े भाग्यवान हैं, जिन पर ईश्वर की विशेष कृपा है। शेष तो यों ही कुत्ता की मौत मरेंगे और पीछे अपनी भूल पर सिर धुन-धुन कर पछतातें रहेंगे।

सदा कलियुग, सदा सतयुग

समय विभाग की दृष्टि से युगों के समय अलग-अलग है, पर धर्माधर्म की दृष्टि से सदा कलियुग रहता है और सदा सतयुग। प्रति दिन भी यह युग बदलते है। प्रातःकाल ब्रह्म मुहूर्त में सतयुग आरम्भ होता है; मध्यान्ह काल से त्रेता लगता है, सूर्य अस्त होते ही द्वापर आरम्भ हो जाता है और आधी रात बाद कलियुग की तूती बोलती है। आयु के भी इसी प्रकार चार विभाग हो सकते है। छल छिद्रों से रहित, राजा द्वेषों मुक्त बालपन की अवस्था सतयुग है, कर्म, उत्साह, आनन्द की जवानी को त्रेता कह सकते हैं, खसती उम्र, कुछ ढिलमिल पन, उत्साह की कमी यह द्वापर की सूचक हैं, चारपाई पर खों-खो करते हुए मृत्यु की राह में पड़े रहने का समय कलियुग है। तुरीय अवस्था सतयुग जागृति त्रेता, स्वप्न द्वापर और सुषुप्ति को कलियुग कह सकते है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चारो वर्णो पर क्रमशः चारों युगों को घटा सकते हैं। ज्ञानियों को सतयुगी, कर्मयोगी को त्रेतायुगी, व्यवहार बुद्धि वालों को द्वापरी और अज्ञान अन्धकार में पड़े हुए जीवों को कलियुगी कहने में कुछ हर्ज नहीं। इसी प्रकार जीवन के विभिन्न अवसरों पर युग प्रभाव के विभिन्न स्वरूप हम देखते रहते है। यह प्रकट करते हैं कि सब युग हर समयों में जीवित रहते हैं और यथा अवसर प्रकट हो जाते हैं।

प्राचीन युगों के इतिहास पर दृष्टिपात करने से हर युग में उसके अतिरिक्त दूसरे युगों के मौजूद रहने के प्रमाण भी बहुतायत से मिलते है। सतयुग मे हिरण्यकश्यपु जैसे राक्षस मौजूद थे, जिन्होंने पृथ्वी पर बड़ी भारी अनीति फैलादी थी, धरती माता गौ का रूप बना कर भगवान के पास पहुँची थी और तब अत्यधिक पाप का शमन करने के लिए भगवान् को अवतार धारण करना पड़ा था। भस्मासुर जैसे असुर सतयुग में थे, जिसके वध के लिए स्वयं शंकरजी को प्रपंच करना पड़ा। पाप थोड़े अंशों में हो सो बात नहीं। देवताओं से असुर किसी प्रकार कमजोर नहीं थे, वरन् यों कहना चाहिए कि उनकी शक्ति कुछ अधिक ही थी। आये दिन देवासुर संग्राम हुआ करते थे। हमेशा बेचारे देवताओ का पक्ष गिरता हुआ रहता था, वे बार बार भाग कर हिमायत के लिए कभी विष्णु को, कभी ब्रह्मा को, कभी किसी को कभी किसी को लिवा कर लाते, तब कहीं पार पड़ती। ब्रह्माजी से अपनी काम वासना सहन न हुई तो सगी पुत्री के साथ रमण करने के लिए दौड़े, पुत्री बेचारी शर्म के मारे स्वर्ग को भागी, ब्रह्मा जी भी साथ-साथ ही दौड़े फिरे। इन्द्र ने ऋषि की पत्नी अहिल्या से दुराचार किया और कर्मो का फल पाया, चन्द्रमा की नीयत गुरु पत्नी के साथ बिगड़ गई। वशिष्ठ और विश्वामित्र जैसे ब्रह्मर्षि इतने तपस्वी होते हुए भी एक दूसरे की जान के ग्राहक बने रहे। विश्वामित्र ने तो वशिष्ठ के निरपराध छोटे-छोटे बालको का ही गला कतर डाला। कश्यप के आधे बेटे सुर थे आधे असुर। दक्ष राजा में तो इतनी ईर्ष्या थी कि उसने अपने दामाद योगिराज शंकर को उचित यज्ञ भाग देना बन्द कर दिया, शिवजी की पत्नी सती को थोड़ी भी सहन शीलता न हुई, उनके जरा से अपमान के बदले पिता का यज्ञ विध्वंश करने के निमित्त आत्महत्या ही कर डाली। शिवजी भी किसी से कम थोड़े ही थे, स्वसुर का फौरन

ही तो सिर उतरवा लिया। वे अपने पुत्र तक से तो चूके ही नही, जरा सी भूल हुई हुई कि बालक गणेश के कंठ पर कुल्हाड़ा धर बजाया, बेचारे बच्चे का सिर अलग था, तो धड़ अलग। माता की ममता न मानी तो शिव को भी झुकना पड़ा। गणेश के सिर पर हाथी का सिर चिपकाया। गंगावतरण की कथा जिन्होंने पढ़ी है, वे जानते हैं कि उस समय सतयुग में इतने जोर का अकाल पड़ा था कि मनुष्यों को भोजन तो दूर, पानी की बूंद प्राप्त करना भी कठिन हो गया था। उपस्ति ऋषि को तो चाण्डाल के झूठे उर्द खाकर प्राण बचाने पड़े थे। तब भागीरथ जी तप करके गंगा को लाये थे। अधिक इतिहास इन पंक्तियों में नही लिखा जा सकता, पर स्थाली पुलाक न्याय से यह सिद्ध है कि सतयुग मे भी कलियुग के दृश्य दिखाई पड़ते थे।

अब त्रेता की बात लीजिए। उसमें सतयुग भी था और कलियुग भी। जनक जैसे कर्मयोगी, हरिश्चन्द्र, जैसे सत्यनिष्ठ, दधीचि जैसे त्यागी शिवि जैसे दानी मौजूद थे पर साथ ही क्रूर कर्मा और नर पिशाचों की भी कमी न थी। लका के असुर ऐसे बलवान थे कि उन्होंने देवताओ की सारी सम्पदा छीन कर अपने घर में रख ली थी। मद्यप, मांसाहारी, दस्यु, घातक, सभी दुर्गुण उनमें, राम जब वन गमन में गये हैं, तो उन्होंने हड्डियो के पर्वत जमा देखे है। राम ने वहाँ के निवासियों से पूछा है कि यह कैसे पर्वत है, तो बनवासियों ने उन्हें बताया है कि—भगवन् राक्षसों ने बनवासी ऋषियो को मार डाला है, यह उन्हीं के अस्थि पिंजर पड़े हुए हैं। ऐसे ऐसे अन्याय उस समय होते थे। स्वयं राम की अयोध्या में उनकी द्विमाता कैकेयी और उनकी दासी मंथरा की करतूत सबको विदित हैं। राम जब लंका विजय करके घर आये तो कहते हैं कि एक धोबी ने एक विरोधी आन्दोलन किया और बेचारी निर्दोष सीता को घर से बाहर निकलना पड़ा। यह त्रेता के दो भले और दो बुरे पहलू है। भरत का अपने भाई के साथ एक प्रकार का व्यवहार था; तो सुग्रीव और विभीषण का अपने भाइयों के साथ दूसरी प्रकार का। त्रेता में भी हमें दुरंगी दुनियां दिखाई पड़ती है।

द्वापर को लीजिए। राजा मोरध्वज अपने पुत्र को चीर देते है, कर्ण अपने शरीर के टुकड़े दान करता है, भीष्म जीवन भर ब्रह्मचारी रहते है। दूसरी ओर कौरव पक्ष के लोग बड़े-बड़े लोमहर्षक कुकर्म करते है। कंस की अनीति का भला कुछ ठिकाना था, फिर नारद को तो देखिए कैसा सत्य और धर्म से भरा उपदेश देने पहुँचे। 'बहिन के सब बालकों को मार डाला।' अच्छा पथ प्रदर्शन किया, ऋषि जी ने रक्षा का बड़ा अच्छा मार्ग बताया न ? गुरु हों तो ऐसे हों। ब्रह्मा जैसे वयोवृद्ध देवता का बछड़े चुराना, इन्द्र का नाराज होकर सारे व्रज को जल से डुबाना उनकी देव बुद्धि का परिचय देता है। कृष्ण की रास लीला, चीर हरण, सोलह हजार एक सौ आठ रानियां रखना इन सब लीलाओ का गुप्त रहस्य हर किसी की समझ मे नही आ सकता। ऐसा था वह द्वापर। आज की भ्रूण हत्यायें करने वाली कुलटाऐं अपने कर्मो को कुन्ती का उदाहरण देकर ढकना चाहती हैं। आज के राजनीतिक धर्मराज युधिष्ठिर के 'नरोवा कुंजरोवा' वाक्य की पुनरावृत्ति करने में कुछ दोष नहीं मानते।

फिर वर्तमान समय में ठहरा कलियुग, इस युग में तो पाप ही पाप होने चाहिए, धर्म के सारे हाथ, पैर टूट जाने चाहिए, सत्य और प्रेम का कहीं दर्शन भी न होना चाहिए। किन्तु पूर्ण रूप से यह बातें भी फलितार्थ नही हो रही है। प्राणी मात्र पर दया का अमृत बरसाने वाले भगवान बुद्ध और संसार को अहिंसा का पाठ पढ़ाने वाले भगवान महावीर इसी कलियुग में हुए है। प्रेम का अवतार ईसा इसी युग मे प्रकट हुआ। सूर, तुलसी, मीराबाई ने भक्ति की अविरल सरिता इसी युग में बहाई है। कबीर, नानक, समर्थ गुरु रामदास, सन्त ज्ञानेश्वर, नरसी, बन्दा वैरागी को गुजरे अभी ज्यादा दिन नहीं बीते। जिसके होठो का दूध भी नही सूखा, वह वीर हकीकत-राय धर्म के लिए दीवार में जिन्दा चुन जाता है; और हँसता हुआ माता पिता से कहता है, आप लोग दुखी मत होइये, मुझे हर्ष पूर्वक धर्म की वेदी पर बलिदान होने दीजिए, उस अबोध बालक को देखकर, देखने वालों का धैर्य टूट जाता है, पर वह विचलित नहीं होता। पूरन भक्त धर्म के विरुद्ध पथ पर पैर न रख कर एक अनिंद्य सुन्दरी का प्रस्ताव ठुकरा देता है और खुशी खुशी शूली का दंड सहता है। महात्मा सुकरात विष का प्याला पीते हैं; देवी जौन चिता में जलती है, ईसा मसीह हँसता हुआ क्रूस पर चढ़ता है। यह घटनाऐं सतयुग की नहीं, इसी कलियुग की हैं। लोकमान्य, तिलक, महात्मा गाँधी, ऋषि टालस्टाय, जार्ज वाशिंगटन, डॉ. सनयात सेन, महात्मा कार्लमार्क्स इसी युग की तत्त्वदर्शी आत्मा हैं।

हम अपने आस पास ही नजर दौड़ायें तो ऐसे अनेक महानुभावों को पा सकते हैं, जिन्हें सतयुगी कहा जा सके। एक सच्चे आलोचक की दृष्टि से देखा जाय तो बुरे से बुरे जीव मे भी पाप की अपेक्षा धर्म अधिक है। चूंकि पाप बुरी

और अस्वाभाविक चीज है, इसलिए उसका थोडा होना भी अधिक और आश्चर्यजनक प्रतीत होता है। इसलिए हमें इस समय बुराइयां अधिक दिखाई देती हैं, किन्तु तत्वत: ऐसी बात नहीं है। सत से जब तम का अंश प्राणी में अधिक हो जायगा, तो वह पाव भर आटे में तीन पाव नमक की रोटी की तरह स्थिर न रह सकेगा। एक दार्शनिक का कथन है कि "दुनियाँ में कालापन अधिक है, पर सफेदी से अधिक नहीं।" जिस दिन दुनियाँ में धर्म की अपेक्षा पाप अधिक बढ़ जायगा, उस दिन यह पृथ्वी मनुष्यों के रहने योग्य न रहेगी।

आशय इतना ही है कि हर युग मे दूसरे युग भी वर्तमान रहते हैं और वे किसी मनुष्य की स्वाधीनता में हस्तक्षेप नहीं करते। कलियुग में भी धर्म की उन्नति होने और सत्कर्मों के बढ़ने में कुछ भी प्रतिबंध लगा हुआ नहीं है।

मन:स्थिति ही युगों की जन्मदात्री है

एतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि—

कलि: शयानो भवति, संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठन्त्रेता भवति, कृतं सम्पद्यते चरन्।
चरैवेति, चरैवेति, चरैवेति॥

अर्थात्—सोते रहना ही कलियुग है। ऊँघते रहना ही द्वापर है। उठ बैठना त्रेता है और कार्य में लग जाना सतयुग है। इसलिए काम करो, काम करो, काम करो।

युगों की यह परिभाषा बहुत ही ठीक जान पड़ती है। जब हम अज्ञान के अन्धकार में पड़े हुए आलस्य और भ्रममय जीवन व्यतीत करते हैं, तो वह कलियुग है। जब हम अपनी दशा का निरीक्षण करते हैं, भूल पर पछताते हैं, आगे की सुधि लेते हैं, कर्त्तव्य का सम्मान करते हुए ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं, तो वह द्वापर है। जब कर्तव्य धर्म का पालन करने के लिए कमर कस कर खड़े हो जाते हैं। विघ्न बाधाओं की परवाह न करते हुए, साहस के साथ आगे को कदम बढ़ाते हैं, बुराई का घृणा पूर्वक परित्याग करते हुए सत्य रूपी सूर्य का दर्शन करने की तैयारी करते है, तो वह त्रेता हुआ। जिस समय कर्त्तव्य, धर्म को पूरा करने के लिए मनुष्य बेचैन हो जाता है। सत्य के सामने प्राणों को भी तुच्छ समझता है। आलस्य, जड़ता और अज्ञान का परित्याग करके धर्म का पालन करता है विषय विकारों से मन को हटा कर आत्मा और परमात्मा की ओर झुकता है, तब समझना चाहिए कि सतयुग का उदय हो रहा है।

युगों का यह प्रभाव सम्पूर्ण देश और जातियों में सदैव देखने में आता है। कुछ लोग कलियुग में पड़े हुए है, तो कुछ द्वापर में पदार्पण कर रहे हैं। कोई त्रेता तक पहुँच चुका है, तो किसी ने सतयुग में पदार्पण कर दिया है। यह सब युग सदैव वर्तमान रहते हैं, जिसकी जैसी इच्छा होती है, रुचि के अनुसार चुन लेता है। हाट में सभी तरह की चीजें बिक रही है जिसके जी में जो आवे खरीद सकता है। बेशक हाट में गाजर मूली ढेरों हैं और केशर कस्तूरी कम, पर चाहने वाले को तो उसकी इच्छित चीज मिल ही सकती है। चाहे कोई सा भी देशकाल क्यो न हो, सत्पथगामी के लिए अपना आचरण करने की सदैव सुविधा है।

'युग' शब्द समय का सूचक नहीं वह मनोदशा का परिचय कराता है। अज्ञानी और अधर्म रतों को ही कलियुगी जीव कहा जा सकता है। जिनकी आत्मा जागृत है वे क्यों कलियुगी कहे जायेंगे? सतयुग एक दिव्य आदर्श है, जो लोग उस शुभ समय को देखने की इच्छा करते हैं वे इस ऋषि वचन को अपनाते हैं कि चरैवेति, चरैवेति, चरैवेति, अर्थात् काम करो! काम करो!! काम करो!!! सतयुग अपने आप दौड़कर हमारे पास कभी भी नहीं आवेगा, उसको प्राप्त करने के लिए हमें भगीरथ प्रयत्न करना पड़ेगा। उद्योगी पुरुषों को ही लक्ष्मी मिलती है और उद्योगी ही सतयुग का आनन्द लेते हैं। निजी जीवन में सतयुग का अवतरण भी प्रयत्न परायणता पर निर्भर है। हम इस दिशा मे पुरुषार्थ करें, तो उसका लाभ भी हमें मिल कर रहेगा, यह सुनिश्चित है।

कैसा होगा आने वाला प्रज्ञा युग?

हमने भविष्य की झाँकी देखी है एवं बड़े शानदार युग के रूप में देखी है। हमारी कल्पना है कि आने वाला युग 'प्रज्ञा युग' होगा। 'प्रज्ञा' अर्थात् दूरदर्शी विवेकशीलता के पक्षधर व्यक्तियों का समुदाय। अभी जो परस्पर आपाधापी, लोभ-मोहवश संचय एवं परस्पर विलगाव की प्रवृत्ति नजर आती है, उसको आने वाले समय में अतीत की कड़ुवी स्मृति कहा जाता रहेगा। हर व्यक्ति स्वयं में एक आदर्श इकाई होगा एवं हर परिवार उससे मिल कर बना समाज का एक अवयव। सभी का चिन्तन उच्चस्तरीय होगा। कोई अपनी अकेले ही की न सोचकर सारे समूह के हित की बात को प्रधानता देगा।

इस नव युग, प्रज्ञा युग में अब की अपेक्षा असाधारण परिवर्तन हर विषय में दृष्टिगोचर होगा, दिन और रात जैसा।

इन दिनों प्राय: हर व्यक्ति का दृष्टिकोण संकीर्ण स्वार्थपरता की पूर्तिपरक है। उनका चिन्तन यही रहता है कि जिस तरह भी हो लोभ, मोह और अहंकार की पूर्ति होनी चाहिए। वासना और तृष्णा की पूर्ति के अधिक-से- अधिक साधन जुटाना चाहिए। भले ही इसके लिए घृणित-से-घृणित कुकर्म करने पड़ें। अपने कर्तव्यों और दूसरों के अधिकार की उपेक्षा करनी पड़े। स्वार्थ के अतिरिक्त और कुछ सूझता नहीं। नीति और अनीति का अन्तर करनेवाले विवेक की उपेक्षा करने में मनुष्य को तनिक भी संकोच नहीं होता। ईश्वर, धर्म, परलोक और कर्मफल के सम्बन्ध में समझा जाता है कि मानो उसका अब कोई अस्तित्व ही न रह गया हो। मर्यादाओं और वर्जनाओं की कसौटी तो मानो अनावश्यक हो गयी हो। उनका कोई अस्तित्व ही न रहा हो।

परिवर्तित नवयुग में इन सब की सत्ता फिर से उसी प्रकार मान्यता प्राप्त करेगी, जैसे ग्रीष्म की तपन के पश्चात् वर्षा ऋतु आती है और हरीतिमा का मखमली फर्श सब ओर बिछ जाता है। प्यासी धरती पर सब ओर जलाशय भरे हुए दिखते हैं।

मनुष्य आत्मा की सत्ता स्वीकार करेगा और परमात्मा के अस्तित्व को अक्षुण्ण मानेगा। उसे कर्मफल का स्मरण भी रहेगा और उचित अनुचित का अन्तर भी सूझ पड़ेगा। कमाई के लिए धन ही एक मात्र सम्पदा न रहेगी, वरन धर्म का पुण्य परमार्थ का संचय भी आवश्यक माना जायगा। मनुष्य मदोन्मत्त हाथी की तरह नहीं चलेगा। वरन् महावत का अंकुश भी सिर पर विद्यमान देखेगा।'

इन आन्तरिक परिवर्तनों का प्रभाव बाहरी क्रिया कलापों पर भी दृष्टिगोचर होगा।'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के सिद्धान्त को सार्वभौम मान्यता मिलेगी और ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' का आदर्श व्यवहार में भी उतारा जायगा। लोग परमार्थ में स्वार्थ का अनुभव करेंगे और स्वार्थ उसे माना जायगा, जिसमें परमार्थ का समन्वय हो।

विचारणा क्रियाशीलता की जननी है।

विचारणा क्रियाशीलता की जननी है। मनुष्य जिस प्रकार सोचता है, उसी के अनुरूप करता भी है। परिवर्तन जब मान्यता में आयेगा तो क्रिया भी बदलेगी ही। मन बदलता है तो कर्म में अन्तर आये बिना रहता नहीं। उत्कृष्ट चिन्तन, आदर्श चरित्र और न्यायोचित व्यवहार बन पड़ेगा, तो मनुष्य का सोया हुआ देवात्मा जागेगा और वह करेगा, जिससे उसकी गरिमा अक्षुण्ण बनी रहे।

व्यक्ति के इस परिवर्तन के लिए समाज की गतिविधियाँ बदलेंगी। वातावरण में हेर-फेर होगा तो उसके प्रभाव से व्यक्ति भी बचा न रहेगा। इस हेर-फेर में पारिवारिक गतिविधियों में शालीनता का समावेश हुए बिना भी नहीं रहेगा।

व्यक्ति को वह सोचना और करना पड़ेगा जिससे समाज का हित-साधना है और समाज का साँचा ऐसा बनेगा, जिसमें शालीनतायुक्त व्यक्ति ढलते चले जायें। ऐसे उलट-फेर में स्वाभाविक है कि मनःस्थिति बदलने के साथ ही परिस्थितियाँ भी बदलें, विग्रह का स्थान सहयोग ग्रहण करे, दूसरों के हित में अपना हित दिखाई पड़े। ऐसे प्रचलन में स्वार्थ और परमार्थ की सत्ता घुल जायेगी। परमार्थ में ही स्वार्थ दिखेगा और जो सच्चा स्वार्थी है, उसे परमार्थ अपनाना पड़ेगा। हर व्यक्ति अपने आपको समाज का एक छोटा-सा घटक किन्तु अविच्छिन्न अंग मानकर चलेगा। निजी लाभ-हानि का विचार न करके विश्व हित में अपना हित जुड़ा रहने की बात सोचेगा। सबकी महत्वाकांक्षाएँ एवं गतिविधियाँ लोकहित पर केन्द्रित रहेंगी न कि संकीर्ण स्वार्थपरता पर। अहंता को परब्रह्म में समर्पित कर आध्यात्मिक जीवन-मुक्ति का लक्ष्य अगले दिनों इस प्रकार क्रियान्वित होगा कि किसी को अपनी चिन्ता में डूबे रहने की—अपनी ही इच्छा पूर्ति की—अपने परिवार जनों की प्रगति की, न तो आवश्यकता अनुभव होगी, न चेष्टा चलेगी। एक कुटुम्ब के सब लोग जिस प्रकार मिल-बाँटकर खाते और एक स्तर का जीवन जीते हैं वही मान्यता व दिशाधारा अपनाये जाने का औचित्य समझा जायगा।

ऋषि-मुनिगण परिवार बसाकर पूर्ण कुटियों में रहते थे, लेकिन समाज से कटे हुए नहीं थे। उन दिनों लोभ-मोह के बन्धनों को काटने के प्रयास योग साधना-तप पुरुषार्थ द्वारा सम्पन्न होते थे एवं सुनियोजन सत्प्रवृत्ति संवर्धन हेतु होता था। अब उसी कार्य को चिन्तन की उत्कृष्टता, जीवनक्रम के निर्धारण एवं वातावरण के दबाव से सम्पन्न कराया जाएगा। सभी वैसा ही जीवन जीकर सहकारी प्रयासों में निरत होंगे।

प्रज्ञा युग के नागरिक बड़े आदमी बनने की नहीं—महामानव बनने की महत्वाकांक्षा रखेंगे। सच्ची प्रगति इसी में समझी जायगी कि गुण, कर्म, स्वभाव की दृष्टि से किसने अपने आपको कितना श्रेष्ठ समुन्नत बनाया। कोई किसी के विलास वैभव की प्रतिस्पर्धा नहीं करेगा।

वरन् होड़ इस बात की रहेगी कि किसने अपने आपको कितना श्रेष्ठ सज्जन एवं श्रद्धास्पद बनाया। वैभव इस बात में गिना जायेगा कि दूसरे को अनुकरण करने के लिए कितनी कृतियाँ और परम्परायें विनिर्मित कीं। आज के प्रचलन में सम्पदा को सफलता का चिन्ह माना जाता है। अगले दिनों यह मापदण्ड सर्वथा बदल जायगा और यह जाना जायगा कि किसने मानवी और गौरव गरिमा को किस प्रकार और कितना बढ़ाया।

जाति या लिंग के कारण किसी को ऊँचा या किसी को नीचा न ठहरा सकेंगे छूत अछूत का प्रश्न न रहेगा। गोरी चमड़ी वाले काले लोगों से श्रेष्ठ होने का दावा न करेंगे और ब्राह्मण हरिजन से ऊँचा न कहलायेगा। गुण, कर्म, स्वभाव, सेवा एवं बलिदान ही किसी को सम्मानित होने के आधार बनेंगे जाति या वंश नहीं। इसी प्रकार नारी से नर श्रेष्ठ है उसे अधिक अधिकार प्राप्त हैं ऐसी मान्यता हट जायगी। दोनों के कर्तव्य और अधिकार एक होंगे। प्रतिबन्ध या मर्यादायें दोनों पर समान स्तर की लागू होंगी।

धर्म अपने वास्तविक स्वरूप में प्रकट होगा। उस के प्रसार प्रतिपादन का ठेका किसी वेश या वंश विशेष पर न रह जायेगा। सम्प्रदाय वादियों के डेरे उखड़ जायेंगे, उन्हें मुफ्त के गुलछर्रे उड़ाने की सुविधा छिनती दीखेगी तो कोई उपयोगी धंधा अपना कर भले मानसों की तरह आजीविका उपार्जित करेंगे। तब उत्कृष्ट चरित्र, परिष्कृत ज्ञान एवं लोक मंगल के लिए प्रस्तुत किया गया अनुदान ही किसी को सम्मानित या श्रद्धास्पद बना सकेगा। पाखण्ड पूजा के बल पर जीने वाले उलूक उस दिवा प्रकाश से भौंचक्के होकर देखेंगे और किसी कोटर में बैठे दिन गुजारेंगे। अज्ञानान्धकार में जो पौ बारह रहती थी उन अतीत की स्मृतियों को वे ललचाई दृष्टि से सोचते चाहते तो रहेंगे पर फिर समय लौटकर कभी आ न सकेगा।

ज्ञानतंत्र धर्मतंत्र बनेगा

अगले दिनों ज्ञानतंत्र ही धर्म तंत्र होगा। चरित्र निर्माण और लोक मंगल की गतिविधियाँ धार्मिक कर्मकाण्डों का स्थान ग्रहण करेंगी। तब लोग प्रतिमा पूजक देव मन्दिर बनाने की तुलना मे पुस्तकालय विद्यालय जैसे ज्ञान मंदिर वनाने की तुलना में पुस्तकालय विद्यालय जैसे ज्ञान मंदिर बनाने को महत्व देंगे। तीर्थ-यात्राओं और ब्रह्मभोजों में लगने वाले धन लोक-शिक्षण की भाव भरी सत्प्रवृत्तियों के लिए अर्पित किया जायगा। कथा पुराणों की कहानियाँ तब उतनी आवश्यक न मानी जायेंगी, जितनी जीवन समस्याओं को सुलझाने वाली प्रेरणाप्रद अभिव्यंजनाएँ। धर्म अपने असली स्वरूप में निखर कर आयेगा और उसके ऊपर चढ़ी हुई सड़ी गली केंचुली उतर कर कूड़े-करकट के ढेर में जा गिरेगी।

संचित कुसंस्कारिता के शमन, समाधान, प्रतिरोध, निराकरण पर प्रज्ञा युग के विचारशील व्यक्ति पूरा-पूरा ध्यान देंगे। संयम बरतेंगे और सन्तुलित रहेंगे। शौर्य साहस का केन्द्र-बिन्दु यह बनेगा कि किसने अपने दृष्टिकोण, स्वभाव, रुझान एवं आचरण में कितनी उत्कृष्टता का समावेश किया। प्रतिभा, पराक्रम एवं वैभव को इस आधार पर सराहा जायगा कि इस उपार्जन का जनकल्याण एवं सत्प्रवृत्ति सम्वर्धन में कितना उपयोग हो सका। विचारशील लोग इसी आधार पर आत्म-निर्माण करेंगे और पुरुषार्थ का क्षेत्र चुनते समय निजी सुख सुविधाओं की पूर्ति का नहीं, विश्व उद्यान को समुन्नत, सुसंस्कृत बनाने की महानता को महत्व देंगे। अमीरी को नहीं, गरिमा को अपनाया सराहा जायगा। संकीर्ण स्वार्थपरता में संलग्न व्यक्ति तब प्रतिभा के बल पर कहीं कोई श्रेय सम्मान प्राप्त नहीं करेंगे वरन् भर्त्सना के भाजन बनेंगे। श्रमशीलता को बेइज्जती या दुर्भाग्य का चिन्ह न समझा जाय वरन् प्रतिभा विकास— उपलब्धियों का उपार्जन एवं प्रखरता का परिचायक माना जाय तो ही भौतिक विकास की सम्भावना सुनिश्चित हो सकती है। श्रम का असम्मान परोक्ष रूप से दरिद्रता एवं पिछड़ेपन का आह्वान है। निठल्लेपन के साथ एक दुःखद दुर्भाग्य और जुड़ा रहता है। "खाली दिमाग शैतान की दुकान" का युक्ति चरितार्थ करता है। जिनके पास काम नहीं होगा उनका दिमाग दुश्चिन्तन में और शरीर दुर्व्यसनों में निरत होगा। ठाली लोगों में क्रमशः दुर्गुण बढ़ते हैं। समय काटने के लिए वे दोस्तों की तलाश में रहते हैं और जो भी उनके चंगुल में फँस जाता है उसे अपने जैसा बना लेते हैं। नई पीढ़ी की बर्बादी में इन दिनों दोस्तबाजी का एक प्रकार से भयानक दुर्व्यसन बन चला है। आवारा लोगों की चाण्डाल चौकड़ी ही इन दिनों मित्र मण्डली कहलाती है। यह समस्त अभिशाप खाली बैठने के है। इस तथ्य को जितनी गम्भीरतापूर्वक समझा जा सके उतना ही उत्तम है।

दूरदर्शी विवेकशीलता
नीति निर्धारण का आधार बनेगी

प्रज्ञा युग में चिन्तन, आचरण एवं व्यवहार के सभी पक्षों में काया-कल्प जैसा हेर-फेर होगा। यही युग परिवर्तन है। इस परिवर्तन का आधार दूरदर्शी विवेकशीलता

का कसौटी पर कसकर अपनाया गया औचित्य ही होगा। पिछले दिनों का क्या सोचा माना या किया जाता रहा है। इसे भावी रीति-नीति का आधार नहीं माना जायगा वरन् तर्क, तथ्य, प्रमाण न्याय एवं लोकहित की हर कसौटी पर कसने के उपरान्त जो खरा पाया जायगा उसी को अपनाया जायेगा। न किसी को भूत का आग्रह होगा और न कोई भविष्य की अवज्ञा करेगा। वर्तमान का निर्धारण करते समय आज की आवश्यकता और उज्ज्वल भविष्य की सम्भावना को ही महत्व दिया जायगा। यह निर्धारण पूर्वाग्रहों से मुक्ति पाये हुए अन्तःकरण ही कर सकेंगे। अगले दिनों उन्हीं को युग ऋषि माना जायगा और उन्हीं का निर्धारण लोक-मानस द्वारा श्रद्धापूर्वक अपनाया जायगा।

महत्वाकांक्षाओ का सही आधार है। पवित्रता एवं प्रखरता की उच्चस्तरीय अभिवृद्धि। निजी जीवन में गुण कर्म, स्वभाव की दृष्टि से अधिक उत्कृष्ट बनना और लोकोपयोगी कार्यो में अपनी क्षमताओं को नियोजित करके दूसरों के सामने अनुकरणीय आदर्श उपस्थित करना किसी व्यक्ति की गौरव-गरिमा का मानदण्ड बनेगा। लोग सादा जीवन उच्च विचार की भावनाओं से प्रेरित होंगे। जीवन की गरिमा एवं सफलता इस बात में अनुभव करेंगे कि आदर्शवादी प्रगति में कितना साहस दिखाया तथा पराक्रम किया गया। अगले दिनों लोग अपनी चतुरता व सम्पदा तथा सफलता का उद्धत प्रदर्शन करने को छछोरापन मानेंगे और उच्चस्तरीय प्रतिभा का विकास एवं सदुपयोग करने में सन्तोष तथा सम्मान अनुभव करेंगे।

युग-परिवर्तन का आधार
लोकमानस का प्रवाह परिवर्तन

युग परिवर्तन का मूलभूत आधार होगा प्रस्तुत लोक-मानस के अवांछनीय प्रवाह को मोड़-मरोड़कर सही सीधी-सी दिशा में गतिशील किया जाना। इसमें से सर्वप्रथम उस व्यक्तिवाद लोभ लालच पर प्रहार होगा जो अनेकानेक स्तर की महत्वाकांक्षाएँ—ललक-लिप्साएँ उत्पन्न करता है। दूसरों की तुलना में अधिक सुविधा साधन समेटने और बड़प्पन दिखाने वाले सरंजाम जुटाने में लिप्त रहना ऐसी दृष्टि है जो चिन्तन और चरित्र में बेतरह निकृष्टता भरती जाती है। वासना, तृष्णा, अहन्ता पर आधारित भ्रष्ट चिन्तन और दुष्ट आचरण उन्हीं से बन पड़ते है जिनके सोचने में संग्रह, उपभोग और प्रदर्शन की निकृष्टता अनावश्यक मात्रा में घुस पड़ी है। व्यक्तित्व के स्तर को सर्वत्र वांहित ठहराया जायगा और इस आधार पर आगे बढ़ने को पीछे हटने के लिए विवश किया जायगा।

प्रज्ञा युग में हर व्यक्ति सामाजिक नीति मर्यादाओं को महत्व देगा। कोई ऐसा काम न करेगा जिससे मानवी गरिमा एवं समाज व्यवस्था को आँच आती हो। शिष्टाचार, सौजन्य, सहयोग ईमानदारी वचन का पालन, निश्छलता जैसी कसौटियों पर पारस्परिक व्यवहार खरा उतरना चाहिए। अनीति का न तो सहयोग किया जाय और न प्रत्यक्ष परोक्ष समर्थन। सामाजिक सुव्यवस्था के लिए यह आवश्यक है कि मूढ़ मान्यताओं का, अवांछनीय प्रचलनों का, हानिकारक कुरीतियों का, विरोध किया जाय। इस प्रकार छल, शोषण, उत्पीड़न जैसे अनाचारों से भी असहयोग, प्रतिरोध एवं संघर्ष का रुख अपनाया जाय। अनीति आचरण एवं अनुपयुक्त प्रचलनों को समान रूप से अहितकर माना जायगा और उन्हें अपनाना तो दूर कोई उनका समर्थन तक करने को सहमत न होगा।

सब प्रकृति के अनुशासन में रहेंगे

प्रज्ञा युग में शारीरिक और मानसिक व्याधियों से सहज ही छुटकारा मिल जायगा। क्योंकि लोग प्रकृति के अनुशासन में रहकर आहार-विहार का संयम बरतेंगे और अन्य प्राणियों की तरह अन्तःप्रेरणा का अनुशासन मानेंगे, फलतः न दुर्बलता सतायेगा न रुग्णता। असमय बुढ़ापा आने तथा अकाल मृत्यु से मरने का तो तब कोई कारण न रहेगा। मानसिक विक्षोभ, चिन्ता, भय, कृपणता, संकीर्णता, द्वेष, छल, कपट, लोभ, मोह, अहंकार जैसे मनोविकारों के कारण उत्पन्न होते हैं। उन्हीं के कारण लोग तनाव, असन्तुलन, सनक, मतिभ्रम, आवेश उद्वेग उन्माद, अर्ध-विक्षिप्तता, जैसे मानसिक रोगों से ग्रसित रहकर अन्तर्द्वन्द्वों की प्रताड़ना सहन करते हैं, ऐसे ही लोग भूत-पलीतों की तरह विक्षुब्ध पाए जाते हैं।

प्रज्ञा युग में सभी सन्तोषी, नीतिवान, उदार एवं सरल सौम्य जीवन पद्धति अपनायेंगे, मिल-बाँटकर खायेंगे हँसती-हँसाती जिन्दगी जियेंगे। फलतः उन्हें हर परिस्थिति में आनन्द उल्लास से भरा-पूरा पाया जायगा। सभी के शरीर निरोग और मस्तिष्क शान्त सन्तुष्ट पाये जायेंगे।

शरीर, मन, वस्त्र, उपकरण सभी को स्वच्छ रखने की प्रवृत्ति बढ़ेगी। शुचिता का सर्वाङ्गीण विकास होगा। गंदगी को मानवता का कलंक माना जायगा। न किसी का शरीर

मैला कुचैला रहेगा न वस्त्र। घरों को गंदा-गलीज न रहने दिया जायगा। मनुष्य और पशुओं के मल-मूत्र को पूरी तरह खाद के लिए प्रयुक्त किया जायगा। वस्तुऐ यथा स्थान, यथा क्रम और स्वच्छ रखने की आदत डाली जायगी। मन में कोई छल कपट, द्वेष दुर्भाव जैसी मलीनता न रखेगा।

ज्ञान तन्त्र, वाणी और लेखनी तक ही सीमित न रहेगा वरन् उसे प्रचारात्मक रचनात्मक एवं संघर्षात्मक कार्यक्रमों के साथ बौद्धिक नैतिक और सामाजिक क्रान्ति के लिए प्रयुक्त किया जायगा। साहित्य, संगीत, कला के विभिन्न पक्ष विविध प्रकार से लोक शिक्षण का उच्चस्तरीय प्रयोजन पूरा करेंगे। जिनके पास प्रतिभा है जिनके पास सम्पदा है वे उससे स्वयं लाभान्वित होने के स्थान पर समस्त समाज को समुन्नत करने के लिए समर्पित करेंगे।

मनुष्य की संरचना सामाजिक प्राणी के रूप में हुई है। उसे जो कुछ मिला है समाज के सहयोग एवं अनुदान द्वारा ही उपलब्ध हुआ है। अस्तु समाज को समुन्नत, सुसंस्कृत बनाने में भी उसका योगदान होना चाहिए। यह कार्य परिवार रूपी छोटे समाज से आरम्भ किया जाना चाहिए। आवश्यक नहीं कि अपने स्त्री बच्चों को ही परिवार माना जाय। जिस समुदाय में खाने, सोने एवं मिलजुल कर रहने का प्रसंग बनता है, वह परिवार ही है।

इस समुदाय को अपने अवयवों की तरह माना जाय और उसे समाज का एक छोटा रूप मानकर उद्यान के माली की तरह सेवारत रहा जाय। हिलमिलकर रहने बाँट-बाँटकर खाने से हँसती-हँसाती जिन्दगी ही पारिवारिकता है। प्रज्ञा युग का हर मनुष्य शरीर निर्वाह की तरह पारिवारिकता में भी पूरा रस लेगा और प्रयत्नरत रहेगा।

धरती की उपार्जन शक्ति से कहीं अधिक इन दिनों जनसंख्या का भार बढ़ गया है। अब सन्तान भार बढ़ाने की कहीं कोई गुंजाइश नहीं रही। पिता पर अर्थ संकट, माता पर रुग्णता और अकाल मृत्यु का आक्रमण, अभावग्रस्त बालकों का दयनीय भविष्य, प्रस्तुत परिवार का हक बँटना-राष्ट्रीय प्रगति और विश्व व्यवस्था में भयानक गतिरोध जैसे अनेको अभिशाप दिना सन्तान बढ़ाने की मूर्खता के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं।

कभी प्रजनन को सौभाग्य कहा और प्रोत्साहन दिया जाता रहा होगा पर आज तो उसे विपत्ति को प्रत्यक्ष आमन्त्रण देना ही कहा जा सकता है। प्रज्ञायुग का हर विचारशील सन्तानोत्पादन से बचेगा और यदि वात्सल्य आनन्द लेने का मन होगा तो किसी को गोद लेने की अपेक्षा अनेकों असहाय बालकों-को पालने और सुयोग्य बनाने का भार ग्रहण करेगा।

त्रिवेणी संगम की तरह सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् की समग्र साधना व्यक्ति, परिवार और समाज की त्रिविधि संरचना से ही सम्भव होती है। तीनों के बीच सघन तालमेल रहने और परस्पर सहयोगी बने रहने से ही सुख, शान्ति और प्रगति की भूमिका बनती है। इस तथ्य से अवगत होने के कारण प्रज्ञा युग का मनुष्य आज की तरह संकीर्ण स्वार्थपरता में ही निरत न रहेगा। वरन् व्यक्तित्व को प्रखर प्रामाणिक एवं परिवार को सुसंस्कारी स्वावलम्बी बनाने के लिए गम्भीरतापूर्वक ध्यान देगा। और उसके लिए भावभरी तत्परता के साथ प्रयत्न करेगा। परिवार निर्माण के माध्यम से संचालक लोग संयमी दूरदर्शी एवं उदारमना बनते हैं साथ ही उस वातावरण में पलने वाले को नर-रत्न बनने का अवसर मिलेगा। व्यक्तित्व और परिवार को एक-दूसरे का अगले दिनों पूरक माना जायगा और संयुक्त परिवार की वैज्ञानिक आचार संहिता विकसित होगी।

विवाह का उद्देश्य कामलिप्सा की पूर्ति करना नहीं होगा

प्रज्ञा युग में हर व्यक्ति परिवार बसाने से पहले हजार बार विचार करेगा कि क्या उसमें साथी की प्रगति तथा सुविधा के लिए समुचित साधन जुटाने की सामर्थ्य है। क्या उसमें नये बालकों को सुसंस्कारी, सम्भ्रान्त एवं स्वावलम्बी नागरिक बना सकने की योग्यता है। यदि है तो समय एवं धन की कितनी मात्रा साथी तथा नई पीढ़ी के लिए लगा सकने की स्थिति बन सकती है। इन सभी बातों का गम्भीरतापूर्वक पर्यवेक्षण करने के उपरान्त ही विवाह का साहस किया जाया करेगा और सन्तान उत्पन्न करने से पूर्व हजार बार विचार किया जाया करेगा कि इन नई जिम्मेदारी को वहन करने के लिए पत्नी का स्वास्थ्य, पति का उपार्जन, घर का वातावरण उपयुक्त स्तर का है या नहीं। जितनी अनिश्चित स्थिति होगी उसमें अधिक बड़ा कदम बढ़ाने का कोई दुस्साहस न करेगा। समुचित परिपालन की क्षमता न रहने पर भी बच्चे उत्पन्न करना-अपना, पत्नी का, बच्चो का तथा समूचे राष्ट्र का भविष्य अन्धकार मय बनाने वाला अभिशाप गिना जायगा।

विवाह कामुकता की तृप्ति के लिए, रूप सौन्दर्य से खेलने के लिए नहीं—वरन् साथी को स्नेह, सहयोग, सम्मान, देकर जीवन की अपूर्णता दूर करने एवं मिल-जुलकर अधिक उच्चस्तरीय प्रगति करने की आदर्शवादिता से प्रेरित होकर ही किये जाया करेंगे।

एक दूसरे को निभायेंगे, सहिष्णु रहेंगे। मिल-जुलकर किसी निर्णय पर पहुँचेंगे। अधिकार या आग्रह न थोपेंगे। मतभेद सामान्य हों और उनके कारण कोई बड़ा विग्रह उत्पन्न न हो तो इतनी उदारता भी रहनी चाहिए कि भिन्न प्रकृति की भिन्नताओं को दरगुजर किया जाता रहे। इन दिनों स्त्रियों को दासी की तरह प्रयुक्त किया जाता है। यह प्रथा उलटकर उन्हें समानाधिकार वाली सहयोगिनी का सम्मान भरा स्थान मिलेगा। शृंगार सज्जा को नारी की आन्तरिक हीनता तथा दुर्गति का चिन्ह मानकर उसे अनुपयुक्त ठहराया जायगा।

प्रज्ञा युग में हर गृहस्थ को धरती के स्वर्ग की तरह स्नेह, सद्भाव, एवं उत्साह उल्लास से भरा-पूरा पाया जायगा। क्योंकि उसके सभी सदस्य श्रमशीलता, सुव्यवस्था मितव्ययता, उदार—सहकारिता और सुसंस्कारी सज्जनता के पक्षधरों को सुख-शान्ति का आधारभूत कारण होने की बात पर सच्चे मन से विश्वास करेंगे। संयुक्त संस्था के रूप में सभी परिजन उसे समुन्नत बनाने में अपने-अपने हिस्से का अनुदान प्रस्तुत करने की बात सोचेंगे, न कि जिसके पल्ले जो पड़े उतना ले भागने का उचक्कापन बरतेंगे। सभी मिलकर परिवार में सुव्यवस्था एवं सद्भावना का ऐसा वातावरण बनायेंगे जिसके द्वारा वर्तमान से भी अधिक प्रसन्नता का अनुभव करें और उसमें रहते पलते हुए उज्ज्वल भविष्य की सम्भावनाएँ स्पष्ट रूप में झाँकती अनुभव करें। ऐसे सुसंस्कृत परिवार ही नर-रत्नों की खदान बनते और उसके संचालकों को धन्य बनाते हैं।

अधिकार की तुलना में कर्तव्य-पालन को महत्व मिलेगा

परिवार के सदस्यों की शरीर यात्रा अर्थ व्यवस्था, सुख-सुविधा एवं प्रगति सुरक्षा का प्रबन्ध तो प्रज्ञा-युग में भी चलेगा पर एक विशेषता अनिवार्य रूप से जुड़ी रहेगी कि अधिकार घटाने और कर्तव्य पालन बढ़ाने की दृष्टि से हर सदस्य अपने-अपने ढंग से प्रयास करे और पिछड़ने में लज्जा अनुभव करे। परिवारों को सुसंस्कारिता प्रशिक्षण की पाठशाला बनाया जायेगा और उस कारखाने में ढल-ढलकर नर-रत्न निकला करेंगे। परिवार का सारा ढाँचा, कार्यक्रम एवं विधि-विधान इस प्रकार बनेगा कि उसके सभी सदस्यों को श्रम-शीलता, मितव्ययता, सुव्यवस्था, सज्जनता, सहकारिता जैसी सत्प्रवृत्तियों को स्वभाव में सम्मिलित करने का अवसर मिलता रहे। परिजन उदात्त दृष्टिकोण, सघन आत्म भाव, शालीन—सद्व्यवहार और सघन सहयोग देखकर ही परिवारों की सार्थकता और प्रगति का मूल्यांकन किया करेंगे।

अभिभावक न तो सन्तान से वंश चलने, पिण्डदान मिलने, सेवा सहायता पाने की अपेक्षा रखें और न सन्तान अपने अभिभावकों की छोड़ी सम्पदा के सहारे गुलछर्रे उड़ाने की बात सोचें। दोनों के बीच विशुद्ध स्नेह सद्भाव का रिश्ता हो और एक-दूसरे के प्रति कर्तव्य पालन करते हुए अपनी श्रद्धा शालीनता बढ़ाने का अभ्यास करेंगे। कन्या और पुत्र के बीच कहीं कोई भेदभाव नहीं किया जायगा। दोनों को समान स्नेह सम्मान एवं महत्व मिलेगा। सन्तानों के विवाह की तब तक जल्दी न की जायगी जब तक वे स्वावलम्बी और नये गृहस्थ के अनेकानेक उत्तरदायित्वों का भार उठाने में समर्थ न हो जायें। सन्तान में अमीरों की महत्वाकांक्षा न भड़काई जाय और न आलसी, विलासी, अहंकारी बनने जैसी सुविधा प्रदान की जाय। सुसंस्कारिता प्रदान करना ही सन्तान की सबसे बड़ी सेवा सहायता मानी जायगी।

कुछ अपवादों को छोड़कर हर काम नियत समय पर पूरा करना, वस्तुओं को यथास्थान सुरक्षित एवं सुसज्जित रखना, फैशन को छछोरेपन मानकर उससे बचना, दूर रहना, सादगी और स्वच्छता से सुरुचि का परिचय देना, बजट बनाकर आमदनी से कम खर्च करना और बचत की थोड़ी गुंजाइश रखना, एक-दूसरे का हाथ बँटाना सहानुभूति और सहयोग का रुख रखना, नम्रता और मिठास भरा व्यवहार करना, चरणस्पर्श और अभिवादन का परिपालन, शिष्टाचार, अनुशासन का निर्वाह स्वच्छता और सुसज्जा के लिए मिल-जुलकर प्रयास करना, टूट-फूट की मरम्मत एक उपयोगी कला-कौशल के रूप में सीखना और प्रयुक्त करना, घर में जहाँ भी स्थान हो पुष्प, बेले एवं शाक-भाजी उगाना जैसी प्रथा-परम्परा घर में डालना जैसे प्रचलन अभ्यास में उतर सके तो हर घर में स्वर्गीय वातावरण बन सकता है। रात्रि को कथा प्रवचन, प्रातः सायं पूजा आरती, सहगान कीर्तन जैसे धर्म-कृत्यों से भी परिवार को आस्थावान बनने का अवसर मिलता है।

लार्जर फैमिली का विकास

एक नया गृह-उद्योग "लार्जर फैमिली" सुसंचालित परिवार—के रूप में विकसित किया जाना चाहिए। आज के संयुक्त परिवार तो अनुशासनहीनता और आचार-संहिता के अभाव में स्वार्थों की खींचतान के अखाड़े बन गये हैं। उत्तराधिकार की ललक तथा काम न करने

में बड़प्पन समझे जाने के कारण एक प्रकार से अवैज्ञानिक एवं दुर्दशाग्रस्त हो गई है। जिस स्वरूप में संयुक्त परिवार इन दिनों चल रहे हैं वे अपनी प्रतिगामिता और अस्त-व्यस्तता के कारण अधिक दिन न चल सकेंगे और संयुक्त परिवार पद्धति पाश्चात्य देशों की तरह समाप्त हो जाने का संकट बढ़ेगा, पर उसे वैज्ञानिक शास्त्रीय, व्यावहारिक एवं सुविधाजनक बनाने का दूसरा नया तरीका लार्जर फैमिली एक सहकारी संस्था के रूप में विकसित हो सकेगी। मोहल्ले के सभी काम मिल-जुलकर एक स्थान पर सम्पन्न हों। भोजन बनाना, कपड़े धोना, बच्चे खिलाना, साझे की दुकान, ट्यूशन, स्कूल, मनोरंजन आदि दैनिक जीवन की सभी आवश्यकताएँ अलग-अलग पूरी करते रहने के स्थान पर यदि संयुक्त रूप से पारस्परिक श्रम नियोजित करके पूरी की जाने लगे तो स्थान, समय, श्रम, पैसे की भी भारी बचत हो सकती है एवं अनेकों उपयोगी कार्य सम्पन्न होते रह सकते हैं। व्यक्तिगत सुविधा स्वतंत्रता तो इसमें है ही, पारिवारिकता एवं सहकारिता का लाभ भी मिलता रहेगा। ऐसा प्रचलन चल पड़ने पर सारे समुदाय की शक्ति का अपव्यय बचेगा एवं उसे राष्ट्र के रचनात्मक कार्यों में लगाया जा सकेगा।

विद्या को सर्वोपरि महत्ता मिलेगी

इस परिवर्तन का श्रेय शिक्षा को मिलेगा। इन दिनों बहुमुखी जानकारियों को ही शिक्षा माना जाता है। अगले दिनों व्यक्तित्व में निखार और प्रतिभा में उभार लाने वाली प्रक्रिया को लोग विद्या के रूप में सम्मान देंगे और उसकी प्राप्ति के लिए जिन गतिविधियों को कार्यान्वित करना आवश्यक होगा, उसी का पथ प्रशस्त करने का ताना-बाना बुनेंगे। विद्या उसे कहा जायेगा, जिससे मनुष्य की महानता विकसित होती हो। शरीर धारण करने के उपरान्त पहली आवश्यकता उसी की समझी जायेगी।

इस प्रयोजन के लिए बच्चों को स्कूल भेजने से पहले घर की पाठशाला की रीति-नीति ऐसी बनेगी, जिससे वह क्षेत्र नर-रत्नों की खदान के रूप में परिणित हो सके। बच्चे छोटी आयु में ही भले-बुरे संस्कार अपना लेते हैं। इसलिए जिन्हे अपने घर में नर-रत्न उगाने होंगे, वे सभी नर-नारी अपने को इस प्रकार के संस्कारों में अभ्यस्त करेंगे, जिससे उनके खेत में चन्दन के कल्पवृक्ष के पौधे उग सके। प्रजनन कर्म में प्रवृत्त होने से पहले ऐसे प्रचलन अपनाये जायेंगे, जिन्हें साथ लेकर बालक धरती पर देवात्मा के रूप में उतारें। जिन परिवारों में उन्हें पलना और बढ़ना है, उनकी स्थिति ऐसी होगी जो नव जातों को श्रेष्ठता के खाद पानी से सुविकसित कर सके।

पाठशालाओं में सांसारिक पदार्थों की, गतिविधियों-प्रचलनों की जानकारी मिलती रहेगी, पर उससे भी पहले इसका ध्यान रखा जायेगा कि सुसंस्कारिता को विकसित करने की जानकारी उपलब्ध हो सके। मनुष्य संसार नहीं है, संसार में रहता भर है। इसलिए जिस बाड़े में उसे रहना है, उसका स्वरूप और अनुबन्ध भी बताया तो जायेगा; पर इतना नहीं, कि जिसमें अपनी सत्ता ही विस्मृत हो चले। पदार्थों के बीच वह पलता है; किन्तु स्वयं पदार्थ से ऊपर है—इस तथ्य को उसे भूलने न दिया जायेगा। शिक्षा की रीति-नीति ऐसी होगी, जिसमें वह उपलब्ध पदार्थों का सही उपयोग कर सके। ऐसा न हो कि स्वयं मात्र पदार्थ बन कर रह जाय। पदार्थ की जानकारी इतनी अधिक न दी जायेगी, जिससे वह पदार्थ बन कर ही रहे और बने।

शिक्षा मनुष्य को ढालती है, हांडी की तरह पकाती है। इसलिए उसे आदि से अन्त तक इस स्तर की बनायी जायगी, जिससे वह सच्चा मनुष्य बन सके, वह समझने तथा करने योग्य बने, जो उसे बनना शोभा देता है। पाठ्य-पुस्तकें इसी स्तर की बनेंगी। अध्यापक पोथियाँ ही नहीं रटाया करेंगे, वरन् अपनी जीवनचर्या की छाप लगाकर उसे वैसा बनायेंगे जैसा कि कोई महानता सम्पन्न मनुष्य होता है। संसार में बिखरे हुए पदार्थ का परिचय इस रूप में दिया जायेगा जिससे उसका सदुपयोग भी बन सके। इसके लिए आधुनिक शिक्षा में आमूलचूल परिवर्तन करना होगा। पुस्तकें भी, साथ ही अध्यापक भी ऐसे ढूँढ़ें जायेंगे जो नर रत्नों को कुँदन से जोड़ने की कला वाले जौहरी या स्वर्णकार की उपमा से विभूषित किये जा सकें। इसके लिए उन्हे प्रकृति की गोद मे रहना पड़ेगा। उन बन्दी गृहों मे कैद नहीं किया जायगा जो आकृति में भव्य भवन से; किन्तु प्रकृति मे बन्दी गृहों से गये-गुजरे हों। ''विद्या ददाति विनयं'' की कसौटी पर परीक्षक छात्रों को कसा करेंगे। और देखा करेंगे कि 'सा विद्या या विमुक्तये' के रहस्य से विद्यार्थी अवगत हुआ या नहीं। शरीर, मन, परिवार और साधनों के श्रेष्ठतम उपयोग का कौशल उसे आया या नहीं।

अध्यापन कार्य वही कर सकेंगे,
जो कसौटी में खरे उतरेंगे

ऐसा पाठ्यक्रम बनाने या चलाने के लिए अल्हड़ मास्टरों और ट्यूटरों की भर्ती नहीं की जायगी, वरन् यह देखा जायगा कि उसने मानवोचित परिपक्वता अर्जित कर

ली है या नहीं ? जो पढ़ाने जा रहा है, उसमें स्वयं प्रवीण-पारंगत है या नहीं । प्रश्न पत्र और परीक्षण पुस्तकों से बौद्धिक जानकारियाँ नहीं ली जायेंगी, वरन् यह देखा जायेगा कि समझदारी, ईमानदारी, जिम्मेदारी और बहादुरी की क्षमता किस श्रेणी तक परिपक्व हुई । पेट भरना ही सीखा या समुदाय को समुन्नत बनाने की कला भी आयी है या नहीं ?

जर्मन, रूसी और जापानी कभी किसी विशेष ढाँचे में बचपन से ही नई पीढ़ी को ढालने की कुशलता का प्रदर्शन कर चुके हैं । भारत देश मानव ढालने के लिए प्रसिद्ध था। बच्चों को गुरुकुलों में और प्रौढ़ों को आरण्यकों में पढ़ाया नहीं, ढाला जाता था । अब उसी विस्मृत प्रणाली को पुनः प्रचलित किया जायेगा । शिक्षा के परिवर्तन के साथ नये युग का परिवर्तन होगा । लोग संग्रह नहीं, सदुपयोग सीखेंगे। किशोरावस्था की वयः संधि अनुशासन की अपेक्षा रखती है। शालीनता सीखने और उद्दंडता से बचने का ठीक यही समय है। यह अवधि ऐसे वातावरण में व्यतीत की जाया करेगी, जिससे वयस्क होते-होते विद्यार्थी पराक्रमी साहसी और सदाचारी बनने की तीनों ही परीक्षाओं को उच्च श्रेणी में उत्तीर्ण कर सके।

प्रौढ़ावस्था की गुणवत्ता का मूल्यांकन इस आधार पर होगा कि कौन कितना उठा और कितनों को उठाने में समर्थ हुआ ? उसकी नौका में सवार होकर कितने यात्री पार उतरे। गिरों को उठाने और पिछड़ों को बढ़ाने में ही समर्थता का लेखा जोखा लिया जाया करेगा । कोई समय था, जब इस देश के देव मानव विश्व के कोने-कोने में इसलिए भ्रमण करते थे कि अभाव, अज्ञान, अन्याय और अन्धकार कहाँ पल रहा है; उसे निरस्त कैसे किया जा सकता है ? उत्कर्ष और आदर्श को समुन्नत स्तर तक कैसे पहुँचाया जा सकता है ?

पेट तो कीड़े-मकोड़े भी भरते हैं । मनुष्य में और कीट-पतंगों में यही तो अन्तर है कि घिनौने पेट के लिए जीते और स्वार्थ के लिए मरते हैं । किन्तु जहाँ मनुष्यता है वहाँ देवत्व साथ-साथ चलता है। मनुष्य आदर्श अपनाने और श्रेष्ठता के परिपालन में दूसरों को बाधित करने के लिए जीता है । अगले दिनों लोगों का पराक्रम इसी दृष्टि से नापा-तौला जायेगा ।

इसके लिए पराक्रमी उपजाने के लिये ऐसे देव मानव, ऋषि, मनीषी अवतार धारण करेंगे, जैसे कभी बुद्ध और गाँधी चाणक्य और समर्थ जैसे प्रकाश पुञ्ज पैदा हो चुके हैं। हरिश्चन्द्रों, शिवाओं, प्रतापों, राणा-साँगाओं, भामाशाहों को हर क्षेत्र में पाया जा सकेगा । उन्हें ढूँढने के लिये न खोज करनी पड़ेगी, न ढिंढोरा पीटना पड़ेगा ।

शिक्षा के लिये न फीस देनी पड़ेगी, न डोनेशन। तब नालन्दा तक्षशिला जैसे विश्व विद्यालयों में गरीब-अमीर सभी के बालक निःशुल्क अध्ययन और निर्वाह प्राप्त किया करेंगे । बौद्ध विहारों, संघारामों, आरण्यकों के लिए पैसे वाले ही स्थान नहीं पा सकेंगे, वरन् सुदामा जैसे प्राध्यापक ही विशालकाय विद्याश्रम चला सकेंगे। संदीपनों को कृष्ण जैसे छात्र मिल जाया करेंगे और प्रतिभाओं को मुश्कें बाँधकर विश्वामित्र अपने आश्रम में पढ़ने के लिये घसीट ले जाया करेंगे ।

अपरिग्रही गृहस्थ, ब्राह्मण और कोपीनधारी साधु जगद्गुरु कहलायेंगे । तब सोने के छत्र, चँवर आदि हाथी की सवारी किसी भी मनीषी को स्थान ग्रहण न करने देगी।

विद्या से विश्व में सुख, शान्ति प्रगति और समृद्धि बढ़ेगी । पर उस विद्या को प्राप्त करने के लिए किसी को ग्रेजुएशन नहीं करना पड़ेगा और न डी. लिट बनना पड़ेगा। उसकी गरिमा इस आधार पर आँकी जायेगी कि उसने लोक मंगल के क्षेत्र में कितने सूत-शौनक उतारे ? कितने द्रोणाचार्य और परशुराम अनीति से जूझने के लिए कर्म क्षेत्र में उतारे । ऐसी विद्या का प्रबन्ध करने के लिए अशोक अपने आँवले तक का दान कर देने और हर्षवर्धन माँगे की लंगोटी पहनकर अपना राजपाट त्यागेंगे। तब विक्रमादित्य और अश्वघोष जैसे सतयुग लाने वाले राजा सिंहासन संभाला करेंगे । व्यवसाय तो चलेंगे, पर उसके पीछे अभावों की पूर्ति का उद्देश्य रहेगा । किसान भी होंगे, पर अपनी कमाई जलाराम की तरह परमार्थ में लगा दिया करेंगे। ऐसा होगा नवयुग-प्रज्ञा युग ।

महाप्रज्ञा का अवतरण

ऐसा अभूतपूर्व, अनुपम, आश्चर्यजनक परिवर्तन कैसे होगा ? कौन करेगा ? इस प्रकार के अनेक प्रश्नों का उत्तर एक ही है कि यह कार्य युग शक्ति महाप्रज्ञा गायत्री के अवतरण से ही संभव होगा । यह चौबीसवां निष्कलंक अवतार है। निष्कलंक इस संसार में एक ही है दूरदर्शी विवेक । उसी को आद्यशक्ति कहते हैं। जो सृष्टि के आरंभ में ब्रह्मा जी द्वारा सृष्टि का नव सृजन करा सकती है, वह युग विभीषिकाओं के उलटेपन को भी उलट कर सीधा कर सकती है ।

इसके लिए लोक मानस का परिष्कार करना होगा। मनुष्यों में नर पशु और नर पिशाच भी हैं पर उनमें नर

नारायणों की देव-मानवों की भी कमी नहीं है । ये देवात्माएँ प्रसुप्त स्थिति में चली गई हैं । उन्हें जागृत भर करना है इसके लिये ऋषियों को घर-घर अलख जगाना पड़ेगा । नन्हें से बीज में विशाल काय वट वृक्ष छिपा बैठा है यदि उसे अंकुरित किया जा सके तो अणु से विभु-लघु से महान होने की बात असंभव नहीं है ।

कार्य बड़ा है उसके लिये बड़े साधनों की आवश्यकता पड़ेगी । उन्हें जुटाने के लिए समुद्र मन्थन की पुनरावृत्ति करनी होगी । विज्ञान के दैत्य और अध्यात्म के देव यदि मिल जुल कर प्रयत्न करेंगे तो उन सभी साधनो की उपलब्धि संभव है जो कभी सूर्य, चन्द्र, लक्ष्मी, अमृत, धन्वन्तरि आदि के रूप में निकले थे । पुरातन काल में मँदराचल पर्वत का इसके लिए प्रयोग हुआ था । इस बार हिमालय का प्रयोग होगा । कभी मत्स्यावतार का लघु से महान विस्तार हुआ था । अब की बार यह कार्य प्रज्ञावतार के रूप में होगा । इन्हीं विद्यमान मनुष्यों में से ऐसे देव मानव निकलेंगे जो पुरातन काल की ऋषि परम्परा का पुनरावर्तन कर सकेंगे । महान आत्माएँ पहले भी थीं, अब भी है । बात केवल प्रसुप्ति को जागृति में बदलने भर की है। यह असंभव नहीं । बाँसों की रगड़ से जब दावानल प्रकट हो सकती है तो कोई कारण नहीं कि महाकाल की चुनौती सुनकर जागृत आत्माएँ नव सृजन के लिए कटिबद्ध न हो सकें और जन जागृति के प्रयोजन को कार्यान्वित कर सकें ।

संसार बहुत बड़ा है । इसमें ६०० करोड़ मनुष्य रहते है । उनमें से कुछ ऐसे भी हैं जो अन्धकार को निगल सकें। मृतको में प्राण फूँक सके । बन्दरों से समुद्र का पुल बनवा सकें और बालकों की सहायता से गोवर्धन उठा सके । उन्हें ढूँढना पड़ेगा । मणि मुक्तक ढूँढने के लिए गहरे समुद में डुबकी लगानी पड़ती है। प्रयत्न के बिना तो हाथ का ग्रास भी मुँह में नहीं जाता । जन-जागरण के लिए प्रज्ञा अभियान चला है और वह सुदर्शन चक्र की तरह लक्ष्य पूरा किये बिना रुकने वाला नहीं है ।

सतयुग अवतरण सुनिश्चित है

गंगावतरण के लिए जैसी साधना हुई थी, वैसी ही २४० करोड़ नित्य जप और २४० लाख नित्य गायत्री चालीसा पाठ से हो रहा है । तप के बल से शेष जी पृथ्वी को धारण करते है । तप के बल से ही सूर्य तपता और पवन चलता है। फिर कोई कारण नहीं कि उस तप साधना का सुनियोजित किया जाय तो युग अवतरण न हो सके ।

व्यक्ति की अपनी शक्ति होती है पर जब अनेक उच्चस्तरीय आत्मायें मिलकर एक साथ काम करती हैं तो उसका प्रभाव कुछ और ही होता है। साधना के साथ प्राण जुड़ जाने से उसके चमत्कारी परिणाम होते हैं । रीछ-वानर, ग्वाल-बालों का इतिहास पुराना है, बौद्ध भिक्षुकों और स्वतंत्रता सेनापतियों का नया । ईसा के शिष्यों ने दो हजार वर्षों में एक तिहाई मानव जाति को अपनी छत्रछाया में ले लिया । कार्ल मार्क्स की हुँकार से संसार की आधी जनसंख्या साम्यवाद की समर्थक मानी जाती है फिर चौबीस लाख प्रज्ञा परिजन कदम से कदम, कन्धा से कन्धा मिलाकर चलें तो कोई कारण नहीं कि वे डूबे हुए सूर्य को फिर से उदय होने के लिए विवश न कर सकें। ऐसे ही तूफानी प्रवाह संसार को बदलते रहे हैं जैसे कि प्रज्ञा-अभियान के रूप में संसार के कोने-कोने में भी हो रहे हैं।

सन् १९८६ के अभिनव संकल्प, जिनने ध्यानपूर्वक सुने और विचारपूर्वक समझे हैं, वे सहज अनुमान लगा सकते हैं कि इतने बड़े प्रयास से भारत को महाभारत और पांचजन्य को विजय का उदघोष बनाया जा सकता है ।

भूतकाल की सफलताओं को जिनने देखा है, वर्तमान के समुद्रमन्थन को जो देख रहे हैं, उनके लिए यह विश्वास करना कठिन नहीं होना चाहिए कि अन्धकार का घटाटोप अरुणोदय के उपरान्त टिकता नहीं है । काली मेघ मालायें तूफानी हवा में उड़ जाती हैं ।

पावस की वर्षा सूखी जमीन को हरा-भरा बना देती है। जब इतने परिवर्तन असंभव लगते हुए भी संभव हो सकते हैं, तब वर्तमान निराशा जनक वातावरण को आशा और उमंग से क्यों नहीं भरा जा सकता है ?

कार्य बड़ा है । एक लाख युग शिल्पी विनिर्मित करना, सात लाख गाँवों में प्रज्ञा आयोजन सम्पन्न करना, उपासना को चरम सीमा पर पहुँचाना, खण्डहर देवालयों को जन जागृति-केन्द्र बनाना, युगान्तरीय चेतना का आलोक कोटि-कोटि मानवों तक पहुँचाना । यह देखने में शताब्दियों में सम्पन्न होने वाला कार्य लगता है, पर विश्वास किया जाना चाहिए कि यह सब अगले पाँच वर्षों में सम्पन्न हो जायगा । इस सृजन कार्य के लिए असीम साधना चाहिए । जन शक्ति और धन शक्ति भी । किन्तु जहाँ तप शक्ति हो वहाँ इन सबका इतने बडे परिमाण में जुटाना कठिन नहीं होना चाहिए । जो पदार्थ को ही सब कुछ मानते हैं, जिन्हें तप शक्ति पर विश्वास नहीं, वे असंजस में पड़ सकते हैं । पर आस्तिकता के रहते यह सब कुछ संभव प्रतीत होना चाहिए । वस्तुतः भविष्य बहुत सुनहरा और

शानदार है । आये दिन जो क्लेश कलह होते हैं रोग शोक छाये रहते हैं उसका कारण विखराव-विलगाव है । जब एकता और समता का वातावरण बनेगा तो न प्रगति में कमी रहेगी और न समृद्धि में ।

नवयुग के चार आधार

नवयुग के चार आधार होंगे । एक राष्ट्र । एक भाषा। एक संस्कृति । एक व्यवस्था । तब वसुधैव कुटुम्बकम् का सिद्धान्त सच्चे अर्थों में चल पड़ेगा ।

यह सब सारी धरती पर अलग-अलग हिस्सों में बँटे रहने से खर्च भी बहुत बढ़ता है। असुविधा भी रहती है और छीना झपटी के कारण संघर्ष, शोषण और बर्बादी के भी अनेक कारण खड़े होते रहते हैं । यदि सब मिल-जुलकर गुजारा करें, हँसती हँसाती जिन्दगी जियें तो इन दिनों जो सर्वत्र भय और आतंक छाया रहता है, उसकी जड़ ही कट जाय । आदमी समझदार तो है पर उसकी समझदारी ठोकर खाने के बाद जगती है । मुद्दतों से ठोकरों पर ठोकरें खाते-खाते अब स्थिति ऐसी बन गयी है कि लोग समस्याओं का समाधान ढूँढने लगे हैं । यह चाहे आज निकले या हजार वर्ष बाद, उपाय-समाधान निकलने पर होगा यही कि लोग एकता और समता अपनायें । समानता रहने पर न ईर्ष्या होगी, न द्वेष । न अपराध होंगे और न आतंक का कोई माहौल कहीं दृष्टिगोचर होगा । नव युग के अवतरण के साथ ही यह समझ भी जाग पड़ेगी कि विखराव बन्द किया जाय और एकता का मार्ग अपनाया जाय । जो लोग इन दिनों कूटनीति की विष भरी योजनायें आये दिन बनाते रहते हैं, वही दिमाग से यह भी सोच सकते है कि शान्ति और सौजन्य कैसे बढ़ाया जाय ? बिखराव को एकत्रित कैसे किया जाय ? यह सुगम भी है संभव भी कि दुनिया भर के राष्ट्र एक शासन बना लें, भौगोलिक आधार पर जिले प्रान्तों की तरह देश नये सिरे से बंट जाय। केन्द्र एक रहे। सेना एक रहे। पारस्परिक झंझटों को निपटाने के लिए न्यायालय एक रहे। मुद्रा करेन्सी का प्रचलन एक हो।

संसार भर में प्राय: ६०० भाषाएँ हैं । एक भाषा जानने वाले दूसरी भाषा वालों के सामने गूंगे, बहरे बनकर रहते हैं । अलग भाषाओं के अलग प्रेस बनाने पड़ते हैं । उनके बीच अनुवाद और ज्ञान के आदान प्रदान का झंझट खड़ा होता है । एक भाषा हो तो संसार भर में कोई कहीं भी जाकर धड़ल्ले से वार्तालाप कर सकेगा । एक भाषा में छपी पुस्तकें संसार भर में फैल जायेंगी और सस्ती भी पड़ेगी ।

एक संस्कृति होने से त्यौहार उत्सव, पहनाव-उढ़ाव, खान-पान, पोशाक आदि की एकता रहे और पृथकतायें बनाये रहने पर जो पराया-पन दृष्टिगोचर होता है वह कहीं न रहे । समस्त संसार एक घर कुटुम्ब जैसा लगे ।

एक व्यवस्था रहने पर समस्त विश्व की जमीन का झंझट मिटे । जहाँ खालीपन हो वहाँ घनी आबादी वाले बसने लगें । कहीं तेल और खनिज उत्पन्न होते हैं तो वे किसी क्षेत्र की बपौती न रहकर सबको समान रूप से उपयोग करने के लिए मिलें । तब न कहीं भण्डार भरा रहे, न दुर्भिक्ष पड़े । संसार की नदियाँ एक दूसरे के साथ जोड़ दी जायें तो पानी का कहीं अभाव न रहे । उत्पादन गाँव-गाँव बिखर जाय । गाँव बढ़ें और शहर घटें तो मध्यवर्ती स्थिति कस्बों जैसी बन जाय । न अमीरी रहे न गरीबी । अनुभव और प्रामाणिकता के आधार पर पद मिले । विद्यालयों में जीवनोपयोगी शिक्षा दी जाय । न निरर्थक पढ़ना पड़े और न सार्थक जानकारी से कोई वंचित रहे । मिल बाँट कर खाने का नियम रहने पर न कहीं अभाव रहे और न कहीं निष्ठुरता बरती जाय । इस प्रकार एकता और समता का आधार अपना लेने पर जाति भेद, लिंग भेद, वर्णभेद आदि का कोई झंझट ही न रहे । मनुष्य-मनुष्य के बीच नीच-ऊँच का कोई प्रसंग ही न रहे । न कोई अधिपति रहे न कोई गुलाम बने ।

इस समता में पशुओं को भी सम्मिलित किया जाय तो उनका प्रजनन असीमित करके मांसाहार जैसी क्रूरता न बरतनी पड़े । धरती में अभी इतनी गुंजायश है कि अन्न शाक और फलों से सबका पेट भर सके । चमड़े जैसी चीजें रबड़ और प्लास्टिक आदि रासायनिक पदार्थों से बन चलें। मनुष्य ब्रह्मचर्य का महत्व समझे । कामुकता के स्थान पर पिता-पुत्री, भाई-बहन जैसा दृष्टिकोण बने । धर्म पत्नी सहयोगिनी बनकर रहे । रमणी कामिनी नहीं । संतानें उतनी ही जनी जायें जितनी के लिए धरती में भार वहन क्षमता है । ऐसी दशा में न वन काटने पड़े न चारागाहों की कमी रहे । प्रदूषण फैलने, पर्यावरण बिगड़ने जैसी समस्या भी उत्पन्न न हो । कचरे को खाद में बदल दिया जाय । ऐसे-ऐसे बीसियों उपाय सूझ सकते हैं जिससे संसार में समृद्धि बनी रहे और सभी हँसी खुशी का जीवन जी सकें । न हथियारों की फैक्टरी चले न सैनिकों की भर्ती चले । व्यक्ति इन झंझटों से खाली हो और वे अध्यापकों का, माली का, किसान का, शिल्पी का काम करने लगें ।

दुनिया को जीवित रहना है तो यही व्यवस्थायें सोचनी, बनानी और चलानी पड़ेंगी । चूंकि सामूहिक

मरण नहीं, सहजीवन सबको पसंद है। इसलिए विचारपूर्वक या धक्के खाकर लोग इसी राह को अपनायेंगे और उसी राह पर चलेंगे जिस पर कि सतयुग में चला करते थे।

व्यक्ति परिवार और समाज की ऐसी आदर्श संरचना को मात्र कल्पना या यूरोपिया न माना जाय, एक दृष्टा की ऐसी भविष्यवाणी मानी जाय जो आगामी कुछ दशकों में ही साकार होकर रहेगी। इसे कौन सम्पन्न करेगा ? यह प्रश्न गौण है। हर वह व्यक्ति जिसमें उच्चस्तरीय भावनाएँ बीज रूप में विद्यमान है, परोक्ष जगत की सहायता से प्रज्ञायुग को अवतरित करने की भूमिका निभाने हेतु पुरूपार्थ करेगा। वे कषाय-कल्मष, लोभ-मोह के बन्धन जो उसे आज घेरे है, आने वाले कल में अपने पाश से मुक्त कर चुके होंगे। ऐसी पीढ़ी जन्म ले चुकी है एवं विकसित हो रही हैं। हमारा सूक्ष्म पुरुपार्थ उसे वैसा ही पोषण देने में नियोजित होगा, जैसा अपेक्षित है।

दुर्बुद्धि मिटेगी, समझदारी बढ़ेगी

चूँकि आगामी समय में दुर्बुद्धि हटेगी और समझदारी कार्यान्वित होगी, इसीलिए सहज ही उसे प्रज्ञा युग कहा जायगा। यह संभव है। महामारी की तरह समूची जाति को संत्रस्त कर रही दुर्बुद्धि से पीछा छूटे तो सहज ही नरक के स्थान पर स्वर्ग का वातावरण इसी धरती पर दीख पड़े।

यही होना है। यही होगा। भगवान की इच्छा और मनुष्य की समझदारी का सम्मिश्रण हो तो कोई कारण नहीं कि हमें आशंकित और आतंकित रहना पड़े। ध्वंस हम रच सकते हैं तो सृजन की योग्यता भी विकसित कर सकते हैं। विपत्तियाँ आकाश से नहीं टूटी हैं। वे मनुष्य ने जान बूझ कर विनिर्मित की हैं। वह अपनी इस माया को समेट भी सकता है। ऋषियों का तप, भगवान की अनुकम्पा और मनुष्य की सदाशयता का मेल करा सकता है। जहाँ श्रेष्ठता के साथ संयोग होगा, वहाँ सुयोग बनेगा ही। इसी प्रक्रिया को युग-परिवर्तन की प्रक्रिया कहा जा सकता है।

जब सरकारें ठीक काम नहीं करतीं तो राष्ट्रपति शासन लागू होता है। असुरता से संत्रस्त जाति का परित्राण भगवान करते है। धर्म की रक्षा और अधर्म का शमन करने के लिए वचनबद्ध हैं। उस प्रण को पूरा करने का यही समय है। भगवान व्यक्ति के रूप में नहीं एक प्रवाह तूफान के रूप मे अवतरित होते हैं। उस तूफान के साथ तिनके, पत्ते और धूलि कण भी आकाश चूमने लगते है। जो लोग विनाश की विभीषिकायें रच सकते हैं, उनके लिए पूर्णतया यह संभव है कि एक जुट हो कर सृजन का, सुयोग का, स्वर्ग का वातावरण विनिर्मित कर सकें। वे ऐसा करेंगे भी।

युग-परिवर्तन के लक्षण

भगवान का अनुग्रह और मनुष्य का सौभाग्य जब परस्पर मिलते हैं तो तप साधना की ऊर्जा का आविर्भाव होता है। घर में किसी की मृत्यु हो जाती है तो भी सफाई और शुद्धि करनी होती है। जन्म अथवा विवाह, त्यौहारों के अवसरों पर भी सफाई पुताई होती है। युग परिवर्तन की वेला भी ऐसी है, जिसे उषा काल या अरुणोदय के समतुल्य कह सकते है। इस अवसर पर ऋषि-मुनि अपनी साधना में प्रखरता भरते हैं। फूल खिलते और पक्षी चहचहाते हैं। आलसी भी विस्तर समेटते है ओर कर्मठ अपने उपकरण लेकर निर्माण के कार्यों में जुट जाते है। यही प्रभात के लक्षण हैं। युग परिवर्तन के क्षणों मे भी ऐसा ही होता है। अन्धकार की विदाई पर जब दिनमान प्रखर होता है, तो ऊर्जा और आभा भी प्रचण्ड होने लगती है। युग बदलते हैं तो तपस्या उभरती उछलती है। जिस प्रकार भगवान का अवतार व्यक्ति के रूप मे नहीं, प्रवाह की तरह होता है, उसी तरह युग परिवर्तन के क्षणों में आवश्यक ऊर्जा उत्पन्न करने वाली तप-साधना का वातावरण विनिर्मित होता है। यही उसके प्रत्यक्ष लक्षण है। भूतकाल में भी यही होता रहा है और अब भी यही हो रहा है। जब लंका जलने वाली थी और राम राज्य का आगमन निश्चित था, तब विश्वामित्र जैसे प्रतिभावान ऋषि घोर तप कर रहे थे और सामान्य अध्यात्मपरायणों द्वारा अपना थोड़ा-थोड़ा रक्त एकत्रित करके घट भरा जा रहा था। उसी से जनक के हल जोतते समय सीता उत्पन्न हुई थीं। निमित्त बन गया और वह सब घटना क्रम चल पड़ा जिसे हम रावण को असुरता के मर्दन के रूप मे रामायण में विस्तार पूर्वक पढ़ते हैं।

इन दिनों कोई विश्वामित्र, कोई दुर्वासा सूक्ष्मीकरण का प्रचण्ड तप कर रहा है। सती के यज्ञ मे आत्मदाह करने पर उनके मृत शरीर से इक्यावन शक्ति पीठें स्थापित हुई थीं और पार्वती जन्म की देव योजना का कार्यान्वयन बन पड़ा था। शिव विवाह हुआ। कार्तिकेय जन्मे और दुर्दान्त दैत्यों का संहार हुआ। ऐसी ही आश्चर्यजनक उलट-पुलट इस समय भी हो रही है। युग-परिवर्तन की शुभारम्भ वेला में दृश्य और अदृश्य जगत मे ऐसी हलचलें हो रही है; जिन्हें अद्भुत या ऐतिहासिक कहा जा सकता है। अनाचार

विनाश से ठीक उल्टा सृजन का, तप का, दैवी क्रिया-कृत्य
प्रादुर्भूत होता देखा जा सकता है । इन दिनों हिमालय तप
रहा है । उसके घोंसले में बैठे अण्डे बच्चे हिलते-डुलते
और पंख फड़फड़ाते देखे जा सकते है । विश्व को
अभिनव ऊर्जा से भर देने वाला दैवी प्रयास चल रहा है।
कितने ही च्यवन और वाल्मीकि ऐसा प्रत्यक्ष तप कर रहे
हैं, जिसका प्रमाण उनके शरीरों पर दीमक जम जाने जैसा
देखा जा सके, पर यह तो प्रत्यक्ष है। इसके अतिरिक्त बहुत
कुछ परोक्ष भी है। वर्षा होती दिखती है, पर उसके आधार
भूत मानसून भी सुदूर समुद्र में द्रुतगति से क्रियाशील हो
रहे होते हैं । सूर्य उदयाचल से प्रकट होता भर दिखता है,
पर उसकी आभा सभी दिशाओं में न्यूनाधिक मात्रा मे
ज्योतिर्मय हो रही होती है। दिव्यदर्शी ऐसी ही हलचलों
का आभास प्राप्त कर रहे है । कुछ मूर्धन्य तपस्वी मात्र अपने
ही अस्थि पंजरों को भट्टी की तरह गरम नहीं कर रहे हैं,
उसका प्रभाव वातावरण पर भी दिख रहा है या दिखने
लगेगा ।

यह कामना और संभावना है; पर है सत्य

भावी योजना का जिन्हें आभास मिला है, वे देख रहे
है कि अनेकों ऐसी घटनाएँ घटित होने जा रही है, जिन्हें
अभूतपूर्व नहीं तो अप्रत्याशित तो कहा ही जा सकता है।
ऋषि, मुनि, ब्राह्मण और सन्त पावस के आगमन पर सूखी
दूब की तरह नये सिरे से हरियाने लगे हैं और जली भुनी
भूमि पर हरीतिमा की चादर बिछा रहे हैं । कहीं से
पाञ्चजन्य बजा है और समूची सेना ने अपने धनुष-बाण
संभाल लिये हैं; तरकस कसेऔर प्रत्यंचाएँ चढ़ी हैं ।
महाकाल ने जागृतों, जीवितों और प्राणवानों को पुकारा
है कि संकीर्णता का प्रमाद छोड़े और प्राण हथेली पर रख
कर विजय या मरण के संकल्प को दुहरायें ।

कभी इस देश में साधु और ब्राह्मण चन्दन वन की तरह
महकते थे; पर वे अब ठूँठ हो गये हैं । पतझड़ ने उनकी
गरिमा मलीन कर दी है; पर यह स्थिति देर तक ठहरती
दिखाई नहीं पड़ती । वसंत के आगमन का उद्घोष हुआ
है । कोपलें फूट रही हैं । उनकी टहनियों पर फूल उग रहे
हैं । भ्रमर गूँजतेऔर कोकिल कूकते दिखाई पड़ेगे । इसमें
अब बहुत विलम्ब नहीं है। पूर्वजन्मो के सुसंस्कार जिनमें
विद्यमान थे, वे नमी का आश्रय पाते ही अंकुरित हो रहे
हैं । जो अभी अंकुरित हुआ है, वह अगले दिनों पल्लवित
भी होगा और कुछ समय उपरान्त फलेगा भी । इतना ही
नहीं, उसकी पकी फसल से कोठी-कुठांले भरे पूरे दिखाई
देंगे । यह आशा है, कामना है, संभावना है; पर है सत्य।
होना यही है । तुषारपात का मौसम कहीं नहीं दिखता ।
बर्बादी के नहीं, आशा के चिह्न सब ओर से प्रस्फुटित हो
रहे हैं ।

एक लाख ब्रह्मवेत्ताओं का उद्यान उगाने का संकल्प
है। पौध उग रही है। माली अपनी योजना में व्यस्त है । हवा
में अनुकूलता है। मौसम में उमंग ।

योजनाएँ अनेकों हैं । खण्डहर पड़े देवालयो का
जीर्णोद्धार। प्रज्ञा अभियान का गाँव-गाँव हर्षोत्सव। लाखों
के द्वारा आद्यशक्ति की आराधना, छोटे-छोटे एक लाख
यज्ञ कुण्डों का समन्वय । अलख जगाने वालों का समर्थ
समुदाय। युग-साहित्य का सृजन। लेखनी और वाणी का
दुधारी तलवार जैसा उपयोग । ऐसे-ऐसे धर्मक्षेत्र के
कार्यक्रम हैं । प्रतिभाओं की दिशा धारा मोड़ी-मरोड़ी जा
रही है । धूर्तता का निरन्तर जाल बुनने वाली दक्षता अब
दूसरी राह बदलने जा रही है। शिक्षा, सम्पदा, प्रतिभा, कला
अब पूर्व अभिनय के परित्याग का संकल्प ले रही है। वह
नगर वधू अम्बपाली नहीं रहेगी, वरन् संघमित्रा की सहेली
बनकर धर्मध्वजा को देश-देशान्तरों में फहराने का
निश्चय कर चुकी है। जिन्हें संकीर्ण स्वार्थपरता की,
वासना, तृष्णा और अहंता की खुमारी चढ़ी रहती थी, जो
विक्षिप्तों का परिचय देते और उन्मादी की तरह कुहराम
मचाते थे, उनने शालीनता का पाठ पढ़ लिया है—होश
संभालने का रवैया अपना लिया है । साहित्यकार अब मात्र
सृजन ही लिखेगे । गायक अब आरती प्रभाती की धुन
बजायेंगे । थैलियाँ मदिरालयों, वेश्यालयों और दुर्जनों,
नर्तकों के यहाँ खाली नहीं होंगी, वरन् उस योजना मे
लगेंगी, जिससे धनाध्यक्षों की गरिमा का भामाशाह जैसा
सदुपयोग होने लगे । रक्त की धारा बहाने और कुटुम्बियों
के सिर उड़ा देने वाला चण्ड अशोक अब अपनी सेना को
हथियार समेटने का आदेश देगा और बिहारों, संघारामों
और परिव्राजकों के लिए जलयान बनाने की यह विधि-
व्यवस्था बनायेगा, जिससे 'अहिंसा और विवेक का
धर्मचक्र प्रवर्तन विश्व के एक कोने से दूसरे कोने तक हो
सके । राजनेता अब दूसरी तरह साचेगे । अफसर अपना
दृष्टिकोण बदलेंगे। शिल्पी ध्वंस के नहीं, सृजन के संरजाम
खड़े करेंगे। ऐसा नहीं कहा जा सकेगा कि "डायनासोरो"
की तरह ब्रह्मवेत्ताओं का वंश समाप्त हो गया । जो बचे है
वे छिपकली की तरह पतंगे झटकने और कीड़े निगलने
में अपना पुरुषार्थ नियोजित किये हुए हैं । जब बदलना ही

ठहरा तो बहुत कुछ बदलेगा। युग के साथ-साथ चिंतन, चरित्र और व्यवहार में भी आमूल-चूल परिवर्तन होगा। दुष्टता को धकेल कर सज्जनता अपना सिंहासन ग्रहण करेगी।

भवितव्यता को साकार प्रज्ञा अभियान करेगा

यह सब कैसे होगा ? प्रत्यक्ष पुरुषार्थ किसका होगा? उसके उत्तर में संकोचपूर्वक या धड़ल्ले से एक ही नाम लिया जा सकेगा—प्रज्ञा अभियान। वह यों एक अन्तरालों को झकझोरने वाला आन्दोलन है पर उसकी थिरकन नर्तकी जैसी और फुर्ती सैनिकों जैसी भी देखी जा सकेगी। आह्वान किसी का भी क्यों न हो उस चुनौती को स्वीकार करने के लिए अनेकों अग्रगामी होते दिखायी पड़ेंगे। अलख जगाने की परम्परा को अब योजनाबद्ध और व्यापक रूप से कार्यान्वित किया जायगा। उस अवसर के आने में अनावश्यक विलम्ब लगने वाला नहीं है। जो होना है होकर रहेगा। कल-परसों नहीं, आज ही, अभी ही। भवितव्यता भविष्य के गर्भ में छिपी नहीं बैठी रहेगी। उसका प्रसव इन्हीं क्षणों में होने जा रहा है।

शान्तिकुञ्ज यों एक छोटा सा आश्रम है पर उसे विराट् का प्रतिनिधित्व करते देखा जा सकेगा। युग शिल्पी पावस के दादुरों की तरह टर्रायेंगे नहीं, वरन् वटुकों की तरह से पाठ करेंगे। बुद्ध के परिव्राजक दलदलों, हिमशिखरों की यात्रा पैदल करते रहे। देश देशान्तरों में उनके पास यात्रा का साधन छोटी-छोटी नौकाएँ जुटाती थीं। अब मार्ग की दुर्गमता उतनी कठिन नहीं रही और विज्ञान ने भी यातायात के लिए सुविधा साधन आविष्कृत किये हैं। इसलिए युग देवता की दिग्विजय पर निकलने के लिए जीप गाड़ियाँ आवश्यक उपकरणों और योद्धाओं को लाद कर ले चलेंगी। संकल्प है कि भारत के सात लाख गाँवों में से हर एक में प्रज्ञा आयोजनों की धूम मचे और प्रसुप्ति का, अवांछनीयता का वातावरण बदले। युग चेतना का आलोक इस प्रकार बिखरे कि कहीं किसी को ठोकर न खानी पड़े, चोट न सहनी पड़े, अनीति उत्पीड़न की शिकायत न करनी पड़े। भटकाव का अन्त हो और सदाशयता की दिशाओं में चल सकने की सुविधा हो।

महाकाल की याचना

महाकाल ने जागृत आत्माओं से समयदान की, अंशदान की याचना की है। यों इतने बड़े काम के लिए दधीचि की तरह प्राणदान माँगा गया होता और मोरध्वज, हरिश्चन्द्र, गुरु गोविन्द सिंह की तरह बालकों की भी परमार्थ प्रयोजन के लिए याचना की गई होती तो भी कम थी। पर यहाँ तो राम, लक्ष्मण को बला अतिबला विद्याएँ सिखाने, सीतावरण, लंका विजय और रामराज्य के सिंहासन पर आरूढ़ करने के लिए दशरथों से उनके लाड़ले भर विश्वामित्र द्वारा माँगे जा रहे हैं। समयदान, श्रमदान तो सफाई स्वयं सेवक भी दे सकते हैं। अंशदान तो भिक्षुकों को भी मिल जाता है। हरिश्चन्द्र जैसा राज्य और भामाशाह जैसा धन तो ऐसे में माँगा नहीं जा रहा है, न यह कहा जा रहा है कि राजा शिवि की तरह कबूतर के बदले अपना माँस तौल दें।

समय का मूल्य हम कहाँ समझते हैं ? समझते होते तो दिन भर काम धंधा करते हुए भी रात्रि पाठशाला में भर्ती होकर विदेशियो की तरह मिस्त्री कारीगर होते हुए भी कुछ समय में ग्रेजुएट हो जाते। कालिदास, वरदराज की तरह निपट अनाड़ी होते हुए भी उच्चकोटि के विद्वान बन जाते। पैसे का मूल्य हम कहाँ जानते हैं ? जानते होते तो मथुरा की विधवा पिसनहारी की तरह दो पैसे रोज बचाकर जिन्दगी के अन्त में एक शानदार कुँआ बनवा जाते। पिप्लाद और कणाद की तरह न्यूनतम साधनों में निर्वाह करते हुए मूर्धन्य स्तर के मनीषी कहलाये होते। रिटायर्ड ड्राइंग मास्टर सातवलेकर की तरह बुढ़ापे में संस्कृत पढ़ते हुए वेदों के भाष्यकार बने होते। अधिकांश समय आलस्य प्रमाद में और अधिकांश कमाई नशेबाजी, विवाह-शादी आदि में खर्च करके कमाऊ होते हुए भी दरिद्र निर्धन न बने रहते।

इसी समय और पैसों से दो घण्टे का समय और बीस पैसे नित्य सद्ज्ञान प्रसार जैसे पुण्यकार्य में देते हुए संकोच न करते। आठ घण्टा कमाने, सात घण्टा सोने और पाँच घण्टा घर गृहस्थी के कामों मे खर्च करते हुए भी चार घण्टे बच जाते हैं जो परमार्थ के लिए लग सकते हैं। बीस पैसे में आधी रोटी या दो घूँट चाय मिलती है। इतनी बचत कोई निर्धन से निर्धन और व्यस्त से व्यस्त भी कर सकता है। यह बचत अपने घर गाँव में रहते हुए भी झोला पुस्तकालय, जन्मदिवसोत्सव एवं दीवारों पर आदर्श वाक्य लिखने में लगाई जा सके तो उतने भर से भी कितनों का ही विवेक बढ़ सकता है। दृष्टिकोण बदल सकता है। सीधी राह चलने का अवसर मिल सकता है। बात चाहने भर की है। यह चाहना आवारागर्दी में लिपटी रहने की अपेक्षा आदर्शों को अपनाने में लग सकी होती तो दस बीस वर्ष की तत्परता से ही हम अपना और कितने ही दूसरों का न जाने किस

सीमा तक भला कर सके होते, पर इस दुर्बुद्धि को क्या कहा जाय जिसने बर्बादी में ही भलाई समझने की आदत डाली है ।

आपत्तिकाल की बेला में आपतधर्म का निर्वाह हो

इन दिनों आपत्तिकाल है । युग संधि का ऐतिहासिक अवसर है । इन दिनों छोटे परिवार को स्वावलम्बी और सुसंस्कारी बनाने भर की कोई तरकीब ढूँढकर सारा जीवन औसत नागरिक का निर्वाह अपनाकर पुरातन ब्राह्मणों की तरह अपना समूचा जीवन देश-धर्म के लिए अर्पण किया जा सकता था किन्तु उस प्रमाद को क्या कहा जाय, जो न अपनी भलाई सोचने देता है, न लोक बनाने देता है और न परलोक । सारी दुनियाँ की ठेकेदारी अपने सिर पर न बाँधी जाय तो पेट सबका भरता रह सकता है और पुरुषार्थ के सहारे दरिद्र से दरिद्र भी ऊँचा उठ सकता है आगे बढ़ सकता है। फिर अपना परिवार और निर्वाह निरन्तर व्यस्त रह कर ही चले ऐसी कोई बात नहीं है । ढूँढने पर परमार्थ का लक्ष्य साधने के अनेकों रास्ते मिल सकते हैं । जटिल से जटिल पेच सुलझ सकते हैं पर अपने ही ढंग से दुनिया को चलाने की कसम खाकर जी रहे हों तो फिर कठिनाई ही कठिनाई है ।

लाखों वर्ष बाद कभी आता हो, ऐसा है यह अवसर। इन दिनो एक जीवन दिव्य प्रयोजन के लिए लगाया जा सकता है। पेट और प्रजनन के लिए तो चौरासी लाख योनियाँ पड़ी है । उनमे से एक जन्म अपने को कृतकृत्य बनाने के लिए लगाया जा सके, तो क्या बड़ी बात है ?

□□□

विराट गायत्री परिवार एवं उसके संस्थापक-संरक्षक
एक संक्षिप्त परिचय

इतिहास में कभी-कभी ऐसा होता है कि अवतारी सत्ता एक साथ बहुआयामी रूपों में प्रकट होती है एवं करोड़ों ही नहीं, पूरी वसुधा के उद्धार-चेतनात्मक धरातल पर सबके मनों का नये सिरे से निर्माण करने आती है। परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य को एक ऐसी ही सत्ता के रूप में देखा जा सकता है, जो युगों-युगों में गुरु एवं अवतारी सत्ता दोनों ही रूपों में हम सबके बीच प्रकट हुई, अस्सी वर्ष का जीवन जीकर एक विराट् ज्योति प्रज्ज्वलित कर उस सूक्ष्म ऋषि चेतना के साथ एकाकार हो गयी, जो आज युग परिवर्तन को सन्निकट लाने को प्रतिबद्ध है। परमवन्दनीया माताजी शक्ति का रूप थीं, जो कभी महाकाली, कभी मां जानकी, कभी मां शारदा एवं कभी माँ भगवती के रूप में शिव की कल्याणकारी सत्ता का साथ देने आती रही हैं। उनने भी सूक्ष्म में विलीन हो स्वयं को अपने आराध्य के साथ एकाकार कर ज्योति पुरुष का एक अंग स्वयं को बना लिया। आज दोनों सशरीर हमारे बीच नहीं हैं किन्तु, नूतन सृष्टि कैसे ढाली गयी, कैसे मानव गढ़ने का साँचा बनाया गया, इसे शान्तिकुंज, ब्रह्मवर्चस, गायत्री तपोभूमि, अखण्ड ज्योति संस्थान एवं युगतीर्थ आँवलखेड़ा जैसी स्थापनाओं तथा संकल्पित सृजन सेनानी गणों के, वीरभद्रों की करोड़ों से अधिक की संख्या के रूप में देखा जा सकता है।

परमपूज्य गुरुदेव का वास्तविक मूल्यांकन तो कुछ वर्षों बाद इतिहासविद्, मिथक लिखने वाले करेंगे किन्तु, यदि उनको आज भी साक्षात कोई देखना या उनसे साक्षात्कार करना चाहता हो तो उन्हें उनके द्वारा अपने हाथ से लिखे गये उस विराट परिमाण में साहित्य के रूप में युग संजीवनी के रूप में देख सकता है जो वे अपने वजन से अधिक भार के बराबर लिख गये। इस साहित्य में संवेदना का स्पर्श इस बारीकी से हुआ है कि लगता है लेखनी को उसी की स्याही में डुबा कर लिखा गया हो। हर शब्द ऐसा जो हृदय को छूता मन को, विचारों को बदलता चला जाता है। लाखों करोड़ों के मनों के अंत:स्थल को छू कर उसने उनका कायाकल्प कर दिया। रूसो की प्रजातंत्र की, कार्ल मार्क्स की साम्यवाद की क्रांति भी इसके समक्ष बौनी पड़ जाती है। उनके मात्र इस युग वाले स्वरूप को लिखने तक में लगता है कि एक विश्वकोश तैयार हो सकता है, फिर उस बहुआयामी रूप को जिसमें वे संगठनकर्ता, साधक, करोड़ों के अभिभावक, गायत्री महाविद्या के उद्धारक, संस्कार परम्परा का पुनर्जीवन करने वाले, ममत्व लुटाने वाले एक पिता, नारी जाति के प्रति अनन्य करुणा बिखेरकर उनके ही उद्धार के लिए धरातल पर चलने वाला नारी जागरण अभियान चलाते देखे जाते हैं, अपनी वाणी के उद्बोधन से एक विराट गायत्री परिवार एकाकी अपने बलबूते खड़े रहते दिखाई देते हैं तो समझ में नहीं आता, क्या-क्या लिखा जाय, कैसे छन्दबद्ध, लिपिबद्ध किया जाय, उस महापुरुष के जीवन चरित को।

आश्विन कृष्ण त्रयोदशी विक्रमी संवत् १९६७ (२० सितम्बर १९११) को स्थूल शरीर से आँवलखेड़ा ग्राम जनपद आगरा जो जलेसर मार्ग पर आगरा से पंद्रह मील की दूरी पर स्थित है, में जन्मे श्रीराम शर्मा जी का बाल्यकाल-कैशोर्य काल ग्रामीण परिसर में ही बीता। वे जन्मे तो थे एक जमींदार घराने में, जहाँ उनके पिताश्री पं. रूपकिशोर जी शर्मा आसपास के दूर-दराज के राजघरानों के राजपुरोहित, उद्भट विद्वान, भागवत कथाकार थे किन्तु, उनका अंत:करण मानव मात्र की पीड़ा से सतत विचलित रहता था। साधना के प्रति उनका झुकाव बचपन में ही दिखाई देने लगा। जब वे अपने सहपाठियों को, छोटे बच्चों को अमराइयों में बिठाकर स्कूली शिक्षा के साथ-साथ सुसंस्कारिता अपनाने वाली आत्मविद्या का शिक्षण दिया करते थे। छटपटाहट के कारण हिमालय की ओर भाग निकलने व पकड़े जाने पर उनने सबंधियों को बताया कि हिमालय ही उनका घर है एवं वहीं वे जा रहे थे। किसे मालूम था कि हिमालय की ऋषि चेतनाओं का समुच्चय बनकर आयी यह सत्ता वस्तुत: अगले दिनों अपना घर वहीं बनाएगी। जाति-पाँति का कोई भेद नहीं। जातिगत मूढ़ता भरी मान्यता से ग्रसित तत्कालीन भारत के ग्रामीण परिसर में एक अछूत वृद्ध महिला की जिसे कुष्ठ रोग हो गया था, उसी के टोले में जाकर सेवाकर उनने घरवालों का विरोध तो मोल ले लिया पर अपना व्रत नहीं छोड़ा। उस महिला ने स्वस्थ होने पर उन्हें ढेरों आशीर्वाद दिये। एक अछूत कहलाने वाली जाति का व्यक्ति जो उनके आलीशान घर में घोड़ों की मालिश करने आता था, एक बार कह उठा कि मेरे घर कथा कौन कराने आएगा, मेरा ऐसा सौभाग्य कहाँ। नवनीत जैसे हृदय वाले पूज्यवर उसके घर जा पहुँचे एवं कथा पूरे विधान से कर पूजा की, उसको स्वच्छता का पाठ सिखाया, जबकि सारा गाँव उनके विरोध में बोल रहा था।

किशोरावस्था में ही समाज सुधार की रचनात्मक प्रवृत्तियाँ उनने चलाना आरम्भ कर दी थीं। औपचारिक शिक्षा पाँचवीं तक ही पायी थी किन्तु, उन्हें इसके बाद आवश्यकता भी नहीं थी क्योंकि जो जन्मजात प्रतिभा सम्पन्न हो वह स्कूली पाठ्यक्रम तक सीमित कैसे रह सकता है। हाट-बाजारों में जाकर स्वास्थ्य-शिक्षा प्रधान परिपत्र बाँटना, पशुधन को कैसे सुरक्षित रखें तथा स्वावलम्बी कैसे बने, इसके

छोटे-छोटे पैम्फलेट्स लिखने, हाथ की प्रेस से छपवाने के लिए उन्हें किसी शिक्षा की आवश्यकता नहीं थी। वे चाहते थे, जनमानस आत्मावलम्बी बने, राष्ट्र के प्रति स्वाभिमान उसका जागे, इसलिए गाँव में जन्मे इस लाल ने नारी शक्ति व बेरोजगार युवाओं के लिए गाँव में ही एक बुनताघर स्थापित किया व उसके द्वारा हाथ से कैसे कपड़ा बुना जाय, अपने पैरों पर कैसे खड़ा हुआ जाय, यह सिखाया।

पंद्रह वर्ष की आयु में वसंत पंचमी की वेला में सन् १९२६ में उनके घर की पूजा स्थली में, जो उनकी नियमित उपासना का तब से आगार थी, जबसे महामना पं० मदन मोहन मालवीय जी ने उन्हें काशी में गायत्री मंत्र की दीक्षा दी थी, उनकी गुरुसत्ता का आगमन हुआ अदृश्य छायाधारी सूक्ष्म रूप में। उनने प्रज्ज्वलित दीपक की लौ में से स्वयं को प्रकट कर उन्हें उनके द्वारा विगत कई जन्मों में सपन्न क्रिया कलापों का दिग्दर्शन कराया तथा उन्हे बताया कि वे दुर्गम हिमालय से आये हैं एवं उनसे अनेकानेक ऐसे क्रियाकलाप कराना चाहते हैं, जो अवतारी स्तर की ऋषि सत्ताएँ उनसे अपेक्षा रखती हैं। चार बार कुछ दिन से लेकर एक साल तक की अवधि तक हिमालय आकर रहने, कठोर तप करने का भी उनने संदेश दिया एवं उन्हे तीन संदेश दिए- १. गायत्री महाशक्ति के चौबीस-चौबीस लक्ष के चौबीस महा-पुरश्चरण जिन्हें आहार के कठोर तप के साथ पूरा करना था। २. अखण्ड घृतदीप की स्थापना एवं जन-जन तक इसके प्रकाश को फैलाने के लिए समय आने पर ज्ञानयज्ञ अभियान चलाना, जो बाद मे अखण्ड ज्योति पत्रिका के १९३८ में प्रथम प्रकाशन से लेकर विचार-क्रांति अभियान के विश्वव्यापी होने के रूप में प्रकटा तथा ३. चौबीस महापुरश्चरणों के दौरान युगधर्म का निर्वाह करते हुए राष्ट्र के निमित्त भी स्वयं को खपाना, हिमालय यात्रा भी करना तथा उनके संपर्क से आगे का मार्गदर्शन लेना।

यह कहा जा सकता है कि युग निर्माण मिशन, गायत्री परिवार, प्रज्ञा अभियान, पूज्य गुरुदेव जो सभी एक दूसरे के पर्याय हैं, की जीवन यात्रा का यह एक महत्वपूर्ण मोड़ था, जिसने भावी रीति-नीति का निर्धारण कर दिया। पूज्य गुरुदेव अपनी पुस्तक 'हमारी वसीयत और विरासत' में लिखते हैं कि ''प्रथम मिलन के दिन समर्पण सम्पन्न हुआ। दो बातें गुरु सत्ता द्वारा विशेष रूप से कही गई, संसारी लोग क्या करते हैं और क्या कहते हैं, उसकी ओर से मुँह मोड़कर निर्धारित लक्ष्य की ओर एकाकी साहस के बलबूते चलते रहना एवं दूसरा यह कि अपने को अधिक पवित्र और प्रखर बनाने की तपश्चर्या में जुट जाना- जौ की रोटी व छाछ पर निर्वाह कर आत्मानुशासन सीखना। इसी से वह सामर्थ्य विकसित होगी जो विशुद्धतः परमार्थ प्रयोजनों में नियोजित होगी। वसंत पर्व का यह दिन गुरु अनुशासन का अवधारण ही हमारे लिए नया जन्म बन गया। सद्गुरु की प्राप्ति हमारे जीवन का अनन्य एवं परम सौभाग्य रहा।''

राष्ट्र के परावलम्बी होने की पीड़ा भी उन्हें उतनी ही सताती थी जितनी कि गुरुसत्ता के आदेशानुसार तपकर सिद्धियों के उपार्जन की ललक उनके मन में थी। उनके इस असमंजस को गुरुसत्ता ने ताड़कर परावाणी से उनका मार्गदर्शन किया कि युगधर्म की महत्ता व समय की पुकार देख सुन कर तुम्हे अन्य आवश्यक कार्यों को छोड़कर अग्निकाण्ड में पानी लेकर दौड़ पड़ने की तरह आवश्यक कार्य भी करने पड़ सकते हैं। इसमें स्वतंत्रता संग्राम सेनानी के नाते संघर्ष करने का भी संकेत था। १९२७ से १९३३ तक का समय उनका एक सक्रिय स्वयं सेवक-स्वतंत्रता सेनानी के रूप में बीता, जिसमें घरवालों के विरोध के बावजूद पैदल लम्बा रास्ता पारकर वे आगरा के उस शिविर में पहुँचे, जहाँ शिक्षण दिया जा रहा था, अनेकानेक मित्रों-सखाओं-मार्गदर्शकों के साथ भूमिगत हो कार्य करते रहे तथा समय आने पर जेल भी गये। छह-छह माह की उन्हे कई बार जेल हुई। जेल में भी वे बच्चों को शिक्षण देकर व स्वयं अंग्रेजी सीखकर लौटे। आसन-सोल जेल में वे श्री जवाहर लाल नेहरू की माता श्रीमती स्वरूपरानी नेहरू, श्री रफी अहमद किदवई, महामना मालवीय जी, देवीदास गाँधी जैसी हस्तियों के साथ रहे व वहाँ से एक मूलमंत्र सीखा जो मालवीय जी ने दिया था कि जन-जन की साझेदारी बढ़ाने के लिए हर व्यक्ति के अंशदान से-मुट्ठी फण्ड से रचनात्मक प्रवृत्तियाँ चलाना। यही मंत्र आगे चलकर एक घण्टा समयदान बीस पैसा नित्य या एक दिन की आय एक माह में तथा एक मुट्ठी अन्न रोज डालने के माध्यम से धर्मघट की स्थापना का स्वरूप लेकर लाखों-करोड़ों की भागीदारी वाला गायत्री परिवार बनाता चला गया, जिसका आधार था प्रत्येक व्यक्ति की यज्ञीय भावना का उसमें समावेश।

स्वतंत्रता की लड़ाई के दौरान कुछ उग्र दौर भी आये, जिनमें शहीद भगतसिंह को फाँसी दिये जाने पर फैले जन आक्रोश के समय श्री अरविन्द के किशोर काल की क्रांतिकारी स्थिति की तरह उनने भी वे कार्य किये, जिनसे आक्रान्ता शासकों के प्रति असहयोग जाहिर होता था। नमक आन्दोलन के दौरान वे आततायी शासकों के समक्ष झुके नहीं, वे मारते रहे परन्तु समाधि स्थिति को प्राप्त राष्ट्र देवता के पुजारी को बेहोश होना स्वीकृत था पर आन्दोलन से पीठ दिखाकर भागना नहीं। बाद में फिरंगी सिपाहियों के जाने पर लोग उठाकर घर लेकर आए। जरारा आन्दोलन के दौरान उनने झण्डा छोड़ा नहीं जबकि, फिरंगी उन्हे पीटते रहे, झण्डा छीनने का प्रयास करते रहे। उनने मुँह में झण्डा पकड़ लिया, गिर पड़े, बेहोश हो गये पर झण्डे का टुकड़ा चिकित्सकों द्वारा दाँतों में भींचे गये टुकड़े के रूप में जब निकाला गया तब सब उनकी सहनशक्ति देखकर आश्चर्य चकित रह गये। उन्हें तब से ही आजादी के मतवाले उन्मत्त श्रीराम मत्त नाम मिला। अभी भी आगरा मे उनके साथ रहे या उनसे कुछ सीख लिए अगणित व्यक्ति उन्हे मत्त जी नाम से ही जानते हैं। लगानबन्दी के आँकड़े एकत्र करने के लिए उनने पूरे आगरा जिले का दौरा किया व उनके द्वारा प्रस्तुत वे आँकड़े तत्कालीन संयुक्त प्रान्त के मुख्य मंत्री श्री गोविन्द वल्लभ पंत द्वारा गाँधी जी के समक्ष पेश किये गये। बापू ने अपनी प्रशस्ति के साथ वे प्रामाणिक आँकडे ब्रिटिश पार्लियामेण्ट भेजे, इसी

आधार पर पूरे संयुक्त प्रान्त के लगान माफी के आदेश प्रसारित हुए। कभी जिनने अपनी इस लडाई के बदले कुछ न चाहा उन्हें सरकार ने अपना प्रतिनिधि भेजकर पचास वर्ष बाद ताम्रपत्र देकर शांतिकुज में सम्मानित किया। उसी सम्मान व स्वाभिमान के साथ सारी सुविधाएँ व पेंशन उनने प्रधान मंत्री राहत फण्ड, हरिजन फण्ड के नाम समर्पित कर दीं। वैरागी जीवन का, सच्चे राष्ट्र सत होने का इससे बडा प्रमाण क्या हो सकता है ?

१९३५ के बाद उनके जीवन का नया दौर शुरु हुआ, जब गुरुसत्ता की प्रेरणा से वे श्री अरविन्द से मिलने पाण्डिचेरी, गुरुदेव ऋषिवर रवीन्द्रनाथ टैगोर से मिलने शांति निकेतन तथा बापू से मिलने साबरमती आश्रम अहमदाबाद गये। सांस्कृतिक आध्यात्मिक मोर्चे पर राष्ट्र को कैसे परतंत्रता की बेड़ियों से मुक्त किया जाय, यह निर्देश लेकर अपना अनुष्ठान यथावत् चलाते हुए उनने पत्रकारिता के क्षेत्र मे प्रवेश किया जब आगरा में 'सैनिक' समाचार पत्र के कार्यवाहक संपादक के रूप में श्री कृष्णदत्त पालीवाल जी ने उन्हें अपना सहायक बनाया। बाबू गुलाब राय व पालीवाल जी से सीख लेते हुए सतत स्वाध्याय रत रह कर उनने अखण्ड ज्योति नामक पत्रिका का पहला अंक १९३८ की वसंत पंचमी पर प्रकाशित किया। प्रयास पहला था, जानकारियाँ कम थीं अतः पुनः सारी तैयारी के साथ विधिवत् १९४० की जनवरी से उनने परिजनों के नाम पाती के साथ अपने हाथ से बने कागज पर पैर से चलने वाली मशीन से छापकर 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका का शुभारंभ किया जो पहले तो दो सौ पचास पत्रिका के रूप में निकली, किन्तु क्रमशः उनके अध्यवसाय घर-घर पहुँचाने, मित्रो तक पहुँचाने वाले उनके हृदय स्पर्शी पत्रों द्वारा बढ़ती-बढ़ती नवयुग के मत्स्यावतार की तरह आज दस लाख से भी अधिक सख्या मे विभिन्न भाषाओं में छपती व एक करोड़ से अधिक व्यक्तियों द्वारा पढ़ी जाती है।

पत्रिका के साथ-साथ 'मैं क्या हूँ' जैसी पुस्तकों का लेखन आरम्भ हुआ, स्थान बदला, आगरा से मथुरा आ गये, दो-तीन घर बदलकर घीयामण्डी में जहाँ आज अखण्ड ज्योति संस्थान है, आ बसे। पुस्तको का प्रकाशन व कठोर तपश्चर्या, ममत्व विस्तार तथा पत्रों द्वारा जन-जन के अंतः स्थल को छूने की प्रक्रिया चालू रही। साथ देने आ गयीं परम वंदनीया माताजी भगवती देवी शर्मा, जिन्हें भविष्य में अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका अपने आराध्य इष्ट गुरु के लिए निभानी थी। उनके मर्मस्पर्शी पत्रों ने, भाव भरे आतिथ्य, हर किसी को जो दुखी था-पीड़ित था, दिये गये ममत्व भरे परामर्श ने गायत्री परिवार का आधार खड़ा किया, इसमें कोई सन्देह नहीं। यदि विचारक्रांति में साहित्य ने मनोभूमि बनायी तो भावात्मक क्रांति में ऋषियुगल के असीम स्नेह ने ब्राह्मणत्व भरे जीवन ने शेष बची भूमिका निभायी।

'अखण्ड ज्योति' पत्रिका लोगो के मनों को प्रभावित करती रही, इसमे प्रकाशित 'गायत्री चर्चा' स्तम्भ से लोगों को गायत्री व यज्ञमय जीवन जीने का सदेश मिलता रहा, साथ ही एक आना से लेकर छह आना सीरज की अनेकानेक लोकोपयोगी पुस्तके छपती चली गयीं। इस बीच हिमालय के बुलावे भी आये, अनुष्ठान भी चलता रहा जो पूरे विधि विधान के साथ १९५३ में गायत्री तपोभूमि की स्थापना, १०८ कुण्डी यज्ञ व उनके द्वारा दी गयी प्रथम दीक्षा के साथ समाप्त हुआ। गायत्री तपोभूमि की स्थापना के निमित्त धन की आवश्यकता पडी तो परम वंदनीया माताजी ने जिनने हर कदम पर अपने आराध्य का साथ निभाया, अपने सारे जेवर बेच दिये, पूज्यवर ने जमींदारी के बाण्ड बेच दिये एवं जमीन लेकर अस्थायी स्थापना कर दी गयी। धीरे-धीरे उदारचेताओ के माध्यम से गायत्री तपोभूमि एक साधना पीठ बन गयी। २४०० तीर्थों के जल व रज की स्थापना वहाँ की गयी, २४०० करोड़ गायत्री मत्र लेखन वहाँ स्थापित हुआ, अखण्ड अग्नि हिमालय के एक अति पवित्र स्थान से लाकर स्थापित की गयी जो अभी तक वहाँ यज्ञशाला मे जल रही है। १९४१ से १९७१ तक का समय परमपूज्य गुरुदेव का गायत्री तपोभूमि, अखण्ड ज्योति सस्थान में सक्रिय रहने का समय है। १९५६ मे नरमेध यज्ञ, १९५८ मे सहस्रकुण्डी यज्ञ करके लाखों गायत्री साधकों को एकत्र कर उनने गायत्री परिवार का बीजारोपण कर दिया। कार्तिक पूर्णिमा १९५८ में आयोजित इस कार्यक्रम मे दस लाख व्यक्तियों ने भाग लिया, इन्हीं के माध्यम से देश भर में प्रगतिशील गायत्री परिवार की दस हजार से अधिक शाखाएँ स्थापित हो गयीं। संगठन का अधिकाधिक कार्यभार पूज्यवर परमवंदनीया माताजी पर सौंपते चले गये एवम् १९५९ में पत्रिका का सपादन उन्हे देकर पौने दो वर्ष के लिए हिमालय चले गये, जहाँ उन्हें गुरुसत्ता से मार्गदर्शन लेना था, तपोवन नदनवन मे ऋषियो से साक्षात्कार करना था तथा गगोत्री में रहकर आर्ष ग्रन्थो का भाष्य करना था। तब तक वे गायत्री महाविद्या पर विश्वकोश स्तर की अपनी रचना गायत्री महाविज्ञान के तीन खण्ड लिख चुके थे, जिसके अब तक प्रायः पैंतीस संस्करण छप चुके हैं। हिमालय से लौटते ही उनमें महत्वपूर्ण निधि के रूप में वेद, उपनिषद्, स्मृति, आरण्यक, ब्राह्मण, योगवाशिष्ठ, मत्र महाविज्ञान, तत्र महाविज्ञान जैसे ग्रन्थो को प्रकाशित कर देव सस्कृति की मूल थाती को पुनर्जीवन दिया। परमवंदनीया माताजी ने उन्हीं वेदों को पूज्यवर की इच्छानुसार १९९१-९२ में विज्ञान सम्मत आधार देकर पुनर्मुद्रित कराया एवं वे आज घर-घर मे स्थापित हैं।

युग निर्माण योजना व 'युग निर्माण सत्सकल्प' के रूप में मिशन का घोषणा पत्र १९६३ में प्रकाशित हुआ। तपोभूमि एक विश्वविद्यालय का रूप लेती चली गयी तथा अखण्ड ज्योति संस्थान एक तपःपूत की निवास स्थली बन गया, जहाँ रहकर उनने अपनी शेष तप साधना पूरी की थी, जहाँ से गायत्री परिवार का बीज डाला गया था। तपोभूमि में विभिन्न शिविरों का आयोजन किया जाता रहा, पूज्यवर स्वयं

छोटे-बड़े जन सम्मेलनों, यज्ञायोजनों के द्वारा विचार क्रांति की पृष्ठभूमि बनाते रहे, पूरे देश में १९७०-७१ में पाँच १००८ कुण्डी यज्ञ आयोजित हुए। स्थायी रूप से विदाई लेते हुए एक विराट सम्मेलन (जून १९७१) में परिजनों में विशेष कार्य भार सौंप, परम वंदनीया माताजी को शांतिकुंज हरिद्वार में अखण्ड दीप के समक्ष तप हेतु छोड़ कर स्वयं हिमालय चले गये। एक वर्ष बाद वे गुरुसत्ता का संदेश लेकर लौटे एवं अपनी आगामी बीस वर्ष की क्रिया पद्धति बतायी। ऋषि परम्परा का बीजारोपण, प्राण प्रत्यावर्तन संजीवनी व कल्प साधना सत्रों का मार्गदर्शन जैसे कार्य उनने शांतिकुंज में सम्पन्न किए।

सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थापना अपनी हिमालय की इस यात्रा से लौटने के बाद ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान की थी, जहाँ विज्ञान और अध्यात्म के समन्वयात्मक प्रतिपादनों पर शोध कर एक नये धर्म वैज्ञानिक धर्म के मूलभूत आधार रखे जाने थे। इस सम्बन्ध में पूज्यवर ने विराट् परिमाण में साहित्य लिखा, अदृश्य जगत के अनुसंधान से लेकर मानव की प्रसुप्त क्षमता के जागरण तक साधना से सिद्धि एवं दर्शन-विज्ञान के तर्क, तथ्य प्रमाण के आधार पर प्रस्तुतीकरण तक। इसके लिए एक विराट ग्रन्थागार बना व एक सुसज्जित प्रयोगशाला। वनौषधि उद्यान भी लगाया गया तथा जड़ी बूटी, यज्ञविज्ञान तथा मंत्र शक्ति पर प्रयोग हेतु साधकों पर परीक्षण प्रचुर परिमाण में किये गये। निष्कर्षों ने प्रमाणित किया कि ध्यान साधना मंत्र चिकित्सा व यज्ञोपैथी एक विज्ञान सम्मत विधा है। गायत्री नगर क्रमशः एक तीर्थ, संजीवनी विद्या के प्रशिक्षण की एकेडमी का रूप लेता चला गया एवं जहाँ ९-९ दिन के साधना प्रधान, एक-एक माह के कार्यकर्ता निर्माण हेतु युग शिल्पी सत्र सम्पन्न होने लगे।

कार्यक्षेत्र में विस्तार हुआ। स्थान-स्थान पर शक्तिपीठें विनिर्मित हुईं जिनके निर्धारित क्रियाकलाप थे- सुसंस्कारिता, आस्तिकता संवर्धन एवं जन जागृति के केन्द्र बनना। ऐसे केन्द्र जो १९८० में बनना आरंभ हुए थे, प्रज्ञा संस्थान - शक्तिपीठ-प्रज्ञामण्डल-स्वाध्याय मंडल के रूप में पूरे देश व विश्व में फैलते चले गये। ७६ देशों में गायत्री परिवार की शाखाएँ फैल गयीं, ४६०० से अधिक भारत में निज के भवन वाले संस्थान विनिर्मित हो गये, वातावरण गायत्रीमय होता चला गया।

परमपूज्य गुरुदेव ने सूक्ष्मीकरण में प्रवेश कर १९८५ में ही पाँच वर्ष के अंदर अपने सारे क्रिया कलापों को समेटने की घोषणा कर दी। इस बीच कठोर तप साधना कर मिलना-जुलना कम कर दिया तथा क्रमशः क्रिया कलाप परमवंदनीया माताजी को सौंप दिये। राष्ट्रीय एकता सम्मेलनों, विराट दीप यज्ञों के रूप में नूतन विधा को जन-जन को सौंप कर राष्ट्र देवता की कुण्डलिनी जगाने हेतु उनने अपने स्थूल शरीर छोड़ने व सूक्ष्म में समाने की, विराट से विराटतम होने की घोषणा कर गायत्री जयन्ती २ जून १९९० को महाप्रयाण किया। सारी शक्ति वे परमवंदनीया माताजी को दे गये व अपने व माताजी के बाद सघशक्ति की प्रतीक लाल मशाल को ही इष्ट आराध्य मानने का आदेश देकर ब्रह्मबीज से विकसित ब्रह्मकमल की सुवास को देव संस्कृति दिग्विजय अभियान के रूप में आरंभ करने का माताजी को निर्देश दे गये।

एक विराट श्रद्धांजलि समारोह व शपथ समारोह जो हरिद्वार में सम्पन्न हुए, में लाखों व्यक्तियों ने अपना समय समाज के नव निर्माण, मनुष्य में देवत्व के उदय व धरती पर स्वर्ग लाने का गुरु सत्ता का नारा साकार करने के निमित्त देने की घोषणा की। परमवंदनीया माताजी द्वारा भारतीय-संस्कृति को विश्वव्यापी बनाने, गायत्री रूपी संजीवनी घर-घर पहुँचाने के लिए पूज्यवर द्वारा आरम्भ किये गये युगसंधि महापुरश्चरण की प्रथम व द्वितीय पूर्णाहुति तक विराट अश्वमेध महायज्ञों की घोषणा की गयी। वातावरण के परिशोधन, सूक्ष्मजगत के नव निर्माण एवं सांस्कृतिक व वैचारिक क्रांति के निमित्त सौर ऊर्जा के दोहन द्वारा विशिष्ट प्रयोगों के माध्यम से विशिष्ट मंत्राहुतियों द्वारा सम्पन्न किये गये इन अश्वमेधों ने सारी विश्ववसुधा को गायत्री व यज्ञमय, वासंती उल्लास से भर दिया। स्वयं परमवंदनीया माताजी ने अपनी पूर्व घोषणानुसार चार वर्ष तक परिजनों का मार्गदर्शन कर सोलह यज्ञों का संचालन स्थूल शरीर से किया व फिर भाद्रपद पूर्णिमा १९ सितम्बर १९९४ महालय श्राद्धारंभ वाली पुण्य वेला में अपने आराध्य के साथ एकाकार हो गयीं। उनके महाप्रयाण के बाद दोनों ही सत्ताओं के सूक्ष्म में एकाकार होने के बाद मिशन की गतिविधियाँ कई गुना बढ़ती चली गयीं एवं जयपुर के प्रथम अश्वमेध यज्ञ (नवम्बर ९२) से छब्बीसवें अश्वमेध यज्ञ शिकागो (यू. एस. ए. जुलाई ९५) तक प्रज्ञावतार का प्रत्यक्ष रूप सबको दीखने लगा है।

गुरुसत्ता के आदेशानुसार सतयुग के आगमन तक १०८ महायज्ञ देवसंस्कृति को विश्वव्यापी बनाने हेतु संपन्न होने हैं। युग संधि महापुरश्चरण की अंतिम पूर्णाहुति उसी के बाद होगी। प्रथम पूर्णाहुति नवम्बर १९९५ में कार्तिक पूर्णिमा के अवसर पर युगपुरुष पूज्यवर की जन्मभूमि आँवलखेड़ा में मनायी जा रही है। उनके द्वारा लिखे गये समग्र साहित्य के वाङ्मय का जो सत्तर खण्डों में फैला है, विमोचन भी वहीं सम्पन्न हो रहा है। विनम्रता एवं ब्राह्मणत्व की कसौटी पर खरे उतरने वाले वरिष्ठ प्रज्ञापुत्र ही उनके उत्तराधिकारी कहे जायेंगे, यह गुरुसत्ता का उद्घोष था एवं इस क्षेत्र में बढ़ चढ़कर आदर्शवादी प्रतिस्पर्धा करने वाले अनेकानेक परिजन अब उनके स्वप्नों को साकार करने आगे आ रहे हैं। 'हम बदलेंगे-युग बदलेगा' का उद्घोष दिग-दिगन्त तक फैल रहा है एवं इक्कीसवीं सदी-उज्ज्वल भविष्य, सतयुग की वापसी का स्वप्न साकार होता चला जा रहा है, यह स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

□□□

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य का जीवनदर्शन : समग्र वाङ्मय

परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य ने जीवन भर जो अपनी लेखनी से लिखा, औरों को प्रेरित कर उनसे सृजनात्मक लेखन करवाया, पुस्तकों-पत्रिकाओं में जो प्रकाशित हुआ, समय-समय पर उनने अमृतवाणी के माध्यम से जो विचारों की अभिव्यक्ति की, विचारसार व सूक्तियाँ जो वे लिख गये या अनायास कभी कह गये तथा पत्रों के माध्यम से जो अंतरंग स्पर्श जन-जन को दिया, वह समग्र इस वाङ्मय के खण्डों में है । जिनके नाम इस प्रकार हैं :-

१. परिचयात्मक खण्ड
समग्र वाङ्मय का परिचय
२. जीवन देवता की साधना-आराधना
३. उपासना-समर्पण योग
४. साधना पद्धतियों का ज्ञान और विज्ञान
५. साधना से सिद्धि-१
६. साधना से सिद्धि-२
७. प्रसुप्ति से जागृति की ओर
८. ईश्वर कौन है ? कहाँ है ? कैसा है ?
९. गायत्री महाविद्या का तत्वदर्शन
१०. गायत्री साधना का गुह्य विवेचन
११. गायत्री साधना के प्रत्यक्ष चमत्कार
१२. गायत्री की दैनिक एवं विशिष्ट अनुष्ठान-परक साधनाएँ
१३. गायत्री की पंचकोशी साधना एवं उपलब्धियाँ
१४. गायत्री साधना की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि
१५. सावित्री, कुण्डलिनी एवं तंत्र
१६. मरणोत्तर जीवन : तथ्य एवं सत्य
१७. प्राणशक्ति : एक दिव्य विभूति
१८. चमत्कारी विशेषताओं से भरा मानवी मस्तिष्क
१९. शब्द ब्रह्म-नाद ब्रह्म
२०. व्यक्तित्व विकास हेतु उच्चस्तरीय साधनाएँ
२१. अपरिमित संभावनाओं का आगार मानवी व्यक्तित्व
२२. चेतन, अचेतन एवं सुपर चेतन मन
२३. विज्ञान और अध्यात्म परस्पर पूरक
२४. भविष्य का धर्म : वैज्ञानिक धर्म
२५. यज्ञ का ज्ञान-विज्ञान
२६. यज्ञ : एक समग्र उपचार प्रक्रिया
२७. युग-परिवर्तन कैसे और कब ?
२८. सूक्ष्मीकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का अवतरण-१
२९. सूक्ष्मीकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का अवतरण-२ (सतयुग की वापसी)
३०. मर्यादा पुरुषोत्तम राम
३१. संस्कृति-संजीवनी श्रीमद्भागवत एवं गीता
३२. रामायण की प्रगतिशील प्रेरणाएँ
३३. षोडश संस्कार विवेचन
३४. भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्व
३५. समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान
३६. धर्मचक्र प्रवर्तन एवं लोकमानस का शिक्षण
३७. तीर्थ सेवन : क्यों और कैसे ?
३८. प्रज्ञोपनिषद्
३९. नीरोग जीवन के महत्त्वपूर्ण सूत्र
४०. चिकित्सा उपचार के विविध आयाम
४१. जीवेम शरदः शतम्
४२. चिरयौवन एवं शाश्वत सौन्दर्य
४३. हमारी संस्कृति : इतिहास के कीर्ति स्तम्भ
४४. मरकर भी अमर हो गये जो
४५. सांस्कृतिक चेतना के उन्नायक : सेवाधर्म के उपासक
४६. भव्य समाज का अभिनव निर्माण
४७. यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता
४८. समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र
४९. शिक्षा एवं विद्या
५०. महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-१
५१. महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२
५२. विश्व वसुधा जिनकी सदा ऋणी रहेगी
५३. धर्मतत्व का दर्शन व मर्म
५४. मनुष्य में देवत्व का उदय
५५. दृश्य जगत की अदृश्य पहेलियाँ
५६. ईश्वर विश्वास और उसकी फलश्रुतियाँ
५७. मनस्विता, प्रखरता और तेजस्विता
५८. आत्मोत्कर्ष का आधार-ज्ञान
५९. प्रतिगामिता का कुचक्र ऐसे टूटेगा
६०. विवाहोन्माद : समस्या और समाधान
६१. गृहस्थ : एक तपोवन
६२. इक्कीसवीं सदी : नारी सदी
६३. हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण
६४. राष्ट्र समर्थ और सशक्त कैसे बने ?
६५. सामाजिक, नैतिक एवं बौद्धिक क्रान्ति कैसे ?
६६. युग निर्माण योजना -दर्शन, स्वरूप व कार्यक्रम
६७. पूज्यवर की अमृतवाणी-१
६८. विचार सार एवं सूक्तियाँ -१
६९. विचार सार एवं सूक्तियाँ-२
७०. विचार सार एवं सूक्तियाँ -३

वाङ्मय के आगे प्रकाशित होने वाले ३८ खण्ड निम्न विषयों पर होंगे--

७१. मनोविकारों की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि
७२. तनाव के कारण एवं उनके निवारण के उपाय
७३. चिन्तन का विधेयात्मक-निषेधात्मक स्वरूप
७४. पुरुषार्थ और मानवी जिजीविषा
७५. संकल्प बल का अनूठा प्रभाव
७६. बाल-विकास के विविध सोपान
७७. बाल मनोविज्ञान का सही उपयोग
७८. पारिवारिकता में सुसंस्कारों का योगदान
७९. पारिवारिक पंचशील और परिवार-निर्माण
८०. व्यक्तित्व के विकास की प्रक्रिया
८१. विचार-विज्ञान का महत्त्व
८२. सामाजिक समस्याएँ और उनका समाधान
८३. समाज-निर्माण के विभिन्न चरण
८४. सामाजिक जीवन में सद्गुणों की भूमिका
८५. नर-नारी की सामान्य समस्याएँ और उनका समाधान
८६. नारी जागृति की बाधाएँ एवं उनके निराकरण के उपाय
८७. पारिवारिक जीवनः एक तप-साधना
८८. दाम्पत्य जीवन के संयुक्त दायित्व
८९. नीति-विज्ञान और नैतिकता
९०. कृषि, व्यवसाय और उद्योग की उन्नति के आधार
९१. पूज्य गुरुदेव के स्फुट विचार
९२. पूज्यवर की अमृतवाणी-२
९३. पूज्य गुरुदेव की दिव्य अनुभूतियाँ
९४. पूज्य गुरुदेव के लिखे स्मरणीय पत्र
९५. तंत्र महाविज्ञान विवेचन
९६. मंत्र महाविज्ञान विवेचन
९७. महापुरुषों के प्रेरक जीवन-प्रसंग
९८. प्रेरणाप्रद कथा एवं गाथाएँ
९९. मर्मस्पर्शी विविध कथाएँ
१००. शान्तिकुंज का प्रज्ञा अभियान
१०१. युग निर्माण मिशन का क्रमिक इतिहास
१०२. वेद-सार-चिन्तन
१०३. पुराण-शोध-सार
१०४. उपनिषद् और आरण्यकों की दार्शनिक विषयवस्तु
१०५. काव्य-गीत-मंजूषा
१०६. मिशन के रचनात्मक कार्यक्रमों का क्रमिक इतिहास
१०७. मिशन की लोक-व्यवहार संहिता
१०८. गुरुदेव की अपने आत्मीय जनों से अपनी बातें